Patia Kamra Nandini
Jan - Dec 1869 - 1870.

DX i 43

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

ब्रह्माण्डकाण्डकरणाद्यखिलप्रबन्धवस्थितं समग्रशक्तिमनन्तम् । बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देऽहमीशं जगदेकबन्धुम् ॥

सत्तट्टीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२ भागः] अग्रिमवार्षिकम् ८ प्रतिसंख्यायाः १/ [February 1869.] अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी [१८संख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

वैदिकसमालोचना ।

तेषाम् ग्रन्थकतिपयानां वाक्यबहुलानां वाऽभिधानम् वेदइति(१८) ।

अथ यदुक्तं कांश्च नियमानाश्रित्य ते प्रबन्धीभूताः ; इति तेषु कश्चनः कत्यंशशो वा विभक्तः—इति, तत्राह आदौ तावत् विधानादिनियमचतुष्टयमालम्ब्य ते अनुस्मृताः । तथाच, विधिनिषेध मन्त्रार्थवादभेदाच्चतुर्विधो वेदः ॥ तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः । सच तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशश्चार्थः प्रमाणाप्राप्त—यथा, "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" मानान्तरेण प्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते । सच विधिश्चतुर्विधः ; उत्पत्तिविधिः,

(१८) यानाश्रित्यार्य्यकर्त्तव्याकर्त्तव्यविधायिकाः स्मृतीर्निर्ममिरे ऋषयस्तेषां नाम वेदइत्युक्तेऽन्योन्याश्रयं प्रसज्येत ; यतोवेदत्वसिद्धौ स्मृतित्वसिद्धेरपेक्षा, स्मृतित्वसिद्धौ च वेदत्वसिद्धेरिति । अपिच कल्पसूत्रादिकमप्यवलम्ब्यैवानेकस्मृतिवचनानि निर्म्मितानि, तथाच कल्पादेरपि वेदत्वं स्यात् ; वस्तुतो कल्पादेर्नास्ति वेदत्वमिति स्फुटीभविष्यमाणमग्रेऽङ्गनिर्णये ।

বৈদিকসমালোচনা ।

সেই সমস্ত বাক্যের অথবা গ্রন্থের নাম 'বেদ'(১৮)।

(কোন্ কোন্ নিয়ম অবলম্বন করিয়া তৎসমস্ত প্রবন্ধীভূত হইয়াছে ? তাহার কোন্ নিয়ম বা কত অংশে বিভক্ত ? এই প্রস্তাবে বলা হইতেছে।)

বেদ বিধান প্রভৃতি চারিটি নিয়ম অবলম্বন করিয়া অনুশ্রুত হইয়াছে, এতাবতা উহা বিধি, নিষেধ, মন্ত্র, অর্থবাদ ; এই চারিভেদে বিভক্ত ॥ অজ্ঞাত বিষয় জ্ঞাপনকারী বেদভাগের নাম বিধি। উহা সেই রূপ প্রয়োজনবান্ বিষয় বিধান করিয়া সফল হইবে; যাহা অন্য কোন প্রমাণ দ্বারা জ্ঞাত হইবার নহে ; যথা—"অগ্নিহোত্রং জুহুয়াৎ স্বর্গকামঃ" এই শ্রুতিটী প্রত্যক্ষাদি প্রমাণদ্বারা অনিষ্পন্ন স্বর্গপ্রয়োজনবান্ হোম বিধান করিতেছে। এই বিধি চারিপ্রকার ; উৎপত্তিবিধি, নিয়োগবিধি, অধিকার

(১৮) যে গুলিকে আশ্রয়ণ করিয়া ঋষিরা কর্ত্তব্যাকর্ত্তব্য বিধায়ক স্মৃতি সকল নির্ম্মাণ করিয়াছেন, সেই গুলির নাম বেদ ; ইহা বলিলে অন্যোন্যাশ্রয় দোষ হয়, যে হেতু, বেদের, লক্ষণ জানিবার নিমিত্ত স্মৃতির লক্ষণ জানিবার অপেক্ষা থাকিল, ও স্মৃতির লক্ষণ জানিবার নিমিত্ত বেদের লক্ষণ জানিবার অপেক্ষা থাকিল। অপরঞ্চ ঐরূপ বেদের লক্ষণ করিলে, কল্পসূত্রাদিরও বেদত্ব হইবে, যে হেতু কল্পসূত্রাদিকে অবলম্বন করিয়া বিস্তর স্মৃতিবচন নির্ম্মিত হইয়াছে। বস্তুত কল্পাদির বেদত্ব নাই ইহা অগ্রে বেদাঙ্গনির্ণয়কালে প্রকাশিত হইবে।

॥ ० ॥ कलिकाता नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

नियोगविधिः, अधिकारविधिः, प्रयोगविधिश्च। तत्र, कर्म्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः; यथा—"अग्निहोत्रं जुहोति" अग्निहोत्र होमेनेष्टं भावयेदिति तदर्थः; अयमग्निहोत्रस्वरूपमात्रं बोधयति। अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्नियोगविधिः, यथा—"दध्ना जुहोति" अयं हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गदध्ना होमसम्बन्धं बोधयति; अयमेव गुणविधिरित्यप्युच्यते, दधिरूपगुणसमर्पकत्वात्। कर्म्मजन्यफलस्वाम्यबोधकोविधिरधिकारविधिः;—कर्म्मजन्यफलस्वाम्यं च कर्म्मजन्यफलभोक्तृत्वम्, यथा—"यजेत स्वर्गकामः" स्वर्गमुपदिश्य यागं विदधतानेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते; एवम् "अहरहःसन्ध्यामुपासीत" श्रुचिविहितकालजीवितसन्ध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते। तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव, योधिकारविशिष्टः; अधिकारश्च सएव, विधिवाक्ये पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते; यथा—काम्ये कर्मणि, फलकामना; निमित्ते कर्मणि, निमित्तनिश्चयः; नित्ये सन्ध्योपासनादौ, श्रुचिविहितकालजीवितत्वम्। अङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिः, यथा—"वेदं कृत्वा वेदिं करोति" वेदोनाम दर्भमयं मार्जन साधनम्, वेदिराहवनीयमध्यवर्त्तिनी चतुरङ्गुलाः भूमिः; वेदकरणानन्तरं वेदिकरणमनेन विधीयते॥

स एषश्चतुर्विधोऽपि विधिरपूर्वनियमपरिसंख्याभेदतस्त्रिधाविभक्तः; तथाहि—प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापकोऽपूर्वविधिः, यथा दर्शपौर्णमासप्रकरणे—"व्रीहीन् प्रोक्षति" एतद् विध्यभावे दर्शपौर्णमासीयव्रीहीषु प्रोक्षणं कथमपि न प्राप्नोति। पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापकोविधिर्नियमविधिः, यथा तत्रैव—"व्रीहीनवहन्ति" व्रीह्यवहननस्य हि वैतुष्यमेव दृष्टं फलम्, तद्धि अवघातेन नखादिनाच सम्भवति, तत्र यदा अवघातं परित्यज्योपायान्तरमवलम्बयितुमारभते, तदावघातस्याप्राप्तिः, तदप्राप्तांशं पूरयत्ययम्। उभयोश्च युगपत् प्राप्ताबितरव्यावृत्तिपरः परिसंख्याविधिः।

বিধি, প্রয়োগবিধি। যাহা কেবল কর্ম্মস্বরূপ জ্ঞাপন করে; তাহাকে উৎপত্তি বিধি কহাযায়; যথা—অগ্নিহোত্রং জুহোতি" অগ্নিহোত্র হোমদ্বারা অভিলষিত ফল উৎপাদন করিবে; এই শ্রুতিটী অগ্নিহোত্র নামে একটী যাগ আছে—এই মাত্র (কর্ম্মস্বরূপমাত্র) জানাইল। অঙ্গকর্ম্মের প্রধান কর্ম্মের সহিৎ সম্বন্ধ জ্ঞাপন কারী বাক্যকে বিনিযোগবিধি কহাযায়; যথা—"দধ্না জুহোতি" এইটী দধ্না—এই তৃতীয়াদ্বারা দধিদান রূপ অঙ্গ কার্য্যের হোমরূপ প্রধান কার্য্যের সহিৎ সম্বন্ধ জানাইতেছে; ইহাকেই গুণবিধি বলাযায়, যেহেতু ইহা দধি রূপগুণ বিধান করিতেছে। কর্ম্মজন্য ফলভোক্তৃত্ব-প্রকাশক বাক্যকে অধিকারবিধি বলাযায়; যথা—"যজেত স্বর্গকামঃ" এইটী স্বর্গ উদ্দেশে যাগ বিধান করত স্বর্গকাম পুরুষের যাগজন্য ফল-ভোক্তৃত্ব প্রতিপাদন করিতেছে; এইরূপ "অহরহঃ সন্ধ্যামুপাসীত" এইটী শুচি বিহিত কালজীবী পুরুষের সন্ধ্যোপাসনাজন্য প্রত্যবায় পরিহার রূপ ফলের ভোক্তৃত্ব প্রতিপাদন করিতেছে; সেই ফলভোক্তৃত্ব তাহারই, যে অধিকার বিশিষ্ট; অধিকার তাহাই, যাহা বিধিবাক্যে পুরুষের বিশেষণ রূপে শ্রুত হইয়া থাকে; যথা—কাম্য কর্ম্মে, ফলকামনা, নিমিত্ত কর্ম্মে, নিমিত্তনিশ্চয়; সন্ধ্যোপাসনাদি রূপ নিত্যকর্ম্মে, শুচি বিহিতকাল জীবিতত্ব। অঙ্গকার্যের ক্রম-বোধক বাক্যকে প্রয়োগবিধি কহা যায়; যথা—'বেদং কৃত্বা বেদিং করোতি' প্রথমে বেদ প্রস্তুত করিয়া পশ্চাৎ বেদি প্রস্তুত করিবে (কতিপয় কুশা-নির্ম্মিত, যাহা দ্বারা মার্জ্জন করা যায় তাহাকে বেদ কহে; আহবনী মধ্যবর্ত্তী চতুরঙ্গুল ভূমিকে বেদি কহা যায়;)।

উক্ত চারিপ্রকার বিধি অপূর্ব্ব, নিয়ম, পরিসংখ্যা;—এই তিন ভেদে বিভক্ত। প্রমাণান্তরদ্বারা অপ্রাপ্ত বিষয়ের প্রাপনকারী, অপূর্ব্ববিধি; যথা দর্শপৌর্ণমাস প্রকরণে—'ব্রীহীন্ প্রোক্ষতি' ধান্যের প্রোক্ষণ করিবে: এই বিধি না থাকিলে দর্শপৌর্ণমাস যজ্ঞীয় ধান্যের প্রোক্ষণ কোন রূপেই প্রাপ্ত হইত না। পক্ষান্তরে অপ্রাপ্তের যে প্রদানকারী, তাহাকে নিয়মবিধি বলা যায়; যথা সেই প্রকরণেই—"ব্রীহীনবহন্তি" ধান্যের অবহনন করিবে; ধান্য গুলি তুষ বিমুক্ত হয়—ইহাই অবহননের দৃষ্ট ফল; তাহা অবঘাত দ্বারা এবং নখাদি দ্বারা উভয়রূপেই সম্ভবে, তন্মধ্যে যে পক্ষে অবহননরূপ উপায় ত্যাগ করিয়া উপায়ান্তর অবলম্বন করিতে উদ্যত হইবে, সেই পক্ষে সুতরাং অবঘাতের অপ্রাপ্তি; এই বিধি সেই অপ্রাপ্ত অংশের পূরণকারী। এক কালে উভয় প্রাপ্তি হইলে একের নিবৃত্তিকারী বাক্যকে পরিসংখ্যাবিধি কহা যায়।

आपतेति, आ समन्तात् पत्राणि पाति; पक्षे, अपगता त्रपा यस्य। परमहेलेति, महेला वनिता; पक्षे, परमा हेला क्रीड़ा। सुरतेति, पक्षे, सुरेभ्य इति सुरतः॥

दुर्ज्जनवर्णनमाह।

दुर्ज्जनः—

कुहूचन्द्र इव सूर्यसङ्गतः। भङ्ग इवाधिकमदोल्लासी॥ मू०॥

सूर्य्यसङ्गत इति, सूरीणां सूरिभिर्वा असङ्गतः॥

समुद्रवर्णनमाह।

समुद्रः—

तारागण इव तिमिरोचितः। वियोगीव विस्तारितापः॥ मू०॥

गो-वर्णनमाह।

गौः। रसवतीव समांसमीना।

समां समां प्रसूयते इति समांसमीना 'समांसमीना वा चैव प्रतिवर्षं प्रसूयते'—इत्यमरः।

गज-वर्णनमाह—

गजः। हरिरिव पद्माकरसुखितः। स्वर्ग इव सदानवारिः।

वराह-वर्णनमाह—

वराहः। गणेश इव परमोदकरुचिः।

वणिग्वर्णनमाह—

वणिक्। जैननय इव बहुलक्षपणः।

कामिनीजन-वर्णनमाह—

कामिनीजनः। नागर इव कलहावस्थितः।

तार्किक-वर्णनमाह—

तार्किकः। शुक्र इव सदनुमानः।

घोटक-वर्णनमाह—

वाजी। निर्व्यापार इव बहुलक्षणः।

कपाट-वर्णनमाह—

कपाटम्। कविरिव बहुलोहम्।

कामिनी-वर्णनमाह—

कामिनी। निशीथ इव प्रबलतमा।

रावण-वर्णनमाह—

रावणः। भूमण्डल इव गिरिशत श्रियं बिभ्राणः।

प्रावृड्-वर्णनमाह—

प्रावृट्कालः। विष्णुरिव सदारमानवप्रीतिकृत्।

गिरि-वर्णनमाह—

गिरिः। महाकविश्लोक इव सरसोपचितपादः।

परिब्राड्-वर्णनमाह—

परिब्राट्। वर्षोपल इव सत्वरचयान्वितः।

अथ खण्डश्लेषः।

ननु कोऽयं खण्डश्लेषः? न तावत्तद्भिन्नपदम्, भिन्नपदप्रायमिति द्विधेति काव्यादर्शोक्त भङ्गश्लेष उच्यते; तथात्वे प्रागुक्तोदाहरणानां प्रायशः सभङ्गत्वेन पुनः प्रतिज्ञाकरणं न सङ्गच्छते अतोऽत्र खण्डश्लेषो भङ्गश्लेषाद्भिन्नः; तल्लक्षणमाह—

अथ शब्दैरपूर्वाद्यैः पूर्वभागप्रयोजितैः।

श्लेषाय शब्दमध्येषु निक्षिपेदक्षरं यथा॥

अकारपूर्वो येषाम् आदिशब्देन चितखचितादीनां ग्रहणम्।

उदाहरणान्याह—

अपूर्वसुरचेष्टः। आचितखेटकशोभी। उद्योतित परागशोभः। अञ्चित गजयुतः। खचितद्योतयुतः। धनवह्निस्मरः। कविराजितगलः। दामोदितनवश्रीः। धरोचितबलः। नव्याप्तचलनाथः। परोचितवनशोभी। प्रमोदितकटस्थितिः। बलोचितहलश्रीः। वामोदितमनस्थितिः। विक्रान्तभवोपेतः। विभूषित पदान्वितः। वियुक्तजनप्रियः। व्याप्तपक्षहारी। भरोचितरतश्रीः। रचित मणिभासुरः। सततरसस्थितिः। स्थामोदितवरश्रीः। क्षमोदितपणस्थितिः। संसक्तगरश्रीः। संप्राप्तसारभूषणः। संभूषितशययुतः। संभावित प्रमोदयः॥

आचितेति, आसमन्तात् चितेन खेटकेन; पक्षे, आखेटकेन मृगयया। सुगममन्यत्।

पूर्वाक्षर लोपेन श्लेषान्तरमाह—

कलोपयुक्तकपोतवान्। प्रस्खलितप्रवालोपेतः। प्रष्ट प्रमदोदयः। विमुक्तविरहस्थितिः। मालोपयुक्तमानवघनः। मारहितमाधवोल्लसितः। नरहित नगरालङ्कारः। सुरहित सुधर्माश्रयः।

कलेति, कलासु उपयुक्तः। कपोतवान्; पोतवान्। सुगममन्यत्। अन्यच्च—असीमसीतारामभक्तः; पक्षे, ताराभक्तः। इति आद्यन्तलोपेन। एवं, 'पञ्चपादः कथं सिंहोप्रब्धिः स्यात् केन वारधिः। कृष्णचन्द्रः केन तुल्योदीयतासेकमुत्तरम्।' अत्रोत्तरम्, मघोन इति आदिमध्यलोपेन।

श्लेषान् विविधप्रकारेणोदाहृत्य वर्णादिनामभिवर्णनीयान् वर्णयति।

रचित श्लेषसंश्लेषैर्वर्णवर्णादिनामभिः।
उपमान कृतोल्लासैः साधयेत् सर्ववर्णनम्॥

वर्णानां पदार्थानां वर्णाः शुक्लादयस्तन्नामभिः।

स्वर्गं वर्णयति।

अहो गौरवसल्लक्ष्मीर्यामिनी कामिनीपतिः।
सुपर्वपर्वतौपम्य भङ्गीभङ्गीकरोत्यसौ॥
गौरीभूतकलाशाली परशुभ्रामितोदयः।
सुपीवरसितोल्लासः स्पष्टां श्वेतश्रियं वहन्॥
सदाबलाकासितश्रीर्गिरीशाचलसच्छविः।
स्फुरच्चन्द्रकसल्लक्ष्मीर्घनसारश्रियं वहन्॥
सदानवसुधाशोभी विभाणो राजतश्रियम्।
जातरूपचयच्छायो मधुपीतप्रभान्वितः॥
कर्णिकारसितच्छायः परागश्रीविराजितः।
अधिकारुण्यसंशोभी नवेन महसा वृतः॥
बकुलो हितसम्पत्तिः प्रवालद्युतिपेशलः।
अधिकद्रुश्रियं बिभ्रत् कलारचितवैभवः॥
नवधूसरसाटोपः सदा सरलसद्रुचिः।
विभात्यधिकदोतश्रीरासभासितवैभवः॥
असितत्वमनोहारी वकुश्यामलतान्वितः।
स्वभावनीलसल्लक्ष्मीः सदारामोदितद्युतिः॥
केशवामोदितच्छायो नदीनश्रीमनोहरः।
अन्धकारातिरोचिष्णु बिभ्रत् कुवलयस्थितिन्॥
खञ्जनस्थितिरोचिष्णुः स्वर्गलाभचितस्थितिः।
मदादिविहितोल्लासः सुराश्रासनयान्वितः॥

स्वर्गः॥

सुपर्वपर्वतः सुमेरुः तस्यौपम्यं तत् साहश्यं तस्य भङ्गी रचनाविशेषः। गौरीति अगौरा गौरतां सम्पन्ना तथाभूता या कला तया शालते शोभते। परः शुभ्रः असित उदयो यस्य सुतरां पीवरः सित उल्लासो यस्य; पक्षे, गौरी च भूतकला च परशुना भ्रामित उदयो यस्य। सुपीवा रसितं शब्दितं तत्रोल्लासो यस्य। सदेति, वलाकावत् वकश्रेणिवत् सिताः श्रियो यस्य; पक्षे, अवलाभिः कासिता गिरिशा चलो हिमालयः घनसारः पर्पूरम्; पक्षे, गिरौ शेते इति गिरिट् तेन गिरिशा महादेवेन च परं नसन्ती छवियस्य। सदानेति, पक्षे, दानेन सह वर्त्तमाना सदाना; राज्ञः इति राजतः। मधु पीतं येन मधुपीतो भ्रमरः। कर्णिकारः परिव्याधम्; पक्षे, कर्णिका कर्णभूषणम्। बकुलेति, पक्षे, बकुला ऊहिता वितर्किता सम्पत्तिर्यस्य। कलारचितेति, कलाभिः चतुःशष्टिभिः; पक्षे, कं दुःखं लातीति कलः अरीणां समूहो आरः॥

व्योम वर्णयति।

सव्योमाभ्रङ्कविद्योती सन्नभोगमनस्थितिः।
अम्बान्तद्युतिरोचिष्णुः सदाकाशचितस्थितिः॥

व्योम॥

सुगमम्॥

भूमिं वर्णयति।

स्वयम्भूस्थितिविभ्राजी सम्पन्नवसुधास्थितिः।
स्फुरद्वराङ्कसंशोभी सुक्षमा समलं कृतः॥

भूमिः॥

सुक्षमेति, क्षमा पृथ्वी; पक्षे, क्षमा क्षान्तिः॥

पातालं वर्णयति।

महावलि समुल्लासी सज्जपातालवैभवः।
अहीनभोग विभ्राजी भूदारस्थितिसुन्दरः॥

पातालम् ॥

वनादीन् वर्णयति।

सश्रीकाननरोचिष्णुः कान्तारश्रितवैभवः।
अधिकासारसारश्रीर्विधुनीत श्रियं वहन् ॥

वनादि ॥

मेघं वर्णयति।

स्वर्गस्थितिमनोहारी सदानीरोचितस्थितिः।
सज्जलक्षणविद्योती सदभ्रस्थितिपेशलः ॥

जलधरः ॥

आकारं वर्णयति।

अहो वामनसाटोपः सदा खर्वतमस्थितिः।
अधिकं प्रांशुसंशोभी सर्वदा वालसद्युतिः ॥

आकारः ॥

गृहाधारं वर्णयति।

सम्पन्नवेश्मनिश्रायो सदनस्थितिभासुरः।
सद्मनः स्थितिमुद्बिभ्रत् सुशोभनिलयस्थितिः ॥

गृहाधारः ॥

स्थिरद्रव्यस्थिरचित्तस्थिरप्रतिज्ञान् वर्णयति।

अचलद्युतिविद्योती सदास्थिरचितद्युतिः।
सत्वरोचितलक्ष्मीको मनोज्ञतरलक्षणः।

स्थिरादिः ॥

समीपं वर्णयति।

उपकण्ठस्थितिं बिभ्रत् सनीडस्थितिपेशलः।
अभ्यर्णस्थिति विभ्राजी गङ्गाम्बु निकटस्थितिः ॥

समीपम् ॥

उक्तवैपरीत्यं दर्शयति।

परमश्लाघी विशदच्छायः
स्वचलच्छायोहृद्यप्रतिभः।
अपिनद्धाङ्गः कान्तोऽङ्गेन
प्रखरोत्पन्नं क्षितिमापन्नः ॥

उक्तवैपरीत्यम् ॥

परमम् अतिशयं श्लाघ्यतेऽसौ। विशदा निर्म्मला छाया कान्तिर्यस्य। स्वेन धनेन चलन्ती छाया यस्य। हृद्या मनोज्ञा प्रतिभा यस्य। अपिनद्धम् आच्छिन्नं शरीरं सेनाङ्गं वा यस्य। अङ्गेन शरीरेण कान्तः सुन्दरः। प्रकर्षेण खरस्तीक्ष्णः। क्षितिः पृथ्वी, आपन्नः प्राप्तः; पक्षे, परम् अतिशयम्, अश्लाघी प्रशंसाहीनो निन्दको वा। विशम् मृणालं द्यति खण्डयति विशदाः नीचजातिविशेषाः तेषां छायावत् छाया यस्य। सु अतिशयम् अचलवत् पर्व्वतवत् छाया यस्य। अहृद्या प्रतिभा यस्य। न पिनद्धम् अनावृतम् अङ्गं शरीरं यस्य। कस्य सुखस्य अन्तो नाशः अङ्गेन शरीरेण। प्रकृष्टः खरः अतीव गर्द्दभः। क्षितिं नाशम् आपन्नः; "क्षितिर्निवासे मेदिन्यां कालभेदे क्षये स्त्रियाम्" इति मेदिनी॥ एवम् "अयं गौरवितो महान्" इत्यादि ॥

इति सटीककविकल्पलतायां द्वितीयस्तवके प्रकीर्णं नाम तृतीयं कुसुमम्।

संख्याविशेषनियमेन वर्णनीयपदार्थानाह।

एकमात्मेन्द्रहस्त्यश्वगजास्वरदगुक्रदृक्।

एकेति। आत्मा परमात्मा। अन्यत् सुगमम्।

इयं पक्ष नदीकूलासिधारा रामनन्दनाः ॥१॥

इयमिति। असिधारे खड्गधारे। रामनन्दनौ कुशीलवौ। आश्विनेयावित्याद्यपि ज्ञातव्याः ॥१॥

त्रयं कालाग्निभुवन गङ्गामार्गेशदृग्गुणाः।
ग्रीवारेखा कालिदासकाव्यशूलशिखावलिः ॥२॥
सन्ध्यापुरः पुष्कराणि रामविष्णुजज्वरांघ्रयः।

त्रयमिति। पुष्कराणीति, क्रूरवारभद्रातिथिभग्नपादुकनक्षत्रयोगाद् भवति; अन्यानि लोकप्रसिद्धान्यमरोक्तानि च सुगमानि। विष्णुज्वरेति, विष्णोः ज्वरस्य चांघ्रयः पादाः, "त्रिपादूर्द्ध्व उदैत्पुरुषः" इत्यादि श्रुतेः, "त्रिपाद्भस्मप्रहरणस्त्रिशिरारक्तलोचनः" इति विष्णुधर्मोत्तराच्च॥ एवं ब्रह्मादिदृष्टिविद्याशक्तिगायत्रीपादादयोऽपि ज्ञातव्याः ॥ २ ॥

चत्वारि वेदब्रह्मास्य वर्णाब्धि हरिबाहवः ॥३॥
स्वर्दन्तिदन्तसेनांगोपाय यामयुगाश्रमाः।

चत्वारीति। स्वर्दन्ती, ऐरावतः, चतुर्दन्तगजारूढ़ इत्यादि पौराणिकेन्द्रध्यानात्। अन्यानि सुगमानि। अन्येऽपि विष्णुमूर्त्तिगणेशानसागरान्तःकरणावस्था आत्मादि गुर्वादिधर्मादयो बोध्या ॥ ३ ॥

पञ्चपीडवरुद्रास्त्रेन्द्रिय स्वदुव्रताग्नयः ॥४॥
महापाप महाभूत महाकाव्य महामखाः।
पुराणलक्षणान्यंगानिलवर्गेन्द्रियार्थकाः ॥५॥

पञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि च पञ्च। स्वद्रवः, देवतरवः। व्रताग्नयः, पञ्चाग्निसाधनाः। महामखाः, महायज्ञाः पाठहोमातिथिसपर्य्यातर्पणवलयः। पुराणलक्षणानि, "स्वर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च। वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥" अङ्गानिलाः शरीरवायवः प्राणादयः॥ अन्येऽपि—गव्यामृतरत्नपल्लवकषायास्त्रकारुवाणशिवमुखादयोऽपि बोध्याः॥५

षड्वक्त्रकोण त्रिशिरो नेत्रतर्काङ्गदर्शनम्।
चक्रवर्त्तिमहासेन वदन र्तुगुणारसाः ॥६॥

षडिति। अङ्गानि, शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दो ज्योतिषाख्यानि। दर्शनानि, न्यायवैशेषिकसांख्यपातञ्जलपूर्व्वोत्तरमीमांसाख्यानि। चक्रवर्त्तिनो यथा, "युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनौ, ततो नृपः स्याद् विजयाभिनन्दनः। ततश्च नागार्जुनकालकेशिनौ,कलौ युगे षट् किल चक्रवर्त्तिनः। अन्येऽपि चक्रादयो बोध्याः ॥६॥

सप्तपातालभुवन मुनिद्वीपार्कवाजिनः।
वाराब्धिस्वरराज्यांग श्रीह्विवह्निशिखादयः ॥७॥

सप्तेति। मनुयोमरीच्यादयोदश सप्तर्षित्वेन परिभाषिताः, अथवा कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोथगौतमः। यमदग्निर्वशिष्ठश्च सप्तैते मुनयः स्मृताः। द्वीपाः, जम्बुप्लक्षकुशक्रौञ्च शाक-शाल्मलिपुष्कराख्याः। वह्निशिखा, अग्निज्वाला, यथा, मार्कण्डेमपुराणम्—
"काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता चापि सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनीचापि च विश्वदाहा ज्वालाः कृशानोरिहसप्तसंख्याः॥" *

अद्रयो यथा—"महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमान् परिपालकः। ऋक्षो विन्ध्यश्च सप्तैते जम्बुद्वीपकुलाचलाः॥ अन्येऽपि व्याहृति धातुसमित्प्रभृतयो बोध्याः ॥७॥

अष्टौ योगाङ्गवस्वीशमूर्त्तिदिग्गजसिद्धयः।
ब्रह्मश्रुतिव्याकरणदिक्पाला हि कुलाचलाः ॥८॥

अष्टेति। योगाङ्गानि, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिनाभानि। वसवो यथा—"भवोधवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च अष्टौ ते वसवः स्मृताः"। "ईशमूर्त्तयो यथा—जलमग्निर्धरावायुर्नभश्चन्द्रवरौतथा यजमान इति प्राज्ञैरुक्ताः सर्व्वाष्टमूर्त्तय"। दिग्गजा ऐरावतादयः। सिद्धयो यथा—"अणिमा लघिमा चैव महिमा गरिमा तथा। ईशित्वञ्च वशित्वञ्च प्राप्तिः प्राकाम्यमेव च"। ब्रह्मणः श्रुतयः कर्णाः। व्याकरणानि * यथा—इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्ना पिशली शाकटायनः। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः"। दिक्पाला इन्द्रादयः, तेषां दशसंख्यकत्वमपि ब्रह्मानन्तसमावेशात्। नागा यथा—"अनन्तो वासुकिश्चैव कर्कोटस्तक्षकस्तथा। पद्मश्चापि महापद्मः शङ्खः कुलिक एव च"। हिमवत्सहिताः पुर्व्वोक्ता पुराणान्तरप्रसिद्धा अष्टौ कुलपर्व्वताः। अन्येऽपि ईश्वरगुणविषधातुब्राह्मणादिशक्तिप्रभृतयो बोध्याः ॥ ८ ॥

नवांगद्वारभूखण्डरत्न रावणमस्तकाः।
व्याघ्रोस्तनसुधाकुण्डशेवध्यं करसंग्रहाः ॥९॥

नवेति। अङ्गद्वाराणि शरीरच्छिद्राणि। भूखण्डानि, भारत किं पुरुषहरिकेतुमालभद्राश्वरम्य कहिरणमय कुविलाष्टताख्यानि वर्षाणि। सेवधयो निधयोरत्नानीति यावत्। अन्ये विक्रमभूपसभापण्डितादयोऽपि च्चेषाः ॥९॥

* "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वा॥" इति मुण्डकोपनिषद्द्वितीयखण्डे चतुर्थमन्त्रः॥

* व्याकरणपदेनात्र वैयाकरणो लक्ष्यते, तथाच—कविकल्पद्रुमोक्ता इन्द्रादयस्तु शाब्दिकत्वेन परिगणिताः, तेषां सर्व्वेषामेव कौलिकाशकमेकैकस्य व्याकरणकर्त्तृत्व न नियामकः, किन्तु सर्व्वप्रणीतानामेव पदशास्त्राणां स्यात् व्याकरणत्वमित्यपि न स्वीकार्य्यं सहसा भवेत् ॥

तथा द्वितीयम् वर्णकम् ।

(अ०) द्रव्यादिशब्दतोऽपूर्वधीर्भावार्थपदादुत । द्रव्यादीनां फलार्थत्वात् तच्छब्देन ह्यपूर्वधीः ॥ क्रियाद्वारमृते द्रव्यं फलेन नहि युज्यते । भावना वाचिनोऽपूर्वमाख्यातादेव गम्यते ॥ धात्वर्थव्यतिरेकेण भावना नेति चेन्न तत् । सर्वधात्वर्थसम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना ॥ धात्वर्थः करणं तस्यां समानपदवर्त्तितः । द्रव्याद्युपकृतिर्दृष्टा धात्वर्थोत्पादनात्मिका ॥२।१।१॥ ३व० ॥

(टी०) इदमाम्नायते "सोमेन यजेत" "हिरण्यमात्रेयाय ददाति, तस्मात् सुवर्णं धार्यम्" "श्येनेनाभिचरन् यजेत" "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादि, तत्र, सोमहिरण्यशब्दौ द्रव्यवाचिनौ, सुवर्णशब्दो गुणवाची, श्येनचित्राशब्दौ कर्मवाचिनौ, तैरेतैर्द्रव्यादिशब्दैरपूर्वं प्रत्येति, कुतः ? द्रव्यादीनां सिद्धरूपाणाम् फलम्प्रतिकरणत्वात् ; द्रव्यादिशब्दा अपूर्व-प्रत्यायकाः ।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—क्रियां विना द्रव्याणि फलं साधयितुं न क्षमन्ते, पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधकत्वादर्शनात् ; अतो भावनावाचिना यजति—ददाति-इत्याख्यातेनापूर्वं प्रतीयते ॥

ननु धात्वर्थ एव भावना, तदन्या वा ? न तावद्धात्वर्थः, तस्य तां प्रतिकरणत्वोक्तेः ; न द्वितीयः, धात्वर्थव्यतिरिक्तायाः दुर्लक्ष्यत्वात् ।

इति चेत्—नैवम्, सर्वधात्वर्थसम्बद्धरूपेण लक्षयितुं शक्यत्वात् ।

तदुक्तमाचार्यैः—

"धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लक्ष्यते ।
तथापि सर्वसामान्यरूपेणैवावगम्यते ॥" इति ।

अन्यैरप्युक्तम्—

"सिद्धसाध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधस्तयोः ।
अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी ॥" इति ।

पचतीत्युक्ते पाकं करोतीत्येतमर्थं सर्वे जनाः प्रतीयन्ति, तत्र पाकः पक्तिः पचनम् इत्येतैः शब्दैर्व्यवह्रियमाणो लिङ्गकारकसङ्ख्यायोग्यो धात्वर्थः सिद्धस्वभावः ; करोतीत्यनेन व्यवह्रियमाणो लिङ्गाद्यपेतः साध्यस्वभावः । तत्र सिद्धस्वभावद्योतनाय यथा घञ्प्रत्ययादयो विहिताः तथा साध्यस्वभावद्योतनाय आख्यातप्रत्ययविधिः । स चाख्यातप्रत्ययार्थ ओदनोत्पत्तेरनुकूलः, ततो भवितु रोदनस्य प्रयोजकव्यापारत्वात् णिजन्तेन भावना शब्देनोच्यत इत्यन्ये भावनापक्षा अयुक्ताः ॥

प्रयत्नो भावना—इति चेत्—न, रथो गच्छतीत्यत्र तदभावप्रसङ्गात् ॥

स्पन्दः-इतिचेत्—न, मानसत्यागरूपे यजता व्याप्तेः ॥

उभयसाधारणमुदासीनत्वविच्छेदसामान्यं भावना-इतिचेत्—न, शब्दभावनायामव्याप्तेः ; नहि शब्दस्य विभोरचेतनस्य स्पन्दः प्रयत्नो वास्ति । लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययमात्रगता शब्दभावना ; सर्वाख्यातगता अर्थभावना ; तदुक्तम्—

"अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥" इति ।

किञ्च स्पन्दादिवादिनोऽपि न स्वरूपेण स्पन्दादीनां भावनात्वमाहुः, किन्तु अन्योत्पादनानुकूलं स्वरूपम् ॥ तस्मादस्मदुक्तैव भावना, यथा पचतीत्यत्रौदनफलोत्पत्त्यनुकूला, यजतीत्यत्र स्वर्गादिफलोत्पत्त्यनुकूला ; तस्यां च फलभावनायां प्रत्ययवाच्यायामेकपदोपात्तत्वेन प्रत्यासन्नत्वात् प्रकृत्यर्थः करणम्, न तु द्रव्यादि, तस्य पदान्तरोपात्तत्वेन विप्रकृष्टत्वात् । साध्यरूपोऽपि प्रकृत्यर्थः, स्वसाधननिष्पादितः सन् शक्नोति फलं साधयितुम्, द्रव्यादीनां तु प्रकृत्यर्थोत्पादनेन दृष्ट एवोपकारः । द्रव्यादिनिष्पादितेन धातुवाच्येन यागादिकरणेन स्वर्गादिफलोत्पत्तौ सत्यां येयमनुकूलव्यापारात्मा इतिशब्दाभिधेया फलोत्पादना सेयं यच्यादि-

धातूनामन्यतमेन केनापि नाभिधीयते, सर्वधात्वर्थानुयायित्वात्। अतो न भावनायाः प्रकृत्यर्थत्वमाशङ्कितुं शक्यम्॥

अस्तु तर्हि धात्वर्थसामान्यमेव भावना-इतिचेत्—न, प्रतिधात्वर्थं विलक्षणरूपत्वात्; अन्यद्धि पाकस्यौदनं प्रत्यानुकूल्यम्, अन्यच्च चलनस्य संयोगविभागौ प्रति, अन्यथा फलविभागानुवर्त्ततामनुवर्त्ततां नाम, नैतावता प्रकृत्यर्थसामान्यं तद् भवति॥

तस्माद् विशेषरूपात्सामान्यरूपाच्च धात्वादिधातुवाच्यादन्यैवाख्यातप्रत्ययवाच्या भावना॥

तथा सति यजेतेत्यत्राख्यातस्य भावयेदित्यर्थो भवति। तत्र—किम्भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत् इत्याकाङ्क्षायां—स्वर्गं भावयेत्, यागेन भावयेत्, अग्न्यन्वाधानप्रयाजावघातादिभिरुपकारं सम्पाद्य भावयेत्—इत्येवं भाव्यकरणेति कर्त्तव्यता समर्पणेनाकाङ्क्षापूरणात्, प्रकरणाम्नातः सकलः शब्दसन्दर्भो भावनावाचिन आख्यातस्यैव प्रपञ्चः। भाव्याद्यंशत्रयवतीयमर्थभावना—इत्युच्यते, सा सर्वापि शब्दभावनाया भाव्या, विधायको लिङादिः करणम्, अर्थवादसंपादिता स्तुतिः इति कर्त्तव्यता; सेयं शब्दभावना लिङादिभिरेव गम्यते, अर्थभावना तु सर्वैराख्यातप्रत्ययैर्गम्यत इत्युक्तम्। तथाचार्थभावनायां स्वर्गभाव्यत्वं कर्मियोगादवगम्यते, प्रकृत्यर्थस्य करणत्वं तृतीयाश्रुत्या; तथाच श्रूयते "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत", "चित्रया यजेत पशुकामः" इति, तच्च करणत्वमपूर्वकल्पनामन्तरेण न सम्भवतीत्यभिधास्यते। तस्मादाख्यातप्रत्ययान्ताद् भावार्थपदादपूर्वं गम्यते॥ १। १। १॥

समाप्तम् प्रथमाधिकरणम्॥

———

ननु सतिकुड्ये चित्रम्, सत्यपूर्वे तस्य वाचकः कः? इति विचार उपपद्यते, तत्सद्भाव एव किम्मानम्?—इति चेत्—अत्राह।

(सू०) चोदना पुनरारम्भः ।२।१।४॥

(वि०) चोदनैव वक्तव्यस्यापूर्वम्, कुत एतत्—इत्युच्यते, "आरम्भः" तत्र हि स्वर्गादिफलारम्भः श्रूयते यत इत्यर्थः॥ एतदुक्तं भवति। यच्छ्रूयते "स्वर्गकामो यजेत" तदेव प्रतिपादयति, यागानन्तरकालमपि स्थायि किञ्चिदपूर्वम्; अन्यथा तथा विहितस्य यागस्य कर्मरूपत्वात् कर्मणश्च क्षयित्वात् स्वर्गफलं केन प्रसूयते? अतो वक्तव्यमेतत्—यागक्रियासहभाव्यपूर्वं जन्यते, तद्धि जलादिना निर्वापितऽग्नावौष्ण्यमिव नष्टेऽपि कर्मस्वरूपे यागे तदीयशक्तिरूपश्चिरं तिष्ठत् कर्त्तुः फलमुत्पत्तौ निमित्ती भवति॥२।१।४॥

तदेतद् द्वितीयाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) अपूर्वसद्भावसंशये सति नास्ति तत्। मानाभावात् फलं यागात् सिध्येच्छास्त्रप्रमाणतः॥ क्षणिकस्य विनष्टस्य स्वर्गहेतुत्वकल्पनम्। विरुद्धमन्तरेणातः श्रेयोऽपूर्वस्य कल्पनम्॥ अवान्तरस्य प्राप्तिर्वा शक्तिर्वा यागजोच्यते। अपूर्वमिति तद्भेदः प्रक्रियातोऽवगम्यताम्॥२।१।२।

(टी०) (चिन्ताप्रयोजनं तु पूर्वपक्षे इष्टाद्युपचारे प्रतिनिध्यभावः, सिद्धान्ते तु तत्सद्भावः।) पूर्वाधिकरणे वर्णकाभ्यां यदिदमुक्तमपूर्वस्यैकमेव पदं प्रत्यायकं तच्च यजेतेत्याख्यातान्तं भावार्थं पदमिति तदनुपपन्नम् अपूर्वसद्भावे मानाभावात्, यजेतेत्याभ्यां प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां, करणभावनयोरभिधानात्; अपूर्वाभावे कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वं विनश्वरस्य यागस्यानुपपन्नम्—इति चेत् न, शास्त्रप्रामाण्येन तदुपपत्तिः।

इतिप्राप्ते, ब्रूमः—दर्शपूर्णमासाभ्यामिति तृतीया श्रुत्या तावद्यागस्य स्वर्गसाधनत्वम् प्रमितम्, तद्यथोपपद्यते तथावश्यं भवतापि कल्पनीयम्। तत्र, किं यावत्फलं यागस्यावस्थानं कल्प्यते? किं वा विनष्टस्यापि स्वर्गोत्पादनम्? नाद्यः, यागे क्षणिकस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्; न द्वितीयः, मृतयोर्दम्पत्योः पुत्रोत्पत्त्यदर्शनात्। अतो मानान्तरविरुद्धात्तदीयकल्पनादस्मदीय मविरुद्धमपूर्वकल्पनं

यदुक्तं गुणप्रधानलक्षणे तयोरतिव्याप्त्यव्याप्ती दर्शयन्नाह पूर्वपक्षी।

(सू०) धर्ममात्रे तु कर्मस्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत्।२।१।८।

(वि०) एवं हि श्रूयते 'स्रुचः सम्मार्ष्टि'-'पुरोडाशं पर्य्यग्निकरोति" इत्यादि. अत्र संमार्जनादिभिर्नहि स्रुवादीन् द्रव्यान् संस्कर्त्तुं विकारयितुं वेप्सत इत्युपलभ्यते, सुतरां मन्तव्यमेतत् संमार्जनादिकं गमयति धर्म्ममात्रमिति, तथाच 'यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते' इति प्रधानकर्मलक्षणमिह घटतएव, तथा 'यैर्द्रव्यं चिकीर्ष्यते' इति गुणकर्मलक्षणोऽपि नास्ति प्रवृत्तिः; अतो ब्रवीमि—'प्रयाजवत्' यथा प्रयाजादौ नहि संस्कारोविकारो वा क्रियाकृतनिर्वृत्तिर्दृश्यते ततोधर्मएव गम्यतइति प्रधानकर्मत्वम्, तथा "स्रुचः संमार्ष्टि" इत्यादावपि 'अनुवृत्तेः' क्रियाकृतसंस्काराद्यनिष्पत्तेः 'धर्ममात्रे' उपलब्धे 'कर्मस्यात्' प्रधानकर्म इति व्यवहारः स्यात् —इति पूर्वपक्षः॥ २। १। ७॥

अथ समाधत्ते।

(सू०) तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्मः स्यात्।२।१।९।

(वि०) वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। इतरैर्गुणकर्मभिः सधर्मः स्यादेवं जातीयकः, यथा व्रीहीन वहन्ति, तथा। कुतः? तुल्यश्रुतित्वात्, तुल्या हि द्वितीया श्रुतिरेषां द्रव्येषु,—यस्मा व्रीहीन वहन्ति'—इति, एवम् 'अग्निं समार्ष्टि, पुरोडाशं पर्य्यग्निकरोति'—इति॥ यद्यपि नखावहननादिवत् संमार्जनादिकं तुषविमोकादिवत् किञ्चिद् दृष्टं फलं प्रसूते. तथापि भवत्येव शुद्धिरूपादृष्टफलस्योत्पादकम्, तथा चास्येवात्र क्रियाकृतद्रव्यचिकीर्षणं शुद्धगात्मकसंस्काररूपम्;—इति गुणप्रधानलक्षणयोर्नात्याप्त्यति व्याप्तिः;—इति सिद्धान्तः॥२।१।८॥

'व्रीयीनवहन्ति' इत्यादिना श्रुतिसामान्यात् "स्रुचः संमार्ष्टि" इत्यादेर्गुणकर्मत्वमुक्तम्,—इत्यस्र द्वितीयाश्रुतिहेतुकमत्र गुणकर्मत्वमङ्गीकृतम्; तदद्य तं हेतुमेव विघटयितुमुद्यतस्य पूर्व्वपक्षिणोमतं स्रुत्राङ्केन प्रतिपाद्य, पराङ्केन समुच्छिनत्ति।

(सू०) द्रव्योपदेश इति चेत्—

(वि०) नहि यत्र यत्र द्वितीयाश्रुतिस्तत्र तत्रैव गुणकर्मतेति व्याप्तिग्रहः, "सक्तून् जुहोति, एककपालं जुहोति" इत्यादावव्याप्तेः; तथाच यथात्र सक्त्वादिरूपद्रव्योपदेशइत्येवाङ्गीकृत्य जुहोत्यादौ द्रव्यं गुणभूतमिति मन्यते, तथा "स्रुचः संमार्ष्टि" इत्यादावपि 'द्रव्योपदेशः' स्रुजादिरूपद्रव्यस्य गुणरूपेणोपदेशः स्वीकरोतु नाम, तथाच स्रुगादेव संमार्जनादेरपि प्रधानकर्मता;—इतिचेत्—

अत्राह।

(सू०) न, तदर्थत्वाल्लोकवत् तस्य च शेष भूतत्वात्।२।१।१०।

(वि०) 'न' "सक्तून् जुहोति इत्येवमादौ द्वितीया श्रुतावपि सक्तूनां न प्राधन्यम्. कुतः? 'तदर्थत्वात्' होमार्थत्वात्, न सक्तूनामन्यत्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा; द्वितीयानिर्देशात् प्राधान्यमवगच्छामः सक्तूनामिति तु न सम्भवति, होमस्हि केनचिदपि प्रकारेण सक्त्वर्थतामवकल्पयितुं न युज्यते यतः; अतएवोक्तम् वेदभाष्ये 'सक्तून्—इति तृतीयायाः स्थाने द्वितीया'। 'तस्य च' स्रुजादेः न गुणभूतत्वम्, कुतः? शेषभूतत्वात्, अस्ति हि पुरोडाशादेर्यागादिषु शेषभावोयतः; तत्र हि विद्यतएव पर्य्यग्निकरणादेः पुरोडाशादि द्रव्यसंस्काराद्यर्थता। न स दृष्टोपकाराय—इतिचेत्, शुद्धिरूपादृष्टार्थो भविष्यति। 'लोकवत्' यथा लोके, ग्रामान्तरादागतानां पुरुषाणां पर्यग्निकरणेनादृष्ट उपकारः क्रियते इत्युच्यते. तद्वत्; इत्यञ्च लोकेऽपि नानुपपत्तिरिति भावः॥ २। १। १०॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति।

(अ०) संमार्ष्टिस्रुच इत्यत्र किं प्रधानाख्यकर्मता। गुणकर्मत्वमथवा दृष्टा भावोऽवघातवत्॥ गुणत्वं नहि संभाव्यं प्राधान्यं तु प्रयाजवत्। अदृष्टकल्पनेनापि गुणत्वं स्यात् द्वितीयया॥ २। १। ४।

(टी०) दर्शपूर्णमासयोर्जुह्वादीनां स्रुचांदर्भैः संमार्जनमाम्नायते 'स्रुचः संमार्ष्टीति, तत्र संमार्जनं प्रधानं कर्म; कुतः? गुणकर्मलक्षणरहितत्वात्,

प्रधानकर्मलक्षणयुक्तत्वाच्च ; सूत्रकारोऽपि कर्मणां राशिद्वयं प्रतिज्ञाय तयोर्लक्षणं पृथक् सूत्रयामास 'तानि द्वैधा गुणप्रधान भूतानि, यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ; 'यैस्तु द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधान भूतानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वादिति' यैः कर्मभिर्द्रव्य मुत्पादयितुं संस्कर्त्तुं वेष्यते तेषु कर्मसु गुणत्वं कुत ? तस्य कर्मणो द्रव्य प्रधानत्वात्, द्रव्यं प्रधानमस्येति बहुव्रीहिः, यूपं तक्षत्याहवनीयमादधातीत्यादौ यूपाहवनीयादिद्रव्यमुत्पादयितुमिष्यते ; व्रीहीनवहन्ति, तण्डुलान्पिनष्टीत्यादौ व्रीह्यादिद्रव्यं संस्कर्त्तुमिष्टं प्रयाजादिषूक्तवैपरीत्यात्प्रधानकर्मत्वम् एवं सत्यवघातेन यथा व्रीहीणां तुषविमोकादृष्टः संस्कारस्तथासंमार्जनेन जुह्वादिषु कंचित् अतिशयं न पश्यामः, अतोऽवघातवद्गुणकर्मत्वाभावात् प्रयाजादिवत्प्रधानकर्मत्वम्—इति प्राप्ते, ब्रूमः —स्रुच इतिद्वितीया कर्मकारके विहिता कर्मत्वं चेप्सिततमत्वे सति भवति, कर्त्तुरीप्सिततमकर्म,'इति कर्मसंज्ञाविधानात् क्रतुसाधनत्वेन च स्रुचां युक्तमीप्सिततमत्वम्, अतः प्रधानभूताः स्रुचः। तथा सति संमार्जनक्रियायागुणकर्मत्वमवघातवद्भविष्यति, यदि खलु दृष्टोतिशयोनस्यात्तर्ह्यपूर्वं कल्पनीयम् ॥२।१।१४॥

ननु यथा व्रीहीनवहन्तीत्यादिवत् स्रुचः सम्मार्ष्टीत्यादेः तुल्यश्रुतित्वात् अप्राधान्यं कल्पितम्, एवम् "आज्यैस्तुवते"—इत्याद्यभिहितस्य प्रगीतमन्त्रसाध्यस्तुतिलक्षणस्य स्तोत्रस्य 'प्रउगं शंसति'—इत्याद्यभिहितस्य अप्रगीतमन्त्रसाध्यस्तुति लक्षणस्य शस्त्रस्य च स्यादिति प्रतिपादयति पूर्वपक्षी।

(सू०) स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद् देवताभिधानत्वात् ॥२।१।१३॥

(वि०) स्तुतशस्त्रयोर्विधेयः संस्कारः, देवताभिधानात् ; यतः स्तुतशस्त्रे देवताप्रतिपादके, गम्यते हि तत्र प्रत्यक्षं देवताभिधानम्, तेन च प्रत्यक्षउपकारोयागसिद्धिः ; अतः स्तुतशस्त्रे संस्कारवाचिनी। 'याज्यावत्' दृष्टश्चैवं याज्यामन्वाह, पुरोनुवाक्यामन्वाहे इति। २।१।११॥

अत्राह सिद्धान्ती।

(सू०) अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानाम चोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥२।१।१२॥

(वि०) यदि संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे, अर्थेनापकृष्येत देवतानाम्नश्चोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्, देवतार्थस्य गुणभूतोमन्त्रइति तत्प्रधानभावे यत्र प्रधानं तत्र नीयेत, तत्र क्रमसन्निधी उपरुध्येयताम् ; तस्मादेष दुष्टः पक्षः। स्तुतशस्त्रे प्रधानकर्मणी इति सिद्धान्तः॥ २। १। ११॥

(एतदुत्तरं सन्ति कतिपयविवादसूत्राणि, तेषामत्र विशेषोपयोगितायाः अदर्शनान्नप्रतिपादनं कृतम् ; वक्ष्यामस्तु नूनम् परस्तात् ॥)

पञ्चमाधिकरणमारचति।

(अ०) प्रउगं शंसतीत्यादौ गुणतोत प्रधानता। दृष्टादेवस्मृतिस्तेन गुणता स्तोत्रशस्त्रयोः॥ स्तुत्यर्थत्वे स्तौतिशंस्योर्धात्वोः श्रौतार्थबाधनं तेनादृष्टमुपेत्यापि प्राधान्यं स्तुतये मतम् ।२।१।५।

(टी०) ज्योतिष्टोमे श्रूयते प्रउगंशंसति, निष्केवल्यं शंसति, आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते ;—इति प्रउगनिष्केवल्यशब्दोशस्त्रविशेषनामनी, आज्यपृष्ठशब्दौतु व्याख्यातौ। अप्रगीतमन्त्रसाध्यास्तुतिः शस्त्रं प्रगीतमन्त्रसाध्यास्तुतिः स्तोत्रं ; तयोः स्तुतिशस्त्रयो गुणकर्मत्वं युक्तं ; कुतः ? तुषविमोकवद्दृष्टार्थलाभात् पठ्यमानेषु मन्त्रेषु अनुस्मरणे न देवतासंस्क्रियते—इतिप्राप्ते ब्रूमः—तेषु अनुस्मरणेनस्तोतव्याया देवतायाः स्तावकैर्गुणैः संबन्धकीर्त्तनं स्तौति शंसति धात्वोर्वाच्यार्थः, यदिमन्त्रवाक्यानि गुणसम्बन्धाभिधानपराणि तदा धात्वोर्मुख्यार्थलाभात् स्तुतिरनुगृहीता भविष्यति ; यदा तु गुणद्वारेणानुस्मरणीय देवता स्वरूपप्रकाशनपराणि मन्त्रवाक्यानि स्युस्तदा धात्वोर्मुख्यार्थोन स्यात्। लोके हि देवदत्तश्चतुर्वेदाभिज्ञ इत्युक्ते स्तुतिः प्रतीयते, तस्य वाक्यस्यगुणसम्बन्धपरत्वात् ; तद्द्वारेण देवदत्तस्वरूपोपलक्षणपरत्वेन गुणसम्बन्धपरत्वाभावात्। तत्रस्याज्यैर्देवं प्रकाशयेत्, पृष्ठैर्देवं प्रकाशयेदित्येवं विध्यर्थपर्यवसानाद्धात्वोर्मुख्यार्थोबाध्येत॥ ततो-

धातुश्रुतिमबाधितुं सौतशस्त्रयोः प्रधानकर्मत्व मभ्युपेतव्यम्। तत्र दृष्टं प्रयोजनं नास्ति—इतिचेत् ततोऽपूर्वमस्तु।२।१।५।

समाप्तं पञ्चमाधिकरणम्।

अथैवं मन्त्रपाठे श्रूयते 'देवांश्च याभिर्यजते, ददाति च ज्योगित्ताभिः स च ते गोभिः सह' अत्र मन्त्रे यजते, ददाति-इति पदाभ्यां गोयागस्य गोदानस्य स्तुतिरवगम्यते, अस्ति च नियमः—यत् स्तूयते तद्विधीयत इति; भवति चैवंजातीयकानां ब्राह्मणवाक्यानां विधायकत्वम्; तद्वदस्यापि तत्त्वं भवितव्यमिति स्फुटीकरोति पूर्वपक्षी।

(सू०) विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्।२।१।२७।

(वि०) ब्राह्मणभागविहितविधौ मन्त्रभागगतमन्त्रे च क्रियाशब्दस्य एकएव अर्थः स्यात्; ऐकशब्द्यात्; स एवायमेकशब्दो ब्राह्मणगतो विधास्यति, मन्त्रगतो न शक्नोति अत्र को हेतुः?॥२।१।२७॥

अत्र समाधत्ते।

(सू०) अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्।२।१।२८।

(वि०) अपिवेति पक्षं व्यावर्त्यते। एवं जातीयको मन्त्रस्तु अभिधानवचनः स्यात्, प्रयोगसामर्थ्यात्, प्रयोगे क्रियमाणे अस्य सामर्थ्यं विद्यते, गोयागं गोदानञ्च प्रतिपादयितुं न विधातुं। गोयागस्यानुवन्धायां गोदानस्य दक्षिणाविधाने विहितत्वादितिभावः॥२।१।२८॥

तदेतत् षष्ठाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) देवांश्च याभिर्यजत इत्याख्यातं तु मन्त्रगम्। विधायकं न वान्येन समत्वात्तद्विधायकम्॥यच्छब्दादेः क्षीणशक्ति र्न विधिस्त्रिविधं ततः। आख्यातमभिधानं च प्रधानगुणकर्मणी।२।१।६।

(टी०) अयं मन्त्र आम्नायते—'देवांश्च याभिर्यजते' ददाति च ज्योगित्ताभिः स च ते गोपतिः सह' अयमर्थः;—गोपति र्यजमानो याभिर्गोभिर्देवान् यजते, याश्च गा ब्राह्मणेभ्यो ददाति, चिरमेवताभिः सह परलोकेऽवतिष्ठत इति। तत्र यथा ब्राह्मणगतमाख्यातपदं प्रधानगुणकर्मणो रन्यतस्य विधायकं यथा मन्त्रगतमपि—इति चेत्—

मैवम्, यच्छब्दादिना विधिशक्तेः क्षीणत्वात्; सति हि यच्छब्दे तस्य वाक्यस्यानुवादकत्वं प्रतीयते, न तु विधायकत्वम्। यच्छब्दादेरित्यादिशब्देनोत्तमपुरुषामन्त्रणादयः। 'बर्हि देवसदनं दामि'—इत्युत्तमपुरुषः, अग्नीदग्नीन विहर' इत्यामन्त्रणम्; एवं ब्राह्मणेऽपि, यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत्' इत्युदाहरणीयम्। तस्मादाख्यातस्य प्रधानकर्मविधायकत्वं गुणकर्मविधायकत्वंचेत्येवं द्वावेव प्रकारौ न भवतः, किन्त्वभिधायकत्वमित्यप्यस्ति तृतीयः। ततो न मन्त्रगताख्यातस्य विधायकत्वम्॥२।१।६॥

समाप्तं षष्ठाधिकरणम्।

मन्त्रगताख्यातपदस्यार्थो विचारितः; तत्र किं लक्षणको मन्त्र इत्याशङ्कोत्थिता, तां परिहर्तुमाह।

(सू०) तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥२।१।२८॥

(वि०) मन्त्रानधीमहि, मन्त्रानध्यापयामः—इति अभियुक्ता चोदयन्ति तेष्वेव मन्त्राख्या प्रसिद्धा; तएव जानन्ति मन्त्र इति कस्य नाम। एतच्च मन्त्र इति कस्य नाम वैदिकानां व्यवहारमात्रा देवावगन्तव्यं भावः। अन्यथा कस्मिंश्चिदपि मन्त्रलक्षणे स्वीकृते अव्याप्त्यनिवार्यं स्यादेवेत्याशयः॥२।१।२८॥

सप्तमाधिकरणमारचयति।

(अ०) अहे वुध्नियमन्त्रं मे इति मन्त्रस्य लक्षणम्। नास्त्यस्ति वास्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात्॥ याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्। तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते॥२।१।७॥

(टी०) आधाने इदमाम्नायते—'अहे बुध्नियमन्त्रमेगोपाय' इति तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति

अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थाभिधेयको मन्त्रः—इत्युक्ते, वसन्ताय कपिञ्जलानालभते—इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वाद् व्याप्तिः ; मननहेतुर्मन्त्र—इत्युक्ते. ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः । एवम् असि पदान्तोमन्त्रः; उत्तमपुरुषान्तो मन्त्रः—इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिः—इतिचेत्—

मैवम्. याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषत्वात्; तच्च समाख्यानमनुष्ठान स्मारकादीनाम् मन्त्रत्वं गमयति । उरुप्रथस्व—इत्यादयोऽनुष्ठान-स्मारकाः अग्निमीले पुरोहितम्—इत्यादयः स्तुतिरूपाः, ईषे त्वादयस्त्वान्ताः. अग्न आयाहि वीतये—इत्यादय आमन्त्रणोपेताः, अग्नीदग्नीन् विहर—इत्यादयः प्रैषरूपा-, अधस्विदासीदुपरिस्विदासीत्—इत्यादयो विचाररूपाः, अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मानयति कश्चन—इत्यादयः परिदेवनरूपाः, पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः—इत्यादयः प्रश्नरूपाः, वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः—इत्यादयः उत्तररूपाः ; एवमन्यदप्युदाहार्य्यम् । ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतोधर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत । लक्षणस्योपयोगश्च पूर्वाचार्य्यैर्दर्शितः—'ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः' ॥ तस्मादभियुक्तानाम् मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम् ॥२।१।७॥

समाप्तं सप्तमाधिकरणम् ।

———

द्विभागो वेदः, तत्रमन्त्रस्य कथमपि लक्षणमुक्तम् ; ब्राह्मणस्य लक्षणमाह ।

(सू०) शेषे ब्राह्मणशब्दः ।२।१।३०।

(वि०) मन्त्राश्च ब्राह्मणश्चवेदः, तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मण-लक्षणमवचनीयमिति भावः ।२।१।३०॥

अष्टमाधिकरणमारचयति ।

(अ०) नास्त्येतद्ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा । नास्तीयं ते वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः ॥ मन्त्रश्च ब्राह्मणञ्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः । अन्यद्ब्राह्मणमित्येतद्भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥२।१।८।

(टी०) चातुर्मास्येष्विदमाम्नायते—"एतत्ब्राह्मणान्येव पञ्चहवींषि"—इति ; तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति. कुतः ? वेदभागानामियत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात् । पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः, भागान्तराणि च कानिचित्पूर्वैरुदाहृत्य संगृहीतानि ; "हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः । परकृतिः पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना" इति । तेन ह्यन्नं क्रियते—इतिहेतुः, एतद्दध्नो दधित्वम्—इति निर्वचनम्, अमेध्या वै माषा—इति निन्दा, वायुर्वै क्षेपिष्ठा—इति प्रशंसा, तद्विचिकित्सन् जुहवानी३माहौषाम्—इति संशयः, यजमान सम्मितौदुम्बरी भवति—इतिविधिः, माषानेव मह्यं पचेत—इति परकृतिः, पुराब्राह्मणा अभैषुः—इति पुराकल्पः, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतोवारुणं चतुष्कपालान्निर्वपेत्—इति विशेषावधारणकल्पना ; एवमन्यदप्युदाहार्य्यम् । नच हेत्वादीनामन्यतमम् ब्राह्मणम्—इति लक्षणम्, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसम्भवाद् । तथाहि "इन्द्रवो मामुशन्ति हि"—इतिहेतुः, 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते"—इति निर्वचनम्, "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः" इति निन्दा, "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्"—इति प्रशंसा, "अधस्विदासीदुपरिस्विदासीत्"—इतिसंशयः. "कपिञ्जलानालभते"—इति विधिः, "सहस्रमयुतं ददाति"—इति परकृतिः, "यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः"—इति पुराकल्पः ॥ इतिकरणबहुलं ब्राह्मणम्—इतिचेत्—न, "इत्यददा, इत्ययजथा, इत्यपचथा, इत्यपच, इति ब्राह्मणो गायेत्"—इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः । इत्याहेत्यनेन वाक्येनोपनिबद्धं ब्राह्मणम्—इतिचेत्—न, "राजाधिपं भङ्गभचीत्याह", "योवा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह"—इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः । आख्यायिकारूपम् ब्राह्मणम्—इति चेत्—न, यमयमीसंवाद सूक्तादावतिव्याप्तेः । तस्मान्नास्ति ब्राह्मण-लक्षणम् ॥

इतिप्राप्ते, ब्रूमः—मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागावित्यंगीकारात्, मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वाद्, अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्—इत्येतल्लक्षणम् भवति ॥ २ । १ । ८ ॥

समाप्तम् अष्टमाधिकरणम् ॥

———

नियासम्बाइ। नमाऽस्त्रा२३४ताइ। एहि याइ ४ औहोवा। एहियौ होइ। एहियौ होऽइइ। ए२३४ही ॥३९॥

द्वितीया ऋक्।
त्रिशोक ऋषिः।

इम त्वा विचक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः। पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥४०॥

हे 'इन्द्र!' 'इमे' मदीया ऋत्विजः 'सोमिनः' सोमवन्तः 'सखायः' सखिभूताः सन्तः 'त्वा' त्वाम् तथा 'विचक्षते' यथा 'पुष्टावन्तः' पुष्यतेऽनेनेति पोषणं पुष्टम् तद्वन्तः 'पशुम्' पश्यन्तीत्यर्थः। एतदुक्तम् भवति! यथा घासहारिणो घासेन गृहीतेन पशोस्तर्पणाय परमया प्रीत्या युक्तास्तमेव पशुम् पश्यन्ति, तद्वन्मदीयाऋत्विजः सोमवन्तः तेनैव सोमेन गृहीतेन तर्पणार्थं त्वां पश्यन्ति ॥४०॥

হে ইন্দ্র। যেরূপ ঘাসহারীরা পশুর তৃপ্ত্যর্থ ঘাস গ্রহণ করত সেই পশুকে অতিশয় প্রীতিনেত্রে নিরীক্ষণ করে, সেই রূপ সোমবান্ মদীয় ঋত্বিজগণেরাও সোমগ্রহণ পূর্ব্বক তোমার তৃপ্ত্যর্থ তোমাকে সাতিশয় স্নেহ নয়নে নিরীক্ষণ করিতেছেন ॥৪০॥

इम त्वा विचक्षते। ए३। सखायाः। इन्द्र सोमाऽइइनाः। होइ होवा। पुष्टावा २३न्ताः। होइ होवा३। यथो २३४ वा। पाधूप्शोई्शाइ ॥४०॥

तृतीया ऋक्।
वत्स ऋषिः।

समस्य मन्यवे विशोविश्वानमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः ॥४१॥

'अस्य' इन्द्रस्य 'मन्यवे' यज्ञाय (इन्द्रदेवताक क्रतवे) 'विश्वाः' सर्वाः 'विशः' स्तुतिभिर्हविर्भिश्च व्याप्ताः 'कृष्टय' यजमान मनुष्याः 'सम्। नमन्त' नम्रीभवन्ति। अत्र दृष्टान्तमुच्यते— 'समुद्राय' समुद्रोद्देशतया नम्रीभूताः 'सिन्धवः' नद्यः 'इव'। विश्वादिति यद्दिवासौ मनुष्यनाम तथाप्यत्र कृष्टय इत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् क्रियानिमित्तम्, तथाचात्र विपृच्छ्यात्वविलेतस्य यौगिकोऽर्थो ग्राह्यः। नमन्तेति शवन्तस्य रूपम् वाङ्क्षकाद् विसर्जनीयाश्रुतिः ॥४१॥

যেরূপ সমুদ্র উদ্দেশে নদী সকল নিম্নগা হইয়া প্রস্রবণ করে, সেইরূপ এই ইন্দ্র দৈবত যজ্ঞ উদ্দেশে সমস্ত যজমান মনুষ্যেরা স্তুতি ও হবন দ্বারা অতিশয় নম্রভাব অবলম্বন করিতেছেন ॥৪১॥

सवेशीयम्।

समस्यामा२। न्यवेविशाः। विश्वाना-माइ। तान्कृष्टयाः। समुद्रायेर। वसिन्धाऽर इवा ३४३ः। औ२३४५इ। डा ॥४१॥

चतुर्थी ऋक्।
कुसीदिन ऋषिः।

देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम्। वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥४२॥

'वृष्णाम्' वर्षितृणाम् यथाभिलषितसम्प्रदातृणाम् इन्द्रादीनाम् 'देवानाम्' 'तत्' 'महत्' 'अवः' रक्षणम् 'वयम्' 'आवृणीमहे' आभिमुख्येन वर्णयामः। किमर्थमित्युच्यते—'अस्मभ्यम्' अस्माकम् 'ऊतये' आत्मीयानाम् पालनाय। इदिति पादपूरणे ॥४२॥

আমাদিগের যথাভিলষিত প্রদানকারী, ইন্দ্রাদিদেবগণের সেই মহৎ পালন ক্রিয়া, আত্মীয়ের প্রতিপালনার্থ আমরা উত্তমরূপে বর্ণন করিতেছি ॥৪২॥

हाविष्मतम् ।

हवा । नाम् । इदा ओ२३४वा । ओ वा ओ२३४वा । आ२३४हात् । तदा इणा- इ । माहा ओ२३४ वा । वा २३४ याम् । इज्यामस्मा । ध्यामा ओ२३४वा । ता २३ ४ये ॥४२॥

पञ्चमी ऋक् ।

मेधातिथि ऋषिः ।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मण- स्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥४३॥

हे 'ब्रह्मणस्पते !' 'यः' कतमः 'औशिजः' उशिजः पुत्रः कक्षीवान् तम् 'कक्षीवन्तम्' इव माम् 'सोमानाम्' यष्टारम् स्तुतीनाञ्च 'स्वरणम्' उच्चारयितारम् 'कृणुहि' कुरु । ब्रह्मणस्पते इति 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥८।३।५३॥' इति विसर्गस्य सत्वे रूपम् । कक्षीवन्तमिति लुप्तो- पमम् । स्वरणमिति स्वृ शब्दोपतापयोरित्यस्य रूपम् । कृणुहीति कृञ् हिंसायामित्यस्य स्वादेरूपम्, अनेकार्थत्वाद्धि धातूनां करोत्यर्थं इष्यते ; आग्ने- येषु नसम्मति मन्त्रे मतमेव पुरस्तात् ॥४३॥

হে ব্রহ্মণস্পতি ! যেরূপ উশিজ ঋষির পুত্র কক্ষীবান্ ঋষির প্রতি প্রসন্ন হইয়া তাঁহাকে (কক্ষীবান্ ঋষিকে) সোম যাগের যষ্টা ও সাম- গানের উচ্চারয়িতা করিয়াছেন, আমাকেও সেই রূপ করুন ॥৪৩॥

काक्षीवन्तम् ।

सामाइनाः स्वरणाम् । कृणुहि ब्र । ह्मणस्पतायेइ । ओ३४ । हाहोइ । कक्षी इ२३न्ताम् । यऔहोइ । औहो २३४ वा । शा५ इजोईहाइ ॥४३॥

षष्ठी ऋक् ।

सुकक्ष ऋषिः ।

बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्या- सुतिः । शृणोतु शक्र आशिषम् ॥४४॥

'शक्रः' इन्द्रः 'नः' अस्माकम् 'वृत्रहा' शत्रुहन्ता 'अस्तु' भवतु, किञ्च 'भूर्यासुतिः' बहुरसः बह्वान- न्दकृत् भवतु, तथा 'बोधन्मनाः' बुध्यति मनो यस्य सः बोधनशीलः भवतु—तदेतत् 'आशिषम्' आशिः स्वरूपप्रार्थनाम् 'शृणोतु' । एतदुक्तं भवति—यद् वयम् प्रार्थयामः शक्रः तत् समस्तं शृणोतु, श्रुत्वा च बुध्यतु, बुद्ध्वा च सम्पादयतु । 'इत्' इति तु पाद पूरणे ॥४४॥

ইন্দ্র, আমাদিগের পক্ষে শত্রুহন্তা হউন এবং আমাদিগের পক্ষে বহ্বানন্দকৃৎ হউন এবং আমাদিগের পক্ষে বোধনশীল হউন— এই আশীঃ প্রার্থনা শ্রবণ করুন ॥৪৪॥

शौषतम् ।

बोधन्मनाः । इदा २ स्तु ना २ः । वृत्र हाभू । रियाऽस्त २३४ तीः । शृणो ३ ४ औहो । तुशक्रआशि । षाम् । औ२३हो वा । हो ५ इ । डा ॥४४॥

वार्षधरम्।

प्रसंम्राजाम्। चार्षी२णा इना२म्। आ इन्द्रा२७ स्तोता२३। नव्या२ङ्गा२३४इ भीः। वारा२न्नार्षा२३। हम्मो वा। हा५ इष्टोईहाइ ॥४८॥

इति पञ्चमी दशतिः।

—<>—

षष्ठदशाम्।

प्रथमा ऋक्।

श्रुतकक्षऋषिः।

अपादुशिप्र्यन्धसः सुदक्षस्य प्रहो-षिणः। इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥४९॥

'शिप्री' शिप्रे नासिके तद्वान् 'इन्द्रः' 'सुदक्षस्य' सुनिपुणस्य 'प्रहोषिणः' प्रकर्षेण होतुमिच्छोः मम, 'इन्दोः' सोमस्य 'अन्धसः' अन्नस्य एकदेशम् 'यवाशिरः' यवाशिरम् यवचूर्ण-मिश्रितम् मन्थीनामकद्रव्यविशेषम् 'अपात्' पीतवान्॥ शिप्रीत्यनेनेन्द्रस्य गन्धग्रहणशक्तेः प्राचूर्य्यं दर्शितम्। प्रहोषिणइति जुहोते र्दानार्थस्य रूपम्। इन्दोरिति इन्दुः सोमइति पर्यायस्ततोऽनेन्दुशब्देन सोमयागो लुप्यते। अन्धसइति अवयवावयवीभाव सम्बन्धे षष्ठी। यवाशिरइति यवशब्देनात्र यवविकाराः सक्तवउच्यन्ते तैराशिरोमिश्रितः यवाशिरः, सच मन्थीनामक द्रव्यविशेषः, तथाच 'मन्थिनं सक्तुभिः' इति विधायकं वाक्यम्, प्रथमातु द्वितीयार्थे। 'उ' पादपूरणे ॥४९॥

सुन्दर नासिকাবান্, ইন্দ্র ; যাগকার্য্যে সুনিপুণ, প্রকৃষ্টহবনেচ্ছু, আমার; সোমযাগের; অদনীয় বস্তু সমূহের একদেশ; যবচূর্ণ-মিশ্রিত, মন্থী নামক হব্য; পান করিলেন॥ ৪৯॥

কের উপাসনার্থ তাঁহার আকার কল্পিত হইয়া থাকে; এতাবতা কীটাদি মনুষ্য পর্য্যন্ত, জড় অথবা অজড়, সকল আকারই তাঁহাতে আরোপিত হইতে পারে, অতএব এই মন্ত্রে যেরূপ নরাকার শ্রুত হইতেছে, এইরূপ 'চত্বারি শৃঙ্গাস্ত্রয়োঽস্য পাদাঃ' ইত্যাদি মন্ত্রে বৃষভাকার ও শ্রুত আছে, এবং তৈত্তিরীয়ক-দ্বিতীয় বল্লীতে পক্ষ পুচ্ছাদি কল্পনা পূর্ব্বক পতঙ্গাকার বর্ণিত হইয়াছে, 'ইদং বিষ্ণুর্বিচক্রমে' ইত্যাদি মন্ত্রে ভুবনত্রয়রূপে তিনিই বর্ণিত হইয়াছেন, তথা 'সহস্রশীর্ষাপুরুষঃ' ইত্যাদি মন্ত্রে সমস্ত রূপেই শ্রুত আছেন; ফলতঃ সকলই কল্পিত মাত্র—ইহা স্পষ্টই প্রকাশ পাইতেছে ও শ্রুতও আছে। তিনি বাক্যাদি সকল ইন্দ্রিয়ের অগোচর, মানসপথের অতীত, নিরাকার, নির্ব্বিকার, সত্য, নিরঞ্জন।

औपगवम्।

अपादुशी। प्रियन्धसाः। सुदक्षा२३ स्या। प्रहोषिणाः। इन्दारा२३इन्द्राः। युवाशा२३इ राः। ऐ। हिया२इ। हिया३४ औहो वा। ए३। अपा३ १ २ ३ ४ ५ ॥ ४९ ॥

द्वितीया ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः।

इमा उ त्वा पुरूवसोभिप्रनोनवुर्गिरः। गावोवत्सं न धेनवः ॥५०॥

हे 'पुरूवसो' बहुधन 'इमाः' 'गिरः' अस्मदीया वाचः 'त्वा' त्वाम् 'अभिप्रनोनवुः' आभिमुख्येन पुनः पुनः स्तुवन्त्यः। अत्र दृष्टान्तमुच्यते—'धेनवः' अचिरप्रसूताः 'गावः' 'वत्सम्' 'न' इव, यथा अचिरप्रसूता गावो वत्समभिस्तुवन्ति तद्वदित्यर्थः; अतीवप्रीत्येति भावः॥ 'उ' पादपूरणे ॥५०॥

হে বহুধন, ইন্দ্র! যেরূপ অচিরপ্রসূত গোসকল অতিশয় প্রীতি সহকারে নিজ নিজ বৎসের স্তবন করে, সেইরূপ অকপট প্রেমে আমাদিগের এই বাক্যগুলি তোমার স্তবন করিতেছে॥৫০॥

त्वाष्ट्रम्।

५ र १ — १ १
इमाउत्वा। पुरू२वासा२उ। अभिप्र

र १ ^ ३र २ २र र
नोनवू२गीइ रा२ः। औहो१इ। गावो

१ १ ४ ३ ५
वात्मा२३म्। ना२३धे३। ना३४५वोईहाइ

॥ ५० ॥

तृतीया ऋक्।

गौतम ऋषिः।

२उ २ १ २ २ १ ३ १ २ क २र
अत्राह गो रमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।

३ १ ३ १ १ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥५१॥

'अत्र' 'चन्द्रमसः' 'गृहे' मण्डले योऽयं रश्मिः यश्च पृथिव्यां ज्योत्स्नारूपेण दीप्यते सः 'गोः' गो* नामक आदित्यरश्मिः, अतएव 'अह' अहो 'त्वष्टुः' विश्वकर्मणः 'इत्था' 'अपीच्यम्' आश्चर्यम् इति 'अमन्वन' मन्वते ('नाम' वाक्यालङ्कारे) कवय इति शेषः। एवञ्च सूर्य्यस्यैव रश्मयश्चन्द्रमण्डलमवाप्य ज्योत्स्ना इत्यभिधीयत इत्युक्तम् ॥५१॥

এই চন্দ্রমণ্ডলে যে রশ্মি দেখিতে পাওয়া যায়, যাহা পৃথিবীতে জ্যোৎস্নারূপে দীপ্ত হয়, তাহা সূর্য্যের গোনামক রশ্মি*; অতএব ধীমানেরা জানেন, তাহা বিশ্বকর্ম্মা, জগৎ স্রষ্টার আশ্চর্য্য ইচ্ছা ॥৫১॥

आतिथ्यम्।

४ ५ २र १र १
आत्रा। हा गारमन्वताउवा२३। हो

१ र र
वा२३ह।इ। नामत्वष्टुरपोचियाउवा २३

१ १ २ १र र
होवा२३होइ। इत्याचन्द्रमसोगृहाउवा

२३। हेवा ३हो२। वा २३४ औहोवा।

३ र
ऊ२३४पा ॥५१॥

चतुर्थी ऋक्।

भारद्वाज ऋषिः।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र १र
यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृष-

१ १ ३ १ १ — १ ३
न्तमः। तत्र पूषाभुवत्सचा ॥५२॥

'वृषन्तमः' अतिशय वर्षिता 'इन्द्रः' 'यत्' मेघस्थानम् 'रितः' गतः सन् 'महीः' पृथिव्यादिकं प्रति 'अपः' उदकानि 'अपनयत्' नयति गमयति 'तत्र' तत्स्थाने 'पूषा' आदित्यः 'सचा' सम्बद्धः 'अभवत्' भवति। आदित्यद्वितीय इन्द्रः पृथिव्यादिसकललोकान् प्रति उदकान् गमयतीति निष्कर्षः। महीरिति बहुवचनश्रवणात् पृथिव्यादिकं लभ्यम्, तदुक्तम् इत्यादिबहुवचनान्तागणस्य सूचकाः। सचेति सचसमवाये इत्यस्य रूपम्। अपनयदिति लेटो रूपम्। अभुवदिति वर्त्तमाने लङि बाहुलकादुवङि रूपम् ॥५२॥

অতিশয় বর্ষিতা ইন্দ্র যে স্থানে (মেঘে) গমন করত পৃথিবী প্রভৃতি সকল লোকে উদক প্রাপ্ত করান অর্থাৎ জল-বর্ষণ করেন, সেই স্থানে আদিত্য তাঁহার সহায় হয়েন ॥৫২॥

पौषम्।

५ र १ १ २
यदिन्द्रोया। नाया२३त्। ओमो३म्।

४५ १ र १ २
ओवा। रितोमहोरापा २३ः। ओमो३म्।

४ ५ १ ७ ^ ३ २ ५र र
ओवा। वृषा वृषा२। तमा३४औहोवा।

१ २ र १र २ १ ३ १ १ १ १
तत्र पूषा भुवत्सचा २३४५ ॥५२॥

*सुषुम्नाऽपि च कथ्यते।

* সূর্য্যের ঐ কিরণকে সুষুম্নাও কহা যায়।

सप्तमी ऋक्।

श्यावाश्व ऋषिः।

अद्य नोदेव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्। परा दुष्वप्नꣳ सुव ॥४५॥

हे 'सवितः' उत्पादयितः 'प्रजावत्' पालयितः 'देव' 'अद्य' 'नः' अस्माकम् 'सौभगम्' परमैश्वर्य्यम् 'साविः' सावय उत्पादय। किञ्च 'दुःष्वप्नम्' दुःखस्य अनिष्टस्य सूचकः' स्वप्नः दुःस्वप्नस्तत्र विदितम् यत् समस्तं मरणशोकादिकम् तत् 'परा। सुव' अपनय। अस्माकमनिष्टमपाकृत्येष्टमुत्पादयेति भावः। सौभगमिति स्वार्थेऽण्। सावीरिति सावयते र्लोटोमध्यमैकस्य रूपम्, बाहुलकात् शपोलुकि गुणाभावे लोटः सेर्ह्यादेशाभावे 'द्व्यचोतस्तिङः। ६।३।१३५।' इति दीर्घे च सिध्यति। दुःष्वप्नमिति 'सुञः।८।३।१०७।' इति षत्वम् ॥४५॥

হে উৎপাদয়িতঃ, প্রজাবন্! (প্রজাপালয়িতঃ) সম্প্রতি আমাদিগের সৌভাগ্য উৎপাদন কর এবং আমাদিগের দুঃস্বপ্নগত অনিষ্টাশঙ্কা দূর কর ॥৪৫॥

औचम्।

अद्य नोदेवसवितः। औहोवा। इह सुवाइ। प्रजावा२३त्सा। वीः सौभगाम्। परादू२३ष्वा३। हावा२हा। प्रियꣳ सू२३ ४५वा ६५६। दक्षा३या२३४५ ॥४५॥

अष्टमी ऋक्।

प्रगाथ ऋषिः।

क३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवा अनानतः। ब्रह्मा कस्तꣳ सपर्यति ॥४६॥

'स्यः' सः 'वृषभः' वर्षिता यथाभिलषितफलानाम्, 'युवा' तरुणः अक्षयित्वात् 'तुविग्रीवः' अनन्तग्रीवः 'अनानतः' अनम्रीभूतः प्रभुत्वात् 'ब्रह्म' ब्रह्माभिधेयः व्यापकत्वात् 'क३' निर्दिष्टस्थले अस्तीति शेषः—इति काकुः, यतः सोनन्तग्रीवादिस्वरूपउच्यते ततः सर्वत्रैव राजतइति भावः, तदुक्तम्—'सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' अतः 'कः' अध्वर्य्युः यत्र कुत्रचित् सपर्यतु नाम् 'तम्' तमेव विश्वव्यापिनम् प्रभुम् एव 'सपर्य्यति' अर्च्चयति॥ स्यवृषभइति 'स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१३१॥' इति हल्परकतां निमित्ती कृत्य लोपः। तुविग्रीवइति तुवि शब्दो बहुपर्य्यायइति नैघण्टुकाः तुविग्रीवोअनानतइति 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे।६।१।११५।' इति प्रकृति भावः। क३ इति 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभि पूजितयोः।८।२।१००।' इति प्लुतिरनुदात्तश्च। कइति कः प्रजापतिरुच्यते, स हि भूतानां निर्माता, अध्वर्य्युस्तु यज्ञस्य निर्माता अतोनिर्मातृत्वसाम्यात् कशब्देनात्राध्वर्य्युर्गृह्यते॥४६॥

সেই বর্ষিতা অর্থাৎ যথাভিলষিত ফলপ্রদাতা, অক্ষয় এবং উপচয় অপচয় বিহীন সুতরাং চিরদিন যুবা, তুবিগ্রীব অর্থাৎ সহস্র গ্রীবাবিশিষ্ট, সকলের প্রভূ সুতরাং নম্রভাবহীন, সর্ব্বব্যাপক সুতরাং ব্রহ্মনামে খ্যাত, ঈশ্বর কোথায়? তিনি সর্ব্বত্র, কোন এক নির্দ্দিষ্ট স্থলে নাই*। অতএব যজ্ঞ-সম্পাদয়িতৃ অধ্বর্য্যুগণ নিজ নিজ ইচ্ছানুসারে যে স্থলেই অর্চ্চনা করুন্, তাঁহারই অর্চ্চনা সাধিত হইবে ॥৪৬॥

भारद्वाजम्।

कू२३४वस्य वा ५ वृषभो युवा। तुविग्रीवो २। अनानताः। ब्रह्माका२३स्ताम्।

---

* 'সর্ব্বতঃ পাণিপাদান্তঃ সর্ব্বতোক্ষি শিরোমুখঃ। সর্ব্বতঃ শ্রুতিমাঁল্লোকে সর্ব্বমাবৃত্য তিষ্ঠতি। ১।

ए२ह्यो१आ२ःइह्यो। सपर्या२३ता३४३इ।
ओ२३४५इ। डा ॥४६॥

नवमी ऋक्।

वत्स ऋषिः।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रोअजायत ॥४७॥

'गिरीणाम्' पर्वतानाम् 'उपह्वरे' गोपनीय प्रदेशे गह्वरादौ 'च' अपिच 'नदीनाम्' 'सङ्गमे' सङ्गमप्रदेशे; अतिशयदुर्गमे, जले, स्थले वा; सर्वत्रैवेति भावः; 'विप्रः' मेधावी 'धिया' स्वया प्रज्ञया तम् सर्वव्यापिनम् ब्रह्माणम् 'अजायत' जायते प्रादुष्करोति साक्षादुपलभतइति यावत्। गिरीणामिति यत्र पक्षे मेघपर्यायोगिरिर्गृह्यते तत्र अन्तरीक्षेऽपीति भावोलभ्यते। अजायत इति कालसामान्ये प्रत्ययः विप्रो अजायतेति प्रकृतिभावः पूर्ववत् ॥४७॥

মেধাবীরা স্বকীয় প্রজ্ঞা বলে সেই সর্ব্ব-ব্যাপী পুরুষকে পর্ব্বতের গোপনীয় প্রদেশে, গহ্বরাদিতে; অথবা মেঘের গোপনীয় প্রদেশে, মেঘ-সমূহ-মধ্যে; এবং স্রোতস্বতীগণের সঙ্গম প্রদেশে; সর্ব্বত্রই আবিষ্কার করিয়া লইয়া থাকেন* ॥৫৭॥

गानम्।

उपह्वराइ। गिरा२इणाम्। सङ्गमे चा। नदा२इनाम्। धियाविप्रो। अजा-यता। अयाम्। अया३१उ। वा२३। उ३४पा ॥४७॥

दशमी ऋक्।

इरिमिच्छि ऋषिः।

प्रसम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं
गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥४८॥

'चर्षणीनाम्' मनुष्याणाम् 'सम्राजम्' सम्यग्दीप्यमानम् 'नव्यम्' नवतरम् जराद्यनुपेतत्वात् 'नरम्' नराकारम् 'नृषाहम्' नराणां शत्रुभावापन्नानां सहयितारम् अभिभवकर्त्तारम् 'मंहिष्ठम्' दातारम् 'इन्द्रम्' ईश्वरम् 'गीर्भिः' स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिः 'प्र। स्तोता' प्रस्तौमि। इत्यत्र साब्धिद्वीपक्षितिपतित्वेन स वर्णितः; तदिदमुपलक्षणम्, इच्छादृश्यानन्तब्रह्माण्डनिमित्तत्वात्तस्य। किन्तु नराकारत्वेन वर्णनमपि तथैव निराकारस्य हि तस्य उपासनार्थं आकारः कल्पितः, तथाच कीटादिमनुष्यान्तस्य जडस्याजडस्य चाकारस्य तत्रारोपोपपत्तेः; अतएव इदं विष्णुरित्यादिना तस्य त्रिभुवनाकारोवर्णितः, चत्वारि शृङ्गा इत्यादिना वृषभाकारो वर्णितः; तैत्तिरीयक-प्रथमवल्ल्यां पक्षपुच्छाद्युक्त्या विहङ्गमाकारोवर्णितः, सहस्र शीर्षेत्यादिना सर्वाकारो वर्णितः, एवमनेकाकारो वर्णितः, वस्तुतः सर्वएव ते कल्पिताः, सत्वाकारहीनोवाङ्मनश्चक्षुरगोचरः नत्वस्मदादिवत् कश्चित् परिमितः पदार्थ इति दिक्। चर्षणीनामिति चर्षणिर्मनुजपर्याय इति नैघण्टुकाः। नव्यमिति स्वार्थे यत्। नृषाहमिति 'छन्दसि सहः।३।२।६३।' इति ण्वौ 'पूर्वपदात्।८।३।१०६।' इति षत्वे रूपम्। मंहिष्ठमिति मंहयते स्तुवि 'तुश्छन्दसि।५।३।५९।' इतीष्ठनि रूपम्। स्तोतेति लडर्थे लुट् व्यत्ययेन ।४८॥

মনুষ্যগণের রাজাধিরাজ, জরাদি বর্জিত সুতরাং চিরদিন নূতন, নররূপী, শত্রুগণের পরাভবকর্ত্তা, অতিশয়দীপ্তিশীল, ইন্দ্রকে আমরা বাণীদ্বারা স্তবন করিতেছি* ॥৪৮॥

* এতাবতা—জলে, স্থলে, অন্তরীক্ষে, দুর্গম, সুগম সকল প্রদেশেই তিনি আছেন—ইহাই কথিত হইল।

* এস্থলে সেই পরম পুরুষ, সাব্ধি দ্বীপাধিপতি রূপে বর্ণিত হইলেন সুতরাং তাঁহার নরাকার বলা হইল। বস্তুত উপাস-

(ता०) परमात्मा सर्व्वव्यापी, सर्व्वत्रैव विद्यते सः ; सहि निर्म्मलः, सहि निष्कलङ्कः, स हि निर्लिप्तः कश्चित् कलङ्कः क्वापि च ग्लानि र्न तम् स्प्रष्टुमर्हति। सहि निरवयवः, तस्य न कोऽप्यवयवोविद्यते, सुतरां स शिरारहितः, न तस्य भासते शिराः ; तथा अणक्षतादिकञ्च नास्ति तस्य, शारीरिकपीडायाञ्च सम्भावना नास्ति तस्य। यथा च वयं रोगेणातुराः, शोकतः पर्य्याकुलाः, पापतस्तापिताश्च ; न स ईदृशः ; न विद्यते तस्य रोगः, न विद्यते तस्य शोकः, पापं च न विद्यते तस्य ; सोऽव्रणः, शुद्धः सोऽपापविद्धः। स हि सर्व्वदृक् सहि कविः। येन शौरजगच्छृङ्खला, यासुधाकरपूर्णचन्द्रस्यास्यौ रमणीयशोभा, यश्च ज्ञानधर्म्मात्मरत्नस्य मनोरत्नोऽपूर्व्वभावः ; तद्देतत्सर्व्वं तस्यैवाङ्गरचना। समनीषी, समनोनियन्ता। तेन वै नियन्ता परमपुरुषेण भिन्नभिन्नजातीयजन्तूनाम् मनसि भिन्नभिन्ननियमः स्थापितः ; परमविभागतस्तत्तावन्नियमस्थापनस्यायमेवैक उद्देश्यः—यत् सर्व्व एव ते सुखिनः सन्त्विति। अपि च सहि मनुजानां मन ईदृगाश्चर्य्यनियमाधीनं कृतवान्—यत्, तद्द्वारा ज्ञानधर्म्मौन्नत्या सहात्मन उन्नतिं भवितुमर्हति। मनुजात्मा तु तस्य विभौ रतियत्न-पात्र्यं धनम्, अतिनिपुणतया रचितो भवति। यथा च स शोकतरङ्गात्—दुःखशोकात्—पापतापात्—मृत्युसुखाञ्च निष्कृतिमवाप्य ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मानन्दं च लब्धुमर्हति, तथा धर्म्मनियमाः प्रतिष्ठापिताः। स हि परिभूः, सोऽतिशयश्रेयान्। सहि स्वयम्भूः सहि स्वप्रकाशः ; यावन्तो जीवास्तेन सृष्टाः, प्रकाशिताश्च ; सतु जन्मविहीनः अनादिः न स केनचित्सृष्टः प्रकाशितोवा, स्वयं प्रकाशवान् राजति चिरम्। स हि सर्व्वदैव प्रजाभ्यः प्रयच्छत्यर्थकूटं यथायथम्। ये चैते कीटाः, पतङ्गाः, पिपीलिकाः, मत्स्याः, कच्छपाः, कुम्भीराः, पशवः, पक्षिणः, मनुष्याः अपि च "यैरनन्तकोटिब्रह्माण्डजीवैर्जलस्थलाकाशविवरगह्वरादयः परिपूर्णाः श्रिताः ; तदेभ्यो यथोपयुक्तं यथाभिलषितमन्नपानादिकं विविधभोग्यं न्यायतोऽभियच्छति चिरम् ; एते तत्रैव लब्ध्वा सुखसितस्ततः सञ्चरन्ति ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः।

४०

(मू०) तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। ब्रह्मविदाप्नोति परम्।१।

(टी०) 'तपसा' मनस एकाग्रतया 'ब्रह्म' 'विजिज्ञासस्व' विशेषेण ज्ञातुमिच्छस्व। 'ब्रह्मवित् आप्नोति' 'परम्' ब्रह्म ॥१॥

(ता०) परब्रह्मविषयकज्ञान-लाभायानन्यमनस्का तम् पुनः पुनरालोचयेत्. शान्तः समाहितो भवन् तदीयवत्युसुन्दरमङ्गलभावमन्तर्दृष्ट्या प्रतीयात् ; तस्मैवैनं तमुपलभ्य यूयम् भविष्यथाप्तकामाः। परब्रह्म वाह्योऽन्तरे सर्व्वत्र समभावतो देदीप्यते, तदाप्तुं न ह्यन्यत गन्तव्यमस्ति, साक्षात्तस्यावगमनमेव तत्प्रापणम्। इहलोके तदवगन्तुमारभते, परमनन्तकालेऽपि तस्यावगमनं नाल्पायते। इत आरभ्य लोकान्तरमुपगत्य च यावत्तदवगन्तुं शक्नुमहि तावदेवोत्कृष्टतरपवित्रब्रह्मानन्दमुपभुज्य कृतार्था भवेम ॥१॥

४१

(मू०) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म योवेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्व्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।२

(टी०) 'सत्यं' ब्रह्म 'ज्ञानं' ब्रह्म 'अनन्तं' 'ब्रह्म'। 'यः' 'वेद' विजानाति 'निहितं' स्थितं 'परमे' 'व्योमन्' व्योम्नि हृदाकाशे 'गुहायां' बुद्धौ। 'सः' एवं ब्रह्म विजानन् 'अश्नुते' भुङ्क्ते 'सर्व्वान्' 'कामान्' भोगान् 'ब्रह्मणा' 'विपश्चिता' मेधाविना सर्व्वज्ञेन 'सह' ॥ २ ॥

(ता०) मूलसत्यः परमेश्वरः, ततो निःसृत्यापरसत्यानि तिष्ठन्ति तदधिष्ठाने। स आदिसत्यः, अनादिसत्यः, सत्यस्य सत्यः, परमसत्यः, ध्रुवसत्यः सनातनः।

यो नावगच्छत्यात्मानमात्मना स एव जडपदार्थः ; यस्त्ववगच्छत्यात्मानमात्मना स एव ज्ञानपदार्थः। मृत्पाषाणधातुप्रभृतयो आत्मानमवगन्तुं समर्थाः, तत एव ते जडाः। जीवात्मा

परमात्माऽपि, त्वात्मानं तथान्यान्यमप्यवगच्छति, अतएव स ज्ञानपदार्थः। परन्त्वत्र स्वप्रकाश-परमात्मनोऽपरिमेयस्वाभाविकज्ञानेन जीवात्मनः परिमितक्षुद्रमानसिकज्ञानस्य न हि साम्यमुपगन्तुं क्षमेत। परिमितजीवात्मनो ज्ञानमस्ति, अस्त्यज्ञान-मपि, तथा भ्रमप्रमादमोहा अपि। भूमः पर-मात्मनस्तु न सन्ति भ्रमप्रमादमोहाः, नास्ति चा-ज्ञानम्—स हि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावः, स ज्ञान परिपूर्णः; सकलवस्तुषु यथायथं विनियुङ्क्ते गुणादिकम्, किञ्च तेषां निगूढतत्वानि च सम्यगव-गच्छति। अत एकः स एव ज्ञानस्वरूपः; जीवात्म नोज्ञानन्तु तज्ज्ञानस्याभासमात्रम्।

सोऽनन्तस्वरूपः; स ज्ञानेऽनन्तः, शक्तावनन्तः, मङ्गलभावेऽनन्तः, देशतोऽनन्तः, कालतोऽनन्तश्च।

यः खल्वेतत् सत्यस्वरूपं ज्ञानस्वरूपम् अन-न्तस्वरूपं ब्रह्म अतिसन्निधौ (आत्मन्यात्मनि) प्रतीयते, तथा तदीयेच्छया स्वीयेच्छया योगं इहते, स तु तेन सह कामनाविषयं सर्वमेवोप भुज्यते, अतएवाप्तकाम इत्युच्यते। यथासौ परम-पिता परमेश्वरः उदारदृष्ट्या जगदेतन्निरीक्षति, किञ्च क्षुद्रतमकीटपर्यन्तानां समस्तानां मङ्गलं कल्पयति; सोऽपि तथैव दृष्टिमिच्छाञ्चानुकरोति। यद् यच्च परमेशस्याभिप्रेतम्, तत्तदेव कामयति सः, तदेव च तस्य कार्यम्। परमेशस्याभिप्रायोऽ-वश्यं सम्पद्यते, सुतरां सिद्ध्यति तस्यापि कामना। अतः परमेशेन साकं सकामनाविषयान् सर्वानुप-भुङ्क्ते, अपि चाप्तकामो भवन् तस्यानुचरः सहचरश्च भूत्वा तदीयविशुद्धसहवासतः परितृप्तो भवति ॥२॥

४२

यः सर्व्वज्ञः सर्व्ववित् यस्यैषमहिमा भुवि दिव्ये। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराआनन्दरूपममृतं यद्विभाति। ३।

(टी०) 'यः सर्व्वज्ञः सर्व्ववित् यस्य' 'एष' प्रसि-द्धः 'महिमा' 'भुवि' लोके 'दिव्ये' द्युलोके। कोसौ महिमा स्थावरं जङ्गमञ्च यस्य प्रशासने नियतमस्ति तथार्त्तवोऽयनेऽव्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति तथा कर्त्तारः कर्म्माणि फलञ्च यच्छासनात् स्वं स्वं कालं नातिवर्त्तन्ते। 'तत्' ब्रह्म 'विज्ञानेन' विशिष्टेन ज्ञानेन 'परिपश्यन्ति' सर्व्वतः पूर्णं पश्य-न्ति उपलभन्ते 'धीराः' विवेकिनः 'आनन्दरूपं' सुखस्वरूपं 'अमृतं यत्' 'विभाति' विशेषेण अन्त-र्वाह्ये सर्व्वत्रैव भाति ॥ ३ ॥

(ता०) स सर्वज्ञः सर्ववित्। सर्वेषां वास्तविक स्वरूपं याथार्थ्यञ्च जानाति, यच्च पदार्थं यथावत् प्रत्यक्षीकुर्मः, तदपि जानाति। उपर्युपर्यनन्तको द्योनक्षत्रलोकाः, अत्रैव आस्थ्यो भूर्लोकः; एत-स्मिंल्लोके द्युलोके च तस्यैव महिमा। सर्वत्रैवा-नन्दस्वरूपतोऽमृतरूपतः सभासते; समुद्र-तरङ्गे, नदी-लहर्य्याम् सूर्य-प्रकाशे चन्द्र-सौन्दर्य्ये, मनुज-मुख-श्रियि पतिव्रतायाश्च पवित्रप्रेम्णि। अन्तरे बहिः सर्वत्रैव ज्ञानचक्षुषा तमवलोकयन्ति धीरकाः ॥३॥

४३

(मू०) हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्यो-तिस्तद्यदात्मविदोविदुः। ४।

(टी०) 'हिरण्मये' ज्योतिर्म्मये विज्ञानप्रकाशे मनसि 'परे' परं अभ्यन्तरत्वात् तस्मिन् 'कोषे' कोषइव असेः ब्रह्मोपलब्धिस्थानत्वात् तस्मिन् 'विरजं' अविद्यादिदोषरजोमलवर्ज्जितं 'ब्रह्म' सर्व-महत्त्वात् 'निष्कलं' निर्गताः कलाः यस्मात् तत् निरवयवमित्यर्थः। 'तत्' 'शुभ्रं' शुद्धं 'ज्योतिषां' सर्वप्रकाशात्मनां आदित्यादीनामपि 'ज्योतिः' अव-भासकं 'तत् यत्' 'आत्मविदः' आत्मानं परमात्मानं ये विवेकिनोविदुः जानन्ति ते 'विदुः' जानन्ति ॥४॥

(ता०) योऽयम् मनुजानामात्मा ज्ञानज्योति-र्भिरुज्ज्वलोधर्मभूषणै र्भूषितः, तत्र स सुन्दरं विरा जते; अतोऽस्माकमात्मा परमात्मनः श्रेष्ठकोषः। निर्मलः शुभ्रः। स ज्योतिषां ज्योतिः, स आत्म-नो ज्योतिः, स ज्ञान-ज्योतिः परब्रह्म। तस्य ज्योतिषोनास्ति रूपम् अवयवोऽपि नास्ति। ब्रह्मविदोज्ञानचक्षुषा स्वात्मनि तत् सत्यस्य ज्योतिरुपलभन्ते ॥४॥

४४

(मू०) न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति। ५।

(टी०) 'न' 'तत्र' तस्मिन् ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि 'सूर्य्यः' 'भाति' तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः 'न चन्द्रतारकं' 'न इमाः विद्युतः भान्ति' 'कुतः अयं अग्निः' अस्मत्गोचरः। यदिदं जगत् भाति तत् 'सर्व्वं' 'तं एव' परमेश्वरं 'भान्तं' दीप्यमानं 'अनुभाति' अनुदीप्यते 'तस्य' 'भासा' दीप्त्या 'सर्व्वं इदं' सूर्य्यादि जगत् 'विभाति' ॥५॥

(ता०) सूर्य्यस्य चन्द्रस्य वा रश्मिभिः प्रकाशितो न भवति स आत्मा। अस्माकमात्मनोज्योतिषा स्तद्दृश्या स प्रकाशितो भवति। जगदेतत् समस्तं तस्यैव देदीप्यमानस्य परमेश्वरस्य प्रकाशेन प्रकाशितं दीप्यते ततोविमुक्तं सर्वमेतन्नानश्यते ॥५॥

४५

(मू०) प्राणोह्येषयः सर्व्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेषब्रह्मविदां वरिष्ठः। ६।

(टी०) 'प्राणः हि' 'एषः' परमेश्वरः 'यः' 'सर्वभूतैः' सर्वभूतस्थः 'विभाति'। तं 'विजानन् विद्वान्' 'अतिवादी' परब्रह्म अतीत्य वदितुं शीलमस्येति 'न' 'भवते' भवति। यएवं प्राणस्य प्राणं साक्षात् वेद सोऽतिवादी न भवतीत्यर्थः। किञ्च परमात्मन्येव क्रीड़ा क्रीड़नं यस्य सः 'आत्मक्रीड़ः' परमात्मन्येव रतीरमणं यस्य सः 'आत्मरतिः' शुभक्रिया विद्यते यस्य सः 'क्रियावान्' यः एवंलक्षणोऽनतिवाद्यात्मक्रीड़आत्मरतिः क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठः सः 'एषः' 'ब्रह्मविदां' सर्व्वेषां 'वरिष्ठः' प्रधानः ॥६॥

(ता०) असति सर्वस्रष्टृसर्वाश्रयपरब्रह्मणि किमपि नोत्पद्येत किमपि नावतिष्ठेत। एतदेव सर्वेषां प्राणरूपम्। सचलश्चन्द्रसूर्य्यादयो वा, सतेजं वृक्षलतादिकं वा, सबलाः पशुपक्ष्यादयोऽथवा; सर्वेषां कारणरूपतः, सर्वेषामाश्रयरूपतः, प्राणरूपतः; सर्वभूतेष्वेव स भासते। ब्रह्मज्ञस्तु जानात्येतत् परमेश्वरः परमोबन्धुरिति। स तस्य प्रियसुहृद् एव गुणं सकीर्त्यविरतमानन्दं तिष्ठति। तद्विषयकमेव वक्तुं तस्यातीवानन्दः सञ्जायते; तस्यैव प्रसङ्गमुद्भावयितुं तस्य मनोव्यग्रं तिष्ठति सन्ततम् अनन्यमनाः प्रभूय तत्स्वरूपं चिन्तयितुं यथा तस्यामोदउपतिष्ठते; न तथाऽन्यथा कथमपि अपि च ब्रह्मज्ञोवेत्येतत्—परमेश्वरस्तस्य परमपिता, स परमपूजनीयः; तस्यैवानुमति-प्रतिपालनं कर्त्तव्यम् । तदतिरिक्तं न किमपि करणीयमस्ति अतः सदा तदीयमङ्गलाभिप्रायमवगन्तुं यतते। येन वचसा तदीयमङ्गलस्वरूपः प्रकाश्यते किञ्च शुभाभिप्रायोऽवगम्यते तस्यैवान्दोलनं करोति, तदेव शिक्षन्ति, तमेव चोपदिशन्ति सः तदतिरिक्तं किमपि वक्तुं न वाञ्छति। परमेश्वरे तस्य सम्पूर्णोऽनुरागः; तत्रैव तस्य चिरमामोदः; अतएवोक्तम्, अयमात्मन्येव क्रीड़ति, आत्मन्येव रमते। अपरञ्च; एष सएव श्रेष्ठः, यस्तत्प्रीतिं प्रज्ञत्यैव तस्य चाभिप्रायमवगत्यैव न विरमते; अपि तु तस्याभिप्रायमनुसृत्य तत्प्रियं साधयितुं प्रवर्त्तः सत्कर्मशीलोभवेत्। अस्माकं यस्य तं प्रति यावदनुरागो जायते किञ्च तदभिप्रायानुगतकार्य्यकरणे यस्य यावद्दूयत्नो भवेत्, तावदेव तस्य श्रेष्ठता भाव्या, तावदेव तस्य मनुजजन्म-सार्थक्यम्। एतदेवास्माकं कार्य्यम्, एष एव चास्माकं लक्ष्यः ॥ ६ ॥

४६

(मू०) बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्। ७।

(टी०) 'बृहत् च' महत् सर्वव्यापित्वात् 'तत्' प्रकृतं ब्रह्म 'दिव्यं' स्वयम्प्रभं 'अचिन्त्यरूपं' सर्वेन्द्रियाणामगोचरत्वात् 'सूक्ष्मात् च' मनसोऽपि

'तत सूक्ष्मतरं विभाति'। किञ्च 'दूरात् सुदूरे' वर्त्तते अविदुषामत्यन्तागम्यत्वात् 'तत्' ब्रह्म 'इह' 'अन्तिके च' समीपे च 'पश्यत्सु' चेतनावत्सु 'इह एव' 'निहितं' स्थितं 'गुहायां' बुद्धौ ॥७॥

(ता०) तदेव बृहत्, तदेव च महत्; तस्मात् नान्यत् किञ्चन बृहदस्ति नास्ति च कोऽपि महान्; स दीप्यमानः परमेश्वरः सर्वत्र जाज्वल्यते। तस्य स्वरूपस्त्वचिन्तनीयः। स हि सूक्ष्मतोऽपि सूक्ष्मः। सोऽतिसूक्ष्मनक्षत्रतोऽपि दूरे विद्यते, अत्यन्तिकेऽपि च वर्त्तते; अस्माकं सर्वेषामात्मनोऽभ्यन्तरे स सन्तिष्ठते। स साक्षिस्वरूपः सर्व्वत्रैव राजते ॥७॥

४७

(मू०) न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। ८।

(टी०) 'न चक्षुषा गृह्यते' केनचिदपि अरूपत्वात् 'न अपि' गृह्यते 'वाचा' अनभिधेयत्वात् 'न अन्यैः देवैः' इतरेन्द्रियैः न 'तपसा' गृह्यते 'कर्म्मणा वा' न गृह्यते। किं पुनस्तस्य ग्रहणसाधनमित्याह 'ज्ञानप्रसादेन' ज्ञानस्य प्रसादः तेन 'विशुद्धसत्त्वः' विशुद्धान्तःकरणः योग्योब्रह्म द्रष्टुं यस्मात् 'ततः तु' तस्मात् 'तं' 'ईश्वरं' निष्कलं सर्वावयववर्ज्जितं 'पश्यते' उपलभते 'ध्यायमानः' चिन्तयन् ब्रह्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं वाह्यविषयरागादिदोषकलुषितं अप्रसन्नं अशुद्धं सत् न बोधयति ॥ ८ ॥

(ता०) ज्ञानालोचनया धर्म्मानुष्ठानेन च चित्तशुद्धौ तमात्मनमात्मनि साक्षात्कारं लभेत। यागादौ कृते व्रतेऽवानुष्ठिते अनशनेऽग्निसेवादिके तपस्युरिते वा न भवेत् स प्रापणीयः। नैषमार्गस्तत् प्रापणाय। ज्ञानस्वरूपः पन्थैव तस्य पन्था ॥८॥

इति।

सप्तमोऽध्यायः।

४८

(मू०) तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यं। १।

(टी०) 'तं' 'ईश्वराणां प्रभूनां 'परमं महेश्वरं' 'तं' 'देवतानां' द्योतनात्मकानां 'परमं च दैवतं' 'पतिं' 'पतीनां' प्रजापतीनां 'परमं' 'परस्तात्' परकः 'विदाम' 'देवं' द्योतनात्मकं परमेश्वरं 'भुवनेशं' भुवनानामीशं 'ईड्य' स्तुत्य ॥ १ ॥

(ता०) स ब्रह्माण्डाधिपतिः, राजाधिराजः, सर्वेश्वरः। तस्यैश्वर्य्यस्य सीमा न विद्यते, तावदेतत् तस्यैवैश्वर्यम्; यावन्तस्य सर्व्वैश्वर्य्यप्रभवः, सर्वेषामेव स प्रभुः; सर्वेषामेव स महेश्वरः। स एतत् पृथिव्याराज्येश्वराणामधीश्वरः, किञ्च ये वै भूलोकतः श्रेष्ठलोकाः सन्ति, तन्निवासिदेवगणानामप्यधीश्वरः। जगतोयत्र भागे यस्मिंल्लोके मनुष्यापेक्षया ज्ञानधर्मप्रीतिपूर्णतरा यावन्तः समुत्कृष्टतराजीवाः, तएव सर्वेदेव शब्दवाच्या; तेषां सर्वेषां देवगणानामपि स परमोदेवः, परमपूजनीयः, नियन्ता। स हि सकलप्रतिपालकगणानां प्रतिपालकः। स श्रेष्ठानां श्रेष्ठः; तस्य परो नान्यः कोऽपि विद्यते। सोऽस्माकं सेवनीयः, सोऽस्माकं स्तवनीयः, सोऽस्माकमतिश्रद्धेयः परमपूजनीयः ॥१॥

४९

(मू०) न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। २।

(टी०) 'न तस्य' 'कार्य्यं' शरीरं 'करणञ्च' चक्षुरादि 'विद्यते' 'न' 'तत्समः' तेन समः 'च' न ततः 'अभ्यधिकः' 'च' 'दृश्यते' 'परा अस्य शक्तिः' 'विविधा' विचित्रा 'एव श्रूयते' अस्य ज्ञानक्रिया बलक्रिया च 'ज्ञानबलक्रिया च' 'स्वाभाविकी' ॥२॥

(ता०) शरीरं तु यन्त्र विशेषम्, कार्य्यविशेषम्; परमेशस्य तु शरीरयन्त्रं नास्ति; स न कस्यचिद् यन्त्रस्याधीनः, स न कस्यचन कार्य्यः। तस्यैव कार्य्यः समस्तः, सत्वेकमात्रः कारणस्वरूप; तस्य शरीरं न विद्यते, नापि चास्ति किमपीन्द्रियम्, परन्तु पश्यति जानाति च स सर्वमेव। स एत्र एव सर्वतः श्रेष्ठः; तत्समकक्षः कोऽपि न वर्त्तते, नास्ति कश्चन ततोऽधिकः। स एषां सर्वेषां स्रष्टा, यत् किञ्चन वस्तुजातं दृश्यते तदेतत् समस्तं सृष्टम्. स त्वस्य विश्वरूपमहाराज्यस्य राजा, सर्वमेतत् तदीयाः प्रजाः। सोऽस्माकं परमपिता, वयं सर्वएव तत् सन्ततयः। सोऽस्माकं प्रभुः, वयं तस्याज्ञाधीनभृत्याः। सर्व एवैते तन्नियमाधीनः; तन्नियमानुसारतएवेमउत्पद्यन्ते, तस्यैव च नियमतोनिमीलन्ति। किमु नभोमण्डलपर्य्यवेक्षणकारिणो ज्योतिर्वेत्तारः, किमु भूगर्भानुसन्धान कारिणोभूतत्तविदः, किमु शारीरिकनियमनिरूपकाः शरीरविधानाधिगन्तारः, किमु भौतिकपदार्थतत्व निर्णायकाः पदार्थविद्याविशारदाः संख्याविदः, किमु आत्मतत्वानुसन्धायिनः सूक्ष्मदर्शिनः सुधियः, सर्वे एव तस्याप्यचिन्त्यशक्ति-कीर्त्तने व्रतिनः सन्ति। तेभ्यः सर्वेभ्यएव सर्वत्र तदीयमहीयःशक्तेर्विस्तारितवर्णना श्रूयते यथा वयमिन्द्रियद्वारया किञ्चित् प्रत्यक्षी कृत्याल्पशोबुद्धियुक्तिपरम्परया क्रमादेकशो विवेचयामः न तथा तस्य ज्ञान-क्रिया। यथा वयं शरीरस्य मांसपेशिद्वारया बलं प्रकाशयामः न तस्य बलक्रिया। सस्वभावत आत्मनः प्रभावेनैव समस्तमधिगच्छति, किन्त्वात्मन इच्छाबलेनैव स्वकीयमङ्गलाभिप्रायं सम्पादयति। कमपि विषयमवगन्तुमिन्द्रियाद्युपरि न तस्य निर्भर आवश्यकीयत। तदीयज्ञानक्रिया अपि च बलक्रिया स्वभावसिद्धा। यतोज्ञानविशिष्टा इमेऽसंख्यजीवाः समुत्पन्नाः, अहो तज्ज्ञानं किमाश्चम्? एवम् यत एतानि समस्तवस्तूनि सृजन्ति स्वस्व शक्तिमवाप्नुवन्, अहो कीदृङ्महती तस्य सा शक्तिः ॥२॥

५०

(मू०) न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गं। स कारणं करणाधिपाधिपोन चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः। ३।

(टी०) 'न तस्य कश्चित् पतिः अस्ति लोके' अतएव 'न च' तस्य 'ईशिता' नियन्ता 'न एव च तस्य लिङ्गं' यद्दृश्यते। 'सः' सर्व्वस्य 'कारणं' 'करणाधिपाधिपः' करणानामधिपोमनः तस्याधिपः परमेश्वरः 'न च अस्य कश्चित्' 'जनिता' जनयिता 'न च अधिपः' ॥ ३ ॥

(ता०) स हि नित्यः, निरवयवः, स्वतन्त्रः महान् आत्मा ॥३॥

५१

(मू०) एषदेवोविश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तोयएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। ४।

(टी०) 'एषः' 'देवः' द्योतनात्मकः परमेश्वरः। विश्वं जगत् क्रियतेऽनेनेति 'विश्वकर्म्मा' महांश्चासौ आत्मेति 'महात्मा' 'सदा' सर्व्वदा 'जनानां हृदये' 'संनिविष्टः' सम्यक् स्थितः। 'हृदा' मनस्थया 'मनीषा' मनसः सङ्कल्पादिरूपस्य ईष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया विकल्पवर्ज्जितया 'मनसा' मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन 'अभिक्लृप्तः' ज्ञातुं शक्यत इत्येतत्। 'ये' 'एतत्' ब्रह्म 'विदुः' जानन्ति 'अमृताः' अमरणधर्म्माणः 'ते भवन्ति' ॥४॥

(ता०) असौ परमेश्वरः विश्वं सृष्टवान्, अनेनैव चितितं चैनत्, अतएव विश्वकर्मा। अयम्

महात्मा, नायं जीवात्मेव क्षुद्रः। अयं सकलजनानां हृदये प्राणस्य प्राणरूपेण सततमवतिष्ठते। असौ संशयरहितविर्म्मलज्ञानेन प्रकाश्यः। य एनमनुसंधाय जानन्ति तेऽस्य सहवासजनितभूमानन्दं नित्यकालमुपभुञ्जते ॥४॥

५२

(मू०) तन्दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरोहर्षशोकौ जहाति। ५।

(टी०) 'तं' 'दुर्दर्शं' दुःखेनायासेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शः अतिसूक्ष्मत्वात् तं 'गूढं' गहनं 'अनुप्रविष्टं' विषयविकारैः प्रच्छन्नमित्येतत् 'गुहाहितं' गुहायां बुद्धावाहितं स्थितं तत्नोपलभ्यत्वात्। गह्वरे स्थाने विषमे अनेकानर्थसङ्कुले तिष्ठतीति 'गह्वरेष्ठं' 'पुराणं' पुरातनं। 'अध्यात्मयोगाधिगमेन' विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य मनसआत्मनि समाधानं अध्यात्मयोगः तस्याधिगमस्तेन 'मत्वा' 'देवं' द्योतनात्मकं 'धीरः हर्षशोकौ जहाति' ॥५॥

(ता०) स दुर्ज्ञेयः; विषय-मोहेन हत-चेतनो न हि कथमपि तमधिगन्तुं पारयति; स दर्शनशास्त्रमेव पठतु, उत तर्कमेव तर्कयतु, तन्मनसः संशय-च्छेदोन जायते कदापि। सत्यस्य सत्यः तत्समया छायेव भासते। काष्ठेषु यथा गूढरूपेणाग्निर्विराजते, तथा समस्तवस्तुषु गूढभावेनानुप्रविष्टो भवन् प्रच्छन्नो राजते; विशुद्ध-सत्वस्य तन्निष्ठस्य निर्मलज्ञानेन स परमदेवो दग्धदारुनिःसृत: प्रज्ज्वलितोऽनल इवानायासतः प्रकाशितो भवति। स आत्मन अन्तरात्मा, सोऽस्माकमात्मनि सन्ततमवतिष्ठते। स आकाशेऽपि ओतप्रोतो भवन्नास्ते। स हि पर्वत-गुहा-गह्वरे, स हि हिमवत्-कैलाश-शिखरे, स हि विस्तीर्णदावानले, स हि भीषण-समुद्र-तरङ्गे, स हि निर्जनदुर्गमसङ्कटस्थानेऽवतिष्ठते ध्रुवः। स ह्यस्माकं साक्षात् पिता, सह्यस्माकं पुरातनपितामहः। धीरोऽध्यात्मयोगेन तं दुर्ज्ञेयं परमात्मानमवगत्य हर्षशोकान्मुक्तो भवति। परमात्मनि जीवात्मनः संयोजनकरणमध्यात्मयोग उच्यते। यदाध्यात्मयोगेनास्य दिदृक्षा तदिच्छया युक्ता भवेत्, यदा तस्य सत्यसुन्दर-मङ्गलमूर्त्तिमवलोक्य ज्ञानं तृप्तं स्यात्; तदा हृदयमस्मै प्रीत्युपहारं दत्वा लीनोभवत्यानन्दसागरे, किञ्च विषय-कामना-जनित-हर्ष-शोकान्मुक्तो भवेत्। यथा यथा तदिच्छया सहास्माकमिच्छाया योगो भव्यः, यथा यथा च यज्ज्ञानेन सहास्मज्ज्ञानस्य योगोभवनीयः, अपि च यथा यथा तत्प्रीत्या साकमस्मत्प्रीतेर्योगो भवितव्यः; तथा तथैव तेन साकं गाढसम्मिलनं भव्यम्, तथा तथा च तत्पवित्रसन्निकर्षमुपलभ्य पवित्रो भवनीयः। एवं योगेनैव स ज्ञेयः, एवं योगेनैव तस्यादिष्टधर्मानुष्ठाने बलं प्राप्यते, एवं योगत एव स्वर्गो भवति, एवं योगेनैव प्रमुच्यते ॥५॥

५३

(मू०) प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोये मनोविदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं। ६।

(टी०) प्राणस्य प्राणं' 'उत' तथा चक्षुषः चक्षुः उत श्रोत्रस्य श्रोत्रं' 'मनसः' 'मनः' 'ये' 'विदुः' जानन्ति 'ते' 'निचिक्युः' निश्चयेन ज्ञातवन्तः 'ब्रह्म' 'पुराणं' चिरन्तनं 'अग्र्यं' श्रेष्ठं' ॥६॥

(ता०) येऽमुं सर्वेषां चेतनावत् कारणमाश्रय इति विदन्ति, तएवैनं निश्चयमभिजानन्ति ॥६॥

५४

(मू०) एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवं। विरजः पर आकाशादजआत्मा महान् ध्रुवः। ७।

(टी०) 'एकधा एव' एकेनैव प्रकारेण विज्ञानघनैकरसप्रकारेण आकाशवन्निरन्तरेण 'अनुद्र-

ष्टव्य" 'एतत्' ब्रह्म। अन्येन हि अन्यत् प्रमीयते इदन्तु 'अप्रमेयं' 'ध्रुवं' नित्यं कूटस्थं। 'विरजः' विगतरजः अधर्म्मादिमलरहितः 'परः' सूक्ष्मः 'आकाशात्' अपि। 'अजः' न जायते 'आत्मा' 'महान्' महत्तरः सर्व्वस्मात् 'ध्रुवः' अविनाशी ॥७

(ता०) अयमेक एव अपि च उपमारहितः; नास्तीदृक् किमपि यत् तेनसार्कं तस्योपमा भवेत्। स समस्तवस्तुतोभिन्नः, स आकाशातीतः अपि च आकाशमध्यस्थो भवन् सकलघटनां नियमयति ॥७॥

५५

(मू०) यस्मादर्व्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते। तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतं।८।

(टी०) 'यस्मात्' ईशानात् 'अर्व्वाक् संवत्सरः' संवत्सरावच्छिन्नः कालः 'अहोभिः' सावयवैरहोरात्रैः 'परिवर्त्तते'। 'तत्' 'ज्योतिषां ज्योतिः' 'आयुः' 'अमृतं' ब्रह्म 'देवाः' 'हि आ उपासते' ॥८

(ता०) अन्यत्रान्यत्र लोकेषु मनुष्यापेक्षया ज्ञान-धर्म-प्रीतिषु उन्नता ये सन्त्युत्कृष्टजीवाः समस्तांः, ते परब्रह्म नियतमुपासन्ते। यथा देवा परब्रह्मण उपासनां कुर्वते, तथा मनुजानाम् अपि तमुपासयितुमधिकारोविद्यते; नैषसामान्योगौरवः सामान्यः सौभाग्यो वाऽस्माकम् ॥८॥

५६

(मू०) सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः सर्व्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्म्मणा भूयान् नो एव असाधुना कणीयान्।९।

(टी०) 'सर्व्वस्य वशी' सर्व्वमस्य वशे वर्त्तते 'सर्व्वस्य ईशानः' 'सर्व्वस्य अधिपतिः' 'सः' पुरुषोविज्ञानमयः 'न साधुना कर्म्मणा' 'भूयान्' भवति वर्द्धते 'नो एव असाधुना' कर्म्मणा 'कणीयान्' अल्पतरोभवति। सर्व्वसंसारधर्म्मवर्ज्जितः सः पुरुषः पूर्व्वावस्थातो न हीयते न च वर्द्धतइत्यर्थः ॥९॥

(ता०) परमेश्वरो यं यस्य नियमस्याधीनं कृतवान्, स तत्रैव नियमे तिष्ठति; कोऽपि न हि तच्छासनमति क्रमितुं शक्यते। स सर्वेश्वरः, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपतिः। मनुष्यो यथा सदसत्कर्मानुसारत उत्कृष्टामपकृष्टां वावस्थां प्राप्नोति, तस्य यथावस्थापरिवर्त्तनं न सम्भवति। तस्य स्वरूपईदृशउत्कृष्टः; यत्तदपेक्षया उत्कृष्टो भवितुं स न क्षमते, तथा ईदृगपरिवर्त्तनीयः, यत् न कदापि स परिवर्त्तनीयः ॥९॥

५७

(मू०) एष सर्व्वेश्वर एषभूताधिपतिरेषभूतपालः। एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।१०।

(टी०) 'एषः सर्वेश्वरः' 'एषः' 'भूताधिपतिः' भूतानामधिपतिः 'एषः' 'भूतपालः' भूतानां पालयिता रक्षिता 'एषः सेतुः' 'विधरणः' सर्वसंसारधर्म्मव्यवस्थाया विधारयिता 'एषां लोकानां' भूरादिलोकानां 'असम्भेदाय' असम्भिन्नमर्य्यादायै। लोकाः सर्वे सम्भिन्नमर्य्यादाः स्युरतोलोकानामसम्भेदाय सेतुभूतोऽयं परमेश्वरः ॥१०॥

(ता०) प्रजापालकः परमेश्वरोऽमूदृग् दृढबद्धनियम-प्रणाली सस्थाप्य विश्व-राज्यं परिपालयति, यथा च न कथमपि तस्य व्यतिक्रमेण संसारस्योच्छेद-दशा-प्राप्तिः सम्भाव्यते। परमेश्वर "लोक-भङ्ग-निवारणार्तं सेतु स्वरूपोभवन् सर्वमेतद् विभर्त्ति" ॥१०॥

५८

(मू०) अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्व्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचोविमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः।११।

(टी०) 'अस्मिन्' अक्षरे पुरुषे 'द्यौः पृथिवी च अन्तरीक्षं' 'ओतं' समर्पितं 'मनः सह प्राणैः' करणैः 'च सर्व्वैः'। 'तं एव' सर्वाश्रयं 'एकं' अद्वितीयं 'जानथ' जानीत 'आत्मानं' अजं ध्रुवं ब्रह्म 'अन्याः वाचः' 'विमुञ्चथ' विमुञ्चत परित्यजत यतः 'अमृतस्य' अमृतत्वस्य मोक्षप्राप्तये 'एषः सेतुः' संसारमहोदधेरुत्तरणहेतुत्वात् ॥११॥

(ता०) अयं सर्वेषां रक्षकः, सर्वेषामेवाश्रयः। एनं जानीहि, वाक्यमन्यत् परित्यज। एनमति क्रम्य न किमपि वदेत्, न किमपि चिन्तयेत्, न किमपि कुर्य्यात्, अस्यैव शरणापन्नो भवेत्; तथा च पापतापमोहेभ्यो मुक्त्वामृतं लभेत, अयममृतस्य सेतुरूपः ॥११॥

५६

(मू०) न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। १२।

(टी०) एषपरआत्मा 'न जायते' नोत्पद्यते 'म्रियते वा' न म्रियते 'विपश्चित्' मेधावी सर्वज्ञः अपरिलुप्तचैतन्यस्वभावत्वात् किञ्च 'न' 'अयं' आत्मा 'कुतश्चित्' कारणान्तरात् बभूव 'न' अपि एषआत्मा 'बभूव कश्चित्' अर्थान्तरभूतः ॥१२॥

(ता०) जन्म-मृत्यु-विकार-विहीनात्, भ्रमप्रमाद-शून्यात्, शुद्धादपापविद्धात्, परमात्मनः समस्तमेतदुत्पन्नम्; सत्वयं स्वयं न किमपि भवेत्। दुग्धं परिणम्य दधि सम्पद्यते रूपान्तरिता मृत्तिका यथा घटत्वमापद्यते, अवस्थान्तरितं च स्वर्णं यथा कुण्डलत्वमवाप्यते, स तथा न कथमपि किंयद्वस्तुरूपतः परिणतः। यथा रज्जौ सर्पभ्रमो भवति, यथा च मरीचिकायां जलभ्रमो भवति, तथा तत्र ब्रह्मणि भ्रमरूपमेतज्जगद् भासते, तदपि न। स एतज्जगत् सृष्टवान्। जगदेतत् ततः पृथक् पदार्थः। स स्वयं न जडः, नापि जीवः; स सेव्यः, उपास्यः; वयन्तु सर्वे तस्य सेवकः, उपासकः ॥१२॥

६०

(मू०) यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोकानिहिता लोकिनश्च। तदेतत् सत्यं तदमृतं तत् वेद्धव्यं सौम्य विद्धि। १३।

(टी०) 'यत्' ब्रह्म 'अर्चिमत्' दीप्तिमत् 'यत्' अणुभ्यः अणु' 'यस्मिन्' 'लोकाः' भूरादयः 'निहिताः' स्थिताः 'लोकिनः च' लोकनिवासिनोमनुष्यादयः। 'तत् एतत्' सर्व्वाश्रयं 'सत्यं' 'तत्' 'अमृतं' अविनाशि 'तत् वेद्धव्यं' मनसा ताडयितव्यं तस्मिन् मनःसमाधानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् हे 'सौम्य' 'विद्धि' ब्रह्मणि मनः समाधत्स्व ॥ १३ ॥

(ता०) भो प्रियतम! त्वदात्मानम् सर्वान्तरतमपरमात्मनोऽन्तरं मा कुरु, ततो तं विच्छिद्य दीनभावेन मुह्यमानो मा भव; प्रत्युत तं पवित्रीकृत्य तत् समयोपगमय, एकाग्र-चित्तो भूत्वातद्द्वारा परमात्मानं वेध अपिचाध्यात्म-योग-जनित-परमानन्दमुपभुंक्ष्व ॥१३॥

६१

(मू०) प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। १४।

(टी०) 'प्रणवः' ओङ्कारः 'धनुः' 'शरः हि' 'आत्मा' जीवात्मा 'ब्रह्म तल्लक्ष्यं उच्यते' 'अप्रमत्तेन' प्रमादवर्ज्जितेन जितेन्द्रियेण एकाग्रचित्तेन तल्लक्ष्यं ब्रह्म 'वेद्धव्यं' ततस्तद् धनादूर्द्धं 'शरवत् तन्मयः भवेत्' यथा शरोलक्ष्यमयोभवति तथा तस्य साधकस्य आत्मा ब्रह्ममयो भवेत् ॥१४॥

(ता०) अ कारः प्रणवउच्यते। ओंकारस्यार्थस्तु सृष्टिस्थिति-प्रलयकर्त्ता; एष परब्रह्म-प्रतिपादकः शब्दः। जीवात्मानं शरं परिकल्प्य, ओंकारशब्दं धनुरवकल्प्य ज्ञापयतिस्मै तत्, यथा कश्चन लक्ष्यं प्रतिशरं निक्षिप्तुं धनुरवलम्बनमावश्यकम्, तथा ब्रह्म संलक्ष्य जीवात्मानं तत्समीपभाजनं कर्त्तुं तत्-प्रतिपादकः शब्द आम्पूपकरोति। यस्यात्मा ब्रह्म-रूपं लक्ष्यं विद्ध्वा तत्प्रविष्टोऽभवत्, सोऽज्ञासीत् यत्, यथा तस्यात्मा परब्रह्मणा आवृतः, तथा समस्तमिदं तेनैवावृतमिति ॥१४॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

अस्माराडकारङ्करणाद्यलिप्सुङ्कारुण्यसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाच्चिवेद्यम्मननेन मान्यं बन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] अग्रिमवार्षिकम् ८) प्रतिसंख्यायाः १) [March. April 1869.] अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी [१९।२०संख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২২৫ কর্ণওয়ালিশ্ ষ্ট্রীট।

वैदिकसमालोचना।

उभयोश्च युगपत् प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरः परिसंख्याविधिः, यथा— "पञ्च पञ्चनखाभक्ष्याः" नेदं पञ्चनखभक्षणं विधत्ते, यतोरागतः प्राप्तमेव तत्; नापि नियमपरः, यतोऽसत्यप्यस्मिन् रागत एव पञ्चपञ्चनखस्य तदतिरिक्तस्य चान्यान्यस्य समस्तस्य भक्षणं युगपत् प्राप्यते, नहि पक्षान्तरेऽप्राप्तिरत्र; अतो विधिरसौ पञ्चनखातिरिक्तस्य व्यावृत्तिपरोभवति॥ तदेतत् संग्रहः "विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते" इति॥

पुरुषस्य निवर्त्तकं वाक्यं निषेधः, यथा—"न कलञ्जं भक्षयेत्" यथा विधिः प्रवर्त्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्त्तकत्वनिर्वाहाय विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं तत्र प्रवर्त्तयति, तथा निषेधोऽपि निवर्त्तनां प्रतिपादयन् स्वनिवर्त्तकत्वनिर्वाहाय निषेधस्य कलञ्जभक्षणादेरनिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवर्त्तयति।

प्रयोगसमवेतार्थस्मारकोमन्त्रः, यथा—"अग्न आयाहि वीतये" अग्निरूपदेवतास्मारकत्वेनैवा-

বৈদিকসমালোচনা।

এক কালে উভয় প্রাপ্ত হইলে একের নিবৃত্তিকারী বাক্যকে পরিসংখ্যা বিধি কহে ; যথা—"পঞ্চ পঞ্চনখা ভক্ষ্যাঃ" এ বাক্যটী পঞ্চনখের ভক্ষণ বিধায়ক নহে, যেহেতু উহা রাগতই প্রাপ্ত আছে, নিয়মপরও নহে, যেহেতু এইটী না বলিলেও পঞ্চনখ ও পঞ্চনখাতিরিক্ত অন্যান্য সমস্ত পশুর ভক্ষণ এক কালে প্রাপ্ত আছে, পক্ষান্তরে অর্থাৎ পঞ্চনখাতিরিক্ত পশুর ভক্ষণ অপ্রাপ্ত আছে—এরূপ নহে : অতএব এই বাক্যটী পঞ্চনখাতিরিক্তের ভক্ষণ-নিবৃত্তিকারী হইয়াছে॥ তাহাই উক্ত আছে—'অত্যন্ত অপ্রাপ্তির প্রাপনকারীকে অপূর্ব্ববিধি বলা যায় এবং পক্ষে অপ্রাপ্ত থাকিলে নিয়মবিধি কহা যার ও উভয়ত্র প্রাপ্ত থাকিলে একত্র প্রবৃত্তি-নিবারক বাক্যকে পরিসংখ্যাবিধি কহে॥'

পুরুষের নিবর্ত্তক বাক্যকে নিষেধ বলা যায় ; যথা—'নকলঞ্জং ভক্ষয়েৎ' কলঞ্জ ভক্ষণ করিবে না ; বিধি যেরূপ প্রবর্ত্তনা প্রতিপাদন করত নিজ-প্রবর্ত্তকত্ব নির্ব্বাহের নিমিত্ত যাগাদিরূপ বিধেয়ের ইষ্ট সাধনতা আক্ষেপ করিয়া তাহাতে পুরুষকে প্রবর্ত্ত করায়, নিষেধও সেইরূপ নিবর্ত্তনা প্রতিপাদন করত নিজ-নিবর্ত্তকত্ব নির্ব্বাহের নিমিত্ত কলঞ্জ ভক্ষণাদিরূপ নিষেধ্যের অনিষ্ট সাধনতা আক্ষেপ করিয়া তাহা হইতে পুরুষকে নিবৃত্তি করায়॥

প্রয়োগ সম্বন্ধ দেবতাদির স্মরণকারী বাক্যকে মন্ত্র কহা যায় ; যথা—"অগ্ন আয়াহি বীতয়ে"

॥ ० ॥ कलिकाता नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

स्वार्थवत्त्वम्। नन्वर्थस्मरणमन्येनापि प्रकारेण भवितुं युज्यते, तथाच अग्न आयाह्यादेराम्नानमनर्थकमिति चेत्—न; मन्त्रैरेव स्मर्त्तव्यइति विधानात्।

प्राशस्त्यनिन्दादिबोधकं वाक्यमर्थवादः, अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद् विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे प्रतिपादयति। तथाच, प्राशस्त्य प्रतिपादकं यथा—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" क्षिप्रगामी वायुः स्वोचितेन भागेन तोषितो भागप्रदायैश्वर्य्यं प्रयच्छतीत्यर्थः; यतो वायुः क्षिप्रगमनस्वभावः तत आशुफलप्रद इति भाव.; इत्यत्र "वायव्यं श्वेतमालभेत"—इति काम्यपशुकाण्डे श्रुतस्य वायुदेवताकपशोः प्राशस्त्यं प्रतिपादितम्। निन्दा प्रतिपादकं यथा—"बर्हिषिरजतं (रुद्रदैवतं) न देयम्" इत्यादि निषेधस्य "सोरोदीद् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमित्यादिकं निषेध्यनिन्दितत्वं बोधयति।

सोऽयं चतुःप्रकारोपेतः समस्तो वेदो मन्त्रब्राह्मणखण्डभेदात् (१९) द्विधाविभक्तः; तत्र मन्त्रभागे मन्त्रबाहुल्यम्, स एव संहितेत्युच्यते; स एव रचना त्रिकमवलम्ब्य कृष्णद्वैपायनेन भगवता त्रिभागीकृतः; तथाच — पद्यात्मकमन्त्रसंग्रहेण यो भाग उपनिबद्धः स ऋग्वेद (२०) उच्यते, गद्यमयसंग्रहेण यो ग्रथितः यजुर्वेदः (२१)

(१९) मन्त्रभागलक्षणं ब्राह्मणभागलक्षणञ्च वक्ष्यते परस्तात्।

(२०) तदाह जैमिनिः—"तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था २।१।३२॥" तेषां त्रयाणां यत्र अर्थवशेन पादव्यवस्था सवेद् ऋग्नामा इति तदर्थः। अर्थवशेनेति तु प्रायिकमविवक्षितम्, अन्यथा "अग्निमीळे पुरोहितम्" अत्र स्यादृक्त्वम् अत्र नस्यात् "अग्निः पूर्व्वेभिरृषिभिः" इति, अतएवोक्तं भाष्यकृता "न 'अर्थवशेन' इति वृत्त्यादिवशव्यावृत्त्यर्थः, किन्तर्हि? अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः * * * तस्माद् यत्र पादकृतव्यवस्था सा ऋगिति"।

(२१) तदाह जैमिनिः—"शेषे यजुः शब्दः ॥२।१।३४॥" उक्तादन्यश्च शेषः, तत्र यजुः शब्दो व्यवहार्य्य इत्यर्थः। पूर्व्वमृक् सामलक्षणे कथिते यत्र च वेदे नगीति नच पादव्यवस्था स एव यजुर्वेदः।

হে অগ্নি! তুমি ভক্ষণের নিমিত্ত এই যজ্ঞে আগমন কর, এইটী অগ্নিদেবতা স্মরণ করাইয়া সফলতা লাভ করিল। ঐরূপ স্মরণ অন্যপ্রকারেও হইতে পারে, এতাবতা 'অগ্ন আয়াহি—ইত্যাদি বাক্যগুলি অনাবশ্যক শ্রুত হইয়াছে—এরূপ নহে, যেহেতু মন্ত্রদ্বারাই স্মরণ করিবে—এইরূপ বিধি আছে॥

প্রাশস্ত্যনিন্দা প্রভৃতি প্রতিপাদনকারী বাক্যের নাম অর্থবাদ। প্রাশস্ত্য-প্রতিপাদক—যথা, 'বায়ুর্বৈ ক্ষেপিষ্টা দেবতা বায়ুমেব স্বেন ভাগধেয়েনোপধাবতি সএবৈনং ভূতিং গময়তি' বায়ু ক্ষিপ্রগমনশীল, তিনি আপনার যথোচিত ভাগ প্রাপ্ত হইয়া সন্তুষ্ট হওত সেই ভাগপ্রদান কারীকে ঐশ্বর্য্য দান করেন; অর্থাৎ যেহেতু বায়ু বেগগামী সেই হেতু আশু ফলপ্রদ; এতাবতা কাম্যকাণ্ডে শ্রুত (বায়ব্যং শ্বেতমালভেত) বায়ু দেবতাক পশুর প্রাশস্ত্য প্রতিপাদিত হইল। নিন্দাপ্রতিপাদক—যথা, 'বর্হিষিরজতং (রুদ্রদৈবতং) ন দেয়ম্' অগ্নিতে রুদ্রদেবতাক রজত খণ্ড প্রদান করিবে না,—এই নিষেধের 'সোরোদীৎ যদরোদীত্তদ্রুদ্রস্য রুদ্রত্বং' সে রোদন করিয়া থাকে যেহেত্ত রোদন করাই রুদ্রত্ব,—এই অর্থবাদ; ইহা নিষেধ্যের নিন্দাপ্রতিপাদন করিতেছে॥

কথিত চারি নিয়মে প্রবন্ধীকৃত সমস্ত বেদ মন্ত্র ও ব্রাহ্মণ (১৯) খণ্ডদ্বয় ভেদে বিভক্ত। তন্মধ্যে মন্ত্রভাগে প্রায় সমস্তই মন্ত্র, তাহাকেই সংহিতা বলে। ভগবান্ কৃষ্ণদ্বৈপায়ন তিন প্রকার রচনা ভেদ অবলম্বন করিয়া উহাই তিন অংশ করিয়াছেন, পদ্যাত্মক মন্ত্র সমস্তের সংগ্রহে যে ভাগ নিয়মিত হইয়াছে, তাহাই ঋগ্বেদ নামে প্রসিদ্ধ (২০); গদ্যময়-সংগ্রহে যাহা নিবদ্ধ হইয়াছে, তাহাই যজুর্বেদ নামে প্রথিত (২১); এবং যে

(১৯) মন্ত্রভাগের লক্ষণ ও ব্রাহ্মণ ভাগের লক্ষণ পরে কথিত হইবে।

(২০) তাহাই বলিয়াছেন জৈমিনি—

"তেষামৃগ্যত্রার্থবশেন পাদব্যবস্থা। ২। ১।৩২॥"

সেই তিনের মধ্যে যাহাতে অর্থবশে পাদব্যবস্থা আছে তাহার নাম ঋগ্বেদ। অর্থবশে এই অংশটুকু অবিবক্ষিত: অন্যথা "অগ্নিমীলে পুরোহিতম্" ইহাকে ঋক্ বলিতে পারা যাইবে, কিন্তু "অগ্নিঃ পূর্ব্বেভিঃ ঋষিভিঃ" ইহাকে বলা যাইবে না; অতএব ভাষ্যকার বলিয়াছেন "অর্থবশেন এইটী বৃত্যাদি বশ ব্যাবৃত্তির জন্য নহে, তবে কি? এটী অনুবাদ দেখাইবার নিমিত্ত *** বস্তুত যাহাতে পাদকৃত ব্যবস্থা তাহাই ঋক্"।

(২১) তাহাই বলিয়াছেন জৈমিনি—

"শেষে যজুঃ শব্দঃ ॥২।১।৪৩॥"

পূর্ব্বে ঋক্ ও সামের লক্ষণ বলা হইয়াছে, তদতিরিক্ত যে তাহাই শেষ, তাহাতে যজুঃ শব্দ ব্যবহার্য্য। এতাবতা যে বেদে গীতি নাই পাদব্যবস্থা নাই তাহাই যজুর্ব্বেদ।

स उच्यते, यत्र गीतिः स एव सामवेद इति(२२) कथ्यते। नन्वेवमिदानीन्तनप्रसिद्धर्ग् वेद-मन्त्र-पाठे क्वचित् क्वचित् गद्यात्मकः श्रूयते ; तथा यजुः संहितायामपि बहुशः पद्यमयीश्रुतिः, किञ्च एतत्सामगायन्नास्ते इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदेऽङ्गीकृतम्, "क्षितमसि" "अच्युतमसि" प्राणसंशितमसि"—इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि तदेतत्कथमुपपद्येत? इति चेत्—अत्रेदमवधेयम्, पुरा किल प्रायः सर्वे त्रिवेदविदएव(२३) आसन्, श्रुत-लिखनप्रथा च तदाधिकं स्थिता, सोमादिप्रकरणानुरोधतश्च बहवोमन्त्राः संगृहीताः, तदित्थम्— ऋक् समुदाये क्वचित् क्वचित् यजुः श्रुतिः ; यजुः समुदाये च क्वचित् क्वचित् ऋक् श्रुतिः, क्वचित् साम-श्रुतिः ; सामवेदे च क्वचिद्दू यजुः-श्रुतिः सम्भवत्येवेति—किमनुपपन्नम् ? न किमपि। अथोक्तं गीतिलक्षणं साम, ननु तर्हि सामवेदीयार्चिकभागस्य ऋक्त्वात् सामवेतत्वं गतम्—इतिचेत्, अत्रोच्यते—सामानि तु गानानि तानि सप्तस्वरादिभिरन्विततया विकृतशब्दान्वितानि सुतरां न हि तेषां यथाश्रुतानां सम्भवति कश्चिदर्थः यद्धि गीयते तदर्थो भवत्येव, परं नहि भवत्यर्थो गानस्य, गानन्तुश्रुतिमधुरतामेव प्रयोजयन्ति ; एवञ्च येषामृचांगानानि सामानीत्युच्यन्ते (२४) तेषां सामवेदीयत्वन्तु सुतरामागतम्, तथाचार्चिकभागस्यापि सामवेदत्वं सुष्टु स्थितम्(२५)॥ ब्राह्मणभागेतु विधिनिषेधार्थवा-

(२२) तदाह जैमिनिः—"गीतिषु सामाख्या॥२।१। ॥"

(२३) अतएवायम् मन्त्रः श्रूयते—"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदाविदुः, ऋचः सामानि यजूंषि" हे 'अहे बुध्निय' 'मे' मदीय 'त्रैविदाः' त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः, त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः, ते 'यम्' मन्त्रभागम् ऋचः, सामानि, यजूंषि'—इति त्रिविधम् 'विदुः' तम् 'गोपाय' रक्षय पठनापाठनव्यवहारादितः प्रतिपाय ;—इति तदर्थः।

(२४) तदेवोक्तं न्यायमालायाम्—"गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते"।

(२५) तथाचोक्तं शबरभाष्ये—"गीतिविशिष्टे तावन्मन्त्रे गीतिशब्दः, गीतिसम्बन्धान्मन्त्रे सम्प्रत्यय इत्यवगन्तव्यम्।"

অংশ গীতি রচনা রচিত তাহাই সামবেদ নামে প্রখ্যাত (২২)॥ যদ্যপি ইদানীন্তন যাহা ঋগ্বেদ নামে প্রসিদ্ধ তাহার মধ্যে কোন কোন স্থলে গদ্যাত্মক মন্ত্রও শ্রুত হইয়া থাকে ; সেইরূপ যজু-সংহিতার মধ্যেও অনেক পদ্যময় মন্ত্রেরও শ্রুতি আছে, অপরঞ্চ "এতৎ সামগায়ন্নাস্তে"—এইরূপ প্রতিজ্ঞা পূর্ব্বক কিছু সামও যজুর্ব্বেদে স্বীকৃত হইয়াছে, সামবেদেও "অক্ষিতমসি" "অচ্যুতমসি" "প্রাণসংশিতমসি"—এই তিনটী যজুর্ম্মধ্যে আম্নাত হইয়াছে; সুতরাং আশঙ্কা উপস্থিত হইতে পারে ? কিন্তু এস্থলে ইহা বিবেচনীয়—যে, পূর্ব্বকালে প্রায় তাবতেই ত্রিবেদবিৎ (২৩) হইয়াছেন, এবং শ্রুত লিখন প্রথাই তৎকালে সমধিক প্রচলিত ছিল, সোমযজ্ঞাদি প্রকরণ অনুরোধেও বহুমন্ত্র সংগৃহীত হইয়াছে ; এইপ্রকারে ঋক্ সমুদয়ের মধ্যে কোন কোন স্থলে যজুঃ শ্রুতি, যজুঃসমুদয়ের মধ্যেও কোন কোন স্থলে ঋক্ কোথাও বা সাম-শ্রুতি, সামবেদেও কোন স্থলে যজুঃ-শ্রুতি অবশ্যই সম্ভাবিত॥ অনন্তর আর একটী আশঙ্কা উপস্থিত হইতে পারে, যথা—সামবেদ গীতিস্বরূপ— ইহাই উক্ত হইয়াছে, তাহা হইলে সামবেদীয় আর্চিকভাগের সামবেদত্ব দূরীকৃত হইল, যেহেতু উহা সমস্তই পদ্যে প্রবন্ধীকৃত ? পরং ইহাও অকিঞ্চিৎকর, যেহেতু গীতি রচনা রচিত মন্ত্রেরই নাম সাম, ইহা যথার্থ, কিন্তু সাম সকল সপ্তস্বরাদিতে অন্বিত হইবায় অনেক শব্দ বিকৃতাবস্থায় থাকা প্রযুক্ত সেই সমস্ত গানের যথোচিত অর্থ অসম্ভব ; যাহার গান, তাহার অর্থ হইয়াই থাকে, কিন্তু গানের অর্থ হয় না, গান শ্রবণেন্দ্রিয়ের সুখ-সম্পাদন মাত্রই ফল প্রসব করে। এতাবতা যে সমস্ত ঋকের গান হইয়া সাম নামে প্রসিদ্ধ আছে, (২৪) সেই সমস্তকেও সুতরাং সামবেদ বলা যাইতে পারে, এইরূপে আর্চিকভাগেরও সামবেদত্ব স্থিরীকৃত থাকিল(২৫)॥

(২২) তাহাই বলিয়াছেন জৈমিনি—
"গীতিষু সামাখ্যা।২।১।৩২॥"

(২৩) এই মন্ত্রও ইহার পোষকতা করিতেছে, যথা—"অহে বুধ্নিয় মন্ত্রং মে গোপায় যমৃষয়স্ত্রৈবিদা বিদুঃ। ঋচঃ সামানি যজুংষি" অর্থ—হে অহে বুধ্নিয়! আমার ত্রিবেদ সম্বন্ধি অধ্যেতারা ঋক্, সাম, যজু এই ভাগত্রয়ে বিভক্ত যে মন্ত্রভাগ বিদিত আছেন, তাহা তুমি রক্ষা কর, অর্থাৎ পঠন পাঠন ব্যবহারাদি দ্বারা প্রতিপালন কর"।

(২৪) তাহাই ন্যায় মালাতে কথিত আছে—যথা, "গীয়মান সামের আশ্রয় স্বরূপ কতকগুলি ঋক্ সামবেদে সমাম্নাত হইয়া থাকে"।

(২৫) শবরভাষ্যও ইহাই প্রতিপাদন করিতেছে—যথা "গীতিবিশিষ্ট মন্ত্র সকলে গীতি শব্দ যথার্থ, এবং যেহেতু আর্চ্চিক ভাগের ঋক্ সকলের সেই গীতের সহিত সম্বন্ধ আছে, ঐ সকল ঋকই তাহার মূল অতএব সেই সমস্তও সেই নামে ব্যবহৃত হইয়া থাকে"।

दानां बाहुल्यम्; सोऽपि पद्यमयमन्त्रान् विधाय प्रस्तूय सन्निन्द्य प्रसंगान्निषेधादिकं च प्रब्रूय ऋग्वेदीयः—इति कथ्यते; एवं यजुर्वेदीयः सामवेदीयोऽपि। तदित्थं पद्यगद्यगीतीतिरचनानियमत्रिकमाश्रित्य त्रिभागीकृतो वेद इति सिद्धान्तः।

ব্রাহ্মণভাগে বিধি, নিষেধ, অর্থবাদ—বহুল পরিমাণে ন্যস্ত আছে। উহাও পদ্যময় মন্ত্র সকল বিধান ও স্তবন নিন্দনাদি করত এবং প্রসঙ্গক্রমে নিষেধাদিও প্রকাশিয়া ঋগ্বেদীয় কথিত হইয়া থাকে, যজুর্বেদীয় সামবেদীয়ও তদ্রূপ॥ এইরূপে পদ্য গদ্য গীতি এই তিন প্রকার রচনানিয়মকে অবলম্বন করিয়া বেদ তিন ভাগে বিভক্ত হইয়াছে; ইহাই সিদ্ধান্ত॥

वेणीसंहार नाटकं—सटीकम्।

वेणीसंहार नाटकमादौ मुद्रितं दाक्षिणात्यप्रदेशे विंशति वत्सरात् पूर्व्वं प्रस्तरयन्त्रेण। ततश्च नवमे संवत्सरे कलिकातायां प्रसन्नकुमारठाकुरेण तदेव पुस्तकमवलम्ब्य वङ्गाक्षरैर्मुद्रितम्। तत् पुस्तकन्तु प्रथममुद्रितस्य दाक्षिणात्यपुस्तकस्य प्रतिबिम्बमात्रम्। दाक्षिणात्यपुस्तकस्य भ्रमप्रमादा अपि समग्रास्तस्मिन् पुस्तके लभ्यन्ते। अथैतस्मिन्नपि पुस्तके दुष्प्रापतामापन्ने राजकीयविद्यालयस्थछात्राणामध्यापकानाञ्चोपकृतये संस्कृतविद्यालयस्य पुस्तकाध्यक्षेण श्रीमता जगन्मोहनतर्कालङ्कारेण भारतवर्षस्य नानास्थानादष्टौ पुस्तकानि समानीय पाठस्य हेयोपादेयतां विविच्य स्वकृतटीकासमेतमेतदेव नाटकं प्रथमं मुद्रितम्। पुस्तकान्तरस्य यस्मिन् यस्मिन्नेवांशेऽपरिज्ञाते अध्ययनस्याध्यापनायाश्चासौकर्य्यं भवत् ससएवांशः समुद्धृतस्तर्कालङ्कारेण। भारतवर्षीयपण्डितैरनालम्बितपूर्व्वयानया रीत्या सर्व्वेषामेव विद्यार्थिनां सुमहानुपकारो भविष्यति। विशेषतस्तु तेन स्वप्रचारित पुस्तकस्य मुखबन्धे वेणीसंहारस्य संक्षिप्तमितिवृत्तं प्रकटितम्। तच्च संस्कृताध्यायिनामनल्पमुपकारं विधास्यति। एतत् संस्करणे तर्कालङ्कारस्यासामान्यः परिश्रमः सम्पूर्णं सफलतां यातः, यतस्तदीय पुस्तके अपूर्व्वा पाठपरिपाटी लक्ष्यते, दृश्यते चास्य मूले टीकायामपि क्वचिदेवाल्पल्पतरैव वर्णाशुद्धिर्भ्रमप्रमादो वा। अथैतत्पुस्तकस्य पूर्व्वार्द्धे प्रकाशिते कलिकातासंस्कृतविद्यालयस्यान्तरङ्गैरधीतेऽध्यापिते च सुविख्यातपण्डितेन संस्कृतविद्यालयस्थव्याकरणशास्त्राध्यापकेन श्रीमता तारानाथतर्कवाचस्पतिना स्वकृतटीकासमेतमपरं वेणीसंहार नाटकं *** प्रकाशितम्। एतस्मिन् द्विविधे वेणीसंहारे मुद्रिते— पाटलिपुत्रस्थराजकीयविद्यालयाध्यापकत्रिपाठ्युप नामकपण्डितेन छोटुरामेण स्वकृतटीकया सुबोधिनीसमाख्यया समेतमपरं वेणीसंहारनाटकं क्रमशः प्रकाशयितुमारब्धम्; अधुना प्रायः परिसमापितञ्च। अनेन च सुगमांशस्यापि व्याख्यया विस्तृतिरापादिता। पुस्तकान्तरीय प्रमाणानि तु प्रायो नोद्धृतानि।

छोटूरामस्तु तर्कालङ्कारकृतटीकाया बहुलमेवांशं समाहृत्य स्वकृतटीकायां संन्यवेशयत्। एतत् पुस्तकयोर्द्वयोरादावन्ते च प्रायः सर्व्वत्रैव टीकायां मूले च पाठस्य सौसादृश्यं दृश्यते। तत् पाठकानामवगमाय किञ्चित् प्रदर्श्यते।

तर्कालङ्कारकृत टीका।	छोटूरामकृत टीका
११ पृ०	९ पृ०
भवद्भ्यो युधिष्ठिर-मतानुवर्त्तिभ्यः कुरुभिः सह सन्धित्सुभ्यो भिन्नः, भवत् पक्षीय तया नाहं परिग्राह्यः। भवद्भिः सह तेषां सन्धानेऽपि मया वैरमनुसरिष्यते इत्यर्थः।	भवद्भ्यो युधिष्ठिरमतानुवर्त्तिभ्योऽहमद्यप्रभृति भिन्नः। भवद्भिः सह तेषां सन्धानेऽपि मया वैरमनुसरिष्यते एवेति भावः।
१५ पृ०	१२ पृ०
अमनस्विजनोचितम्, अतिलज्जाकरमिदं कर्म्म कृतं गुरुणेति तत्सम्बन्धः संलापोऽपि पातकवत् परिहर्त्तव्य एवेत्यर्थः	अतिलज्जाकरं कर्म्म कृतं गुरुणेति तद्विषयकः संलापोऽप्यनुचितत्वात् परिहर्त्तव्य एवेति भावः।

क्वचित् तर्कालङ्कारस्य भ्रमप्रमादा अपि छोटूरामेणापहृताः। यथा "हा देवि! कुन्तिभोज राज-भवनपताके!" इत्यत्र तर्कालङ्कारेण प्रमादात् "हा देवि कुन्ति! भोजराजभवनपताके! इत्येवं लिखितम्। छोटूरामस्तु तमेव भ्रमविजृम्भितमंशं स्वप्रकाशितपुस्तके भ्रमेण संनिवेशितवान् इति दिक्। एवञ्च विज्ञायतेऽस्माभिः—छोटूरामोऽसामान्यविद्यासम्पन्नः। स यदि परग्रन्थांशापहारे मनो न दद्यात् तदा तत्कृतटीका समीचीनैव भवेदिति।

कस्यचित् यथार्थवादिनः।

दशहस्ताङ्गुलीशम्भु वाङ्करावणमौलयः।
कृष्णावतारदिग् विश्वे देवावस्थेन्दुवाजिनः ॥१०॥

दशेति। विश्वे देवाः क्रतुदक्षवसुसत्य कालका मधुरिलोचनपुरूरवमाद्रवसः। दशावस्था यथा—चक्षूरागः प्रथमं चित्तासङ्गस्तथैव संकल्पः निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपा-नाशः उन्मादोमूर्च्छामरणश्चेति। अन्येऽपि महाविद्या बह्निकलादयोबोध्याः ॥१०॥

एकादशमहादेवाः सेनाश्च कुरुभूपतेः।

एकादशेति। रुद्रा यथा—"वीरभद्रश्च शम्भुश्च शङ्करश्च महायशाः। अजैकपादहि ब्रध्नः पिनाकी चापराजितः॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पतिः। स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादशस्मृताः"। कुरुभूपते दुर्योधनस्य।

द्वादशार्कामासराशिसंक्रान्तिगुह्यवाहवः॥ ११॥
शारिकोष्टकसेनानीनेत्रभूपतिमण्डलाः।

द्वादशार्केति। अर्का यथा—"धाता यमाच मित्रश्च वरुणश्चांशगस्तथा। इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्ज्ज्न्यो दशमः स्मृतः॥ ततस्त्वष्टा ततो विष्णु रजघन्यो जघन्यतः। इत्येते द्वादशादित्या मनुना परिकीर्त्तिताः" ॥११॥

त्रयोदशस्युस्ताम्बूलगुणा अथ चतुर्द्दश ॥१२॥
विद्या यम मनु स्वाराभुवनध्रुवतारकाः।
तिथयः स्युः पञ्चदश शोडशेन्दुकलाम्बिकाः ॥१३॥

त्रयोदशेति। ताम्बूलगुणा यथा—"ताम्बूलं कटुतिक्तमुष्णमधुरं क्षारं कषायान्वितम्। वातघ्नं कृमिनाशनं कफहरं कामाग्निसन्दीपनम्॥ वक्त्रस्याभरणं विशुद्धिकरणं दुर्गन्धिनिर्णाशनम्। ताम्बूलस्य सखे त्रयोदशगुणा स्वर्गेऽपि ते दुर्लभाः"॥ अथ चतुर्दशेति। विद्या यथा—"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्याह्येताश्चतुर्द्दश। मनवो यथा—स्वायम्भुवस्वारोचिषोत्तमतामसरैवतचाक्षुष वैवस्वतसावर्णि दक्षसावर्णि ब्रह्मसावर्णि धर्मसावर्णि रुद्रसावर्णि देवसावर्णीन्द्रसावर्णयः। स्वरा अचः। तिथय इति। प्रसिद्धाः। षोडशेति। इन्दोः कला यथा सारदायाम् "अमृता मानदा पूषा तुष्टि पुष्टीरतिधृतिः। शशिनी चन्द्रिकाकान्ति ज्योत्स्नाः श्रीः प्रीतिरङ्गदाः। पूर्णापूर्णामृताकामदायिन्यः शशिनः कलाः"। अम्बिका मातृकाः, ता यथा गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया। देवा सना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः। शान्तिः पुष्टिर्धृतिस्तुष्टिरात्मदेवतया सह। कुलदेवताच विज्ञेया इमाः षोडशमातरः १२।१३॥

अष्टादश द्वीपविद्या पुराण स्मृति धान्यकम्।
विंशती रावणभुजांगुलयोऽथ शतं यथा ॥१४॥
धार्त्तराष्ट्राः शतभिषक् तारकाः पुरुषायुधम्।
रावणाङ्गुल्यजदलशक्रयज्ञाब्धियोजनम् ॥१५॥
सहस्रं जाह्नवीवक्त्रशेषशीर्षाम्बुजच्छदाः।
रविवाणार्जुनकरा वेदशाखेन्द्रदृष्टयः ॥१६॥

अष्टादशेति। पूर्वोक्तचतुर्द्दशभिः सह आयुर्वेद धनुर्वेद गान्धर्वार्थशास्त्राणि। पुराणानि, 'मद्वयं भद्वयं चैव व्रत्रयं वचतुष्टयम्। आलिम्पाग्नि पुराणानि कूस्कं गारुडमेव च' इति*। स्मृतयो मन्वादयः प्रसिद्धाः। सुगममन्यत्। प्रदर्शितभिन्न सङ्ख्यका अपि बहवः सन्ति केचित् प्रदर्श्यन्ते। चतुर्विंशति तत्व सप्तविंशति योगनक्षत्रद्वात्रिंशद्दशन षट्त्रिंशतत्वैकोनपञ्चाशदनिलचतुःषष्टिपीठ योगिनी कला विद्या चतुरशीति नरकवन्यस्त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेव षट्पञ्चाशत् कोटि यादवाः॥ १४॥१५॥१६॥

एतेषां क्रमेण यथासम्भवमुदाहरणम्।

एकेन धूमिरिव मेरुमहीधरेण
वक्षस्थलीमधुरिपोरिपोरिव कौस्तुभेन।
द्यौरिन्दुनेव दशनेन गनाधिनाथ
शुण्डेवदेवभवतालमकारिधात्री ॥१७॥

एकेति। धात्री पृथ्वी, अलङ्कारि भूषणमकारि ॥१७॥

पीड्यमाना इवं ताभ्यां प्रियदोर्भ्यामिव प्रिया।
सिष्विदे च चकम्पे च संमुमोह च सा चमूः ॥१८

पीड्येति। प्रियेति सम्बोधनम्। उपमानपक्षे खेदादयः सात्विका भावाः ॥१८॥

कण्ठोपमस्याष्टदुमध्यतार
स्वरत्रयाधार इति त्रिरेखः।
मुदं ददाति त्रिजगज्जयाय
प्रयाणशंखो मकरध्वजस्य ॥१०॥

कण्ठेति। अस्या नायिकाया इति शेषः ॥१८॥

किं रोमराजी यमुनातटेऽस्या
वली त्रिदण्डी कलयन्ननङ्गः।
कस्यापि रूपेण जितस्तपस्वी
तमेव जेतुं तनुते तपांसि ॥२०॥

किमिति। रोमपार्श्वेव यमुना अतिमसृण-कृष्णवर्णत्वादभेदारोपः ॥२०॥

वृकोदराद्या सहसामहाश्रियः
सहोदरास्तं परिवव्रिरे नृपम्।
द्युहस्तिनो हस्तमिवाऽसुहृद्
गणच्छिदानिदानं रणपारदारदाः ॥२१॥

वृकेति। भीमाद्याः सहोदराः, नृपं युधिष्ठिरम्, के कमिव इत्याह—द्युहस्तीति ॥२१॥

पञ्चत्वं पञ्चेषो जगदारम्भाय पञ्चभूतानि।
पञ्चशराः कुसुमेषो गिरिभुवि गिरिशस्य जयति पञ्चमुखी ॥२२॥

पञ्चत्वमिति। देहली दीपकन्यायेन वचन-व्यत्ययेन च जयतीत्यस्य यथासम्भवमन्वयः कार्य्यः ॥२२॥

तवोग्रमूर्त्तेः शरभूः प्रतापो
दध्रे षडङ्गस्य षडाननत्वम्।
यत्कुण्डलानीव विरेजुरस्य
स्वण्डद्युतेद्वादशमण्डलानि ॥२३॥

तवेति। हे राजन् उग्रमूर्त्तेः षडंगस्य षड्गुण सम्पन्नस्य शरभूर्वाणोत्पन्नः प्रतापो विक्रमः षडाननत्वं दध्रे ॥२३॥

लोकेषु सप्तसु दधन्ति गौरवं
ते येषां गृहा उपरि सप्त तुरङ्गमस्य।
सप्तर्षयो घनपिशङ्गजटा जयन्ति
ते सप्त हेतय इव ज्वलनस्य मूर्त्ताः ॥२४॥

गीतं दिगन्तेषु यशोष्टमूर्त्ति
मूर्त्तिप्रभं तेष्टदिगीशमूर्त्तेः।
अष्टाङ्गयोगात्कलिताष्टसिद्धिः
श्रोतुं दधेष्टश्रुतितां विधाता ॥२५॥

अन्तर्लसद्दन्तसितद्युतीनि
छत्तानि लङ्काधिपतेः शिरांसि।
न वापि लक्ष्मीं मणिभासुराणां
दधुर्नवानामपि शेवधीनाम् ॥२६॥

निजाम्बुनीरैस्त्वपिता द्विषद्भिः
प्रदीपिता मौलिमणिस्रजाभिः।
दशापि ते पादनखाः प्रयान्ति
दिशां दशानामपि दर्पणत्वम् ॥२७॥

लोकेष्विति। गीतमिति। अन्तरिति। निजेति। सुगमानि। २४।२५।२६।२७॥

इति सटीक कविकल्पलतायां श्लेषनाम द्वितीयस्तवके सङ्ख्यानाम चतुर्थं कुसुमम्।

अथ रूढादि कुसुममारभमाणः प्रथमं शब्दानां त्रैविध्यमाह।

रूढयौगिकमिश्राख्या त्रिधाः शब्दाः प्रकीर्त्तिताः

रूढेति। मिश्राः योगरूढाः पङ्कजादयः, केचित्तु रूढयौगिकमपि मन्यन्ते, यथा मण्डपादयः।

तत्र रूढं निरूपयति—

व्युत्पत्तिवर्जिता रूढाः शब्दा आखण्डलादयः ॥१॥

व्युत्पत्तीति। व्युत्पत्तिरवयवार्थोपस्थितिः, तथाच अवयवशक्तिं निरपेक्ष्य समुदयशक्तिमत्त्वं रूढत्वम्—इति दुर्गसिंहः। यन्नाम याद्दशार्थे शक्तेतितसेव न तु यौगिकमपि तत्र तद्रूढमिति जगदीशः। रूढि स्त्रिविधा—नैमित्तिकी, पारिभाषिकी, औपाधिकी चेति। जात्यवच्छिन्नशक्तेतवती नैमित्तिकी, तत्रोदाहरणम्—गौर्नरोघट इत्यादि। उभया वृत्तिधर्म्मेण शक्तेतवती पारिभाषिकी यथा। आखण्डल आकाशचैत्रमैत्रडित्यादयः। अनुगतोपाध्यवच्छिन्नशक्तेतवती संज्ञा औपचारिकी यथा—भतदूतादयः। मुख्यो लाक्षणिको

गौण: शब्दस्यादौपचारक:। यौगिको योगरूढो वा रूढो वा मुख्य एव स:"—इति शाब्दिका: ॥१

सोदाहरणयौगिकमाह—

योगो गुणेन क्रियया संबन्धेन क्रतोन्वय:।
गुण: स्यान्नीलपीतादि नीलकण्ठादयस्तत: ॥२॥

संख्या अपि गुणाएवं वैशेषिकमते तत:।
पञ्चेषु षण्मुखदशग्रीवैकदशनादय: ॥ ३ ॥

योगइति। क्रतोन्वय इत्ययमर्थ:—यन्नामैस्यान्तर्निविष्टशब्दानां योगलभ्यस्यैव यादृशार्थस्यान्वयबोधं प्रतिहेतुस्तन्नाम तादृशार्थे यौगिकम्। तञ्च त्रिविधम्। समासस्तद्धितान्तं क्रदन्तञ्चेति। वैशेषिक इति कणादमुनिमते इत्यर्थ: ; मीमांसका: एकं रूपं द्वे रूपे त्रीणि रूपाणीति प्रयोगात्, संख्या अतिरिक्त: पदार्थ इति मन्यन्ते ; वैशेषिकास्तु एकं रूपमित्यादि व्यवहारविषयैकत्वादिकन्तु बुद्धि विशेषरूपमेवेत्याहु: ॥२।३॥

कविरूढ्च्युता: शुभ्रवपु: षट्कं धरादय:।
क्रिया: करोति प्रमुखास्तत: शब्दाहरादय: ॥४॥

कवीति। कविभि: प्रयुक्ता इत्यर्थ:। क्रियेति प्रमुखशब्दादन्या अपि हरत्यादयो ग्राह्या: ॥४॥

सम्बन्धमाह—

स्वाम्योभुवो नेढपतिभुक्पालमत्वर्तकादिभि:।
सम्बन्धे स्वामिनो नाम कविरूढ़ा निगद्यते ॥५॥

उदाहरणान्याह—

भू-नेता भू-पतिर्भू-भुक् भू-पालो भू-धरोंऽशुमान्।
कविरूढैर भवत्येवं भूमानं शुभुगित्यपि ॥६॥

जन्याद्, विधातृकरसू: क्रत्
कर्त्तृ स्रष्टृसृग्जनकमुख्या:।
जनकाद्, योनिजजनि भू
संभव रुहभूति सूत्याद्या: ॥७॥

तद्यथा।—विश्वविधाता० विश्वकर:० विश्वसू:० विश्वक्रत्० विश्वकर्त्ता० विश्वस्रष्टा० विश्वसृक्० विश्वजनक:० आत्मयोनि:० आत्मज:० आत्मजनि:० आत्मभू:० आत्मसम्भव:० आत्मरुह:० आत्मभूति:० आत्मसूति:० आदिशब्दाद् वात्स्यायनादय:।

धार्य्यात्प्राणस्त्रमौल्यंक ध्वजभन्मखण्डनसमा:।
धवभर्त्तृमालिमत्वर्थशाङ्गिशेखरसदृक्षास्तु ॥८॥

भूतेनेति। जन्यादिति। तद्यथेत्यादि। सुगमम्॥ धार्य्यादिति। वस्तुन अग्रे पाणिप्रभृतयो योज्या: ॥६।७।८॥

मत्वर्थे तुल्येऽपि कविरूढ्यभावान्न प्रयोज्या इत्याह—

यथा शूली तथा सर्पी न शशी हरिणी तथा।
यथेन्दुमौलिर्न तथा गङ्गामौलिस्तु वाचक: ॥६॥

भोज्यादन्धपायि लिड्भुक् व्रतपानाशनादय:।
भोज्यभोजकसम्बन्धाद् यथा सुरमृतान्धस: ॥१०

हरिणीति। चन्द्रेन प्रयोज्य:। यद्यपि "हरिणी यस्य गर्भस्य तस्य गर्भस्य यो रिपु:। रिपुगर्भस्य या कन्या सा कन्या वरदा भव" इत्यत्र चन्द्रेऽपि हरिणीशब्द: विदग्धमुखमण्डनकारेण प्रयुक्त:, तथापि हरिणार्थकमृगशब्दान्मत्वर्थे इति क्रते मृगीति चन्द्रे प्रयोगोऽप्रयोज्य: ॥६।१०॥

पत्यु:। कान्तादयिता वधू:
प्रणयिनी प्रियाङ्गना तुल्या:।

पत्युरिति। पतिशब्दात्परं कान्तादिपदानि देयानि, यथा—हरवधू विष्णुप्रियेत्यादि॥

पत्न्या: प्रणयि धवाद्या:
पति पत्नी भावसंबन्धात् ॥११॥

पत्न्या इति। यथा—माधव उमापतीत्यादय: ॥ ११ ॥

सख्यु:। सखिप्रभृतयो वाह्याद्यानाशनप्राया:।
ज्ञाते:। स्वसृतनयात्मजाग्रजावरजसंबधात् ॥१२॥

आश्रयत:। सदनाद्या सद्मासिशय प्रकाराश्च।
वध्याद्। विट् जित्वर घाति द्वेषि भुक् ध्वंसि शासन विपद्या:। अप्यन्तकारि सूदन दर्पच्छिद् दमन दारिमथनाद्या: ॥१३॥

सम्बन्धो हि विवक्षात
इति पदादेकतोऽपि संयोज्या:।
औचित्याद् विबुधै: प्राक्
कथिता: सम्बन्धि शब्दास्त ॥१४॥

वृषस्य सति वाह्यत्वे शङ्करो वृषवाहनः।
धार्य्यत्वे तु वृषाङ्कोऽयं स्वत्वे वृषपतिस्तु सः ॥१५॥
व्यक्ति चिह्नाङ्कितो जातिशब्दोऽपि व्यक्तिवाचकः।
यथागस्त्य निवासा दिक् दक्षिणाशा प्रकीर्त्तिता ॥१६॥
शब्दौ त्रिपञ्चसप्तादि वाचकौ विषमायुजौ।
योजयेत् त्रिनेत्रपञ्चशरसप्तच्छदादिषु ॥१७॥
इतरान्तो नञ्पूर्वो गुणशब्दो विरोधिनं वक्ति।
यथासिते तरोऽप्यसित एव प्रतिपद्यते कृष्णः ॥१८॥

सख्यु रित्यादि सुगमम् ॥१८॥

जलदादिषु पूर्व्वपदेषु सरोजमुख्येषु चोत्तरपदेषु सुरपतिसमेषु चोभयपदेषु पर्य्यायपरिवृत्तिः। इति परिवृत्तिसहाये ते यौगिकाः शब्दाः परिवृत्य सहाये ते मिश्रा गीर्वाणतुल्यास्तु ॥१९॥

जलदेति। पर्य्यायसहवृत्तिसहत्वं यौगिकत्वम्, पर्य्यायपरिवृत्त्यसहत्वं मिश्रत्वमिति भावः। जगदीशस्तु "स्वान्तर्निविष्टशब्दार्थस्वार्थयोर्बोधकृन्मिथः। योगरूढं न यत्रैकं विनान्यस्यास्ति शाब्दधीः" इत्याह ॥१९॥

इति कविकल्पलतायाम् स्तवनाम द्वितीयस्तवके मिश्राख्यं पञ्चमं कुसुमम्।

समाप्तो द्वितीयः स्तवकः।

अथ कथाख्य तृतीयः स्तवकमारभमाणः प्रतिजानीते। तत्रात्र स्तवके षट् कुसुमानि वक्तव्यानीति पूर्वं प्रतिज्ञातं, तानेव नाम्ना परिगणयति।

अथ राजेचणं गङ्गास्तुतिर्भगवदीरणम्।
विप्रालापसड़ागादि वर्णनं वादितर्जनम् ॥१॥
इति यत्र निगद्यन्ते क्रमेण कुसुमानि षट्।
तं वदामि कथाकल्पं सुधाकल्पं समासतः ॥२॥

तदत्र राजेचण-परिपाटीमाह—

अर्थि प्रत्यर्थिनो यत्र विमतिः सा कथा द्विधा।
वीतरागकथा चान्या विजिगीषु कथा यथा ॥३॥
वादी च प्रतिवादी च प्रश्निकोऽथ सभा-पतिः।
चत्वार्य्यङ्गानि तुल्यानि कथायाः संप्रचक्ष्यते ॥४॥
अनिन्द्यः सर्वविद्यासु सर्वालङ्कारपारगः।
सविता कविता पद्मकानने तर्ककर्कशः ॥५॥
भरते भारतेऽभिज्ञः प्राज्ञो मन्वादिनाऽथवा।
सुवेशः पुरुषो गच्छेत् सभ्यान् सम्भावयन् सभाम् ॥६॥

अर्थीत्यादि अर्थिप्रत्यर्थिनौ वादिप्रतिवादिनौ। विमतिर्विरुद्धमतकथनम्। यथा—शब्दो नित्यः, कृतकत्वात्, घटवत्—इति केनचित् प्रयुक्तम्; अन्येन तु शब्दोऽनित्यः, अचाक्षुषत्वात्, आकाशवत्—इत्युक्तम्। भरते नाट्यवेदे। भारते इतिहासादौ। ३—६ ॥

सभां गत्वा किंकर्त्तव्यं तदाह—

अथ प्रथमतस्तत्र धरित्रीरमणं प्रति।
विद्वद्वृन्द प्रमोदार्थमाशीराशीनुदीरयेत् ॥७॥

तदेव विस्तारयति—

स्वस्त्यस्तु विस्तारियशः प्रशस्तिभ्राजिष्णुदोष्णे भवतेऽवतेच्छाम्। विपक्षलक्षपक्षतीक्ष्णकौक्षेय कायात्ततरक्षणाय। अनल्पकल्याण भवनं भव प्राज्यं साम्राज्यमासाद्य। चतुःसमुद्रमुद्रावच्छेदिनीं मेदिनीं परिपालय। प्रतापतापितारिवर्गो भर्गो यशो भूयाः। विनायकोऽवनायका विदस्य भवतुः भवतः ॥ शारदाशारदाभ्रशुभ्रा विभ्राजतामकुण्ठे भवत्कण्ठे। सूर्य्यः सूर्य्यार्चितः प्रचितोपचय मचिर मारचयतु त्वाम् ॥ अमन्दानन्दवृन्दाय मन्दाकिनी सम्पद्यताम्। भृङ्गीश भृङ्गार शृङ्गार कारिवारि भासुरा सुरापगात्र गात्रमतिमात्र मत्रभवतः पवित्रयतु ॥ सर्वतः पर्वतसुतापतिः पातु ॥ गङ्गाशृङ्गारिशिराः शिवः शिवं दिशतु देवाय ॥ सर्वमङ्गला सर्वमङ्गलाप्रदं त्वां करोतु ॥ प्रभविष्णुर्विष्णुः पुष्णातु जिष्णुतां तव ॥ स दामोदरः सदा मोदरतस्त्वयि भवतु ॥ त्वयि करोतु करुणामरुणाम्बुज ध्वजः ॥ मुकुन्दः कुन्द-

सुन्दरं यशस्तव स्तवकिनां वरं विरचयतु॥ जायतां निजायतांघ्रि भव भुवनभुवनं भूषयान् भगवान् भवदभ्युदयाय॥ जीव राजीव भूरिव भूरिवत्सरशतानि॥ चिरं विरिञ्चिरिव वञ्चितकालः कलय पुष्कलमायुः॥ अरविन्दनन्दनोऽसुदं समुदञ्चयतु॥ निराविलमिलावलय मामलय माहिमालय मापालय॥ जय प्रवलरिपुकुलप्रलयकालाग्निरुद्र! अनघगुणमणिगणसमुदयसमुद्र! द्रविणगणागणेय वितरणतृणीकृतगीर्वाणद्रुम! भरत भगीरथसुरथदशरथरघुनहुषसदृश! विनय विनमद्रवनिधर निग्रह सुवहचरण! चारुचामीकरसुन्दरमुखारविन्द! सहृदयहृदयचीरोदमोदमानगोविन्द! रुद्राणीरमणाचरणपरिचरणचारण! समस्तसामन्तसीमन्तिनी सीमन्तसिन्दूरपूरदूरोत्सारणकारण! निःकृपकृपाणधारावलम्बहृष्टमेदिनीपतिसुरुडमण्डलीमण्डितचण्डीशमूर्त्तिमहीमण्डल! बलवदखिलरिपुदलनलीलाखण्डल! अतुलतुलापुरुषप्रमुखप्रतन्यमानमहादानसन्तानसन्तोषितसर्व्वभूसुपर्वाखर्वप्रणीताशीर्वादप्रणादप्रमोदमानमानस! यशो राजहंसोल्लासलीलानिवासमानस! संरम्भोत्तम्भितासिदम्भोलिलीलादलितारिदन्तावलावलीमुक्तमुक्तावलीफलोज्ज्वल! राज्यलक्ष्मीरक्षणविचक्षणदक्षिणदोर्द्दण्ड! डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डराखण्डयशः श्रीखण्डमण्डितजगदण्ड! विलसदवनीतलावनीयकदारिद्र्यविद्राविद्रविणधाराधराधर! तर्जितोर्जितधनुर्धर! अङ्गवङ्गकलिङ्गभूलिङ्गतैलङ्गमगधमलयमालवमरुमुरलाभीरसौवीरकीरकाश्मीरहरिकोलकेरलकोशलान्तर्वेदिमहाराष्ट्रसुराष्ट्रलाटभोटवराटकरहाटकर्णाटगौडचौडद्रविडानन्तानन्त्यत्कीर्त्तिनर्त्तकीनिरूपणनिपुणगीर्वाणगणस्तूयमानदोस्तम्भ! सकलसफलसमारम्भ! चातुर्य्यमाधुर्य्यधैर्य्यस्थैर्य्यशौर्य्यसौन्दर्य्यसौकुमार्य्यमर्य्यादादयानयाचारदाक्षिण्यदक्षताक्षामक्षितिप गुणग्रामाभिराम! अनवरतकृतसुकृतशतानुकृतराम! अमन्दमन्दरान्दोलदोलायमानोद्दामदुग्धाब्धिप्रसूतकमलाविलासभवनभवनगरनाथ! मधुमथनचरणस्मरणपरिणमत्पुण्यजन्यानन्यसामान्यवैभवाधिवास! सविकाशकाशहरहासव्यासोपन्याससङ्काशवाग्विलासनिवासकालिदास! धवलधामाधिरूढसमूढशृङ्गारप्रौढमोद! प्रमदामदालसविलसन्नयनराजीराजीववनजीवन! त्रिभुवनजनमनोमनोहरमधुकरसङ्केतकेतकीवन! जय सकलजनशरण! जय कमलसमचरण! जय धरणिभयहरण! जय मदनमदभञ्जन!

देव! नयनाभिरामराममिव लोचनगोचरीकृत्य कृतकृत्याः प्रशान्तखरदूषणोपप्लवादण्डकावनमुनय इव समजनिष्महि। अयं हि सम्प्रति सहस्रो देवस्य साक्षात्कारः। संसारमरुसञ्चारसमुद्भूतप्रभूतखेदानां तापत्रयातपतप्तानामस्माकमकस्मादजनि सुधाकादम्बिनीकदम्बसम्बन्धः। अनेन नवसुधाशीकरपरिष्यन्दिना कालजलदेन निर्वापयता सर्वतस्तापतप्तं शरीरमान्तराणि करणानि च किं किमस्माभ्यं नोपकृतम्। कानि कानि सौख्यानि नोपनीतानि। काः काः सम्पदो न सम्पादिताः। केषां केषां कल्याणानां न भाजनीभूताः। किमनल्पजल्पकल्पनयाऽनया। निःशेषमहोदयोदयानामतिभूमिमध्यास्महे। देव! दयाप्रार्थकसार्थकं प्रतिनिधि-प्रतिनिधिः। देवदेवेन्द्ररुद्रोपेन्द्रद्रुहिणमुद्राधरं सत्याश्रयं नासत्याः श्रयन्ते। देवेन पवित्रचरित्रमित्राणि पुरः पुरस्कृतानि न तिरस्कृतानि। देवाय सेवायत यत्नवाक्यदुःखीकृतं सामन्तसहस्रमजस्रं स्पृहयति। देवाद्देवाधिप दिवस्ताः समस्ता अवनिभृतोऽनिभृतोऽनिभृतोपक्रममपाक्रामन्। देवस्य निर्दोषः कोषः पोषयति मनोषि मनीषितम्। देवे च प्रसादसम्मुखे सम्मुखी शेमुषी। अपि च। देवस्य महीमहेन्द्रस्यापि सुरसार्थपतेरभ्रान्तस्थितेर्बहुनयनलाभस्य सहजन्यायालोचनमनोहारिणः करसम्भृतशतकोटेरुन्नतभुजः सन्तानमालभारिणः कनकाचलरुचेरुच्चामरराजिविराजितस्य स्वयंभूमहिमतस्थितेः, काञ्चनशोभां दधानाः सुधर्मा सभा सभासदः सुमनसः काव्यं मनोज्ञं चरितं सखाप्रवरः प्रणयिनः सुखलीनाः गन्धर्वाः गुरुर्गुरुर्महनर्त्तितरं भासं भावितं सदानन्दनमुद्यानम्। अहो!

वैचित्र्यमत्र जनपदाः सदानयज्ञा अनीतयः। उपचितबङ्कब्रीह्योऽविग्रहाः समङ्गाधन्वानो बङ्ग-धान्योदपोल्लासिनः बङ्गखलाः सज्जनालङ्कृताः लब्ध संनिधाना वैदूर्य्यभाजः नितान्तप्रणता उन्नताभृतः कुलीनाः सदानभोगाः मंत्रिणः सदाचाराः। मातङ्गाः सुहृणोयदानाः भुजगवलया इव्रमख-पुषाः। भूमिभृतो रजोरहिताः सुकेशाः निष्क्लेशाः परिजनः कलानिधि र्न दोषाकरः दानं समानस मानम्॥ किञ्च। किञ्चन वचनमुच्यमानमधुना मधुनामानम्। मधुनाशनावतारः क्षणमवतारयतु मनसि धारयतु च। तथाचामी। चामीकराचल वद्चलाः कलापमण्डिताः पण्डिताः खण्डिताखिल विपक्षपक्षाः चाम्यन्तु नाम मामकं चापलं विचारयन्तु च मया निरूप्यमानमुचितमनुचितं वा। यदेते सदसद्विचारचातुरीचतुरा चतुराननाइव शिवप्रसादाप्रसादैतमहितमहिमानो मानोन्नताः मतान्तेवासिवासनोचितव्याख्याः संख्यावद्गणनायां पाणिनीया इव गणनीयाः सकलदिक् कलग्रस्तनीस्तनकपोलस्थलमलयज मण्डनायमान यशप्रसाराः। दुर्व्यपोह मोहमहान्धकार प्राग्भारसंहारभास्कराः। कलिकलुष कालकूटकवल नकलाकलित नीलकण्ठावताराः। अमन्दमन्दरगिरि परिक्षुभित क्षीराब्धिमध्योल्लसत्कल्लोलविमल स्फूर्त्तिमुक्ताफलकलापालङ्कृतकण्ठमालाः। अनेककलाविलासोपहसितमितकलसकलानिधयः। निरवद्यविद्यानद्याश्रयाः पयोराशयः। संसारसार सारस्वतः प्रकाशभासमाना समाना समायवाग् ब्रह्माण ब्राह्मणाश्चतुरुदधिमेखला खेलदुच्छृङ्खल कीर्त्तिनर्त्तकिकाः सकलकलाविलासभाजनभाजन इह भाजन्ते॥मू०॥

स्वस्तीत्यादि। क्ष्माम् पृथ्वीम् अवते रक्षते भवते स्वस्ति मङ्गलविशेषोऽस्तु, तथा च स्मृतिः—"यत् सुखं त्रिषु लोकेषु व्याधिव्यसनवर्जितम्। यस्मिन् सर्वे स्थिताः कामाः तत् स्वस्तीत्यभिधीयते" इति। कौक्षेयक इति "कौक्षेयको मण्डलाग्र इत्यमरः। प्रभा प्रतापितः इति त्वम् भूया इति योजना। विनेति भवतो भवत्वित्यर्थः। अन्यानि सुगमानि।

इति कविकल्पलतायाम् कथाख्य तृतीयस्तवके राजेन्द्रर्णं नाम प्रथमं कुसुमम्।

—○—

(१) देवस्योपासनावासनाशंसनाकृष्टाः सत्वरा गत्वरा अपि वयं प्रलम्बविलंबभाजो यद्भूमभूम-हेन्द्र तत्र हेतुमाकर्णयतु। (२) अत्रामद्राक्षा-मण्डपमण्डितस्य, पचेलिमफलास्वादमोदमान-जानपदस्य विकसदमलकुसुमसमूह सौरभ्यलुब्ध-द्विलिकलकलितललितक्रीडस्य, आक्रीडस्य (३) मध्ये (४) चलद्दलतमालतलशिलातलकलितनिष्कम्पपद्मासनं, विकस्वरनिश्वासनिस्खलनासायजाग्रं नेत्रत्रिभागं निष्यन्दमानसम्पदोदबिन्दु पानपीन-चकोरचयरचित परिचयं, कषायसिचयन्, रागादिदारिद्र्यानासिचयं, निखिलोपनिषन्निषण्णमानसं परमहंस (५) संसदवतंसं दुरतिक्रमदुरिताक्रम-

(१) अथात्र द्वितीये कुसुमे गङ्गास्तुतिं कथयिष्यन् भूमिका मवतारयन्नाह। तथाहि—केचित् परिचारकाः विलम्बेनागतास्तान् प्रति भूते, यूयं कथमेतावता विलम्बेनागताः? तच्छ्रुत्वा परिचारका आहुः—देवस्येति। उपासनेति परिचर्य्याभिलाषप्रार्थनाकृष्टा इत्यर्थः। प्रलम्बोऽतिदीर्घः। वयं भूमेति योजना।

(२) विलम्बहेतुं बोधयितुं प्रथमं तावत् परमहंसं वर्णयति —अत्रामेत्यादि भावमात्रमित्यन्तम्। तदेतद् वक्तव्यमत्र—हे राजन्! कस्मिंश्चिदुद्याने कश्चित् परमहंसोऽस्माभिर्दृष्टः, तेन गङ्गास्तुतिः कृता, तच्छ्रवणेन विलम्बो जात इति।

(३) आक्रीडस्य उद्यानस्य मध्ये वयं परमहंसमद्राक्ष्मेति योजना।

(४) कीदृशस्याक्रीडस्येत्याह—चलद्दलेत्यादि।

(५) परमहंसश्चतुर्थाश्रमी भिक्षुः, परमउत्कृष्टो हंसः सारासारविवेकचतुरः एकदण्डीति यावत्। तदुक्तम्। "परः परमहंसस्तु तुर्याख्यः श्रुतिशासनात्। शान्तो दान्तः सर्वसमः प्रणवाभ्यासतत्परः। श्रवणादिरतः शुद्धो निदिध्यासनतत्परः।

व्याधिवाध्यमानजगदगदंकारं, (६) निर्विकारं, संश्लिष्टसष्टसिद्धिभिरपात्रममन्त्राणाम् (७)। अमत्रं (८) मन्त्राणां, मित्रं मैत्र्याः, शरणं करुणायाः मन्दिरं मुदः, सपत्नमुपेक्षायाः, क्षेत्रं क्षमायाः, कोषं सन्तोषस्य, शीलं शीलस्य, सत्यालं शुद्धचित्ततायाः, सौधं बुद्धेः, आधारं धीरतायाः, गुरुं गुरुतायाः, प्रासादं प्रसादस्य, निदानं चिदानन्दसम्पदाम्, आश्रयं श्रेयसः, तपसोऽप्युपासनीयम्, परमस्य शमस्यापि सम्यगनुपगम्यम्, योग्यस्याप्यनुयोगयोग्यम्, अज्ञयापि अज्ञेयम्, अस्पृष्टं दुष्टतया, अनवगूढं मूढतया, निरस्तं नास्तिकतया, जितं कुञ्चिततया, दूरीकृतं दुरितैः, अगृहीतं प्रतिग्रहेण, अवज्ञातमज्ञानेन, अनङ्गीकृतमनङ्गेन, क्षिप्तं हृप्तया, उत्सारितं मात्सर्य्येण, अनिषेवितं विषयैः, अलब्धं लुब्धतया, वर्जितमनार्जवेन, अशीलितं दुःशीलतया, निर्वासितं दुर्वासनया, अकलितं कलिना, मह्लिला (९) मह्लिलालमिव परिहरन्तम्,— महामन्त्रिणं (१०) पावनाभ्यास (११) समुद्घटितसन्धिविग्रहम्; (१२) कामनया वर्जितमपि न कामनया वर्जितम्, निष्कोपचयमपि (१३) निष्कोपचयं, स्फुटमट्टहसमप्यस्फुटहसं (१४) न तापकारिणमप्यनतापकारिणं, (१५) गिरावनप्रियमपि गिरावनप्रियम्, (१६) पुरुषं परमपुरुषम्, (१७) अट्टाक्षलक्ष्मभिरभिमतैरसमानं, भासमानम्। (१८) अथाभ्युत्थानवेलालीलायितानन्तरं बद्धाञ्जलिर्निरवद्यगद्यपद्यमयी मयमुदाजहार भारतीम्।

(१९) यथा—

जह्नुजे! मम शशिप्रभासिते! प्रभासितेशमुकुटे सदानवे! दानवेन्द्ररिपुपादनिर्गते! निर्गते भव (२०) भवाब्धिपारदा। पारदावदातवीचिनिचयक्षालिता स्तोकलोकमले (२१)! कमलेशयकमण्डलुमण्डलमण्डनायमानपानीयधारावधूतनवसुधे! वसुधेश्वरभगीरथपथप्रवर्त्तमानजलकल्लोलमिलड्डिण्डीरपिण्डविडम्बितहरमनोरमतमहासे! महासेनजननीजननिकरनरकहारिवारिपूरपूरितत्रिभुवनभवने! भवनेत्रामलकीलकवलितबाले-

---

अक्षभावेन संपूर्य्य ब्रह्माण्डमखिलं स्थितः। आत्मस्थश्चात्मरतिः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तत्त्वं पदस्य बोधाच्च विष्णुरूपः स्वयं सदा॥" इति।

(६) जगदगदङ्कारं जगतामेकवैद्यमित्यर्थः।

(७) अमन्त्राणाम् कुबुद्धीनाम् अपात्रम् अनाधारम्।

(८) अमत्रं पात्रम्।

(९) मह्लिलेति। मह्लिला स्त्री। अह्लिलालं सर्पविषम्।

(१०) महामन्त्रिणमिति महामन्त्रः प्रणवः।

(११) पावनाभ्यासेति पावनाभ्यासो वायुनिरोधः तेन समुद्घटितौ सन्धिविग्रहौ जीवात्मपरमात्मैकीभावविविधध्याने यस्य।

(१२) इदानीं विरोधाभासेनाह— कामनयेत्यादि। कामनया इच्छया, कामनये कामशास्त्रे अवर्जितः आसक्तः।

(१३) निष्कोप इति। निर्गतः कोपचयो यस्य; द्वितीये निष्काणां सुवर्णानां धनानामिति यावत्, उपचयः सञ्चयो यस्य।

(१४) स्फुटेति स्फुटं स्पष्टम् अस्फुटमप्रकाशम् अमर्षसद्भावसक्तं अट्टहासरहितम्।

(१५) अनतानामुद्धतानामपकारिणम् निग्रहीतारम्। अतएवोक्तम्। "निग्रहानुग्रहशक्तो गुरुरित्यभिधीयते" इति।

(१६) गिरा वाण्या, द्वितीये गिरौ पर्व्वते; वनप्रियः कोकिलः, न अप्रियं प्रेमास्पदमित्यर्थः।

(१७) पुरुषं पुमांसम्, परमपुरुषः परमात्मा ध्येयो यस्य तम्। परुषमपरुषमिति पाठे तु परुषं क्लिष्टम्, तथाच परमात्मचिन्तायां क्लिष्टत्वमाह भगवद्गीतायाम्—"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते" इति; अपरुषम् अकठोरम् शान्तमूर्त्तिमित्यर्थः। अथवा अपगतारुषाः क्रोधा यस्य तम्।

(१८) ततः किमित्याह—अथेति।

(१९) गङ्गास्तुतिमाह—यथेत्यादि—देवेश्वरोऽपीत्यन्तम्।

(२०) निर्गतेः गतिरहितस्य।

(२१) पारदावदातेति, पारदवदवदातः शुक्लः वीचिनिचयस्तरङ्गसमूहः तेन क्षालितम् अस्तोकम् अनल्पम् लोकमलं यया।

न्दप्रालनोचितपयःप्रदानकुशले ! कुशलेखांकित-समीपावने ! पावनेन्दिरामन्दिरारविन्दसुन्दर-मेदुरापे ! दुरापेश्वरशिरःसञ्चारसंजातपरम-गौरवे ! गौरवेशविशेषप्रभावनिन्दितशारदजलदे ! जलदेवतावगाहक्षुभितसितच्छदनिवहभासमाने ! समानेकप्रदेशसंचारिहरिणप्रारब्धकेलिसङ्करे ! सङ्करेचितनटनिषण्णमुनिजनाकर्ण्यमानमनोरमाव-रे ! मारवेदनानभिज्ञवैखानसावचितसारसवने ! सवनेज्यमानादिपुरुषवक्षःस्थलस्थायिकौस्तुभप्रभास-मूहसिते (२२) ! हसितेश्वरशिरोवर्त्तिशीत-द्युतिकेतकीकलिके (२३) ! कलिकेलिभवनभवनगर दाहोद्धुरधर्मानलप्रभवारणे (२४)! वारणेन्द्रावगाह्य मानघनरसे ! नरर्षिसुधीसमुदयागोचरहरमौलि-मालतीमालाभ्रमकरे ! मकरेश्वरपृष्ठाधिष्ठितचरण किसलये (२५) ! सलयेन्द्रादिवृन्दारकवृन्दविधी-यमानयज्ञे (२६) ! नयज्ञेश्वरभार्गवांगिरसवाङ् मनसागोचरप्रभावे ! प्रभावेश्मास्ततरश्मिमण्डला श्रावनसुरसे (२७) ! सुरसेव्यमानैकतसन्निधाने ! निधानेश्वरशैलशिरोविहितरङ्गे ! तरङ्गेरितनीर-जोदरकुञ्जगुञ्जद्भ्रमरे ! भ्रमरेणुहरणप्रवी-णाभ्रःसम्भारसंभासिते ! भासितेश्वरप्रलम्बजटा-कलापे ! कलापेशलखर्वीविशिलासिनीजनघन-जघनावरुद्धमुग्धप्रवाहाक्रष्टत्रिविष्टपविटपि प्रसून-धवलिते ! वलितेजोहारिहरिवामपादप्रहारभिदु रब्रह्माण्डमण्डपमध्यराजतैकश्लाघ्यमानमहाप्र-वाहशोभितजगदोचिते ! दीचितेशिलालोकप्रदान पटुतटनिविष्टसंतुष्टनैष्ठिकगोष्ठीस्तवाविभूतवासवे ! वासवेतसनिकुञ्जनिषण्णकिन्नरमिथुनोपयोगीयमा-ने (२८) ! यमानेकसदविनाशनोद्धुरतरवारिधारा-धारे ! राधारेवतीपतिसमाराधितकलिन्दकन्या-परिरम्भणावाप्तहरिहरकायशोभे ! यशोभेशप्र-काशनाशितदुरितान्धकारविसरे ! विसरेखाप्रमा-णहरशिरश्चन्द्रचुम्बनचटुलचक्रवाकचक्रवालवाचाल-जलव्यतिकरोद्धृतद्रुतसगरपार्थिवकुले ! वकुलेन्द्र-द्रुमादि (२९) द्रुमच्छायानिषण्णकुरङ्गकुलकवलो क्रियमाणतीरकलसे ! कलसेखलानिनादानुवादि-राजहंसरसितोल्लासितविपुलपुलिनजघनके ! घन-केतकीवनपवनान्दोलितनीलोत्पलकुन्तले ! कुन्त-लेलिहानमीषणसमरार्णवसन्तरणप्रवीणदेवव्रत-निपीतकुचकलशोकलसेलालवञ्जरीग्रासलालसति-मिनिकरविराजमानप्रवाहभूषितमदनदहनमस्ते ! नमस्ते सहोर्मीजिताहीनभोगे ! नभोगेयकीर्त्तन-मदविप्रसिद्धे ! प्रसिद्धेऽस्तु गङ्गे ! मुदन्तोऽम्बधारा-बुधाराधिते ! दत्तसन्तानभोगे ! न भोगेखलाशो-विधात्रानिःशङ्करीशःस्तवं व्याततान ! ताताना न्त-कीर्त्तिः कलाभाजानानां जनानां शिरोदामदे-वेश्वरोऽपि ॥—इत्यभिधाय विरराम ।

इति सटीक कविकल्पलतायाम्
कथाख्यतृतीयस्तवके गङ्गास्तुति
नाम तृतीयं कुसुमम् ।

(२२) सवनेज्येति, सवनं त्रिसवनस्नानम् ।

(२३) हसिता विकसिता ।

(२४) कलिकेलीति, कलेस्तूर्य्ययुगस्य केलिभवनं यो भवः संसारः स एव नगरं तस्य दाहे उद्धुरः उत्कटो योधर्मरूपो-ऽनलस्तस्यारणि रिवारणिः काष्ठम् ।

(२५) मकरेति, मकरो जलजन्तुविशेषः तस्य ईशः श्रेष्ठः । मकरो गङ्गावाहनं सितमकरनिषण्णामिति ध्यानात् ।

(२६) सलयेति, लयोवाद्यं तेन सह वर्त्तमानः । लयः संश्लेषवाद्ययोरिति त्रिकाण्डशेषः ।

(२७) प्रभेति, प्रभारश्मिस्तस्या वेश्मनि केतनम् अस्तत-रश्मिश्चन्द्रः ।

(२८) वासवेतसेति, वासवा निर्मितो वेतसनिकुञ्जो मध्य-पदलोपी कर्मधारयः ।

(२९) इन्द्रद्रुमोऽर्जुनवृक्षः "इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः" इत्यमरः ।

अथ यत्र क्वचन मन्त्रे क्रियाऽध्याहर्त्तव्या भवेत्, तत्र किं सा बुद्धिस्था कल्पनीया उत वैदिक्येवानुषज्या ? इति विचारयन्नाह—

(सू०) अनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्।२।१।४४॥

(वि०) यत्र वाक्यसमाप्तिरावश्यकं, तत्र नहि बुद्धिस्था कल्पनीया, अपि तु अनुषङ्गः कर्त्तव्यः ; सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्, अनुषञ्जनीयस्य पदस्य पूर्वत्र उत्तरत्र च सर्वत्रैव तुल्ययोगित्वम्, अन्वययोग्यता समं विद्यते यतः। तथाच 'याते अग्ने ऽयाशया तनूर्वर्षिष्टा'—इति मन्त्रे श्रुतं तनूर्वर्षिष्टेति उत्तरत्र 'याते अग्ने रजाशया' 'याते अग्ने हराशया' इत्येतयोरप्यनुषज्य आकांक्षा परिपूर्य्या भवेत्। सर्वेषु तुल्ययोगित्वादित्युक्तेः, यत्र पुनरुभयोः परस्परमाकांक्षा नास्ति, वाक्यशेषमात्रस्यापेक्षा विद्यते, तत्रापि सर्वत्र अन्वययोग्यतायाः साम्यादेकैव क्रिया अन्वेया, नतु क्रियान्तरमध्याहार्य्या। तथाहि 'चित्पतिस्त्वा पुनातु'—इत्यादौ श्रुतस्य पुनातु शब्दस्य आकाङ्क्षा शून्यत्वेऽपि, 'अच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभिः' इत्यग्रिमस्याकाङ्क्षासत्वेन, पुनातु क्रियाया अन्वययोग्यतायाः सर्वत्र समत्वात्, तत्रानुषङ्गः कर्त्तव्यः ; न हि बुद्धिस्था काचित् क्रिया वलम्ब्या। यथाच अच्छिद्रेणेति करणं सान्वितम्। २।१।४४।

अत्रहि परस्पराकांक्षितेनुषङ्गः, एकेनाकाङ्क्षितेप्यनुषङ्गः ;—इति विषयभेदादधिकरणद्वयं सम्पद्यते। तदेते षोडशसप्तदशाधिकरणे स्फुटयति।

तत्र प्रथमम्—

(अ०) याते अग्ने रजेत्यध्याहारो यद्वानुषञ्जनम्। तनूरित्यन्यशेषत्वादध्याहारोत्र लौकिकः। वेदाकांक्षा पूरणीया वेदेनेत्यनुषञ्जनम्। अन्यशेषोऽपि बुद्धिस्थो लौकिकस्तु न तादृशः।२।१।१६।

(टी०) ज्योतिष्टोमे उपसद्धोमेष्वेवमाम्नायते—'याते अग्ने अयाशया तनूर्वर्षिष्टा गह्वरेष्ठोग्रं वचो अपावधी त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा, 'याते अग्ने रजाशया, याते अग्ने हराशया' इति। अयमर्थः—अयसा रजतेन हिरण्मयेन च निर्मिता अग्नेस्तिस्रस्तनवस्तासु अयाशया येयमुक्ता तनूः सा अतिशयेन वृद्धा गह्वरे तीक्ष्णे द्रव्ये लोहेऽवस्थिता, तया तन्वा क्षुत्पिपासे उपपातकं, वीरहत्यादिमहापातकं च हतवान् असीति। तथाच ब्राह्मणम्। उग्रं वचो अपावधीत्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहेत्यशनापिपासे ह वा उग्रं वचः एनश्चवीरहत्या च त्वेषं वचः' इति। तत्र स्वाहान्तः प्रथमो मन्त्रः सम्पूर्णवाक्यत्वान्निराकाङ्क्षः, द्वितीयतृतीययोराकांक्षां पूरयितुमुचितो लौकिकोवाक्यशेषोऽध्याहर्त्तव्यः ; न हि तनूर्वर्षिष्ठेत्यादिभागस्तयोरन्वेतुं योग्यः, तस्य प्रथममन्त्रशेषत्वात्।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—वैदिकयोर्मन्त्रयोराकांक्षा वैदिकेनैव वाक्यशेषेण पूरणीया ; ततस्तनूर्वर्षिष्टेत्यादिभाग उत्तरयोर्मन्त्रयोरनुषज्यते। यद्यप्यसावन्यशेषस्तथापि बुद्धिस्थः सन् कल्पनीयादध्याहारात् सन्निकृष्यते। तस्मात् अनुषङ्गः कर्त्तव्यः।२।१।१६

द्वितीयम्—

(अ०) नानुषङ्गोऽनुषङ्गो वाच्छिद्रेणेत्यस्य शेषिणौ। चित्पतिस्त्वेत्यनाकांक्षौ वतो नाचानुषज्यते। करणत्वं क्रियापेक्षं क्रियाचैकापुनात्विति। मन्त्रत्रयेऽतस्तद्द्वारा सर्वशेषोऽनुषज्यते।२।१।१७।

(टी०) ज्योतिष्टोमे दीक्षाप्रकरणे पठ्यते—'चित्पतिस्त्वापुनातु, वाक्पतिस्त्वापुनातु, देवस्त्वा सविता पुनातु, अच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभिः' इति। तत्र तृतीयमन्त्रशेषोऽच्छिद्रेणेत्यादिभागः प्रथमद्वितीयमन्त्रयो र्नानुषज्यते, कुतः ? निराकाङ्क्षत्वात्। न हि 'चित्पतिस्त्वापुनातु' 'वाक्पतिस्त्वापुनातु' इत्यनयोः शेषिणोः सम्पूर्णवाक्ययोः काचिच्छेषाकाङ्क्षास्ति।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—माभूच्छेषिणोराकांक्षा, तथापि शेषस्याकांक्षास्तीति पवित्रेण रश्मिभि-

रित्युक्तं करणत्वं क्रियामपेक्षते ; क्रिया च पुनास्त्वित्येषा त्रिष्वपि मन्त्रेष्वेका, तया क्रियया सम्बद्धः शेषः। क्रियाद्वारा द्वितीयमन्त्रे निरपेक्षेऽपि यथाऽन्वेति, तथा पूर्वयोरप्यन्वेतुमर्हति। तस्मादस्त्यनुषङ्गः।

इति षोडश, सप्तदशाधिकरणे।

इदानीमनुषङ्गो निषिध्यते—

(सू०) व्यवायान्नानुषज्यते ।२।१।४५।

(वि०) यत्र क्वचिद् व्यवायो व्यवधानं तत्र न अनुषङ्गः। तथाहि—'सं ते वायुर्वातेन गच्छताम्' 'समङ्गानि यजत्रैः' 'सं यज्ञपतिराशिषा' इत्यत्र द्वितीयमन्त्रे अङ्गानीति बहुवचनानुरोधाद् गच्छतामित्यस्यानुषङ्गाभावाद् तृतीयमन्त्रे एक वचनान्तक्रियाध्याहार्य्यत्वेऽपि प्रथममन्त्रगतगच्छतामिति व्यवायान्नानुषज्यते। तथाच मध्यममन्त्रे शेषमन्त्रे च युज्यंतां युज्यतामिति क्रमेण बुद्धिस्थक्रियाध्याहृयते। इत्थञ्च यत्र व्यवधानाभावस्तत्रैव पूर्वसूत्रद्वयानुसारेणानुषङ्गो भवति, व्यवधानेतु लौकिकोवाक्यशेष इति स्थिरम् ॥२।१।४५॥

तदेतदष्टादशाधिकरणमारचयति—

(अ०) गच्छतामिति शब्दस्यानुषङ्गोऽस्ति नवोपरि। सं यज्ञपतिरित्यत्र योग्यत्वात् सोऽस्ति पूर्ववत् ॥ तदेकवचनं मध्य मन्त्रे अङ्गान्यनेन हि। नान्वेति तद्व्यवायेन नोपर्य्यप्यनुषज्यते ।२।१।१८।

(टी०)अग्नीषोमीय पशौ श्रूयते—'सन्ते प्राणो वातेन गच्छताम्' 'समङ्गानि यजत्रैः' 'सं यज्ञपति राशिषा' इति। अयमर्थः। भो पशो! तव प्राणो वातेन वाह्येन वायुना सङ्गच्छताम्, तव हृदयाद्यङ्गानि यागविशेषैः संयुज्यन्ताम्, यज्ञपतिराशिषा संयुज्यताम्, इति। तत्र संयज्ञपतिरित्यस्मिंस्तृतीये मन्त्रे समित्युपसर्गस्य क्रियापदाकांक्षत्वात् प्रथममन्त्रगतस्य गच्छतामितिपदस्यैकवचनान्तस्य यज्ञपतिशब्देनान्वेतुं योग्यत्वात्पूर्ववद्बुद्धिस्थत्वेन सन्निहितत्वादाकांक्षासन्निधियोग्यतासद्भावेनक्रिया पदमनुषज्यते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मध्यममन्त्रे बहुवचनान्ते नाङ्गानीत्यनेनान्वेतुमयोग्यत्वात्तद्व्यवायेन बुद्धिसान्निध्याभावान्नास्त्यनुषङ्गः ; ततो द्वितीयतृतीयमन्त्रयोर्यथोचितं वाक्यशेषोऽध्याहर्त्तव्यः ।२।१।१८।

इति अष्टादशाधिकरणम् ॥

समाप्तोऽसौ सत्यव्रतसामश्रमिरचितविवरणयुत
मीमांसाचार्य्यजैमिनीयसूत्रसहितायाम्
माधवाचार्य्यविरचितसटीकन्याय-
मालायाम् द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः।

इति उपोद्घातपादः।

अथ कर्मभेदो नाम द्वितीयः पादः।

पूर्वस्मिन् पादे यागादि कर्मसिद्ध्यर्थमपूर्वसद्भावादि चिन्तितम्, अत्र हि तस्यैव यागादि कर्मणो भेद उच्यते। तदिह षड्विधः कर्मभेदो वक्ष्यते—शब्दान्तरम्, अभ्यासः, संख्या, गुणः, प्रक्रिया, नामधेयम् ;—इति। तत्रादौ शब्दान्तरे कर्मभेदं प्रतिपादयति—

(सू०) शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ।२।२।१।

(वि०) यजति, जुहोति, ददातीत्येवमादयो बहवः क्रियाशब्दाः श्रूयन्ते, तत्र सर्वत्रैव भावयेत् इति समं प्रतीयते—इति भावनावाचकत्वांशे एकत्वेऽपि, कृतानुबन्धत्वात् यज्यादि धातुरूपानुबन्धभेदात् शब्दान्तरत्वं स्वीकार्य्यमेव तेषाम् ; तथाच कृतानुबन्धत्वाद्धेतोः शब्दान्तरे कर्मभेदः स्वीकरणीयः। अपि च विशेषणभेदाद् विशेष्य भेददर्शनाद् भावनाभेदोऽप्यागतः। इत्थञ्च एकस्मिन् यागे बह्व्यः क्रियाः याश्च संहत्य एकमपूर्वं जनयति सर्वासामेककर्मत्वमिति गतम्। तावत्स्व एव क्रिया अपूर्वोत्पादनक्षमा दानहोमादि विविधकर्मोत्पादिकाः ; विशेषस्तु यागस्य फलवत्वाद् इतरेषां गुणाभाव इति सिद्धान्तः ।२।२।१।

तदेतत् प्रथमाधिकरणमारचयति —

(अ०) ददाति यजतीत्यादौ भावनैक्य

मुतान्यता। आख्यातैक्यात्तदैकत्वं धातुभेदोऽप्रयोजकः॥ धातुभेदेन भिन्नत्वमाख्याते श्रूयते ततः। उत्पत्त्येकानुरक्तत्वाद् भिद्यन्ते भावना मिथः।२।२।१।

(टी०) इहैक प्रकरणगतान्यपर्य्याय धातुनिष्पन्नान्याख्यातानि यजति ददाति जुहोतीत्यादीनि उदाहरणम्। तानि चैवं श्रूयन्ते—'सोमेन यजेत' 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' 'दाक्षिणानि जुहोति' इति। तेषु भावनावाचिनआख्यातस्यैकत्वाद् भावनाया एकत्वं युक्तम्। न च धातुभेदाद् भावनाभेदः, तद्वाचित्वाभावेन धातोस्तस्यामप्रयोजकत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्त्याख्यातमेव भावनायाः प्रयोजकम्, तच्चाख्यातं प्रतिधातुभिन्नम्; न हि बहूनां धातूनामुपरि एकआख्यातप्रत्ययः श्रूयते, नापि व्याकरणे धातुसमूहादेकमाख्यातं विहितम्। तत आख्यातानां बहूनामेकैकधातुविशेषानुरक्तत्वेनोत्पन्नानां भावनावाचित्वे नयागदान होमादि भावनाः परस्परं भिद्यन्ते॥२।२।१॥

अत्र गुरुमतमाह—

(अ०) नियोगैकत्वतः शास्त्रमभिन्नमिति चेन्न तत्। धातुभेदाच्छास्त्रभेदो नियोगो भिद्यते बलात्॥२।२।१।गु०।

(टी०) कर्मभेदचिन्ताऽध्यायार्थः, किन्तु शास्त्रभेदचिन्तेति गुरोर्मतत्। तत्र 'यजेत' 'दद्यात्' 'जुहुयात्'—इत्येतेषु लिङ्प्रत्ययवाच्यस्य नियोगस्यैकत्वाद् धातूनां नियोगवाचकत्वाभावेनाप्रयोजकत्वादेकनियोगार्थं कृत्स्नं शास्त्रमेकमिति पूर्व्वपक्षः।

प्रतिधातु लिङ्प्रत्ययस्य भिन्नत्वाद्धात्वर्थानुबन्धभेदेन तद्विशिष्टे नियोगेऽपि भेदस्य वारयितुमशक्यतया नियोगानुसारेण शास्त्रं भिन्नमिति सिद्धान्तः॥२।२।१॥गु०॥

इति प्रथमाधिकरणम्।

अभ्यासहेतुकं कर्मभेदं प्रतिपादयति। तथाहि—स्यादेतत् कर्मभेदो नाम यत्र यजति ददातीत्यादिशब्दान्तरम्, यत्र तु 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति'—इत्यादौ एकएव यजतिशब्दः तत्र कस्मान्न कर्मैक्यम्? इत्याशङ्कां परिहरन्नाह—

(सू०) एकस्यैव पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्॥२।२।२।

(वि०) 'समिधो यजति' इत्यादौ पञ्चकृत्वः श्रुतौ यजतिशब्दो यदि एकस्यैवापूर्व्वस्य जनकः स्यात् तर्हि अविशेषात् पञ्चवारपाठे विशेषाभावात् पुनः श्रुतिः अभ्यसनम् अनर्थकम् स्यात्; अतोऽत्र यजति पदाभ्यासश्रवणात् कर्म्मभेदः स्वीकरणीयः॥२।२।२॥

तदेतद् द्वितीयाधिकरणं स्फुटयति—

(अ०) समिधो यजतीत्यादावेकत्वमुतभिन्नता। धातुप्रत्यययोरैक्यादेकत्वे भिन्नता कुतः॥ अभ्यासात् कर्मभेदोऽत्र नामत्वान्न विधिर्गुणे। विधित्वं श्रुतितोभाति सन्निधेरनुवादता॥२।२।२।

(टी०) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' 'इडा यजति' 'बर्हिर्यजति' 'स्वाहाकारं यजति' तत्र पञ्चकृत्वः श्रूयमाणे यजति पदे पूर्वोक्तेषु, यजति ददातीत्यादि पदेष्विव धातुभेदो नास्ति, येन भावनाभेद आशङ्क्येत; तस्मादाख्यातैक्यप्रयुक्तम् भावनैक्यमनिवार्य्यम्।

इति चेत्—सैवम्, यजति पदाभ्यासेन कर्मभेदावगमात्। कर्मैकत्वेऽभ्यासो निरर्थकः स्यात्।

अथोच्येत— समिधो यजत्यनेन प्रथमश्रुतेन वाक्येन विहितं समिन्नामकं यागमुपरितनैश्चतुर्भिर्यजति पदैरनूद्य तनूनपादादयो देवतारूपा द्रव्यरूपा वा गुणाश्चत्वारो विकल्पिता विधीयन्ते, ततोऽनुवादार्थत्वान्नाभ्यासवैयर्थ्यम्;—इति। तत्—न, तनूनपादिशब्दानां यागनामत्वेन गुणविधित्वाभावात्। न तावद् देवताविधिः, चतुर्थीतद्धितयोरश्रवणात्। नापि द्रव्यविधिः, तृतीया-

न्तत्वाभावात्। ततोऽग्निहोत्रं जुहोतीत्यादाविव द्वितीयान्तानां युक्तं नामत्वम्।

यत्तु, चतुर्णामुपरितनानां यजति पदानामनुवादकत्वम्, तदसत्; तेषां विधायकत्वात्। यथा समिधो यजतीत्यत्र यजति पदे विधित्वं श्रुत्या प्रतीयते, तथान्येष्वपि चतुर्षु पदेषु विधित्वं श्रौतम्। अनुवादत्वं तु पुरोवादरूपस्य समिधो यजतीत्यस्य सन्निधिनावगम्यते; सन्निधिश्च श्रुतेर्दुर्बलः। विधित्वे च पूर्ववाक्यविहितस्य समिन्नामकस्य यागस्य पुनर्विधानायोगात् तनूनपादि नामकानि यागान्तराणि विधीयन्ते।

नन्वेवं सति, संज्ञाभेदात् कर्मभेदः सम्पद्यते, नत्वभ्यासात्। तथा सति वक्ष्यमाणाधिकरणेन सङ्कीर्येत। नैवम्, वैषम्यात्। अथैष ज्योतिरित्यस्मिन् वक्ष्यमाणोदाहरणे यागावगमात् प्रागेव संज्ञात्वावगमात् संज्ञायाः कर्मभेदहेतुत्वम्; इह तु विधायकैर्यजतिपदैर्यागेष्ववगतेषु भेदे चाभ्यासावगते भिन्नानां यागानां समित् संज्ञाया अन्याः संज्ञा अपेक्षिताः—इति तनूनपादीनां संज्ञात्वं पश्चादवगम्यते। तस्मादभ्यासएवात्र भेदहेतुः॥२।२।२॥

इति द्वितीधिकरणम्॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

(अ०) एवं विद्वान् पौर्णमासीममावास्यामितीरितम्। कर्मान्यदुत पूर्वोक्तसमुदायानुवादकम्॥ कर्मान्तरं स्यादभ्यासाद्धौवं द्रव्यं हि देवता। वार्त्रघ्नीत्यादितो लभ्यानुवादस्तु न युज्यते॥ वार्त्रघ्नीत्याज्यभागाङ्गव्यवस्थोक्तेर्न देवता। पौर्णेत्यनूद्यते पौर्णमासीयुक्तं त्रिके तथा॥ अमेत्यपि समूहस्य द्वित्वसिद्धिः प्रयोजनम्। सहस्थितिः पौर्णमास्यामित्युक्तिभ्यां त्रिके त्रिके॥ विद्वद्वाक्ये विधौ विध्यावृत्तिराग्नेयकादिना। विहितस्य फलित्वेन प्राधान्यमितरे गुणाः॥२।२।३।

(टी०) इदमाम्नायते—'यएवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, यएवं विद्वानमावास्यां यजते;—इति। अत्र यजतिना कर्मान्तरं विधीयते, न तु प्रकृता आग्नेयादयः षड्भागा अनूद्यन्ते। आग्नेयादयश्च कालसंयुक्ताः, तस्मिन् प्रकरणे एव माम्नायन्ते—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवतीति तावब्रूतामग्निषोमावाज्यस्यैव तावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति ताभ्यामेतदग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छदिति ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायामिति च' एतेभ्यः प्रकृतेभ्यः षड्भ्यः आग्नेयादिभ्यो विद्वद् वाक्यविहितस्य कर्मणोऽन्यत्वे सति पूर्वाधिकरणन्यायेनाभ्यास उपपद्यते। न च कर्मान्तरे द्रव्यदेवतयोरभावः, ध्रौवाज्यसद्भावात्। अतएवोक्तम्—"ध्रौवं साधारणं द्रव्यं देवता मान्त्रवर्णिकी। रूपवन्तौ ततो यागौ विधीयेते पृथक् तया'-इति सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते, यद्ध्रुवायामाज्यमिति। ध्रौवस्य साधारणत्वं श्रुतम्, देवताया मान्त्रवर्णिकत्वम् इत्थमुन्नेतव्यम्। तस्माद् वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते इधन्वती अमावास्यायामिति वार्त्रघ्नौ इधन्वन्तौ च ऋचौ क्रमेण कालद्वयोपेते कर्मणि विधीयेते; तत्र 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्'—इत्येको वार्त्रघ्नो मन्त्रः, 'त्वं सोमासि सत्पति स्त्वं राजोत वृत्रहा, इत्यपरः; तयोरुक्तावग्नीषोमौ पौर्णमासदेवता। एव मनन्तराम्नातयोर्द्वेधि धातुयुक्तयोर्मन्त्रयोरुक्तौ अग्नीषोमावमावास्यादेवता, आभ्यां देवताभ्यां रूपवत्वाद् यागान्तरमत्र विधीयते, षड्भागानुवादत्वेन विधेयान्तरस्य कस्यचिददर्शनाद् विद्वद् वाक्यमनर्थकं स्यात्; न केवलं तदानर्थक्यं किन्तु पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्याया ममावास्यया यजेतेत्येतदपि व्यर्थं स्यात्। न चैतत् कालविधायकम्, यदाग्नेय इत्याद्युत्पत्तिवाक्यैरेव तद्विधानात् कर्मान्तरत्वे तु कालं विधास्यति। तस्मात् कर्मान्तरविधिः।

एवं हि श्रूयते 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' तत्र सौर्य्ये चरौ पदान्तरप्रक्षेपेण 'सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामि' इत्येवमूह्यति, तदित्थमेवमादीनाम् मन्त्रत्वमस्ति नास्ति वेत्याह—

(सू०) अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात् ।२।२।३१।

(वि०) पूर्वमुक्तम्, अभियुक्तव्यवहारान्मन्त्रामन्त्रत्वं निर्द्धार्य्यम् ; इत्यञ्च आम्नाते एव तद्विचारः, तदुच्यते—अनाम्नातेषु 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इत्याम्नातम्, नहि सूर्य्यायेति ; तत्र अमन्त्रत्वम्, मन्त्रत्वं नास्ति ; हि यतः, आम्नातेषु एव अयम् मन्त्रः, अयम् ब्राह्मणः—इति विभागः स्यात् नान्यत्र । एवञ्चोहादीनाम् मन्त्रत्वं नास्तीति निर्द्धारितम्, तथाच मन्त्रे दुष्टे यत्प्रत्यवायस्तत्तत्र न भवति ॥२।१।३१॥

तदेतन्नवमाधिकरणं स्फुटयति—

(अ०) ऊहप्रवरनाम्नां किं मन्त्रतास्त्यथवा न हि । मन्त्रास्तदेकवाक्यत्वान्न तल्लक्षणवर्जनात् ॥२।१।६॥

(टी०) अग्नये जुष्टं निर्वपामीत्यस्य सौर्य्ये चरौ सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामीत्येवं पदान्तरप्रक्षेप ऊहः । 'अदीक्षिष्टोऽयं ब्राह्मणः' इत्यस्य मन्त्रशेषत्वेन प्रयोगकाले ब्राह्मणप्रक्षेपं नामधेयविशेषं तदीयप्रवरं चैवं पठन्ति—'असौ देवदत्तोऽमुष्य पुत्रोऽमुष्यपौत्रोऽमुष्य नप्ताऽमुष्याःपुत्रोऽमुष्या नप्तेति आङ्गिरसवार्हस्पत्यभारद्वाजगोत्रः' इति । एषा मूहप्रवरनामधेयानां मन्त्रत्वमस्ति, कुतः ? मन्त्रेण सहैकवाक्यत्वावगमात् ।

इति चेत्— मैवम्, याज्ञिकप्रसिद्धिरूपस्य मन्त्रलक्षणस्य तेष्वभावात् । नह्यध्येतार ऊहादीन् मन्त्रकाण्डेऽधीयते । तस्मान्नास्ति मन्त्रत्वं तेषाम् ।२।१।६।

इति नवमाधिकरणम् ।

यदिदं श्रूयते, वेदानां त्रयित्वम्—'अहे बुध्नीय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदाविदुः ऋचः सामानि यजूंषि' तदेतत् कथमुपपद्यते ? एकस्य हि वेदस्य त्रिधात्वे को हेतुः ? इत्युच्यते—

(सू०) तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥२।१।३२॥

(वि०) तेषाम् मन्त्रभागानां यत्र भागे अर्थवशेन पाद-व्यवस्था विद्यते, स ऋग्नामा । अत्र हि सूत्रे अर्थवशेनेत्यविवक्षितम्, अन्यथा 'अग्निमीले पुरोहितम्' स्यादत्र ऋक्त्वम्, अत्र न स्यात् "अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः" ; तस्मात् यत्र पादकृता व्यवस्था स मन्त्रः ऋग् नामा—इत्येव सारम् ।२।१।३२।

(सू०) गीतिषु सामाख्या ।२।१।३३।

(वि०) अत्र तेषां यत्रेति पदद्वयमनुवर्त्तते । तेषां मन्त्रभागानां यत्र भागे गीतिः तेषु साम इति आख्या प्रसिद्धा । सूत्रेऽस्मिन् गीति शब्दो गीतिसम्बन्धाद् गीतिविशिष्ट तावन्मन्त्रे उपचर्य्यते ।२।१।३३।

(सू०) शेषे यजुः शब्दः ।२।१।३४।

(वि०) ऋक् सामलक्षणे उक्ते, तदन्यः शेषः, तत्र यजुः शब्दोव्यवह्रियते । तथाच यत्र न हि पादबद्धामन्त्राः नापि गीतिविशिष्टाः, स एव यजुर्नामा वेदभागः ॥

इत्यञ्च रचनात्रयभेदान्नामभेदः । गद्य निबद्धो मन्त्र भागो यजुः, तद्विधायकत्वादिना तदीयब्राह्मणोऽपि यजुर्वेद इत्युच्यते । एवं ऋग्वेदः, सामवेदश्च ।२।१।३४।

तदेतद्दशमैकादशद्वादशाधिकरणमारचय्य स्फुटयति—

(अ०) नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्य्यादिति शङ्किते । पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः ।२।१।१०,११,१२।

(टी०) इदमाम्नायते—"अहेबुध्निय मन्त्रं मे

गोपाय यस्त्रयः स्त्रैविदा विदुः ऋचः सामानि यजूंषि' इति। त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः, ते च यं मन्त्रभागम् ऋगादिरूपेण त्रिविधमाहुः, तं गोपाय—इति योजना। तत्र, त्रिविधात्मक् सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति; कुतः? साङ्कर्य्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितोमन्त्रः ऋगादिरूपः—इति हि तल्लक्षणं वक्तव्यम्, तच्च संकीर्णम्। "देवो वः सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभिः'—इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नः, यजुषां मध्ये पठितः; नच तस्य यजुष्ट्वमस्ति, तद्ब्राह्मणे सावित्रयर्चैत्यृक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। एतत् सामगायन्नास्ते—इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदेऽङ्गीकृतम्। 'अक्षितमसि' 'अच्युतमसि' 'प्राणसंशितमसि'—इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे सामाम्नातानि। तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्मात् नास्ति लक्षणम्।

इति चेत्—न, पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात्। पादबन्धेन अर्थबन्धेन चोपेता छन्तवद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपामन्त्राः सामानि, छन्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता यजूंषि;—इत्युक्तो न क्वापि सङ्करः।२।१।१०,११,१२।

इति दशमैकादशद्वादशाधिकरणम्।

ननु यदुक्तं वेदानां त्रयित्वं, तदव्यवस्थितम् 'इन्द्र! आगच्छ' इत्यादीनां परसम्बोधनार्थानां निगदनामधेयानां तेभ्यः पृथक्त्वात्—इत्याशङ्कते—

(सू०) निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्।२।१।३५।

(वि०) निगदः चतुर्थं स्यात्, कुतः? धर्मविशेषात्। तथाच निगदो न ऋक्, तत्र पादव्यवस्थाभावात्; न च साम, तदीयगीतेरश्रवणात्; तथा न यजुः, उच्चैर्निगदेनेत्याम्नातत्वात्; न हि यजुरुच्चैः क्रियते, उपांशु यजुषा—इति दर्शनात्। अतोधर्मविशेषो निगदेमन्त्रत्र्येवेति तच्च तुर्यता।२।१।३५।

हेत्वन्तरमुच्यते—

(सू०) व्यपदेशाच्च।२।१।३६।

(वि०) निगदः—इति यजुषोऽन्यो व्यपदेशश्च दृश्यते, निगदमधीहि—इत्युक्ते न हि यजुरध्ययनं गम्यते; तस्माच्च निगद इति चतुर्थम्, एवञ्च यदुक्तं 'शेषे यजुः शब्दः' तदप्यसङ्गतम्।२।१।३६।

अत्र समाधत्ते—

(सू०) यजूंषि वा तद्रूपत्वात्।२।१।३७

(वि०) वेति प्रश्नप्रतिविधाने। निगदाः यजूंषि अन्तर्भूताः, तद्रूपत्वात्, यजुषां प्रश्लिष्टपाठत्वं लक्षणम्, तदन्वेति निगदेषु, तस्मात् ऋक्सामलक्षणातिरिक्तयजुर्लक्षणलक्ष्यत्वात् निगदानां यजुष्ट्वं स्फुटम्।२।१।३७।

यदुक्तं धर्मविशेषादिति, तत्रोच्यते—

(सू०) वचनाद्धर्मविशेषः।२।१।३८।

(वि०) उच्चैरिति धर्मविशेषस्तु वचनात् प्रत्यायन सामर्थ्यात्, येषां यजुषां पुरुषान्तरप्रत्यायनसामर्थ्यम् तेषामुच्चैरिति यजुःपाठे एव व्यवस्थाविशेषः॥२।१।३८।

अत्रैव युक्तिर्दर्श्यते—

(सू०) अर्थाच्च॥२।१।३९।

(वि०) निगदानामुच्चैः पाठ्यत्वरूपधर्मविशेषः अर्थाच्च उपपद्यते। तथाच—नि प्रकर्षवाचकः; गदतिः, पाठार्थः; प्रकर्षपाठस्तूच्चैः। एवञ्च रचनानियमभेदतो विभागस्तु स्वीकृतः, पाठनियमभेदतो भेदोऽग्राह्यः॥२।१।३९॥

यदुक्तोव्यपदेशः, तत्राह—

(सू०) गुणार्थोव्यपदेशः॥२।१।४०।

(वि०) यथा ब्राह्मणः परिव्राजकाः गुणतो व्यपदिश्यते, तथैव उच्चैस्त्वगुणविशेषाद्द यजूंष्येव निगदा इति व्यपदिश्यन्ते॥२।१।४०॥

आशङ्कान्तरमत्तोत्थाप्यते—

(सू०) सर्वेषामिति चेत्।

(वि०) यदि निगदइति गुणतो व्यपदिश्यते तर्हि ऋचामपि केषाञ्चिन्निगदत्वं किन्नस्यात्—इति चेत्—

(सू०) न, पृथग्व्यपदेशात्॥२।१।४१।

(वि०) न ऋचां निगदत्वं भवितुमर्हति, निगद इति ऋचोऽन्यत्र व्यपदिश्यते; निगद इति गद्यरूपम्, नहि पादवद्धे गदति इ श्यते, दृश्यते चापादवद्धोगद्यः॥२।१।४१॥

तदेतत्त्रयोदशाधिकरणं स्फुटतति—

(अ०) प्रोक्षणीरासादयेति निगदस्त्रिविधाद्बहिः। यजुर्वोच्चैस्त्वधर्मस्य भेदादस्य चतुर्थता॥ परप्रत्यायनार्थत्वादुच्चैस्त्वं यजुरेव सः। तल्लक्षणेन मुक्तत्वात्त्रैविध्यमिति सुस्थितम्॥२।१।१३।

(टी०) 'प्रोक्षणीरासादय' 'इध्मवर्हिरुपसादय' 'अग्नीदग्नीन् विहर' 'वर्हिस्तृणीहि' 'पुरोडाशानलं कुरु' 'इन्द्र आगच्छ'—इत्यादयो निगदा आम्नाताः। परसम्बोधनार्था मन्त्रानिगदाः। एते च पूर्वोक्तेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यो बहिर्भूतास्तुर्यप्रकाराः। कुतः? पादगीत्योर्ऋक्सामलक्षणयोरभावात्। प्रश्लिष्टपाठस्य यजुर्लक्षणस्य सत्त्वेपि धर्मभेदेन यजुष्यन्तर्भावानुपपत्तेः। उपांशु यजुषोच्चैर्निगदेनेति हि धर्मभेदः।

इति प्राप्ते—ब्रूमः, वह्विर्ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् परिव्राजकास्त्वन्तः—इत्यत्र सत्येव परिव्राजकानां ब्राह्मण्ये पूजानिमित्तो विशेषो यथा, तथा यजुर्लक्षणोपेतत्वेन यजुषामेव सतां परप्रत्यायननिमित्त उच्चैस्त्वधर्मः॥ ततो मन्त्राणां त्रैविध्यं सुस्थितम्॥२।१।१३॥

इति त्रयोदशाधिकरणम्।

ननु प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत इयदेकं यजुरिति?। एकैकं वाक्यमेकैको यजुर्मन्त्र इति चेत्—वाक्यत्वमेव किंभवत् सम्मतम्? अतोच्यते—

(सू०) अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्॥२।१।४२।

(वि०) विभागे साकांक्षं चेत् अर्थैकत्वात् एकं वाक्यं स्यात्। यथा 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' तथाच देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे इति, अश्विनो वाहुभ्यामिति, पूष्णोहस्ताभ्यामिति, अग्नये जुष्टं निर्वपामीति; एतद् भागचतुष्टयम्। अत्र हि विभागे साकांक्षं विद्यते, अर्थैकत्वमपि; अत इदमेकं वाक्यम्॥ अर्थैकत्वादित्येवोक्ते 'भगोवां विभजतु' 'पूषा वां विभजतु'—इत्यनयोर्विभज्यरूपैकार्थत्वे नैकवाक्यत्वं स्यात्, विभागे साकांक्षं चेदित्युक्ते तदभावादेकवाक्यत्वाभावः। विभागे साकांक्षमित्येवोक्ते 'स्योनन्ते सदनं क्रणोमि, घृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि, तस्मिन्नवसीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः'—इति, अत्रत्य तच्छब्दनिर्णयाय पदसमूहे साकांक्षत्वमस्ति, अतः समुदायस्यैकवाक्यत्वं स्यात्। अर्थैकत्वन्तु नास्ति, सदनकरणं पुरोडाशप्रतिष्ठापनञ्चेत्यर्थद्वयावगतेः। एवञ्च यस्य पदसमूहस्य अर्थैकत्वे सति विभागे आकांक्षा, तस्यैव वाक्यत्वम्, तस्यैव यजुरेकमन्त्रतेति सर्व्वं सुस्थम्॥२।१।४२॥

तदेतच्चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

(अ०) देवस्त्वेति वाक्यस्य भिन्नत्वमथवैकता। ऐक्यप्रयोजकस्यात्र दुर्बोधत्वेन भिन्नता॥ विभागे सति साकांक्षस्यैकार्थत्वं प्रयोजकम्। तस्माद्वाक्यैक्यमेतेन यजुरन्तोऽवधार्य्यताम्॥२।१।१४।

(टी०) दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि'—इति; तत्र वाक्यानि भि-

न्वानि भवितुमर्हन्ति, कुतः? एकत्व नियामकस्य दुर्बोधत्वात्॥ अर्थैक्यं वाक्यैक्ये प्रयोजकमिति चेत्—न, एकस्मिन् पदेऽति व्याप्तिः। पदसमूहस्य वाक्यत्वे, समूहानामत्र बहूनां सम्भवाद्वाक्यभेदः स्यात्।

इति चेत्—मैवम्, यद्विभागे साकांक्षम् अविभागे चैकार्थं तदेकवाक्यमिति प्रयोजकस्य बोद्धुं शक्यत्वात्॥ विभागे साकांक्षमित्युक्तेऽति व्याप्तिः स्यात्—'स्योनन्ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि. तस्मिन्नवसीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः' इत्यत्र तस्मिन्नित्यादि पदसमूहस्य विभागे सति प्रकृतवाचि तच्छब्दार्थ निर्णयायपूर्वे पदसमूहे साकांक्षत्वमस्ति, अतस्तद् व्यवच्छेत्तुमेकार्थमित्युच्यते; नहि तत्रैकार्थमस्ति; पूर्वसमूहस्य सदनकरणमर्थः, उत्तरसमूहस्य पुरोडाशस्य प्रतिष्ठापनम्। स्योनं समीचीनं, सुषेवं सुष्ठु सेवितुं योग्यम् मेधः सारभूतः पुरोडाशः—इत्यर्थः; अत द्वयोः समूहयोः वाक्यद्वयत्वमुभयवादिसिद्धम्, तदेकार्थमित्यनेन व्यावर्त्त्यते॥ एकार्थमित्युक्तेऽति व्याप्तिः स्यात्—'भगो वां विभजतु' 'पूषा वां विभजतु' इत्यनयो विभजनमन्त्रत्वेन सम्मतयोः पदसमूहयोः तात्पर्य्यविषयस्य द्रव्यविभागरूपस्यार्थस्यैकत्वात्तद्व्यवच्छेत्तं विभागे साकांक्षम्—इत्युक्तम्॥ प्रकृते त्वग्नये जुष्टमित्यादि समूहे पृथक् कृते, पूर्वो देवस्येत्यादिसमूहः साकांक्षो भवति; एकीकृते तु कृत्स्नस्यैक एव निर्वापोऽर्थः॥ एतेनैव वाक्यत्वनिर्णयेनानियत परिमाणस्य यजुषोऽवसानं निश्चेतुं शक्यम्॥२।१।१४॥

इति चतुर्द्दशाधिकरणम्।

ननु 'इषेत्वा' 'ऊर्जेत्वा' इत्यनयोः क्रियादर्शनात् साक्षात् फलाप्रतीतेः, अदृष्टरूप फलमेकमेव कल्प्यम्; तथाच विभागे साकांक्षत्वमपि सुतराम् अतो वाक्यैक्यं किं न मन्यसे? अत्राह—

(सू०) समेषु वाक्यभेदः स्यात्॥२।१।४३

(वि०) समेष परस्परानाकांक्षेषु वाक्यभेदः स्यात्। यदि च 'इषेत्वा' 'ऊर्जेत्वा' इत्यनयोर्न हि किञ्चित् क्रियापदं श्रूयते, तथापि पलाशशाखाया-श्छेदनानुमार्जनयोरेनयोर्द्वयो विनियोगदर्शनात्, 'छिनद्मि' 'अनुमार्ज्मि' इति क्रियापदद्वयेऽध्याहृते परस्पराकांक्षत्वाभावात्, उभयोरर्थप्रतिपादने साम्यता, विभिन्नरूपेणो भावेवार्थं प्रतिपाद्यतः; अतो वाक्यभेदः स्वीकार्य्यः। एवमन्यत्रापि। सूत्रमेतत् पूर्वस्यैव प्रपञ्चः, उदाहरणप्रत्युदाहरणभेदादधिकरणभेदस्तु भव्यएव॥२।१।४३॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

(अ०) इषेत्वादिमन्त्र एको भिन्नो वैकः क्रियापदे। असत्यर्थास्मारकत्वादेकादृष्टस्य कल्पनात्॥ छेदने मार्जने चैतौ विनियुक्तौ क्रियापदे। अध्याहृते स्मारकत्वान्मन्त्रभेदोऽर्थभेदतः॥२।१।१५।

(टी०) इषेत्वोर्जेत्वेति श्रूयते. सोऽयं पदसमुदाय एको मन्त्रः। कुतः? अदृष्टार्थत्वेनैकस्यैवादृष्टस्य कल्पने लाघवात्। न चोरुप्रथस्वेत्यादिमन्त्रवदनुष्ठेयार्थस्मारकत्वं सम्भवति, क्रियापदाभावेन तदर्थप्रतीत्यभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—इषेत्वेति छिनत्ति, ऊर्जेत्वेत्यनुमार्ष्टि—इति पलाशशाखायाश्छेदनमार्जनयोरेतौ विनियुक्तौ; ततस्तदनुसारेण छिनद्म्यनुमार्ज्मीत्येवं क्रियापदेऽध्याहृते सत्यनुष्ठेयार्थस्मारकत्वादर्थभेदेन वाक्यभेदाद्यजुर्मन्त्रभेदः; इष्यमानायान्नाय भोः पलाशशाखे त्वां छिनद्मि, ऊर्जे रसाय बलाय त्वामनुमार्ज्मि—इत्यर्थभेदः। एवम् 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' इत्यादौ कॢप्तिसामान्य रूपस्यार्थस्यैकत्वेप्यायुरादिभिर्भिन्नत्वादर्थभेदवाक्यभेदयोः स्पष्टत्वात् कॢप्तिर्वाचयति। कॢप्तिवङ्कत्वस्य चोदितत्वञ्च यजुर्भेदो द्रष्टव्यः।२।१।१५।

इति पञ्चदशाधिकरणम्।

पञ्चमी ऋक्।

अपूतदच्च ऋषिः।

१ ५ ३ १ ७ ३ २ ३ ३ ३ १
गौर्द्धयति मरुताᳪ श्रवस्युर्माता मघो-
२ ३ २उ ३ १ २
नाम्। युक्ता वह्नीरथानाम् ॥५३॥

'मरुताम्' देवतानाम् 'श्रवस्युः' कीर्त्तिकामा 'मघोनाम्' सुखीनाम् 'माता' जननी 'रथानाम्' शरीराणाम् 'वह्निः' वोढ़ी 'युक्ता' न्याय्या वेदविहिता 'गौः' मन्त्रात्मिका वाक् 'धयति' पिबति सोमादिकमितिशेषः। इत्यत्र मन्त्रात्मिकैव देवतेति मीमांसकमतमुपपन्नम्। श्रवस्युरिति श्रवः शब्देन कीर्त्तिरुच्यते तामिच्छति श्रवस्यति श्रवस्यतेः उप्रत्ययः। वह्निरिति वहेरूपम् ॥५३

দেবগণের কীর্ত্তিকাম অর্থাৎ দেবকীর্ত্তি প্রকাশনে প্রবর্ত্ত অথবা দেবগণ বরপ্রদ হইয়া কীর্ত্তিভাক হউন এই আশয়ে প্রবর্ত্ত, সুখীগণের জননী অর্থাৎ যাঁহার প্রসাদে লোকে সুখী হইয়া থাকে, শরীরের বহন-কর্ত্তা, যাঁহার ইচ্ছায় শরীর উৎপন্ন হওত রক্ষিত হইয়া থাকে, সেই দেবতারূপী বেদবিহিত বাণী সোমপান করিয়া থাকেন *। ৫৩।

श्यावाश्वम्।

५र ५ २ १ ७
गौर्द्धयाईए। ति मरुता३म्। श्रवास्यु
ऽ २ ३ ५ १ ७
र्मा ३। तामघो२३४नाम्। युक्तावह्ना३ः।
३ ३ १ ^ ३ ५र र ३
रथा३। ना २ मा २३४ औहोवा। ऊ २३
५
४पा ॥५३॥

षष्ठी ऋक्।

सुकच्च ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३
उपनो हरिभिः सुतं याहि मदानां
१ २ ३ १ २ १३ २
पते। उपनो हरिभिः सुतम् ॥५४॥

हे 'मदानाम्। पते' मादयन्तीति मदाः सोमाः तेषाम् पते अधिपते, इन्द्र! 'नः' अस्माकम् 'सुतम्' अभिषुतं प्रति 'उप। याहि' आयाहि। कथमित्युच्यते—'हरिभिः' अश्वैः अश्वारोहणं कृत्वेत्यर्थः। अथवा अस्माकम् अश्वैः उपयाहि मनोरूपाश्वकरणकमागमनं कुरु, अश्वा हि वेगवन्तः, मनांसि च वेगवन्ति, अतः सादृश्यम्। पुनरप्युच्यते, 'उपनोहरिभिः सुतम्' अस्माकं सुतं प्रति अश्वैः उपयाहि। द्विः कथनं व्यग्रतासूचनम्, शीघ्रमागच्छेति भावः ॥५४॥

হে মদনকারী সোমরসের অধিকারী, ইন্দ্র! নিজ অশ্বে* আরূঢ় হইয়া আমাদিগের অভিষুতে† আগমন কর, অতি শীঘ্র আগমন কর। ৫৪।

सुताᳪरयिष्टीयम्।

२ १ ४ ५ ४ ५ २र १
उपनो २३ हरिभिः सुतो वा। याहि
२ र २ १ २ ३ २ ३ १
मदा३नाम्। ता२३इ। उपनो३। हा२औ
५ ३ ५ ३ १ ५र
२३४वा। रा २३४ इ मीः। सुताम्। औ
४ ५ ४
२३होवा। हो५इ। डा ॥५४॥

सप्तमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

३ १र २र ७ १ २ ३ १ २
इष्टाहोत्रा असृक्षतेन्द्रं वृध्वन्तो अ-

* মীমাংসক মতে মন্ত্রাত্মক দেবতা; এই মন্ত্র ঐ মতের প্রমাণ স্বরূপ হইয়াছে।

* এই স্থলে মূলে যে রূপ পাঠ আছে তাহাতে দুই রূপ অর্থ সম্ভব হয়। প্রথম, আমাদের অশ্বদ্বারা অভিষবে আগমন কর; দ্বিতীয়, আমাদের অভিষবে অশ্ব দ্বারা আগমন কর। প্রথম অর্থে মনকে অশ্ব কল্পনা করিতে হয়; অশ্ব বেগবান্ প্রসিদ্ধ, মন হইতেও বেগবান্ অন্য কিছু নাই। এতাবতা আমাদের মানসিক প্রার্থনা বলে এই অভিষবে আগমন কর; ইহাও এক প্রকার অর্থ।

† অভিযুত শব্দে অভিষব অর্থাৎ যজ্ঞ।

৩ ২ ১ ২ ৩১ ২৩ ২
ধ্বরে। অচ্ছাবভৃথমোজসা ॥৫৫॥

'সুকক্ষা ঋষিরাত্মীয়ান্ ঋত্বিজঃ প্রত্যাহ। হে 'বৃধন্তঃ' বর্দ্ধনশীলাঃ ঋত্বিজাঃ! 'অধ্বরে' অস্মিন্ ক্রতৌ 'ওজসা' সামর্থ্যেন ব্রহ্মণ্যবলেন 'অবভৃথম্' যজ্ঞাঙ্গস্নানম্ 'অচ্ছ' আপ্তুম্ উপগন্তুম্ 'ইন্দ্রম্' ঈশ্বরম্ উদ্দিশ্য 'ইষ্টাঃ' প্রিয়াঃ 'হোত্রাঃ' হূয়ন্ত ইতি হোত্রাঃ আহুতয়ঃ তাঃ 'অসৃক্ষত' বিসৃজত প্রযচ্ছতেত্যর্থঃ। বৃধন্ত ইতি, গুণাভাবো বাহুলকাৎ। অচ্ছেতি, আপ্তুমিত্যর্থকমব্যয়ম্। অসৃক্ষতেতি, সৃজবিসর্গে ইত্যস্য (বিসর্জনস্থানাগ্নৌ হবিষঃ) 'ছন্দসি লঙ্ লুঙ্ লিটঃ॥ ৩॥' ইতি সিদ্ধম্ ॥৫৫॥

সুকক্ষা ঋষি আত্মীয় ঋত্বিক্‌গণকে বলিতেছেন। হে বর্দ্ধনশীল, ঋত্বিক্‌গণ! তোমরা নিজ-ব্রহ্মণ্য-বলে এই যজ্ঞে অবভৃথ স্নান প্রাপ্ত হইবার নিমিত্ত; অর্থাৎ অবভৃথ স্নান যজ্ঞান্তেই হয়, এতাবতা নির্ব্বিঘ্নে যজ্ঞ সমাপন হউক, এই নিমিত্ত; ইন্দ্র দেবতার উদ্দেশে প্রিয় আহুতি সকল অগ্নিতে প্রদান কর। ৫৫।

আপ্সরসম্ ॥

৫ ২ ৪ ৫ ১ ২ ৩ ৫ ২ ১
ইষ্টাহোত্রাঃ। আসৃক্ষা২৩৪তা। ইন্দ্রং

৩ ৮ ৩ ৫ ১ ২ ৪ ৫
বৃধা। তো২ধ্বা২৩৪রাই। আচ্ছা২বো ভৃ।

৩ ২ ৪ ২ ২ ১ ২
থমো২জা৫সা ৬৫৬। এ ৩। উদধির্নিধো

১ঃ ॥৫৫॥

অষ্টমী ঋক্।

বৎস ঋষিঃ।

২২উ ২ ১২ ২২৩ ২ ৩ ১ ২ ২ ১
অহমিদ্ধি পিতুস্পরিমেধামৃতস্য জগ্র-

৩ ৩ ১২ ২২
হ। অহং সূর্য্যইবাজনি ॥৫৬॥

বৎস ঋষির্বক্তি। 'অহম্' 'পিতুঃ' কণ্বস্য সকাশাৎ 'ঋতস্য' সত্যস্য 'মেধাম্' প্রজ্ঞাম্ 'পরি' 'জগ্রহ' পরিগৃহীতবান্। অতএব 'অহম্' 'সূর্য্যঃ' 'ইব' 'অজনি' জাতবান্। যথা হি সূর্য্যঃ সর্ব্বদৃক্, অহমপি তথা সত্যজ্ঞানবলাৎ সর্বম্ পশ্যামীতি ভাবঃ। অজনীতি, পুরুষব্যত্যয়ে রূপম্। 'ইৎ' 'হি' দ্বাবপ্যেতৌ পাদপূরণার্থকৌ ॥৫৬॥

বৎসঋষি বলিতেছেন—আমি পিতা কণ্ব-ঋষির নিকট হইতে সত্য-প্রজ্ঞা পরিগ্রহণ করিয়াছি; অতএব সূর্য্যের ন্যায় হইয়াছি; অর্থাৎ যেরূপ সূর্য্য সর্ব্বদৃক্, সেইরূপ, আমিও সত্য-প্রজ্ঞা-বলে সমস্তই দেখিতে পাইতেছি। ৫৬।

নিধনকামম্।

৪ ৪ ১২ ১২
অহমিদ্ধা৫ইপিতুষ্পরাই। মেধামৃতস্য

২ ১ ২ ৩ ১২
জগ্রহা। অহং সূর্য্যাঃ। ইবা ২৩৪। হা

২ ১ ১২ ১২ ১২
হোই। অনি। হোই। হোই। ঔহো ঔ

১২ ১ ১ ১ ১
হোবা ২৩৪৫হাউ। বা ॥৫৬॥

নবমী ঋক্।

শুনঃশেপ ঋষিঃ।

৩ ১ ২ ২ ২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২
রেবতীর্নঃ সধমাদইন্দ্রে সন্তু তুবিবা-

৩ ২ ৩ ২ ৩ ১ ২
জাঃ। ক্ষুমন্তো যাভির্মদেম ॥৫৭॥

শুনঃ শেপঃ কথয়তি। 'ক্ষুমন্তঃ' কীর্ত্তিমন্তো বয়ম্ 'যাভিঃ' স্তুতিভিঃ 'মদেম' ইত্যাশাস্মহে, তাঃ 'সধমাদে' সধমাদস্য স্তুত্যস্য 'ইন্দ্রে' ইন্দ্রস্য স্তুতয়ঃ 'নঃ' অস্মাকম্ সম্বন্ধে 'রেবত্যঃ' ধনবত্যঃ ধনানাং সাধকাঃ কিঞ্চ 'তুবিবাজাঃ' বহ্বন্নাঃ বহ্বন্ন-সাধকাঃ 'সন্তু' ভবন্তু। ক্ষুমন্ত ইতি ক্ষুঃ কীর্ত্তিরিতি শায়নঃ। আশাস্মহে ইতি লিঙর্থঃ। সধমাদে ইতি, ইন্দ্রে ইতি চ ষষ্ঠীস্থানিকা সপ্তমী সধমাদঃ স্তুত্যইত্যাচার্য্যাঃ। স্তুতয় ইতি সাম-

र्थ्यांस्यते। तुविवाजा इति. तुवीत्यव्ययम् वह्वर्थे निरुच्यते. वाज इत्यन्ननाम ॥५७॥

শুনঃশেপ বলিতেছেন—যাগাদি করিতে সমর্থ সুতরাং কীর্ত্তিমান্ আমরা, যে সকল স্তুতি-বলে আমোদ করিবার প্রত্যাশা করিতেছি, সেই সমস্ত, স্তুত্য পুরুষ ইন্দ্রের স্তুতিগুলি আমাদিগের সম্বন্ধে ধনের ও বহু অন্নের সাধক হউক॥ ৫৭॥

वाजदावर्य्यम्।

रेवतीर्नाः। सधा२मा२३४दाइ। इन्द्रा २इ मा२३४तू। तुविवा२जाः। च्यू२३मा। तो२या। भिर्मो२३४वा। दा५इमोईडाइ ॥५७॥

दशमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासा६ सुक्षितीनाम्। देवत्रारथ्योर्हिता॥५८॥

वामदेवः कथयति। 'सोमः। पूषा। च' उभौ देवौ 'देवत्रा' देवेषु देवलोकेषु 'विश्वासाम् सुक्षितीनाम्' विश्वाः सुक्षितीः सर्वान् सुनिवासान् 'चेततुः' चेततः जानीतः। इमौ च देवौ 'रथ्योः' पत्नीयजमानयोः 'हितौ' हितकारिणावित्यर्थः। एवञ्चावश्यं पत्नीयजमानाभ्यां देवलोकगतं कश्चित् सुनिवासं दास्यतइत्ययमभिप्रायः। देवत्रेति, देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्त्येभ्योद्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति सप्तम्यास्त्राः। विश्वासाम् इति, सुक्षितीनाम् इति च, द्वितीयार्थे षष्ठी। चेततुरिति लटस्तसोऽतुस् व्यत्ययात्। रथ्योरिति, रंहयति गमयति स्वर्गम् इति रथो यज्ञः तस्य वोढारौ यज्ञस्य देवान् प्रति प्रापयितारौ रथ्यौ पत्नीयजमानौ तयोः। हिताविति,'सुपांसुलुक्' इत्यादिना प्रथमा द्विवचनस्याले रूपम्॥५८॥

বামদেব ঋষি বলিতেছেন—সোম এবং পূষা এই উভয় দেবতা, দেবলোকের মধ্যে যে সমস্ত উত্তম বাসস্থান আছে, তৎ সমস্তই অবগত আছেন; অপিচ ইহাঁরা পত্নী ও যজমানের হিতকারী। এতাবতা পত্নী ও যজমান অবশ্যই দেবলোকের মধ্যে উত্তম বাসস্থান পাইবেন॥৫৮॥

सोमापौषम्।

सोमः पूषा। चचाइततूः। अया योर ३४वा। वाइश्वासा६ सुक्षिती। नाम्। अया यो२३४वा। दाइव चारा२३। थियो३र्हो ५इताई५ई। गावो२अश्वा२३४५ः॥५८॥

इति षष्ठी दशतिः।

सप्तम दशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

श्रुतकक्ष ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः।

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत। विश्वासाह६ शतक्रतु म६ हिष्ठं चर्षणीनाम्॥५९॥

श्रुतकक्षः कथयति। हे मदीया ऋत्विजः! 'वः' यूयम् 'अन्धसः' अन्नस्य सोमरूपस्य एकदेशं 'पान्तम्' पिवन्तम् 'विश्वासाहम्' सर्वेषां शत्रूणाम् अभिभवयितारम् 'शतक्रतुम्' बहुकर्माणम् बहुप्रज्ञं वा 'चर्षणीनाम्' चर्षणीभ्यः यजमानमनुष्येभ्यः

'मंहिष्ठम्' अतिशयेन दातारम् 'इन्द्रम्' 'अभि । प्र । गायत' आभिमुख्येन स्थित्वा प्रकर्षेण स्तुत । व इति प्रथमास्थानिका द्वितीया । अन्धः अन्नं सोमलक्षणम्, एकदेशमिति, षष्ठीनिर्द्देशाल्लभ्यते । पान्तमिति 'बहुलं छन्दसि । २।४।७३।' इत्यदादिभिन्नेऽपि पिबतौ शपोलुक् । शतक्रतुमिति, शतमिति बहुनाम क्रतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम वा । चर्षणीनामिति, चर्षणिरिति मनुष्यपर्य्यायः अत्र च सामर्थ्याद् यजमानमनुष्यो गृह्यते. 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ।२।३।६२।' इति सम्प्रदाने षष्ठी । मंहिष्ठमिति, मंहतिर्दानकर्मा तस्मात् कर्त्तरि तृचि 'तुश्छन्दसि ॥५।३।५९.' इतीष्ठनी रूपम् ॥५९॥

শ্রুতকক্ষ ঋষি বলিতেছেন—হে মদীয় ঋত্বিক্ সকল ! তোমরা, সোমরসের এক ভাগ পানকারী, শত্রু সকলের পরাভবয়িতা, বহু কর্ম্মা, যজমানগণের যথাভিলষিত প্রদাতা, ইন্দ্রের অতি স্থিরচিত্তে প্রকৃষ্ট রূপে স্তবন কর ॥৫৯॥

वैजहव्यम् ।

४र ५ ४र ५र ४ ५ ४ २ १ २
पान्तमावो अन्धसाः । इन्द्रमाभि ।
१ २ २ २ १ २
प्रगायाता ३ । हा ३ हाइ । विश्वासाहम् ।
१ २ २ २ १ २
शताक्रातू३म् । हो३हाइ । मंहाइष्ठं चा
२ २ १ २ ५र र
३ । हा३हा । षणा२इ । ना२३४ औहोवा ।
२ ५
ऊ३२३४पा ॥५९॥

द्वितीया ऋक् ।

वसिष्ठ ऋषिः गायत्रीच्छन्दः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रव इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥६०॥

वसिष्ठः कथयति । हे मदीया ऋत्विजः ! 'सखायः" सखिभूताः 'वः' यूयम् 'हर्य्यश्वाय' हर्यश्वस्य हरिद्वर्णौ अश्वौ यस्य स हर्यश्वः तस्य 'सोमपाव्ने' सोमपाव्नः सोमपानशीलस्य 'इन्द्राय' इन्द्रस्य 'मादनम्' मत्तकरम् सोमम् 'प्र । गायत' प्रकर्षेण स्तुत । वइति प्रथमास्थानिका द्वितीया हर्यश्वायेति, सोमपाव्ने इति, इन्द्रायेति च 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी' इति वचनात् सिद्धम् । सोमपाव्ने इति 'आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च । ३।२।७४।' इति वनिपि रूपम् ॥६०॥

বসিষ্ঠ ঋষি বলিতেছেন—হে মদীয় বন্ধুবর ঋত্বিক্‌গণ ! তোমরা যাঁহার হরিত বর্ণ অশ্ব, যিনি সোমরস পান করিয়া থাকেন সেই ইন্দ্রের মত্তকারী সোমবল্লীর প্রকৃষ্ট রূপে স্তবন কর ॥৬০॥

शाक्यम् ।

१ २ २ २ ५ २
प्रव इन्द्रा२ । यमा दा२३४नाम् । प्रवा
१ २ २ २ ५ २
२ इन्द्रा । औ ३हो । या २३४ मा । दा ३
२ १ २ २ २
नाम् । हरा २ अश्वा । औ३हो । या २३४
५ २ २ १ २ २
गा । या३ता । सखा२याः सो । औ३हो३ ।
१ ५ ४ ५
मापो२३४वा । आपूव्नो६हाइ ॥६०॥

तृतीया ऋक ।

मेधातिथि ऋषिः ।

२ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ २
वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः
१ २ १ २ ३ १ २
सखायः । कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥६१॥

मेधातिथिः प्रार्थयति । हे 'इन्द्र!' 'तदिदर्थाः' इच्छब्दो पादपूरणः, यस्तवार्थो यागादिः स अर्थो येषां ते तदर्थाः, यागपराः 'त्वायन्तः" त्वां यष्टुमिच्छवः 'वयम्' तव 'सखायः' सखिभूताः

भवामेति शेषः। अपि च न केवलं वयमेव त्वां यष्टुमिच्छवः 'कण्वाः' कण्वस्य पुत्राः वत्सादयोऽपि 'त्वा' त्वाम् 'उक्थेभिः' उकथैः नवविधात्मकसाम्न एकमुकथम् तैः 'जरन्ते' स्तुवन्ति इत्यस्य तेऽपि तव सखायः भवन्तु—इत्याशयः ॥६१॥

মেধাতিথি ঋষি বলিতেছেন—হে ইন্দ্র! যাগপরায়ণ, তোমার যজনে প্রবর্ত্ত, আমরা তোমার সখা হই—ইহাই প্রার্থনীয়। এবং কেবল আমরাই তোমার যজনে প্রবর্ত্ত, এরূপ নহে; কণ্ঋষি-তনয় বৎস প্রভৃতি ঋষিরাও উক্থ*দ্বারা তোমার স্তবন করিতেছেন, এতাবতা তাহারাও তোমার সখা হউক ॥৬১॥

काण्वम्।

५ ४ ५ ३ ५ २ ३
वयं वा याम्। ऊ२३४त्वा। तादोदा२
५ ३ ४ ५र ४ ५ ३ ५
३४र्याः। इन्द्रत्वायन्तः। सखा २३४ याः।
३ २ र ५ र र
कण्वा३१२३४ः। उक्थेभिर्जरन्ते। एहिया
५ ४
६हा। हो५इ। डा ॥६१॥

चतुर्थी ऋक्।

श्रुतकक्ष ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३१र २र ३
इन्द्राय मद्वने सुतं परिष्टोभन्तु नो
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः ॥६२॥

श्रुतकक्ष ऋषिः प्रार्थयति। 'नः' अस्माकम् 'गिरः' स्तुतिलक्षणा वाचः 'मद्वते। इन्द्राय' मद्वदिन्द्रार्थम् 'सुतम्' अभिषुतं सोमम् 'परि। स्तोभन्तु' सर्वतः स्तुवन्तु। अनन्तरं 'कारवः' मदीय यज्ञगतस्तोतारः तेन संस्तुतेन सोमेन 'अर्कम्' इन्द्रम् 'अर्च्चन्तु' पूजयन्तु। मद्वते इत्यत्राकार लोपश्छान्दसः अत्र इन्द्रायेत्यत्र च तादर्थ्ये चतुर्थी। कारुर्यज्ञीयस्तोतॄनाम। अर्कइन्द्रपर्य्यायोऽत्र ग्राह्यः, पूर्वमिन्द्रार्थस्यैव सुतस्य स्तुतिरभिहितत्वात् ॥६२॥

শ্রুতকক্ষা ঋষি প্রার্থনা করিতেছেন—আমাদিগের বাণী সকল, মত্ত ইন্দ্রের নিমিত্ত প্রস্তুতীকৃত সোমরসের স্তবন করুক; অনন্তর মদীয় যজ্ঞগত স্তোতারা সেই স্তুত সোম দ্বারা ইন্দ্রের অর্চ্চনা করুন ॥৬২॥

गौरीवीतम्।

४ ५र ४ ५ ४ २ १ र
इन्द्राय मद्वनाइ। सुताम्। इन्द्रायम-
र २ १ २ १ २ १र
द्वने सुताम्। पराइष्टो२३भा। तुनो गिरो।
२ १र २ १
अर्कमा २३ र्चा। तुकारा२३वा ३४३ः। ओ
२३४५ इ। डा ॥६२॥

पञ्चमी ऋक्।

इरिमिरि ऋषिः।

३ १ २ ३ २ १ १ २ ३ १ २ ३
अयन्त इन्द्र सोमो निपूतो अधिब-
१ २ १ २ ३ २उ ३ १ २
र्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब ॥६३॥

इरिमिरिः कथयति। हे 'इन्द्र'! 'ते' तदर्थम् 'अयम्' 'सोमः' 'अधिबर्हिषि' बर्हिषः उपरि 'निपूतः' नियमेन पवित्रीकृतः! अधुना त्वम् 'एहि' आगच्छ। एत्य च 'अस्य' सोमस्य 'द्रवा' द्रवम् तरलं रसम् 'पिब'। ते इति तादर्थ्ये चतुर्थी। अयमिति प्रकरणात् सोमः। द्रवा इति सुपांसुलुगित्यादिनामस्मात्वे रूपम् ॥६३॥

ইরিমিরি ঋষি কহিতেছেন—হে ইন্দ্র! তোমার নিমিত্ত এই সোমরস অগ্নিতে নিয়ম পূর্ব্বক সংস্কৃত করা হইল, এক্ষণে তুমি আগমন করিয়া, এই সোমের তরল রস পান কর ॥৬৩॥

* নববিধ সাম আছে, তাহারই এক প্রকার উক্থ।

सौमित्रम्।

अयन्त आ। इसोमो। होवा३हाइ।
निपूतो आ२। धीवर्हा २३४ इषी। आइ
हीमद्या२३। द्रा२वा २३४ औहोवा। पी
२३४वा॥६३॥

षष्ठी ऋक्।

मधुच्छन्द ऋषिः।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदु-
हे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥६४॥

मधुच्छन्दोब्रूते। वयम् आत्मनः 'ऊतये' पालनाय 'सुरूपकृत्नुम्' सुरूपानां कर्मणां कर्त्तारम् इन्द्रम् 'द्यवि। द्यवि' अहन्यहनि 'जुहूमसि' आह्वयामः। अत्र दृष्टान्तमुच्यते— 'गोदुहे' 'सुदुघाम्' 'इव' यथा कश्चन गृहस्थः गो-दुग्धार्थम् काञ्चित् सुदुग्धां धेनुम् आह्वयति तद्वदित्यर्थः। यथाचान्तरेण सुदुग्धां धेनुं गोदुग्धमवाप्तुं नान्य उपायः, तथैव त्वद्व्यतिरिक्तो नान्योऽस्मद्रचक इत्याशयः। जुहूमसीति 'इदन्तोमसि।७।१।४६।' इतीदन्तः॥६४॥

মধুচ্ছন্দ ঋষি বলিতেছেন—যেরূপ কোন গৃহস্থ গোদুগ্ধের নিমিত্ত দুগ্ধদায়ী ধেনুকে আহ্বান করে, সেই রূপ আমরা স্ব স্ব রক্ষণের নিমিত্ত সুন্দর কার্য্য সমূহের কর্ত্তা সেই ইন্দ্রকে প্রতি দিন আহ্বান করিতেছি। অর্থাৎ যেমন উত্তম দুগ্ধাভিলাষী, দুগ্ধদায়ী ধেনুকে আহ্বান না করিলে সিদ্ধকাম হয় না, সেই নিমিত্ত সতৃষ্ণ হইয়া আহ্বান করে; সেই রূপ তোমা ভিন্ন এ জগতে আমাদিগকে রক্ষা করে এরূপ কেহই নাই, সুতরাং তোমাকে অতি যত্নে আহ্বান করিতেছি॥৬৪॥

शाक्वरवर्णम्।

सुरू। प कृत्नु मूतयाइ। सुदुघाम्।
इवगो२। दुहया ३१ उवा२३। ज२३४पा।
जुहूमा२३सी। द्यविद्यविया३१उवा २३।
ज३२३४पा॥६४॥

सप्तमी ऋक्।

तृशोक ऋषिः।

अभित्वा वृषभा सुते सुतꣳ सृजामि
पीतये। तृम्पा व्यश्नुही मदम्॥६५॥

तृशोकः कथयति। हे 'वृषभ' यथाभिलषितफलानां वर्षितः इन्द्र! 'सुते' अभिषुते अस्मिन् यज्ञे 'त्वा' त्वाम् उद्दिश्य इमम् 'सुतम् सोमम्' 'सृजामि' विसर्जनं करोमि, अग्नाविति शेषः; किमर्थम्? 'पीतये' तव पानाय। अतस्त्वं तम् पीत्वा 'तृम्पा' तृप्तिं गच्छ; तथाच 'मदम्' 'व्यश्नुही' प्राप्नुहि मत्तोभवेत्यर्थः। वृषभा इति सुपांसुलगित्यादिना दीर्घः। तृम्पा इति 'द्व्यचोऽतस्तिङः।६।३।१३५।' इति दीर्घान्तः। व्यश्नुही इति दीर्घस्तु वाच्छलकात्॥६६॥

তৃশোক ঋষি বলিতেছেন—হে যথাভিলষিত ফল-প্রদ, ইন্দ্র! তোমার পানের নিমিত্ত এই যজ্ঞে তোমার উদ্দেশে এই অগ্নিতে সোমাহুতি প্রদান করিতেছি. তুমি ইহা পান করিয়া তৃপ্ত হও. ও মত্ততা প্রাপ্ত হও॥৬৫॥

आर्षभम्।

अभित्वा वृषभा सुताइ। सुताꣳ सृजा।
मि पाइता१आ२इ। तृम्पा वा१या२। अ-
श्नुहा३१उवाये३। मा२३४दाम्॥६५॥

अष्टमी ऋक्।

कुसीदिन ऋषिः।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २

य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः।

१ र २र ३ १ २

पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥६६॥

कुसीदिनः कथयति। हे 'इन्द्र'! 'चमूषु' यज्ञीयाधिषवणफलकेषु 'चमसेषु' पात्र विशेषेषु व्यवस्थितः 'ते' त्वदर्थः 'सुतः' कण्डितः 'यः' 'सोमः' 'अस्य' सोमस्य एकदेशं 'पिब"। 'त्वम्' त्वमेवात्र जगति 'ईशिषे' ऐश्वर्य्यं करोषि, ईश्वर इत्यर्थः। अत्र ऋचि आ-इति, इत्—इति च पादपूरणे।६६

কুসীদিন ঋষি কহিতেছেন—হে ইন্দ্র! যজ্ঞের অধিষবণ ফলকের উপরে যে চমস নামক পাত্র আছে তাহার মধ্যে তোমার নিমিত্ত যে সোম রক্ষিত আছে, ইহা অতি যত্নে লতা হইতে নিষ্কাশিত হইয়াছে, তুমি ইহার কিঞ্চিদংশ পান কর; তুমিই এই জগতে ঐশ্বর্য্য করিতেছ, তুমিই ঈশ্বর ॥৬৬॥

ऐडकौत्सम्।

३ २ १ ४ ५ ४र र ५ १र

याहोन्द्रा२३। चमसेषु वाइया। सोम

२ १र २र १ २ र १

श्चमूषु ते सुतः। सोमश्चमू। षुताइस्त२३

२ १ २ २ १ २ २ १र

ताः। पाइबे३स्याइ। आस्या२हाइ। त्वमी

२ १

शा२३इषा३४३इ। ओ २३४इ। डा ॥६६॥

नवमी ऋक्।

शुनःशेप ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवा

१ २ ३ १ २ ३ १ २

महे। सखाय इन्द्रमूतये ॥६७॥

शुनःशेप कथयति। 'सखायः' तव सख्यभावापन्नावयम्, (सामर्थ्यादिन्द्रस्य) 'योगे योगे' यौगोव्यापार उच्यतेप्रतिव्यापारे कर्मानुष्ठानमात्रे 'तवस्तरम्' तव इति बलनाम बलवत्तरम् 'इन्द्रम्' 'वाजे वाजे' प्रतिसंग्रामे प्रतिविपदीत्यर्थः 'ऊतये' आत्मरक्षणाय 'हवामहे' आह्वयामः। आह्वयाम इति ह्वयतेः (५।१।३४) सम्प्रसारणे रूपम् ॥६७॥

শুনঃশেপ ঋষি বলিতেছেন—ইন্দ্রের সখ্যভাবাপন্ন আমরা, কর্ম্মানুষ্ঠান মাত্রে অতিশয় বলবান্ ইন্দ্রকে বিপদ্ মাত্রেই আত্ম-রক্ষণার্থ আহ্বান করিয়া থাকি (এতাবতা তিনিই আমাদিগের রক্ষণকর্ত্তা ইহা প্রতিপাদিত হইল) ॥৬৭॥

सौमेधम्।

४र ५र र र ४ ५ ४ १र र २र र

योगे योगे तवस्तराम्। वाजे वाजे

र र १र २ २ १ ५

हवामहे। सखाया२३ई३। द्रमू २३४वा।

४ ५

तायो६हाइ ॥६७॥

दशमी ऋक्।

मधुच्छन्द ऋषिः।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र

आत्वे ता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत।

१ २ ३ १ २

सखायस्तोमवाहसः ॥६८॥

मधुच्छन्द ऋषिः स्वान् ऋत्विज आह। हे 'स्तोमवाहसः। सखायः' स्तोमानां स्तोत्रविशेषाणां वाहसः प्रापयितारः, सखिभूताः! यूयम् 'आ। इता' क्षिप्रमागच्छत। एत्य च 'निषीदत' स्थिरमुपवेशनं कुरुत। निषीद्य च 'इन्द्रम्' 'अभि। प्र। गायत' आभिमुख्येन स्तुत। आत्वेता—इति आ, तु, आ, इता—इति च्छेदः, इताइति 'द्व्यचोऽतस्तिङः। ६।३।१३५।' इति दीर्घः, एकश्च आ पादपूरणार्थः; पदकारास्तु आ, तु, आ, इत—इत्येवं पठन्ति; तथाचैतच्चिन्त्यं सुधीवरैः ॥६८॥

মধুচ্ছন্দ ঋষি নিজ ঋত্বিকগণকে বলিতেছেন—হে স্তোমবাহী*, সখা সকল! তোমরা শীঘ্র আগমন কর ও স্থির হইয়া যথাস্থানে উপবিষ্ট হও, পরে ইন্দ্রের সন্তুষ্টি প্রতিপাদনার্থ উত্তমরূপে সামগান কর ॥৬৮॥

ऐवातिथिम्।

३र २ र र ५र ५ १
आतू ३४। एतानि। षोदाईता। इन्द्र
१ २ र १ २र १र
मभाइ। प्रगायता। साखायः स्तोम। वा।
२ २ १ ३ ५ २ १
औ३हो। वबा२हा२३४सा:। हयाइ। सा-
२र १र २ २ १
खायः स्तोम। वा। औ३हो। ऊम्मा २३।
२ ५
हा३४५ सोईहाइ ॥६८॥

अष्टमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक।

विश्वामित्र ऋषिः।

३ १र २र ३ १ २
इद६ ह्यन्वोजसा सुत६ राधानाम् पते।
३ २ १ २
पि वा त्वा३स्य गिर्वणः ॥६९॥

विश्वामित्र इन्द्रं प्रार्थयति। हे 'राधानाम्। पते' धनानाम् पते, इन्द्र! 'ओजसा' बलेन 'सुतम्' कण्डितम् 'इदम्' इमम् 'पिव' 'तु' अपि तु हे इन्द्र! त्वम् 'अस्य' यज्ञस्य 'गिर्वणः' गीर्भिः स्तुतिभिः वन्यने संभज्यते, स गिर्वणः सुत्ये इत्यर्थः। हि 'अनु' इति पादपूरणे ॥६९॥

বিশ্বামিত্র ঋষি বলিতেছেন—হে সমস্ত ধনের অধিপতি, ইন্দ্র! আমরা এই সোম বলদ্বারা কণ্ডিত করিয়াছি, ইহা পান কর। তুমি এই যজ্ঞে স্তুতি দ্বারা ভজনীয় ॥৬৯॥

आङ्गिरसम्।

५ ५ २ १ २
इदाईमे। हिया३नू ओ१जा सा२।
१ २ १ २ १ २ १र
सुत६ राधा। नाम्या१ता२इ। पिबातुवस्या
३ २ २ २ २ १ ३
गिर्वाणा२३४:। पिबा३४तुबा ३। स्या२गा
५र र ३ ५
२३४औहोवा। वा२३४णाः ॥६९॥

* স্তোত্র বিশেষের নাম স্তোম, তাহা যে বহন করে, তাহার নাম স্তোম-বাহী; অর্থাৎ স্তোতা।

द्वितीया ऋक्।

मधुच्छन्द ऋषिः।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
महा६ इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु
३ १ २ १र २र ३ १र २र
वज्रिणे। द्यौर्न्नः प्रथिना शवः ॥७०॥

मधुच्छन्द इन्द्रं स्तुत्य प्रार्थयति। 'महान्। इन्द्रः' 'पुरः' पुरस्तात् सृष्टेरादिकारणमित्यर्थः। 'च' अतस्तम् प्रार्थये— हे 'वज्रिणे' वज्रिन् 'नः' अस्माकम् 'महित्वम्' माहात्म्यम् 'अस्तु', अपि च 'नः' अस्माकम् 'द्यौः' स्वर्गः अस्तु, किञ्च 'प्रथिना' प्रख्यावता जनेन सहास्माकम् 'शवः' गतिः अस्तु। महा६ इन्द्र इति 'दीर्घादटि समानपादे। ८।३।१०।' इति रुत्वे आतोऽटिनित्यम्।८।३।११।' इत्यनुनासिके च रूपम्। वज्रिणे इति सुपांसुलगित्यादिना सम्बुद्धेः शेभावे रूपम्। महित्वमिति महिशब्दो महत्पर्य्यायस्तत्वम्। प्रथिनेति प्रथप्रख्याने इत्यस्य रूपम्। शव इति शवगताविलस्य रूपम्। द्यौर्नेत्यत्र श्रुतो न इति मध्यमणिन्यायेन द्यौरित्यनेन प्रथिना शव इत्यनेन च सम्बध्यते। ऋक् पूर्वार्द्धे श्रुताऽस्तुक्रिया परार्द्धेऽप्युभयत्रापकृष्यते। माधवे नत्वाचार्य्येण यदुक्तं नो इति पादपूरणः तत्प्रामादिकं भवितुमर्हति संहितायां तथा पाठाभावात्, पदकारैस्तथाऽपठितत्वाच्च ॥७०॥

মধুচ্ছন্দঋষি ইন্দ্রের নিকটে স্তুতি পূর্ব্বক প্রার্থনা করিছেন—মহৎ, ইন্দ্র, সৃষ্টির আদি-কারণ; অতএব তাঁহার নিকটে তিনটী প্রার্থনা করিতেছি, যথা—হে বজ্রিন্! আমাদিগের মহত্ত্ব হউক, আমাদিগের স্বর্গ হউক, আমাদিগের প্রখ্যাত ব্যক্তির সহিৎ গতি হউক ॥৭০

घृतश्चुतन्निधनम्।

५ ५र २ १ २
इद६ ह्यनूई ओजसा। सुत६ राधा।
१ २र र २ १ २ १
नां पातौ। होवा३हाइ। पिबातुव। स्यगा
२र र २ १ २र र
इर्वाणौ। होवा३हा। पिबातुवौ। होवा ३
२ १ २ १ ^ ३ ५र र
हा। स्यगाये३:। वा२ना २३४ औहोवा।
२ १ ३ १ १ १ १
घृतश्चुता २३४५: ॥७०॥

६२

(मू०) समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीड़ने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥

(टी०) 'समे' निम्नोन्नतरहिते देशे 'शुचौ' शुद्धे 'शर्करावह्निवालुकाविवर्ज्जिते' शर्कराः क्षुद्रोपलाः तप्तवालुकाः ताभ्योविवर्ज्जिते 'शब्दजलाश्रयादिभिः' विहङ्गादीनां शब्दः जलं आश्रयोमण्डपं इत्यादिभिः 'मनोऽनुकूले' मनोरमे स्थाने 'न तु' 'चक्षुःपीड़ने प्रतिवाद्यभिमुखे 'गुहानिवाताश्रयणे' गुहायामेकान्ते निवाते प्रचण्डवायुरहिते आश्रयणे आश्रये 'प्रयोजयेत्' प्रयुञ्जीत चित्तं परमे ब्रह्मणि ॥ १५ ॥

(ता०) यत्रावस्थितेऽन्तःकरणं प्रशस्तं भवेत्, तथा पवित्रे हि तस्मिन् पुरुषे आत्मनः संयोगो भवेदेव, तत्रोपस्थित्योपासनमेव विधेयम् । दुर्गन्ध्यऽपरिष्कृतेऽशुचावन्तर्ऽवस्थितेऽन्तःकरणे मालिन्यमुपजायते, नापीश्वरे यथोपयुक्तमात्मनो भवत्यभिनिवेशः । यत्तु स्थानमतिविरलं पवित्रं परिष्कृतं परिच्छन्नं स्निग्धमवन्धुरं यत्र नास्ति वायोरुपद्रवः, श्रूयते च जल-कल्लोलो विहङ्गमानामतिमधुरं कूजितम्, अपि च यत्र चक्षुःपीड़न-साधनं विपक्षादिकं नास्ति, तत् स्थानापेक्षयाधिकमनःपूतं किमन्यत् स्थानमिह भवितुं युज्यते ? एवञ्च ईदृक् पवित्रसुखकरस्थानेऽवस्थितिं प्रकुर्व्वन्नुपासनमतिकर्त्तव्यमिति ब्रह्मवादिनामभिमतम् । इत्थञ्च यत्र मनः प्रशस्तं पवित्रं निरुद्विग्नं च स्यातुं युज्यते, एतादृश्येव स्थले कुर्य्यादुपासनम् ; यतो मनसि मलिने उद्विग्ने उत्यक्ते वा पवित्रस्वरूपस्येश्वरस्योपासना न हि सुचारु सम्पन्ना भवेत् ॥१५॥

६३

(मू०) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्व्वाणि भयावहानि ॥१६॥

(टी०) त्रीणि उरोग्रीवाशिरांसि उन्नतानि यस्मिन् शरीरे तत् 'त्रिरुन्नतं' 'शरीरं' 'समं' 'स्थाप्य' संस्थाप्य 'हृदि' 'इन्द्रियाणि' चक्षुरादीनि 'मनसा' 'संनिवेश्य' संनियम्य 'ब्रह्मोडुपेन' ब्रह्मैव उडुपं तरणसाधनं तेन 'प्रतरेत' अतिक्रमेत् 'विद्वान्' 'स्रोतांसि सर्व्वाणि' संसारसागरस्य भयावहानि' ॥ १६॥

(ता०) यथा पूर्वमुपासनोपयोगिस्थानं निरूपितम्, तथैवोपासनावसरे कथमुपवेशनं कार्य्यं, तदप्येतद्वचनतः प्राप्यते वक्षःग्रीवाशिरस्त्रोन्नमय्य ऋजु भवन्नुपविष्टे शरीरस्य मनसश्च न कोऽपि व्यतिक्रमो घटते ; अत उपासनकाले एवमुपविष्टा इन्द्रिय-प्रवृत्तिर्मनोवृत्त्यादिकञ्च तावत् हृदये सन्निवेशयेत्—तान् विविध-वाह्य-विषय-व्यापारतो निवर्त्त्य मनसा सह आत्मानं परमात्मनि समाधापयेत्, किञ्च हृदयस्य प्रीतिस्तत समर्थ कृतार्थो भवेत् ॥१६॥

इति ।

अष्टमोऽध्यायः ।

६४

(मू०) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखोविश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । संबाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ १ ॥

(टी०) सर्व्वत्र चक्षुंषि विद्यन्ते अस्येति 'विश्वतश्चक्षुः' 'उत' तथा सर्व्वत्र मुखानि विद्यन्ते अस्येति विश्वतोमुखः, सर्व्वत्र वाहवोविद्यन्ते अस्येति 'विश्वतो बाहुः' उत सर्वत्र पादा विद्यन्ते अस्येति 'विश्वतस्पात्' सः परमेश्वरः 'बाहुभ्यां' 'संधमति' संयोजयति मनुष्यान् 'पतत्रैः' पतत्रैः संधमति

पक्षिणः 'द्यावापृथिवी 'जनयन्' सृष्टवान् 'देवः एकः' ॥१॥

(ता०) सर्वत्रैव तस्य चक्षुः; सहि सर्वेषां साक्षी; सर्वेषामन्तर्वीक्ष्य सहि सर्वं पश्यति, तामसी निशापि न तस्य दृष्टिमाच्छेत्तुं समर्था। सर्वत्रैव तस्य मुखम्; पापिभिस्तस्य रुद्रमुखं दृश्यते, सुकृतिभिस्तस्योत्साह-जनन-प्रसन्नवदनमवेक्ष्यन्ति। सर्वत्रैव तस्य बाहुः; इह विश्वसंसारे ननु कार्य्यमात्रे एव तस्यैव बलं कौशलञ्च प्रकाशते। सर्वत्रैव तस्याङ्घ्रिर्विद्यते; सहि सर्वत्रैव पूर्णं तिष्ठति। स हि मनुष्य-देहे बाहु-संयोगं करोति पक्षिशरीरे च पक्ष-संयोगः। कार्य्य-निर्वाहाय सुख-संसाधनाय च यस्य यथाङ्गस्य प्रयोजनं तस्मै तथैवाङ्गं दत्तवान्। स एवाद्वितीयः परमेश्वरो द्युलोकं भूलोकं च सृष्टवान् ॥१॥

६५

(मू०) सर्व्वतः पाणिपादन्तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखं। सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २ ॥

(टी०) सर्व्वतः पाणयः पादाश्च यस्य 'तत्' सर्व्वतः पाणिपादं' सर्व्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानिच यस्य तत् 'सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखं' 'सर्व्वतः' श्रुतिः श्रवणमस्येति 'श्रुतिमत्' 'लोके' प्राणिनिकाये 'सर्व्वमावृत्य' संव्याप्य 'तिष्ठति' ॥ २ ॥

(ता०) हे मानवा यूयम्! सहि सर्वत्रैव राजतइत्येवं विदित्वा शुभकर्म प्रकर्त्तुमुत्साहिनो भवत, अपि च पापाचरणतो बिभीत ॥२॥

६६

(मू०) सर्व्वाननशिरोग्रीवः सर्व्वभूतगुहाशयः। सर्व्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ ३ ॥

(टी०) सर्व्वाणि आननानि शिरांसि ग्रीवाश्चास्येति 'सर्व्वाननशिरोग्रीवः' सर्व्वेषां भूतानां गुहायां बुद्धौ शेते इति 'सर्व्वभूतगुहाशयः' 'सर्व्वव्यापी' च 'सः' 'भगवान्' ईश्वरः यस्मादेवं 'तस्मात् सर्व्वगतः 'शिवः' मङ्गलः ॥३॥

(ता०) सर्वव्यापी सर्वसाक्षी परमेश्वरः सर्वेषां हृदये सर्वदैव विद्यते। स हि सकलजीवानां मङ्गलमुद्दिश्यैतद्विचित्रां सृष्टिमरचयत्। यः कश्चन यत् किमपि मङ्गलं लभते, तत् सर्वं तस्मान् मङ्गलस्वरूपात् परमेश्वरादेव। स ह्यस्माकं ज्ञान-दाता, सुख-दाता, मुक्ति-दाता; सोऽस्माकं सकलमङ्गलानां निदानं ध्रुवम् ॥३॥

६७

(मू०) अपाणिपादोजवनोगृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तं ॥ ४ ॥

(टी०) 'अपाणिपादः' 'जवनः' दूरगामी 'गृहीता' यदुपादेयं तस्य। 'पश्यति' सर्व्वम् 'अचक्षुः' अपि सन् 'सः शृणोति अकर्णः' अपि। 'सः वेत्ति वेद्यम्' अमनस्कोऽपि सर्व्वज्ञत्वात् 'न च तस्य अस्ति वेत्ता' 'तम् आहुः' 'अग्र्यं' प्रथमं सर्व्वकारणत्वात् 'पुरुषं' पूर्णं 'महान्तम्' ॥४॥

(ता०) यथा परिमितक्षुद्रजीवस्य हस्तपदाद्यवयवः न तथा तस्य, अपि तु हस्तपदादिकार्य्यं समस्तमेव तस्याचिन्त्यशिशक्त्या स्वतः सम्पद्यते ॥४॥

६८

(मू०) य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषोनिर्म्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ ५ ॥

(टी०) 'यः एषः' पुरुषः 'सुप्तेषु' प्राणिषु 'जागर्त्ति' न स्वपिति कथं 'कामं कामं' तन्तमभिप्रेतं अन्नपानाद्यर्थं 'निर्म्मिमाणः' निष्पादयन्। 'तत्

एव' 'शुक्रं' शुभ्रं शुद्धं 'तत् ब्रह्म' नान्यत् शुद्धं ब्रह्मास्ति 'तत् एव' 'अमृतं' अविनाशि 'उच्यते' किञ्च पृथिव्यादयः 'सर्व्वे' 'लोकाः' 'तस्मिन्' ब्रह्मणि 'श्रिताः' आश्रिताः सर्व्वलोककारणत्वात् तस्य। 'तत्' ब्रह्म 'उ' 'न' 'अत्येति' अतिवर्त्तते 'कश्चन' कश्चिदपि ॥५॥

(ता०) वयं जाग्रता निद्रिता वा तिष्ठेम, स तु सर्व्वदामेव जाग्रदस्माकं विविधं प्रयोजनीयमर्थजातं विदधाति। यदा वयं स्वकीयमङ्गलसाधनयत्नतो विरता भवेम, तदा स विरतो न भवति। सत्वस्माकमनवरतं हितं साधयति ॥५॥

६६

(मू०) अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशोकोधातुः प्रसादान्महिमानमीशं ॥ ६ ॥

(टी०) 'अणोः' सूक्ष्मादपि 'अणीयान्' अणुतरः 'महतः' 'महीयान्' महत्तरः। सच 'आत्मा' परमेश्वरः 'अस्य जन्तोः' प्राणिजातस्य 'गुहायां' हृदये 'निहितः' स्थितः 'तम्' 'ईशम्' 'अक्रतुं' विषयभोगसङ्कल्परहितम् अस्य च 'महिमानं' 'पश्यति' यः सः 'वीतशोकः' 'धातुः' ईश्वरस्य 'प्रसादात्'। प्रसन्ने हि परमेश्वरे तद्याथात्म्यज्ञानमुपपद्यते ॥६

(ता०) अस्माकमात्मतोऽपि स सूक्ष्मः, अपि चासीमाकाशतोऽपि महान्। तं द्रष्टुं न हि दूरभ्रमणमावश्यकम्, स त्वस्माकं हृदयमन आत्मन्येव निवसति। स भोगाभिलाषवर्जितः, नित्यपरितृप्तानन्दमयः, यश्च साधकस्तस्य दर्शनमवाप्नोति, न पुनस्तस्य शोकः संतिष्ठते ; तत्प्रेम-निमग्नस्य न कोऽप्यभावो भावायते ॥६॥

७०

(मू०) एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषां ॥७॥

(टी०) सहि परमेश्वरः सर्व्वगतः स्वतन्त्रः 'एकः' 'वशी' सर्व्वं ह्यस्य जगत् वशे वर्त्तते 'सर्व्वभूतान्तरात्मा' सर्व्वेषां भूतानामन्तरात्मा 'एकं रूपं' 'बहुधा' बहुप्रकारं 'यः करोति' स्वात्मसत्तामात्रेण अचिन्त्यशक्तित्वात्। 'तम्' 'आत्मस्थं' स्वकीये आत्मनि स्थितं 'ये' 'धीरा' विवेकिनः 'अनुपश्यन्ति' साक्षादनुभवन्ति 'तेषां' शाश्वतं' नित्यं 'सुखम्' आनन्दलक्षणं भवति 'न इतरेषां अनेवम्विधानां ॥७॥

(ता०) सर्वं एवइमे तस्य वशतापन्नाः, स सर्वेषामेव नियन्ता। सोऽस्माकं सर्वेषामात्मानमभ्यन्तरे स्थितिं करोति। स एकाकी कस्यापि सहायतामन्तरेणैव विचित्रमेतद् जगदसृजत् ; स हि नित्यः स्वकीयस्वरूपेऽविकृतः प्रतिष्ठन् स्वस्यैकं रूपं बहुधा चकार ; स्वयं नाभूदन्यवस्तु। एनमेकं सर्वेषां नियन्तारं सर्वभूतानामन्तरात्मानं येन स्वीयात्मनि साक्षादुपलभ्य तत्सहवासोऽवाप्तः तस्य यथा विषयातीतः शाश्वतसुख-भोगो भवेत् अपरस्यतु कस्यचिन्न तथा कदापि ॥७॥

७१

(मू०) नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां योविदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषां ॥८॥

(टी०) 'नित्यः अनित्यानां' 'चेतनः' 'चेतनानां' चेतयिता सर्व्वजन्तूनां। किञ्च सर्व्वेश्वरः सर्व्वज्ञः 'एकः सन् 'बहूनां' कामिनां संसारिणां कर्म्मानुरूपं 'कामान्' 'यः' अनायासेन 'विदधाति' ददाति। 'तम्' 'आत्मस्थं' 'ये अनुपश्यन्ति' 'धीराः' 'तेषां शान्तिः' 'शाश्वती' नित्या न 'इतरेषाम्' ॥ ८ ॥

(ता०) अस्य खलु जगतः समस्तं वस्तुजातमनित्यम्, स एव एको नित्यः। सहि जीवगणान्

चेतनावतः प्रकुर्वन्नसृजत् ; स हि तान् अन्नदानेन प्रतिपालयति ; स एकाक्येव तदसंख्यप्रजासमूहस्य कामनां पूरयति । अत्रैकत्र पृथिव्यामेव तस्य कतिसंख्यकाः प्रजाः तेषामेकैकस्य च कियत् प्रयोजनानि । स ह्येकाक्येवैतस्य समस्तस्य प्रयोजनं यथोपयुक्तं विदधाति ; सतु क्षुद्रतमकीटैकस्यापि प्रयोजनं नहि विस्मरति । ये चैतत् समस्तस्य सुहृदं कल्याणकारिणं परं देवं हृदयमन्दिरे साक्षात् प्रपश्यन्ति, तेषां तृप्तिसरो न कदापि शुष्कीयते, सततं परिपूर्णं तिष्ठति, तेषां नित्य-शान्ति-लाभो भवेत् ॥८॥

७२

(मू०) यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्त्योऽमृतोभवत्येतावदनुशासनं ।९।

(टी०) 'यदा सर्व्वे' 'प्रभिद्यन्ते' भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति 'हृदयस्य' मनसः 'इह' जीविते एव 'ग्रन्थयः' ग्रन्थिवद्दृढ़बन्धनरूपाः अज्ञानप्रत्ययाः । 'अथ मर्त्त्यः अमृतः भवति' 'एतावत्' एतावन्मात्रं 'अनुशासनम्' अनुशिष्टिरुपदेशः ॥ ९ ॥

(ता०) अज्ञानं मोहजालमस्माकं हृदयग्रन्थि । पापासक्तिकुसंस्कारादिहृदयग्रन्थिजातेऽविनष्टे परमपुरुषावाप्ते नं किमपि सम्भावनम् । यदैतत् तावद् दुच्छेद्यहृदय-ग्रन्थि-च्छेदने समर्थो भवेत्, तदैव जानीयात् प्रकृष्टपथ्यवलम्बिते परमपितुः समीपस्थो भवितव्यः, अपि चाकुतोभयेन परमानन्दतो तत्सह नित्यं सहवासकरणे भवेत् सक्षमः, तस्यैव पथः पथिकोऽहमद्य—मृत्युमतिक्रम्य परमपुरुषमलभञ्च । एतदेव अनुशासनम्, एषएव उपदेशः ॥९॥

इति ।

नवमोऽध्यायः ।

७३

(मू०) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । १ ।

(टी०) 'द्वा' द्वौ सुपर्णा 'सुपर्णौ' शोभनपतनौ पक्षिणौ 'सयुजा' सयुजौ सहैव सर्व्वदा युक्तौ 'सखाया' सखायौ आत्मानौ क्षेत्रज्ञपरमेश्वरौ 'समानम्' अविशेषं अधिष्ठानतया एकं 'वृक्षम्' उच्छेदसामान्यात् शरीरं 'परिषस्वजाते' परिष्वक्तयोः 'अन्यः' एकः क्षेत्रज्ञः 'पिप्पलं' कर्म्मनिष्पन्नं फलं 'स्वादु' यथा भवति तथा 'अत्ति' भक्षयति उपभुंक्ते । 'अनश्नन् अभुञ्जानः 'अन्यः' इतरः ईश्वरः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्व्वज्ञः भोज्यभोक्त्रोः प्रेरयिता 'अभिचाकशीति' पश्यत्येव केवलम् । दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत् ॥ १ ॥

(ता०) उभौ पक्षिणौ सुन्दरौ, जीवात्मा परमात्मा च ; परमात्मनः सौन्दर्य्यस्याभामवाप्य जीवात्मापि सुन्दरः । जीवात्मा तदीयान्तरतमपरमात्मना सह सर्वदैवैकत्र युक्तस्तिष्ठति, तयोर्मध्ये आकाशस्यापि व्यवधानं न विद्यते ; तावुभावेवात्र शरीरेऽवतिष्ठाते, उभावेव मिथः सख्यभावान्वितौ । परमात्मा जीवात्मनि साक्षीभूतोऽवस्थाय तस्मै कर्मफलं प्रददाति, जीवात्मातमवाप्योपभुंक्ते । परमात्मा प्रेमदानेन जीवात्मानं पालयति, जीवात्मा संसारस्थायी प्रभूय तस्य प्रियकार्य्यं साधयितुमविरतं यतते । परमात्मा स्रष्टा, जीवात्मा सृष्टः ; परमात्मा नियन्ता, जीवात्मा तदधीनः ; परमात्मा प्रदाता, जीवात्मा भोक्ता ; परमात्मैवास्माकमेकः सहायः, वयं तत् प्रसादतो विषयसुखम्, आत्मप्रसादम्, ब्रह्मानन्दम् उपभुञ्जमहे । जीवात्मात्र शरीरमयनीडे स्थित्वा अखिलमातुस्तस्य क्रोड़े पुष्टो भवति, उपयुक्ते भूते एतस्माच्छरीरात् प्रमुच्य तस्यानुचरः प्रभूय तत्सह नित्यमभिसञ्चरिष्यति ॥१॥

७४

(मू०) समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः। २।

(टी०) 'समाने वृक्षे' एकस्मिन् शरीरे 'पुरुषः' भोक्ता जीवः कामकर्म्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तः 'निमग्नः'। अतः 'अनीशया' पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्य्या किं मे जीवितेन इत्येवं दीनभावोऽनीशा, तया 'शोचति' सन्तप्यते 'मुह्यमानः' अनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः। 'जुष्टं' सेवितमनेकैः 'यदा' यस्मिन् काले 'पश्यति' ध्यायमानः 'अन्यम् ईशं' सर्व्वस्य जगतः असंसारिणम् अशनायापिपासा शोकमोहजरामृत्युधर्म्मातीतम् 'अस्य' च परमेश्वरस्य 'महिमानं' विभूतिः 'इति वीतशोकः' तदा भवति ॥ २ ॥

(ता०) यदा वयं परमेश्वरं विस्मृत्य विषय-सुख-साधनायैवेह निमग्ना भवामः; तदास्माकं पदे पदे शोकोऽभिजायते; यदातु तस्य सर्व-सेव्य परमेशस्य महिमानमालोचयामः, अपि च श्रद्धया तत्प्रतिष्ठितधर्मं साधयितुं यतामहे, तदा न पुनः शोक उपतिष्ठते प्रत्युतोद्भवति परमआनन्दः ॥२॥

७५

(मू०) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य मुपैति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। ३।

(टी०) 'यदा' यस्मिन् काले 'पश्यः' पश्यति यः स विद्वान् साधकः 'पश्यते' पश्यति 'रुक्मवर्णं' रुक्मस्येव ज्योतिरस्य स्वयं ज्योतिःस्वभावं नित्यचैतन्यरूपं 'कर्त्तारं' सर्व्वस्य जगतः 'ईशं' 'पुरुषं' 'ब्रह्मयोनिं' ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिः तम्। 'तदा' सः 'विद्वान्' 'पुण्यपापे' 'विधूय' निरस्य 'निरञ्जनः' निर्लेपः विगतक्लेशः 'परमं' प्रकृष्टं 'साम्यं' समताम् 'उपैति' प्रपद्यते। 'महान्तं' 'विभुं' व्यापिनम् 'आत्मानम्' ईश्वरं 'मत्वा' 'धीरः' धीमान् 'न शोचति' ॥३ ॥

(ता०) यदा ज्ञानापन्नो धर्मनिष्ठो ब्रह्मोपासकः स्वीय-ज्ञान-नेत्रतस्तं प्रत्यक्षीकरोति, तदा स तं लब्ध्वा पापात् प्रमुच्यते, किञ्च पुण्य-फलाकांक्षी भवन् न पुनः किमपि कर्म करोति। स जनो विषये निर्लिप्तो भूत्वा लोकानां हितार्थमपि च तस्य प्रीतये तस्य प्रियकार्य्यं साधयति। यदा प्रभु र्हृदि भवत्यासीनः, तदा मनोवृत्तयः समस्ताः संयता भवन्ति, तदा चित्तं च साम्यभावमवाप्य विशुद्धं भवेत्। धीरः खलु तं विदित्वा न पुनर्दीनभावेन मुह्यमानः शोकायते ॥३॥

७६

(मू०) परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते सयोह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते ॥ ४ ॥

(टी०) 'परम् एव अक्षरं' सत्यं पुरुषाख्यं 'प्रतिपद्यते' प्राप्नोति 'सः यः ह वै तत्' 'अच्छायं' तमोवर्ज्जितं 'अशरीरं' शरीरवर्ज्जितं 'अलोहितं' लोहितादिगुणवर्ज्जितं 'शुभ्रं' शुद्धम् 'अक्षरं' ब्रह्म 'वेदयते' विजानाति ॥४॥

(ता०) परमेश्वरः सर्वदा सर्वत्र विद्यते, विशुद्धचित्ततस्तदवगमनमेव तत्प्रापनम् ॥४॥

७७

(मू०) अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं ॥ ५ ॥

(टी०) सत्यं ज्ञानमक्षरं 'अदृष्टम्' अव्यवहार्य्यं 'अग्राह्यम्' कर्मेन्द्रियैः 'अलक्षणम्' अलिङ्गं 'अचिन्त्यम्' 'अव्यपदेश्यम्' शब्दैः। एकः जगत्कारणं

ब्रह्मास्मीति आत्मनः प्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्याधिगमे तत् 'एकात्मप्रत्ययसारं' प्रपञ्चस्य संसारस्य उपशमः उपरतिः निवृत्तिः यत्र तत् 'प्रपञ्चोपशमं' संसारधर्म्मातीतं 'शान्तं' 'शिवम्' 'अद्वैतम्' एकम् ॥५॥

(ता०) सोऽनन्त-ज्ञान-स्वरूपः परमेश्वरो न भव्य चक्षुर्गोचरः, तं न हि हस्ताभ्यां ग्रहीतुमुत्सहते, मनसापि न हि कल्पयितुं शक्यते, नापि परिमित वस्तुनः सममसुं बुद्ध्या सविशेषमभिगन्तुं युज्यते। निर्म्मलज्ञानेनैव स प्रकाश्यः, अपिच आत्म-प्रत्ययमात्रेणैव तस्य ज्ञानगोचरसत्यसुन्दर-मङ्गलपुरुषस्यास्तित्वे वयमपि विश्वसामः। यमकं-तमस्यतमनन्तपुरुषं ज्ञानं प्रकाशयति, आत्मा तस्यैव पूर्णपुरुषस्यास्तित्वं प्रत्ययते। ज्ञानेन सत्यं चकास्यते, तत्रैव सत्येऽस्माकमात्मनः प्रत्ययोजायते। अतोऽसौ स्वभावसिद्ध आत्मप्रत्ययएव तदीयास्तित्व-प्रामाण्य-स्थापनस्यैकमात्रोहेतुः। यदा आत्म-प्रत्यय-सिद्धोऽनन्तपुरुषोऽमलज्ञानेन प्रकाशितोभवति, तदा बुद्धिस्तदीयजगद्रचनायाः कौशलं प्रदर्श्य तदीयविज्ञानस्य परिचयमभिदत्ते, अपिच जगतो मङ्गलोद्देश्यनियमं प्रदर्श्य तस्य नियन्तुर्मङ्गलभावं स्फुटयति। यदि च परिमिता किल बुद्धिरनन्तपुरुषं बुद्धावन्तायितुं न क्षमा, तथापि सा तथाविधज्ञान मतिमात्रं पोषयति। अतो-ब्रह्मजिज्ञासुर्मुमुक्षुर्जगत्कार्य्यस्यान्तर्वाह्यस्यालोचनया बुद्धिमभिमार्ष्टुं न कदाप्येवहेलयति, बुद्धौ सुमार्जिते चामलज्ञानमात्मप्रत्ययस्याधिकारउद्देश्यश्च वयं विशेषेण सुस्पष्ट मुपलभामहे।

जगतेतद् यतः सृष्टं भवन्नियमितं भवति, स हि सकलसंसार-धर्मादतीतः। तस्य रागद्वेषाद्या कापि मानसिकवृत्तिर्नास्ति, अतः स शान्तः। स मङ्गलस्वरूपः, स सर्वेषां मङ्गलोद्देशेनैतत् संसारं नियतं नियमयति। तस्य सदृशस्ततोऽधिको वा न कोऽपि द्वितीयो विद्यते, सोऽद्वितीयः ॥५॥

७८

(मू०) तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयोवित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्व्वस्मात् अन्तरतरं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

(टी०) 'तत् एतत्' ब्रह्म अक्षरं 'प्रेयः' प्रियतरं 'पुत्रात्' तथा 'प्रेयः' 'वित्तात्' हिरण्यरत्नादेः तथा 'प्रेयः अन्यस्मात्' यत् यत् लोके प्रियत्वेन प्रसिद्धं तस्मात् 'सर्व्वस्मात्' अन्तरतरात् 'अन्तरतरं' 'यत्' 'अयम् आत्मा' यदेतत् ब्रह्म। योहि लोके निरतिशयः प्रियः सर्व्वयत्नेन लब्धव्यो भवति तदेतत् ब्रह्म सर्व्वलौकिकप्रियेभ्यः प्रियतमं तस्मात् तल्लाभे महान् यत्नः आस्थेयः ॥६॥

(ता०) तत आन्तरिकप्रियतरः सुहृदस्माकं पुनः कोऽपि नास्ति ॥६॥

७९

(मू०) सयोन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति ईश्वरोह तथैव स्यात् ॥ ७ ॥

(टी०) 'सः यः' कश्चित् ब्रह्मप्रियवादी 'आत्मनः' ब्रह्मणः सकाशात् 'अन्य' पुत्रादिकं 'प्रियं ब्रुवाणं' 'ब्रूयात् तवाभिमतं पुत्रादिलक्षणं 'प्रियं' रोत्स्यति आवरणं प्राणसंरोधनं प्राप्स्यति विनङ्क्ष्यति 'इति'। सः 'ईश्वरः' समर्थः पर्य्याप्तो सावेवं वक्तुं 'ह' 'तथा एव स्यात्' यत्तेनोक्तं प्राणसंरोधनं तत् प्राप्स्यति ॥७॥

(ता०) पुत्रदाराधनजनादिकं समस्तमनित्यम्। सांसारिकेनैतत्तावत् प्रियवस्तुना सहावश्यं विच्छेदो भवितव्यः कदाचन, किन्त्वन्तरतमप्रियतमपरमात्मना साकमिह परकाले वा न कदापि विच्छेदः समुद्भावनीयः। निःसंशयं वाक्यमेसत्—यत्, यः कश्चन परमेशतः प्रियतरो विद्यतेऽन्य इति वक्ति, तस्य प्रियोवश्यं विनाशमुपगच्छति। विषय-सक्तविमुग्धानुपदेष्टुमधिकारो विद्यते ज्ञानिना ब्रह्मवादिनाम्; ये च तेषामुपदेशमवहेलयन्ति तेऽविरतं दुःखभवाप्नुवन्ति। सर्वेषामन्तरतरोमङ्गलाकरः परमात्मैव सर्वं प्रियः, तत्र निहिते प्रेमनि

तत्प्रेमास्पदेषु सर्व्वत्रैव प्रीतेः कर्त्तव्यतोपजायते, किञ्चास्य जगतो मङ्गलाय स हि यं प्रति विशेषतः स्नेहम् प्रीतिञ्च प्रतिपादयितुमादिष्टवान्, तं प्रति समधिकप्रीतिस्नेहादिकं कार्य्यमेव । किन्तु परमात्मतोऽन्यत्र वस्तुनि समधिक प्रीतिं प्रकुर्वन् तत्र सुखतत्पादनं, न हि विशुद्धप्रीतेर्लक्षणम् ॥७॥

८०

(मू०) आत्मानमेव प्रियमुपासीत। सय आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

(टी०) उज्झित्वा अन्यत् प्रियं 'आत्मानम् एव' ब्रह्मैव 'प्रियम् उपासीत'। 'सः यः आत्मानम् एवं' ब्रह्मैव 'प्रियम् उपास्ते' 'न ह अस्य प्रियं' 'प्रमायुकं' प्रमरणशीलं भवति ॥८॥

(ता०) योऽस्माकं मानसक्षेत्रे प्रीतिकुसुमस्य सुकोमलकलिकां स्थापितवान्, यत्नेन तां स्फुटयित्वा तया तस्यार्च्चनां कुर्य्यात्। अविनश्वरः परमेश्वरो यस्य प्रियः, तस्य प्रियो न कदापि मर्त्तव्यः, न तस्य तेन विच्छेदः कदापि सम्भवेत् ॥८॥

८१

(मू०) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः ॥ ६ ॥

(टी०) प्रीतिरात्मन्येव मुख्या तस्मात् 'आत्मा वै अरे' ब्रह्म वाअरे 'द्रष्टव्यः' दर्शनार्हः जगद्रूपकार्य्यद्वारेण 'श्रोतव्यः' आचार्य्यतः 'मन्तव्यः' तत्त्वतः ततः 'निदिध्यासितव्यः' निश्चयेन ध्यातव्यः ॥६॥

(ता०) परमात्मनो दर्शनं कुर्य्यात्, तस्यैतद् विश्वकार्य्ये तदीयज्ञानशक्तिर्महिमानं प्रतीयेत, अपि च सर्व्वप्राणभावेन तं सर्व्वत्र वर्त्तमानमभिविद्यात्, किञ्च आचार्य्यस्य समया तन्महिम्नः प्रतिपादकमुपदेशमतिश्रद्धया शृणुयात्। जगति तन्महिमानं परिदृश्य, आचार्य्यवदनात् तन्माहात्म्यञ्च श्रुत्वा भूयोभूयः आलोच्य च तत्समस्तं मननं कुर्य्यात्, अन्ते च तन्निदिध्यासनं विदध्यात्, तत्मन्त्रायां निःसंशयोभवन् तत्रात्मानं समादध्यात् ॥६॥

८२

(मू०) सवाअयमात्मा सर्व्वेषां भूतानामधिपतिः। सर्व्वेषां भूतानाꣳ राजा ॥१०॥

(टी०) सः वै अयम् अजः 'आत्मा सर्व्वेषां भूतानाम् अधिपतिः । सर्व्वेषां भूतानां राजा' ॥१०॥

(ता०) एषः सर्व्वं नियमयति, अपि च यथोपयुक्तौ दण्डपुरस्कारौ चिरं विदधाति ॥१०॥

८३

(मू०) तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्व्वे समर्पिताः। एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वे देवाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे प्राणाः सर्व्वएतआत्मनः समर्पिताः ॥ ११ ॥

(टी०) 'तत् यथा रथनाभौ च रथनेमौ च अराः सर्व्वे समर्पिताः'। 'एवम् एव अस्मिन् आत्मनि' जन्मादिविक्रियारहिते 'सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वे देवाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे प्राणाः' सर्व्वे एते आत्मनः प्रति शरीरानुप्रवेशिनो जीवाः 'समर्पिताः' ॥११॥

(ता०) जीवनपवनतपनादीनि भूतानि, मनुष्यत उत्कृष्टतराणि लोकान्तरवासिधर्म्मजीविजीवानि, सूर्य्यचन्द्रादयोग्रहाः, पृथिव्यादयोलोकाः, प्राणिनां प्राणन-क्रियाः समस्ताः, असंख्यलोकस्थिता अनन्तजीवानामात्मदृन्दाश्च, परमात्मानमेनमवलम्ब्य तिष्ठन्ति सर्व्वे ॥११॥

८४

(मू०) युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतोजातानि भुवनानि विश्वा ॥ १२ ॥

(टी०) 'युजे' अहं समादधे 'वां' वः युष्माकं कारणभूतं 'ब्रह्म' अस्माकमपि 'पूर्व्व्यं' चिरन्तनं 'नमोभिः'। हे 'अनादिमत्' आद्यन्तशून्यपरमात्मन् 'त्वं' 'विभुत्वेन' व्यापकत्वेन 'वर्त्तसे' 'यतः' त्वत्तः 'जातानि' 'भुवनानि' 'विश्वा' विश्वानि ॥१२॥

(ता०) ब्रह्मवादी आचार्य्यः शिष्याननुशास्ति अहमद्य नमःपूर्व्विकां समाधिं करोमि, यूयमपि मया सार्कं युष्माकं मम च चिरन्तनस्य तस्य परब्रह्मणः तथा समाधिं कुरुत ॥१२॥

८५

(मू०) इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्म्महती विनष्टिः। यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १३ ॥

(टी०) 'अथ' 'इह एव सन्तः' सन्तो 'वयं' कृतार्थाः 'तत्' ब्रह्म 'विद्मः' विजानीमः। तत् 'न चेत्' वेदितवन्तः वयं ततोऽहं 'अवेदिः' स्याम्। वेदनं वेदः वेदोऽस्यास्तीति वेदी वेद्येव वेदिः न वेदिः अवेदिः। यद्यवेदिः स्यां कोदोषः स्यात् 'महती' 'विनष्टिः' विनाशनं। अहो वयं अस्मान्महतोविनाशनात् निर्मुक्ताः यत्तत् ब्रह्म वयं विदितवन्तः। 'ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्तिः'। 'अथ' ये पुनर्नैवं ब्रह्म विदुः ते 'इतरे' ब्रह्मविदोऽन्ये 'दुःखं एव' 'अपियन्ति' प्रतिपद्यन्ते ॥१३॥

(ता०) अहो! आश्चर्य्यमेतत्—वयमत्रत्या एव तमश्छादिताः, अत्रैवान्धतमःसंसारे निमग्ना व्याच्छन्नानि च भवन्त्यप्यस्माकं ज्ञानचक्षूंषि तत् सत्यज्ञान-ज्योतिर्द्रष्टुमुत्सहन्ते, अपिच हृदयास्थास्मदीयास्तस्मै विशुद्धप्रीतिं समर्प्य पापतापेभ्यः परित्राणमाप्नुवन्ति। एतस्मादप्याश्चर्य्यं ननु किमस्ति! इत्थं वयं धन्या अभूम। सोऽमुष्मिन् भूलोके यतिविधान् जन्तूनसृजत्, न हि तेभ्य एतादृशीं क्षमतामधिकारं वा प्रदत्तवान्. अस्मभ्यं पुनरतीवानुकम्पयैतावत्सामर्थ्यान्यददत् ; एतेन च वयं कृतार्थामन्यामहे, एवञ्चास्माभिः सर्वाः सम्पदः प्राप्ता ध्रुवम्। यदि वयमत्र तं ज्ञातुं न शक्येम, अपि च तेन साकमखण्डनित्यसम्बन्धं नोपनिवध्नीयाम, तर्हि वयमशेषदुर्गतिं प्राप्नुयाम। तथाचात्र सांसारिकविपत्सागरे पतिता भवन्तः कुत्रान्यत्राश्रयमवाप्नुयाम! जनसमाजान्निष्ठुराघातमवाप्यान्यत्र कुत्र शीतला भवेम। मृत्युभीतितश्चास्मान् कोऽन्यः परित्रायात् ॥१३॥

८६

(मू०) ततोयदुत्तरतरं तदरूपमनामयं। यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥।

(टी०) 'ततः' कार्य्यात् 'उत्तरं' कारणं ततोप्युत्तरं 'उत्तरतरं' कारणस्य कारणं 'यत्' ब्रह्म 'तत्' 'अरूपं' रूपरहितं 'अनामयं' रोगशोकरहितं। 'य एतत् विदुः' 'अमृताः' अमरणधर्मीणः 'ते भवन्ति' 'अथ इतरे' ये तद्ब्रह्म न विदुस्ते 'दुःखम्' एव 'अपियन्ति' ॥१४॥

(ता०) अत्र हि संसारे येभ्यः कारणेभ्यो यानि कारणानि उत्पद्यन्ते तत्समस्तकारणानां कारणं परब्रह्म। तद्धि रूपहीनं निरामयम्। येऽमुं ज्ञानचक्षुषा प्रत्यक्षीकुर्वन्त एनेनाच्छेद्यसम्बन्धं निवध्नाति तेऽमरा भवन्ति। तदतिरिक्तान्नकेऽपि शोकदुःखादिकमतिक्रमितुं पारयन्ति ॥१४॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

ब्रह्माण्डकाण्डकरणाद्यखिलप्रभुत्वाद्धयसिन्धुं समशक्तिमन्तम् । बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देहमीशमगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी · साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।

राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] अग्रिमवार्षिकम् ६/ प्रतिसंख्यायाः ।/ [May. 1869.] अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी [२१ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

वैदिकसमालोचना ।

अथ यदि त्रीन् नियमानाश्रित्य त्रिभागीकृतो वेदः, इत्थं वेदानां त्रयित्वं साधितम् ; तर्हि चत्वारो वेदाः—इति प्रसिद्धिः कथं सङ्गच्छते ? इत्यद्य विचार्य्यते ।

त्रय एव वेदा इति अत्रांशे भूरिप्रमाणान्युपलभ्यंते, तथा हि श्रूयते—सामवेदीयषड्विंशब्राह्मण-प्रथमप्रपाठकस्य पञ्चमे खण्डे 'प्रजापति र्वा इमां स्त्रीन् वेदानसृजत्' इत्यादि। स्मर्य्यते च मनुना—'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् । (१अ० २३श्लो०)' एवमन्यैरपि स्मार्त्तैः । वेदार्थव्याख्यानपरा दर्शनकारा अपि तथैव स्वीकुर्वन्ति, तथा च भगवान् जैमिनिः ऋग्यजुःसाम्नां लक्षणमुक्तवान् (२६) परं चतुर्थस्याथर्वणो नाम च न तत्र समाम्नासीत् । युक्तियुक्तं चैतत्, गद्यपद्यगीतितोऽतिरिक्तो न हि भवति कोऽपि रचना-प्रकारः, यत्र च या च रचना दृश्यते, सा खलु गद्यपद्यगीत्यन्यतरात्मिकैव । एको हि वेदो रचनाभेदतो विभिन्नः—

(२६) २अ०१पा०३१।३२ ३३सू० ।

বৈদিকসমালোচনা।

যদি নিয়মত্রয়কে অবলম্বন করিয়া বেদ ত্রিভাগীকৃত হইয়াছে, সেই নিমিত্ত তিন বেদ বলা যায়, তবে চারি বেদ এই প্রসিদ্ধি কিরূপে সঙ্গত হয়? অদ্য ইহাই আমাদিগের বিচার্য্য।

তিন বেদ—এ অংশে ভূরি ভূরি প্রমাণ পাওয়া যায়, ষড়্বিংশ ব্রাহ্মণে প্রথম প্রপাঠকের পঞ্চম খণ্ডে শ্রুত হইয়াছে "প্রজাপতি র্বা ইমাং স্ত্রীন্ বেদানসৃজৎ" প্রজাপতি এই তিন বেদ সৃজন করিলেন ইত্যাদি ; মনুও বলিয়াছেন—অগ্নিবায়ুরবিভ্যস্তু ত্রয়ং ব্রহ্মসনাতনম্। দুদোহ যজ্ঞসিদ্ধ্যর্থ মৃগ্যজুঃসামলক্ষণম্॥ (১অং ২৩শ্লো) প্রজাপতি যজ্ঞ সিদ্ধির নিমিত্ত অগ্নি, বায়ু, সূর্য্য এই তিন দেবতার নিকট হইতে ঋক্ যজুঃ সাম এই তিন নিত্য ব্রহ্ম স্বরূপ, বেদ দোহন করিলেন; অন্যান্য স্মার্ত্তেরাও এইরূপ বলেন। বেদব্যাখ্যাকারী দর্শনকারেরাও ঐরূপ স্বীকার করেন, ভগবান্ জৈমিনি ঋক্ যজুঃ সাম এই তিন বেদের লক্ষণ বলিয়াছেন (২৬), কিন্তু চতুর্থ বেদ যে অথর্ব, তাহার নামও স্মরণ করেন নাই। এবং ইহা যুক্তিযুক্তও হইতেছে, গদ্য পদ্য গীতি এতদতিরিক্ত কোন প্রকার রচনা হইতে পারে না, যে কোন স্থলে যে কোন রচনা দেখা যায়, তাহা গদ্য পদ্য গীতি এই তিন প্রকারের এক প্রকার। বেদ এক, রচনা ভেদে ভিন্ন:—

(২৬) ২অং ১ পাং ৩১।৩২।৩৩ সূং॥

॥ ० ॥ कलिकाता नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

इति सर्वैरेवार्य्यवर्य्यैर्मन्यते ध्वन्यते च, अन्यथा कर्त्तृनामानसारेण वेदनाम इत्युक्ते वेदभेदापत्तिरूप आर्य्याणां निग्रहः स्यात्। वेदानां त्रयित्वे स्वीकृते 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'—इत्यमरोक्तमप्यनुगृहीतं भवति। परमथर्वणो वेदत्वं रक्षणीयम्, चत्वारो वेदाः—इति प्रवादोऽपि नोन्मूलनीयः; अतो वक्तव्यम्—अथर्वनाम तु न हि ऋग्यजुःसामवत् रचनामूलकम्, अपि तु पुरुषनामानुरूपम्। कश्चन ऋषिरथर्वानाम आसीत्। तेन हि परमर्षिणा श्येनाद्यैहलौकिकयागादिसिद्ध्यर्थं त्रिभ्य एव वेदेभ्योमारणवशीकरणादिसाधनान् मन्त्रान् चिन्वन्नेकत्रीकृत्य पृथग्रूपतया तस्याध्यापनेन संहितायाश्चतुर्थत्वमासादितम् (२७)। तस्यामेव संहितायां श्रुता ये मन्त्रा स्तेषां विधायकत्वादिना विहितानि वाक्यानि च तथैव सङ्गृहीतानि, तान्येवाथर्व-ब्राह्मण इत्युच्यते। तदेतत् संहितादिसर्वावयवविशिष्टोऽथर्वणा सङ्गृहीतो वेदभागोऽथर्वेत्याख्यायते। एवं वेदानां त्रयित्वेऽपि नह्यथर्वणो वेदत्वमपाकृतम्, तस्य तेष्वेवान्तर्भावात्। एवञ्च चत्वारोवेदाः—इति प्रवादो न निर्मूलितो नाप्यथर्वणोवेदत्वे वादः समूलितः। परमस्याथर्वणा संगृहीतत्व मुररीकार्य्यमेव, अन्यथा वेदस्य त्रयित्वं तुर्य्यत्वं चैतदुभयं न हि रक्षितं भवेत्। किञ्चात्रांशेऽनेकत्रानेकलिपिभङ्गिरपि प्रमाणायते, तथा च तैत्तिरीयशाखायां श्रूयते 'तस्य यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' (२८) पश्यतु तावदत्र यजुरित्यादेर्नहि किमपि विशेषणं अथर्वेत्यस्य तु आङ्गिरस इति विशेषणमभिहितम्, तेनाङ्गिरसः पुत्रोऽथर्वा वेदस्य चतुर्थत्वसम्पादयितेति स्पष्टमुपलभ्यमस्ति।

(२७) रचनानियमानुसारेण तु तिस्रएव संहिताः।

(२८) तस्य वाङ्मयस्य आत्मनः कोषस्य, यजुर्वेदः शिरः, ऋग्वेदे दक्षिणः पक्षः दक्षिणोबाहुः सामवेद उत्तरः पक्षः सव्यो बाहुः, आदेशः विधायकः त्रयाणामेव वेदानां ब्राह्मणभागः आत्मा मध्यमो देहभागः, अङ्गिरसः पुत्रेण अथर्वणा संगृहीतो वेदः पुच्छम् नाभेरधोभागः तत्पुच्छं प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा।

ইহা সমস্ত আর্য্যকেই, স্বীকার করিতে হইবে, অন্যথা গ্রন্থকর্ত্তার নামানুসারে বেদের নাম ইহা বলিলে আর্য্যদিগের পক্ষে বেদ ভেদরূপ একটী মহৎ নিগ্রহ উপস্থিত হইবে। বেদের ত্রয়িত্ব অঙ্গীকার করিলে অমরোক্ত "ইতি বেদাস্ত্রয় স্ত্রয়ী" ইহাও অনুগৃহীত হয়। পরন্তু অথর্বের বেদত্ব রক্ষণীয়, চারি বেদ এই প্রবাদটীও উন্মূলনীয় নহে; অতএব বক্তব্য—অথর্ব নামটী ঋক্ যজুঃ সাম ইহার ন্যায় রচনামূলক নহে, উহা পুরুষ নামানুরূপ। অথর্বা নামে কোন এক জন ঋষি ছিলেন, সেই মহর্ষি ইহলোকে ফলদায়ক শ্যেনাদি যাগ সিদ্ধির নিমিত্ত তিন বেদ হইতেই মারণবশীকরণাদির উপযোগী মন্ত্র সকল চয়ন করিয়া একত্র করত পৃথক্‌রূপে অধ্যাপনা করাইয়া সংহিতার চতুর্থত্ব সম্পাদন করিয়াছেন (২৭)। সেইরূপ সেই সংহিতায় যে সমস্ত মন্ত্র আছে, তাহাদিগের বিধায়কত্বাদি নিয়মকারী বাক্যগুলিও সংগ্রহ করিয়াছেন, সেই সমস্ত বাক্যগুলি অথর্ব বেদের ব্রাহ্মণ নামে কথিত হইতেছে। এইরূপ সংহিতাদি ~~সকল~~ সর্ব্বাবয়ববিশিষ্ট অথর্ব্বা কর্ত্তৃক সংগৃহীত বেদভাগ অথর্ব্ব নামে খ্যাত হইয়া থাকে। এই প্রকারে বেদের ত্রয়িত্ব সিদ্ধ থাকিলেও অথর্ব্বের বেদত্বও দূরীকৃত হইল না, যেহেতু ঐ তিন বেদের মধ্যেই উহা অন্তর্ভূত থাকিল। এতাবতা চারিবেদ এই প্রবাদও নির্মূল হইল না, অথর্ব্বার বেদত্বে কোন বাদও সমূলিত হইল না। কিন্তু উহা অথর্ব্বা কর্ত্তৃক সংগৃহীত ইহা অবশ্যই স্বীকার্য্য, অন্যথা বেদের ত্রয়িত্ব ও চতুর্থত্ব এই উভয় রক্ষিত হইতে পারে না। এবং উক্ত সিদ্ধান্তে অনেক স্থলের অনেক লিপিভঙ্গি ও প্রমাণ স্বরূপ হইয়াছে, যথা তৈত্তিরীয় শাখায় শ্রুত হইয়াছে—"তস্য যজুরেব শিরঃ, ঋগ্‌দক্ষিণঃ পক্ষঃ, সামোত্তরঃ পক্ষঃ, আদেশ উপদেশঃ, অথর্ব্বাঙ্গিরসঃ পুচ্ছং প্রতিষ্ঠা (২৮)" দেখুন এই স্থলে যজুঃ প্রভৃতির কোন বিশেষণ নাই, অথর্ব্বের বিশেষণ আঙ্গিরস রহিয়াছে, অতএব অঙ্গিরার পুত্র অথর্ব্বা বেদের চতুর্থত্ব সম্পাদনকারী ইহা স্পষ্টই প্রকাশ পাইতেছে॥

(২৭) রচনা নিয়মানুযায়ী সংহিতা তিনই প্রকার।

(২৮) আত্মার বাঙ্ময়কোষের মস্তক যজুর্ব্বেদ, ঋগ্বেদ দক্ষিণ হস্ত, সামবেদ বামহস্ত, এই বেদত্রয়োক্ত মন্ত্রাদির বিধায়ক ব্রাহ্মণভাগগুলি মধ্যভাগ হৃদয়াদি, অঙ্গিরার পুত্র অথর্ব্বা কর্ত্তৃক সংগৃহীত বেদ পুচ্ছ অর্থাৎ নাভির অধোভাগ, সেই পুচ্ছই প্রতিষ্ঠা অর্থাৎ তাহারই অবলম্বনে স্থিতি করা যায়॥

अथ १ विहित २ स्तवस्यास्य भुसंज्ञया पुरुहूताज्ञयेव आहूताः सविनयमुचितोपचिता ३ सेनां वाचमवोचाम। ४नमः कमलाकामुकानुकारावतरणेभ्यः५ श्रीचरणेभ्यः। सम्प्रति प्रसादप्रसादतः ६संहारगुरुमरुमरीचिकावीचिकाभ्रषाद्दषापगमभाजः। सुधासागरमगाधमध्यगमाम् ७। एतर्हि ८ बर्हिवाहनः कृतात्मसंवाहनो ९ ज्ञानदर्पणः कृतनिजार्पणः सद्यो याज्ञवल्क्यवाक्यमाशिश्रिये निःश्रेयसश्रेयसे १०। अधुनाधुनाना ११ पापानि सुरधुनीहाध्वनीनता १२ मयासीत्। शाश्वतास्माकं भविता १३ न भविता। भगवन्! भवन्मुखसुखावलोकनादुत्सरितातुच्छकृच्छ्रोच्छ्रायनिकायस्य कायस्य फलमविकलमवापाम। भवानेको १४ भवानेको पपातक १५ व्रातकलभकुलकवलनकठोरकण्ठीरवः १६। भवदागमनप्रसङ्गो गङ्गाप्रवाह इवात्र प्रायेण प्रावर्त्तते। युष्मद्विजयव्याजेन राजीवजन्मा १७ सन्मार्गोपदेशायास्मै समाजिहीतेस्म १८। उन्निद्र चन्द्रोवागत्य धरणीसरणीरत्नसारणीभि १९ रभिषिषे च। किं बहुना भवादृशां दर्शनमेव दारुणदुरितदारणम्। सम्भाषणमेव निखिलोपनिषन्निषेवणम्। स्पर्श एव स्पर्शाश्मलाभः शुश्रूषैव ब्रह्मशुश्रूषा। सन्निधानमेव सन्निधानं नमाराधनमेव समाराधनं तदवद्यनिरवद्यं २० तिथि २१ रतिथि २२ श्रेयान्मूर्त्तः मुहूर्त्तः समपद्यत। मात्रा २३ पित्रोः पवित्रोन्वयः प्रतिष्ठा२४ निष्ठामवाप। नित्यकृत्यानि कृतकृत्यानि नित्याभ्युदयचयभाजोवयं यद्यपि कृपामृतस्पृशादृशाभृशं कृतार्थाः, तथापि वाचालता २६ वाचालता कांडमकाण्ड २७ ताण्डवयति २८। २९ भगवत्परित्यागादकृशक्लेशः कतमोदेशः कृतः? स्वच्छन्दमागच्छद्भिरच्छधीभिः के के वाश्रमागतश्रमा-

---

१ भगवद्देरणं नाम तृतीयकुसुममाह—अथेति, गङ्गास्तुत्यनन्तरमित्यर्थः।

२ विहितेति। कृतस्तवस्यास्य महापुरुषस्येत्यर्थः।

३ उचितासौ उपचिता चेति, उपचिता उत्कर्षबोधिका इत्यर्थः।

४ तामेवाह—नम इत्यादि।

५ कमला लक्ष्मीः तस्याः कामुकोदयितः पतिरित्यर्थः। 'कान्तो दयितः प्रीतः प्रियः कामो च कामुकः' इति धनञ्जयः। तस्यानुकारः सादृश्यं तस्यावतरणं येषामित्यर्थः।

६ प्रथमः प्रसन्नता द्वितीयः प्रीतिदानम् तस्मादित्यर्थः, तस्यैव विशेषणं संसारेति।

७ अध्यगमाम, प्राप्ताः स्म इत्यर्थः।

८ सत्सङ्गादत्यन्तसुखावाप्तौ हृद्यसंवादमाह—एतर्हीति।

९ कृतम् आत्मसंवाहनं आत्माश्वासनं येन।

१० मुक्तिरूपकल्याणायेत्यर्थः।

११ धुनाना कम्पयन्ती।

१२ मार्गस्थताम्।

१३ संसारित्वम्।

१४ भवे संसारे अनेकः।

१५ उपपातकानां व्रातः समूहः। उपपातकान्याह मनुः (११ अ०)—"गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः। पितृमातृगुरुत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च। कन्याया दूषणञ्चैव वार्द्धुषित्वं व्रतच्युतिः। परिवित्तितानुजेनूढे परिवेदनमेव च तयोर्दानञ्च कन्यायास्तयोरेव च याजनम्। व्रात्यतावान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च। भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानाञ्च विक्रयाः। सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनम्। हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च। इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्। आत्मार्थञ्च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा। अनाहिताग्निता स्तेयं ऋणानामनपक्रिया। असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया। धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्। स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्" एतदुपलक्षणम्, महापातकादीन्यपि बोध्यानि। स एव कलभकुलं हस्तिशावकसमूहः।

१६ कण्ठीरवः सिंहः।

१७ राजीवजन्मा ब्रह्मा।

१८ समाजिहीते स्म, ह्वाङ् रोहाङ्गतावित्यस्य रूपम्, आगत इत्यर्थः।

१९ अन्तनदीभिरित्यर्थः। अल्पनद्याञ्च सारणीति मेदिनी।

२० अवद्यं दुष्टं, निरवद्यं दूषणरहितम्।

२१ तिथिः प्रतिपदादि।

२२ अतिथिः पूज्यः।

२३ मात्रा त्रुटिः।

२४ प्रतिष्ठा महत्त्वम्।

२५ निष्ठा स्थैर्यम्।

२६ वाचा वाक् सैव लता, कामुङ इत्यस्त्वः।

२७ असमयम्।

२८ नाटयति।

२९ पूर्वस्थानं पृच्छति—भगवदिति।

विश्रमादक्रियन्त ? ३० कच्चिदुल्लाघो ३१ पघन ३२ ता घनता ३३ मातनोति ? अत्र ३४ पवित्रचरित्रैरयं कियन्ति दिनानि यावदावसथः सनाथः क्रियते ? कियन्त्यहानि वा पुण्यहानि रहितैरिहाति वाहनीयानि माननीयैः ? क्व वा विवासाया सातिशयदायिनी ? ३५ भगवन्तः कियन्तः श्रीमतामन्तिके ज्ञानामृतस्नातकाः प्रतिनिवसन्ति ? सन्निधौ निषिद्धविरुद्धजनाधिकरणं ३६ व्याख्यायते ख्यातिवादैः श्रीपादैः कियत्संख्याः संख्यावन्तः श्रोतारः ? प्रशस्तसमस्तपुस्तकसंग्रहानुग्रहोऽस्ति नास्ति वा ? सन्न्यासात् प्रागेव गेयचरितैरधिजगे खगेन्द्रवाहनामलमतिभिः; उत सन्न्यस्य ? पुण्यराशिभिः प्रथमाश्रमाद्देवतावतारैः सन्न्यस्तम्, अथ गृहस्थाश्रमाद् द्वितीयाश्रमाद् ? विश्वाभयदानदक्षदक्षिणहस्तानां सन्न्यस्तानां काकोदरनायकोदरसुप्तदामोदरहृदाश्लेषोल्लासितरमास्यानि कतिपयचातुर्मास्यानि ? सम्प्रति निःप्रतिमप्रज्ञावज्ञातसुरगुरवो गुरवः कस्मिन्नुपवर्त्तने वर्त्तन्ते ? कियतीयतीश्वराणामजनि जनितः प्रभृति विमला वर्षमाला। अद्य वन्द्यपादानां साधुमाधूकरी भिक्षा पियूषकक्षामनूचानचयगृहेषु ग्रहिष्यति, किमु कस्यापि भाग्यभाजो भवने भवने पथ्यभूता भविष्यत्येका भिक्षा ? ३७ अन्यच्च। श्रीमतां वेदान्तवेदान्तेवासि प्रसिद्धिभिरेव जनोभवन्महिमानम्। ३८मीमांसां निःसीमां स स्म्रां प्रतिपद्यामहे महेच्छानाम्। भवदुपन्यासाद् विहितकणादानुवादाक्षपादा ३९ नुवर्त्तिन्योविद्या प्रसिद्धबौद्धप्रयुक्ताः कुतर्ककर्कशशरेभ्यो न बिभ्यतीत्यभ्यर्हिताः प्रकाम मामनन्ति। सांख्येऽसंख्येयसंख्यावसंख्ये मुख्यतया लिख्यन्ते लेखैरपि युष्मादृशाः। अपात प्राञ्जलपातञ्जलजलधिरञ्जलिनाकलितः कलितमोहारिभिः। गुणानां साहित्यमादधाति धातृतुल्यानाम्। तत्तद्रसप्रसवित्वं कवित्वं बिभर्त्ति कीर्त्तिमतामनुशुश्रुम। अतएव युष्माभि रनूष्माभिषङ्गैः समं सविस्मयाः समगंस्म हीत्यभिहिते विहितयथोचितानुवादे प्रदक्षिणाचरणचरणप्रणामादिना सप्रसादे प्रसादे तदनुज्ञया ततस्तीव्रं तदनुव्राजिष्म।

इति कविकल्पलतायां कथाख्य-
तृतीयस्तवके भगवदीरणं नाम
तृतीयं कुसुमम्।

---

१ अथ दक्षिणेन २ क्षौणीपतिमार्गं, भार्गवमिव परशुभोल्लासित अम्, ३ अमृतसंभारमिव कुण्डलसल्लक्ष्मीकं, वशिष्ठमिव वशिज्येष्ठम्, पराशरमिव पराशयज्ञं, वेदव्यासमिव वेदव्यासक्तम् ४,

---

३० आरोग्यं पृच्छति—कच्चिदिति।

३१ उल्लाघो नीरोगी।

३२ अपघनः अङ्गम्।

३३ आघनतां नैरन्तर्य्यम्।

३४ अत्र स्थितिकालं पृच्छति—अत्रेति।

३५ शिष्याध्यापनं पृच्छति—भगवन्त इति।

३६ निषिद्धा बौद्धचार्वाकजैनप्रभृतयो वेदाप्रामाण्यवादिनः, तेषां विरुद्धाः वेदप्रामाण्यवादिनो मीमांसकादयः। अधिकरणं पचाङ्गविचारेण निर्णयः। तदुक्तम्—'विषयोविषयी चैव पूर्व्वपक्षस्तदुत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।"

३७ सर्व्वशास्त्रपारदर्शित्वेन स्तौति—अन्यच्चेति। श्रीमतां महिमानं जनो वेदेति योजना; एतेन वेदान्तपारदर्शित्वं सूचितम्।

३८ इदानीम् मीमांसादिपारदर्शित्वेन स्तौति—मीमांसेति।

३९ अक्षपादो गौतमः, अक्षैर्ज्ञानविशेषैर्व्यवहारैर्वोपपद्यते न्यायत इत्यक्षपादो गौतम इति शब्दस्तार्णवः।

इति कविकल्पटीकायां ३स्त० ३कु०।

१ विप्रसम्भाषणकथाव्याजेनाह—अथेति, महापुरुषसम्भाषणानन्तरमित्यर्थः।

२ दक्षिणेनेति—राजपथस्य दक्षिणे एतेन शुभं सूचितम्। तथाच, दक्षिणे गोमृगद्विजा इति। कञ्चिद्ब्राह्मणं सम्यगुपागम्य वयमवादिष्मेति योजना।

३ परशुः कुठारः तस्य भा दीप्तिः, तया उल्लसितम्, परं सुगमम्।

४ वेदान् वियन्ति विस्तारयन्ति व्ययन्ति संवृण्वन्ति वा वेदव्यो वेदव्या वा तेष्वासक्तम्।

शुकमिवाकलितपरमार्थम्, ५ दुर्वाससमिव दुर्वासनाशून्यम्, जमदग्निमिव नमदग्नितेजसं, सर्गमिव भर्गभाजम्, कश्यपमिव वश्यपरमैन्द्रियम्, गौतममिव श्रौतमतप्रवर्त्तकम् विश्वामित्रमिव विश्वामित्रम्, अत्रिमिव सत्रिप्रवरम्, गुरुमिव क्रतुक्रियाकोविदम्, कुत्समिवाकुत्सचरितम्, वत्समिव वत्सलम्, वालिमिव जीवालिदयालुम्, तरुणायमानकरुणारसनिर्यासपीयूषवर्षिभि र्दृगञ्चलैरुदंचयन्तमिव चन्द्रचक्रवालम् । ईषदुन्मिषद्दशनच्छलेन स्वच्छमाशयं प्रकाशयन्तम्, उपमठपठदकुण्ठकण्ठवैकुण्ठभक्तविरक्तप्रव्यक्तोक्तसूक्त ६ संसक्तचेतसम्, ऊर्द्ध्वरेतसम्, अजिह्मम्, वर्षिष्ठं ब्राह्मणम् सत्यमुपागम्यैतदवादिष्म । श्रीम ७ न्नमस्कुर्महे महश्शमहसामत्र भवतां विहिततीर्थसार्थसञ्चरणौ चरणौ भवांश्च ८ चतुराननोऽप्यनष्टश्रुतिः, पुरुषोत्तमोऽपि न मायावल्लभः, गिरिशोऽपि नास्थिरचिरशोभः ततो न कस्य नमस्यः । ९ भवतः कलानिधेरनुपाधिरियं चातुरी यच्चतुरचन्द्रकान्ताननं सुरोचितं बचनपीयूषं वर्षतीति निरवद्यालापपद्या१० मनुसरामः । एकः सातिरेकविवेकः केषां विदुषां परिषदि न गण्यसे । पुण्याशेमुषी आसीद् यास्मदीया दिदृक्षा प्रेक्षावन्तं भवन्तं प्रति सा पूर्णा न किमप्यवेक्ष्य मपेक्ष्यते । यद्यप्यनवद्यविद्याविद्युदुद्योतोद्योतितमेदिनीमण्डलानामविकलांकलयामः कुशलतां ११ कुशक्ततां दधतां श्रीमतां, तथापि मुदा सदाचारस्वच्छा पृच्छासौ विधीयते । भव्यमव्याहतचित्तानाम् । कच्चिदाचारचातुरीतुलितचिरपुरुषरत्नानामिव १२ नगरीगरीयसी सदावदातभवदवस्थानात्, उत कुतोप्यागतं वतंसभूतं भूतलस्य ? कियन्तः श्रीमता मिहाग्रहारा १३ धराग्रहाराः १४ शालिशालिनः ? कच्चिद् विपश्चिद् यजमानो भवन्मानोचितो वर्त्तते ? कीर्त्तिमतां प्रतिग्रहं जहति महति यत्ते महितमहिमानः गृह एव निगृहीतेन्द्रियग्रामैरव्ययमवस्थीयते, किम्वा क्वापि कदापि गम्यतेऽनवगम्यतेजोभिः ? कस्मिन्नप्यवसरे नरेश्वरावासं प्रति सम्प्रति यात्रा क्रियतेऽन्यत् क्रियते वा ? तस्मिन्नन्यः कतिप्रतिदिनं स्नानानि भवन्ति ? शुम्भन्ति माध्यन्दिनं १५ कर्म्मनिर्मले निर्मसेहितै भोजनमजनि रजनिकरनिकरनिभं शुभयशसाम्, उत विचक्षणानां क्षणादुपरि परिष्विति १६ र्भवित्री ? भोजनस्य कस्मिन् कस्मिन् वादिगिरिविदारणदारुणकुलिशास्त्रे शास्त्रे मेदुरास्फुरत्यादरोदरोन्निद्रतामरसोदरपत्रसोदरनेत्राणाम् ? कापि व्याक्रियते व्याख्या, उत न व्याक्रियते ? किमपि प्रत्यहमहं १७ यथा भवदवलोकनादासादयामोदयामोदितमनोभिः सुमनोभिस्तथा विधेयम् । १८— इत्यस्माकमाकर्ण्य कर्णरसायनं वचनं तैरपि कपिलमुनिकल्पैरनल्पजल्पजलधरध्वनिमधुरगम्भीरतारभारती प्रतिशब्दमुखरितमन्दिरोदरमिदमुदीरयामासे । १९ सुचिरमपरिचयवशादसांप्रतं साम्प्रतं पौर्वापर्य्यविपर्य्य-

५ पक्षे परा या मा माया, तस्या अर्थोऽस्य इति यावत्, कलितो लयीकृत इत्यर्थः ।

६ मठस्य समीपे पठन्तोऽकुण्ठकण्ठा ये वैकुण्ठभक्ताविरक्ताः प्रव्यक्तं प्रकटम् उक्तानि सूक्तानि यैः ते इति ।

७ उक्तं यत्तदेवाह—नमस्कुर्महे इत्यादि ।

८ विरोधाभासेनाह — चतुराननेति । न अष्टौ श्रुतयः कर्णौ यस्य । चतुर आननं यस्य ।

९ गुणान् स्तौति—भवत इत्यादि ।

१० पद्या पद्धतिः ।

११ पक्षे, कुशस्य दर्भस्य लतामिव तीक्ष्णत्वात् ।

१२ चिरपुरुषाः चिरजीविपुरुषामरीच्यादयोऽन्येऽपि ये महर्षयः कल्पायुषः ।

१३ अग्रहाराः ब्राह्मणस्थानानि । उक्तञ्च सिद्धान्तशेखरे—"खेटग्रामाग्रहाराश्च कुलं दुर्गञ्च पत्तनम् । पुरञ्च राजधानी च कीर्त्तिता अष्टधा बुधैः । शूद्रैरधिष्ठितं खेटं ग्रामः शूद्रैर्द्विजैस्तथा । विप्रैश्चैताग्रहारो च स्यादित्यादि ।

१४ धराग्रहाराः पृथिव्याः श्रेष्ठहारा इत्यर्थः ।

१५ मध्यन्दिनेति मध्याह्नविहितं भोजनविशेषणम् ।

१६ परिष्विति: सम्पादनमित्यर्थः ।

१७ महं नित्योत्सवम् ।

१८ स्ववाक्यमुक्त्वा तदीयवाक्यं वक्ति — इत्यस्माकमिति, तेरुदीरयामासेति योजना ।

१९ तदीयवाक्यं कात्स्न्येन वक्तुं निजायोग्यत्वमाह—सुचिरेति । अपरिचयः असङ्गतिः । असाम्प्रतम् अयुक्तम् । साम्प्रतम् इदानीम् ।

याद् यत्किञ्चिदकस्मादस्माभिरभिधीयते, तत्र पवित्रगुणगणौ दूषणगणग्रहणग्रहिलैर्न भाव्यम् भावव्यञ्जितमहितमहिमभिर्महाशयैः । (२०) नयनयोरमितममृतद्रवं स्रवन्तः के भवन्तः अभिवादये। दयेन्दिरामन्दिरायमाना हृदयारविन्दान् (२१) युष्माननूष्मायितान् सम्यगागम्यताम्। नितान्तं पवित्रचरित्रैरिहोपविश्यताम्। इष्यतां दधानैर्गुणनिधानैः सर्वतः शर्मस्वधर्मकर्मनिर्मलमनसां सुमनसां। कुतः कुतर्ककर्कशसम्पर्करहितैरिहायातम्? गृहादागम्यते रम्यतेजोभिरुत कुतश्चिद् विपश्चिद् वरेण्यैरन्यतः? अत्रागमनेनायं ग्रामो गुणग्रामोपचितः। कदा विरचितः परिचितकलाकल्पैः। किं नाम नामनिकामनिर्मलमतीनाम्? विहितविद्वज्जनवृजिननिर्वासः क्व वासः कृतः? कुतश्चैरयं संवसथः। कियन्ति वासराणि करणीयः? किं किमधीतं सुधीभिः? किं किं च पुस्तकमस्ति स्वस्तिमताम्? निर्मितमितखेदच्छेदः को वेदः कोविदैः पठ्यते? का वा शाखा निशाखानुकल्पिनो? कोदेशः पेशलप्रकृतीनाम्। अदूष्याः पोष्याः कति सन्ति भवतां शुभवताम्? कति भार्या आर्याणाम्? बहवः पुत्राः, किं द्वित्राएव देवकल्पाः? कियन्त्यः कन्या विश्वाधिकन्यायभाजाम्? जनयित्री जनको जनकौतु कदापि चरितौ, किमासाते वा कीर्त्तिशेषपदं निःकपटम्? कियन्ति दिनानि यावदावयोः किमिति दर्शनजनिर्नाजनि अयाचितम्? भृशं बलं शंवलं किं च नास्ति, नास्ति वा? कथं निर्वाहो हव्यवाहोपमतीव्रतेजसां बोभवतीति, भवमीति मुख्या विदुषां नित्यं कर्म हर्म्य एव निर्मीयते निर्मलमनोभिरथवा पुष्कल पुष्करे पुष्करिणीतटे? एकवारमाहारः सारभूतः प्रभूताज्यः प्राज्यव्यंजनो भवति, द्विर्वा? प्रथमं सन्तर्पितनभोजनं (२२) भोजनं कियत्यां वेलायां सम्पद्यते? अत्र मैत्री यात्री दिविषदां केन केन समं? २३ समन्ततो विशदपदकदम्बगुम्फोपस्कृतं संस्कृतं श्रीमता श्रुतमेवास्वच्छन्द (२४) ममन्दच्छन्दःसन्दानि तनितान्तकान्तकविताकान्तारे (२५) गौ (२६) स्वरति। आत्मकृतिः कृतिवरैः कापि पठ्यताम्? अव्यग्रसमग्रगुणाग्रामैर्ग्रामान्तरगतमासीत् क्षमासीमन्तमणिभिः, अथवात्रैवास्थायिस्थायिकीर्त्तिभिः कियन्ति तीर्थानि प्रज्ञाऽवज्ञातगीर्वाणगुरुभिरवीक्षितानि, कियन्ति चातिमात्रपवित्रयाथात्रया निर्दम्भैः संभावनीयानि?२७ भवतां भक्तिः शीतकिरणाभरणे भृङ्गिणमवगणयति (२८) किमुत कौस्तुभविभूषणे विभीषणं विशेषयति (२९)? संप्रति प्रतिभाजुषां जिगमिषैव लक्ष्यतेऽवलक्षयशसाम्। अस्मन्मनीषितमखिलमेव पूर्णमासी पौर्णमासी हिमांशुमांसलकीर्त्तिमतां भवतामवलोकनेन। इति निःप्रतिममतिभिरभिहिते यथाप्रश्नं लोकोत्तरैरुत्तरै रनुमोद्याभिवाद्य च वाद्यवेक्षणाकांक्षया निरगामि समगामि च, स्वामिसमीक्षणप्रतिक्षणविजृम्भमाणकल्याणभरै रस्माभिः।

इति कविकल्पलतायाम् कथाख्यतृतीयस्तवके ब्राह्मणसम्भाषणं नाम चतुर्थं कुसुमम्॥

२० तद्वाक्यमाह—नयनयोरित्यादि। अभिवादये प्रणमामि।

२१ दया एवेन्दिरा लक्ष्मी तस्यां मन्दिरायमाना हृदया येषाम् तान् अनुष्मायितान् शीतलस्वभावान्।

२२ नभोजना देवाः।

२३ भवतां शास्त्रेषु समीचीना विद्या इत्याह—समन्तत इत्यादि।

२४ स्वच्छन्दं यथेष्टम्।

२५ अमन्दः अद्भुतः, मात्रावर्णविभागाद् द्विविधः। तेन सन्दानिता निबद्धा या कविता सैवकान्तारः अतिदुरूहः।

२६ गौ र्वाणी।

२७ भवन्तः शैवा वैष्णवा वा इति पृच्छति—भवतामित्यादि।

२८ अवगणयति कनिष्ठीकरोति।

२९ विशेषयति श्रेष्ठीकरोति।

इति कविकल्पटीकायां ३स्त० ४कु०।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—आस्तां तावद् द्रव्यं, देवता तु विधित्सितस्य कर्मान्तरस्य सर्वथा न लभ्यते; वार्त्रघ्नी-वृधन्वत्योस्त्वाज्यभागदेवताप्रतिपादकत्वात्। हौत्रे मन्त्रकाण्डे सामिधेनीरावाहननिगदप्रयाजमन्त्रांश्चाम्नाय प्रयाजानन्तर-भाविनो राज्यभागयोः क्रमेण वार्त्रघ्नी वृधन्वत्यौ चाम्नाते, लिङ्गं चाग्निविषयं सोमविषयं च तत्रोपलभ्यते। ततो लिङ्गक्रमाभ्यामाज्यभागविषयत्वमवगम्यते॥ यत्तु वार्त्रघ्नी पौर्णमास्या मित्यादि वाक्यं तल्लिङ्गक्रमक्लृप्तयोराज्यभागाङ्गयोर्मन्त्रयुगलयोः कालद्वय व्यवस्था माचष्टे, न तु नूतनकर्माङ्गतया विदधाति, अतोरूपराहित्याद् विवृद्वाक्यं कर्मान्तरविधायकं न भवति; किन्तर्हि? पूर्वप्रकृतेषु आग्नेयादिषु षट्सु त्रिकरूपौ द्वौ समुदायावनुवदति। न च कालवाचिभ्यां पौर्णमास्यमावास्याशब्दाभ्यां यागानुवादानुपपत्तिः, तत्तत्काले विहितयो र्यागत्रिकयोरुपलक्षितत्वात्। नचानुवादोव्यर्थः, समुदायद्वित्वसिद्धेस्तत् प्रयोजनत्वात्; तत्सिद्धौ च दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते त्यस्मिन् फलवाक्ये षड्भागविवक्षया द्विवचननिर्देश उपपद्यते। यदप्युक्तम्, अनुवादपक्षे पौर्णमास्यामित्यादिवाक्य वैयर्थ्यम्—इति। तदयुक्तम्। कालविधानासम्भवेप्येकैकस्य त्रिकस्य सहप्रयोगविधानात्। आग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीयाणां त्रयाणां पौर्णमासीकालविहितानां सह प्रयोगः पौर्णमास्ये त्यनेन तृतीयैकवचनान्तेन विधीयते। एवमितरत्रापि। ननु विवृद्वाक्यस्य कर्मान्तरविधायकत्वाभावेऽपि नानुवादकत्वम्, तस्य यागविधायकत्वाभ्युपगमात्; आग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादिवाक्यानि तु विहितयागानुवादेन द्रव्यदेवतालक्षणगुणविधायकानि;— इति चेत्, न; तथासत्येकेन वाक्येनानेकगुणविध्यसम्भवात्। प्रतिगुणं पृथग्विधौ, विध्यावृत्तिः प्रसज्येत; आग्नेयादिवाक्यानां विधायकत्वे तु विशिष्टविधित्वान्नास्ति विध्यावृत्तिदोषः। तस्मादाग्नेयादिवाक्यविहितानां विवृद्वाक्यमनुवादकम्; किञ्च, अनुवादमनभ्युपगम्य कर्मान्तरविधिं वदतः प्रयाजादीनामाग्नेयादीनाञ्च गुणप्रधानभावो न सिद्ध्येत्; तथाहि 'समिधोयजति' 'आघारमाघारयति'—इत्यादयः कालयोगरहिताः केचिद् विधय आम्नाताः, 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यां च'—इत्यादयः कालयुक्ताः, अपरे तेषामुभयेषां प्रकृतत्वात् 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'— इति वाक्येन सर्वेषां फलसम्बन्धो बोधनीयः—इति— 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'—इति द्विवचनमन्वबहुवचनत्वेन परिणेतव्यम्, विवृद्वाक्यविहिते द्वे कर्मान्तरे प्रयाजादय आग्नेयादयस्तु—इत्येतेषु द्वित्वासम्भवात्। सर्वेषां फलसम्बन्धे राजसूयगतेष्टि पशुसोमवत्समप्राधान्यात्, प्रयाजादीनां गुणभावो न स्यात्; तदभावे चानङ्गत्वात्, सूर्यादिविकृतिष्वाग्नेयादीना मिवातिदेशो न स्यात्। अनुवादपक्षे तु त्रिकयोः कालयोगेन दर्शपूर्णमासशब्दार्हत्वात् समुदायद्वित्वेन द्विवचनार्हत्वाच्चाग्नेयादीनामेव फलसम्बन्धेन प्राधान्यम्, प्राजादीनान्तु गुणभावः,—इति न कोऽपि दोषः। तस्माद विवृद्वाक्यमनुवादकम् ॥१।२।३॥

इति तृतीयाधिकरणम्।

(वि०) एवंहि श्रूयते 'जामिवा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजतीति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वायेति'। अत्रापि प्रत्युदाहरणसङ्गत्या विचारमारभमाणः आशङ्कते।

(सू०) पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात्। २।२।६॥

(वि०) यथा 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यत्रपौर्णमासीत्यनेन आग्नेयः, अग्नीषोमीयः, पुरोडाशौ,—इति त्रयो यागा गृह्यन्ते, नहि तत्र आग्नेयादित्रयातिरिक्तः पौर्णमासी याग उपलभ्यते; तथात्रापि 'उपांशुयाजइत्यनेन उपांशुत्वसामान्यात् विष्णुरुपांशुः प्रजापतिरुपांशुः, अग्नीषोमावुपांशु;—इत्येतत् त्रयो यागा गृह्येरन्, नहि विष्ण्वाद्यतिरिक्त उपांशुयागोविद्यते। तथाच 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इति नापूर्वविधिः॥२।२।६॥

अत्र समाधत्ते ।

(सू०) चोदना वाऽप्रकृतत्वात्,

(वि०) स्यात् उपांशुयागस्य पौर्णमासीवत्त्वं, यद्यनुवादत्वं स्यात्; नैषोऽनुवादः 'उपांशुयाजमन्तरा यजतीति,' अयंहि 'चोदना' अपूर्वविधिः। कुत इत्युच्यते—'अप्रकृतत्वात्' प्रकृतस्य हि पुनः कथनेन भवत्यनुवादत्वम् न हि उपांशुयागोऽन्येन केनचिद् वाक्येन विहितः, यस्यायमनुवादः स्यात्; तस्मात्। नचोच्यते विष्णुरुपांशु यष्टव्य इत्येवमादय उपांशु यागाः सिद्धाः, तेषामेव विधितयाणाम् उपांशुत्वसाम्यादनुवादएषः ; तेषामेवानुवादत्वात्। 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इत्येषोऽपूर्वविधिः, अस्यैवानुवादास्ते ।

ननु तेषामनुवादत्वमुतास्येत्यत कोविनिगमः? इति हेत्वन्तर माह ।

(सू०) गुणोपबन्धात् ॥ २।२।१० ॥

(वि०) 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इत्येषोऽपूर्वविधिरेव, कुतः? 'गुणोपबन्धाद्' इष्यतेऽत्र गुणस्य अन्तरालरूपस्य उपबन्धः सम्बन्धः, तस्मात् यद्यस्यानुवादत्वं स्यात्तर्हि अन्तराल गुणस्याविवक्षितार्थत्वं स्यात्, तथासति उपक्रमोपसंहारौ व्याकुप्येयाताम्; 'जामिवा एतद् यज्ञस्य क्रियते' इत्युक्रम्य 'अजामित्वाय' इत्युपसंयतम्, यद्यन्तराल गुणविशिष्टस्य विधानं न मन्येत, तर्हि जामित्वदोषवारणायप्रवृत्तं वाक्यं विष्णवादिगुणकोपांशुयागान् विधाय कथं न पराहतं स्यात्। 'विष्णुरुपांशुयष्टव्यः' इत्येवमादीना मनुवादत्वे स्वीकृते, उपांशुयागे द्रव्यदेवताभावरूपदोषस्त्वदोषः; श्रौवस्य द्रव्यत्वात्; देवताया मन्त्रलभ्यत्वात् ॥२।२।१०।

सिद्धान्तित मेव हेत्वन्तरेण द्रढयति ।

(सू०) प्राये वचनाच्च ॥२।२।११ ॥

(वि०) प्रधानकर्मप्राये वचनं कथनं विद्यतेऽस्य, तस्मात्। तथाहि 'आग्नेयएव शिरः, हृदयमुपांशुयाजः, पादावग्नीषोमीयौ' इति । यद्यत्र उपांशुयाजशब्देन विष्ण्वादि त्रयएव गृह्येत्, तर्हि कृत्वेन याग इति वदेत्, अनुकरणत्वे तु नायं दोषः प्रसरति। एवञ्च 'उपांशुयाजमन्तरा यजति इत्येषो नानुवादः, अपितु अपूर्वविधिः। वीजन्तु तद्विचारे—यदि 'उपांशु याजमन्तरा यजति' इत्यनुवादः स्यात्, तर्हि विष्ण्वावाक्येषु अभ्यासहेतुकः कर्मभेदः प्रसज्येत ; विष्ण्वादिवाक्यानामनुवादत्वे तु न भवति कर्मभेदः ॥ २।२। ११ ॥

तदेतच्चतुर्थाधिकरणमारचयति ।

(अ०) उपांशुयाजमित्येषोऽनुवादोऽथवा विधिः। विष्ण्वादिवादिवाक्ये विस्पष्टविधेरस्यानुवादता। जामित्वोक्तरन्तराल उपांशुगुणके विधौ। सत्यर्थवादो विष्ण्वादिस्तद्रूपं ध्रौवमन्त्रतः ॥२।२।४॥

(टी०) इदमाम्नायते 'जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापति रुपांशुयष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशुयष्टव्यावजामित्वाय' इति। तत्र विष्ण्वादिवाक्येषु विहितस्य यागत्रयस्य समुदायार्थोनुवादः।—इति चेत्—मैवम्, आग्नेयाग्नीषोमीयपुरोडाशद्वयनैरन्तर्य्यकृतस्य जामित्वदोषस्य वाक्योपक्रमे उपन्यासीत्। पुरोडाशयोरन्तराले किञ्चित् विधित्सितम्; न ह्यन्तरालगुणविशिष्टं विधेयं विष्ण्वादिवाक्येषु प्रतीयते, पूर्ववाक्येतु तत्प्रतीयते—इति विधायकं तद्वाक्यम्। नचात्र यजतीति वर्त्तमानोपदेशः शङ्कनीयः, लेटः पञ्चमलकारस्य स्मरणात्। अन्तरालकालवदुपांशुत्वगुणस्यापि विशेषणत्वात् तद्विशिष्टकर्मण उपांशुयाजनामत्वम्। सत्येवं गुणद्वयविशिष्टकर्मणि आद्येन वाक्येन विहिते विष्ण्वादिवाक्यत्रयमर्थवादः स्यात्। नचात्र विहितयागानुवादेन देवताविधिः शङ्कनीयः, समाधातव्येन जामित्वदोषेणोपक्रमादजामित्वेन समाधानोपसंहाराच्च जामिवा इत्यादेरजामित्वायेत्यन्तस्य

सर्वस्य वाक्यस्यैकत्वप्रतीतेः; न खल्वेकस्मिन् वाक्ये विधेयबाहुल्यं सम्भवति। नचात्र विधित्सितस्य उपांशुयागस्य द्रव्याभावः, ध्रौवस्य तद्द्रव्यत्वात्। नापि देवताया अभावः, नानाशाखास्थपांशुयाजक्रमेह्यपठितैर्वैष्णवप्राजापत्याग्नीषोमीयमन्त्रैः विकल्पेन देवतात्रयस्य प्रतीयमानत्वात्। तस्माद् यजतीत्येतद् विधायकम्॥ २।२।४॥

इति चतुर्थाधिकरणम्।

एवंहि श्रूयते 'आघारमाघारयति'; तथा, 'ऊर्द्धमाघारयति, सन्ततमाघारयति, ऋजुमाघारयति' इत्येवमादि; अपरञ्च, 'अग्निहोत्रं जुहोति' तथा, 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इत्येवमादि। अत्रापि प्रत्युदाहरणसङ्गत्या विचारमारभमाणः आशङ्कते।

(सू०) आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात्। २।२।१२।

(वि०) 'आघारमाघारयति' इत्येतद् 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्येतच्च, द्वे अप्येते अनुवादवाक्ये। यच्छ्रूयते 'ऊर्द्धमाघारयति' इत्येवमादि, तस्यायमनुवादः 'आघारमाघारयति'; यच्च श्रूयते 'दध्ना जुहोति' इत्येवमादि, तस्यायमनुवादः 'अग्निहोत्रं जुहोति' तेषां विधित्वम्, अनयो र्विधित्वं कुतोनेत्याह 'अरूपत्वात्' रूपं द्रव्यदेवते, ते चैतयोरश्रवणादित्यर्थः, 'आघारमाघारयति, 'अग्निहोत्रं जुहोति';—इत्यनयो र्नहि द्रव्यं देवता वा श्रूयते, कुतो विधित्वम्? तस्मादनयोरनुवादत्वमेव न्याय्यः॥ २।२।१२॥

अरूपत्वे हेतुद्वयमुच्यते।

(सू०) संज्ञोपबन्धात्।२।२।१३।

(सू०) अप्रकृतत्वाच्च। २।२।१४।

(वि०) 'आघारमाघारयति' इत्यत्र 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र च 'संज्ञायाः' आघारस्य अग्निहोत्रस्य च 'उपबन्धः' सम्बन्धोदृश्यते' संज्ञाहि अव्युत्पन्नेन भवितव्यम् तथाच व्युत्पत्त्यापि द्रव्यदेवते न लभ्ये; तस्मादेतयोः अरूपत्वम्। अपरञ्च नहि प्रकृतमप्येतयोर्द्रव्यदेवते विद्येते, येन रूपवत्वं स्यात्; तस्मात् एतयोः अरूपत्वम्, अरूपत्वाच्च विधित्वाभावः, ततश्च अनुवादत्वम्। तथाच अभ्यासहेतुकः कर्मभेदोऽत्रापि स्वीकार्य्यः। २।२।१३, १४॥

अत्र समाधत्ते।

(सू०) चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात् तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः। २।२।१५।

(वि०) 'वा' न अर्थे, पूर्वपक्षिणा यदुक्तम् तन्न। 'आघारमाघारयति' इति 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति च 'चोदना' अपूर्वविधिः। पूर्वपक्षोक्तहेतुं खण्डयन्नत्र हेतुमाह 'शब्दार्थस्य' आघारयति, जुहोति;—इति शब्दार्थस्य अनन्याक्षिप्तविधिशक्तित्वेन प्रयोगस्य कर्मानुष्ठानस्याप्राप्तत्वेन आघारहोमधात्वर्थानुरक्तभावना विधिरूपत्वात्। नन्वेवम् ऊर्द्धमाघारयति दध्ना जुहोतीत्येवमादीनां पुनः श्रुतिः कैमर्थिका भवितव्येत्याह—'गुणार्थेन' आघारणे हवने च ऊर्द्धादि दध्यादि च गुणरूपे, 'ऊर्द्धमाघारयति' इत्येवमादयः 'दध्ना जुहोति' इत्येवमादयश्च गुणविधयः, विधौ गुणान् समर्प्य चरितार्था भवन्ति। 'आघारमाघारयति' इत्यत्र 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र च ते गुणसमर्पकाः, तत्र को हेतुरित्युच्यते—'तत्सन्निधेः' आघारादेः कर्मणः सन्निहितत्वादित्यर्थः। एवञ्च 'ऊर्द्धमाघारयति' 'दध्ना जुहोति' इत्यादीनामपूर्वविधित्वाभावेन अभ्यासहेतोरभावान्नात्र कर्मभेदः प्रसरति—इत्येवात्रत्यविचारफलम्॥ २।२।१५॥

तदेतत् पञ्चमाधिकरणमारचयति।

(अ०) अग्निहोत्राघारवाक्यमनुवादोऽथवा विधिः। अरूपत्वात्तु दध्यूर्द्धवाक्योक्तमनूद्यते। गुणसिद्धौ न दध्यादिगुणोदृष्टा विशिष्टता। रूपं द्रव्यादि

मन्त्राभ्यामतोऽसौ गुणिनो विधिः ।२।२।१५।

(टी०) इदमाम्नायते, 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति'—इति। इदमपरमाम्नायते, 'आघारमाघारयति' 'ऊर्द्धमाघारयति' 'ऋजुमाघारयति'—इति। तत्र, अग्निहोत्रमिति वाक्यं दध्यादि वाक्यविहितस्य कर्मसमुदायस्यानुवादः, आघारवाक्यं चोर्द्धादिवाक्यविहितस्य। नत्वेतद्वाक्यद्वयं कर्मविधायकम्, कुतः ?. द्रव्यदेवतालक्षणस्य यागरूपस्याभावात्।

इतिचेत्—न। तत्र, दध्यादिवाक्येन गुणमात्रं विधीयते, किं वा गुणविशिष्टं कर्म ? नाद्यः, अग्नीहोत्रादि वाक्यस्य त्वन्मते कर्मविधायकत्वाभावेन गुणिनः कस्यचिदसिद्धौ गुणानुवादपुरःसरस्य गुणमात्रस्य विधानस्यासम्भवात्। द्वितीये, विधिगौरवं स्यात्, तच्च सत्यां गतावयुक्तम्। अतोऽग्निहोत्रादिवाक्यं कर्मविधायकम्; तत्र, द्रव्यं दध्यादिवाक्यैर्लभ्यते, देवतातु मान्त्रवर्णिकी। आघारेऽप्येवं द्रव्यदेवते उन्नेतव्ये ॥ २।२।१५॥

इति पञ्चमाधिकरणम्।

एवं हि श्रूयते 'योदीक्षितो यदग्नीषोमीयंपशुमालभते' अपरं तत्रैव 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' 'अथ जिह्वायाः' 'अथ वक्षसः'—इति; तथा 'सोमेन यजेत' तत्राप्यपरम् 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' 'आश्विनं गृह्णाति' इति। अत्रापि पूर्ववत्, अवदानग्रहणयोरभ्यासात् यागभेदः प्राप्तः तन्निराकर्त्तुमाह।

(सू०) द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थकोद्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ।२।२।१६।

(वि०) अवदानग्रहणवाक्यानां स्यात् कर्मान्तरता, यदि तेषामपूर्वत्वं स्यात्; यच्छ्रूयते 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' यच्च 'सोमेन यजेत'—इति अनयोर्दृश्यते पशुसोमयोः चोदना हेतुमाह—द्रव्यसंयोगात्' खिरिणीलता रूपेण सोमेन पुच्छादियुक् पशुस्वरूपेण च द्रव्येण यजत्यालभत्योः सम्बन्धात्। अन्यथा गत्यभावञ्च प्रदर्शयति—प्रकरणे–इत्यादि। 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' इत्यादेः 'ऐन्द्रवायवीयं गृह्णाति' इत्यादेश्च अनुवदितारा विमविलेतन्नहि वक्तुं युज्यते, 'हि' यतः 'प्रकरणे' ऐन्द्रवादिवाक्ये हृदयादिवाक्ये च प्रकृते स्वीकृतेऽपि 'द्रव्यसंयोगः' पशुसोमयो र्द्रव्ययोः यजत्यालभतिभ्यां सम्बन्धः अनर्थकः स्यात्। अयं भावः—अवदानग्रहणवाक्ये हि ऐन्द्रवायवादिरसस्य हृदयादेश्चोपादानम्, यजत्यालभत्योस्तु पशुसोमयोः; पशुर्हि पुच्छादियुक् सोमस्य लतास्वरूपो गृह्यते श्रुत्यन्तरविधानात्, तथाच द्रव्यभेदे कथमनुवादत्वमनयोः ?—इत्यनर्थकएव स्यात् पशुसोमालद्रव्यसम्बन्धः। ननु तेषु गुणसम्पर्कत्वं स्यादनयोस्तदपिनेत्याह—नेति। नहि गुणार्थेन तस्य विधानस्य सार्थकता 'हृदयस्याग्नेऽवद्यति' इत्यादौ तथा 'ऐन्द्रवायवीयं गृह्णाति' इत्यादौ उत्पत्तिशिष्टं रसादिकं हृदयादिकं च सोमेन पशुना च न हि बाधितुं शक्नोतो तथाच यजत्यालभत्योरपूर्वविधित्वाभावेऽनर्थकता एव प्रतिपद्येत एवञ्च प्रकृतेषु यागेषु सत्यपि नानुवादत्वं यजत्यालभत्यो रित्युक्तम् ॥ २।२।१६॥

इदानीं प्रकृतयागाएव न सन्तीत्याह—

(सू०) अचोदकाश्च संस्काराः ।२।२।१७

(वि०) 'हृदयस्याद्यति' 'ऐन्द्रवायवीयं गृह्णाति' इत्येवमादयः 'अचोदकाः' नहि यागस्य चोदकाः भवन्ति, अपितु 'संस्काराः' संस्कारविधयः। अग्निषोमीयं पशुमालभते' इति यागविधायकः, एतद्विहिते पश्वालभने 'हृदस्यावद्यति' इत्यादिना हृदयाद्यदानरूपसंस्कारो विधीयते, तथाच न कर्मभेदः। एवं सोमेऽपि ॥ २।२।१७॥

तृतीया ऋक् ।

कुसीदिन ऋषिः ।

१र २र २ १ २ ३ २ २ १र
आतू न इन्द्र द्युमन्तं चित्रं ग्राभꣳ
२र ३ १र २र
संगृभाय । महाहस्ती दक्षिणेन ॥७१॥

'आ' 'तू' द्वावप्येतौ पादपूरणार्थकौ । तू इति 'ऋचि तुनु घ मक्षु तङ् कुत्रोरुष्याणाम् ॥६।३। १२३॥' इति दीर्घः ॥ हे 'इन्द्र' ! 'नः' अस्माकम् स्वभूतम् 'द्युमन्तम्' कीर्त्तिमन्तम् 'चित्रम्' पूज्यम् 'ग्राभम्' ग्राह्यम् अभिषवादिभिः संस्कारैः संस्कृतम् सोमम् 'दक्षिणेन' 'महाहस्ती' महता हस्तेन 'सम् । गृभाय' सम्यक् गृहाण । द्युमन्तमिति द्युशब्दे इत्यस्य रूपम्, कीर्त्तनञ्च सोमस्य सर्वत्रैवास्ति वैदिके कर्मणि । चित्रेति पूज्यपर्य्यायेनै घण्टुकाः । ग्राभमिति गृहेर्घञन्तस्य 'हृग्रहो र्भश्छन्दसि हस्येति वक्तव्य मिति भकारः, ग्राह्यत्वञ्च सोमस्य संस्कृततया बोध्यम् । महाहस्तीति महांश्चासौ हस्तश्च महाहस्तः, तस्मादिदं तृतीयैकवचनस्य 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (७।१।३९) इति वचनादीकारः ; हस्तस्य महत्वञ्च विभुतया ; एकस्मिन्नेव काले क्रतुशते प्रसरति । दक्षिणेनेति आदानव्यापारे दक्षिणहस्तस्यैव प्रकाशस्यम्, अतएवोक्तमादित्य पुराणे —'ओंकारमुच्चरन् प्राच्यो द्रविणं सक्तुमोदनम् । गृह्णीयाद्दक्षिणे हस्ते तदन्ते स्वस्ति कीर्त्तयेत्' । गृभायेति गृहे र्हस्य भत्वम्, 'हलः श्नः शानज्झौ । छन्दसि शायजपि । ३ । १ । ८४॥' इति श्नः शायच् ॥ ७१ ॥

হে ইন্দ্র! সকল বৈদিকক্রিয়াতেই উপন্যস্ত, অতএব কীর্ত্তিমান্, সকল দেবতার গ্রহণীয় অতএব পূজ্য, অভিষবাদি সংস্কারদ্বারা সংস্কৃত অতএব গ্রাহ্য এই আমাদিগের সোম দক্ষিণ হস্ত * দ্বারা গ্রহণ কর। তোমার হস্ত অতি মহান্ যেহেতু এক কালে সহস্র সহস্র ক্রতুতে প্রসারিত হইতেছে ॥ ৭১ ॥

गौरीवितम् ।

५र र २ १ २ १
आतू न आ । इन्द्युमा२३ꣳताम् । चा
२र १ २ १ — १ २र
इत्रं ग्राभा २३ꣳहाइ । संगृ२भाया । महा
३ ५ १ — १
हस्तो २३४ हाइ । दक्षा २ इ णा इना ।
१ ^ ३ ५र र १
माहा२३ । हा२ स्ता २३४ औहोवा । द-
१ १ १ १ १
क्षिणे ३ ना २३४५ ॥७१॥

चतुर्थी ऋक् ।

प्रियमेधा ऋषिः ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
विदे । सूनुꣳ सत्यस्य सत्पतिम् ॥७२॥

'सत्यस्य' 'सूनुम्' सत्यपुत्रम् सत्यात्मानम् 'आत्मा वै जायते पुत्र इति श्रुतेः 'सत्पतिम्' सतां साधूनाम् पतिम् पालयितारम् 'गोपतिम्' गोशब्देनात्र सोमः तस्य पतिम् सोमस्य स्वामिनम् 'इन्द्रम्' 'यथा । विदे' यथा जानामि तथा 'गिरा' स्तुतिलक्षणया वाचा 'अभि । अर्च' अभ्यर्च्चामि ; लडर्थे लोट्, उत्तमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषश्चात्र द्रष्टव्यः । प्रेति पादपूरणे ॥७२॥

সাধুগণের পালয়িতা, সোম-স্বামী,* সত্যাত্মা, ইন্দ্রকে আমি স্তুতিবাক্যদ্বারা যথাজ্ঞান অর্চ্চনা করিতেছি ॥ ৭২ ॥

घुरः ।

४ ५ ४ ५ २ ५र १ ३
अभी अभी । प्रगो ३ पातिङ्गिरा २ ।

* দক্ষিণ হস্তদ্বারা গ্রহণ করা চিরপ্রসিদ্ধ নীতি, ইহা এই মন্ত্রে স্পষ্ট প্রকাশ পাইতেছে।

* অর্থাৎ অমৃতস্বরূপ সোমরস গ্রহণ করিবার উপযুক্ত অধিকারী।

१ २ ^ ३र २ १
इन्द्र मर्व्वयाथा १ विदा २ इ। सूनू३८हो
३ ५ १ ^ ३ ५र
इ। सत्यो२३४ हा। स्या २ मा २३४ औ
र २ १ १ १ १ १
होवा। पती ३ मे २३४५ ॥७२॥

पञ्चमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

१ २ ३ १ र २र ३ २ ३ १ २ ३
कया न श्चित्र आ भुवदूती सदावृधः
१ २ ३ १ २ ३ २
सखा। कया शचिष्टया वृता ॥७३॥

'चित्रः' पूज्यः इन्द्रः 'कया' 'नः' अस्माकम् 'सदावृधः' सर्वदा परिवर्द्धकः 'सखा' 'आ। भुवत्' आभिमुख्येन भवति? इति जिज्ञासायामुच्यते 'ऊत्या' पालनेन क्रियया। अपरञ्चोच्यते 'कया'? कस्मिन् व्यवहारे कृते इत्यभिप्रायः, अतोच्यते 'शचिष्ठया' शचीति क्रिया नाम अतिशयेन शची शचिष्ठा तया, अतिशय यागादि क्रियया 'वृता' वर्त्तते इति वृत् तया वृता वर्त्तमानयेत्यर्थः। एवञ्च यजमानकर्त्तृकातिशय यागादिक्रियया वर्त्तमानया इन्द्रः स्वकर्त्तृकपालनक्रियया यजमानानां सर्वदा परिवर्द्धकः सखा भवति—इत्याशयार्थः। भुवदिति लेटोरूपम् ॥७३॥

পূজনীয় ইন্দ্র কোন্ ক্রিয়াকে অবলম্বন করত আমাদিগের পরিবর্দ্ধনকারী সখা হইয়া থাকেন? পালনক্রিয়া। আমরা কোন্ ক্রিয়া করিলে উক্তপ্রকার পালনক্রিয়া প্রকাশ করেন? অতিশয় যাগাদিক্রিয়া করিলে* ॥৭৩॥

वाचः।

५ र २ १ २ २ र १
कया न श्ची। चत्रा भू३वात्। ऊता
२ १ २ ३ ५ १ २
इम। दा। वार्द्धः सा २३४ खा। कया शा
२ ० १ ४ २
३ ची ३। ष्ठा २३ या ३। वा ३४५ त्तौ
५
ई हा इ ॥७३॥

षष्ठी ऋक्।

श्रुतकक्ष ऋषिः।

१ १ ३ २ ३ १ २ ३ १
त्यमुवः सत्रा साहं विश्वासु गीर्ष्वा-
२ १ २ ३ १ २
यतम्। आच्यावयस्यूतये ॥७४॥

श्रुतकक्षऋषिः पुत्रपौत्रानाह।

'त्यम्' (तच्छब्दस्थले यौग्यार्थो यच्छब्दोध्याहर्त्तव्यः) यः उक्तगुणः तम् 'सत्रासाहम्' सत्राणां शत्रूणाम् साहयितारम् अभिभवयितारम् ('ऋचि तु नु घमक्षु तङ् कुत्रोरुष्याणाम्। ६।३।१३३।' इति सत्रेत्यन्तदीर्घः) 'विश्वासु' 'गीर्षु' (तृतीयार्थे सप्तम्येषा) विश्वाभिः सर्वाभिः गीर्भिः वाग्भिः ऋग्यजुःसामलक्षणाभिः 'आयतम्' निबद्धम् स्तुतम् विस्तृतं वा इन्द्रम् 'वः' युष्माकम् 'ऊतये' पालनाय 'आ। च्यावयसि (उत्तमपुरुषार्थेऽसौ मध्यमपुरुषः) आच्यावयामि आभिमुख्येन गमयामि बोधयामि त्वामिति शेषः ॥७४॥

শ্রুতকক্ষ ঋষি নিজ পুত্র পৌত্রাদিকে বলিতেছেন। যাঁহার বিবিধ গুণাদি বর্ণনা করা হইয়াছে সেই শত্রুগণের অভিভবয়িতা ঋগ্‌-যজুঃ-সাম-স্বরূপ সমস্ত বাণী দ্বারা স্তুত (অথবা বিস্তৃত) ইন্দ্র (তোমাদিগের রক্ষার নিমিত্ত) তোমাদিগকে জানাইতেছি * ॥ ৭৪ ॥

सत्रासहीयम्।

५ २ र १ — १ र
त्यमुवाः। सत्रा साहा२म्। विश्वासु
र २ — १र
गीरिषू आ १ याता २ म्। आच्या२३।

*এই মন্ত্রটী প্রশ্নোত্তররূপে কৃত হইয়াছে।

* অর্থাৎ ইন্দ্র কি পদার্থ? ইহা তোমাদিগের বুদ্ধিতে নিবেশ করাইয়া দিতেছি; তাঁহার স্বরূপ জানিতে পারিলেই তোমরা মৃত্যু-ভয় হইতে ত্রাণ পাইবা।

वा २ या २३४ औहोवा । सियू३तये २३४

५॥७४॥

सप्तमीऋक् ।

मेधातिथि ऋषिः ।

सदसस्पतिमद्भुतम् प्रियमिन्द्रस्य का-

म्यम् । सनिं मेधामयासिषम् ॥७५॥

'सदसः । पतिम्' यज्ञगृहस्य स्वामिनम् 'अद्भुतम्' सर्वशक्तिमन्तम् 'प्रियम्' 'इन्द्रस्य' इन्द्रम् 'अयासिषम्' याचे । किमित्युते 'काम्यम्' कमनीयम् 'सनिम्' दानस्वरूपम् 'मेधाम्' प्रज्ञाम् । इन्द्रस्येति द्वितीयार्थे षष्ठी बहुलवचनात् । अयासिषमिति 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ।३।४।६ ।' इति वर्त्तमाने लुङ् ॥ ७५ ॥

যজ্ঞগৃহের অধিপতি, সর্ব্বশক্তিমান্, সর্ব্ব-প্রিয়, ইন্দ্রের নিকটে, আমি কমনীয় প্রজ্ঞা দানস্বরূপ * যাচ্ঞা করিতেছি ॥ ৭৫ ॥

वामदेव्यम् ।

सादा । सख्य ता इमङ्गूता । उ२३४वा ।

प्राया औ २३४ वा । आइन्द्रा । स्याकामा

२३४५ या ६५६म् । सनिम्मे २ धामयासि

षा २३४५म् ॥७५॥

अष्टमीऋक् ।

वामदेव ऋषिः ।

ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमै-

रयः । उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥७६॥

इन्द्र ! 'ते' तव 'ये' पन्थाः पन्थानः 'दिवः । अधः' द्युलोकस्य अधस्तात् अन्तरिक्षलोके विद्यन्ते 'ये भिः' यैः पथिभिः 'भुवः' भूलोकस्य अवयवभूतमिमं प्रदेशम् 'व्यश्वम्' शीघ्रम् 'ऐरयः' आगतवान् असि 'उत' अपि तैरेव शीघ्रगमयितृभिः पथिभिः 'नः' अस्माकं स्वभूताः स्तुतीः 'श्रोषन्तु' शृणोतु भवान् । पन्थाइत्येकवचनं श्रोषन्त्विति बहुवचनञ्च सुप्तिङुपग्रहेत्यादिना (३।१।८५) । वचनव्यत्यये रूपम् । येभिरिति भिसोऐस् न (७।१।१०) । भवइत्यवयवषष्ठी । ऐरय इति इरगतावित्यस्य रूपम् । स्तुतीरिति सामर्थ्याल्लभ्यते । श्रोषन्त्विति लेटो रूपम् ॥ ७६ ॥

তোমার যে সকল পথ দ্যুলোকের অধোভাগে অন্তরীক্ষ লোকে আছে, যে সকল পথদ্বারা ভূলোকের বেদী নামক এই প্রদেশে অতি সত্বর আগমন করিয়াছ, হে ইন্দ্র! আপনি সেই সকল পথদ্বারা অস্মৎকৃত স্তুতি-সকল শ্রবণ করুন্; অর্থাৎ স্তুতিগুলি যে পথে গমন করিলে আপনার নিকট অতি সত্বর উপস্থিত হইতে পারিবে সেই সেই পথ দিয়া গমন করুক; অর্থাৎ অস্মৎকৃত স্তুতি গুলি শীঘ্র শ্রবণ করুন্ ॥ ৭৬ ॥

आश्विनम् ॥

हाइ । आस्मूदा २३४ त्वाः । आपस्तू

दा २३४ त्वाः । येते पन्था आ ३ धो दिवा

२३४५ः । हाइ । आपस्तूदा २३४ त्वाः ।

आपस्तूदा२३४ त्वाः । ये भिर्व्यश्वा ३ मा

इ रया २३४५ः । हाइ । उता श्रो २३४

षा । तुनो २३ । भू २ वा २३४ औ होवा।

ई२३४ती ॥७६॥

* যাচ্ঞা দুইপ্রকার, পুরস্কার স্বরূপ ও দানস্বরূপ; তন্মধ্যে আমরা অক্ষম, এই নিমিত্ত ঈশ্বরের নিকটে দানস্বরূপ যাচ্ঞা করিয়াথাকি।

नवमी ऋक् ।

सुकक्ष ऋषिः ।

३१ २ ३ २ ३२३१२
भद्रम् भद्रं न आ भरेषमूर्जं शत-
१ २ ३१२
क्रतो । यदिन्द्र मृडयासि नः ॥७७॥

हे 'शतक्रतो' बहुकर्म 'इन्द्र !' 'भद्रंभद्रम्' 'इषम्' रसम् 'ऊर्ज्जम्' अन्नञ्च 'नः' अस्मभ्यम् आभर आहर अस्म दर्शमानयेति । कीदृश तत् इषम् ऊर्जञ्चेत्युच्यते 'यत्' येन येण ऊर्जेण च 'न' अस्मान् 'मृडयासि' सुखयसि जीवयसीत्यर्थः । भद्रम्भद्रमिति भद्रशब्दःशोभन वचनः, अतिशये तस्यायमभ्यासः । आभरेति 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि (३।१।८४) इति वचनात् हस्य भः । इषम् ऊर्ज्जम् द्वे अप्येते अन्ननामनी, परं पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् एकोऽत्र रसपरोऽत्युच्यते । यदिति सुपां सुलुगित्यादिना तृतीयैकस्य लुक् । परस्ताद्यच्छब्द-श्रुतेः पूर्वार्द्धे तच्छब्दमध्याहृत्यैकवाक्यता । मृड-यासीति 'द्व्यचोऽतस्तिङः ६।३।१३५' इति दीर्घः । ७७ ॥

হে বহুকর্ম্মা ইন্দ্র! যে রস ও অন্নদ্বারা আমাদিগকে জীবিত রাখিয়াছ, সেই উত্তম উত্তম রস ও অন্ন আমাদিগের নিমিত্ত আনয়ন কর ॥ ৭৭ ॥

भद्रम् ।

५ ४५ २ १र २
भद्रं भाद्राम् । न आभा २३ रा ३ ।
४ ५ ४५ २१ २
आ इ षामूर्जाम् । शत क्रा २३ ता ३ उ ।
४५४ ५ १ ३ ५र र
यादिन्द्राम्ह । डा २ या २३४ औहोवा ।
२ ५
सो २३४ नाः ॥७७॥

दशमी ऋक् ।

सोमविन्दु ऋषिः ।

२ ३१ २ ३२ ३१र २र
अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य
३ १२ ३२३ १ २ ३ १२
मरुतः । उत स्वराजो अश्विना ॥७८॥

'अयम्' 'सोमः' 'सुतः' अभिषुतः अभिषव-संस्कारेण संस्कृतः 'अस्ति' विद्यते, 'मरुतः' मरुन्नामकाःदेवाः 'अस्य' एकदेशं 'पिबन्ति' पिबन्तु । 'उत' अपिच 'स्वराजः' स्वराजौ स्वेषु आत्मीयेषु देवगणेषु राजौ दीप्तिमन्तौ 'अश्विना' अश्विनौ पिबतः । अस्येति षष्ठी निर्द्देशात् एकदेशमिति वाक्यशेषः । पिबन्तीति लोडर्थे लट् । स्वराज-इति बहुवचनं द्विवचन स्थानिकम् । अश्विना इति सुपांसुलुगित्यादिना सिद्धम् । सोमो अय-मिति स्वराजो अश्विनेति च 'प्रकृत्यान्तः पादमव्य-परे ।६।१।११५।' इति प्रकृति भावः ॥ ७८ ॥

অভিষব সংস্কারদ্বারা সংস্কৃত এই সোম বিদ্যমান আছে, মরুৎ নামক দেবগণ ইহার এক অংশ পান করুন; এবং অশ্বীনামক দেবতাদ্বয় ইহার এক অংশ পান করুন ॥ ৭৮ ॥

आश्विनम् ।

३ ४ ३र ४र ३ ४ ३ ४
अस्ति सोमो अयंसुतः । अ । स्ये
५ ३र ४र ३ ४३ ४५
आस्ती । सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्यम ।
३ ५ ४ ४ ५
रुतो २३४ हाइ । उतस्वरा ५ जो वा ।
४ ५
श्वा ५ इ नोईहाइ ॥७८॥

इत्यष्टमीदशतिः ।

८७

(मू०) तत परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्व्वभूतेषु गूढं। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वामृताभवन्ति ।१५।

(टी०)'ततः' विश्वकार्य्यस्य 'परं' कारणं 'परं' 'ब्रह्म' 'बृहन्तं' महत् 'यथानिकायं' यथाशरीरं 'सर्व्वभूतेषु गूढ़ं' अन्तरवस्थितं। 'विश्वस्य एकं' परिवेष्टितारं' स्वात्मना सर्व्वं व्याप्यावस्थितं। 'तं' 'ईशं' परमेश्वरं 'ज्ञात्वा' 'अमृताः' 'भवन्ति' ॥१५॥

(ता०) ततः समस्तं जगदिदमुत्पन्नम्, अतः स विश्वकार्य्यस्य कारणम् महांश्चेत्युच्यते। सोऽन्तर्बहिः सर्वत्रैव सर्वदा तिष्ठति, तथापि न कोऽपि तं चक्षुषा पश्यति, सहि कारणं ज्ञानस्वरूपश्च ; ज्ञानस्वरूपस्य ज्ञानेनैवोपलभ्यः। ये चामुं विजानन्ति, तेऽमुना सह वासं नित्यं लभन्ते ॥१५॥

८८

(मू०) सर्व्वेन्द्रियगुणाभासं सर्व्वेन्द्रियविवर्जितं। सर्व्वस्य प्रभुमीशानं सर्व्वस्य शरणं सुहृत् ।१६।

(टी०) सर्व्वेन्द्रियगुणाः आभास्यन्ते येन ब्रह्मणा तत् 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं' स्वयन्तु 'सर्वेन्द्रियविवर्ज्जितं' सर्वकरणरहितं। 'सर्व्वस्य' जगतः 'प्रभुं ईशानं' 'सर्व्वस्य' 'शरणं' रक्षित 'सुहृत्' मित्र ॥१६॥

(ता०) सहि अस्मभ्यं ज्ञानं सुखं सामर्थ्यञ्च प्रदातुमस्माक मिन्द्रियाणि तदुपयोगिविविधगुणैर्भूषितवान्। चक्षुषी यस्य विश्वाधिपस्य विश्वराज्यस्य शोभामवलोकयती परितृप्यतः, कर्णौ यन्मनोहरं विहङ्ग-रवादिकं सुमधुरं सङ्गीतस्वरादिकं ब्रह्मगुणानुकीर्त्तनञ्च श्रुत्वा अमृतायमानौ भवतः, रसना हि यन्नानारसमिलितस्य चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयात्मविविधप्रकारस्य सुस्वादवस्तुनः स्वादं परिगृह्य परितुष्यति, घ्राणेन्द्रियं नासिका यदशेषप्रकारसुगन्धपुष्पादेर्मनोहरसौरभं परिगृह्य किञ्च सर्वाङ्गव्यापि स्पर्शेन्द्रियं यत्सुस्निग्ध-सुमन्द-मारुत-हिल्लोलेन स्निग्धं भवत् मनुष्यस्य सुखसरोवरं पूर्णयति ; सर्वमङ्गलाकरः परमेश्वर एव एतत्समस्तस्यैकमात्रं कारणम्। सएभ्य इन्द्रियेभ्यो यादृशीं शक्तीं प्रदत्तवान्, तदीयविषयसमस्तमपि तस्योपयोगिनं प्रकुर्वन् सृष्टवान् ततएव वयं तत्प्रदत्तप्रचुरसुखैः सुखिनोभवामः। सोऽस्मभ्यं द्वौ द्वौ हस्तौ दत्तवान्, तथाच वयं सकलवस्तूनि गृहीतुं शक्नुमः। सोऽस्माकं गमनेन्द्रियं प्रदत्तवान्, तथाच वयं सर्वत्र गमनागमनं विधत्तुं समर्थाभवामः। सोऽस्माकमेकैकमिन्द्रियं सुखभाण्डारसागरस्य एकैकद्वारस्वरूपं कृतवान्। अस्माकं प्रत्येकं ज्ञानेन्द्रियं प्रत्येकं कर्म्मेन्द्रियञ्च एकैकं कल्याणमयप्रस्रवणसदृशं भवत् सततं कल्याणवारि विनिर्गमयति, किञ्च तद्द्वारा सर्व्वेषां कल्याणानामाकरस्य विश्वविधातुरद्भुतमहिमा प्रकाशमाप्नोति। स जीवानामुपकारायैतदत्याश्चर्य्यमिन्द्रियजातमसृजत्, किञ्च तदधिष्ठानेनैव एतदिन्द्रियगुणजातं प्रकाशते ; किन्तु स स्वयं सर्व्वेन्द्रियवर्जितः। तस्य ज्ञानाय कस्यचिदपि इन्द्रियस्यापेक्षा न विद्यते, तस्य कर्मार्थमपि न हि किमपीन्द्रियमुपकरोति ; स चक्षुःकर्णविहीनोऽपि पश्यति शृणोति च समस्तम् ; किञ्च पाणिपादव्यतीतोऽपि सर्वत्र गमनक्षमः, गृह्णाति च समस्तम्। असौ सर्वेषां प्रभुः, सर्वेषामीश्वरः, सर्वेषामाश्रयः, सर्वेषां सुहृत् ॥१६॥

८९

(मू०) महान् प्रभुर्व्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः। सुनिर्म्मलामिमां शान्तिं ईशानोज्योतिरव्ययः ।१७।

(टी०) 'महान्' 'प्रभुः' समर्थः जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारे 'वै' 'पुरुषः' 'एषः' 'ईशानः' 'ज्योतिः' परिशुद्धोविज्ञानप्रकाशः 'अव्ययः' अविनाशी 'सत्त्वस्य'

धर्म्मस्य 'प्रवर्त्तकः' प्रेरयिता कमर्थमुद्दिश्य 'इमां' 'सुनिर्म्मलां' 'शान्तिं' उद्दिश्य ॥ १७ ॥

(ता०) अयं मङ्गलमयो महान् पुरुषः अस्मभ्यं इन्द्रियसुखमात्रम् प्रदाय पशुगणानिवास्मानत्र संसारबन्धनेन नीतवान्, अपितु अस्मदादिभ्यः अमूल्यं धर्म्मरत्नं ददन्नस्मान् स्वाधीनानकरोत्। स हि विषयसुखेभ्यः सहस्रगुणस्योत्कृष्टस्यात्मप्रसादस्योद्देशेन, अस्माकं सुनिर्मलशान्तिभावस्योद्देशेन च स्वयं धर्मप्रवर्त्तकः। सोऽस्माक मात्मनि शुभबुद्धिः धर्म्मबलं च सततं प्रेरयति। वयं तत्प्रसादात् धर्म्मबलैः स्वाधीना भवन्तोमुक्तेरधिकारिणो भवामः॥ १७ ॥

इति।

दशमोध्यायः।

९०

(मू०) ओमिति ब्रह्म सर्व्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।१।

(टी०) 'ओम् इति ब्रह्म' ओङ्कारोहि ब्रह्मप्रतिबुद्धेरारोहणायालम्बनं। 'अस्मै' 'ब्रह्मणे सर्व्वे' 'देवाः' 'बलिं' पूजां 'आहरन्ति'। 'मध्ये' 'वामनं' सम्भजनीयं सर्व्वैः 'आसीनं' 'विश्वे' सर्व्वे 'देवाः उपासते' ॥ १ ॥

(ता०) अस्य जगतोऽद्वितीयः कर्त्ता यथा ईश्वर-महेश्वर-परमेश्वर-परमात्म-परब्रह्मप्रभृतिशब्दानां वाच्यः तथा ओँ शब्दस्यापि वाच्यः। यः सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता, सएव ईश्वरः, सएव ब्रह्म, सएव ओङ्कार-प्रतिपाद्यो महान् पुरुषः। पृथिवीत उत्कृष्टतरलोक-निवासिदेवगणा नियतं तमेवाराधयन्ति। वयमपि यदि महान्तः श्रेष्ठाभवितु मभिकाङ्क्षेम, तदास्माकमपि कर्त्तव्यमेतत् यद्दैवगणादव तस्य विशुद्ध-मङ्गल-स्वरूपस्य नितान्तमधीना अनुगताश्च तिष्ठन्तः तत्प्रति प्रीति-दृत्तिमुन्नमय्य समुज्ज्वल्य च तस्योपासनायामनुरक्तास्तिष्ठेम ॥१॥

९१

(मू०) ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्। ओंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्च।२।

(टी०) 'ओम् इति एवं' ओङ्कारालम्बनाः सन्तः 'ध्यायथ' चिन्तयत 'आत्मानं' ज्ञानस्वरूपं परं ब्रह्म 'स्वस्ति' निर्व्विघ्नमस्तु 'वः' युष्माकं 'पाराय' परकूलाय 'तमसः' अज्ञानतमसः 'परस्तात्' ब्रह्मस्वरूपावगमनायेत्यर्थः। 'ओङ्कारेण एव' 'आयतनेन' साधनेन 'अन्वेति' प्राप्नोति 'विद्वान्' 'यत् तत् शान्तं' 'अजरं' जरावर्ज्जितं 'अमृतं' मृत्युवर्ज्जितं 'अभयं' 'परं' निरतिशयं 'च' ब्रह्म ओङ्काराख्यं ॥२ ॥

(ता०) विशुद्धोज्ज्वलज्ञानेन तमोङ्कारप्रतिपाद्यं परब्रह्म ध्यायत, तदा निश्चयं यूयम् संसारस्यास्य अज्ञान-तिमिरादुत्तीर्णाभवत, किञ्च शान्ताजरामराभयनिरतिशयं ब्रह्म प्राप्नुत ॥२॥

९२

(मू०) तत्सवितुर्व्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धीयोयो नः प्रचोदयात् ।३।

(टी०) 'तत्सवितुः' तस्य सवितुः जगत्प्रसवितुः प्रेरकस्य सर्व्वकामान अन्तर्यामिनो विज्ञानानन्दस्वभावस्य ब्रह्मणः 'देवस्य' द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य 'वरेण्यं' वरणीयं 'भर्गः' भर्ग तेजः ज्ञानं शक्तिञ्च 'धीमहि' ध्यायेम वयं। 'धियः' बुद्धिवृत्तीः 'यः' सविता 'नः' अस्माकं 'प्रचोदयात्' प्रेरयति सत्कर्म्मानुष्ठानाय ॥३ ॥

(ता०) यएतद् जगत् प्रसौति, सहि पितेव मातेव विश्वमिदं परिपालयति, तस्य अचिन्त्यं ज्ञानम् महती शक्तिश्च विश्वनिवासिनोऽसंख्यजीवस्य कल्याण-साधनाय तत्परं तिष्ठति । सोऽस्माकं बुद्धि-वृत्तिसमस्तम् धर्म-पथि पुनः पुनः प्रेरयति ॥३॥

९३

(मू०) माहं ब्रह्म निराकुर्य्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्तु ।४।

(टी०) 'अहं ब्रह्म' 'मा' 'निराकुर्य्यां' न त्यजेयं 'मा' मां उपासकं 'ब्रह्म' 'मा' 'निराकरोत्' नात्यजत् । मत्कर्त्तृकं ब्रह्मणः 'अनिराकरणं' अतिरस्करणं 'अस्तु' ॥४॥

(ता०) करुणामयोविश्वपाता क्वापि विषये नास्मान् विस्मृतवान् । वयं प्रतिनिमेषमेव तस्य कृपा-वारि प्राप्नुमः, अपिच प्रतिवारं निःश्वास-क्रियायां तस्य करुणा-समीरणं सेवयामः । सोऽस्मान् न हि स्मरण-मार्गाद्दूरीकृतवान्, नापि कदापि विस्मरिष्यति ; सोऽस्मान् नियतं प्रीति-दृष्ट्या प्रपश्यति । अतो यथास्माभिः स न विस्मरणीयः, यथा च वयं कृतज्ञा एव तिष्ठन्तो नियतं तस्य प्रीति-सुधां पिबेम, किञ्च तस्य करुणायोक्त मनुज्ञाजातं ससन्तोषं प्रतिपालयितुं प्रवृत्तास्तिष्ठेम ; तथा भूयात् ॥ ४ ॥

९४

(मू०) तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः ।५।

(टी०) 'तं' 'वेद्य'' वेदनीयं पूर्णत्वात् 'पुरुषं' परं ब्रह्म 'वेद' 'यथा' 'वः' युष्मान् 'मृत्युः' 'मा' 'परिव्यथाः' न परिव्यथयतु । न चेत् विज्ञायेत पुरुषो मृत्युनिमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थः अतस्तन्मा भूद् युष्माकमित्यभिप्रायः ॥५॥

(ता०) तमक्षतपुरुषं वेद, अपिच सर्वेभ्यो वस्तु-जातेभ्य आत्मनश्च अधिका प्रीतिस्तत्र स्थापय, एवं कृते न युष्माकं मृत्यु-पीड़ा समुपस्थास्यति। येन ब्रह्म लब्धम्, ब्रह्मणा साकं यस्य नित्यमभूत् सहवासम् ; सोऽत्रत्यैव संसार मतिक्रमयति, अपिच मृत्युपाशतः परित्राण माप्नोति, तत्समया शून्यं पूर्णतां प्रतिपद्यते, विपदेव मङ्गलाधारत्वेन परिणम्यते, अपि च मृत्युरमृतस्य सोपान मुपजायते ॥ ५ ॥

९५

(मू०) योदेवोऽग्नौ योऽप्सु योविश्वं भुवनमाविवेश । यओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ।६।

(टी०) 'यः देवः अग्नौ यः अप्सु' 'यः' 'विश्वं भुवनं' स्वेन रचितं संसारं 'आविवेश' प्रविष्टवान् । 'यः' 'ओषधीषु 'यः वनस्पतिषु' 'तस्मै' 'देवाय' परमेश्वराय 'नमः नमः' द्विर्व्वचनमादरार्थं ॥६॥

(ता०) योऽग्निरभ्यन्तरे तिष्ठन् तमग्निं नियमतोरक्षति, किञ्चासीमसमुद्रस्य भीषणतरङ्गे विराजमानः, यस्य करुणा निदाघकालस्य तृप्तिकर-वारि-धारायां प्राणदौषधिवनस्पतौ च देदीप्यते, यश्चासौ भूलोक-द्युलोकान्तरिक्षेषु सर्वत्रैव स्वप्रकाशो विद्यते ; तमेव देवं भूयोनमस्कुर्मः ॥६॥

इति ।

एकादशोऽध्यायः ।

९६

(मू०) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं विचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।१।

(टी०) 'अशब्दं अस्पर्शं अरूपं' 'अव्ययं' न व्येति न क्षीयते 'तथा अरसं नित्यं अगन्धवत् च यत्' ब्रह्म । अविद्यमानमादिकारणमस्य तदिदं 'अनादि' तथा अविद्यमानोऽन्तोयस्य तत् 'अनन्तं' महतः महत्परिमाणात् अपि 'परं' महत् निरतिशयत्वात् 'ध्रुवं' कूटस्थं नित्यं 'निचाय्य' अवगम्य 'तं' एवम्भूतं ब्रह्म-

त्मानं 'मृत्युमुखात्' मृत्युगोचरात् 'प्रमुच्यते' वियुज्यते ॥१

(ता०) सृष्टेरतीतो ज्ञानमयः परमेश्वरः कदापि शब्दस्पर्शादिविषयकेन्द्रियस्य गोचरो न भवति। स निराकारः, निर्विकारः, नित्यो महान्। तमवगत्य धीमन्तो मृत्युमुखान्मुक्ताभवन्तोऽनन्तकालं ब्रह्म-लोके समुन्नमेयुः ॥१॥

८७

(मू०) एषसर्व्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।२।

(टी०) 'सर्व्वेषु भूतेषु' 'एषः' 'गूढ़ोत्मा' गूढ़ः आत्मा प्रच्छन्नः ब्रह्मात्मा 'न प्रकाशते' असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वात्। 'दृश्यते तु' संस्कृतया 'बुद्ध्या' 'अग्र्यया' अग्रमिव अग्र्या तया एकाग्रतयोपेतया 'सूक्ष्मया' सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया तैः 'सूक्ष्मदर्शिभिः' सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां तैः पण्डितैः ॥२॥

(ता०) परमात्मा, सर्व्वेषां शक्तीनां शक्तिषु, सर्व्वेषां प्राणानां प्राणेषु, सर्व्वेषामात्मनामात्मसु, गूढ़रूपेण प्रविष्ट स्तिष्टति; विषयमोहे मुग्धानां समीपे न स प्रकाशते। सूक्ष्मदर्शिनोधीराः एकनिष्ठसुमार्जितबुद्ध्या तं ज्ञान-स्वरूपं परमेश्वरं ज्ञानालोकेन प्रपश्यन्ति ॥ २ ॥

८८

(मू०) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा वृणुते तनूं स्वां ।३।

(टी०) 'न अयं आत्मा' ब्रह्मात्मा 'प्रवचनेन' प्रकृष्टवचनेन 'लभ्यः' ज्ञेयः 'न' अपि 'मेधया' ग्रन्थार्थधारणाशक्त्या 'न बहुना' 'श्रुतेन' श्रवणेन। केन तर्हि लभ्यइत्युच्यते। 'यं एव' ब्रह्मात्मानं 'एषः' साधकः 'वृणुते' प्रार्थयते 'तेन' साधकेन 'लभ्यः'। सः 'एषः' 'आत्मा' ब्रह्मात्मा 'तस्य' आत्मकामस्य 'वृणुते' प्रकाशयति पारमार्थिकीं 'स्वां' स्वकीयां 'तनूं' ॥ ३॥

(ता०) यदि तमवाप्तु मनुरागोयत्नस्य न स्यात्, तर्हि प्रवलमेधैव स्यात्, प्रचुरोपदेशवाक्यसेवश्रुतं भवेत्, कथमपि न हि सलभ्योभवेत्। योवै पिपासातुरः पान्थइव व्याकुलः सन्नकान्तं तम् प्रार्थयति, तस्यैव सन्निधौ परमात्मा आत्मस्वरूपं प्रकाशयति। तदा स साधक आप्तकामो भवन् पवित्रः परितृप्तस्य भवेत् ॥३॥

८९

(मू०) उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयोवदन्ति ।४।

(टी०) 'उत्तिष्ठत' हे जन्तवः ब्रह्मज्ञानाभिमुखा भवत 'जाग्रत' अज्ञाननिद्रायाः घोररूपायाः सर्व्वानर्थवीजभूतायाः क्षयं कुरुत। कथं 'प्राप्य' उपगम्य 'वरान्' प्रकृष्टान् आचार्य्यान् ब्रह्मविदः तदुपदिष्टं सर्व्वव्यापिनं ब्रह्मात्मानं 'निबोधत' अवगच्छत। यथा 'क्षुरस्य' 'धारा' अग्रं 'निशिता' तीक्ष्णीकृता दुःखेनात्ययोयस्याः सा 'दुरत्यया' पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसम्पाद्यं 'पथः' पन्थानं ब्रह्मज्ञानलक्षणं मार्गं 'तत्' 'कवयः' मेधाविनः 'वदन्ति' ॥४॥

(ता०) भो जीवाः! यूयमुत्तिष्ठत. अज्ञाननिद्रातो जाग्रन्तोभवत; कतिकालं तत्राभिभूतास्तिष्ठेत, कतिदिनं तत् परमधनम् विस्मृत्य वर्त्तेत। कालः प्रयाति, मृत्युः सन्निकटः, जडतां दीर्घसूत्रताञ्च परित्यज; ज्ञानवदाचार्य्यस्य समीप मुपगत्य सकल-प्रत्याशायाः यष्टि-स्वरूपं तं परमप्रेमास्पदं विजानीहि; सहस्रग्रन्थपाठेन यन्न भवेत्, उत्तमाचार्य्यवाक्यतस्तद्भवेदेव। ईश्वरपथमवलम्बयिषिते बुद्धि-मार्जन मावश्यकम्, इन्द्रियाणां वशित्वमापादनीयम्, तितिक्षा अभ्यासनीया, सकलधर्म्मप्रवृत्तिपुन्नमनीया, अपिच ईश्वर-प्रीतौ मनो निमज्जनीयम्; अतएषमार्गो दुर्गमइत्युच्यते। तथापि ईश्वरप्रसादेन साधकस्यानुरागेण चासौ दुर्गमोऽपि पन्थाः सुगमायते ॥ ४ ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

ब्रह्माण्डकाण्डकरणाद्यखिलप्रपुञ्जकारणमयविभुं समशक्तिमन्तम्। बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।

राजतादसौ सुचित्तचित्प्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरम्बराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] अग्रिमवार्षिकम् ६/ प्रतिसंख्यायाः १/ [June, 1869.] अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी [२२ संख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায়; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

वैदिकसमालोचना।

अथोक्तलक्षणानामृग्यजुःसामाथर्वणां बह्व्यः शाखाः सन्ति, ऋग्वेदस्य पञ्च, यजुषः षडशीतिः, साम्नः सहस्रम्, अथर्वणोनव (३०)। तत्र संशयः—यथा मन्वादेरध्यायभेदः, तथैव ऋगादेः शाखा-भेदः—आहोस्वित् अत्यतत्यभेदस्यान्यः स्वरूपः? यद्याद्यः स्वीकृतः स्यात्, तर्हि यथा मनोः प्रथमाध्यायमात्रेऽधीते ऽपरैकादशाध्यायगता विधयोनावज्ञाता भवन्ति, तथैव पञ्चशाखस्य ऋग्वेदस्य कस्यामप्येकस्यामधीतायां शाखायां नाभिगतोभवेत् तदीयसर्वशाखा-विषयः। अपिच 'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौस्त्रैवैदिकं व्रतम्' इति मनूक्त षट्त्रिंशदब्दवयोऽन्तरे त्रैवैदिकं ब्रह्मचर्य्यव्रतमपि न हि सम्भवेत्; तत्र वेदशब्दस्य संकोचोऽपि कथं स्वीकार्य्योऽन्यथावादिभिः? अपरञ्च 'श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै' इत्यादि मन्वाद्युक्तमपि न सङ्घटेत, पश्य तु—सदाचारे संशयोत्पन्ने स्मृतिदर्शनम्, तत्र सन्देहे श्रुतिदर्शनम्, श्रुतिदर्शनादेव

(३०) प्रतिशाखाया नामोल्लिखनं, सामवेदस्य सहस्रशाखत्वस्तुतेर्निदानञ्च स्फुटिष्यति परस्तात्।

বৈদিকসমালোচনা।

উক্ত ঋক্ যজুঃ সাম অথর্ব্ববেদের অনেকগুলি শাখা আছে; ঋগ্বেদের পাঁচটি, যজুর্ব্বেদের ষড়শীতি, সামবেদের সহস্র, অথর্ব বেদের নয়টি (৩০)। এই স্থলে সংশয় হইতে পারে—যেরূপ মন্বাদি গ্রন্থের অধ্যায়ভেদ, সেইরূপ ঋক্প্রভৃতির শাখা-ভেদ; অথবা এ ভেদ অন্য প্রকার? প্রথমোক্ত স্বীকার করিলে যেরূপ দ্বাদশাধ্যায় মনুর প্রথম অধ্যায় মাত্র অধ্যয়ন করিয়া অপর একাদশ অধ্যায়োপাত্ত বিধিগুলি জানিতে পারা যায় না; সেইরূপ পঞ্চশাখ ঋগ্বেদের কোন একটি শাখা অধ্যয়ন করিলে অন্য চারি শাখার বিষয় অপরিজ্ঞাত হইতে পারে; এবং "ষট্ত্রিংশদাব্দিকং চর্য্যং গুরৌত্রৈবৈদিকং ব্রতম্" এই মনূক্ত ষট্ত্রিংশৎ বর্ষ বয়ঃক্রম মধ্যে ত্রিবেদ অধ্যয়ন করিয়া ত্রৈবৈদিক ব্রহ্মচর্য্য ব্রতও সম্ভবে না; এ বেদশব্দে বেদশাখা লইতে হইবে, অন্যথাবাদীরা ইহাই বা কেন স্বীকার করিবে? "অপরঞ্চ শ্রুতিপ্রামাণ্যতো বিদ্বান্ স্বধর্ম্মে নিবিশেত বৈ" মন্বাদিকথিত ইহাও সঙ্গত হইতে পারে না, দেখুন—সদাচারে সংশয় হইলে স্মৃতিদর্শনে নির্ণীত হইবে, স্মৃতিতে সংশয় জন্মিলে শ্রুতিদর্শনে তাহা দূর হইবে; কিন্তু যে হেতু শ্রুতির বিস্তরশাখা অতএব উহা কখনই সম্ভাবিত নহে। অতএব ঐ শাখাভেদ

(৩০) প্রতিশাখার নামোল্লিখন সামবেদেরও সহস্র শাখা কি রূপে হইল তদ্বিবরণ পরে প্রকাশ পাইবে॥

॥ ० ॥ कलिकाता नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

संशयच्छेदेन भवितव्यम् ; तदेतत् कदापि न सम्भावनीयम् श्रुतेर्बहुशाखात्वात्। अतोऽत्युच्यते द्वितीयः पक्षः—इतिचेत्, कस्य तत्स्वरूपः ? ब्रूमः—एकएव ऋग्वेदः पञ्चदेशपञ्चप्रवक्तृकर्तृकाध्यापन-प्रथायाः पञ्चत्वात् पञ्चशाख इत्युच्यते (यथा एकएव पुस्तः सम्पादकमुद्राङ्कनादिभेदेन विविध रूपतामवाप्नोति)। एकस्मिन् देशे आश्वलायनो निवसतिस्म, अन्यान्यस्मिन् प्रदेशे सांख्यायनादयः ; आश्वलायनेन ये मन्त्राः स्वशिष्यान् शतमन्त्रानध्याप्याध्यापिताः, तएव सांख्यायनेन अष्टोत्तरशतमन्त्रानध्याप्याध्यापिताः, तएव शाकलेन द्विदशमन्त्रानध्याप्याध्यापिताः ; परमध्यापिताः सर्वैरेव। आश्वलायनेन यत्र क्वचित् द्वात्रिंशन्मन्त्रान्ते छेदः स्वीकृतः, सांख्यायनेन तत्र छेदमग्राह्य पञ्चचत्वारिंशन्मन्त्रान्ते छेद उपन्यस्तः। आश्वलायनेन यत्र ल उपदिष्टः, सांख्यायनेन तु तत्र ड उपदिष्टः। एवमेवैषां मिथोभेदः (एतस्यैव भेदस्य वर्णनकृत् प्रातिशाख्यः)। वस्तुतोये मन्त्राः आश्वलायनीशाखायां श्रूयन्ते, तएव समस्ता एव सांख्यायन्यादिषु शाखाचतुष्टये वर्त्तन्ते उच्चारण-पाठक्रमादेर्भेदात् नामभेदे नोपन्यस्यते। आश्वलायनादिनाम्ना एकस्यैव वेदस्य नामभेदेऽन्यदपि कारणं विद्यते ; तथाहि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति श्रुति विहितस्य होमस्य 'उदिते जुहुयात्' इत्युक्त्या केनचित् हवनकालं विहितम् अन्येन तु अनुदिते जुहुयादित्युक्तम् ; इत्येवं सर्वएव आश्वलायनादयः वेदाविरुद्धान् निजनिज-वाञ्छानुयायिनः श्रौत-गृह्य-विधीन् सूत्रयित्वा तत्र स्वशिष्यान् प्रावर्त्तयन्, तथाच आश्वलायनशिष्याः आश्वलायन-सूत्रानुसारेण सांख्यायन-शिष्याः सांख्यायन-सूत्रानुसरणेनैव व्यवहरन्ति, सुतरां वेद-विहित एकएव विधिराश्वलायनादि-कृत-क्रम-कालादि-नियमभेदेन स्पष्टं विभिन्न उपलभ्यते (यजुः सामाथर्व-शाखाभेदास्त्वेवमेव)॥ अतएव 'ऋग्वेदस्य,—इत्यधिकृत्य ' शाखाः पञ्चविधा भवन्ति' इत्येवमभिहितं चरणव्यूहकारैः ; अन्यथा तैरेव तदनन्तरं यथोक्तम् 'अध्यायाश्चतुःषष्टिः' तथात्राप्युच्येत, मदुक्तानवलम्बने पञ्चविधाइति धाच् अरण्ये रुतं स्यात्॥ अथ यदि मत्सम्मतशाखाभेदे विशेषेण प्रमाणमनुसन्धेयं भवेत्, तर्हि प्रत्यक्षं नाम गृह्णीयात् ;—कस्याप्येकस्य वेदस्य शाखाद्वयेऽवलोकिते तत्क्षणमेव निसंशयेन भवितव्यम्॥

অন্যপ্রকার, যথা—এক ঋগ্বেদ, পঞ্চপ্রদেশে পঞ্চ প্রবক্তৃ কর্তৃক পঞ্চপ্রকার অধ্যাপন প্রথায় অধ্যাপিত হইবায় পঞ্চশাখ হইয়াছে। কোন একদেশে আশ্বলায়ন বাস করিতেন, অন্যান্য প্রদেশে সাংখ্যায়ন প্রভৃতি ঋষিরা বসবাস করিতেন ; আশ্বলায়ন নিজ শিষ্যগণকে যে সকল মন্ত্র শতমন্ত্রাধ্যয়নানন্তর অধ্যয়ন করাইয়াছেন,সাঙ্খ্যায়ন সেই মন্ত্র সকল অষ্টোত্তরশত মন্ত্রায়নের পরে অধ্যয়ন করাইয়াছেন, শাকল বিংশতি মন্ত্রাধ্যয়ন করাইয়াই ঐ গুলি অধ্যয়ন করাইয়াছেন, কিন্তু তাহার অধ্যাপনে কেহই বিমুখ হন নাই। আশ্বলায়ন যে কোন স্থলে দ্বাত্রিংশৎ মন্ত্রান্তে ছেদ স্বীকার করিয়াছেন, সাংখ্যায়ন সেই স্থলে ছেদ অগ্রাহ্য করিয়া পঞ্চচত্বারিংশৎ মন্ত্রান্তে ছেদ মানিয়াছেন। আশ্বলায়ন যে কোন স্থলে ল উপদেশ করিয়াছেন, সাংখ্যায়ন সেই স্থলে ড উপদেশ করিয়াছেন। শাখা সকলের এইরূপ পরস্পর ভেদ আছে মাত্র। (সেই সমস্ত ভেদের বর্ণনকৃদ্ গ্রন্থের নাম প্রতিশাখ্য) ফলত যে সকল মন্ত্র আশ্বলায়নী শাখাতে শ্রুত হয়, তৎসমস্তই সাঙ্খ্যায়নী প্রভৃতি চারিশাখাতে বিদ্যমান রহিয়াছে ; উচ্চারণ, পাঠক্রমাদির ভেদে নামভেদে কীর্ত্তিত হইয়া থাকে, একই আশ্বলায়নী প্রভৃতি বিবিধ নামভেদেপ্রথিত হইয়াছে, তাহার আরও এক কারণ আছে, যথা—"অগ্নিহোত্রং জুহূয়াৎ" এই শ্রুতিদ্বারা হোমবিহিত হইয়াছে, এ স্থলে কোন শাখাকার "উদিতে জুহুয়াৎ" কেহ "অনুদিতে জুহুয়াৎ" বলিয়া হবন কাল স্থির করিয়াছেন, এইরূপে বেদের অবিরোধে নিজ নিজ অভিপ্রায়ানুযায়ী শ্রৌত, গৃহ্য বিধি সকল সূত্রাকারে নিবদ্ধ করিয়া তাহাতে স্বীয় স্বীয় শিষ্যগণকে প্রবৃত্ত করাইয়াছেন,আশ্বলায়ন-শিষ্যেরা আশ্বলায়ন সূত্রানুসারে ও সাঙ্খ্যায়নাদি-শিষ্যেরা সাঙ্খ্যায়নাদি-সূত্রানুসারে ব্যবহার করিয়া থাকেন ; সুতরাং বেদবিহিত একই বিধি ক্রমকালাদি নিয়মভেদে বিভিন্ন দেখা যায় (যজুঃ সাম,অথর্ব,এই তিনেরও শাখাভেদ এই রূপ)। অতএব চরণ ব্যূহকার "ঋগ্বেদস্য" এই অধিকার করিয়া "শাখাঃ পঞ্চবিধা ভবন্তি" বলিয়াছেন, অন্যথা যেরূপ তিনিই তদনন্তর বলিয়াছেন "অধ্যায়াশ্চতুঃষষ্টি" সেই রূপ "শাখা পঞ্চটি" ইহাই বলিতেন; যদি অস্মদুক্ত প্রকার চরণ ব্যূহকারের সম্মত না হয়, তবে "পঞ্চধা" এই ধাচ্ প্রত্যয় অরণ্যে মারা যায়। আমরা যেরূপে শাখাভেদ নিরূপণ করিলাম যদি ইহাতে কাহারও বিশেষ প্রমাণ অনুসন্ধেয় হয়,তবে প্রত্যক্ষ প্রমাণই অবলম্বন করিবেন, কোন একটী বেদের দুইটি শাখা অবলোকন করিলেই তৎক্ষণাৎ এ বিষয়ে নিঃসংশয় হইতে পারিবেন॥

१ अथ २ क्वचित् कुवलयावलीमिलितपुण्डरीकखेडव्याजविजृम्भमाणप्रयागपरभागं तडागं साकांक्षमीक्षमाणाः, ३ कुत्रापि करकमलकलितजलधौतकलधौतकलशविलासधरपयोधरभरावनम्रनागरीगरीयः खेदच्छेदमेदस्विनी समीरसमिद्धितसमीपां वापीं नेत्रपात्रीं कृतवन्तः, ४ क्वापि कूपान् भूपानिव गुणिभ्यः पात्रेभ्यः पावनजीवनदायिनोनिरन्तरं निरूपयन्तः, कुतश्चित् पार्वतीपतिपदपयोजपूजनप्रयोजनविशुद्धाभिजननिवासनिवासिताशेषकल्मषोपसर्गं दुर्गं नयनमार्गं नयन्तः, अपरत्र च भवद्वक्षस्तटप्रतिभटहाटककपाटरचनासनाथं गोपुरं च परिचिन्वन्तः ५ अन्यत्र सुपर्वपर्व्वतगर्व्वसर्व्वंकषान्निभान्निभालयन्तः, ६ इतरत्र जवविजितकुरङ्गां स्तुरङ्गानङ्गागतान्नटानिव नृत्यतोनिरीक्ष्य वीक्षणयुगलं सफलयन्तः, ७ क्वचिद्ध्वजवल्लिवेल्लनोल्लासितभास्वत्तुङ्गतुरङ्गगमनानि नयनमीनयोरानायतां नयन्तः, ८ क्वचन काञ्चनकाञ्चनवर्णां कर्णान्तविश्रान्तचारुलोचनांचलां चरणसंचरणसिञ्जानमञ्जुमञ्जीरनादेन नेदीयसां हृदयमदयमपहरन्ती मन्दिलक्ष्मीकुर्वाणानिर्वाणनिर्वाणागारलाघवं द्राघयन्तः, वसुमतीसारं देवद्वारं समासाद्य माद्यदन्तःकरणाः समवर्त्तिष्महि। ९ अनन्तरं निरन्तरमपक्रम १० निःक्रामदनेक सेवकनिकायकायसम्बन्धं सनिबन्धं ११ परितः परिहरन्तः, सन्तमसराशिनाशि प्रचण्डमार्त्तण्डमण्डलसप्रकाशमाकाशसंकाशं देवसकाशमनायासमायासिष्म। १२ सम्प्रति च। न कम्प्रति प्रतिभाविभासितवदनोवादी आवर्जिता जर्जरकर्णकलशीकाः प्रेक्षावन्तः प्रतीक्षन्ते चास्मदप्रह्वजिह्वाशुक्तिमुक्तां वाचोयुक्तिमुक्तावलीम्, तदचिरस्य १३ निरस्य सर्वगर्वमेतस्य भगवतीं भारतीं कण्ठपीठाधिष्ठायिनीं निर्माय, निर्मायमुपास्य च द्विपास्य १४ मध्यवस्यामि। पुराणपुरुषोत्तमस्य देवस्य विचित्रां स्तोत्रावलीम्।

इति कविकल्पलतायां कथाख्य-
तृतीयस्तवके तडागादिवर्णनं
नाम पञ्चमं कुसुमम्।

---

१ इत्यादि वादिमान्धाय वचांस्यूच्चार्य्य धैर्य्यवान्।
प्रतीक्षेत विपक्षस्य भारतीं प्रातिकूलिनीम् ॥१॥
ततः संरम्भसम्भारगम्भीरारम्भनिर्भराम्।
विपक्षं क्षिप्रमाक्षिप्य वाचमुच्चारयेदिमाम् ॥२॥

---

१ तडागादिवर्णनाख्यं कुसुममारभते—अथेत्यादि, आदिशब्दात् वापीकूपहर्म्यकामिन्यादयो बोध्याः।

२ तडागं वर्णयति—क्वचिदिति। एवम्भूतं तडागमीक्षमाणा इति योजना। पद्माकरस्तडागोऽस्त्रीत्यमरः। कुवलयं नीलपद्मम्। पुण्डरीकं श्वेतपद्मम्।

३ वापीं वर्णयति—कुत्रापीति, कुत्रापि एवम्भूतां वापीं नेत्रपात्रीं कृतवन्तः। कलधौतं स्वर्णम्। नागरी नगरवासिनी। कलसेति, घटविलासितानुकारिण इत्यर्थः।

४ कूपान् वर्णयति—क्वापीति, कूपान्निरूपयन्त इति योजना। गुणिभ्यः, पक्षे रज्जुयुक्तेभ्यः।

५ हस्तिनो वर्णयति—अयत्रेति, सुपर्व्वपर्व्वतः सुमेरुः। इभान् हस्तिनः।

६ अश्वं वर्णयति—इतरत्रेति। जवेति, हरिणापेक्षया शीघ्रगामिन इत्यर्थः।

७ प्रासादं वर्णयति—क्वचिदिति। भास्वदिति, भास्वतः सूर्य्यस्य तुङ्गा ये अश्वाः तेषां गमनं येषु, अतीव उच्चा इत्यर्थः।

८ क्वचनेति। कामिनीम् अक्षिलक्ष्मीकुर्वाणा इति योजना। अर्थात् महाराजद्वारं प्राप्य प्रसन्नचित्ता बभूविम इत्यर्थः।

९ अनन्तरमिति। पश्चात् प्रभूतलोकगमनागमनसमारोहं परिहृत्य श्रीमन्महाराजसन्निधिं आगताः स्मः।

१० अपक्रमेति। अपगतः क्रमो यस्य, अजस्रमित्यर्थः।

११ सनिबन्धं सयत्नमित्यर्थः।

१२ सम्प्रतीति। अधुना यदि कश्चिद् वादी वर्त्तते तान् पराजित्य ये च शुश्रूषवः तान् श्रावयन्तो महाराजस्य गुणानुकीर्त्तनं करिष्यामीति भावः।

१३ अचिरस्य नूतनस्य।

१४ द्वीपास्यं निर्मायं मायारहितं गणेशं संस्तुतेत्यर्थः।

इति कवि०टीकायाम् ३स्त०५कु०।

१ वादितर्जनाख्यं षष्ठस्तवकमारभते—इत्यादीति, पूर्व्वकुसुमशेषोक्तां वाचं वादिमान्धायवादिनां निष्प्रभीकरणार्थम् उच्चार्य्येत्यर्थः, वक्ष्यमाणं वाचमुच्चारयेदित्यर्थः।

२ यन्मया सह दुर्बुद्धे ! वाग्युद्धं कर्त्तुमिच्छसि ।
तत्पङ्गुर्भङ्गमुत्तुङ्गं मेरोरारोढुमिच्छसि ॥३॥
सुप्तसिंहसटाकृष्टिमष्टापदपदच्छिदाम् ।
व्याघ्राय शीघ्रमाघ्रातुं शशकः सन्त्यमीहसे ॥४॥
शुक-शावः शशादस्य चञ्चुं चुम्बितुमिच्छसि ।
सर्पं सदर्पमङ्घ्रिभ्यां निघ्रष्टुं दुष्ट! वाञ्छसि ॥५॥
मण्डूक खण्डतां धत्से कुत्सितो नागसंसदि ।
श्रीखण्डखण्डएरण्डः स्वसौरभ्यं स्तुषे वृषे ॥६॥
सम्प्रहर्त्तुं विषाणाभ्यां शक्रेभं वृषभेच्छसि ।
गिरिं पातयितुं दन्ती दन्ताभ्यामिव वाञ्छसि ॥७॥
दुर्बुद्धे ! स्पर्द्धसे कीटः प्रकटं कैटभारिणा ।
आखु ! विडालदंशनानुत्पाटयितुमिच्छसि ॥८॥
इदं पाषाणदलनमन्धस्यालेख्य दर्शनम् ।
मृगतृष्णाम्भसि स्नानं कृष्णाहि-मुखचुम्बनम् ॥९॥
तुलया लोलनं मेरोः करेण स्थगनं रवेः ।
खड्गधाराग्रसञ्चारः शिरसा गिरिभेदनम् ॥१०॥
नभसोऽङ्गुलिभिर्मानमय स्वर्णकचर्वणम् ।
अङ्गार शयनस्वापो मज्जयोऽयं त्वयेष्यते ॥११॥
राजिलोगरुडं द्वेष्टि खद्योतोऽर्कं जिगीषसि ।
कूपः संस्पर्द्धसेऽम्भोधिं मृगः सिंहं जिघांससि ॥१२॥
स्वः शाखिमञ्जरीभूस्थः करेणाक्रष्टुमिच्छसि ।
त्वं शेषशेखरमणिं हठेनादातु मिच्छसि ॥१३॥
स्वर्दन्ति-दन्तैस्ताटङ्कं वतंसं गरुडच्छदैः ।
कृतान्तमहिषेणांभोहरणं च चिकीर्षसि ॥१४॥
त्वया दुर्वचनैरद्य दुर्वासाः परिकोपितः ।
कलिकादंष्ट्रया कण्डु रपनेतु मिहेष्यते ॥१५॥
सुखसुप्तस्त्वया सिंहः पादाघातेन बोधितः ।
यदहं वादवचनाटोपेन परिकोपितः ॥ १६ ॥
लक्षणे मम दक्षत्वं साहित्ये संहता मतिः ।
तर्के कर्कशतात्पर्य्यं क्व शास्त्रे नास्ति मे श्रमः ॥१७॥
इत्थं सुव्ययकै र्वाक्यैरस्य दर्पान्धमुद्धरेत् ।
अन्ते च शमयेद्वादी युक्तियुक्तैर्वचःक्रमैः(२) ॥१८॥

इति कविकल्पलतायाम् कथाख्ये तृतीये स्तवके वादितर्जनं नाम षष्ठं कुसुमम्।

समाप्तः तृतीयः स्तवकः ।

—०()०—

(१) अर्थोत्पादोद्भुतं चित्रं सादृश्यं रूपकादिकम् ।
समस्या-पूरणोपायः समस्या च यथाक्रमम् ॥१॥

(२) मृण्मयकार्यासमयद्रुमसंभवधातुचर्मदृषदां च वाच्या क्लेशसहत्वात्, भद्रस्थानादि सम्प्राप्तिः ।

मृण्मयं यथा—

(३) कुद्दालघातपादप्रहारकरपीडनबन्धनच्छेदचक्रभ्रमणपाषाणपिण्डिकाकाष्ठहस्तघातरवितापशोषवह्निप्रवेशपरीक्षार्थशिरः प्रहारादिभिः कष्टमनुभूतम्, जनबुभुक्षातृष्णापरिहारार्थजलधारापातेन लोकोपकारः कृतः, तैः सुकृतैः मृण्मय

---

२ वादिभर्त्सनमाह— यन्मयेति। सुगमं सर्वम्। अन्यदपि ग्रन्थान्तरोक्तं यथा—"कामः कोमे पुरस्तादिति वदति शुकः पेचकोमेचकाभः, सङ्गे सिंहस्य हेलां वदति च नितरां जीर्णवालः शृगालः। उड्डीयोड्डीय काकः परिहसति गरुत्वन्मयन्तराललज्जा-भीति-च्युतानां वद वदनभूतां वाचिको बाधकः स्यात्।"

२ वादिनं शान्तं दृष्ट्वा सयुक्तिकैर्वचनैः शमयेदित्यर्थः ॥

इति कविकल्पटीकायाम् ३स्त० ६कु० ।

समाप्तः ३स्तवकः ।

---

१ चतुर्थस्तवकमारभमाणस्तत्र कुसुमानि वक्ति—अर्थोत्पादेति। अर्थस्य पदार्थस्य उत्पादनम् आरोप इत्यर्थः। अद्भुतादीनि तत्तत् कुसुमे व्याख्यास्यते।

२ मृण्मयेत्यादि। मृण्मयं घटादिकार्पासवस्त्रादि, द्रुमसम्भवा यूपादयः। धातुसम्भवाः कुण्डलादयः। चर्मसम्भवाः फलकोपानहादयः। दृशत्सम्भवा यन्त्रपेषणसाधनादयः। एतेषाम् क्लेशसहत्वादित्यादि। अर्थात् तपः क्लेशं सहित्वा उत्तमं स्थानम् एते प्रापुः इत्यारोपनीयमित्यर्थः।

३ तानेवोदाहरिष्यन् प्रथमं मृण्मयानुदाहरति — कुद्दालेति।

वस्तुनोभव्याधारादिकमारोग्यम्। ४ कार्पास-सूत्रमये वस्तुन्येते भावा वाच्याः, यत्पूर्वं शीतावाताद्ययाचितां बुपानकर्मकरनखच्छेदनविक्रिया एवमातपच्चेपलोष्टोपलघर्षणतुलारोहणान्तः साराकर्षणपिण्डाघातविदारणयन्त्रारोहणतर्कुभ्रमि आकर्षणतन्तुवाया कर्षणकाष्ठप्रहारविपणिविक्रियादिकष्टमनुभूतम्। तूलिकादिरूपतया परगुह्याच्छादनेन च शीतातपादित्राणतया परोपकारः कृतः, तैः सुकृतैः कार्पासादिमयवस्तुनोभद्रस्थानानि संभाव्यम्।

एवमन्यत्राऽप्यूह्यम्।

(५)लज्जाकोपो यशो नाशरोषाक्रन्दास्यकृष्णता।
रागपाण्डुरताशस्त्री विषष्ठ भम्पातपोजपाः ॥१॥
राजप्रसादहंसैक्यकण्ठैक्यदण्डभक्तिनिषेवणम्।
दुःखस्नेहाभिचारेर्ष्या सहनोज्जीविकादयः ।२।
वर्ण्यने विजितस्यैते पराजयसमुद्भवाः।
भावा वाच्या यथौचित्यं सर्वे लज्जादयो यथा(६)॥

मुखजितं कमलं लज्जयेऽवनतं गतम्।
कोपतप्तमिव कासारः चुद्रशत्रुच शयंभेजे॥
मूर्त्तमिवायशोभृङ्गावलिव्याजेन धत्ते।
अथवा जलदुर्गे नष्टं रोषादि वारुणतां धत्ते।
भ्रमरारवैराक्रन्दतीव नीलालिभिःश्यामसुखमासीत्।
मुखेन भीत्या संभावितं कोकनदमनुरक्तत्वं धत्ते।
वेत्रजितं पुण्डरीकं चिन्तयेव पाण्डुरतां धत्ते।
भृङ्गश्रेणी मिषादुरसिशस्त्रीं क्षिपति।
भृङ्गमिषाद्विषं भक्षयति जलान्तपां दधौ।
जले आकण्ठमग्नं तपस्तनुते। [खैर्मन्त्रं जपति।
पराग पाण्डुरां रुद्राक्षमाला मिर्वलिमालां दधत्तदा
राजप्रसादरहितं बकुकंटकतां धत्ते (७)।
हंसैः(८) सह सङ्गतिं कुरुते। [दण्डमास्ति।
अरुणदलच्छलेन काषायं वासो बिभ्रदवलम्बितैकपल्वलगतमत्स्यकूर्मवराहादीन् (९) भजते।
शम्भोरम्भोमूर्त्तेः सेवां करोति।
दुःखादिव मकरन्दाश्रूणि मुञ्चति।
तन्मित्र इन्दुकान्तिहारिणि सूर्ये स्निह्यति (१०)।
जलमध्यस्थमभिचारमन्त्राक्षराणीव भृङ्गान् धत्ते।
तन्मित्रे (११) चन्द्रमसीर्षां बिभर्त्ति।
भ्रमरपदप्रहरणानि सहते।
तासादिवोज्जीविकया भृङ्गनेत्रेणेक्षते।

---

४ कार्पाससम्भवे उदाहरति—कार्पासेति। सुगमम्।

अन्यच्च।

श्लाघ्यं नीरसकाष्ठताडनशतम्
श्लाघ्यं प्रचण्डातपः
क्लेशः श्लाघतरः सुपङ्कनिचयः
श्लाघ्योऽतिदाहानलः।
यत् कान्ता-कुच-पार्श्व-बाहुलतिका
हिल्लोल-दोला-सुखम्,
लब्धः कुम्भवरस्तदा न हि सुखं
दुःखैर्विना लभ्यते ॥१॥

एवमन्यत्रापि। काष्ठसम्भवादावपि। यथा ग्रन्थान्तरे।

उद्दामपामरकठोरकुठारघातैः,
श्रीखण्डखण्डनजतापसमुं विसृज्य।
सम्मानमेष्यसि निदाघदिनावसाने
स्नाताभिरामरमणीकुचमण्डलेषु ॥१॥

५ इदानीं लज्जादिभि र्द्रव्यविशेषे द्रव्यगुणक्रियाविशेषारोपं दर्शयति—लज्जेति। अयशः अकीर्त्तिः। नाशः नष्टता। झम्पः जलादिपतनम्। जपः मन्त्राभ्यसनम्। हंसैक्यम् हंसैः सहवासः। दण्डभक्तिः प्रव्राजितत्वम्। निषेवनम् सेवा। अभिचारः मारणोच्चाटनादिकम्। उद्जीविका उन्मुखत्वम्।

६ उदाहरति—यथेत्यादि
७ श्लेषेणारोपं दर्शयति—राजेत्यादि। राजा चन्द्रो नृपश्च।
८ हंसैः। पक्षे ज्ञानिभिः।
९ मत्स्येति। पक्षे विष्णववताराः।
१० स्निह्यति स्नेहं करोति।
११ तन्मित्रे सुखसहशे।

इति कविकल्पटीकायाम् ४स्त० १कु०।

भयादिव वीचिचोभात् कम्पते। [विभर्त्ति।
हृदन्ति स्वपराभवामर्षानलधूमलेखामिवालिमालां
योत्कामिव प्रकाशितकोशं सहस्रं पत्राणि धत्ते।
एवं चन्द्रोऽपि। यथा—
मुखजितश्चन्द्रो लाञ्छनच्छलेन पराभवाकीर्त्तिं धत्ते।
उदरन्ध्रस्तनश्चन्द्र इव लक्ष्यते।
महेश्वरजटाटवीं प्रविश्य शम्भो गङ्गातटे तपस्यति।
विष्णुपदं याचते। तन्मितं पद्मं द्वेष्टि।
अस्ताद्रिशिखरमारुह्य समुद्रे झम्पां करोति।
दिवानप्रकटो भवति। मित्रमनुप्रविशति।
कपोलप्रतिबिम्बच्छलेन तदनुप्रवेशं कुरुते।
विदेशं भजते।
उदरताडनादिवच्छायामोदरतां विभर्त्ति।
पाण्डुरः क्षीयते।
पीयूषविन्दुव्याजेनाश्रूणि मुञ्चति।
सदार्द्रतया खिद्यति॥
अस्ताचले सानुचरो विलीयते।
चरणनखानुविम्बव्याजेन शरणं पविशति॥

इति कविकल्पलतायाम् अर्थाख्ये चतुर्थे स्तवके अर्थोत्पादनं नाम प्रथमं कुसुमम्।

अथ। यत्र लिङ्गविभक्तीनां सति भेदे महत्यपि।
दृश्यते शब्दसादृश्यं तदद्भुतमितीर्यते॥१॥
इन्नन्तैः स्त्रीकृतैः शब्दैः रौरी क्लीवस्त्रियोः पुनः।
तैरेव रेफपृष्ठस्थैः स्त्रीकर्मबहुता भवेत्॥२॥

प्रभावराजिनीरागोल्लासप्रध्वंसिनीरयात्।
गौरीशम्भोः पदाब्जे च कुरुतां सुखसम्पदः॥३॥
अत्र रौरी विशेषणे स्त्रियामीन्, पदाब्जविशेषणे नपुंसके औरी, सुखसम्पद्विशेषणे स्त्रियां शस्।
विशेषणपरिच्छिन्नै रिङ्गतै रेफपृष्ठगैः।
द्विष्ठिद्विपञ्चमीकर्मक्लीबबहुत्वेऽपि चाद्भुतम्॥४॥
द्विष्ठस्योभयपदिधातोः द्विपञ्चमी-परस्मैपदद्विवचने आत्मने पदैकवचनञ्च तस्याः क्रियायाः कर्म-क्लीबबहुत्वेऽप्यद्भुतम्।
यथा। भवभेदपटूरागध्वान्तभानुस्थितीरयात्।
श्रीमान् विश्वेश्वरोगङ्गाकाश्यौ च कुरुतां श्रियः॥५
अत्र विश्वेश्वरगङ्गा काशी श्री विशेषणत्वात्, सुऔशस् क्रमेण कृताः।
स्मेर पुष्कररोविष्णु राजन्यशतशेखर।
हरेः खड्गोगणाधीशस्त्र्यौ च कुरुतां श्रियः॥६॥
स्मेर पुष्कररोविष्णु राजन्यशतशेखर।
कृपाणस्तव हस्तौ च सदा वितनुतां श्रियः॥७॥

---

१ अद्भुतकुसुममारभमाणः प्रथमं तावदद्भुतत्वं निरूपयति—यत्रेति लिङ्गानां, स्त्रीपुन्नपुंसकानाम्, विभक्तीनां सुपां तिङां च महत्यपि भेदे, महत्वम् अनेकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्॥

२ इन्नन्तैरिति। इनि प्रत्ययान्तैरित्यर्थः, उपलक्षणमेतत्, विन्यादि प्रत्ययान्तेऽपि बोध्यम्। स्त्रीलिङ्गविहितैः ईप् प्रत्ययान्तैः तथा औङ्शी आदेशे। तथा तैरेव राजिनी शब्दैरेव, रेफात् पूर्वं स्थितैः रौरीत्यनेन रेफस्य लोपे सतीति भावः। स्त्रीकर्मेति स्त्रीलिङ्गे कर्मणि द्वितीयाया बहुवचनं भवेदित्यर्थः।

३ गौरीति प्रथमैकवचनान्त कर्तृपदम् पदाब्ज इति प्रथमाद्विवचनान्तं कर्तृपदम्, सुखसम्पद इति द्वितीया बहुवचनान्तं कर्मपदम् कुरुतामिति क्रियावाचकम्। एकवचनद्विवचनयो स्तुल्यम्। प्रभावराजिनीति सर्वेषां कर्तृकर्मणां विशेषणम्। प्रभावेन राजते इति प्रभावराजिनी।

४ भेदान्तरमाह—विशेषणेति। रिगन्तैरिति। रेफात् पूर्वं स्थितैरिक् प्रत्याहारस्थवर्णैः। द्विपञ्चमीति, पञ्चमी लोटः संज्ञा कालापिकानां लोटः परस्मैपदात्मनेपदयोः कर्मबोधने स्त्रीलिङ्गे द्वितीयाबहुवचनान्त इति यावत्। अद्भुतं भवेदित्यर्थः।

५ उदाहरणमाह—यथेत्युपक्रम्य, भवेति। अत्रापि कर्तृकर्मविशेषणम् प्रथमार्द्धम्॥

६, ७ स्मेरेति। स्मेरेति प्रथमार्द्धं सम्बोधनम्, तव कृपाणम् हस्तौ चेति कर्तृपदम्।

पशौ कथा निवृत्ता, सोम इदानीं वर्त्तते। ननु 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' इत्यादीनामपूर्वविधित्वाभावेन कर्मभेदाभावात्—'दशैतानध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति' इति योऽयं समुच्चयः सः कथं सङ्गच्छते? इत्यताह।

(सू०) तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासोद्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद् भेदोद्रव्यगुणीभावात्॥ २।२।१८॥

(वि०) 'तद्भेदात्' इन्द्रवाय्वादिदेवताभेदात् 'कर्मणः' ग्रहणकर्मणः 'अभ्यासः' उपपन्नः। 'हि' यतः 'द्रव्यपृथक्त्वात्' देवतासंयुक्तग्रहणसंस्कार्य्यद्रव्यपृथक्त्वात् 'अनर्थकम्' अननुष्ठीयमानं स्यात्। नहि अनभ्यस्तः सर्वाभिर्देवताभिः सर्वेण च सोमेन सम्पन्नो भविष्यतीति भावः। अतो वक्तव्यमेतत् 'भेदः' ग्रहणस्य भेदः 'द्रव्यगुणीभावात्' संस्कार्य्यद्रव्यं प्रति गुणीभावात् उपपन्नः। एवञ्च तेनाभ्यासेन यागभेदो नावकल्प्यते॥२।२।१८॥

ननु यथा 'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रोहितके बध्नाति'—इति ; खादिरादय संस्कारे विकल्प्यन्ते ; तद्वदत्रापि देवता-विकल्पः किं न स्यादित्याह।

(सू०) संस्कारस्तु न भिद्येत, परार्थत्वात् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ २।२।१९॥

(वि०) बन्धनादिरूपः संस्कारस्तु 'न भिद्येत' प्रतियूप मिति शेषः। कुतइत्याह—'द्रव्यस्य' खादिरादेः 'परार्थत्वात्' बन्धनाद्यर्थत्वात्, अतएव बन्धनं प्रति गुणभूतं खादिरादि द्रव्यम्, अतस्तत्र प्रतिगुणं न प्रधानावृत्तिः—इति विकल्पः। यदि इन्द्रवाय्वाद्याअपि ग्रहदेवता यागमभिनिर्वर्त्तयितुं श्रूयेरन्, ततोत्रापि विकल्पः स्यात्, नत्वेता यागे श्रुताः ; तस्मात् समुच्चीयेरन्—इति सिद्धान्तः॥ २।२।१९॥

तदेतत् षष्ठाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) यजत्यालभतीत्येतावनुवादौ विधीउत। गृह्णात्यवद्यतीत्याभ्यां विहितेऽर्थेऽनुवादिनौ। नानुवादो पुरोवादे यज्यालभ्योरतो विधिः। ग्रहणे सोमसंस्कारोऽवदाने पशुसंस्क्रिया॥ २।२।६॥

(टी०) 'सोमेन यजेत'-इति श्रूयते, तत्र 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति', 'मैत्रावरुणं गृह्णाति'—इत्यादिन्यपि श्रुतानि। एवम् 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'—इति श्रूयते, तत्र 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः'—इत्यादीन्यपि श्रुतानि। तत्रैन्द्रवायवादिवाक्ये यागाविधीयन्ते, इन्द्रवाय्वादिप्रातिपदिकैर्देवतानां तद्धितेन सोमरसस्य द्रव्यस्य च प्रतीयमानत्वात् ; एतेषां ग्रहणवाक्यविहितानां यागानां समुदायः 'सोमेन यजेत'-इत्यनेनानूद्यते। तथावदानवाक्ये हृदयादिद्रव्यं श्रुतम्, ततोद्रव्यविशिष्टयागास्तत्र विधीयन्ते। तदनुवादेन पश्वालम्भवाक्येऽग्नीषोमरूपदेवता विधीयते। तस्मादवदानवाक्यविहितानां यागानां समुदायः 'पशुमालभेत'—इत्यनेनानूद्यते।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—सति हि पुरोवादेऽनुवादो भवति, नचात्र पुरोवादोऽस्ति, 'सोमेन यजेत'—इत्यनेन प्रतीतस्यार्थस्य ग्रहणवाक्येष्वप्रतीतेः ; न हि ग्रहणं यजनं भवति, नापि तद्धितप्रत्ययोक्तोरसः सोमलता। न च तद्धितप्रत्ययः सर्वनामार्थे विहितः प्रकृतं ब्रूते, न तु रसम् ;—इति शङ्कनीयम् ; 'धारया रसं गृह्णाति'—इति तस्यैव प्रकृतत्वात्। तथा 'पशुमालभेत'—इत्यनेन प्रतीतोऽर्थो नावदानवाक्येषु प्रतीयते। ततः पुरोवादाभावेऽनुवादासम्भवात् यजत्यालभतिभ्यां कर्म्मणी विधीयते। ग्रहणवाक्यैस्तु देवताविशिष्टः सोमसंस्कारो विधीयते, अवदानवाक्यैश्च पशुसंस्कारः॥२।२।६॥

इति षष्ठाधिकरणम्।

अथ संख्याकृतकर्मभेदं विधत्ते।

(सू०) पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदः स्यात्। २।२।२०॥

(वि०) तथाहि—'सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभते' इत्यादौ संख्यया कर्मभेदो भवेत्; कुतः? इत्युच्यते 'पृथक्त्वनिवेशात्' पशूनां पृथक्त्वं बहुषु यागेष्ववकल्पते, नैकस्मिन्; कथम्? एकादशभिरवदानैरसौ यागो निवर्त्तयितव्यः—इत्येवं चोदकः प्रतिदिशति, तानि चैकस्मादेव पशोरवाप्यन्ते, तत्र द्वितीयादेरालम्भो नावदानसम्पादनाय भवितुमर्हति, एकमालभ्यमानमन्वालभ्येरन्नदृष्टार्थाय अपरे, तथासत्यतदर्थत्वान्नते प्राजापत्या भवेयुः, तत्र प्राजापत्यान्—इति श्रवणमुपरुध्येत। तस्मात् सप्तदशयागाः। (कर्मभेदास्वीकारे एकस्मिन् पशौ दुष्टे अन्यः पशुगण आवर्त्तेत, तस्मादृष्टार्थं भविष्यति; सिद्धान्ते एकएव पशुरावर्त्तते, नहि पशुः पश्वन्तरमाकांक्षति;—इत्येवं फले भेदः) ॥ २।२।२०॥

तदेतत् सप्तमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) आकृतौ त्रिष्विहात्र कर्मैक्यमुत भिन्नता। एकत्वं सकृदाख्यातात् संख्यावृत्त्या प्रयाजवत्॥ आख्यातमात्रं नोमानं संख्यया बहुकर्मता। आवृत्त्यैकादशत्वं तु प्रयाजे गत्यभावतः। पशून् सप्तदशप्राजापत्यानित्यत्र भाष्यकृत्॥ विचारमाह पूर्वत्र क्रियात्रित्वस्फुटत्वतः॥ बहुत्वोपेतपशुभिर्दैवयोगादभिन्नता। रूपस्य तेन कर्मैक्यं संख्या नात्र क्रियागता॥ देवता सकृतस्यैव तद्धितार्थस्य पश्चिमः। बहुत्वसङ्गमो रूपसंख्ययाऽतः क्रियाभिदा। २। २। ७॥

(टी०) 'तिस्र आकृतीर्जुहोति'—इति श्रूयते; तत्र 'जुहोति'इत्येतदाख्यातं 'समिधोयजति'-इत्यादिवन्नाभ्यस्तम्, किन्तु सकृदेवाम्नातम्; ततएकमिदं कर्म, त्रित्वसंख्या तु तस्यैव कर्मण आवृत्त्या नेतव्या; यथा प्रयाजेष्वेकादशत्वसंख्या पञ्चानामेव प्रयाजानामावृत्त्या नीता तद्वत्।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—किमिदमाख्यातं,पदान्तरनिरपेक्षमेव कर्मैक्ये प्रमाणम्, उत पदान्तरान्वितम्? नाद्यः, वाक्यांशस्य पदमात्रस्य प्रमितिजनकत्वाभावात्; द्वितीये, त्रित्वसंख्याविशेषितेन आख्यातेन कर्मबहुत्वं गम्यते। प्रयाजानान्तु पूर्व्वमेव पञ्चसंख्यावरुद्धत्वात् आवृत्तिमन्तरेणैकादशत्वं दुःसम्पादम्; इह तु एतद्विधितः पूर्वं कर्मण एकत्वसंख्यावरोधोनास्ति;—इति वैषम्यम्।

तदेतद्वृत्तिकारोदाहरणम् भाष्यकारोनानुमन्यते, कर्मवाचिन आकृतिशब्दस्य विशेषणेन त्रिशब्देन कर्मबहुत्वस्य स्फुटतया पूर्वपक्षानुत्थानात्।

इदन्त्वत्रोदाहरणम्। 'सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभते'—इत्यत्र प्रजापतिर्देवता येषां पशूनां ते प्राजापत्याः—इति तद्धितव्युत्पत्तौ बहुत्वोपेताः पशव एकं द्रव्यम्, ततो द्रव्यैक्याद्देवतैक्याच्च यागस्य रूपमभिन्नम्—इत्येकमिदं कर्म; यातु सप्तदशेतिसंख्या सा पशुद्रव्यागता, नतु पूर्वोदाहृतत्रित्वसंख्येव क्रियागता। तस्मान्न कर्मभेदतामापादयति।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—अत्र प्रजापतिर्देवता यस्य पशोः स प्राजापत्य इति तद्धितान्तं प्रातिपदिकं व्युत्पाद्य पश्चात् तद्धितान्तप्रातिपदिकार्थस्य प्रजापतिदेवताविशिष्टपशोः कर्मबहुत्वविवक्षायामुत्पन्ने इमे द्वितीया-विभक्ति-बहुवचने; तत्र प्रथमभाविन्या द्वितीयाविभक्तेरेव तावत्तद्धितोत्पत्तिवेलायामन्वयोनास्ति, कुतः? पश्चाद्भाविनो बहुवचनस्यान्वयः, एवं सति प्राजापत्येत्यनेन तद्धितान्तप्रातिपदिकेन एकपशुद्रव्यमेकदेवतापेतं यागस्य रूपं समर्प्यते, तादृशानां बहुत्वाय बहुवचनम्; बहुत्वविशेषः सप्तदश—इति निर्द्दिश्यते। तस्मादत्र संख्यया कर्मभेदः। एवं सति अष्टमे वक्ष्य-

माणं सप्तदशपश्नूनामेकदेशिन पशुगणविकृतित्व-मुपपद्यते।

इति सप्तमाधिकरणम्।

अथ संज्ञाकृतकर्मभेदं ब्रूते।

(सू०) संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात्। २। २। २१।

(वि०) संज्ञा नामधेयम्,तदपि कर्मणां भेदिका भवेत्। तथाहि 'अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः अथैषः सर्व्वज्योतिः' इत्येभिर्नामधेयवचनैः न प्रकृतं ज्योतिष्टोमेन यजेत' इति विहितं ज्योतिष्टोमं सङ्कीर्त्त्य एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इत्यपरांशेन सहस्रदक्षिणादिगुणस्तत्र विधीयते, अपि तु कर्मान्तराण्युपदिश्यन्ते। नन्वेवं 'सन्तत माधारयति' इत्येवमादावपि सन्ततादिनामधेयनिबन्धनकर्मभेदः स्यादित्याह—'उत्पत्तिसंयोगात्' अथैष ज्योतिरित्येवमादौ उत्पत्तिदशायामेव संज्ञायाः ज्योतिरादेः सम्बन्धात् अत्र संज्ञाभेदिका ; सन्ततादौ तु नैवम्, तत्र हि 'आधारमाधारयति'—इति विधायके वाक्ये सन्ततादिसंज्ञाया अश्रवणात्, तत्र तु उत्पन्ने कर्मणि नामधेयं श्रुतमिति वैषम्यम्। एवञ्च यस्या हि संज्ञायाः उत्पत्तिकाले एव श्रवणम् सैव भवेत् कर्मभेदिकेति सिद्धान्तः।२।२।२१।

तदेतदष्टमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) अथैष ज्योतिरित्यत्र गुणो वा कर्म वा पृथक्। गुणः सहस्रदानात्मा ज्योतिष्टोमे ह्यनूदिते॥ अथेति प्रकृते च्छिन्ने एतच्छब्दोऽग्रगं वदेत्। संख्ययेवान्यकर्मत्वमिह नूतनसंज्ञया॥२।२।८॥

(टी०) 'अथैष ज्योति रथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत'—इति श्रूयते। अत्र प्रकृतं ज्योतिष्टोममेव ज्योतिरित्यनूद्य तस्मिन् सहस्रदानलक्षणोगुणोविधीयते। इति चेत्—न, प्रकृतस्य ज्योतिष्टोमस्य अथेत्यनेन छिन्नत्वात्। नचैवं सत्यथैष ज्योतिरित्युक्त एतच्छब्दोऽनुपपन्न इति वाच्यम्, सन्निहितवाचिनैतच्छब्देनातीतसन्निहितस्येवागामिसन्निहितस्यापि परामर्शसम्भवात्। आगामि सन्निहितश्च ज्योतिःशब्दार्थः स च ज्योतिः शब्दोऽतीतमपरामृशन्नपूर्वसंज्ञारूपत्वात् नूतनं किञ्चित् कर्माभिधत्ते। ततो यथा पूर्वत्र संख्यया कर्मभेदः तथात्रापि संज्ञया कर्म भिद्यते। विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः शब्दयोरप्ययं न्यायो द्रष्टव्यः।२।२।८॥

इत्यष्टमाधिकरणम्।

अथ गुणकृतकर्मभेदं विधत्ते।

(सू०) गुणश्चापूर्वसंयोगे, वाक्ययोः समत्वात्।२।२।२२।

(वि०) यत्र क्वचित् वाक्ययोः पूर्वापरयोः साम्यं समबलत्वं स्यात्, तत्र तस्मादेव हेतोः अपूर्वसंयोगे परवाक्यस्य पूर्ववाक्येन सह सम्बन्धाभावे गुणः द्रव्यदेवतारूपः निमित्तः स्यात्। गुणकृतमेव समबलत्वं भवति, समबलत्वे च द्वयोरेव विधित्वम् ; तथाच गुणकृत एव कर्मभेदः—इत्याशयः। तथाहि—"वैश्वदेव्यामिक्षा', 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्युभयत्रोभये द्रव्यदेवते श्रूयेते—(पूर्ववाक्ये विश्वे देवा देवताः नष्टदुग्धजनितकठिनांशस्वरूपा आमिक्षा (छेना छाना वा इति प्रसिद्धा) द्रव्यम् ; अपरत्र वाजिनो देवताः, नष्टदुग्धजनितपानीयांशो वाजिनो द्रव्यम्।) इति उभयोरेव समबलत्वम्, तस्मात् पूर्ववाक्ये द्वितीयवाक्यं गुणं समर्पकं न भवितु मर्हति—इति द्वयोरेव विधित्वम् ; एवञ्चात्र गुणएव कर्मभेदे हेतुः।२।२।२२।

तदेतन्नवमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) गुणः कर्मान्तरं वा स्याद्वाजिभ्यो वाजिनं त्विति। गुणो देवानन्-

द्योक्तः समुच्चयविकल्पतः ।। आमिक्षोत्पत्तिशिष्टत्वात् प्रबला तत्र वाजिनम्। गुणोऽप्रविश्य कर्मान्यत् कल्पेद् वाजिनदेवकम् ।२।२।६।

(टी०) तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमिति श्रूयते (घनीभूतः पिण्ड आमिक्षा, जलं वाजिनम्) तत्रामिक्षाद्रव्यभाजो ये विश्वे देवा उक्तास्ते वाजिभ्य इत्यनेनानूद्यन्ते, वाजोऽन्नमामिक्षारूपमेषामस्तीति तन्निरुक्तेः; ताननूद्य वाजिनद्रव्यरूपो गुणो विधीयते तच्च द्रव्यमामिक्षा द्रव्येण समुच्चीयतां विकल्प्यतां वा ?

इति प्राप्ते ब्रूमः—उत्पत्तिशिष्टेनामिक्षाद्रव्येणावरुद्धे वैश्वदेवयागे वाजिनद्रव्यस्योत्पन्नशिष्टस्य प्रवेशाभावाद् वाजिन वाजिशब्दार्थस्य देवतान्तरमापादयति—इति। ततो द्रव्यदेवतालक्षणस्य रूपस्य भिन्नत्वात् कर्मान्तरम् ।२।२।६।

इति नवमाधिकरणम्।

(अ०) दधिहोमेत्यन्यकर्मत्वं गुणोवान्यत्तु पूर्ववत्। निर्गुणत्वादग्निहोत्रे युक्तोदध्यादिकोगुणः ।२।२।१०॥

(टी०) 'दध्ना जुहोति' इति श्रूयते तत्राग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्मात् प्रकृतात् कर्मणोन्यत् दधिहोमरूपं कर्म—इति पूर्वन्यायेनावगम्यते, यथा पूर्वत्र वाजिन द्रव्येण कर्म भिद्यते तथा दधिद्रव्येण।

इति चेत्—न, वैषम्यात्। यथा वैश्वदेवो याग आमिक्षागुणावरुद्धः तथा अग्निहोत्रेत्र न गुणान्तरावरुद्धम्, प्रत्युत निर्गुणत्वाद् गुणमाकाङ्क्षति। तस्मादयं गुणविधिः।

एवं 'पयसा जुहोति' इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। पयोदध्यादीनां सर्वेषामुत्पन्नशिष्टतया समबलत्वात् एकैकेन द्रव्येणाग्निहोत्रनिष्पत्तेश्च; व्रीहियववत् विकल्पः॥ २।२।१०॥

इति दशमाधिकरणम्।

प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह।

(सू०) अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत। २।२।२३॥

(वि०) 'अगुणे' गुणाभाववति 'कर्मशब्दे' विधिवाक्येतु नह्युत्पत्तिशिष्टः कश्चन गुणः, यस्य वाधः प्रसज्येत—इति हेतोः 'तत्र' गुणाभाववति विधौ 'गुणः' द्रव्यदेवतारूपः, वाक्यान्तरेण 'प्रतीयेत'। तथाहि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यगुणम्, नह्यत्रोत्पत्तिशिष्टः कश्चन गुणः;—अतोऽत्र स्यात् गुणसमर्पकत्वम्, दध्ना जुहोतीत्येवमादीनाम् अपिच दध्यादीनां सर्वेषामेवोत्पन्नशिष्टत्वेन समबलत्वात् स्याद् विकल्पेन प्रवृत्तिः॥ २।२।२३॥

तदेतद्दशमाधिकरणं स्फुटयति।

नतु यथा गुणभेदात् कर्मान्तरता स्वीकृता, तथा फलश्रुतेर्भेदादपि कर्मभेदः स्यात्—इति प्रतिपादयति पूर्वपक्षी।

(सू०) फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात् ।२।२।२४।

(वि०) 'फलश्रुतेः' फलश्रुतिं निमित्तीकृत्य 'कर्म स्यात्' कर्मान्तरं स्वीकृतम् भवेत्, यतः फलस्य कर्मयोगित्वं विद्यते; तथाहि—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्येतद्वाक्यं भवति फलसम्बन्धबोधकम् उत्पत्तिविधिः। एवञ्च यदेतच्छ्रूयतेऽग्निहोत्रप्रकरणे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इत्येवमादि, तदेतदग्निहोत्रयागाद् यागान्तरम्। २।२।२४॥

नवम दशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

देवजानाम ऋषिः।

२ १ २   २ २ ३ १ २   ३ २र २र
ई ङ्खयन्तो रपस्युव इन्द्रं जातमुपासते।
३   १ २   ३ १ २
वन्वानासः सुवीर्य्यम् ॥৭৯॥

'सुवीर्य्यम्' शोभनं वलं 'वन्वानासः' याचमानाः यजमानमनुष्याः 'जातम्' स्वस्व बुद्धावाविर्भूतम् 'इन्द्रम्' 'अपस्युवः' अपस्यूः स्तुतीः 'ईङ्खयन्ती' ईङ्खयन्तः गमयन्तः 'उपासते'। अपस्युवः स्तुतय इति भाष्यम्, उवङादेशश्छान्दसः। ईङ्खयन्तीरिति लिङ्गव्यत्यये रूपम्। वन्वानास इति वनु-सम्भक्तावित्यस्य रूपम् वन्वानस्तस्माज्जसः 'आज्जसेरसुक्। ७।१।५०।' इत्यसुकि, सिद्धम्; सम्भक्तिः सेवनम् तच्चात्र याचनं गृह्यते ॥ ৭৯ ॥

যে সকল যজমানেরা সুন্দর বল প্রার্থনা করেন; তাঁহারা নিজ নিজ বুদ্ধিতে আবির্ভূত ইন্দ্রের নিকটে স্বকৃত স্তুতি সকল উপস্থিত করত উপাসনা করিয়া থাকেন, অর্থাৎ ইন্দ্রের স্তুতিস্বরূপ উপাসনা করিয়া থাকেন ॥ ৭৯ ॥

त्वाष्ट्री।

५र   २   १   १
ईङ्खयन्तोः। अपा२ स्युवा२ः। आ इ
२र   १ २   १र
न्द्रं जातम्। उपा१ साता २ इ। वन्वाना
२   १ २   २
२३ साः। सुवीरिया ३१ उ वा २३। इषे१
॥৭৯॥

द्वितीया ऋक्।

गौधेय ऋषिः।

१ २   ३ १र २र
न किर्देवा इनोमसि नक्यायोपयामसि।
२ १ २
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ॥৮০॥

ईङ्खयन्तीत्यादयोमन्त्राः प्रातःसवने विनियुज्यन्ते, अतस्तदा ब्रुवन्ते ऋत्विजः। हे 'देवाः' अत्र हि प्रभातसमये 'न' 'इनोमसि' न मिनुमः न हिंसामः, पशुहननं न कुर्मः; अपि च 'न' 'योपयामसि' न यूपयामः यूपमपि न कुर्मः। किन्तर्हि कुर्म इत्युच्यते—'मन्त्रश्रुत्यम्' मन्त्रश्रुतिताम् प्रातः कीर्त्तनीयमन्त्राणाम् उच्चारणम् 'आ। चरामसि' आचरामः, यथासमयमेव कुर्म इत्यभिप्रायः। इनीमसीति मिनोतेर्हिंसार्थस्य मलोपादिकृते रूपम्। योपयामसीति गुणो व्यत्ययात्। 'व्यवहिताश्च।१।४।८२।' इति विधानात् नक्येत्यत्र स्थित आशब्दश्चरामसीत्यनेन सम्बध्यते। ऋच्यत्र क्रियापदत्रयम्; त्रिष्वेव 'इदन्तो मसि।७।१।४६।' इति प्रवर्त्तते। अत्रत्य 'कि' पदद्वयमनर्थकम् ॥৮০॥

ইঙ্খয়ন্তীপ্রভৃতি মন্ত্রগুলি যজ্ঞমধ্যে প্রাতঃকাল করণীয় কার্য্যে ব্যবহৃত হইয়া থাকে, অতএব সেই সময়ে ঋত্বিক্গণ বলিতেছেন। হে দেবতাগণ! আমরা এই প্রভাত সময়ে পশু-বধাদি হিংসা কার্য্য করিতেছি না; এবং যুপ, যাহাতে পশুবন্ধন করা যায় তাহাও স্থাপন করিতেছি না, এতাবতা হিংসার উদ্যোগও করিতেছি না; আমরা এ সময়ে সময়োচিত কতিপয় মন্ত্র পাঠ করিয়া যজ্ঞকার্য্য নির্ব্বাহ করিতেছি ॥ ৮০ ॥

गौधेयम्।

५ र   २ १   २
नकिर्देवाः। इनाइ। इनोमा सा ३
१ ऽ   २ ५   र   २ १
इ। मासो ३ या। न कियायो। पया। पया
२   १ ऽ   २ ५
मासा ३इ। मासो ३ या। मन्त्रश्रुत्याम्।
२ १   २   १ ८ २
चरा। चरामासा ३ इ। मासो३या ॥৮০

तृतीया ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

३ १र २ र   ३ १   २ ३ १ २
दोषो आगाद् बृहद् गाय द्युमद्गाम-

२ २ ३१ २ ३ १ २
न्नाथर्वणा। स्तुहि देवꣳ सवितारम्॥८१॥

हे 'अथर्वण' यजमानस्य (मम) स्वभूत 'गामन्' स्तोतः! 'दोषा' रात्रिः 'आ। अगात्' आभिमुख्येन गतवान् असौ प्रभातसमयः इदानीं 'द्युमत्' दीप्तिमत् 'बृहत्' बृहन्नामकं साम 'गाय' उच्चारय। 'सवितारम्' सर्व्वस्य प्रसवितारं 'देवम्' 'स्तुहि'। अथर्वणेति थर्वतिर्गत्यर्थः थर्वा गन्ता, न थर्वा अथर्वा, यजमानः प्रयोगसमाप्तेः प्राक् वेदिदेशान्नान्यत्र गच्छति अतोऽसावथर्वेत्युच्यते, तस्यायं स्वभूतः आथर्वणः तस्य सम्बोधने रूपम्। गामन्निति गामान् गाता स्तोता तस्य सम्बोधनम्। द्युमदिति द्युमत्वञ्च साम्नां स्वरसौष्ठवयुक्तत्वम्। दोषो इत्यत्र दोषा इति च्छेदः, उ अनर्थकः। दोषो आगदिति प्रकृतिभावः (६।१।११५)॥८१॥

হে অথর্বার * অর্থাৎ যজমানের আত্মীয়, স্তোতা! রজনী উত্তমরূপে গমন করিয়াছে, এক্ষণে প্রভাত সময়, এই সময়ে স্বর-সৌষ্ঠব-বিশিষ্ট বৃহৎ নামক সামগান কর; যিনি সমস্ত দৃশ্যাদৃশ্য জড়চৈতন্য পদার্থের প্রসবিতা উৎপাদয়িতা সেই দেবকে স্তবন কর ॥ ৮১ ॥

सावित्रम्।

४र ५र र ४ २ १ र
दोषो आगात्। बृहद्गाया। द्युमद्गा
२ १र ३ २ २ १ ८ २
२३मान्। आथर्वणा ३। स्तुहि। औ ३ हो
३र २ ४ ५ ४
३४इ। देवा ३म्। सवोवा। ता ५ रोई
५
हाइ॥८१॥

चतुर्थी ऋक्।

प्रस्कण्व ऋषिः।

३ २ ३ १र २र क २र ३ २
एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया
३ २ ३ १ २ ३ २
दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्॥८२॥

'एषा' 'अपूर्व्या' आश्चर्य्या 'दिवः। प्रिया' स्वर्लोकतोऽपि प्रिया 'उषाः' 'व्युच्छति' तमांसि विवासयति अत्र समये हे 'अश्विना' अश्विनौ! 'बृहत्' बृहता बृहन्नामकसाम्ना 'वाम्' युवाम् 'स्तुषे' स्तौमि। अपूर्व्यैति स्वार्थिकस्तद्धितः, अपूर्वत्वं प्रियत्वञ्चोषसोमनोज्ञतया। व्युच्छतीति उच्छी विवासे इत्यस्य, प्रायेणायं विपूर्वः। अश्विनेति सुपांसुलुगित्यात्वे रूपम्। बृहदिति सुपांसुलुगित्यादिना तृतीयाया लुक्। स्तुषे इति व्यत्यये रूपम्। एषो इति एषा उ इति च्छेदः, उ अनर्थकः॥८२॥

আহা! কি আশ্চর্য্য! এই উষা? অন্ধকার সমূহ নষ্ট করত আবির্ভূত হইতেছে, ইহা স্বর্লোক হইতেও অধিক আমাদিগের প্রিয় হইয়াছে; হে উষাকালের উপাস্য, অশ্বী দেবতাদ্বয়! এই সময়ে আনন্দ সহকারে বৃহৎ সাম পাঠ করিয়া তোমাদিগের স্তবন করি ॥ ৮২ ॥

औषसम्।

५र र १ र २ र १ २
एषो उषाः। आपूर्विया। व्युच्छति।
१ २ २ १र २
होवा ३ हायि। प्रियादा २३इवा ३४ः।
३ २ ३र २ २ १ ५ ४
स्तूषा ३४ इवामा ३। श्विनो २३४वा। इꣳ
५
५ हो ६ हाइ॥८२॥

* থর্ব্বা গমনশীল, অথর্ব্বা পঙ্গু। যাবৎ একটি ক্রিয়া সমাপ্তি না হয় তাবৎ যজমান বেদী ত্যাগ করিয়া অন্যত্র গমন করিতে পারেন না, এই নিমিত্ত অথর্ব্বাশব্দে যজমান বুঝায়।

पञ्चमी ऋक् ।

गोतम ऋषिः ।

१ २ २ २ २ १ २ ३ १र २र
इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रति
३ १ २ ३ १र २र
ष्कुतः । जघान नवतीर्नव ।८३।

'इन्द्रः' देवराट् 'अप्रतिष्कुतः' अप्रति सवलितः तिष्ठन् 'दधीचः' दधीचि नाम ऋषिस्तस्य 'अस्थिभिः' अस्थिभिः 'नवतीर्नव' दशोत्तराणि अष्टौ शतानि (८१०) 'वृत्राणि' वृत्रान् शत्रून् 'जघान' हतवान् । दधीच् शब्दो दधीचि पर्य्यायः। अस्थिशब्दस्य छन्दस्यपि दृश्यते ।७।१।७६। इत्यलम् वृत्राणीति क्लीवत्वं लिङ्गव्यत्ययेन । अत्रेति हासमाचक्षते । कालषञ्जा नाम असुराः' तैरसुरैर्वाध्यमानादेवाः ब्रह्माणमुपगम्योक्तवन्तः—भगवन् ! कालषंजैरसुरैर्वाध्यामहे, तेषां मारणोपायं विधत्स्वेति । तच्छ्रुत्वा स तानुवाच—दधीचिर्नाम ऋषिः, तमुपगम्य ब्रूत, स मारणोपायं विधास्यति । ते तच्छ्रुत्वा तथेत्यङ्गीकृत्य तं दधीचमुपगम्य उक्तवन्तः—भगवन् ! अस्मदीयान्यस्त्राणि शुक्रस्तेषांपुरोधा अपहरति, तानि रक्षस्व । ततः स ऋषिः तानुवाच—मम मुखे प्रक्षिपध्वम् । तत इन्द्रादिभिर्देवैः समरुद्गणैः तस्य मुखे प्रक्षिप्तानि । पुनः कालेन देवासुरसङ्ग्रामे पर्य्युपस्थिते एत्य देवा ऊचुः—भगवन् ! तान्यस्त्राणि प्रयच्छस्वास्माकम् । ततः तेनोक्तम् —तानि मे जीर्णानि, न तानि पुनःप्राप्तं शक्यानि । ततः प्रजापतिमुखादेवाः ऊचुः—भगवन् ! प्राणत्यागं कुरुष्व । इति श्रुत्वा कृतश्च तेन प्राण-त्यागः । तस्य दधीचः स्वभूतैरस्थिभिरिन्द्रोवृत्रान् जघान । ८३ ॥

অপ্রতিহত মানস, দেবরাট্, ইন্দ্র দধীচি নামক ঋষির অস্থিদ্বারা (৮১০) আটশত দশ-জনা শত্রু বধ করিয়াছেন* ॥ ৮২ ॥

त्वाष्टम् ।

१ र र ५ २
इन्द्रोदधीचो अस्थभिरिया २ ई ३या।
१र ५ २ १र
इत्राण्यप्रतिष्कुत इया२ई३या। जघान
र १ ^ ३ ५र र
नवतीर्नव इया २ । ई२ । या २३४ । औहो
२ ५
वा । ऊ २३४ पा ।।८३।।

षष्ठी ऋक् ।

मधुच्छन्द ऋषिः ।

२उ ३ १र, १र ३ १ २ ३ १
इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमप-
२ ३ १ २ ३ १र २र
र्वभिः । महा॑ अभिष्टिरोजसा ।।८४।।

हे 'इन्द्र !' 'आ । इहि' आगच्छ आगत्य च 'अन्धसः' अन्धसा अन्नेन पुरोडाशादिना अपि च 'विश्वेभिः' विश्वैः सर्वैः 'सोमपर्वभिः' सोमावयवैः 'मत्सि' मत्तो भवसि तृप्यसे । त्वम् 'महान्' 'ओजसा' वलेन 'अभिष्टिः' शत्रूणामन्वेषणशीलः ॥८३॥

---

* এই মন্ত্রটি নিম্নলিখিত ইতিহাসের প্রমাণস্বরূপ, ইতিহাসটি এই ; কোন কালে কালষঞ্জা প্রভৃতি অসুরেরা বিপুল বলশালী হইয়াছিল, দেবগণ সেই অসুর কর্তৃক পীড়িত হইয়া ব্রহ্মার নিকটে উপস্থিত হওত বলিলেন—ভগবন্ আমরা কালষঞ্জা প্রভৃতি অসুরগণকর্তৃক সতত পীড়িত হইতেছি, তাহাদিগের নাশোপায় বিধান করুন। ইহা শ্রবণ করিয়া ব্রহ্মা বলিলেন—দধীচি নামে এক মহর্ষি আছেন, তাঁহার নিকটে গমন করিয়া এই বৃত্তান্ত জানাও, তিনি ইহার উপায় করিবেন। দেবগণ 'তথা' বলিয়া স্বীকার করত সেই দধীচির নিকটে গমন করিয়া বলিলেন—ভগবন্ ! অসুরদিগের পুরোহিত শুক্রাচার্য্য আমাদিগের অস্ত্রসকল হরণ করিতেছেন, সেই অস্ত্রগুলি আপনি রক্ষা করুন। ঋষি বলিলেন—আমার মুখমধ্যে অস্ত্রগুলি প্রক্ষেপ কর। তখন মরুদ্গণের সহিত ইন্দ্রাদি দেবতারা সকলেই নিজ নিজ অস্ত্র তাঁহার মুখে প্রক্ষেপ করিলেন। কিছু কাল পরে পুনর্ব্বার দেবাসুরে সংগ্রাম উপস্থিত হইলে দেবগণ তাঁহার নিকটে আসিয়া বলিলেন—ভগবন্ ! আমাদিগের সেই সমস্ত অস্ত্রগুলি আমাদিগকে প্রদান করুন। তখন ঋষি বলিলেন—সে গুলি আমার উদরে জীর্ণ হইয়া গিয়াছে সুতরাং তাহা প্রত্যর্পণ করিতে পারি না। ইহা শুনিয়া প্রজাপতি প্রভৃতি দেবতারা তাঁহাকে বলিলেন—ভগবন্ ! প্রাণত্যাগ করুন। অনন্তর তিনি প্রাণত্যাগ করিলেন। সেই দধীচির অস্থিদ্বারা ইন্দ্র শত্রুগণকে হনন করিয়াছেন।

হে ইন্দ্র! আগমন কর, আগমনানন্তর পুরোডাশাদিরূপ অন্ন ভোজন করিয়া এবং সম্পূর্ণমাত্রা সোমরস পান করিয়া মত্ত হও অর্থাৎ পরিতৃপ্ত হও। তুমি মহান্, তুমি শত্রুগণের অন্বেষণকারী ॥ ৮৩ ॥

पौषम्।

५ र र २ १ २
इन्द्रे हि माहा उ। त्सी ३ आन्धा ३
२ १ २र २ २ १ २ ३
सः। वाइ श्वेभिः सो २३ हा३। मापर्वा
५ १ १ ३ ५र
२३४भीः। महा२२३। आ २ भा २३४ औ
र २ १र ३ १ १ १ १
हो वा। ष्टिरोजसा २३४५ ॥८३॥

सप्तमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

१र २र ३ २ ३ २ २ १ २
आतून इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमागहि
२ २ ३ १ १ ३ १ २
महान् महीभिरूतिभिः ॥८४॥

हे 'इन्द्र' 'नः' अस्माकम् 'वृत्रहन्' शत्रो र्हन्तः! 'महीभिः' 'ऊतिभिः' महद्भिः पालनगुणैः 'अस्माकम्' स्व भूतम् 'अर्द्धम्' अर्द्धवेद्याख्यस्थानम् 'आ। गहि' आगच्छ त्वम् 'महान्'। 'आ। तू' द्वावप्येतौ पादपूरणे ॥८४॥

আমাদিগের শত্রুহন্তা, হে ইন্দ্র! অর্দ্ধবেদী নামক আমাদিগের এই স্থানে নিজপালনগুণে আগমন কর, তুমি মহান্ ॥ ৮৪ ॥

माया।

३र ३र ३र ५र ३र ३र ३र ५र २ १ २
आतु औहो। आतू औहो। न इन्द्र
१ ५ २ १र २ १ २ १र
हवा २३४ हान्। अस्माकमर्द्धम्। आगा
२ १ १ १
२३ ही। गाही २। माहोरन्माहो २३।
२ १ ५ ४ ५
भिद्व २३४ वा। ता ५ इमोइहाइ ॥८४॥

अष्टमी ऋक्।

वत्स ऋषिः।

२ ३ १ २ २ २ ३ ३ १ २
ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्त्त-
३ १ २ ३ १ २
यत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥८५॥

'अस्य' इन्द्रस्य 'ओजः' 'तत्' तेजः 'तित्विषे' दीप्यते 'यत्' येन ओजसा स एव 'इन्द्रः' 'उभे' 'रोदसी' द्यावापृथिव्यौ 'समवर्त्तयत्' संवेष्टयति। अत्र दृष्टान्तमुच्यते 'चर्म'। 'इव' यथा चर्म तथा तत् ओजः, सन्ति हि सर्वे जीवाः सर्वाङ्गैश्चर्मवेष्टिताः तथा द्यावापृथिव्यावपि सर्वांशतः तदोजोवेष्टिते स्तः ॥८५॥

এই ইন্দ্রের সেই তেজ চরাচরে দেদীপ্যমান রহিয়াছে, যে তেজোদ্বারা ইন্দ্র এই উভয় জগৎ দ্যাবা পৃথিবী পরিবেষ্টিত রাখিয়াছেন। সেই তেজ চর্ম্মের ন্যায়, যে রূপ চর্ম্ম জীবমাত্রের সর্ব্বাঙ্গে ব্যাপক হইয়া রহিয়াছে সেই রূপ সেই তেজ এই ব্রহ্মাণ্ডে বিভুত্ব লাভ করিয়াছে ॥৮৫॥

सावर्त्तम्।

५ २ १र २
हा। हा उवा ३। ओजस्तदस्य ति-
३ ५ २ १र
त्विषे २३४। हा। हाउवा। उभेयत्सम-
२ ३ ५ २ १
वर्त्तया २३४त्। हा। हा उवा ३। इन्द्र-
५र १र ३ १ १ १ १
श्चर्मे२वरोदसी २३४५ ॥८५॥

१००

(मू०) तदेतत् ब्रह्मापूर्व्वं एतदमृतम-भयं शान्तउपासीत। ५।

(टी०) 'तत् एतत् ब्रह्म' नास्य पूर्व्वं कारणं विद्यतइति 'अपूर्व्वं' 'एतत् अमृतं अभयं' 'शान्तः' सन् लोकः 'उपासीत' ॥५॥

(ता०) य एतद्विश्वस्य कारणम्, न तस्यान्यत् कारणं विद्यते, सोऽनादिरनन्तोऽमृतःपरिपूर्णः। तस्याभयस्य शरणापन्नस्य न कोऽपि भयस्तिष्ठति। शान्तः सन् तस्योपासना कर्त्तव्या। शान्तिरी-श्वर-प्रीतेर्निवासभूमिः। यदाहि मनो निर्म्मल-स्थिरहृदइव शान्तं भवेत्, तदा आत्मनीश्वर-स्वरूपः प्रतिभाति। अन्यथा प्रबलविषयतृष्णामानैषणा-दिद्वारया विक्षिप्ते हि चित्ते इन्द्रिय-लौल्यजन्ये-ऽशुचौ च मनसि परमपवित्रब्रह्मानन्दोपभोगे न स्यात् सामर्थ्यम्। अतः शान्तः सन् तमुपासीत ॥५

इति।

द्वादशोऽध्यायः।

१०१

(मू०) वृक्षइव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकः। तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व्वम्। १।

(टी०) 'वृक्षइव' 'स्तब्धः' निश्चलः 'दिवि' द्योतनात्मनि स्वे महिम्नि 'तिष्ठति' 'एकः' अद्वितीयः परमात्मा। 'तेन' अद्वितीयेन 'पुरुषेण' पूर्णेन 'इदं' 'सर्व्वं' 'पूर्णं' नैरन्तर्य्येण व्याप्तं ॥१॥

(ता०) विश्वपते रस्याश्रयमवाप्यैतद् विश्वचक्रं निरन्तरं घूर्णत् उत्तरोत्तरमुन्नतिं लभत्, तस्य समस्तशुभाभिप्रायं सम्पादयति। स साक्षि-स्वरूपेण, नियन्तृ-स्वरूपेण निरन्तरं निःस्तब्ध-भावेनावतिष्ठन् स्वाभिप्रेतशुभोत्पादने निःशङ्को विद्यते। प्रवाहबलेन नदीतीरस्थग्रामनगरादिकं भग्नत्वमुपगम्यते, जलप्लावनेन देशोपदेशादिकं संप्लवते, प्रलयप्रवातो भूमिकम्पश्चोपतिष्ठन् लक्षलक्ष-जीवान् मृत्युमुखे पातयति, स तु सर्व्वज्ञो मङ्गला-लयः परमेश्वरः आपाततदुःखजनकव्यापारजात-मेतत्समस्तं उत्तरकालिकोन्नतिसाधनायानुकूली कुर्व्वन्नव्याकुलितो निःस्तब्धभावेनावतिष्ठते। यदा अतिघोरशिलावर्षणमेघगर्ज्जनादिसहकृतमुहुर्मुहु-र्वज्रपातद्वारया पृथ्वीमण्डलस्य प्रलयावस्थोप-स्थिता—इति बुध्यते, अतिभयानकाग्नेयगिरेरग्न्युद्-त्यातः समुत्पद्य चतुःपार्श्ववर्त्तिपशु-पक्षि-मनुष्य-सम्बलितग्रामनगरादिकं दहति, किञ्च राजवि-प्लवजनिततुमुलसंग्रामः समुपस्थित्य नरकण्ठ-निःसृतशोणित-प्रवाहैः पृथ्वीतलं प्लावयति; स तदापि निजचिराभिप्रेतचरमकल्याण-सम्पादने कृतनिश्चयः एकरूपेणैव शान्तभावेनावतिष्ठते।

स स्वकीयस्वप्रकाशमहिम्ना तिष्ठन्नास्ते। अन्ये सर्व्वे तमवलम्ब्य विद्यन्ते, स कमपि नावलम्बते, सस्वकीयमहिम्नैव स्थितिं करोति। तेनैव पूर्ण-पुरुषेण समस्तं जगदिदं परिपूर्णमास्ते ॥१॥

१०२

(मू०) यथा सौम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत् सर्व्वं परआ-त्मनि संप्रतिष्ठते। २।

(टी०) 'यथा' येन प्रकारेण हे 'सोम्य' प्रिय-दर्शन 'वयांसि' पक्षिणः 'वासोवृक्षं' वासार्थं वृक्षं 'संप्रतिष्ठन्ते' 'एवं' 'ह वै' 'तत् सर्व्वं' स्थावरजङ्गमं 'परे आत्मनि' अक्षरे ब्रह्मणि 'सम्प्रतिष्ठते' ॥ २ ॥

(ता०) सर्व्वस्मिन्नेव वस्तुनि सर्व्वव्यापिनं सर्व्वाश्रय-माश्रित्यावतिष्ठन्ते। जडेनानेन जगता तस्य यथा सम्बन्धः अस्माभिः सह तदपेक्षया उच्चतरः सम्ब-न्धः। वयं तस्य तथा आश्रिताः, यथा पुत्रः पितु-राश्रितः ॥२॥

१०३

(मू०) एकोदेवः सर्व्वभूतेषु गूढ़ः सर्व्व-

व्यापी सर्व्वभूतान्तरात्मा। कर्म्माध्यक्षः सर्व्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।३।

(टी०) 'एकः' अद्वितीयः 'देवः' द्योतनस्वभावः परमेश्वरः 'सर्व्वभूतेषु' 'गूढः' प्रच्छन्नः 'सर्व्वव्यापी' 'सर्व्वभूतान्तरात्मा' सर्व्वेषां भूतानामन्तरात्मा अन्तर्यामी। 'कर्म्माध्यक्षः' सर्व्वप्राणिकृतविचित्रकर्म्मणामध्यक्षः। सर्व्वाणि भूतानि अधिवासयतीति 'सर्व्वभूताधिवासः' प्रतिष्ठा सर्व्वस्य जगतः 'साक्षी' सर्व्वद्रष्टा 'चेता' 'केवलः' असङ्गः 'निर्गुणः च' सत्त्वादिगुणरहितश्च ॥ ३ ॥

(ता०) एतस्य भूलोकस्येश्वरः, स ग्रहनक्षत्रादेः सर्व्वलोकस्यैव ईश्वरः। यो मां सृष्टवान्, अपिच मत्प्रभुः; स समस्तजगतां सृष्टि-कर्त्ता, अपिच सर्व्वेषां प्रभुः। स एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढभावेन प्रच्छन्नस्तिष्ठन्नसीमचराचरं शास्ति। स सर्वव्यापी सर्वेषामन्तरात्मा, अस्मदादीनामिमे जीवात्मानः समस्ताः एतेषां प्रत्येकस्यान्तरे स पूर्णस्तिष्ठति। स सर्वेषां साक्षी, अपि च कर्माध्यक्षः। स सर्वत्र तिष्ठन् सर्वान् पश्यति। स साक्षीस्वरूप एव भवन्नस्माकं निरपेक्षं प्रपश्यति, नैवम्, प्रत्युत कर्माध्यक्षः सन् यथोपयुक्तौ दण्डपुरस्कारौ विदध्य अस्माकमुत्तरोत्तरमुन्नतिं साधोति। स सर्वव्यापी, सर्वेषां प्रभुः, परं न क्वापि आसक्तो भवति, स सङ्ग-रहितः। सृष्टपदार्थस्य शरीरस्य मनसश्च धर्मादिकं न किमपि तत्र वर्त्तते, स शुद्ध-ज्ञान-स्वरूपः ॥३॥

१०४

(मू०) सर्व्वादिशऊर्द्धमधश्च तिर्य्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्। एवं सदेवोभगवान् वरेण्योयोनिः स्वभावानधितिष्ठत्येकः।४।

(टी०) 'सर्व्वादिशः ऊर्द्ध अधः च' 'तिर्य्यक्' पार्श्वदिशः 'प्रकाशयन्' 'भ्राजते' दीप्यते 'यत्' यथा 'उ' 'अनड्वान्' आदित्यः। 'एवं सः' 'देवः' द्योतनस्वभावः परमेश्वरः 'भगवान्' ऐश्वर्य्यसमन्वितः 'वरेण्यः' वरणीयः सम्भजनीयः 'योनिः' कारणं कृत्स्नस्य जगतः पृथिव्यादीनां 'स्वभावान्' स्वस्वभावान् गुणान् 'अधितिष्ठति' नियमयति 'एकः' अद्वितीयः परमात्मा ॥ ४ ॥

(ता०) सूर्य्यो यथा सर्वान् प्रकाशयन् स्वयं प्रकाशते अद्वितीयः परमेश्वरः तथैव निजसृष्टेरभ्यन्तरे सदा राजते। न तस्य कश्चित् प्रकाशको विद्यते, तस्य न कोऽपि स्रष्टा; स स्वयम्भुः स्वप्रकाशः। स वायौ शब्दः, अग्नौ औष्ण्यम्, जले शैत्यम्, वज्रे बलम्, पदे गतिः, दृष्टौ तृप्तिः नक्षत्रे ज्योतिः, एवं सर्वत्र यथायथं नियोजितवान् ॥४॥

१०५

(मू०) नैनमूर्द्धं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।५।

(टी०) 'एनं' ब्रह्मात्मानं 'ऊर्द्धं' ऊर्द्धदिशि कश्चिदपि 'न' 'परिजग्रभत्' न परिगृहीतवान् 'तिर्य्यञ्चं' न पार्श्वे 'न' च 'मध्ये' ऊर्द्धादिषु दिक्षु ब्रह्म न केनापि परिग्राह्यं। 'न' 'तस्य' ईश्वरस्य सर्व्वज्ञस्य अचिन्त्यशक्तेः सदृशाभावात् 'प्रतिमा' उपमा 'अस्ति' 'यस्य' ईश्वरस्य 'नाम' अभिधानं 'महत्-यशः' महद्दिगाद्यनवच्छिन्नं सर्व्वत्र परिपूर्णं यशः कीर्त्तिः ॥ ५ ॥

(ता०) अत्युन्नत-मानसिक-वृत्ति-समन्विताः श्रेष्ठा अपि जीवाः तस्यासीमज्ञानसमुद्रस्य अमृतमयस्य मङ्गलमयस्य गाम्भीर्य्यं परिमातुं न हि समर्था भवन्ति। न तस्य प्रतिमा विद्यते न तस्योपमा क्वचित्, तस्यानुरूपः कोऽपि न पदार्थः। सूर्य्यस्तस्य ज्योतिषामाभासोऽपि प्रकाशयितुम् न समर्थः, वज्रस्तस्य बलस्य मात्रैकमपि न कदापि धत्ते—पितुः मातुश्च अकृत्रिमस्नेहः, हृदयबन्धो-

निःस्वार्थप्रीतिः, पतिव्रतायाः पवित्रं प्रेम, तस्यैव स्नेह-प्रीति-प्रेमादेः च्छायामात्रम्। न तस्य शरीरं विद्यते, स शरीरस्य निर्माता ; न तस्य मनो विद्यते, स मनसः स्रष्टा ; तस्य यश आकाश इव सर्व्वत्र व्याप्तः तिष्ठति, तस्य महिमा भूलोकद्युलोकादेः प्रत्येकांशे देदीप्यते ; अतस्तन्नामैतद् महानिति ॥५॥

१०६

(मू०) न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तोयएनमेवंविदुरमृतास्ते भवन्ति। ६।

(टी०) 'अस्य' ईश्वरस्य 'रूपं' स्वरूपं रूपादिरहितं निर्व्विशेषं 'संदृशे' दर्शनविषये 'न' 'तिष्ठति'। इन्द्रियागोचरत्वादेव 'न चक्षुषा पश्यति' 'कश्चन' कोऽपि एनम्' ईश्वरम्। चक्षुरित्युपलक्षणं सर्व्वैरिन्द्रियैरपि कोऽपि न तत् ग्रहीतुं शक्नुयात्। 'हृदा' मनस्थया मनसईष्टे नियन्तृत्वेन इति मनीट् तया 'मनीषा' बुद्ध्या विकल्पवर्जितया 'मनसा' मननरूपेण सम्यक् दर्शनेन 'अभिक्लृप्तः' अभिसमर्थितः अभिप्रकाशितः ईश्वरो भवति। 'ये' एनं' ब्रह्म 'एव' 'विदुः' 'अमृताः ते भवन्ति' ॥ ६॥

(ता०) परमेश्वरो न चक्षुर्गोचरः, सज्ज्ञानेनैतमात्रस्य गोचरः। यः किन्तु तस्यानुरागेणैकाग्रचित्तोभवन् युक्तिसाधनेन स्वीयबुद्धिं मार्जयति संशयवर्जिताञ्च करोति ; स तमेव ज्ञानगोचरं सत्यं सुन्दरं मङ्गलं पुरुषं प्रत्यक्षं पश्येत्, किञ्च तं लब्ध्वा अमरोभवेत्—तेन सह नित्यवासजनित मक्षयं ब्रह्मानन्दमुपभुञ्जीत ॥ ६ ॥

१०७

(मू०) श्रवणायापि बहुभिर्योन लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवोयन्न विद्युः। आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्य्योज्ञाता कुशलानुशिष्टः। ७।

(टी०) 'श्रवणाय' श्रवणार्थं 'अपि' 'यः' ब्रह्मात्मा 'न लभ्यः' 'बहुभिः' अनेकैः। 'शृण्वन्तः अपि' 'बहवः' अनेके अन्ये 'यं' ब्रह्मात्मानं 'न विद्युः' न विदन्ति अभागिनोऽसंस्कृतात्मानोन विजानीयुः। किञ्च अस्य 'वक्ता' 'आश्चर्यः' अद्भुतरेवानेकेषु कश्चिदेव भवति। यथा श्रुत्वापि 'अस्य' ब्रह्मात्मनः 'लब्धा' 'कुशलः' निपुण एव भवति। तस्य निपुणः 'ज्ञाता' आश्चर्य्यः कश्चिदेव भवति 'कुशलानुशिष्टः' कुशलेन निपुणेनाचार्य्येणानुशिष्टः संशिक्षितः सन् ॥ ७ ॥

(ता०) अनेके परमेशस्य यथार्थतः स्वरूपाभिप्रायादि विषयकमुपदेशलाभाभावात् तदीयज्ञानलाभे न समर्थौभवति। अनेके तद्विषयं परिश्रुत्यापि उत्कृष्टबुद्धेः समुचितश्रद्धायाश्चाभावात् न तं ज्ञातुं शक्यते। असार्जितायां बुद्धिवृत्तौ परमेश्वरस्य स्वरूपमभिप्रायञ्च न हि सुन्दरमवगच्छेत्। अतएव परमात्म-तत्व-ज्ञानी सर्वप्रदेशेषु सर्वजातिषु अतीवाल्पः। सद्बुद्धिशालिनं श्रद्धावन्त मन्तरेण नान्यस्तं ज्ञातुं शक्यते, अपिच विशुद्धचित्तं परमात्मज्ञानिन मन्तरेण तद्विषयक मुपदेष्टुं न कोऽपि समर्थौभवेत्। तत्प्रवक्ता दुर्लभः, तल्लब्धापि दुर्लभः ; अतएव परमात्मज्ञानमतिशययत्नसाध्यम्। मनोगतस्पृहायामेकान्तयत्ने चासति तमधिगन्तुं न समर्थो भवेत्, अपि च तत्समाधि-साधने न स्यात् सक्षमः ॥७॥

१०८

(मू०) पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते। ८।

(टी०) 'पराचः' वहिर्गतानेव 'कामान्' विष-

यान् 'अनुयन्ति' अनुगच्छन्ति 'बालाः' अल्पप्रज्ञाः 'ते' तेन कारणेन 'मृत्योः' 'विततस्य' विस्तीर्णस्य सर्व्वतोव्याप्तस्य 'पाशं' पाश्यते बध्यते येन तं 'यन्ति' गच्छन्ति । यतएवं 'अथ' तस्मात् 'धीराः' विवेकिनः 'अमृतत्वं' 'ध्रुवं' 'विदित्वा' 'अध्रुवेषु' अनित्येषु सर्व्वपदार्थेषु 'इह' संसारे 'न प्रार्थयन्ते' किञ्चिदपि ॥ ८ ॥

(ता०) ये बहिर्विषयमेव पश्यन्ति, ये स्वीयात्मानमात्मन अन्तरात्मानञ्च नावलोकयन्ति ; ते वहिर्विषयेष्वासक्ताएव भवन्तः स्व-प्रवृत्ते दासाः सन्तो विस्तीर्णपाशबद्धाभवेयुः । विस्तीर्णमृत्युपाशस्तु अयं कार्य-कारण-शृङ्खला-युक्त-प्राकृतिको नियमः । जगदेतत् कार्य्य कारणशृङ्खला-युक्त-प्राकृतिक-नियमेन पाशेन बद्धं स्थितम् । एतादृशमुत्कृष्टमानवजन्मावाप्य च ये संसारस्य विषयकामनायामभिभूताः बालकइव स्वेच्छाचारं व्यवहरन्ति, ते मृत्युपाशबद्धा भवेयुः; अपि च स्वाधीनतातो भ्रष्टाः सन्तः परमपदाच्चरमगतेर्बहुदूरं तिष्ठेयुः । धीरास्तु अमृत-स्वरूपेण तेन सह आत्मनो नित्ययोगमवगत्यात्र संसारे न किमपि प्रार्थयन्ति । ते धर्मनियमानुसारेण स्वीयप्रवृत्तेरुपरि परमात्मनकर्त्तृत्वं व्यवस्थाप्य सम्पन्ने एव जगत्पितुर्मङ्गलेऽभिप्राये सर्वतस्तृप्ता भवन्ति ॥८॥

१०९

(मू०) येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्याम्। असतोमा सद्गमय तमसोमा जोतिर्गमय मृत्योर्म्मोऽमृतं गमय। आविरावीर्म्मएधि। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्। ९।

(टी०) येन अहं न अमृता स्यां किं अहं तेन कुर्य्यां । 'असतः' संशारात् 'मा' 'सत्' 'गमय'। 'तमसः' अज्ञानात् 'मा' मां 'ज्योतिः ब्रह्माधिगमं 'गमय'। मृत्योः 'मा' मां अमृतं 'गमय'। हे 'आविः' स्वप्रकाशब्रह्मचैतन्य 'मे' मदर्थं 'आवीः एधि' आवीरेधि अज्ञानावरणापनयेन प्रकटीभव०। हे 'रुद्र' परमेश्वर 'यत्' 'ते' तव 'दक्षिणं मुखं' उत्साहजनकं 'तेन' अशनापिपासाशोकमोहान्वितं 'मां' 'पाहि' रक्षस्व 'नित्यं' सर्व्वदा ॥९॥

(ता०) यद्द्वारा अमृतपुरुषेण सह वासमवाप्य अमृतो न भवेम्, तत्परिगृह्याहं किं कुर्य्याम् ? विषयविभवो, मानं, यशः आमोदप्रमोदादयः सर्व एव अस्थायिनः, एतेषां स्थायित्वेऽपि ईश्वरापरिग्रहे समस्तमेतत् परिगृह्य किं कुर्य्याम् ? अतः प्रार्थ्यते—हे परमेश्वर ! यथा त्वामवाप्तुं शक्येम् मां तथोपयुक्तं कुरु । असत् संसारान्मां परिमुच्य त्वत्सत्पथे प्रवर्त्तय, अज्ञानमन्धकारं विनश्य मदीयात्मनि त्वज्ज्ञानज्योतिः प्रकाशय, अपि च अमृत स्वरूपस्त्वम् मां स्वस्मिन् गमय । हे स्वप्रकाश ! मत्सन्निधौ नित्यं प्रकाशमानस्तिष्ठ, यथा विपदि पतन् तव रुद्रमुखं न पश्येम् ; यतो यदा वयं तव प्रसन्नाननं न पश्येम् तदा चतुर्षु दिक्षु अन्धतमो पश्येम् । त्वं मे तमसि प्रदीपः, पिपासायां जलम्, विश्रामस्य स्थलम् ॥९॥

इति ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

११०

(मू०) सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येषआत्मा सम्यक् ज्ञानेन। येनाक्रमन्त्यृषयोह्याप्तकामायत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्। १।

'सत्यं एव' 'जयते' जयति 'न अनृतं'। 'सत्येन' अनृतत्यागेन मृषावचनत्यागेन 'लभ्यः' प्राप्तव्यः 'तपसा' मनस एकाग्रतया 'हि एषः' 'आत्मा' ब्रह्मात्मा 'सम्यक् ज्ञानेन' यथानुभूतब्रह्मदर्शनेन। 'येन' सत्येन तपसा ज्ञानेन 'आक्रमन्ति' आक्रमन्ते 'ऋषयः' दर्शनवन्तः 'हि' 'आप्तकामाः' विगततृष्णाः 'यत्र तत् सत्यस्य परमं' 'निधानं' आश्रयः परब्रह्म ॥१॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

ब्रह्माण्डकाण्डकरणाद्यखिलप्रक्रियास्वसिन्धुं समशक्तिमन्तम् । बोधाच्चिदेव मननेन मान्यं वन्देऽहमीशं जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाश्रिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] अग्रिमवार्षिकम् ८) प्रतिसंख्यायाः १) [July, 1869.] अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी [२३ संख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

वैदिकसमालोचना ।

तदित्थम् । ऋग्वेदस्य पञ्चशाखाः* । तथाहि— आश्वालायनी१ सांख्यायनी२ शाकला३ वास्कला४ माण्डुकेया ५ । यजुर्वेदस्य षडशीतिः† शाखाः। तथाहि— चरकी‡ १ आह्वरकी २ कठी ३ प्राच्यकठी ४ कपिष्ठलकठी ५ आष्टलकठी ६ औपमन्यवी ७ चारायणीया ८ वारायणीया ९ वार्त्तान्तवेया १० श्वेताश्वतरी ११ मैत्रायणीया ¶ १२ मानवी १३ दुन्दुभी १४ चैकेया १५ वाराही १६ हारिद्रवेया १७ श्यामी १८ श्यामनीया १९ जावाली § २० औधेया २१ काण्वी २२ माध्यन्दिनी २३ शापीया २४ तापनीया २५ कापाली २६ पौण्ड्रवत्सी २७ आवटिकी २८ पामावटिकी २९ पाराशरीया३० वैधेया३१ वैनेया३२ औधेया३३

* अत्रानुशाखाः षोडश ।

† अत्रानुशाखाः चतुर्दश ।

‡ चरक्येवद्वादशधा ; तत्रैकैव स्वनामप्रसिद्धा, अपराश्चाह्वरकीत्यादिनामतः ।

¶ मानव्यादयोऽपि सप्त अस्याएव भेदः ।

§ जावाल्यादयः सप्तदश वाजसनेयीत्युच्यते ।

বৈদিকসমালোচনা ।

কথিত প্রকারে ঋগ্বেদের পাঁচশাখা * । যথা— আশ্বলায়নী১ সাংখ্যায়নী২ শাকলা৩ বাস্কলা৪ মাণ্ডুকেয়া৫ । যজুর্ব্বেদের ষড়শীতি শাখা † । যথা — চরকী১‡ আহ্বরকী২ কঠী৩ প্রাচ্যকঠী৪ কপিষ্ঠলকঠী ৫ আষ্ঠলকঠী৬ ঔপমন্যবী৭ চারায়ণীয়া৮ বারায়ণীয়া ৯ বার্ত্তান্তবেয়া১০ শ্বেতাশ্বতরী ১১ মৈত্রায়ণীয়া ¶ ১২ মানবী ১৩ দুন্দুভী১৪ চৈকেয়া ১৫ বারাহী ১৬ হারিদ্রবেয়া ১৭ শ্যামী ১৮ শ্যামনীয়া ১৯ জাবালী § ২০ ঔঘেয়া২১ কাণ্বী২২ মাধ্যন্দিনী২৩ শাপীয়া২৪ তাপনীয়া ২৫ কাপালী ২৬ পৌণ্ড্রবৎসী ২৭ আবটিকী২৮ পামাবটিকী২৯ পারাশরীয়া৩০ বৈবেয়া৩১ বৈনেয়া৩২ ঔঘেয়া ৩৩ গালবী ৩৪ বৈজবী ৩৫ কাত্যায়নীয়া ৩৬

* ইহার অনুশাখা ১৬টি আছে।

† ইহার ১৪টি অনুশাখা।

‡ চরকী ১২প্রকার ; তাহার একটিমাত্র চরকীনামে খ্যাত, অপর ১১টি আহ্বরকীপ্রভৃতি নামে প্রসিদ্ধ।

¶ মানবী প্রভৃতি ৭টি ইহারই ভেদ।

§ জাবালী প্রভৃতি ১৭টি বাজসনেয়ী নামে প্রথিত।

॥ ०॥ कलिकाता नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

गालवी२४ वैजवी२५ कात्यायनीया२६ औखी२७ (खाण्डिकेया†) आपस्तम्बी२८ वौधायनी२९ सत्याषाढी४० हिरण्यकेशी४१ औधेया४२ कठशाखान्तर्गतास्वतुश्वत्वारिंशत् ८६॥ सामवेदस्य सहस्रशाखाः। तथाहि — आसुरायणी१ वासुरायणी२ वार्त्तान्तवेया३ प्राञ्जली४ ऋग्वर्णभेदी ५ प्राचीनयोग्या६ ज्ञानयोग्या ७ राणायनी ८ शाख्यायनी९ शावायनी १० सात्वली ११ मौद्गली१२ खल्वली १३ महाखल्वली१४ लाङ्गली१५ कौथुमी१६ गौतमी१७ जैमिनेया१८ इत्यष्टादश, अन्यासां नामान्यपि नहि कै र्ज्ञायन्ते ; एवञ्च सम्भाव्यतेऽत्रत्यसहस्रपदं बहुवाचकम्, साम्नोगानरूपत्वात् परिषत्कृतिभेदात् बहुशाखत्वमस्य ; सन्ति हि गानान्येकैकर्चस्य द्विधा त्रिधा सप्तदशधाऽपि कौथुम्यादाविति दृश्यते, — प्रतिगानस्य च ऋषिभेदोऽपि श्रूयते ; — तमेवान्तर्गतभेदमादाय सहस्रशाखः सामवेदः इति प्रवादः। अथर्ववेदस्य नव शाखाः तथाहि — पैप्पली१ दान्ती२ प्रदान्ती३ स्नाती४ स्नौती५ ब्रह्मदावली६ शौनकी ७ देविदर्शती८ चरणी९॥

तदिमेऽनेकशाखाभिरनेकनामापन्ना ऋग्यजुःसामवेदाः द्विभागोपेताः। तत्राद्यस्य भागस्याभिधानं संहिता, यतस्तत्र मन्त्र मात्राणां 'परःसन्निकर्षः संहिता' इत्युक्तलक्षणसम्मतं परस्परमव्यवहित साहित्यं विद्यते, ततः संहितेत्युच्यते। अपरभागे तेषामेव मन्त्राणां विधायकादीनि यज्ञादिसाधनानि ब्राह्मणानां जीवनोपायस्वरूपाणि वाक्यानि विद्यन्ते, अतः स ब्राह्मणमित्याचख्यते।

तत्र ऋग्वेदस्य संहिता — अष्टकाण्डैः, दशमण्डलैः, चतुःषष्ट्यध्यायैः, ईषदधिकसहस्रसूक्तैः, किञ्चिदधिकसहस्रवर्गैः, अल्पाधिकद्विदशसहस्रसंख्याभि ऋग्भिः, उपेता। तत्र वर्गविभागः— एकर्च एकः, द्व्यर्चौ द्वौ, त्र्यर्चं शतम्, चतुर्ऋचं षट् सप्तत्युत्तरं शतत्, पञ्चर्चं द्वादशशतान्यष्टाविंशोत्तराणि, षडर्चं सप्तपञ्चाशदुत्तरं शतत्रयम्, सप्तर्चमेकान्नत्रिंशदुत्तरं शतम् अष्टर्चाः पञ्चपञ्चाशत्, नवर्चः एकः। तस्याः पाठप्रकारा अष्टौ — चर्च्चापाठः, चर्च्चाश्रुपाठः, श्रवणीयपाठः, क्रमपाठः, रथपाठः, जटापाठः, शटापाठः, दण्डपाठः। ब्राह्मणविभागादिकन्तु प्रतिशाखायां भिन्नम्।

† तैत्तिरीयशाखाया द्विभेदः — औखी, खाण्डिकेया च ; आपस्तम्बादयो पञ्च खण्डिकेयेत्युच्यते।

ঔক্ষী ৩৭ (খাণ্ডিকেয়া †) আপস্তম্বী ৩৮ বৌধায়নী৩৯ সত্যাষাঢ়ী৪০ হিরণ্যকেশী ৪১ ঔধেয়া ৪২ কঠশাখার অন্তর্গত উপশাখা চৌয়াল্লিশটি, ৮৬। সামবেদের সহস্রশাখা। যথা—আসুরায়ণী ১ বাসুরায়ণী ২ বার্ত্তান্তবেয়া৩ প্রাঞ্জলী৪ ঋগ্বর্ণভেদী৫ প্রাচীন যোগ্যা৬ জ্ঞানযোগ্যা ৭ রাণায়ণী ৮ শাষ্ঠ্যায়ণী ৯ শাবায়নী ১০ সাত্বলী ১১ মৌদ্গলী ১২ খল্বলী ১৩ মহাখল্বলী ১৪ লাঙ্গলী ১৫ কৌথুমী ১৬ গৌতমী ১৭ জৈমিনেয়া ১৮ ; অন্যান্যশাখাগুলির নামও কেহ অবগত নহেন, অতএব বোধ হয়—অত্রত্য সহস্রশব্দ বহুবাচক এবং গানস্বরূপ সাম গাথক-ভেদে বিবিধপ্রকার, কৌথুমীপ্রভৃতি শাখাতে এক এক ঋচার ২।৩।১৭ প্রকার সাম দেখা যায় ও প্রত্যেকগুলির প্রবক্তা ঋষি প্রায় ভিন্ন ভিন্ন শ্রুত হয় ; সেই সমস্ত অন্তর্গতভেদে সহস্রশাখা সামবেদ এই প্রথিত আছে। অথর্ব্ববেদের নয়টি শাখা। যথা—পৈপ্পলী ১ দান্তী ২ প্রদান্তী ৩ স্নাতী ৪ স্নৌত্নী ৫ ব্রহ্মদাবলী ৬ শৌনকী ৭ দেবিদর্শতী ৮ চরণী ৯।

এই সমস্ত শাখাভেদে বিবিধনামাপন্ন ঋক্, যজুঃ, সাম ; দুইভাগে বিভক্ত। প্রথম ভাগের নাম সংহিতা (যেহেতু ঐ অংশে মন্ত্রগুলির পরস্পর অব্যবহিত সাহিত্য আছে অতএব 'পরঃসন্নিকর্ষঃ সংহিতা' এই সূত্রানুযায়ী উহাকে সংহিতা বলা যায়।) অপর ভাগে ব্রাহ্মণগণের জীবনোপায়স্বরূপ সেই সমস্ত-মন্ত্রের বিধায়কাদি যজ্ঞ সাধন বাক্যগুলি আছে, অতএব উহাকে ব্রাহ্মণ বলা যায়।

ঋগ্বেদের সংহিতা, অষ্টকাণ্ডে এবং দশমণ্ডলে ও চতুঃষষ্টি অধ্যায়ে বিভক্ত। ঐ সংহিতায় কিছু অধিক দ্বিসহস্রবর্গ আছে, এক ঋচার ১টি, দুইঋচার ২টি, তিনঋচার ১০০টি, চারিঋচার ১৭৬ টি, পাঁচঋচার১২২৮টি, ছয়ঋচার৩৫৭টি, সাতঋচার ১২৯টি, আটঋচার ৫৫টি, নয়ঋচার ১টি। ঐ বর্গগুলিতে কিঞ্চিদধিক সহস্রসূক্ত আছে; ঐ সূক্তগুলি কিঞ্চিদধিক বিংশতিসহস্র ঋচাতে গ্রথিত। এই সংহিতার অষ্টপ্রকার পাঠশৈলী চর্চ্চাশ্রুপাঠ, চর্চ্চাপাঠ, শ্রবণীয়পাঠ, ক্রমপাঠ, রথপাঠ, জটাপাঠ, শটাপাঠ, দণ্ডপাঠ। ব্রাহ্মণভেদ প্রতিশাখায় বিভিন্ন প্রকার।

† তৈত্তিরীয়শাখার দুই ভেদ—ঔক্ষী ও খাণ্ডিকেয়া, অপস্তম্বাদি ৫টিকে খাণ্ডিকেয়া বলা যায়।

न्युपसर्गशब्दपूर्वैं राजीतुल्यैर्विशेषणचिह्नैः।
अन्ते क्रियाविशेषणसारैरलङ्कृतं भवति ॥ ८ ॥

न्युपसर्गाः, निहत, निमग्न, निरुद्ध, इत्यादिकाः शब्दाः। राजितुल्याः राजि, राजी; धूलि, धूली; इत्यादयः। निकामम्, नितान्तम्, इत्यादि क्रियाविशेषणसारैः। यथा।

छिन्नाघवल्ली निचिताप्तसौख्य,
राजी निरुद्धानिरुची निकामम्।
हरस्य मूर्त्तिश्चरणौ महांसि,
मा जातु गातां मम चित्तहत्तेः ॥ ९ ॥

तथाच। अदुरितराजीनि दलितकर्मश्रेणीनिरुद्धरागभरः मूर्त्तिः क्रमौ वचांसि च शिवस्य लोके सुखं गाताम्।

स्फुरितसुभाषितपाली-
निहतप्रत्यूहसंशयं ब्राह्मणाः।
मूर्त्तिः क्रमौ महांसि
प्रभवत मुदितं वरं दातुम् ॥१०॥

प्रचुरप्रभावनहिता
वञ्चितपरमोदया विलासेन।
दातुं प्रभवतमुदितं
वरमग्ने! रविविधू! विधिहरीशाः! ॥११॥

सुप्रभावानिवद्धोद्यत्सुप्रभावा नियोगतः।
मूर्त्तिः क्रमौ महांसि श्रीकण्ठ्दोर्जनचतुष्टये ॥१२॥

वदनं पादौ वाचस्तव
शिव! सुरभी रणाय दुरितानाम्।
विमलतनूरसिकोऽपि
स्मरति स्मर-नाग-पञ्चास्य! ॥ १३ ॥

मुखाम्भोजं कुचौ क्रीड़ाः सुप्रभावञ्चितश्रियः।
राधाया यमुना-तीरे विष्णोः सुख-समृद्धये ॥ १४ ॥

हृद्यावलि-विलासेन मध्यश्रीरिव योषितः।
कपोलाविव नागस्य श्रियो गाते भवद्भुजाः ॥१५॥

विन्ध्यशिखराविव शोभिता विभीषेन चन्द्रलेखा।
कश्यपार्काविव सेविता वरुणेन प्रतीची।
वनप्रदेशाविव शोभिता वेणी विलासेन स्त्री ॥१६॥

भेदान्तरमाह—न्युपसर्गेति ॥८॥

उदाहरणमाह—यथेत्युपक्रम्य, छिन्नेति। हरस्य शिवस्य मूर्त्तिश्चरणौ, तथा महांसि तेजांसि मम चित्तहत्ते मनोहत्ते मा गाताम्, मा गच्छताम्। तेषामेकद्विबहुवचनान्तानां विशेषणान्याह—छिन्नेति। छिन्ना अघवल्लयः पापसमूहाः यया, याभ्यां, यैः; बहुवचनविशेषणे वल्लीनि राजीनि इति। गातामिति गाङ्गतावित्यस्य धातोर्लोटो वचनत्रयेऽपि समानं रूपम्। निकामं काममिति क्रियाविशेषणम्, सर्व्वत्र समासान्तविधेरनित्यत्वान्नद्यृतश्चेति न कप्॥ अदुरितेति, शिवस्य मूर्त्तिः क्रमौ वचांसि च लोके सुखं गाताम्। रुद्धरागभरमिति क्रियाविशेषणम् ।९।१०॥

प्रचुरेति। हे अग्ने! हे रविविधू! हे विधिहरीशाः! तं प्रसिद्धम् उदितं मुदितं वा वरं दातुं प्रभव, प्रभवतम्, प्रभवत। अग्निविशेषणम् प्रचुरप्रभाव अवनहित अवनेरचिषे हितः। अवञ्चिता निश्चला या सा लक्ष्मीः तस्या उदयो यस्मात्, तथाच 'धनमिच्छेद्धुताशनात्'। अविमेषः तस्मिन् लसते मेषवाहनत्वात्, इन् स्वामिन्; रवीन्दु पक्षे प्रचुरप्रभौ अनहितौ अञ्चितपरमोदयौ हलासेनेति हेतौ तृतीया इला पृथ्वी तस्याम् आसनम् आसः। बहुवचनपक्षे प्रचुरप्रभावनहिता वञ्चितपरमोदयाविलासेनेति हेतौ तृतीया। सुप्रेति, अत्रापि मूर्त्तिपक्षे सुप्रभावा, क्रमपक्षे सुप्रभौ, महःपक्षे सुप्रभावा अन्यत् पूर्ववत् ॥११।१२॥

वदनमिति। हे स्मरनागपञ्चास्य! (काम हस्ति सिंह!) तव वदनं पादौ वचांसि दुरितानां पापानां क्षयाय उरसि हृदि कोऽपि स्मरति, किम्भूतं सुरभिः, विमलतनुः। द्विवचनबहुवचनपक्षे सुरभी सुरभीः इत्यादि, रणाय नाशाय, रसिकः प्रथमान्तः ।१३॥

मुखाम्भोजमिति। एकवचनपक्षे चितश्रियः, द्विवचनपक्षे अञ्चितश्रियम्, बहुवचनपक्षे वञ्चितश्रिय इति, सर्वं राधाया विशेषणम्। अस्तु, स्तां, सन्; इति क्रिया अध्याहार्य्याः ॥१४॥

हृद्येति। भवद्भुजा इति कर्त्तृपदम्, श्रिय इति कर्मपदम्, गाते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। योषितां मध्यश्रीरिव नागस्य कपोलाविव भुजाः कथम्भूताः? तद्विशेषणमाह हृद्या इति, वलिनां वलवतां विलासेन हृद्या मनोरमाः, श्रीः किम्भूता? हृद्या, वलिविलासेन त्रिवलिविलासेन; कथम्भूतौ कपोलौ? हृद्यौ, अलिविलासेन ॥१५॥

विन्ध्येति। चन्द्रलेखा विभीषेन, प्रतीची वरुणेन कौ इव इभीषेण विन्ध्यशिखरौ इव अरुणेन सेवितौ कश्यपार्कौ इव अरुणः सूर्य्यः तत्सारथिश्च। वेणीविलासेन शोभिता स्त्री कौ इव वनप्रदेशौ इव, तौ कथम्भूतौ? एणीनां हरिणीनां विलासे भूषितौ इव ॥१६॥

विव्यसनान्तसान्तबहुवचनत्वप्रत्ययान्तलीलाभिः।
धातुचतुर्थ्यैकवचनमग्रगलमलैर्महाद्भुतं भवति ॥१७

उकारान्तो यथा—

शोभितरवो वनप्रदेशाइव गायनः।

एवं प्रभवः, भीरवः, विभवः ॥१८॥

इकारान्तो यथा—

उल्लसितस्त्रीकवयोऽल्पसभप्रदेशाइव वनम्।
तेजोनुगतरुचिरवयोवैश्वानराइवगात्रम् ॥ १९ ॥

अनेकपशुचयोऽल्पाइव देशः, भ्रमदलयः पद्मा इव कामः, विशदहयः पातालप्रदेशाइव चन्द्रः। एवं सदासुरभयः, शुभ्रकेशवलयः।

असन्तो यथा—

परमहारविरिव सत्पुरुषाः
वसन्तमासाइव शत्रः ॥ २० ॥

एवं निविड़तमा गिरयइव गुहाप्रदेशः, विलसदनाः पन्नगा इव वणिक्, सम्पन्नय मनाः खर्परदेशाइव राजा, सदामुनय इवासिः सदयाः, खलाइव तड़ागसन्दर्भाः, बहुस्वर्णा राजान इव कूपः, प्रगुणितवेधाहाराइव वैरिस्त्रीजनः।

नान्तो यथा—

अनुल्लङ्घितसीमा जलधिरिव सत्पुरुषाः ॥ २१ ॥
किन्त्वेषामग्रे घोषवदादयः शब्दाः प्रयोज्याः।

सान्ता बहुवचनान्ता यथा—

बह्वाश्रितसरसः सुकविप्रवन्धइव ग्रीष्मपथाः ॥२२॥

त्वप्रत्ययान्ता यथा—

सुसम्पन्नयोद्धारः सैन्यनिवेशाइव देशाधिपतिः ॥२३॥

एवम्—सर्वदातारः पृथिवीपतय इव भेरीरवः, बहुधातारः पृथिवीपतय इव गिरिकूटः, मृगयातारोव्याधाइव अश्वः।

धातुश्चतुर्थ्यैकवचनमिति—

धातोरग्रेह्यन्यस्त्वयाबहुवचनैकवचनं नादिमादिलादि शब्दैः ॥ २४ ॥

यथा। अभवन्नितांतम्, अस्मरन्माधवम्, व्यचरन् लीलया।

इति सटीककविकल्पलतायाम्
अर्थाख्यचतुर्थस्तवके अद्भुतं
नाम द्वितीयं कुसुमम्।

१। अथ चित्रम्।

प्रकारान्तरमाह—विव्येति। उश्च इश्च असन्तश्च अनन्तश्च सान्तबहुचनञ्च त्वप्रत्ययान्तश्च व्यसनान्तसान्तबहुवचनत्वप्रत्ययान्ताः, तेषां लीला व्याकरणप्रक्रिया ताभिः। वीति, लीलाविशेषणम्। धातुश्चतुर्थ्यैकेति, स्वयं व्याख्यास्यति—धातोरग्रे इत्यादिना ॥१७॥

क्रमेणोदाहरिष्यन् उकारान्ते उदाहरति—शोभितेति। शोभितोरवः शब्दो यस्य, पक्षे शोभितास्तरवो यस्मिन् वने। एवमिति, "अचिप्रभवो नेत्रमलमिव सिंहीपुत्रः", "महाभीरवो वालकाइव सङ्ग्रामप्रदेशः"—इत्याद्यूह्यम् ॥१८॥

इकारान्ते उदाहरति—उल्लसितेत्यादि, सुगमम् ॥१९॥

असन्तोदाहरणम्—परमहेति। पक्षे महाउत्साहा। एवमिति, पक्षे अतिशयेन निविड़ा इति निविडतमाः। विलसदिति, विलसद् अनः शकटं यस्य, पक्षे विलं सदनं येषामिति। सम्पन्नेति, सम्यक् पदं चरणम् नयति प्रापयति सम्पन्नयं पादुकादि, तेन अनं गमनं यत्र; खर्परप्रदेशे पादुकां विना गन्तुं न शक्यत इत्यर्थः; पक्षे सम्पच्च नयश्च सम्पन्नयौ तत्र मनो यस्य। सदेति, सदुत्तमम् अयः लौहो यस्य। प्रगुणितेति, वेधः भेदनं वेधाः ब्रह्मा ॥२०॥

नान्त इति। सान्त इति। सुगमम्। २१।२२।

त्वप्रत्ययेति। पक्षे सम्पच्च नयश्च तौ उद्धरन्ती। एवमिति, तारः उच्चैः। बह्वीति, तारः गभीरः। मृगेति, मृगस्य यातः गमनम् तदिव अयः शीघ्रगः; पक्षे मृगं प्रति यातारः ॥२३॥

धातुरिति। यदुक्तं विव्योपादौ धातुचतुर्थीति, तदेव स्फुटयति धातोरग्रे ह्यस्तनीति; चतुर्थीति लङः संज्ञाकालापिकानाम्, सैव ह्यस्तनीत्युच्यते ॥२४॥

इति कवि०टीकायां ४स्त०२कु०।

१ चित्राख्यं तृतीयकुसुममाह—अथेति। चित्रलक्षणन्तु काव्यप्रकाशाद्युक्तं ग्राह्यम्; तथाच हि—"तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता" अन्यदपि विदग्धमुखमण्डनाद्युक्तं कर्तृगुप्तादिकं चित्रत्वेन निर्दिष्टम्।

२। एकार्थत्वेऽनुलोमप्रतिलोमशब्दाः। यथा— नयन, नर्त्तन, कनक, कटक, महिम, मरिम, करंक, कलंक, कालिका, कारिका, सारसा, सहास, मध्यम, करक, स्वदस्व, नवेन, नव्येन, तावता, तारता, ताव्यता, विभवि, केनके, कचक, करक, कंचुकं, कामुका, काशिका, नंदनं, दमलदम्, दंतदं, दमभदम्, दरद, लगुल, योग्ययोः, ततत, हावव्हा, पतदातप, वरभैरव, कलपुलक, वरकैरव, वरपौरव, तरुणीरुत, रदसोदर, नदभेदन, दमपतीपदम्, लंकार्ककालं, माधव, वल्लव, वधमा, वंदे देवं, लेखखले, रवीवीर, भानोनोभा, हंसासाहं, जीवावाजी, यमोमोय, विभुभुवि, वदद्व, नववन, बललव,। अन्यार्थत्वे—यामा, माया ; माया, यामा ; विभु, वत,वद, कंपं, राधा, भावा,सुतामा, नंदक, मालिका, कालिनी, मालिनी, राजते, भारती, हासिका, गगन, करका, भार्गव, कटकं, दीनरक्षा, मद्दोरगा, वातापिना, पिनाकिना, सदालिका, यमराज, हरिदेव, सव्या, भो विकर्त्तन, नंदनवन, नलकूवर, सहसात्वत, रसविभवेन, साहमभिका, नवतमसंमद। एवमन्येपि।

३। भङ्गश्लेषाद्युपायेन यत् क्रियादिनिगूहनम्।
तत्क्रियागुप्तकाद्याङ्कस्तुर्विधमिदं यथा।

४। यथायथातस्त कुरङ्गनेत्रा
प्रिया पुरोमेघतिरोहितश्रीः।
महोदधेरङ्गदनङ्ग भङ्ग-
भङ्ग्योल्लसत्प्रेम तथा तथाहम्॥

(अत्र मेघति दधे क्रिये)

५। कर्त्तृकर्मगुप्तकम् यथा—
मानकोपहते पुंसि,
शाश्वतीं स्थितिमाश्रयेत्।
शङ्केश्योनाप्नुयात् कोऽपि,
देशः प्राप्नोति कं गुणैः॥

(पूर्वार्द्धे कर्तृगुप्तकम्। उत्तरार्द्धे कर्मगुप्तकम्। मा,लक्ष्मीः ; शं,सुखम् ; खेभ्यः, इन्द्रियेभ्यः ; कम्, सुखम् ; गणैः)

६। सम्बन्धगूढम्, यथा—
बालयाःपृथिवी-पाल व्यलोकयत तयाननम्।
तदा प्रभृति तान्निन्ये, स्मरः स्वशरवेध्यताम्॥

(ते आननमिति सम्बन्धोगूढः)

७। शब्दानां सार्थता येषां हीनेष्वप्यर्द्धमात्रया।
तैरर्द्धमात्राच्युतकमेवं विन्दुच्युतादिकम्॥

अर्द्धमात्राच्युतकम्, यथा—
मध्ये सूरिसभं भूरि स्वीकृता नगसङ्गमाः।
न लभन्ते नराः शोभां भानीवर विभानुषु॥

(अत्र अनङ्गेति ङकारच्युतिः)

विन्दुच्युतकम्, यथा—

---

२ तदुपयोगिशब्दानाह—एकार्थत्यादि।

३ क्रियागुप्तकादीनाह—भङ्गेति। भङ्गश्लेषः, खण्डश्लेषः निगूहनम्, गोपनम् ; आदिशब्दात् कर्तृकर्मसम्बन्धानां संग्रहः।

४ उदाहरणमाह—यथेति। लक्षो यः कुरङ्गः तस्य नेत्रे इव नेत्रे यस्याः। मेघेति। मेघे तिरोहिता श्रीर्यस्याः, अत्र क्रियाकाङ्क्षा, अतो मेघति क्रिया, मेघवदाचरतीत्यर्थः ; रोहिता रक्ता श्रीः शोभा यस्याः। महोदधेः समुद्रस्य, रङ्गन् क्रीडन् योऽनङ्गः तस्य या भङ्गा अत्रापि क्रियाकांक्षा ; अतोऽहं महस्तेजः दधे धारयामीति क्रिया॥

५ कर्त्तृकर्मेति। सम्बन्धेति। सुगमम्। अन्यदपि ग्रन्थान्तरोक्तम् यथा—'भवानीशङ्करोमेशं प्रति पूजापरायणः कर्तृगुप्तं क्रिया गुप्ता गुप्तमामन्त्रितम् पदम्॥' हे कर! अनीशम् अनवरतम् उमेशं प्रति पूजापरायणो भव—इति तदर्थः। अन्यच्च—'दामोदराय राजेन्द्र! फलमूलजलान्यपि। एकादश्यां क्रिया गुप्ता बुधैरपि न बुध्यते॥' हे राजेन्द्र! फलमूलजलान्यपि एकादश्याम् उदराय मा दाः—इति तदर्थः।

७ च्युताक्षरकपचित्रमाह—शब्दानामिति। अर्द्धमात्रा व्यञ्जनम्। केनचिद् व्यञ्जनेन हीनेष्वपि यैः शब्दैरर्थवत्ता भवति तैरेव शब्दैरर्द्धमात्राच्युतकं नाम चित्रम्। उदाहरणमाह—मध्ये इति। सूरिसभायां मध्ये इति मध्ये सूरिसभम्, 'पारे मध्ये' इति समासः। अनङ्ग सङ्गमाः पारदारिकाः ; ङकारच्युतिपक्षे, नगाः पर्वताः तेषु सङ्गमो येषाम् ते नगसङ्गमास्तापसाः तद्भिन्ना इत्यर्थः ; पूर्वस्मिन् समये मुनयः पर्वते निवसन्ति स्म तेषां समीपे अधीत्यैव ब्राह्मणकुमारा विद्वांसोऽभुवन्, अतोऽविद्वांस इत्यर्थः।

८। साहसेनाश्रिता पद्मा लयेन जलदात्यये।
अर्णावस्थाभिसरणे रहो मुञ्चति वाहिनी॥
(अत्र हंसेन रंहः)

९। मात्राच्युतकम्, यथा—

दशान्तरस्थितान् भावान् कलातीतानपि स्फुटम्।
केवलज्ञानतोयोगी प्रत्यक्षानिव वीक्ष्यते॥
(अत्र देशकालकेवलः)

१०। प्रश्नएवोत्तरम्, यथा—

पथि कस्य हृतं वस्त्रं? म्रद्वी का सरसीसती?।
शालेः का सारवत्युर्वी? का मलान्धकरी दृशोः॥

११। क्रियागुप्तकम्, यथा—

प्रातः प्रातः समुत्थाय द्वौ द्वादशिकुमारकौ।
निर्मलां सरसीं गत्वा प्रक्षाल्य च कमण्डलुम्॥

(अत्र प्रातः पूरितवन्तौ; प्रापूरणे आकारान्तो धातुः)

कर्त्तृक्रियागुप्तकम्, यथा—

नागरङ्गं फलं स्वादु छित्वा छित्वा च वने वने।
वीश्यातः कथितो स्वार्थः पच्यते ननु बुध्यते॥
(अत्र वी पक्षिणौ; श्यातः भक्षयतः)

१२। कर्त्तृगुप्तकम्, यथा—

हारकेयूरवस्त्राणि रत्नानि विविधानि च।
ब्राह्मणेभ्यो नदीतीरे ददाति व्रज सत्वरम्॥
(अत्र इभ्यो धनी)

गौरी-वदन-संकाशं श्रद्धया शशिनं दधौ।
इहैव गोपितः कर्त्ता वर्षेणापि न लभ्यते॥
(इहा कामहन्ता)

आधारसम्बन्धकर्त्तृगुप्तकम्, यथा—

१३। कावेरी रम्यराजीव विलसद्गन्धबन्धुना।
मधुमाससमीरेण वर्द्धते कुत्र? कस्य? का?॥
(अत्र—कौ पृथिव्याम्, एः कामस्य, ईः श्रीः)

अक्षरच्युतकम्, यथा—

१४। नतनाकिमौलिमणिमण्डलीविभा-
भर भासुराङ्घ्रिसरसीरुहासना।
तव शर्मणे भवतु भारती भृशम्-
दृढजाड्यखण्डनदिनेश-भाततिः॥

अत्र मञ्जुभाषिणी-छन्दसि प्रतिपाद माद्याक्षरद्वयपाते रथोद्धतावृत्तम्, अन्त्याक्षरद्वयपाते नन्दिनीवृत्तम्, आद्याक्षरद्वयपाते अन्त्याक्षरद्वयपातेच भद्रिकावृत्तम्।

एवं छन्दोऽन्तरञ्च यूह्यम्। तथाच—

आद्यन्तस्थायिनी नित्यं कमला त्वयि वर्द्धताम्।
अमध्यमञ्च सुकृतं लभस्व वसुधापते!॥

---

८ साहसेनेति। विन्दुच्युतकपक्षे येन केनाप्यर्थसङ्गतिः।

९ मात्राच्युतकमिति। अत्र हि मात्रस्यैकमात्रता यथा एकारस्य अकारः। उभयपक्षे चमत्कारार्थमाह ग्रन्थान्तरे—'मानसं हर पादाब्जे भ्रमरी कुर्वती द्रुतम्। कान्ते स्वकं पुरः प्राप्ता वैवस्वतकरक्रिया'।

१० प्रश्न एवेति। प्रश्न पक्षे पथीति सप्तम्यन्तम्, उत्तरपक्षे पथिकस्येति षष्ठ्यन्तम्। प्रश्नपक्षे म्रद्वीति, उत्तरपक्षे म्रद्वीकेति; म्रद्वीका द्राक्षा सारवतीका इति प्रश्नः कासारवतीत्युत्तरम्। मलान्ध्यकरी का इति प्रश्नः, का मला इत्युत्तरम्; कामला नेत्ररोगविशेषः।

११ क्रियेति। कर्तृक्रियेति। स्पष्टम्।

१२ कर्तृगुप्तेति। ब्राह्मणा इति सम्बोधनम्; इभ्यो धनी कर्तृपदम् 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी' इत्यमरः। गौरीति ई कामं हन्तीति इहा शिवः।

१३ कावेरीति। कौ-एः-ईः,—इति सन्धिः।

१४ नतेति। भारती तव शर्मणे भवतु; किम्बिधा? तस्या यो विभातरः कान्तिबाहुल्यम्, तेन उज्ज्वलो योऽङ्घ्रिस्वरणम्, तस्य सरसीरुहम् आसीनं यस्याः; इति बहुपदव्यधिकरणबहुव्रीहिः। मञ्जुभाषिणीति 'स ज सा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति तल्लक्षणम्। अत्र—नाकि, भर, तव, दृढ़—इत्यष्टाक्षरलोपे रथोद्धता; 'रथोद्धता नौ लौग्' इति तल्लक्षणम्। विभा, सना, भृशम् ततिः—इत्यष्टाक्षर लोपे नन्दिनीवृत्तम्; 'सजसालगभा नन्दिनी' इति तल्लक्षणाम् नत-विभा, भर-सना, तव-भृशम्, दृढ़-ततिः—इति षोडशाक्षरलोपे भद्रिका; 'सनरसं गता'—इति तल्लक्षणम्। आद्यन्तेति। कमलेति मकारलोपे कलावर्द्धतामित्यर्थः, तथा सुकृतमिति मध्यलोपे सुतम् इति।

अत्र समाधत्ते।

(सू०) अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥ २।२।२५ ॥

(वि०) पक्षं व्यावर्त्तयति—तु-इति। 'वाक्ययोः' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः,' 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इत्येतयोः 'अतुल्यत्वम्' नहि तुल्यता विद्यते; (तथाहि—आद्ये कर्मसमभिव्याहृतं फलं स्वर्गकामोहोमेन कुर्य्यात्, अपरत्र तु गुणसमभिव्याहृतम्; दध्नेन्द्रियेत्यत्र इन्द्रियकामस्य दध्ना होमः, यः इन्द्रियकामः स्यात् स दध्ना होमं कुर्य्यात्—इत्येवं गम्यते न हि होम इन्द्रियाय कर्त्तव्यः—इति प्रतीयते—इति होमस्य दधिसम्बन्ध इन्द्रियाय, न होमस्योत्पत्तिः;) अतः 'तस्य' दध्नेन्द्रियकामस्येति वाक्यस्य 'गुणे' गुणविधाने प्रतीयेत सामर्थ्यमिति शेषः। एवञ्च एकस्मिन्नेव यागे गुणभेदात् फलभेद उपपद्यते—इति फलश्रुतेर्न कर्मान्तरता, तथाच 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्येवमादिकमग्निहोत्रयागान्न यागान्तरम्—इति सिद्धान्तः ॥२।२।२५॥

तदेतदेकादशाधिकरणं स्फुटयति।

(सू०) यद्दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादिति तत्पृथक्। गुणो वा भिद्यते कर्म धात्वर्थस्य फलित्वतः। मत्वर्थगौरवादिभ्यो नान्यत् कर्म फलाय तु। गुणो विधेये धात्वर्थो विहितत्वादनूद्यते ॥ २।२।११ ॥

(वि०) 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इत्येवं श्रूयते, तदिदं प्रकृतादग्निहोत्रादन्यत् कर्म, न त्वत्र गुणविधिः; कुतः? इन्द्रियकामस्येत्युक्तस्य फलस्य धात्वर्थमन्तरेण द्रव्यमात्रादनिष्पत्तेः।

इतिचेत्—मैवम्, कर्मान्तरविधौ दधिमता होमेनेन्द्रियं भावयेदिति मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गात्। गुणविशिष्टक्रियाविधौ गौरवात्, प्रकृतहानाप्रकृतकल्पनाप्रसङ्गाच्च। गुणमात्रन्तु फलाय विधीयते। यद्यपि दध्ना जुहोतीति दधिप्राप्तम्, तथापि फलसम्बन्धो न प्राप्तः; धात्वर्थाभावे फलासम्भवः-इतिचेत्—न, अग्निहोत्रं जुहोतीति विहितस्यानूद्यमानत्वात् ॥ २।२।११ ॥

इत्येकादशाधिकरणम्।

अथ प्रक्रियाकृतकर्मभेदः प्रदर्श्यते।

(सू०) समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२।२।२६॥

(वि०) समेषु समत्वेषु वाक्येषु एकैकं वाक्यं कर्मयुक्तं स्यात् प्रत्येकस्यापूर्वविधित्वं स्वीकृतं भवेदित्यर्थः। तथाहि—यच्छ्रूयते—'त्रिवृदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यासु एकविंशमग्निष्टोमसामकृत्वा ब्रह्मवर्चसकामोयजेत'—इति, तथा तद्व्यवहितम् एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसामकृत्वा पशुकामोह्येतेन यजेत'—इति। अनयोः गुणफलवत्त्वेन समत्वम्; यथा पूर्वत्र वाक्ये 'एकविंशमग्निष्टोमसामकृत्वा'—इति गुणश्रुतिः; तथैवोत्तरत्र 'रेवतीषु वारवन्तीय मग्निष्टोमसामकृत्वा'-इति-एवं यथा पूर्वत्र ब्रह्मवर्चसः फलस्य श्रुतिः, तथैवोत्तरत्र पशुफलस्य; नास्ति किमपीतरविशेष एतयोः। तस्मात् अत्रत्यप्रत्येकं वाक्यं कर्मयुक्तं स्यात्। ननु यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य' इत्यस्य फलसम्बन्धमात्रं विधेयम्, गुणसम्बन्धस्तु सिद्धएव, तथात्रापि पूर्वेण गुणसम्बद्धे विहिते एतस्यैवेत्युक्त्या अनूद्य पशुसम्बन्धः क्रियते? नैवम्, नहि वारवन्तीयस्य साम्नः प्रकृतिभूताः रेवत्यः सन्ति, यासु एतस्यैवेति प्रतिपद्येत; सिद्धान्ते, एतस्यैवेत्यस्य का गतिरिति चेत्? उच्यते, अविवक्षितं स्यात्; अतः ऋचां साम्नां च प्रक्रियाबलेन एवमादिषु कर्मान्तरता ज्ञातव्या ॥ २।२।२६॥

तदेतद्द्वादशाधिकरणमारचयति।

(अ०) उक्ताग्निष्टुतमेतस्य वारवन्तीयसाम हि। रेवतीष्वृक्षु कृत्वेति श्रुतं पशुफलाप्तये॥ रेवत्यादिर्गुणः कर्म पृथग्वा पूर्ववद्गुणः। रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धाख्यः पशुप्रदः॥ साम्नोऽच फलकर्मभ्यां सम्बन्धो

वाक्यभिन्नता। तेनोक्तगुणसंयुक्त मन्यत् कर्मोच्यते फले ॥२।२।१२॥

(टी०) 'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यास्वृक्ष्वेकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत'-इत्यस्य सन्निधौ श्रूयते एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसामकृत्वा पशुकामोह्येतेन यजेत'—इति ; अस्यायमर्थः—अग्निष्टोमस्य विकृतिरूपः कश्चिदेकाहोऽग्निष्टुन्नामकः, स च षष्ठस्तोत्रे त्रिवृत् स्तोमयुक्ततया त्रिवृदित्युच्यते, अग्निष्टोमोक्थादीनां सप्तानां सोमसंस्थानाम् मध्येऽग्निष्टोमसंस्थारूपत्वात् अग्निष्टोमइत्युच्यते, प्रकृतौ तृतीयसवने आर्भवपवमानस्योपरि यज्ञायज्ञीयं साम गीयते, तेन च साम्ना अग्निष्टोमयागस्य समाप्यमानत्वात् अग्निष्टोम सामेत्युच्यते ; तच्च प्रकृतौ 'यज्ञायज्ञावो अग्नये'-इत्याद्याग्नेयीषु ऋक्षु गीयते, अस्मिंस्त्वग्निष्टुति ब्रह्मवर्चसकामेन वायव्यास्वृक्षु तत् साम गातव्यम् ; तच्च प्रकृताविवैकविंशस्तोमयुक्तं, पशुकामस्य तु 'रेवतीर्णः सधमादे'—इत्यादिषु रेवतीष्वृक्षु वारवन्तीयं साम गायेत्-इति। तत्र रेवतीनाम्न्यृचां वारवन्तीयनामकेन साम्ना यः सम्बन्धः सोऽयं पशुफलायाग्निष्टुति विधीयते, एतस्यैवेति प्रकृतपरामर्शकेनैतच्छब्देनान्यव्यावर्त्तकेनैवकारेण चाग्निष्टुतः समर्प्यमाणत्वात् ; यथा पूर्वाधिकरणे इन्द्रियफलाय प्रकृतेऽग्निहोत्रे दधिगुणो विहितः, तद्वत्।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—विषमो दृष्टान्तः। दध्नो होमजनकत्वं न शास्त्रेण बोधनीयम्, तस्य लोकतोऽवगन्तुं शक्यत्वात् ; फलसम्बन्ध एकएव शास्त्रबोध्यः—इति तत्र न वाक्यभेदः। इह तु रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयसाम्नोऽग्निष्टुत्कर्मसाधनत्वम् फलसाधनत्वञ्च इत्युभयस्य शास्त्रैकबोध्यत्वात् दुर्वारो वाक्यभेदः। तेन पशुफलकं यथोक्तगुणविशिष्टं कर्मान्तरमत्र विधीयते। एतच्छब्द एव कारञ्च विधीयमानकर्मान्तरविषयतया योजनीयौ।२।२।१२॥

इति द्वादशाधिकरणम्।

प्रत्युदाहरणसङ्गत्या ब्रूते—एवं हि श्रूयते 'यो वृष्टिकामोयोन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे वै कामाः सौभरे' ततोऽव्यवहितं श्रूयते 'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्य्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ-इति स्वर्गकामाय'। तत्र विचारः—हीषित्यादिवाक्ये निधनेन साकं कामस्य सम्बन्धः 'हीषिति निधनं कुर्य्यात् वृष्टिकामाय-इत्येवम्, उत वृष्टिकाम इत्यादिकं सौभरविशेषणम् 'वृष्टिकामकर्त्तव्ये सौभरे हीषिति विधनं कुर्य्यात्'-इत्येवम्। अत्र पूर्वपक्षः।

(सू०) सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः।२।२।२७।

(वि०) सौभरे पुरुषश्रुतेर्हेतो निधनं कामेन संयुक्तं स्यात्। तथाच अस्ति हि निधने पुरुषश्रुतिः 'यो वृष्टिकाम-इत्येवमादिः' अतस्तत्र नास्ति फलसम्बन्धाकांक्षा—इति उत्तरत्र वाक्येषु श्रुतं वृष्टिकामादिकं निधनेनैव सम्बध्यते। एवञ्च यथा पूर्वाधिकरणे प्रक्रियातो गुणफलयोः श्रवणसाम्यात् कर्मान्तरता उक्ता, तथात्रापि सर्वेषामपूर्वविधित्वं स्यात् ;—इतीहापि कर्मान्तरता न्याय्या॥२।२।२७॥

अत्र समाधत्ते।

(सू०) सर्वस्य उक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यात्, निधनार्था पुनःश्रुतिः।२।२।२८।

(वि०) सर्वस्य हीषित्याद्यस्य वाक्यत्रयस्य उक्तकामत्वम् अभिहितकामत्वम्, तथाच श्रूयते तत्पूर्ववाक्ये 'सर्वे वै कामाः सौभरे'—इति ; अतः तस्मिन् 'यो वृष्टिकामः'—इति पूर्ववाक्ये काम-श्रुतिः अपूर्वा, परवाक्येषु त्वनुवादरूपा। निधनार्था निधननियमाय पुनः श्रूयते। एवञ्च 'वृष्टिकामकर्त्तव्ये सौभरे हीषिति निधनं कुर्य्यात्' इत्येवं निधन-नियम-विधायकानि हीषित्यादीनीति सिद्धान्तः ; तथाच पूर्वाधिकरणे इवात्रत्यवाक्यानां समत्वाभावात्, नात्र पूर्ववत् कर्मान्तरतेति सिद्धम्॥२।२।२८॥

तदेतत् त्रयोदशाधिकरणमारचय्य स्फुटयति।

(अ०) इष्टान्नस्वर्गकामानां सौभरं स्तोत्रमीरितम्। निधनान्यपि ह्रीषूर्गूं इति इष्टादिकामिनाम्॥ फलान्तरे किं इष्टादि ह्रीषादीनामुतोदिते। सौभरे फलसंभिन्ने निधनं विनियम्यते॥ फलान्तरं चतुर्थ्योक्तं इष्टिकामाय ह्रीषिति। सौभरस्य फलं इष्टिर्हीषित्युक्त्या विवर्द्धते॥ नोक्तइष्टादिकामानामन्यत्वं प्रत्यभिज्ञया। नियमेऽपि चतुर्थ्येषा तादर्थ्यादुपपद्यते।२।२।१३॥

(वि०) 'यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे वै कामाः सौभरे'—इति समाम्नाय पुनः समाम्नातम्, 'ह्रीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्य्यात्. ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ—इति स्वर्गकामाय'—इति। सौभरं नाम सामविशेषः, निधनं नाम पञ्चभिः सप्तभिर्वा भागैरुपेतस्य साम्नोऽन्तिमो भागः, तस्मिन् निधने ह्रीषादयो विशेषाः ;) सौभरसामसाध्यस्तोत्रफलेभ्यो वृष्ट्यादिभ्योऽन्यानि वृष्ट्यादिफलानि जनयितुं विधीयन्ते, कुतः? ह्रीषादिविधिवाक्ये वृष्टिकामायेत्यादिना चतुर्थीश्रवणात्; चतुर्थी च तादर्थ्ये, तादर्थ्यञ्च ब्रुवती त्रयाणां ह्रीषादीनां वृष्ट्यादिकामपुरुषशेषत्वं गमयति, तच्छेषत्वञ्च पुरुषाभिलषितफलसाधनत्वे सत्युपपद्यते ; ततः सौभरस्य ह्रीषति निधनविशेषस्य च फलभूते द्वे वृष्टी भवतः, तदुभयमेलनान्महती वृष्टिः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—सौभरविधौ यो वृष्ट्यादिकामः स एव ह्रीषादिविधौ प्रत्यभिज्ञायते, ततः सौभरस्य फलभूता ये वृष्ट्यादयस्त एव ह्रीषादिवाक्येष्वनूद्यन्ते ;—इति न फलान्तरम्। अथोच्येत नूतनफलान्तराभावात्, ह्रीषादीनां च नानाशाखाध्ययनादेव सौभरे प्राप्तत्वात्, अनर्थकोऽयं विधिः ;—इति। तत्—न, फलत्रयकामानां त्रयाणामनियमेनैव ह्रीषादिषु मध्ये यस्य कस्य चिन्निधनस्य प्राप्तौ विधेर्नियमार्थत्वात् ; तादर्थ्ये तु, फलान्तराभावेऽपि सौभरवाक्योक्तवृष्ट्यादिफलसाधने सौभरे ह्रीषादीनां नियम्यमानत्वात्, उपपद्यते। तस्मादयं निधनविशेषनियमविधिः ॥२॥२॥१३॥

समाप्तोऽयौ सत्यव्रतसामश्रमिरचितविवरणयुत-
मीमांसाचार्य्यजैमिनीसूत्रसहितायाम्
माधवाचार्य्यविरचितसटीकन्याय-
मालायां द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः।

—०()०—

इति कर्मभेदपादः।

अथ अपवादो नाम तृतीयः पादः।

अत्र पादे पूर्वोक्तकर्मभेदव्यवस्थापकसूत्राणामपवादसूत्राणि कथ्यन्ते, (पूर्वं यद्दर्शितकर्मैकत्वम् तत् प्रत्युदाहरणरूपम्, लक्षणस्यालक्ष्यं भवति प्रत्युदाहरणम् ; लक्ष्ये लक्षणस्य प्रवृत्तिनिवारकोऽपवादः) अपि च कर्मविचारप्रसङ्गात्कर्मभेदाभेदं यथास्थानं सर्वमेवोदाहरिष्यते।

यदुक्तोगुणहेतुकः कर्म्मभेदः विचारमुखेन क्वचित् तस्यापवादं विधित्सुरादौ पूर्व्वपक्षं सूत्रयति।

(सू०) गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्म्मान्तरं प्रयोजयेत्, संयोगस्याशेषभूतत्वात्।२।३।१।

(वि०) एवं हि श्रूयते ज्योतिष्टोमप्रकरणे—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्' अस्यार्थस्तूभयविधः सम्भवति, तथाहि—यदि रथन्तरसामा-इत्याद्युक्त्या ज्योतिष्टोमो बुध्येत तर्हि स्यात्—यदा ज्योतिष्टोमो रथन्तरसामाभवेत् तदा इन्द्रवायुदेवताकं ग्रहमादौ गृह्णीयात् इत्येवमादिकम्, तथा चास्य गुणविधित्वम् ; यदि रथन्तरसामा-इत्याद्युक्त्या ज्योतिष्टोमोन बुध्येत तर्हि रथन्तरसामकं क्रत्वन्तरं

स्यात् — इत्येवमस्यापूर्वविधित्वम् ; अस्मिन् पक्षे यदित्येतदविवक्षितम्, आहोस्वित् रोचेतेत्यध्याहार्य्य अन्वेयम्। एवमुत्तरत्र। तत्र द्वितीय एवार्थो यस्य सम्मतः स कथयति—यथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा' 'वाजिभ्यो वाजिनम्' अत्र 'गुणस्यापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्' इति सूत्रेण कर्मान्तरता, तथात्रापि 'गुणः' इन्द्रवाय्वादिदेवताकग्रहाग्रत्वादिरूपः 'कर्मान्तरं' प्रकरण-प्राप्तज्योतिष्टोमकर्मणः अन्यत् किञ्चन 'प्रयोजयेत्' विदध्यात्, कुतः? 'क्रतुसंयोगात्' दृश्यतेऽत्र प्रत्यक्षं नाम रथन्तरसामकस्य क्रतुविशेषस्य संयोगो यतः; सत्येवं 'संयोगस्याशेषभूतत्वात्' नहि क्रतुसंयोगस्य क्रत्वन्तरशेषभूतत्वं भवितु मर्हति यथा च गुणविधित्वं स्यात्;—अतो रथन्तरसामकं सोमलतासाधनकं इन्द्रवायुदेवताकं कर्मान्तरम्; एवमपरेऽपि। १।३।१ ॥

अत्र समाधत्ते।

(सू०) एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात्।२।३।२।

(वि०) तुः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'एकस्य' ज्योतिष्टोमस्य 'लिङ्गभेदात्' रथन्तरसामाद्युपेतत्वेन चिह्नभेदात् 'प्रयोजनार्थम्' इन्द्रवाय्वादिग्रहाणां अग्रत्वनियमार्थम् 'उच्येत'; अत आगतमस्य यदीत्याद्यस्य गुणवाक्यत्वम्, तस्मात् 'गुणवाक्यत्वात्' 'एकत्वम्' कर्मण इति यावत्। एतदुक्तं भवति— ज्योतिष्टोमे हि गायत्र्यादीनि बहूनि सामानि, ततश्च रथन्तरसामा इति ज्योतिष्टोमस्य वाचको न भवितु मर्हेत्—इति पूर्वपक्ष्याशयः; यतश्च विकल्पेन बहुसामा ज्योतिष्टोमः अतएव यदित्युच्यते तथाच यस्मिन् पक्षे रथन्तरसामा तस्मिन्नेव इन्द्रवायुदेवताकग्रहस्याग्रत्वं नियम्यतेऽनेनेति सिद्धान्तः। ननु जगतसाम्नस्तु नहि श्रुतिर्ज्यौतिष्टोमे तत्र का गतिरिति चेत्—अत्राह रथन्तरसामा, वृहत्सामा जगत्सामा, सोमइत्युच्यते, सोमश्च सोमलता साधनको यागः, स यथा ज्योतिष्टोमः तथान्योऽपि भवितु मर्हति-इति को विरोधः? । रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नोश्च ज्योतिष्टोमे विकल्पेन दर्शनात् प्रकरणवशेनात्र रथन्तरसामा, बृहत्सामाच सोमो ज्योतिष्टोमएव गृह्यते, जगत्साम्नस्तु ज्योतिष्टोमेऽदर्शनात्, जगत्सामाऽन्यः कश्चन सोमलता साधनको यागो ग्राह्यः। एवञ्च प्रकरणाद्द गुणहेतुककर्मान्तरस्य बाधः प्रदर्शितः ॥ २।३।२॥

तदेतत् प्रथमाधिकरणमारचय्य स्फुटयति।

(अ०) रथन्तरं साम सोमे भवेत्तद्वद्-बृहज्जगत्। ऐन्द्रवायवशुक्राग्रयणाग्नाश्च ग्रहाः श्रुताः। रथन्तरादिसंयुक्तमन्यत्कर्माथवा गुणः। गायत्र्यादियुतात् पूर्वादन्यद्व्यावृत्तिनो गुणैः। सोमशब्दप्रकरणे ज्योतिष्टोमसमर्पके। ग्रहाग्रत्वं गुणस्तत्र व्यावृत्तिस्तु परस्परम्। २।३।१।

(टी०) ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्, ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्; यदि बृहत्सामा, शुक्राग्रान्; यदि जगत्सामा, आग्रयणाग्रान्;'—इति। तत्र सोमेति शब्देन सोमलता साधनको यागोऽभिधीयते, तस्मिंश्च यागे माध्यन्दिने सवने पृष्ठस्तोत्रे रथन्तरबृहज्जगन्नामकानि सामानि विकल्पेन विहितानि, (अभित्वाशुरेत्यस्यां योनावुत्पन्नं रथन्तरम्, त्वामिद्धिह वामह इत्येतस्यामुत्पन्नं बृहत्, जगतीच्छन्दस्कायामृच्युत्पन्नं जगत्,) ऐन्द्रवायवो मैत्रावरुण आश्विनः शुक्रोमन्थ्याग्रयण उक्थो ध्रुव इत्यादि नामका ग्रहाः प्रातः सवने गृह्यन्ते, (दारुपात्रेषु सोमरसस्य ग्रहणाद्ग्रहा भवन्ति) सोमयागस्य रथन्तरसामोपेतत्वपक्षे, तेषु ग्रहेषु ऐन्द्रवायवः प्रथमं गृहीतव्यः; बृहत्सामोपेतत्वपक्षे, शुक्रः प्राथमिकः; जगत् सामोपेतत्वपक्षे, आग्रयणः प्राथमिकः;—इति विषयवाक्यस्यार्थः। तत्र प्रकृतौ ज्योतिष्टोमो गायत्र्यादिसामोपेतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमिह रथन्तरादयो गुणाः कीर्त्त्यन्ते, तस्मादैन्द्रवायवाग्रत्वादिगुणोपेतानि कर्मान्तराण्यत्र विधीयन्ते।

नवमी ऋक्।

शुनःशेप ऋषिः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्।

३ १ २

वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥८६॥

हे 'चित्' चित्स्वरूप! 'अयम्' अभिषुतः सोमः 'ते' तव, 'कपोताःइव। गर्भधिम्' गर्भं दधाति या तां गर्भधिं कपोतिकां प्रति यथा कपोतः तद्वत् त्वमिमं सोमं प्रति 'समतसि' सम्यक् गच्छसि। एतेन सोमस्य हर्षहेतुतां प्रतिपादितम् 'नः' अस्माकम् 'तद्' पूर्वोक्तम् प्रार्थनावचः 'आ। ऊहसे' वितर्कयसे, एतेन श्रुतमिति निश्चितम्। समतसीत्यत्तेर्लेटिरूपम्। कपोतइवेति हर्षहेतुतायां दृष्टान्तः॥ ८६॥

হে চিৎস্বরূপ, ইন্দ্র! এই সংস্কৃত সোম তোমার; যেরূপ কপোতগণ* অন্য কোন প্রয়োজন লক্ষ্য না করিয়াও কেবল উৎসাহবশে কপোতিকাগণের সহিত রমণে প্রবৃত্ত হয়, সেই রূপ তুমি এই সোমগ্রহণের ফল বিশেষ অনুসন্ধান না করিয়াও কেবল ইহা ভক্তদত্ত—এই মাত্র উৎসাহে উৎসাহিত হইয়া সর্ব্বদাই সেই সোম প্রাপ্ত হইতেছ। তুমি আমাদিগের পূর্ব্বকথিত প্রার্থনাবাক্যগুলি বিতর্কের সহ আন্দোলন করিতেছ। (এতাবতা শীঘ্র তাহার নিষ্পত্তি হইতে পারিবে ইহা সম্ভাবিত হইতেছে) ॥৮৬॥

शौनशेफम्।

४ ३५ ४ २ ४र ५

अयापुमु। ता ३इ सा ३ मातसाइ।

१ र२ १ २ — १ — १

कापोतइ। वगार्भा१धी२म्। वाचा २ स्ता

२ १ ५ ४

च्ची२३त्। न ओ २३४ वा। हा ५ सो ६

५

हाइ ॥८६॥

दशमी ऋक्।

उल्लोवातायन ऋषिः।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

वात आवातु भेषजꣳ शम्भुमयोभुनो-

३ १ २

हृदे। प्रन आयूꣳषि तारिषत् ॥८७॥

'वातः' देवः 'नः' अस्माकम् 'हृदे' हृदि 'शम्भु' कल्याणस्य भावयितृ 'मयोभु' बलस्य भावयितृ 'भेषजम्' पथ्यस्वरूपम् यथास्यात्तथा 'आ। वातु'। अपिच सः 'नः' अस्माकम् 'आयूꣳषि' 'प्र। तारिषत्' प्रवर्द्धयतु। हृदे इति सुपां सुलुगित्यादिना सप्तम्येकस्य शेभावः। तारिषदिति तॄधातो र्लेटस्सिप इकारलोपे सिपइटि इडौ अटि सिद्धम् ॥८७॥

বায়ু দেবতা আমাদিগের হৃদয়ে কল্যাণকর বলকর পথ্যস্বরূপ বহন করুন। এবং তিনি আমাদিগের পরমায়ু যথোচিত পরিবর্দ্ধন করুন ॥৮৭॥

काशीतम्।

४र५ ४र ५र ४ ४ २

वात आवातु। भा५इषजाम्। शाम्भुम-

१ ३ ३र २ १

.यः। भुनोहृदा २३४ इ। हाहोइ। प्रन

र २ २ १ ४ ५

आयूꣳषी ३ ता। रिषात्। औ २३ होवा।

४ ५

इडा ॥८७॥

इति नवमीदशतिः।

—०()०—

* কপোতগণ ইহা উপলক্ষণমাত্র পরিণামাদর্শী জীবমাত্রই লক্ষ্য। রতির পরিণামে গর্ভ হইবার সম্ভাবনা— ইহা প্রায় মনুষ্যমাত্রই অবগত আছেন, কিন্তু কপোত প্রভৃতি পশুপক্ষীগণ তাহা অবগত নহে, উহারা কেবল উৎসাহবশে প্রবৃত্ত হয়, বিশেষত কপোতেরা সমধিক কামুক হয়— সমধিক কামুকের সময়বিশেষে পরিণাম দৃষ্টি থাকে না। এই নিমিত্ত এস্থলে কপোত জাতিই দৃষ্টান্ত স্থল হইয়াছে।

अथ दशमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

कण्व ऋषिः।

१र २र ३ १२ ३ १२ ३ १२ ३
यꣳ रक्षन्ति प्रचेतसोवरुणोमित्रोअर्य्य-
३ ३ १ २ ३ १ २
मा। न किः स दभ्यते जनः॥८८॥

'यम्' जनम् 'प्रचेतसः' देवाः 'रक्षन्ति' अपिच 'वरुणः' देवः 'मित्रः' देवः 'अर्य्यमा' देवः रक्षति 'सः' 'जनः' 'किः' केनापि 'न' दभ्यते हिंस्यते। मित्रो अर्य्यमाइत्यत्र 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे।६।१।११५॥' इति प्रकृति भावः। किरिति किंशब्दपर्य्यायकिशब्दस्य तृतीयैकस्य सुपांसुलुगित्यादिना सौत्रते रूपम्। दभ्यते इति दम्भेरूपम्; तस्य लोकेऽपि दग्धार्थत्वमीत्त्यते, तथाहि 'गजालातै रदम्भिषुः' दग्धवन्तइत्यर्थः प्रतीयते॥ ८८॥

প্রচেতা, বরুণ, মিত্র, অর্য্যমা—এই সকল দেবতারা যে ব্যক্তিকে রক্ষা করেন; সে ব্যক্তিকে কেহই নষ্ট করিতে পারে না॥৮৮॥

सौमित्रम्।

४ ५ ४ ५र ४ १ र र
यꣳ रक्षन्ति प्रचेतसाः। वरुणो मित्रो
२ १ २ १
अर्य्या२३मा। न। काइः सा२३दा। ऊ-
२ १ ^ ३ ५र र ३
म्माये ३। भ्या२ता २३४ औहोवा। जा २.
५
३४नाः॥८८॥

द्वितीया ऋक्।

वत्स ऋषिः।

२ २उ ३ १ २ २ २ऽ ३ १र २र ३ २
गव्योषुणो यथा पुराऽश्वयोत रथया।
३ २ ३ १ २
वरिवस्यामहोनाम्॥८९॥

हे प्रचेतसादयो देवाः! यूयम् 'महोनाम्' मघोनाम् हविर्लक्षणधनवताम् 'नः' अस्माकम् अद्य 'गव्या' गवे गोलाभार्थम् तथा 'वरिवस्याः' पूज्याः, 'यथा' 'पुरा' पूर्वस्मिन् काले 'अश्वया' अश्वाय 'उत' उत अपिच 'रथया' रथाय पूज्याः भूताः। महोनामिति, छन्दसि हघयोरैक्यम्। अद्येति, पुरेति-परस्तात् श्रुतत्वाल्लभ्यते। गव्या, अश्वया, रथया—इत्येतत्त्रयं चतुर्थ्यन्तस्य रूपम्; सुपांसुलुगित्यादिना याडादेशेन सिध्यति। वरिवस्या इति वरिवस्यते यैति सुपांसुलुगिति जसआत्वे च रूपम्। उता इति 'निपातस्य च। ६।२।१२६॥' इत्यन्तदीर्घः। 'उ' 'सु' द्वावप्येतौ पादपूरणार्थकौ॥ ८९॥

সেই প্রচেতা প্রভৃতি দেবগণ হবিঃস্বরূপ ধনের অধিপতি আমাদিগের অদ্য গোলাভের নিমিত্ত সেই রূপ পূজনীয়, যেরূপ পূর্ব্বকালে অশ্বের নিমিত্ত এবং রথের নিমিত্ত পূজনীয় হইয়া ছিলেন॥৮৯॥

श्यावाश्वम्।

५ ४र ५र ४ ५र ४ २ र १
गव्योषुणो यथा पुरा। अश्वयोतरथा।
३ १ २ १र र २
यावरिवस्या। म। होमा२३। होना ३४
५र र ३ ५
औहोवा। उ२३४पा॥८९॥

तृतीया ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इमास्तइन्द्र पृश्नयोघृतंदुहतआशिरम्।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषीः॥९०॥

हे 'इन्द्र!' 'इमाः' 'ते' तव 'पृश्नयः' स्तुतयः 'घृतम्' 'आशिरम्' सोममिश्रं दधि, तच्च 'दुहते' क्षरन्ति; 'एनाम्' एनाः स्तुतीः 'ऋतस्य' यज्ञस्य 'पिप्युषीः' वर्द्धयित्रीः कुरु। आशिरमिति 'श्रिञ् पाके' इत्यस्य क्विपि रूपम् 'अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताश्रितमाशीराशीर्त्ताः। ६।

१।२६॥' इति सिद्धम्। इन्द्रते इति इन्द्रेरात्मनेपदे रूपम्, कर्त्तृत्वञ्च स्तुतीनां इतदधिकरणे विनियुक्तत्वात् औपचारिकम्। एनामित्येकवचनम् बहुवचनस्थानिकम्। पिप्युषीरिति ओप्यायी वृद्धावित्यस्मात् लडर्थे (३।४।६) लिटि तस्य 'क्वसुस्व। ३। १०७॥' इति छान्दसे क्वसौ रूपम्। कुरु इति सामर्थ्याल्लभ्यते॥ ९०॥

हे इन्द्र! তোমার এই সমস্ত স্তুতি, ঘৃত এবং আশির * ক্ষরণ করিতেছে †; এই স্তুতি গুলিকে যজ্ঞের বর্দ্ধনকারী কর ‡॥৯০॥

श्रैखण्डिनम्।

५ र २ १ र ३ २ ^ ३र
इमास्तई। इष्टम्नयोघ्र्तं इ ३ हा। औ
३ २ २ १ ^ ३
होइहाइ। हाइइ। ता आ २ शा २३४इ
५ ३र२ ३ २ ३ १ ५
राम्। एना ३४ म्रता ३। खपो २३४वा।
४ ५
प्युपू षोई हाइ॥६०॥

चतुर्थी ऋक्।
सुकक्ष ऋषिः।

३ २ ३ १ २ ३ १र २र
अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरु-
१र २र ३ १ २
ष्टुत। यत् सोमे सोमआभुवः॥६१॥

हे 'पुरुणामन्' पुरुणां बहूनां शत्रूणां नामयितः 'पुरुष्टुत' पुरुभिर्बहुभिः स्तोतृभिः स्तुत इन्द्र! 'अया' अनया 'धिया' प्रज्ञया 'गव्यया' गविच्छया त्वां स्तुमः। 'यत्' यस्मात् त्वम् 'सोमे। सोमे' सर्वसोमयागे 'आ। अभुवः' आविर्भवसि। पुरुणामन्निति 'छन्दस्युदवग्रहात्। ८।४।२६॥' इति णत्वम्। पुरुष्टुतेति 'स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि। ८।३।१०५॥' इति षत्वम्। अयेति बाहुलकादत्र नाप्रवर्त्तते 'अनाप्यकः'। गव्यायेति गोरिच्छा गव्या, तया। अभुव इति धात्वर्थसम्बन्धे (३।४।६) लुङ्॥ ६१॥

বহুতর শত্রুগণের দময়িতা, বহুতর স্তোতৃগণ কর্ত্তৃক স্তুত, হে ইন্দ্র! আমরা গোলাভের নিমিত্ত স্বীয় স্বীয় প্রজ্ঞানুযায়ী তোমার স্তবন করিতেছি; যেহেতু* তুমি সকল সোমযাগেই আবির্ভূত হইয়া থাক॥৬১॥

वैतहव्यम्।

५ र र ५ १ २
अयाधिया च गव्याईया। पुरूणा ३।
२ ^३ ५ १ २ र २र
मन्यू २३४ रू। ष्टुतौ। वा ३२। यत्सोमे३
२र ^३ १ १ र ५र १र २ १
सोम आ। यात्सोमे २ सो। मम्रो २ ३ ४
५ ४ ५
वा। भूपू वोईहाइ॥६१॥

पञ्चमी ऋक्।
मधुच्छन्द ऋषिः।

३ २ ३ १२ ३ १२ ३ १ २
पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनी-
३ १ २ ३ १ २
वती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥६२॥

'नः' अस्माकम् 'पावका' शोधयित्री 'सरस्वती' वाक् 'यज्ञम्' 'वष्टु' कान्तिमन्तं करोतु। सावाग् विशिष्यते—'वाजेभिर्वाजिनीवती' वाजं बलं तद्यस्याअस्ति सा वाजिनी वृत्तिः, तद्वती मध्यमिका इत्यर्थः; चतुर्विधा हि वाचोभवन्ति परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरीति; तत्रपरा नाभिरूपमूलाधारात् प्रथमोदित नादस्वरूपः, तदुक्तम् 'मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु तारः पराख्यः' इत्यलङ्कार

---

* সোমরসমিশ্রিত দধি।

† যে হেতু ক্ষরণ কার্য্যেই ঐ স্তুত্যাত্মক মন্ত্র সকল বিনিযুক্ত হয়, অতএব উহাদিগকেও ক্ষরণকারী বলা যায়।

‡ এতাবতা যজ্ঞকারীরই বৃদ্ধি প্রার্থিত হইল, যেহেতু যজ্ঞকর্ত্তার উন্নতি না হইলে যজ্ঞের উন্নতি হইতে পারে না।

* এতাবতা ইন্দ্রের শ্রেষ্ঠত্ব প্রতিপাদিত হইতেছে; অর্থাৎ সকল যাগে সকল দেবগণ থাকেন না, কিন্তু তুমি সকল যাগেই থাক, অতএব তুমি দেবশ্রেষ্ঠ।

कौस्तुभः ; पश्यन्ती—हृदयगत नादरूपं, तदुक्तम् तत्रैव 'पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगः' इति ; मध्यमा—हृदयोत्थित बुद्धियुतनादरूपः, तत्राप्युक्तमनन्तरम् बद्धियुङ्मध्यमाख्यः ; वैखरी—कण्ठगतनादरूपवर्णः, तदव्यवहित मेवोक्तम् 'वक्तैवैखरी' इति। अत्रायं विवेकः। परा पश्यन्तीदशापन्नावाक् योगिनामेवोपलभ्या नास्माकम् ; मध्यमा तु स्वकर्णमात्रगोचरा, वैखरी दशापन्नादेव नादात् पवनप्रेरितोवर्णसमूहः वहिः सर्वेषां प्रत्यक्षविषयोभवति। अस्तुतावत् ; प्रकृतमनुसरामः—कथञ्च वाजिनीवती ? इत्यत्रोपपत्तिरुच्यते—'वाजेभिः' वाजैः अन्नैः, प्रत्यक्षमेतत्—नहि बुभुक्षितस्य बुद्धियुग्वाक् सरति। अन्नानि च भवन्ति यज्ञसम्भवाः, अतएव यज्ञः प्रार्थ्यते—यज्ञं वष्टिति। इदानीं वाचोविभुत्वं वर्णयति—'धिया' 'वसुः' बुद्धिसहयोगिनी भवती वाक् सर्वस्यैतस्य जगतआच्छादयित्री व्यापयित्री, तदुक्तम् शिक्षायाम्—'आत्माबुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतः स्तूरसिचरन मन्द्रं जनयति स्वरम्। सोदीर्णोमूर्द्ध्नरभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णान् जनयते—इत्यादि' किञ्च शब्दानां व्यापकत्वं प्रसिद्धमेव। वसुरिति वसआच्छादने इत्यस्यरूपम्॥ ९२ ॥

আমাদিগের পাবন কর্ত্রী, যিনি বুদ্ধিসহ প্রকাশ পাইয়া সমস্ত জগৎ ব্যাপন করিয়া রহিয়াছেন, যিনি অন্ন কারণে উৎপন্ন বীর্য্যের সহ চরিত বুদ্ধির সহায়ে প্রকাশ পাইয়া, মধ্যমা নাম ধারণ করিয়াছেন, সেই বাক্‌রূপা সরস্বতী ; সমস্ত যজ্ঞটি কান্তিযুক্ত করুন ॥৯২॥

भारद्वाजम्।

५र र ४५ २१२ १र
पावकान ईया। सराखा१ती २। वाजे
२ र १ १
भिवी। जिनाइवा१ती २। यज्ञा २३ म्।
२ ३ र २१र ३ १११
वा २ इ २३४ औहोवा। धियावसू २३४
१
पूः ॥९२॥

षष्ठी ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

२ ३१र २र३ २९ ३ १ २
कइमन्नाहुषीष्वा इन्द्रꣳ सोमस्य तर्प-
२ ३ २ ३ १ २
यात्। सनो वसून्याभरात् ॥९३॥

'नाहुषीषु' नहुषइति मनुष्यनाम, तेषुभवाः नाहुषाः ज्योतिष्टोमाद्याः तेषु यागेषु 'इमम्' 'इन्द्रम्' 'सोमस्य' सोमेन 'कः' मदन्यः कः पुरुषः 'तर्पयात्' तर्पयितुं क्षमः ? अतोब्रवीमि—'सः' इन्द्रः 'नः' अस्मभ्यम् 'वसूनि' 'आ। भरात्' आहरतु ददातु। वात्सल्येनोक्तमेतत्। सोमस्येति तृतीयार्थे षष्ठी, सम्बन्धसामान्ये वा। तर्पयात्, आभरात्—इति च लेटोरूपम् ॥ ९३ ॥

আমা ভিন্ন এরূপ যাজ্ঞিক কে আছেন, যিনি জ্যোতিষ্টোমাদি যাগে এই ইন্দ্রকে সোমরস প্রদান করিয়া তৃপ্ত করিতে পারেন ? অতএব সেই ইন্দ্র আমাদিগকে যথাভিলষিত অর্থ প্রদান করুন * ॥৯৩॥

वैतहव्यम्।

४५३ ५४ ५ २र १ २
कइमम्। उहुवाहाइ। नाहु३षा इषू
१ र २ १ २
१ वा २। आ इन्द्रꣳ सोम। स्यतार्पा १ या
१ २र १ २र १ २
२त्। सनो २ वसू। निया भा १ रा २ त्।
१ २र १ २र १ २
सानो २ वसूनि। आ २३। भराउवा।
१र २ १र २
आगछियेहि ताइमे १ ॥९३॥

* এইটী বাৎসল্যোক্তি।

(ता०) शान्तचित्तोभवन् सत्यं वेद, किञ्च सत्यं विदित्वा सत्यस्य पथि सञ्चर; तदा सत्यस्य जयेन त्वमपि जययुक्तो भूयाः। यदि परमेश्वरं लब्धुं वाञ्छसि, तर्हि सत्यस्य शरणं गृहाण। सत्यस्यावलम्बनेन, मनस एकाग्रतया, सम्यक् ज्ञानेन, तत् सत्यस्य परमं निधानं परब्रह्म लभ्यं भवेत्। पुरा आप्तकामा निर्दोषा ऋषय एतत् समस्तोपायमवलम्ब्यैव संसिद्धा बभुवुः ॥ १ ॥

१११

(मू०) दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः सवाह्याभ्यन्तरोह्यजोऽप्राणोह्यमनाः। यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ २ ॥

(टी०) 'दिव्यः' द्योतनवान् 'हि' 'अमूर्त्तः' सर्व्वमूर्त्तिवर्ज्जितः 'पुरुषः' पूर्णः सह वाह्याभ्यन्तरेण वर्त्तत इति 'सवाह्याभ्यन्तरः' 'हि' न जायते कुतश्चिदिति 'अजः' अविद्यमानः प्राणवायुर्यस्मिन् असौ 'अप्राणः' 'हि' अविद्यमानं मनोयस्मिन् सोऽयं 'अमनाः' 'यं' ब्रह्मात्मानं 'पश्यन्ति' उपलभन्ते 'यतयः' यत्नशीलाः 'क्षीणदोषाः' क्षीणपापाः ॥ २ ॥

(ता०) स प्रकाशवान् सर्व्वत्र प्रकाशित स्तिष्ठति। एतस्यापरिसीमस्य विश्वस्य एकैकः पदार्थः तस्य सत्तां प्रमाणीयति, एतस्यैकैकस्य शक्तिः ताम् मूलशक्तिं प्रकाशयति। तस्य न कापि मूर्त्तिर्विद्यते, स पूर्णस्वरूपः; स सकलवस्तूनां वहिर्वर्त्तते सकलवस्तूनामभ्यन्तरे च संतिष्ठते। स जन्मरहितः, सर्वदा विद्यमानः, अविनश्वरः। स मनुष्यादिरिव न हि प्राणवायूनवलम्बते, परं जीवितः, स स्वयंप्राणः, स प्राणानामपि प्राणः। मनसस्तसृष्टं परिमित-पदार्थविशेषम्, अतस्तस्यैतादृङ्मनोन सम्भवति। तदीयं ज्ञानमस्मदीयज्ञानमिव न हि मनोऽधीनम्, तज्ज्ञान-क्रिया स्वभावसिद्धा। ये पापाचरणतोविरताभवन्तः पवित्रास्तिष्ठन्तः तमन्वेषयंति, ते तमीक्षंते ॥ २ ॥

११२

(मू०) योदेवानामधिपोयस्मिन् लोका अधिश्रिताः। यईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः सवा एषमहानजआत्मा ॥ ३ ॥

(टी०) 'यः' परमेश्वरः 'देवानां' 'अधिपः' स्वामी 'यस्मिन्' परमेश्वरे सर्व्वकारणे 'लोकाः' 'अधिश्रिताः' आश्रिताः। 'यः' परमेश्वरः 'अस्य' 'द्विपदः' मनुष्यस्य 'चतुष्पदः' गवादेः 'ईशे' ईष्टे 'सवै एषः महान् अजः' 'आत्मा' ब्रह्मात्मा ॥ ३ ॥

(ता०) यः चक्षुरगोचरः आकीटाणुलोकान्तरस्थायिदेवगणपर्यन्तानां सकलजीवानामेकमात्रमवलम्बनमधिपतिः, यच्छासनेन मनुष्यादयः पश्वादयोवा सर्वएव चिरं भवंति पालिताः; सोऽयं जन्मविहीनो महान् आत्मा ॥ ३ ॥

११३

(मू०) अदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता ।४।

(टी०) 'अदृष्टः' न दृष्टः चक्षुर्गोचरत्वमनापन्नः कस्यचित् स्वयन्तु 'द्रष्टा' तथा 'अश्रुतः' श्रोत्रगोचरत्वमनापन्नः स्वयन्तु 'श्रोता' तथा 'अमतः' मननविषयमनापन्नः स्वयन्तु 'मन्ता' यतः सोऽदृष्टोऽश्रुतोऽमनोऽतएव 'अविज्ञातः' स्वयन्तु 'विज्ञाता' ॥ ४ ॥

(ता०) पूर्णपुरुषस्य परमेशस्य चक्षुःकर्णादि न किमपीन्द्रियं विद्यते; परं यद्वयं चक्षुःकर्णादिना ज्ञातुं शक्यन्ते, स स्वयम्भूः सर्व्वज्ञः पुरुषः तत्समुदायमेव विजानाति अपिच यच्चास्माकं न ज्ञातव्यं तदपि सोऽवगच्छति। स निःशेषरूपेण सर्वेषां सर्वभावान् वेत्ति, परं तत्स्वरूपं न कोऽपि अवगच्छति ॥ ४ ॥

११४

(मू०) स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्योन हि गृह्यते ॥ ५ ॥

(टी०) 'सएषः' 'आत्मा' ब्रह्मात्मा यद्यत् इन्द्रियमनोगोचरत्वेन निर्द्दिष्टं वस्तु तत्तत् न ब्रह्मेति 'न इति न इति' यदा ब्रह्मणः स्वरूपमेव निर्द्दिदिक्षितं भवति निरस्तसर्व्वविशेषं तदा नेति नेतीति प्रतिषेधद्वारमृते न शक्यते केनचिदपि प्रकारेण निर्द्देष्टुं 'अगृह्यः न हि गृह्यते' करणाविषयत्वात् ॥ ५ ॥

(ता०) सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता यः परमेश्वरः, स सृष्टेरतीतः पदार्थः; एष एव तन्निर्द्देशः। चक्षुषा यद्दर्शनीयम्, मनसा यन्मन्तुं योग्यम्, स नहि तत् स्वरूपः; स इन्द्रियस्य मनसश्च अग्रहणीयः, विशुद्धज्ञानमात्रेणैव ससत्यपुरुषः प्रहृश्यते ॥ ५ ॥

११५

(म०) सएषसर्व्वस्येशानः सर्व्वस्याधिपतिः सर्व्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च। ६।

(टी०) 'सः एषः' ब्रह्मात्मा 'सर्व्वस्य ईशानः सर्व्वस्य अधिपतिः' सर्व्वं 'इदं' जगत् 'यत् इदं किञ्च' अनवशिष्टं 'प्रशास्ति' नियमयति ॥ ६ ॥

(ता०) देवमनुष्यपशुपक्षिप्रभृतयः सर्वे एव तस्य शासने विद्यन्ते, न कोऽपि तच्छासनमतिक्रमितुं कदापि शक्यते ॥६॥

११६

(म०) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदोवदन्ति पञ्चाग्नयोये च त्रिणाचिकेता।७।

(टी०) 'ऋतं' सत्यं अवश्यम्भावित्वात् कर्म्मफलं 'पिबन्तौ' एकस्तत्र कर्म्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः तथापि पातृसम्बन्धेन पिबन्तावित्युच्यते 'सुकृतस्य' स्वयं कृतस्य कर्म्मणः 'लोके' शरीरे 'गुहां' गुहायां बुद्धौ 'प्रविष्टौ' 'परमे परार्द्धे' प्रकृष्टस्थाने। तौ च 'छायातपौ' इव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन 'ब्रह्मविदः' 'वदन्ति' कथयन्ति न केवलं ब्रह्मविद एव वदन्ति 'पञ्चाग्नयः' गृहस्थाः 'ये च' 'त्रिणाचिकेताः' त्रिकृत्वोनाचिकेतोऽग्निश्चितोयैस्ते ॥ ७ ॥

(ता०)जीवात्मा, अपिच तदाश्रयः सर्वव्यापी परमात्मा, द्वावेव शरीरस्याभ्यन्तरेऽवतिष्ठते, अपि च वयमुभयमेव संशयहीनबुद्ध्या उपलभामहे। छाया, आतपः यथा मिथो विलक्षणं भिन्नञ्च; जीवात्मा परमात्मा परस्परं विभिन्नः पदार्थः। यथा आतपमन्तरा छाया स्थातुं न क्षमते, तथैव परमात्मन आश्रयमन्तरेण जीवात्मनः सत्ता न सम्भवति। परमात्मा जीवस्य कर्मानुरूपं फलं विदधाति, जीवात्मा तत्फलमुपभुज्य परिवर्द्धते। तत्त्वदर्शि ब्रह्मविद एवैनमुभयमेवं विलक्षणस्वभावकमिति निश्चितवन्तः, नैवम्; अग्निहोत्रेत्येवमादि कर्ममार्गानुयायिनोऽप्येवमेव वदन्ति ॥७॥

इति ॥

चतुर्द्दशोऽध्यायः।

११७

(म०) योवै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ।१।

(टी०) 'यः वै' 'भूमा' महत् निरतिशयं ब्रह्म 'तत् सुखं' 'न अल्पे' ब्रह्मातिरिक्ते कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि 'सुखं' सम्पूर्णं 'अस्ति'। 'भूमा एव सुखं' अतः 'भूमा तु एव विजिज्ञासितव्यः' ॥ १ ॥

(ता०) मनुष्याणां मनः परिमितक्षुद्रपदार्थे न कदापि सुखमुपलब्धुं सहते। तस्मैव विभौ अस्माकं सुखं, न ह्यल्पविषये। विषयसुखेन नास्मा-

कमात्मा परितुष्यति । विषयसुखं समस्तमेव क्षणभङ्गुरम्, अतीव क्षुद्रम्—कदाचित् धर्मस्यानुकूलम्, कदाचिच्च प्रतिकूलम् ; कदाचित् सेव्यम्, कदाचिच्च त्याज्यम् । सएव विभुरीश्वरोऽस्माकं तृप्तिस्थानम्, पवित्र-शान्ति-निकेतनम् ॥ अतस्तमेवानुसन्ध्यात्, तमेव ज्ञातुमिच्छेत् ॥ १ ॥

११८

(मू०) सभगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ।२।

(टी०) हे 'भगवः' भगवन् 'सः' भूमा ब्रह्मात्मा 'कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति' इत्युक्तवन्तं शिष्यं प्रति आह आचार्य्यः 'स्वे महिम्नि' आत्मीये महिम्नि प्रतिष्ठितोभूमा ॥ २ ॥

(ता०) परमेश्वरोनिरालम्बः, स्वतन्त्रः, मुक्तस्वभावः । अन्यत् सकलवस्तुजातं यथा तमवलम्ब्य संतिष्ठते, तस्मिन्नेव निर्भरीयते ; न तथा स किमप्यवलम्ब्यावतिष्ठते । एषा विश्व-शृंखला तत्र आवद्धा सती लम्बमाना, स एकांशकुस्वरूपएव समस्तमेतद्द दधाति ; परं न काप्यावद्धः, तं न कोऽपि दधन् तिष्ठति । स निरवलम्बः पूर्णपुरुषः स्वमहिम्नैवावतिष्ठते, आत्मन्येव स्वयमविरतं विद्यते, तस्य न कोऽपि जनकः, न चाश्रयः ॥ २ ॥

११९

(मू०) सएवाधस्तात् स उपरिष्टात् सपश्चात् सपुरस्तात् सदक्षिणतः सउत्तरतः । ईशानोभूतभव्यस्य सएवाद्य सउ श्वः ।२।

(टी०) 'सएव' भूमा 'अधस्तात्' विद्यते तथा सः उपरिष्टात् सः पश्चात् सः पुरस्तात् सः दक्षिणतः सः उत्तरत । सभूमा 'ईशानः' 'भूतभव्यस्य' कालत्रयस्य 'सः एव' नित्यः कूटस्थः 'अद्य' इदानीं वर्त्तमानः 'सः' 'श्वः' 'उ' अपि वर्त्तिष्यते ॥ ३ ॥

(ता०) उपरि, अधोवा, पश्चात्, सम्मुखे वा, दक्षिणे, उत्तरे वा, सर्वत्र सर्वतएवास्माकं दृष्टीष्यते । यदि शिखरिशृङ्गमारोहेम, तत्र पश्येम तं राजमानम् ; यदि गभीर-समुद्र-गर्भं प्रविशेम, तत्रापि तं वर्त्तमानमवलोकयेम । दिवाकरमध्याह्निन-किरणे यथा स स्वप्रकाशोविद्यते, तामसिविभावर्य्या अन्धतमस्यपि तथैव जाज्वल्यते । सर्वमेतत्तदीयसाम्राज्यम्, सर्वस्थानमेव तत्सृष्टम् । यथा स सर्वदेशव्यापी, यथा सदा विद्यमानश्च । यथा स इह भवति नियन्ता, तथा परस्मिन्नपि नियन्ता ; सोऽद्य विद्यते, परेऽपि स्थास्यति ॥ ३ ॥

१२०

(मू०) यएकोऽवर्णोबहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थोदधाति । विचैति चान्ते विश्वमादौ सदेवः सनोबुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।४।

(टी०) 'यः' 'एकः' अद्वितीयः परमात्मा 'अवर्णः' निर्व्विशेषः 'बहुधा' नाना 'शक्तियोगात्' 'निहितार्थः' गृहीतप्रयोजनः प्रजानां 'वर्णान्' प्रयोजनपदार्थान् 'अनेकान्' 'दधाति' विदधाति प्रजाभ्यः । 'आदौ' 'अन्ते' 'च' मध्ये च 'विश्वं' यस्मिन् 'वि एति' व्याप्नोति 'सः' 'देवः' द्योतनस्वभावः विज्ञानैकरसः परमेश्वरः । 'सः' 'नः' अस्मान् 'शुभया' 'बुद्ध्या' 'संयुनक्तु' संयोजयतु ॥४॥

(ता०) यः सएकः परमेश्वरो विविधवर्णानां स्रष्टा, स स्वयं वर्णहीनोऽपि विशुद्धसत्वानां ज्ञानिनामन्तिके जाज्वल्यमानः प्रकाशते । ते हि स सत्यपुरुषो धर्मस्य, अर्थस्य, सुख-सौभाग्यस्य प्रेरयिता—इति विज्ञाय अतिसमीपस्थाः सन्तः सभीचन्ति, किञ्च निष्कामाः भवन्तो मनः-प्रीत्या तमुपासते । तेषां तं लब्धुं शुभबुद्धेरेव याचना तत्सन्निधौ, नान्यन्या कापि ॥ ४ ॥

१२१

(मू०) सवृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो

यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयं । धर्म्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ।५।

(टी०) 'सः' परमेश्वरः 'वृक्षकालाकृतिभिः' वृक्षकालाकृतिभ्यः वृक्षात् संसारात् कालात् आकृतेश्च 'परः' 'अन्यः' प्रपञ्चासंसृष्टः 'यस्मात्' ईश्वरात् 'अयं' 'प्रपञ्चः' संसारः 'परिवर्त्तते' । ज्ञात्वा तं 'धर्म्मावहं' धर्म्मस्याकरभूतं 'पापनुदं' पापस्य क्षयितारं 'भगेशं' भगस्य ऐश्वर्य्यस्य ईशं स्वामिनं 'आत्मस्थं' सर्व्वेषामात्मनि स्थितं 'अमृतं' अमरणधर्म्माणं 'विश्वधाम' विश्वस्याधारभूतं । 'ज्ञात्वा' 'च विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं' 'शिवं' 'एति' प्राप्नोति 'शान्तिं अत्यन्तं' ॥ ५ ॥

(ता०) अत्र हि जगति यत्किञ्चन सृष्टवस्तु, स न तेषां कस्यापि तुल्यः; न स वाह्यविषयइव, नाप्यन्तरस्थमनइव । स सत्यस्वरूपः, ज्ञानस्वरूपः, अनन्तस्वरूपः, तेन न कस्याप्युपमा युज्यते । स विषयमनआदेः सर्वस्य स्रष्टा, सुतरां स सर्वतः श्रेष्ठो, भिन्नश्च । स यथात्र आकाशे तिष्ठन् नियन्तृस्वरूपेण समस्त मेतज्जडात्मजगत् पशुपक्ष्यादिकञ्च नियमयति, तथा मनुष्यात्मनि धर्मावहरूपेणावस्थितेऽहरहो धर्मधिषणां प्रेरयति । पशुपक्ष्यादयोहि नियममविदित्वैव नियमबलेन बद्धाः सन्तश्चरन्ति, आत्मा तु कर्त्तव्यज्ञानालोकेन धर्मनियम मवगत्य स्वाधीनभावेन धर्मकार्य्यं साध्नोति । यदात्मा मानसिक-कुप्रवृत्तेर्वशीभवेत्, किञ्च कर्त्तव्य-धर्म-नियमस्यादेश मवहेल्य पापेनाक्रान्तो भवेत्; तदा स निजस्वाधीनतातो भ्रष्टो मृत्युपाशेन बद्धोभवेत्, अपिचान्तरिकदुःसहग्लानि मुपभुञ्जीत, तदा पापो-मोचयितु रीश्वरादन्यस्तस्य न गतिः; यदा स पापाक्रान्त आत्मा अकृत्रिमानुतापेन दग्धोभवन् नैवं करोमि इत्युक्त्वा तच्छरणापन्नो भवति, तदैव स पुरुषः तं जीवात्मानं पापाद् विमुच्य पुनः सत्पथि नियोजयति । एषएव तन्महिमा, एषैव तत्करुणा । अत्र हि पापमये दुःखात्मिके संसारे तमेवैकमात्रं शुद्धमपापविद्धममृतमीश्वरं स्वात्मनि संप्राप्य, अपि च तं पाप-मोचयितारमक्षयमुक्तिदातारं विज्ञाय जीवोऽत्यन्तं शान्तिमवाप्नोति ॥ ५ ॥

१२२

(मू०) सविश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालोगुणी सर्व्वविद्यः । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ।६।

(टी०) 'सः' परमेश्वरः 'विश्वकृत्' विश्वस्य कर्त्ता विश्वं वेत्तीति 'विश्ववित्' आत्मनां योनिरिति 'आत्मयोनिः' जानातीति 'ज्ञः' 'कालकालः' कालस्य कर्त्ता 'गुणी' विचित्रशक्तिमान् 'सर्व्ववित् यः' । 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः' प्रधानं प्रपञ्चः क्षेत्रज्ञोविज्ञानात्मा तयोश्च पालयिता 'गुणेशः' गुणानामीशः 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' संसारमोक्षस्थितिबन्धानां हेतुः कारणं ॥ ६ ॥

(ता०) स सर्वेषां स्रष्टा, सर्वेषां पाता, सर्वेषां सुहृत्, सर्वेषां प्रभुः । न किमपि तच्छासनमतिक्रमितुं शक्यते । तस्यैव नियमेन शरीर-आवद्धो जीवात्मा ज्ञाने धर्मे च स्वाधीनः सन् भोगस्याधिकारी भवति, अपिचान्ते तस्यैव प्रसाद मवाप्य संसारबन्धनान्मुक्तो भविष्यति ॥ ६ ॥

१२३

(मू०) सतन्मयोह्यमृतईशसंस्थोज्ञः सर्व्वगोभुवनस्यास्य गोप्ता । यईशेऽस्य जगतोनित्यमेव नान्योहेतुर्व्विद्यतईशनाय । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।७।

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

महाखण्डकारङ्करणाद्यलिपुङ्गारणयसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाचिवेद्यम्मननेन मान्यं बन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] अग्रिमवार्षिकम् ६/ प्रतिसंख्यायाः १/ [August, 1869.] अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी [२४ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

धन्योऽसौ जगदीश्वरः!!

अद्यैतस्याः संस्कृत-पत्रिकायाः प्रत्नकम्र नन्दिन्याः चतुर्विंशति-संख्योपेतो द्विभागः समजनि।

अवसरसङ्गत्या संस्कृतोन्नतिः प्रस्तूयते।

एषाभारतभूमिः संस्कृतभाषाया जननी, चिरमस्याः क्रोड़ोऽनयैव भाषया भूषितः। यदि च गौड़-मगध-कान्यकुब्ज-महाराष्ट्र-द्रविड-कर्णाटादि-देश-प्रचलिताः सर्वा भाषास्त्विरं सन्ति विभिन्नाः, अधिकेन किम्:—गव्युत्यन्तरे एव भाषान्तरं लच्यते; परमेषा भाषा न कस्यचिद्देशविशेषस्य, अपितु समस्तभारतस्य। वेदादयो ये केचनार्य्याणाम् धर्ममूलरूपाव्यवहारविधायकाश्च शिक्षोपयोगिनोग्रन्थाः, ते तावन्त एतयैवभाषयोपनिवद्धाः, आर्य्याणां धर्म-रीति-नीत्यादिकं समस्त मेव संस्कृत-भाषाग्रथितम्, अतोऽसौ देववाण्यार्याणां जीवनमित्युक्तोऽपि नाधिकोक्तिः; इयं किल जीवनतोऽपि प्रिया। पुरैतस्यावज्ञलोन्नतिरासीत्; तदानीन्तन-धीमतामेतदध्ययनमधिकन्नापेक्षितम्, तदैषा मातृभाषेवान्दोलिताऽस्यात्; यद्यद्यतनानामिव तेषामपि व्याकरणसाहित्याद्यध्ययनपूर्विका संस्कृताधिकारिता किञ्च व्याकरणसूत्रादिस्मरणपूर्वकं ग्रन्थरचनं सम्भाव्येत, तर्हि एकैकः सुधीश्छन्दोवद्ध-भूरिग्रन्थ-रचनं न क्षमेत। सैषा मातृभाषया समा देवभाषा कालक्रमेण नष्टकल्पतां गता। सत्यमेतत्—राज्यस्यतावद् विषयकोन्नत्यवनत्यादिकं राज्ञोऽधीनमेव; कियत्कालं महम्मदीयानामधीनोभवन्नेष सुवर्णभारतो विविधरत्नेन वञ्चितः; तदैतस्य देशस्य बहुहानिरभूत्, तत्र क्रमात् संस्कृतभाषाया व्यवहारस्य न्यूनीभवनं हानिप्रधानमिति गण्यते। परमवस्था न कदाप्येकभावादृश्यते क्वापि, सुखस्यावसाने दुःखाविर्भावो दुःखावसाने च सुखाविर्भावश्चिर मीक्ष्यते, जगतोगतिः सर्वदैव शुक्ल-कृष्णात्मिका प्रतिभाति; पश्यतामेवास्माकं भाग्योदयः सम्पन्नः:—यदेङ्गलण्डीयराजधान्यामेलिजि-

वियेथ् राज्ञी स्थिता, तदेकोनषोडशशत खीष्टाब्देषु
(१५९९) कतिवणिजो भारतवाणिज्यार्थमाजाम-
वापुः ; अनन्तरं षोड़शशतपञ्चनवति - खीष्टा-
ब्देषु (१६९५) कलिकातायां 'फोर्टउइलियम्'
दुर्गनिर्मितम् ; ततोमहावीरोऽप्रतिहतमानसो 'लर्ड,
ओएलस्लि' गवर्णर्जेनरल्पदाभिषिक्तोभवन्
सप्तनवत्यधिक-सप्तदश शत-खीष्टाब्दस्य नवेम्बरे
मासि शुभेलग्नेऽर्णव पोतमारुह्य तत्परवत्सरे मे
मासस्य सप्तदशदिने भारतराजधान्यां कलिकाता-
महानगर्य्याम् पदार्पणमकार्षीत्, सएव विक्रान्तोऽ-
साधारणपराक्रमशालिनं महीसूराधिपतिं सुल्-
तानोपाधिं टिपुं पराजित्य समस्त विपक्षमण्डली-
हृदय-शोणितं शुष्कीकृत्य 'मार्कुइश्'—इति
सम्भ्रमसूचकोपाधिमलभत् ; तेनैव भारतवर्षस्या-
धिकांशोऽधिकृतः, आकुमारिकान्तरीपर्य्यन्तेषु-
सर्वत्र कोम्पानेरेकाधिपत्यं संस्थापितम् ; अयमेव
महात्मा अष्टादश-शत-खीष्टाब्दे कलिकातायां
'फोर्टउइलियम्' नामकं विविध विद्यायाः पाठ-
मन्दिरं संस्थापितवान्, अपि च तदैव भारतव-
र्षीयपुस्तकागारमप्येकं प्रतिष्ठितम् ; किञ्च सएव
भारत-प्रचलित-भाषया ग्रन्थादि-निर्माणे प्रथम-
मुत्साहं व्यदधात् । ततो भारतबन्धोः 'उइलि-
यम् वेण्टिक्'—महोदयस्यात्रोदयावधि क्रमादस्य
राज्यस्य सर्वथोन्नतिरेव लक्ष्यते । षट्षष्ठ्युत्त-
राष्टादश-शत खीष्टाब्दीय जून्मासि काशीस्थ-
विविधविद्यामन्दिरेषु 'प्रिन्सेल्'-समुद्भावित-पद-
व्यां पदमादधानः एतत्प्रदेशीय-विद्या-समुन्नति-
कारकः* संस्कृत-पत्रिकैकां 'काशीविद्यासुधानिधि'-
~~प्राप्तिमात्रे एवातिशय-हर्षोत्फुल्लहृदयेन 'सर्व~~-
नाम्निकां प्रचारयितुमारभत् ; इत्थं संस्कृत-भाषा-
रचित-पत्रिकाया अभावो य आसीत् स कथंचिद्-
दुरीकृतः, तेनासौ संस्कृतपत्रिकायाः प्रथमावता-
रकः संस्कृतोन्नतिदिदृक्षूणामन्तिकेऽवश्यं धन्या-
स्पदः । वस्तुत उक्तपत्रिकायाः सम्पादकमहेच्छस्य
नम्रता-सभ्यता-विचक्षणताभिःसह संस्कृतज्ञतापुरः
संस्कृतानुरागिताऽपि बहुलं प्रतीयते—सम्प्रतियैषा
प्रकाशिता भवति 'प्रत्नकम्रनन्दिनी', सा सावपि
तदानुकूल्यान्विता । एतेन हि प्रत्न-प्रकाशसन्देश-
प्राप्तिमात्रे एवातिशय हर्षोत्फुल्लहृदयेन "सर्व-
थात्र साहाय्यं विधेयम्' इति प्रचार्य्याहं प्रोत्सा-
हितः, किञ्च तत्क्षणमेवैतत्पत्रिकायाः कतिखण्डा-
नां ग्राहकः प्रभूय कतिपय-मुद्रां प्रेरय्य व्यदधा-
दर्थ-साहाय्यम् । अनन्तरं यदैतस्याः ग्राहका-
ल्पतां विलोक्य तस्तेन मयावेदितः, तदा सानुग्रहं
तदावेदनं स्वीकृत्यैतत् प्रदेशीय-शिक्षाविभाग-डिरे-
क्टर †—समीपं प्रेरिरत्, तेनापिच हितैषिणा
तथैव साहाय्यं व्यधायि । एवं क्रमाद् वङ्गपञ्चा-
लायोध्या-प्रदेशीयशिक्षाविभागानां डिरेक्टरत्र-
योऽपि स्व-स्व-विद्यानुरागितया यथोचित मनुकूल-
यितु मारभन् । वस्तुतोऽद्यापि संस्कृतभाषा न
तादृक्-परिशीलिता—यत्, दुर्गम - दुष्प्राप्याति
प्राचीनग्रन्थ-प्रकाशक-प्रत्नकम्रनन्दिनी ग्राहकानेवा-
श्रित्य सजीवावलोक्येत ; यदि संस्कृतज्ञ आर-
ग्रिफिन्महोदयस्यात्र यत्नो न स्यात्, अपिचोल्लि-
खित-डिरेक्टर-महेच्छैरेषानुकम्पानयनाञ्चलावलो-
किता न स्यात्, तर्ह्यवश्यमेतस्याजीवनं संशयेन
भवितव्यम् * । एवञ्च प्रतिपन्नमेतत् — एतर्हि
संस्कृतस्य प्रचारणे विद्यारस सम्पन्न राजपुरूषाणां
यादृशोऽनुरागोलक्ष्यते, तथा च भारतवासिनां
हृदयरत्नः संस्कृतोऽचिरेण पुनस्तरुणेन भवितव्य
इति शम् ।

---

* R. Griffith Espuire.

† M. Kempson Espuire

*अथात्रावसरे एतदपिकीर्त्त्यमस्ति—ब्राह्म-हन्दवन्दनीय-
प्रधानाचार्य्याशेषविच्छ्रीमद्देवेन्द्रनाथठाकुरोऽत्र प्रतिमासं विद-
धाति विशेषमानुकूल्यम् । किञ्च उत्ता-निवासि विप्रवर्य्यार्थ-
शास्त्र-निपुण-श्रीवामनदास मुखोपाध्यायः, तथा गुणनिधान
महाराजवर्द्धमानाधिपति श्रीमहताप्चन्द्रवाहादुरः तथा वह-
रमपुरस्थ भूम्यधिकारि कृतविद्यश्रीरामदास सेनः—इत्येव
मादीनां कतिपयमहोदयानामप्यनुकूलहृद्दिरत्र विद्यते इति ।

अक्षर-व्यत्यय-प्रमुखाणि चित्राणि यथा—

१५। अहङ्कारमलङ्कारं बालिशाः कलयन्ति ये।
हलविन्यासमात्रेऽपि कौशलं कलयन्ति ते ॥

१६। पङ्कजस्य स्थितो मध्ये सत्यलोकान्तमास्थितः।
कल्पानामादिभूतश्च क एष न पितामहः ॥

१७। तरणिं पश्य सुश्रोणि!, नाथ! कुत्रास्ति नौरिह।
सवितारं प्रिये! वच्मि, प्रिय! दूरेऽधुना पिता ॥

१८। कण्ठे त्वन्नाम-रत्नानि हारयामि यदा यदा।
हारयामि तदानेदं जन्म मन्मथ-मर्द्दन ॥

१९। भव-सम्भव-सन्तापं हर! संहर सन्ततम्।
मम नाम मनागन्यो नयतो नयतागतिः ॥

पट्टिशबन्धः—

२०। महेश! ममता-राममवमाममरोत्तम!।
महत्तम! महोधाम! मतिस्तोम! मनोरम ॥

षोड़शदलपद्म बन्धः—

२१। भीमकामंदमश्रीमत् सोमक्षामन्तमभ्रम।
नमस्ते महिमस्तोम धामसोम समक्षम ॥

अष्टदलपद्मबन्धः—

२२। न तयार्थोगिरा या न नयाराध्य! जना वन!।
नवनाय तवादीन! नदी-वारित-यातन! ॥

प्रातिलोम्येन सएवार्थः—

२३। वशिनः शिव! के? लोके नेशाने करुणोरुक!
मदनामोह! तिष्ठन्ति नम्रा न तव ये वत ॥

गतप्रत्यागत श्लोकः—

२४। नंदि-नंदित तापच्छिद मोहामर पावन!।
रक्ष नाथ! मतिज्ञेय! ज्ञ! विभो! वशितां मम ॥

२५। ममतां शिव! भो! विज्ञ! यक्षेतिमथनाक्षर!।
नव-पार-महामोद! क्षिप तात! दिनं दिनम् ॥

१५। अहङ्कारेति। हकारस्य लकारव्यत्ययेऽलङ्कारमित्यर्थः। रसभावौ विना अलङ्कारोऽयं इति भावः।

१६। पङ्केति। पङ्कजस्य मध्ये स्थितः सत्यलोकान्तम् आस्थितः कल्पानामादिभूतः क इति प्रश्नः, उत्तरमपि कः ब्रह्मा पितामहः न इति विरोधः; अतः पङ्कज, सत्यलोक, कल्प— इति शब्दत्रयस्य मध्यान्त्यादिषु कः इति प्रश्ने—उत्तरम् कः शर्वः, न पितामहः।

१७। तरणिमिति। सूर्याभिप्रायेण नायकोक्तिः। वाक्यापलापचित्रमिदम्।

१८। कण्ठे इति। नाम हारयामि हारवदाचरयामि; जन्म हारयामि वृथा व्ययी करोमि;—इत्यभेदेऽपि पदैक्यं चित्रम्।

१९। भवेति। हे हर! भवः संसारः तत्र सम्भवः उत्पत्तिः यस्य स चासौ सन्तापश्चेति तम्। ममेत्यस्य देहलीदीपकन्यायेन सन्तापगतिरित्युभयत्र सम्बन्धः।

२०। महेशेति। हे महेश! ममता संसार-वासना तस्या आरामस्थानं माम् अव रक्ष; अमरोत्तम महत्तमेत्यादि सम्बोधन-विशेषणानि। पट्टिशबन्धोऽयम्। तत्प्रकारो यथा— मध्ये स्तम्भाकारं निखित्वा, तदुपरि कोष्ठमेकं लिखेत्, स्तम्भस्योभयपार्श्वयोः कोष्ठयुग्मचतुष्टयौ लिखित्वा, स्तम्भमध्ये मकारचतुष्टयम्, उपरि मकारमेकम्, अवशिष्टवर्णान् पार्श्वकोष्ठेषु लिखेत्।

२१। अनुलोमविलोमेन श्लोकोद्धारं दर्शयति—भीमेति। कामं दमयति कामन्दमः, उमया सह वर्त्तमानः सोमः क्षामन्तमः सूक्ष्मतमः, भ्रमोऽज्ञानम् यस्य, सोमस्य समक्षा प्रत्यक्षा मा शोभा यस्य। षोडशदलपद्मबन्धोऽयम्। तल्लक्षणमाह सरस्वतीकण्ठाभरणे—गोमूत्रिका क्रमेण स्युर्वर्णाः सर्वे समाः समाः। मध्ये म वर्णविन्यासात् पद्मोऽयं षोडशच्छदः।

२२। न तयेति। हे नयाराध्य! नयेन नीत्या आराध्यः सेव्यः तया गिरा वाचा नार्थः न प्रयोजनम्। का सा? इत्याकाङ्क्षायामाह—नेति, तव नवनाय स्तवाय या न; भवतीत्यध्याहार्य्यम्। नद्या गङ्गया वारिता यातना पापिनां नरक-यन्त्रणायेन। अयमष्टदलपद्मबन्धः। लक्षणं बन्धदीपिकायाम्—'प्रथमाद्यग्निवर्णा ये चतुर्थ्यान्ते विलोमकाः। प्रथमान्ते त्रयो वर्णा द्वितीयादौ विलोमकाः। द्वितीयान्ते तु ये वर्णास्तृतीयादौ विलोमकाः। तृतीयान्त्याक्षराणि चतुर्थ्यादौ विलोमकाः।' अन्यत्रापि—'कर्णिकायां न्यसेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च। प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टदलाम्बुजे॥'

२३। वशिन इति। हे करुणया उरुक, शिव! अस्मिन् नेशाने स्वामिरहिते लोके वशिनो जितेन्द्रियाः के? न केऽपि; ये तव नम्रा न तिष्ठन्ति; मदनात् कन्दर्पात् न विद्यते मोहो यस्य।

२४। नन्दिनमिति। तापं छिनत्ति नाशयति तापच्छित्; नन्दिना गणविशेषेण नन्दितः प्रीतः; वशितां जितेन्द्रियतां रक्ष—इति योजना।

२५। पूर्वस्यैव प्रातिलोम्येन श्लोक एषः—ममतामिति। हे तात! शिव! मम ममतां मायां क्षिप दूरीकुरु। यक्षोदक्षसम्बन्धी; इतयोऽतिवृष्ट्यादयः कृषि-विघ्नकराः; नवो नूतनः संसार इति यावत्, तस्य पारे त्राणविषये महामोदो यस्य।

गत प्रत्यागतपादः—

२६। वंदे मंद-दमं देवं दम्भिता-ममता-भिदम्।
सदा-भीम मभी-दासमङ्गलम् वि-विलङ्गमम्॥

गत प्रत्यागतार्द्धः—

२७। रक्षमार-परित्रास! रसालम्बन-माय! ही!
हीयमानबलं सार सत्रारि-परमाक्षर!॥

भिन्नच्छन्दः स्लोकद्वयेन गोमुत्रिका—

२८। देव-देव! काल-काल! भीम-भीम! नाम-नाम!।
मार-मार! धाम धाम! मां समांस! रक्ष रक्ष॥

२९। विषमं विषमं भुजगं भुजगम्,
वपुषा वपुषा ललितां ललिताम्।
वहता वहता भवता भवता,
जगताऽजगता म मता मम ता॥

(तथा)

३०। मदन-दाहिनि! वीत-विभवे!,
प्रमथितान्धक-काल-बले! स्थिरम्।
नग-सुता-रति-रक्त-हृदिस्वकम्,
न न मनो रमयामि समुन्मदम्॥

३१। वेद-वेदान्त-निर्णीत-रूपंस्तुवे,
त्वामपेताधि-कल्लोल-जालेश्वरम्।
योग-चिन्ता-मभिव्यक्त-नेदिष्टकम्,
ध्यानलीनोऽहमर्घ्य-मितं मुक्तिदम्॥

यमकः—

३२। सदा सदानन्द-विकासितं सितम्,
दयोदयोल्लासित-माधवं धवम्।
धरा-धरा-वास मसम्भवम्भवम्,
स्तुमोऽस्तु मोदाय वृषासनः स नः॥

समुद्गकः—

३३। निर्माति पाति विनिहन्ति च यः प्रमुक्त-
दोषं स्मरामि तमहो हरमं त कान्तम्।
भोगीन्द्र-भूषित-जटा-श्रवणाङ्घ्रि-कण्ठ-
दोषं स्मरामि तमहो हरमं त कान्तम्॥

(तथा)

३४। पुण्यामृता वदुदरानघतोय-पाता,
कोटीरगा श्रय-भवानऽज! निर्धुनीते।
पुण्यामृता वदुदरानघ-तोय-पाता,
कोटीरगाश्रय! भवानजनिर्धुनी ते॥

द्व्यक्षरः—

३५। नानानुमान-मननानमनान्मुनीना-
मेनोनिनुन्नममुनाऽनम-नामनेन।

२६। वन्दे इति। न विद्यते भी भयो येषां तादृशा दासा अनुचरा यस्य।

२७। रक्षेति। रसानां वासनानाम् आलम्बनम् आश्रयः तादृशीमाया यस्य। हीति विस्मये। हीयमान बलं मां रक्ष।

२८। देव देवेति। समौ अंशौ प्रकृति पुरुषरूपौ यस्य; मां रक्ष रक्ष।

२९। बिषममिति। हे अज! भवता जगतां जीवानाम् गता प्राप्ता विद्यमाना इत्यर्थः; अमताम् असम्मता ममता अज्ञानम् अवहृता नाशिता, किम्भूतेन भवता? अवपुषा अशरीरिणापि वपुषा अर्वाचीनपदेन भुजगं ललितां देवीञ्च वहता।

३०। मदनेति। अहमित्यध्याहार्य्यम्। मदनदाहिनिशिवे! स्वकं मनः न रमयामि न, रमयाम्येवेत्यर्थः। शिव विशेषणं सप्तम्यन्तचतुष्टयम्।

३१। वेदेति। अत्र भिन्नच्छन्दसोः श्लोकयोः पूर्व्वार्द्धाभ्यामुत्तरार्द्धाभ्याञ्च मेलनेन गोमुत्रिकाबन्धो भवति। तल्लक्षणम् बन्धकौमुद्याम्—"प्रथमार्द्धे परं स्थानभाजो वर्णाः परे दले। लभन्ते चेत् समं स्थानं तदा गोमुत्रिका भवेत्" प्रकारान्तरमाह दण्डी—'वर्णानामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्द्धयोः। गोमुत्रिकेति तत् प्राहु दुष्करं तत्कोविदो विदुः"।

३२। सदेति। भवं शिवं स्तुमः; स शिवः नोऽस्माकम् मोदायानन्दाय अस्तु। यमकचित्रमिदम्।

३३। ३४। निर्मातीति। पुण्येति। हे अज! तव कोटीरगाधुनी गङ्गा, श्रयानां जीवानां भवान् संसारान्, कोटीः कोटिसङ्ख्यकान्, निर्धुनीते दूरीकरोति; गङ्गायाविशेषणमन्यत्सर्वम्। पुण्यामृतेति पुण्यजनकम् अमृतम् जलं यस्याः; पुण्यं धर्मः, अमृतं मोक्षं च यस्याः; अवत् रक्षत् यम् उदम् उदकम् तत् राति गृह्णाति ये तान्; अघतः पापतः, अयेन शुभावह विधिना; पातीति पाता कर्त्तरि क्तः, अथवा पातं पालनं तदस्यास्तीति अर्शआद्यच् सा पाता; अवत् रक्षत् उदरं यस्याः; अनघ स्तोयपातो यस्याः। हे अगाश्रय गिरिश! भवान् अजनिः जनिर्जन्म न विद्यते यस्य सः। समुद्गकौ श्लोकाविमौ। तल्लक्षणमाह बन्धकौमुद्याम् — "वे वर्णाः प्रथमार्द्धे स्युः परार्द्धेऽपि तत्र चेत्। समुद्गकमिति प्राहुस्तदा चित्रविचक्षणाः।"

३५। नानेति। अहम् उमाया इनम् उमेनम् नमामि—इत्यन्वयः। किंविधम्? मेनेन मानिनम् मेनाया इनम् हिमालयम् मानयितुं शीलमस्य; अनूनमानम्; नानानुमा-

मेनेन-मानिनमुमेनमनूनमान-

मेनं नमामि न नमाम मनामिनाम्ना ॥

निरोष्ठः—

३६। लीला-कङ्काल-खेला-कलित-कलकलः

कालरात्री-कलत्रः,

कालिन्दी-काल-कण्ठः शिशिर-कर-कला

कन्दली-कान्त-कायः।

कैलासाक्रीड़केलिः सकलकलयिता

नेत्रकीलाल रालः,

कल्याणं काल-कालः स किल कलयता-

न्निःकलः काल-क्लन्नः॥

गतप्रत्यागतपादः—

३७। भासा निश्वास-गल्लं गल-वि

ष

विलगल्लंगमश्वानि-साऽभा(द्,

यं) यं वै दक्षोरुसत्ताजनमऽन

म

न-मनज-त्रास-दक्षोद-वैद्यम्।

सं तं वह्नाजि-दभ्रे सहमऽस

म

हसं भेदजिह्नावतंसम्,

वन्देऽवं देय-मत्या सम-न

य

न-समत्यामयं देव-देवम्॥

गोमुत्रिकाबन्धः—

३८। पातु नाकापगता माता सुतानिव बुधानलम्।

अतुल्याकाशगायाता हिताय वसुधातलम्॥

असंयुक्तापुनरुक्ताक्षरम्—

३९। अगूढेनः कुठाराभ-जले! शेषफणाप्लवे!!

बौ धौ षं देहि झटिति पीडयाथासुखं च मे॥

द्व्यक्षरः—

४०। गौरं, गौरी-गुरोरंगं, गरागारं, गुरुरगम्।

गोगं, गंगेगरं, रंगारोग-रागारि-रंग-गोः॥

(तथा)

४१। ससुरासुर-संसार-सारा, सर-ससारसा।

ससार सारसा, सारा, सासुरं सुरसा, सरित्॥

सर्वतोभद्रः—

४२। रसा-सार! रसासार-साधिताऽहि-हिता धिसा

रताव्रताता व्रतारमाऽऽहिताऽस्तु स्तुता-हिमा॥

नम्, मननम् चिन्तनम्, आनमनम् प्रणामः, तस्मात् मुनीनाम् एनः पापम् निनुन्नम् दूरीकृतम्; केन? अमुना शिवेन; किम्विधेन? न विद्यते नमनं येषां इत्यनमना नास्तिकाः, तेषाम् आमं कष्टं नयतीत्यामनः तेन। यद्यपि न चरतीत्यक्षरं स्वर-उच्यते तथाप्यत्र लक्षणया व्यञ्जनपरम्।

३६। लीलेति। स काले कालः, नोऽस्माकं कल्याणम् कलयात्; किम्विधः? लीलया कङ्कालैः अस्थिभिः या खेला मेखला तया कलितः कलकलः कोलाहलो येन सः; कन्दली कदली। उपूपध्मानीयरहितः श्लोकएषः।

३७। भासेति। अहं देवदेवं वन्दे इत्यन्वयः। किम्विधम्? निश्वासौ गल्लौ यस्य; पुनः किम्विधम्? गल विषे विशेषो लगत् आश्लिष्यत् लङ्गः संयोगो यस्य; श्यानं शैत्यम्, अश्यानम् उष्णम्, तद्विद्यते यस्याः, सा अश्यानिनी, अश्यानिनी चासौ सा चेति, तदाद्यन्तपदे कर्मधारयोऽपीष्टः" तथा च शब्दशक्तिप्रकाशिकायाम्—"पक्कं यत् फलमास्वादि आमतत् भञ्जनं वृथा। मिष्ट यत् फलमत्वेष्टं कटुतद्रूपमीच्यते।" सा प्रसिद्धा भासादीप्तिः अभात् यं देवदेवम्; अजनम् नाशकम्; न नमन्तीत्यनमताः, तेषां त्रासो यस्मात्, स चासौ दक्षोदो वैद्यश्चेति तम्; संश्रेष्ठं "श्रेष्ठ विकल्पयोः सं स्यात्"—इत्येकाक्षर कोषः; असमहसम् अट्टहास्ययुक्तम्; भेदजिह्वाः सर्पाः, देयमत्या अवं रक्षकम्।

३८। पात्विति। अर्थः सुगमः; लक्षणन्तु पूर्वमुक्तम्।

३९। अगुढेति। गङ्गे! मे मम झटिति वोधौषं देहि, दुःखञ्च नाशय।

४०। गौरमिति। कश्चित् स्वकं मनः प्रति उपदिशति। हे मनः? त्वम् गौरिगुरो शिवस्य अङ्गम् अर्वाचीनं पदम् रङ्ग गच्छ; किम्विधमङ्गम्? इहत्सर्पयुक्तम्; गोगम् वृष-वाहनम्; गङ्गेगरम् गङ्गाया इगमम्भुतज्ञानं राति तम्; तस्य किम्विधस्य? न विद्यन्ते रोगा आमयाः, रागो विषया-सङ्गः, अरयः कामादयः, रङ्गः स्त्रीष्वासक्तिश्च यस्याः, तादृशी गौर्वाणी यस्य।

४१। ससुरेति। सा प्रसिद्धा असौ सुरवर्त्तिनी सरिद् गङ्गा सुरं देवं (शिवम्) ससार सङ्गता बभूव; सारसः पद्मं पक्षिविशेषश्च।

४२। रसेति। हे रसासार! पृथिव्यां श्रेष्ठ, राम! भवता सा प्रसिद्धा रसा पृथ्वी सार-साधिता सारेण बलेन साधिता; अहि हिताधीति क्रिया-विशेषणा, अहिषु शत्रुषु हितः रक्षितः आधिर्येन साधनेन तत्; किम्विधारसा? रतेति, रतः आसक्तः अव्रतस्य पिता रावणो यस्यां सा; व्रतारमिति क्रिया-विशेषणम्, अरीणां समूहः आरम्

गतप्रत्यागतः—

४३। भाति रागवती या मा हरेरीशतयांज सा।
साऽजरांतशरीरेह मायाऽतीव-गराऽतिभा॥

गोमुत्रिका—

४४। नारायण! गदा-पाणे! पुरुषामर-नाथ! माम्।
स्मराद्रेण हृदा चीर्णे कुरुष्व मयि नाक्षमाम्॥

द्व्यक्षरः—

४५। पापापांपति-पततां पोतः पातूपतापतः।
पाता पिता पूत-पतत्-पति-पीत-ततातपः॥

४६। नितान्त-नूतनं तात-ततानन्ततनून्नतिम्।
नानाननानन्तनुतं तन्नूनं नीतितो नुत॥

४७। नाग-विशेषे शेषे शेषेऽशेषेऽपि संहृते जगति।
हंस्यसि-कालं कालं का लंका-लंघने स्तुतिर्भवतः॥

४८। देवादे! वासुदेवा-
लय-गृह! सकलानां कलानां कलानाम्,
पद्मा पद्माभ! पद्मा-
स्ति तव परम-हेला महेला महेला।
शेषे शेषे च शेषे-
त्वमग-गुरुमनन्तामनन्तामनन्ता,
ऽऽपाता पाताल-पातात्-
प्रहृत-कितव-राहोवराहो वराऽहो!॥

स्वजनककविनामाङ्कित षडारचक्रबन्धः—

४९। (य) स्यां देशभ (वा) स्थित स्ति(दि)वराट्
नूनं दिवं रच ति),
(प्र)स्तावे प्रवि(भ)ज्य् यस्य(दि)तिजा
नादत्त-लोक-त्र(यम्)।
(ति) गमांशुचि-म(ट)ज्जले हृ(दि) सता
सेनः त्वया-विष्कृ(तम्),
(तम्) मोक्षा(य) भज (प्र)जाप(ति)क्रता
(ति)ध्यक्रि(यम्) संत(तम्)।

इति कविकल्पलतायामर्थाङ्क
चतुर्थस्तवके चित्रंनाम
तृतीयं कुसुमम्।

तत् क्षतं येन तत्; किम्बिधार सा? स्तुताहिमा, स्तुता वन्दिता, हिमा निरुपद्रवा; सारसा इदानीम् आसमन्तात् हिता अस्तु। सर्वतो भद्रनामकं चित्रमिदम्, तल्लक्षणम्—काव्यादर्शे उक्तम् 'तदिष्ट' सर्वतो भद्रं भ्रमणं यति सर्वतः' सर्वतो भ्रमणञ्च—अनुलोमेन प्रति लोमेन, अनुलोम प्रतिलोमाभ्यां, प्रतिलोमानुलोमाभ्याञ्च।

४३। भातीति। इह जगति या हरे र्मा माया भाति, ईशतया जीवानां वशकारिणी, तथाच—'य ईशो यद्वशे मया सजीवो य स्तयाहितः'; अञ्जसा कार्त्स्न्येन; अजरान्तशरीरा वार्द्धकनाशरहिता; अतीवगरा विषरूपा; अतिभा भां ज्ञानमतिक्रान्ता आवृत्यस्थिता, तथाच—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः'।

४४। नारायणेति। माम् आर्द्रेण स्नेहयुक्तेन हृदा स्मर, मयि अक्षमां न कुरुस्व!

४५। पापेति। पाता विष्णुर्मां पातु; किम्बिधः? पाप एव अपाम्पतिः समुद्रः तत्र पततां पोतइव पोतः; उपतापतः संसार-क्लेशात् पूतो यो पतत्पतिर्गरुड़ः पीतः वाहनीकृतो येन, अपिच ततः विस्तृतः आतपः तेजः येन; सः।

४६। नितान्तेति। हे लोकाः! तं नूनं निश्चयेन नीतितः युक्तितः नुत – इति योजना। किम्बिधम्? नितान्तनूतनम् किशोरम्; ताते नन्दे तताविस्तृता अनन्ता असंख्यका तनून्नतिः येन तम्।

४७। नागेति। कस्यचिद् भक्तस्य रामंप्रति स्तुतिः। हे राम! अशेषे जगति संहृते सति त्वं शेषे नागविशेषे शेषे स्वपिषि; असितत् कालः कृष्णवर्णः; कालं यमं त्वं हंसि, अतस्तव लङ्का-लङ्घने कास्तुतिः।

४८। देवेति। हे देवादे! देवानां प्रथम! कलाः चतुःषष्टिसंख्यकाः, एवं कं सुखं लाति कलाः; गृहः अधिष्ठानम्; तव महेला भार्य्या, पद्मालक्ष्मी, किम्बिधा? परमाहेला क्रीड़ा यस्याः सा; महानाम् उत्सवानाम् इला आधारः; अनन्तेति सम्बोधनम्; अनन्तां वसुधाम्, अनुन्ताम् अपारां, वरश्रेष्ठ, अहो आश्चर्य्यम्, पातालपातात् त्वम् वराहः सन् आसम्यक् पाता उद्धर्त्ता; अनन्तां किम्बिधाम्? अगैः पर्वतैः गुरुं, भारवतीं; प्रहृतः कितवः राहुर्येन सः; शेषे प्रलयसमये।

४९। यस्यादेशमिति। कस्यचित् चित्तं प्रत्युपदेशः। हे चित्त! त्वम् त्वम् परमेश्वरम् मुक्तये सततं भजस्व—इति योजना। सतः साधोः; त्वयायाविष्कृतम् प्रकाशितम्; प्रस्तावे आरम्भे आदत्त सम्यग्ददौ; तिग्मांशुः सूर्यः अक्षि यस्य तम्। षडारचक्रबन्धोऽयम्। लक्षणमुक्तं सरस्वतीकण्ठाभरणे—'पुरः पुरो लिखेत् पादांस्त्रींस्त्रीन् षडरीकृतान्। तूर्यन्तु भ्रामयेन्नेमौ नेमाङ्क स्यक्र संविधिः' अत्र प्रथम द्वितीय तृतीय चरणानां षष्ठाक्षरे 'वांभट्ट' नमोद्धारः।

इति कवि० टीकायाम् ४स्त० ३कु० ॥

इति प्राप्ते, ब्रूमः—यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादित्युक्तो यः सोमशब्दस्तेन प्रकरणेन चात्र ज्योतिष्टोमः समर्प्यते, समर्पिते च तस्मिन् यथोक्त ग्रहाग्रत्वं गुणोविधीयते । न च रथन्तरादिगुणानुवादेन ज्योतिष्टोमस्य व्यावृत्तिः सम्भवति, तस्य प्रातःसवनादौ गायत्रादिसामोपेतत्वेऽपि पृष्ठस्तोत्रे रथन्तरादि योमस्यापि सद्भावात् । किन्तर्हि-व्यावर्त्यते ?—इतिचेत्, रथन्तरबृहज्जगतां परस्परं व्यावृत्तिरिति वदामः, रथन्तरादयः पृष्ठस्तोत्रे विकल्पिताः, तत्र रथन्तरानुवादेनेतरौ पक्षौ व्यावर्त्यैते ; एवमितरत्रापि । तस्मादयं गुणविधिः ।

ननु यः प्रकृतो ज्योतिष्टोमः सोऽन्येषां सोमयागानां प्रकृतिः, नहि प्रकृतौ जगत्यामुत्पन्नं साम विहितमस्ति ; अतएव दशमाध्याये पञ्चमपादस्य पञ्चदशाधिकरणे प्रथमवर्णके यदि जगत्सामेति वाक्योक्तमाग्रयणाग्रत्वं विकृतौ विषुवन्नामकेमुख्येऽहनि व्यवस्थापितम् ? वाढम्, व्यवस्थापितम् ; तथापि नात्र कश्चिद्विरोधः, आग्रयणाग्रत्ववाक्यं न कर्मान्तर विधायकम्, कित्वन्येन विहिते सोमयागे यत्र जगत्साम सम्भवति तत्र गुणविधायकम् ;—इत्येतावतएवात्र प्रतिपाद्यत्वात् ॥ २।१।१ ॥

इति प्रथमाधिकरणम् ॥

एवं हि श्रूयते—'राजा राजसूयेन यजेत' तत्रापरमपि अवेष्टिं नामेष्टिमधिकृत्य—'यदि ब्राह्मणोयजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुति माहुतिं हुत्वाभिधारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदिवैश्योवैश्वदेवम्—इति । अत्र प्रत्युदाहरणसङ्गत्या विचार्य्यते । तथाहि पूर्वपक्षः यथा पूर्वं रथन्तरादि वाक्यानां सिद्धे सोमे ग्रहाग्रत्वमात्रगुणविधायकत्वमुक्तम् । तथात्रापि सिद्धे राजसूयावेष्टौ ब्राह्मणादिकर्त्तृकं बार्हस्पत्यादि नियममेव व्यवस्थाप्यते, तथाच पूर्ववदत्रापि कर्मैकत्वम् । न च राजसूयस्य राजैक कर्त्तव्यतयाबाधः, राजशब्दस्य राज्यशासके वृत्तेः ; भवति हि राजा ब्राह्मणः वैश्योऽपि ।

अत समाधानं सूत्रयति ।

(सू०) अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते ॥ २।३।३ ॥

(वि०) 'राजाराजसूयेन यजेत'—इत्यत्र राजशब्देन क्षत्रियः पृथ्वीपतिरेव विचार लभ्यः, तथाच तमधिकृत्ययाया अवेष्टिस्तत्र श्रुताम् यदि ब्राह्मणइत्यादिकम् तत् क्रतुप्रधान मुच्यते क्रत्वन्तरं विधीयते, कुतः ? यज्ञसंयोगात् राजसूयेन यज्ञेन क्षत्रियस्य राज्ञः सम्बन्धात् ; नास्ति हि तत्र ब्राह्मणादेः कर्त्तव्यता यथाच यदि ब्राह्मणइत्यादेः पूर्ववद्गुणविधित्वं भवेत्, इत्यस्य यदित्यादिकं राजसूयादन्यस्यावेष्टि नामकस्य यागस्य विधायकम् । २।३।३ ॥

तदेतद् द्वितीयाधिकरणमारचयति ।

(अ०) राजसूयं प्रकृत्येष्टिरवेष्टाख्याश्रुतात्र । विप्रक्षत्रियविड्भेदाद्धविषां व्यत्ययःक्रमे । विप्रादेरनुवादः स्यात् प्रापणं वानुवादगोः । व्यत्ययाय त्रयाणां च राजत्वात् प्राप्तिरस्तिहि । न राजयोगाद्राजत्वं क्षत्रियत्वं तु तत्वतः । अप्राप्तप्रापणं तस्मान्नरथन्तरतुल्यता ॥ २।३।२ ॥

(टी०) राजसूय प्रकरणे काचिदिष्टिरवेष्टिनामिकाश्रूयते—'आग्नेय मष्टाकपालं निर्वपति हिरण्यं दक्षिणा, ऐन्द्रमेकादशकपालम् ऋषभो* दक्षिणा, वैश्वदेवं चरु पिशङ्गी प्रष्ठौही † दक्षिण, मैत्रावरुणी मामीक्षां वशा ‡ दक्षिणा बार्हस्पत्यं चरुशितिपृष्ठो ** दक्षिणा'—इति ; तस्यामेवेष्टौ हविषां क्रमव्यत्ययः श्रूयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमा हुति हुत्वा तम-

---

* वृषः ।

† पिशङ्गवर्णा प्रथमगर्भा गौः ।

‡ अजातवत्सा गौः, अप्राप्तवयस्का—इति यावत् ।

** यस्य वृषस्य पृष्ठदण्डः कृष्णवर्णः अतीवश्वेतोवा स शिति पृष्ठः—इत्युच्यते ।

भिधारयेद्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्, वैश्योवैश्वदेवम्' —इति। तत्र यथा पूर्वाधिकरणे ऐन्द्रवायवाग्रत्वं व्यवस्थापयितुं यदि शब्दयुक्तेन वाक्येन रथन्तरं निमित्तत्वेनानूदितम्; एवमत्रापि पञ्चमस्थाने श्रूयमाणं बार्हस्पत्यं चरुं मध्ये तृतीयस्थाने स्थापयितुं यदि ब्राह्मणेत्येतन्निमित्तेनानूद्यते, द्वितीयस्थाने श्रुत ऐन्द्रस्य तृतीयस्थाने स्थापयितुं राजन्य इत्यनुवादः, वैश्वदेवस्य तु स्वतएव तृतीयस्थाने- श्रवणात्तत्र मध्येनिधान विधिर्नित्यानुवादः। ननु राजकर्तृके राजसूये ब्राह्मणवैश्ययोः प्राप्त्यभावात्, नानुवादोयुक्तः; इतिचेत्—न, तयोरपि राज्ययोगेन राजशब्दार्थत्वात्।

इतिप्राप्ते, ब्रूमः—राजशब्दः क्षत्रियजातौ रूढः; न तु राज्य योगस्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, प्रत्युत राज्यशब्दस्य राजयोगः प्रवृत्ति निमित्तम्, राज्ञः कर्मेति विग्रह्य राजप्रातिपदिकस्योपरि प्रत्ययविशेषविधानात्; ब्राह्मणवैश्ययोः प्रजापालनेन राजशब्द उपचरितः। तस्मादवेष्टौ ब्राह्मणवैश्यौ पूर्वमप्राप्तौ अनेन वचनेन प्राप्येते।

ननु राजसूयस्य राजकर्तृकत्वात्तदन्तर्गतावेष्टे- ऽरपि तथात्वात् तस्यां ब्राह्मणवैश्ययोः प्रापणमयुक्तम्, इतिचेत्—नैवम्, अन्तरवेष्टौ तदसम्भवे- ऽपि राजसूयाद्बहिः प्रयुज्यमानायामवेष्टौ तत्सम्भवात्।

तस्मादत्र ब्राह्मणादिकर्तृकं यथोक्त गुणविशिष्टं कर्मान्तरं विधीयते—इति न रथन्तरादि तुल्यत्वम्। यदिशब्दस्तु निपातनत्वादनर्थकोऽर्थान्तरवाचिवा—इत्युन्नेयम्॥ २।३।२॥

इति द्वितीयाधिकरणम्।

एवं हि श्रूयते 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—इति। अत्र दृष्टान्तसङ्गत्या आशङ्कते—यथा प्रथमाधिकरणे रथन्तरादि साम्नां सोमे सिद्धत्वात् यदीत्यादि वाक्यानामैन्द्रवायवाद्यग्रत्वनियमार्था श्रुतिः, तथात्रापि अग्न्याधानस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्युक्त-होमक्रिया-निर्वाहकत्वेन सिद्धत्वात् ब्राह्मणादीनां कालादि नियमार्थमेव 'वसन्ते इत्यादीनां श्रुतिः; इति प्राप्ते सिद्धान्तं सूत्रयति।

(सू०) आधाने सर्वशेषत्वात्॥२।३।३॥

(वि०) 'आधाने' अग्न्याधानविषये उक्तानि वाक्यानि प्रापकाणि, कुतः? 'सर्वशेषत्वात्' सर्वेषां कर्मणां शेषभूतम् आधानं यतः, तस्मात्। यद्धि सर्वकर्म शेषभूतम्, न तल्लौकिकं ग्रहितुं युज्यते— अतः शास्त्रीयाग्न्या धान प्रतिपादकानि'वसन्ते'— इत्यादिवाक्यानि अपूर्वाण्येवेति भावः। एवम् 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्येवमादीन्यपि। २।३।३॥

तदेतत्तृतीयाधिकरणमारचय्यस्फुटयति।

(अ०) वसन्ते विप्रआदध्यातवेवोपनयीत तम्। अनुवादः प्रापणं वाऽनुवादः कालसिद्धये। अन्तरेणाग्नि विद्याभ्यां कर्मानुष्ठित्यसम्भवात्। क्लृप्ते आधानोपनीते प्राप्ता विप्रादयस्ततः। लौकिकाग्नेः पुस्तकाच्च तत्सिद्धे नास्ति कल्पनम्। कालविप्रादिसंयुक्तमतो प्राप्तं विधीयते॥१।३।२॥

(टी०) 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नी नादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—इति श्रूयते 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्'— इति च। तत्र वसन्तादिकालविशेषं विधातुं ब्राह्मणादयोऽनूद्यन्ते; न च तेषां प्राप्त्यभावः, क्रत्वनुष्ठानान्यथानुपपत्त्या क्लृप्तत्वात्; नह्याहुत्याधारभूतमग्निम् अनुष्ठानप्रकार—ज्ञापकांविद्याञ्च विना कर्मानुष्ठानं सम्भवति, अग्निश्च नाधानमन्तरेणास्ति;—इति ब्राह्मणादि-कर्तृकमाधानं कल्पयति; विद्याचोपनयन पूर्विकाध्ययन पूर्विकोध्यापनमन्तरेण सम्भवति—इति ब्राह्मणाद्युपनयनं कल्पयति;—इति तत्प्राप्तिः।

इति चेत्—नैवम्, लौकिकाग्नौ होतुं पुस्तकपाठेनाधिगन्तुञ्च शक्यत्वेनाधानोपनयनयोरकल्पने ब्राह्मणादीनामप्राप्तेः। तस्माद् वसन्तादि काल-

विशिष्टे ब्राह्मणादिकर्त्तृके आधानोपनयने अत्र विधीयेते॥ २।३।३॥

इति तृतीयाधिकरणम्।

अथ यदुक्तः संज्ञाकृतकर्मभेदः तस्य प्रकरणाल्लिङ्ग-दर्शनादपवादमभिधत्तुं पूर्वपक्षमवतारयति।

(सू०) अयने चोदनान्तरं सञ्ज्ञोपबन्धात्। अगुणाच्च कर्मचोदना। समाप्तञ्च फले वाक्यम्॥ २।३।५,६,७॥

(वि०) एवंहि श्रूयते 'दाक्षायण यज्ञेन यजेत प्रजाकामः' तदेतदयनवाक्यम्, अत्र 'चोदनान्तरम्, प्रतीयेत, कुतः? 'संज्ञोपबन्धात्'; यथा अथैष ज्योतिरित्यत्र संज्ञाकृत कर्मान्तरता, तथात्रापि स्यादितिभावः। अपि च गम्यत एवात्र कर्मचोदना,' 'अगुणात्'; नह्यत्र कश्चिद्गुणः श्रूयते यं विदध्य गुणविधित्वेन सार्थक्यं लभेत, तथाच वैयर्थ्यभियाऽप्यस्य विध्यन्तरता स्वीकरणीया। अन्यच्च—प्रजाफले दाक्षायणवाक्यं समाप्तम्, तथाच फलसम्बन्धत्वेनोत्पत्ति विधित्वमप्येतस्य सुलभम्। २।३।५,६,७॥

एवंप्राप्ते सिद्धान्तः।

(सू०) विकारो वा प्रकरणात्। लिङ्ग-दर्शनाच्च॥ २।३।८,९॥

(वि०) वा शङ्कानुत्। एषदाक्षायण यज्ञः 'विकारः' दर्शपूर्णमासाधिकारस्य, कुतः? प्रकरणात्, एवञ्च प्रकरणमनु गृहीतं भवेत्। अपिच 'लिङ्गदर्शनात्' लिङ्गमपि दृश्यते 'त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत यदि दाक्षायणयाजी स्यात्' इत्येवमादि, तस्मात्॥ २।३।८,९॥

इदानीं पूर्वपक्षयुक्त-हेतु-निरासः क्रियते।

(सू०) गुणात् संज्ञोपबन्धः। समाप्तिरविशिष्टा॥ २।३।१०,११॥

(वि०) यदुक्तं संज्ञोपबन्धात् कर्मान्तरम्, तन्न; कुतः? 'संज्ञोपबन्धः' 'गुणात्' अन्वाख्यानात् युज्यते; दाक्षायण इति यौगिकः संज्ञा, तथाहि—दक्षः उत्साही तस्य; इमे दाक्षाः, अनयम् आवृत्तिः, दाक्षायणाम् प्रयोगानाम् अयनम् दाक्षायणः, अस्तिहि दर्शपूर्णमासयागे आवृत्तिः, तथाच आवृत्तिगुणसम्बन्धात् स दाक्षायण उच्यते यच्चोक्तम् समाप्तं च फले वाक्यम्—इति कर्मान्तरम्, तदपि न; कुतः?—इत्युच्यते 'समाप्तिरविशिष्टा' सन्ति हि गुणविधयः दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्येवमादयः, तैरविशेषात् नह्यत्र किञ्चिदपि विशेषोलक्ष्यते; दृश्यते तत्र इन्द्रियफले होमविधेः समाप्तिः, परंगुणात् फलम्, तथात्रापि स्यात् प्रजाफले यागविधेः समाप्तिः, फलं तु आवृत्तिगुणादेव। एवञ्च दाक्षायणेति वाक्येन यज्ञावृत्तिर्गुणो विधीयते, न यागान्तरम्। तदेवं साकं प्रस्थाय्ये संक्रमयज्ञे च व्यवस्थाप्यम्। २।३।१०,११॥

तदेतच्चतुर्थाधिकरणंस्फुटयति।

(सू०) यद्दाक्षायण यज्ञेन स्वर्गकामो यजेत तत्। कर्मान्तरं गुणोवोक्तो दर्शादौ फलसिद्धये। गुणस्याप्रसिद्धत्वात् कर्मभेदोऽत्र संज्ञया। गुणोव्युत्पत्ति शेषाभ्यामावृत्याख्योन नाम तत्॥ २।३। ४॥

(वि०) दर्शपूर्णमास प्रकरणे श्रूयते 'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत'—इति। तत्र दाक्षायणशब्दवाच्यस्य कस्यचिद्गुणस्य लोके प्रसिद्ध्यभावादुद्भिदादिवद् यजिसामानाधिकरण्येन कर्मनामत्वात् 'अथैषज्योतिः' इत्यादिवत् अपूर्वसंज्ञक-कर्मान्तर-विधिः।

इतिचेत्—न, दाक्षायण शब्दस्यावृत्तिवाचकत्वात्; तच्च शब्दनिर्वचनाद् वाक्यशेषाच्चावगम्यते, तथाहि—अयनमित्यावृत्तिरुच्यते दक्षस्येमे दाक्षाः तेषामयनम्—इति तन्निर्वचनम्, दक्षउत्साही पुनः पुनरावृत्त वनलस इत्यर्थः, तदीयानां प्रयोगाणामावृत्तिर्दाक्षायणशब्दार्थः। तथाच आवृत्त्यायुक्तः प्रकृतो दर्शपूर्णमासात्मको यज्ञोदाक्षायणयज्ञः।

आवृत्तिप्रकारस्तु—'द्वे हि पूर्णमास्यौ यजेत, द्वे अमावास्ये' इत्यादि वाक्यशेषादवगम्यते। ततोऽध्यादिवत् प्रसिद्धार्थत्वाद्दर्शपूर्णमासयोः प्रकृतयो रयं स्वर्गफलसिद्ध्यर्थम् आवृत्त्याख्य-गुणविधिः, नतूद्भिदादिवत् कर्मनामधेयम्। एवं 'साकं प्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः'—इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अमावास्यायागे द्वौ द्वौ चौ सम्पाद्य चतसृणां दधिपयसोः कुम्भीनां सह प्रस्थापनं साकं प्रस्थाप्यः, तद्युक्तो यागः साकंप्रस्थायीयः। तथासति प्रकृते दर्शयागे पशुफलाय साकं प्रस्थाप्याख्यो गुणो विधीयते।२।३।४॥

इति चतुर्थाधिकरणम्।

एवंहि श्रूयते 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः,' अत्र दृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वपक्षद्वयमाप्नोति; तत्राद्यः।

(सू०) संस्कारस्त्वप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात्॥ २।३।१२॥

(वि०) वायव्यमित्यादिकं 'संस्कारः' गुणविधिः रिति यावत्, कुतः? 'अप्रकरणे अकर्मशब्दत्वात्' किञ्चिन्नामधेयादिप्रकरणमनवलम्ब्य लिङादि कर्मशब्दानन्वितत्वेन श्रुतत्वात्; यदीदं कस्यचित्कर्मणो वदिष्ट स्यात् तर्हि सोमादेः कस्यचिन्नामधेयस्य प्रकरणे यजत्यादिकर्मशब्दान्वितं श्रुतं स्यात्। एवं सति यच्छ्रूयते दर्शपूर्णमासयोः 'ईशामालभेत' इति, तदेवालम्भनमनूद्यानेन वायुश्वेतरूपे द्रव्यदेवते समर्प्येते;—इत्ययं गुणविधिः॥ २।३।१२॥

नन्वेवं भूतिकामेति कामश्रुतेः कागतिः? इत्यन्यथा शङ्कते, तदेवद्वितीयः।

(सू०) यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्॥ २।३।१३॥

(वि०) 'वा' अथवा 'यावदुक्तम्' यथाश्रुतम् अस्तु; तथाच भूतिकामश्चेत् दर्शपूर्णमासविहितमीषालम्भनं (लाङ्गल-दण्ड-वद्दीर्घकाष्ठविशेष स्पर्शनम्) श्वेतगुणकं वायुदेवताकं कुर्य्यात्। एवञ्चायं दध्नेन्द्रियकामस्ये त्यादिवत् नियमगुणविधि अपूर्वविधित्वन्वस्य न सम्भवति; कुतः? 'कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्' श्रुतिमूलं हि भवति कर्म, न चात्र जजेतेत्यादिकं कर्मश्रूयते यतः, ततः॥ २।३।१३॥

अतोभयत्र समाधत्ते।

(सू०) यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात्॥ २।३।१४॥

(वि०) तुः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। अत्र यजतिर्यागो गम्यते, कुतः? द्रव्यफलभोक्तृ संयोगात्; दृश्यतेह्यत्र श्वेतमिति द्रव्यसंयोगः, भूतिकाम-इतिफलभोक्ताच, यतः; अपिच एतेषाम् द्रव्यदेवताफल भोक्तृणाम् भवेदेव कर्म-सम्बन्धः, अन्यथैषामानर्थक्यं प्रसज्येत, तस्मादित्यर्थः। तथाच वायुदेवताकं श्वेतपशुद्रव्यकं भूति-काम-कर्त्तृकं कर्मान्तरम्—इतिसिद्धान्तः॥ २।३।१४॥

हेत्वन्तरेण द्रढयति।

(सू०) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २।३।१५॥

(वि०) 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' अस्यापूर्वविधित्वे लिङ्गमपि दृश्यते यतः। तथाहि श्रूयते—'सौमारौद्रं चरुं निर्वपेत्'—इति प्रकृत्य 'परिश्रिते याजयेत्'—इति परिश्रयणविधिः, एतस्य वाक्ये यजतिशब्देन सङ्कीर्त्तनमवकल्पते, यदि वायव्यमित्यादिवाक्यं यजतिमत्; अन्यथा यजतिशब्देन अनुवादोनावकल्प्येत। एवम् 'सौर्य्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चस कामः' इत्यादि॥ २।३।१५॥

तदेतत्पञ्चमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) वायव्यः श्वेतआलभ्यो भूत्यै-
सौर्य्यं चरुं तथा। निर्वपेद्ब्राह्म-तेजोऽर्थमीषामुष्टि निकृन्तयोः। गुणौःश्वेतं चरुं
किंवा यावत् कथित कर्मणो। फलार्थौ
अथवायोगौ विशिष्टौ विहिताविह।
श्वैत्यं वायुस्तुगोषायामाग्नेये चर विभ्रमे।
चरुंर्गुणस्करःस्थाली निर्वापस्तु तदाश्रितः।
फलहानेर्न तत् किन्तु यावच्चोदितकर्मवत्।
द्रव्यादि रूप सम्पत्तेरवार्यो यागतार्थिकी।
२।३।५॥

सप्तमी ऋक्।

इरिमिरि ऋषिः।

१ ३ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
आयाहि सुषुमा हि तइन्द्र सोमं पिबा
३ २ २उ ३ १ २ ३ १ २
इमम्। एदं बर्हिः सदो मम ॥६४॥

हे 'इन्द्र!' 'हि' यतः वयम् 'ते' तदर्थम् 'सोमम्' 'आसुषुम' आसुषुविम संस्कृतवन्तः, अतः अत्र 'मम' 'सदः' सदसि 'इदम्' 'बर्हिः' अस्मिन् बर्हिषि 'आ। याहि' आगच्छ एत्यच 'इमम्' सोमरसम् 'पिव'। सुषुमेति इडभावो-बाहुलकात्, अन्यात्वञ्च। पिवेति 'द्व्यचोऽतस्तिङः। ६।३।१३५॥' इत्यन्तदीर्घः। इदम्, बर्हिः' सद इति च सुपांसुलुगित्यादिना सप्तम्येकस्य लुकि रूपम्॥ ६४॥

হে ইন্দ্র! যেহেতু আমরা তোমার নিমিত্ত এই সোমরস সংস্কৃত করিয়াছি, অতএব তুমি আমার সমীপস্থ এই বর্হিতে আগমন কর এবং অনন্তর এই সোমরস পান কর ৯৪।

सौभरम्।

५र र २ १ २
आयाहि सू। षुमाहा १ इते २। षु
१ २ १ २ २
माहा१इते २। आइन्द्र सोमम्। पिबाइ-
२ १ २ ३र २ १
मम्। पिबा आ१इमा२म्। एदं बर्हाइः।
२ १र २ १
सदो मा २३ मा ३ ४ ३। ओ २३४५ इ।
डा ॥६४॥

अष्टमी ऋक्।

सत्यधृति ऋषिः।

१ २ ३ १र ३र ३ २ ३ १ २
महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षम् मित्रस्या-
३ २ ३ २ ३ १ २
र्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य ॥६५॥

'मित्रस्य' 'अर्यमणः' 'वरुणस्य' एषाम् 'त्रीणाम्' त्रयाणाम् स्वभूतम् यत् 'महि' महत् 'अवः' पालनम् तत् 'अस्तु' भवतु। कीदृशं तदव इत्युच्यते— 'द्युक्षम्' दीप्तम्, अपि च 'दुराधर्षम्' परैः दुःखेन कृच्छ्रेण यत् धर्ष्यते, कथमपि धर्षितुमभिभवितुं यन्न शक्यते इत्यर्थः। त्रीणामिति त्रेस्त्रयादेशाभावश्छान्दसः॥६५॥

মিত্র, অর্য্যমা, বরুণ—এই দেবতাত্রয়ের সেই পালন গুণপ্রকাশ হউক, যাহা অন্য কোন শত্রুকর্ত্তৃক অভিভূত হইতে পারে না এবং দীপ্ত, মহৎ ॥৯৫॥

पाष्ठौहम्।

३ २ ^ ३ ५ १ — १
महाइत्रा २३४ इणाम्। अवा २ र
३ २^ ३ ५ — १
स्तु। द्युक्षम् मा २३४ इत्रा। स्या २ र्य
३ २^३ ५ २ १र
म्णाः। दुराधा२३४र्षाम्। वरौ हो२३४।
५ ५
वा। णा ५ स्योईहाइ।६५।

नवमी ऋक्।

वत्स ऋषिः।

१ २ ३ १ २
त्वावतः पुरूवसोवयमिन्द्र प्रणेतः।
१ २
स्मसि स्थातर्हरीणाम्।६६।

हे 'पुरूवसो' बहुधन 'प्रणेतः' जगताम् 'हरीणाम्' आत्मीयानाम् अश्वानां 'स्थातः' अधिष्ठातः 'इन्द्र!' 'वयम्' 'त्वावतः' त्वत्सदृशाः 'स्मसि' स्मः असामेत्यर्थः। त्वावत इति 'युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि साहश्ये' इत्यौपसंख्यानिको वतिः। स्मसीति 'इदन्तोमसि।७।१।४६।' इतिमस इगागमः; लोडर्थे लट्। अत्रमन्त्रे सायुज्यमोक्षं ध्वनितम्॥६६॥

হে বহুধন, জগতের প্রণেতা, হরিগণের

অধিষ্ঠাতা, ইন্দ্র! আমরা তোমার সদৃশ হই *।

साकयस्नम्।

त्वावतो ३। हौ३ हो ३१इ। पुरूवसो ३। हौ ३ हो ३१ इ। वयमिन्द्रा ३। हौ ३ हो३१ इ। प्रणेता ३ः। हौ ३ हो ३१ इ। स्मसिस्थाता३ः। हौ३हो३१इ। हरी याइम्। हौ३हो३१२३४५इ। डा।९६।

समाप्ता दशमी दशतिः

* এই মন্ত্রে সাযুজ্য মুক্তি প্রকাশ পাইল।

इति श्रीमद् भगवत् कुथुमर्षि प्रादुष्कृत सामवेदस्य छन्दस्याः

द्वितीयः प्रपाठकः।

श्री सत्यव्रतसामश्रमिरचित ऋषिच्छन्दोदेवतान्वितससाधतिकटीकयाटीकितः

सनामसामपुष्पितः

समाप्तः।

शिवम्।

(टी०) 'सः' परमेश्वरः 'तन्मयः' चैतन्यज्योतिर्म्मयः 'हि' 'अमृतः' अमरणधर्म्मा ईशश्चासौ संस्थश्चेति 'ईशसंस्थः' ईशः स्वामी सम्यक् स्थिति र्यस्यासौ संस्थः। जानातीति 'ज्ञः' सर्व्वत्र गच्छतीति 'सर्व्वगः' 'अस्य' 'भुवनस्य' 'गोप्ता' पालयिता 'यः' 'ईशे' ईष्टे 'अस्य जगतः' 'नित्यं एव' नियमेन 'न अन्यः हेतुः विद्यते' 'ईशनाय' शासनाय। 'तं' 'ह' हशब्दोऽवधारणे 'देवं' परमेश्वरं आत्मनि या बुद्धिः तां प्रकाशयतीति 'आत्मबुद्धिप्रकाशं' 'मुमुक्षुः' 'वै' 'अहं' 'शरणं 'प्रपद्ये' प्रयामि ॥७

(ता०) सोऽस्माकमात्मनि ज्ञानं धर्म्मं बुद्धिञ्च यथाकर्त्तव्यं प्रकाशयति। यथा राजा स्वाधीनप्रजाभ्यो राजनियमान् प्रचारयति, तथा धर्मावहः परमेशोऽपि मनुष्यात्मानं स्वाधीनं प्रकृत्य तत्र धर्मनियमान् समस्तान् प्रकाशयति। वयं शुभबुद्धेरालोचनया कर्त्तव्य-ज्ञानालोकेन आत्म-पटे चिरमुद्रितान् धर्मनियमान् संपठामः समस्तान्, अपिच तदन्वाचरणान् प्रकृत्य भद्राः, साधवः, विनयिनः, सुशीलाः, ईश्वर-प्रियाश्च भवामः। धर्मानुष्ठानेन पुण्य-ज्योतिषा आत्मनि पवित्रे वयं सुनिर्मलात्मप्रसादं लभामहे, अपिच तेनैवात्मप्रसादेन मनसो दुःखजातं प्रणश्यति। वयं धर्मानुरोधेन मानसिक-प्रवृत्तेः हृदि-स्थित-कामनायाश्च प्रतिकूलं गत्वा यथा यथा उन्नता भवेम, यथा यथा पवित्राः स्याम; तथा तथैवास्माकं तत्र पवित्र-स्वरूपेऽनुरागो भवेत्, अपिच तं लब्धुं संसारीय-मृत्युपाशतो मुमुक्षवः सन्तः तस्य शरणमापद्येम ॥ ७ ॥

१२४

(मू०) तस्य ह वाएतस्य ब्रह्मणोनाम सत्यं निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलं ॥ ८ ॥

(टी०) 'तस्य ह वै एतस्य ब्रह्मणः' 'नाम' अभिधानं 'सत्यं'। ब्रह्मणः स्वरूपं दर्शयति। 'निष्कलं' कला अवयवा निर्गता यस्मात् तत् निरवयवं 'निष्क्रियं' अपि स्वयं नियमेन सर्व्वं जगत् प्रशास्ति 'शान्तं' उपसंहृतसर्व्वविकारं 'निरवद्यं' अगर्हनीयं 'निरञ्जनं' निर्ल्लेपं। 'अमृतस्य' मोक्षस्य प्राप्तये 'परं सेतुं' संसारमहोदधेरुत्तरणोपायत्वात्। 'दग्धेन्धनं' 'अनलं' 'इव' देदीप्यमाणं ॥८

(ता०) स एक एव प्रज्ञान घनस्वरूपः, तस्यावयवो नास्ति, तस्यांशोन भवति, नास्ति च तस्य किमपि परिमाणम्। सोऽपरिवर्त्तनीयमङ्गलमुद्दिश्य नियमपटलं संस्थाप्य प्रतिपालति विश्वराज्यम्। स एव सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञः संसारमिमन्निर्वोढुं यस्मै यत्कर्मणो भारं दत्तवान्, स तत् प्राणान्तं वहत्येन; स्वयं सर्वाधिपतिः नियन्तृरूपेण सर्वत्र राजते। तस्य प्राकृतिक नियमेन यथाकालं सूर्यः उदेति, मेघोवारि मुञ्चति, वृक्षाः फलिनो भवन्तिः अपिच तस्य धर्मनियमस्य शासनेन मनुष्याः स्वाधीनाभवन्तो विपथगामिनः प्रभूय धर्म-दण्डं पाप-ग्लानिञ्च सहन्ते, तस्य शरणमापद्य पापतः परित्राणमवाप्नुवन्ति, पुण्यानुष्ठानं च प्रकृत्य धर्म-पुरस्कारेण आत्म-प्रसादेन च पवित्रा भवन्ति, पवित्राश्च सन्तः पवित्रस्वरूप मुपलभ्य संसार-निगडाद् विमुच्य उन्नताभवन्ति। स स्वयं किमपिकर्म न कुरुते, न तस्य कोऽप्यायासः; स निष्क्रियः शान्तः। तस्येच्छामात्रेण जगदेतत् समस्त मुत्पन्नम्, अपिच तस्यैकेच्छावशेनकश्च वह्नरूपःकश्चन स्वाधीनः सन् सम्पादयति तदीय-कर्म। स संसारस्य कर्त्ता, अपिच संसारादतीतः; स स्वयं सांसारिके कस्मिन्नपि कार्य्यें न लिप्यते; स निरञ्जनः, निर्लिप्तः। स पूर्णस्वरूपः, तस्य स्वरूपे नास्ति किमपि दूषणम् स निरवद्यः, अनिन्दनीयः। तस्यैव शरणमापद्योपगते तस्मिन् न पुनर्मृत्युभयस्तिष्ठति, सोऽमृतस्य परम-सेतुः। ये च तं ज्ञानचक्षुषा पश्यन्ति, ते तं सर्वत्र ज्वलन्त मनलमिव प्रकाशवन्तमीक्षन्ति ॥ ८ ॥

१२५

(मू०) ससेतुर्व्विधृतिरेषां लोकानाम-

सम्भेदाय। नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः न जरा न मृत्युर्न शोकः ॥ ६ ॥

(टी०) 'सः' ब्रह्मात्मा सेतुरिव 'सेतुः' 'विधृतिः' विधरण अनेन हि सर्व्वं जगत् विधृतं। अध्रियमानं हीश्वरेणेदं विश्वं विनश्येत यतस्तस्मात् ससेतु र्व्विधृतिः। 'एषां' भूरादीनां 'लोकानां' 'असम्भेदाय' अविदारणाय अविनाशायेत्येतत्। 'न एनं सेतु' ब्रह्मात्मानं 'अहोरात्रे' सर्व्वस्य जनिमतः परिच्छेदकौ 'तरतः'। यथा अन्ये संसारिणः कालेन अहोरात्रादिलक्षणेन परिच्छेद्याः न तथा अयं कालः परिच्छेद्यः। एनं 'न जरा' तरति प्राप्नोति तथा 'न मृत्युः' 'न' तु 'शोकः' ॥ ६

(ता०) सर्व्वलोकाश्चुर्णीभूतामाभुवन् इत्यत एतत्समस्तं दधाति। स नित्य-पदार्थः; सोऽस्मिन् दिवसेऽजनत्, एतावत् कालं वर्त्तते, अमुं दिवसं यावत् स्थास्यति, एवमहोरात्रेण तं परिमातुं न युज्यते। स निर्व्विकारः, सुतरां जराशोकोऽपि तंनाधिकर्त्तुं शक्यते। यः कालस्य स्रष्टा अपिच आश्रयः किञ्च नियन्ता, कालस्तं कथमतिक्रमेत्, यस्य शरणमापन्ने जरा-मृत्यु-शोकतः परित्राणमाप्नुयात्, त मन्मृतस्वरूपं जरादयः कथमधिकुर्य्युः ॥ ६ ॥

१२६

(मू०) यश्चात्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्व्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः। स सर्व्वांश्च लोकानाप्नोति सर्व्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति ॥ १० ॥

(टी०) 'यः' 'आत्मा' ब्रह्मात्मा 'अपहतपाप्मा' 'विजरः विमृत्युः विशोकः' विजिघत्सः' जिघत्सा अत्तुमिच्छा तद्रहितः 'अपिपासः' पिपासावर्ज्जितः 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'। 'सः अन्वेष्टव्यः सः विजिज्ञासितव्यः'। किं तस्यान्वेषणात् विजिज्ञासनाच्च स्यात् इत्युच्यते 'सः सर्व्वान् च लोकान् आप्नोति सर्व्वान् च कामान् यः तं' 'आत्मानं' ब्रह्मात्मानं 'अनु विद्य' अन्वेष्य 'विजानाति' ॥१०

(ता०) वयमपूर्णभ्रान्ताः पापाक्रान्ताजीवसामान्याः सन्तस्तं पापशून्यं परिशुद्धंपरिपूर्णं सत्यमव्ययपुरुषमवगन्तुं शक्यन्ते, नैषोऽस्माकं सामान्यसौभाग्यविषयः। परन्तं वेतुमस्माकमिच्छा-यत्न-चेष्टादिक मैकान्तमावश्यकम्। यथा तृषितमृगा-जलमन्वेषयन्ति तथा तस्य भुत्र-सत्यात्मता मृतपुरुषस्य प्रार्थिनोभवन्त स्तमनुसन्दध्युः; अपिच यथा करतलन्यस्तं फलं प्रत्यक्षतामुपगच्छति, तथा तं विशुद्धज्ञानेन निःसंशयमति निकटस्थं प्रत्यक्ष ज्ञातुमिच्छेत्। संयतेन्द्रियोभवन् बह्वन्वेषणान्तरं स्वीय-निर्दोष-ज्योतिर्मय आत्मन अभ्यन्तरे आत्मन आत्मनि प्राणस्य प्राणे सर्व्वस्य कारणे आश्रये च तस्मिन्प्रत्यक्षीकृते, यथा तृष्णार्त्तो मृगोजलमवाप्य परितृप्तोभवति, तथासोऽपि परितृप्तोभवेत्; तस्य सर्वाः कामनाः संसिद्धेरन्, भूरादि-सकल-लोकस्य फलं लभ्यं भवेत्; स ब्रह्मानन्दमवाप्य सर्वानानन्दानुपभुंक्ते ॥ १० ॥

१२७

(मू०) आकाशोवै नाम नामरूपयोर्निर्व्वहिता। ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं। ११ ॥

(टी०) 'आकाशः वै' ब्रह्मणः 'नाम' 'अभिधानं' आकाश इवाशरीरत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च सः परमात्मा आकाशाख्यः। 'नामरूपयोः' 'निर्व्वहिता' निर्व्वोढा 'ते' नामरूपे 'यदन्तरा' यस्य अन्तरा विलक्षणे 'तत् ब्रह्म'। यदि तद्ब्रह्म नामरूपाभ्यां विलक्षणं अस्पृष्टं तथापि तयोर्निर्व्वोढा। 'तत् अमृतं ॥११

(ता०) मनोयदा ब्रह्मणस्तमनन्तभावमनुभवति, तदा वाक् तं व्यक्तुमिच्छति तन्नाम आकाशइत्युच्यते। वस्तुतो न तस्य किमपि नाम विद्यते, रूपमपि न वर्त्तते; नाम-रूप-विशिष्टायावन्तएव पदार्थास्तस्यैवाश्रये पालिता भवन्ति॥ ११ ॥

१२८

(मू०) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्योन चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ १२॥

(टी०) 'न एव वाचा न मनसा' 'न चक्षुषा' नान्यैरपि इन्द्रियैः 'प्राप्तुं शक्यः' शक्यते केनचित्। तस्मात् 'अस्ति इति ब्रुवतः' अस्तिवादिनः आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानात् 'अन्यत्र' नास्तिकवादिनि नास्ति जगतोमूलं ब्रह्म निरन्वयमेवेदं कार्य्यमिति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि 'कथ 'तत्' ब्रह्म 'उपलभ्यते' न कथञ्चन उपलभ्यते॥१२

(ता०) परमेश्वरस्य स्वरूपोऽद्दृश्योऽनिर्वचनीयोऽचिन्त्यः। चक्षुषा उत वाक्येन उत मनसा न स उपलभ्यते; एकेनात्मप्रत्ययेनैव स प्राप्यते। वयमपूर्णाः परतन्त्राः-इत्येवं यद्द विश्वसामः—तदन्तर्भुतोऽस्त्येषोपि विश्वासः—अस्ति कश्चनः स्वतन्त्रः पूर्णःपदार्थइति; यतो यद्येकः स्वतन्त्रः पूर्णः-कश्चनपदार्थो नस्यात्, तर्हि यत् स्वान् अपूर्णान् परतन्त्रान् विश्वसामो न तस्य काऽपिभूमिः। परतन्त्रस्य अपिचा पूर्णस्य पदार्थस्यास्तित्वेनैकस्य स्वतन्त्रस्यापूर्णस्यास्तित्वं बुद्ध्यते—एष विश्वासः स्वतः सिद्धः, यतोऽस्य परीक्षा-सापेक्षत्वं न विद्यते। सर्व्वेषामात्मनि एषस्वाभाविक आत्मप्रत्ययः, यत्—परतन्त्रस्या पूर्णस्य स्रष्टा आश्रयः अस्ति कश्चित् एकः स्वतन्त्रः पूर्णः पुरुषइति। यदाऽस्मिन् विषये कश्चन संशयोभवेत्, तदैव युक्तिविचार आपतिष्ठेत; परन्तु तद्विचारानन्तरमप्येषसिद्धान्तो भवेत्, यत्—वाक्य-मनसोरतीतः, ज्ञान-गोचरः, स्वतन्त्रः, पूर्णः, अस्त्येकः पुरुषः; यतो यदाऽस्माकं निर्म्मल ज्ञानेन सत्यः सुन्दरः मङ्गलः पुरुषः प्रकाश्यते, तदात्म-प्रत्ययस्तस्यास्तित्वे विश्वास मुपस्थापयति। एन मात्मप्रत्ययं प्रति संशयमाचिकीर्षिते एकदैव युक्तेर्मूल-च्छेदनं कृतं भवेत् अपिच महता भ्रमेण भ्रान्तः स्यात्। तथाच स्वस्यास्तित्वे, वाह्यवस्तुनामस्तित्वे, कार्य्य-कारणास्तित्वे च संशयोत्पत्त्या बुद्धिरेकदैव विनाशमापद्येत। यः खल्वात्मप्रत्ययस्योपरि न निर्भरं करोति, स कदापि ज्ञानगोचरं नित्यं सत्यं मङ्गल-स्वरूपं सर्वव्यापिनं सर्वाश्रयं सर्वशक्तिमन्तं पूर्ण-पुरुषं न निःसंशयं विश्वसितुं शक्यते, प्रतितर्कस्य तरङ्गेण सोऽस्थिरो भवेत् अपिच न तेनेश्वर-सहवासजनित-सुनिर्मला शान्तिः कदाप्यवाप्यते। आत्मप्रत्ययबलेन य-कश्चनब्रूते—अस्ति सः, तदन्येन न स उपलभ्यः कदापि॥ १२॥

१२९

(मू०) यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततोविजुगुप्सते॥ १३॥

(टी०) 'यदा'-यस्मिन् काले 'एतं' 'आत्मानं' ब्रह्मात्मानं 'देवं' द्योतनवन्तं 'ईशानं' ईशितारं 'भूतभव्यस्य कालत्रयस्य 'अञ्जसा' साक्षात् 'अनुपश्यति' तदा 'ततः' तस्मादीशानात् देवात् स्वकीयात्मानं 'न' 'विजुगुप्सते' विशेषेण जुगुप्सते गोपायितुमिच्छति॥१३

(ता०) यः कश्चन पाप्मना लिप्तः, सएवात्मानं गोपितुमिच्छति; यदिचात्मान मन्यस्य समया गोपनं शक्यपरम्, परं सर्वेषामात्मनः सर्वद्रष्टः पुरुषस्यान्तिके न कदापि गोपितुं क्षमते। यः प्रकाश-

वान् भवद्-भूत-भविष्यतां नियन्तारं परमात्मानं करतलन्यस्तमामलकमिव सुखं पश्यति न स केनाऽपि दोषेण लिप्तुमिच्छति ; ततश्चात्मानमपि न ततो विजुगुप्सते । मोहवशेन स यदि कदापि केनापि दोषेण लिप्तोभवेत्, तर्हि न स ततो तद्‌-घणं गोपितु मभिकांक्षति ; परं तस्माद्धि दोषात् स्वोद्धारकामः सरल-हृदयेन सन्तापित-चेतसा तदन्तिके प्रार्थनां कुरुते, सोऽपि तं ततोमुञ्चति । १३ ॥

इति ।

पञ्चदशोऽध्यायः ।

१३०

(ता०) नाविरतोदुश्चरितान्नाशान्तो-न्नासमाहितः । नाशान्तमानसोवापि प्र-ज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ १ ॥

(टी०) 'न' 'दुश्चरितात्' पापकर्म्मणः 'अविरतः' अनुपरतः 'न' अपि इन्द्रियलौल्यात् 'अशान्तः' 'न' अपि 'असमाहितः' अनेकाग्रमनाः' विक्षिप्त-चित्तः । 'न वा अपि' 'अशान्तमानसः' कर्मफला-र्थित्वात् केवलं 'प्रज्ञानेन' 'एनं' ब्रह्मात्मानं 'आप्नु-यात्' । यस्तु दुश्चरितात् विरतः इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः कर्मफलादप्युपशान्तमानसश्चाचा-र्य्यवान् सः प्रज्ञानेन परं ब्रह्म प्राप्नोति ॥१

(ता०) प्रियतम-परमात्मानं ज्ञातवान् ; परं तत्र न कदापि मनः समाहितवान्, नापितत्सदा-ध्यात्मयोगस्य विमलमानन्दमास्वादितवान् अपिच तं महान्तं विशुद्धं ज्ञात्वापि तत् सहवासेन स्वच-रित्रं महान्तं विशुद्धं च प्रकृत्य नोपयुक्तोऽभवम् ; तं नियन्तारं विधातारं विदित्वापि च न तत्प्रद-र्शितपुण्यपथि कदापि विचरितवान् ; स्वार्थपर-तामेव चरितार्थयितुमस्यामाजन्मकालम् ; एवञ्च तमवोमुं पुनः का सम्भावना ? ॥ १ ॥

१३१

(मू०) श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्प-रीत्य विविनक्ति धीरः । तयोः श्रेय आ-ददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थात् यउ प्रेयोवृणीते ॥ २ ॥

(टी०) 'श्रेयः' निश्श्रेयसं 'च' 'प्रेयः' प्रियतरं 'च' 'मनुष्यं' 'एतः' आप्नुतः । 'तौ' श्रेयःप्रेयः पदार्थौ 'संपरीत्य' सम्यक् परिगम्य सम्यङ्मनसा-लोच्य गुरु लाघवं 'विविनक्ति' पृथक् करोति 'धीरः' धीमान् । विविच्य च 'तयोः श्रेयः' 'आददानस्य' उपादानं कुर्व्वतः 'साधु' शोभनं शिवं 'भवति' 'यः उ' यस्तु 'प्रेयः' 'वृणीते' उपा-दत्ते सोऽदूरदर्शी विमूढः 'हीयते' वियुज्यते 'अर्थात्' पुरुषार्थात् पारमार्थिकात् प्रयोजनात् नित्यात् ।। २

(ता०) ईश्वर-मार्गानुसरणं श्रेयः, सांसारिक-सुख-निमग्न-भवनं प्रेयः । कदातु ईश्वर-मार्ग मवलम्बितुं स्पृहा भवति, तदापुनः सांसारिक-सुखं मन आकर्षति । अत य ईश्वर-पथमनुस-रति, तस्य परमं मङ्गलम् ; यः पुनः सांसारिक-सुख-निमग्नोभवति, स न कदापि तत् परमं पवित्रं ब्रह्मानन्दं लब्धु मुपयुंक्ते । य ईश्वरं तोषयति, स तस्यैव परमप्रेमास्पदस्याभिमतं कार्य्यमितिधिया, सांसारिकं निर्वहति ; यस्तु संसारासक्तः, स सांसारिक-सुखाय परममङ्गलालयमीश्वरमुपासते। संसारासक्तस्वार्थपरो मनसा नैतद्वक्तुं शक्यते, यत् 'हे परमात्मन् ! त्वदनुज्ञया लोकहिताय त्वत्प्रीत्यैच संसारयात्रां निर्वोढुं प्रवृत्तोऽहम्' इति । यदा सोत्साहमेवं लपितुं चमेथाः अपिचैतदेव समस्त-कार्य्याणामेकं लक्ष्यं भवेत्, तदा जानीयाः—तव सम्यक् श्रेयोऽवलम्बनं सम्पन्नमिति ॥ २ ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

ब्रह्माण्डकारणकरणाद्यलिप्तशुद्धात्मतत्त्वसिन्धुं समशक्तिमन्तम् । बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।
राजतादसौ सुचित्तचित्प्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०) [September, 1869.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १) [२५ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

সম্পাদকীয় বিজ্ঞাপন ।

প্রত্নকম্রনন্দিনী এই পত্রিকার বার্ষিক অগ্রিম মূল্য ৯, টাকা নির্দ্দিষ্ট আছে, কিন্তু গ্রাহকদিগকে মাশুলের সহিত ৯৸৹ দিতে হয় ; অদ্য এই নিয়ম পরিবর্ত্তিত হইয়া বার্ষিক অগ্রিম মাশুল সমেত ১০, টাকা স্থিরীকৃত হইল। যদিচ ইহাতে গ্রাহকদিগকে (।৹) একসিকি অধিক দিতে হইবে কিন্তু টাকা পাঠাইতে তাঁহাদিগের অনেক সুবিধা হইবে এবং আমরাও টিকিটের দৌরাত্ম্য হইতে অব্যাহতি পাইব। প্রতিখণ্ডের মূল্য যাহা নির্দ্দিষ্ট আছে তাহাই থাকিল, প্রেরণ-ব্যয় পৃথক দিতে হইবে না। যাঁহারা তিনমাসের মধ্যে আগ্রিম বার্ষিক প্রদান না করিবেন, তাঁহাদিগের নিকটে (অনির্দ্দিষ্টসময়ে আবশ্যকমতে) প্রতি খণ্ডের মূল্যানুযায়ী বিল প্রেরিত হইবে, এবং তাঁহাদিগেরও উচিত হইবে যে অবিলম্বে প্রাপ্য প্রদান করিয়া কৃতজ্ঞ রাখিবেন।

১৮৬৯ সেপ্টেম্বর আরভ্য।

অগ্রিম বার্ষিক মূল্য ১০টাকা। প্রতিসংখ্যার মূল্য ১টাকা।

গ্রাহক বৃদ্ধ্যনুযায়ী ইহার অবয়ব পরিবর্দ্ধিত হইবে; কিন্তু মূল্য ইহাই থাকিবে।

বিগতবর্ষে কয়েকটি অনিবার্য্য প্রতিবন্ধকে যথাকালে পত্রিকা প্রকাশ পায় নাই, আমরা তন্নিমিত্ত অত্যন্ত লজ্জিত আছি।

আমাদিগের পত্রীতে প্রকাশ্যমান সন্দর্ভগুলির পৃষ্ঠাঙ্ক ভিন্ন ভিন্ন সুতরাং বণ্টনদোষে কোন এক অংশ না পাইলেও গ্রাহকেরা উপলব্ধি করিতে সক্ষম হয়েন না ; এই নিমিত্ত ২৭ সংখ্যা আরভ্য আরম্ভ পৃষ্ঠায় এক একটি সূচী দেওয়া যাইবে, তদ্দৃষ্টে তাঁহারা নিজপ্রাপ্য বুঝিয়া লইতে পারিবেন।

১৮৭০ জানুয়ারী আরভ্য পত্রিকার অবয়ব বর্দ্ধিত হইতে পারে, তৎকালাবধি 'সামবেদ' প্রতিসংখ্যায় ৮পৃষ্ঠা থাকিবে।

আর ৫০ কাপির গ্রাহক স্থিরীকৃত হইলেই ৮ফারমা অবয়ব করা যাইবে।

প্রথম কয়েক খণ্ডে 'কবিকল্পলতা' ও 'মীমাংসাদর্শন' বিচ্ছিন্নরূপে প্রকাশিত হইয়াছে, তাহাই পুস্তকাকারে বাঁধাইবার প্রতিবন্ধকতা করিতেছে ; এ নিমিত্ত আমরা যত সত্বর পারি ঐ অংশ সকল শোধন পূর্ব্বক ভিন্ন ভিন্ন মুদ্রণ করাইয়া গ্রাহকগণের সম্মুখীন করিব, তখন তাঁহারা অনায়াসে এক এক খানি গ্রন্থ পৃথক বাঁধাইয়া লইতে পারিবেন। অপরঞ্চ তৎসহকালে আদ্যোপান্ত যাবৎ সংখ্যক প্রত্নের একখানি সূচীপত্রও প্রচারিত হইবে, তদ্দৃষ্টে যিনি যাহা পান নাই অথবা হারাইয়াছেন তাহা জানিয়া জানাইতে পারিবেন।

আমরা মস্তিষ্কের অপরিমিত পরিচালনায় বহুতর উদ্বেগসহকৃত যত্নে এই পত্রীর সম্পাদন করিয়া থাকি, গ্রাহক মহোদয়েরা ইহার প্রতি সকরুণ দৃষ্টি রাখিলেই কৃতকার্য্য হই। ইহার অকালমৃত্যুশঙ্কা এক প্রকার দূরীকৃত হইয়াছে এবং ভবিষ্যমাণ উন্নতিও আশাপথে লক্ষিত হইতেছে, কিন্তু অদ্যাপি আমরা নিরুদ্বেগ হইতে পারি নাই, সতত সশঙ্ক থাকি। আমাদিগের যতগুলি গ্রাহক আছেন প্রায় সকলেই সুপ্রসিদ্ধ ধনী, বিদ্যোৎসাহী অথবা বিবিধবিদ্যাবিশারদ ; যদি সকলেই স্ব স্ব দেয় যথাকালে প্রদান করেন তবে আমাদিগের কিছুমাত্র উদ্বেগের বিষয় থাকে না। গ্রাহক বৃদ্ধ্যনুযায়ী গ্রাহকহ্রাস না হইতে থাকিলে এতদিনে আমরা সর্ব্বপ্রকারে গ্রাহকগণের মনোরঞ্জন করিতে সমর্থ হইতাম। যে সকল মহাশয়েরা এ অবস্থায় এ পত্রী ত্যাগ করেন তাঁহারা কেবল আমাদিগের অনুষ্ঠানের বাধাকারী হন এরূপ নহে, এতাবৎকাল প্রত্নেরদ্বারা তাঁহাদিগের পুস্তকাগারে যে সকল গ্রন্থ সংগ্রহীত হইতেছিল তৎসমস্তের অসম্পূর্ণতাও তাঁহাদিগের অনল্পক্ষোভের নিমিত্ত হইয়া উঠে। উপসংহার কালে বিজ্ঞাপ্য—এপর্যন্ত আমরা গ্রাহক বলিয়া যাঁহাদিগের সাহায্যের প্রত্যাশা করি, যদি তাঁহারা যথাসময় আনুকূল্য বিতরণে কার্পণ্য না করেন তবে আমরা বর্ষদ্বয়ে অবশ্যই যথোচিত ফললাভের অধিকারী হইব ; তখন এই পত্রী নিম্নলিখিত শ্লোকের সর্ব্বাংশ সার্থক করিতে সক্ষম হইবে।

"সৎসটীকসাঙ্গবেদদর্শনাদিকাশিনী,
সাধুবোধবর্দ্ধিনী হ্যনেকশাস্ত্রশালিনী।
রাজতাদসৌ সুচিত্তচিৎপ্রফুল্লকারিণী,
প্রত্নকম্রনন্দিনী চিরং ধরাবিহারিণী ॥

(প্রত্নের শিরোভাগে)

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी । कलिकातां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

नमः

समालोचनम्।

नवति शकाब्दीयाषाढपूर्णिमामारभ्यैकनवतिशकगतभाद्रपूर्णिमां यावत् संस्कृतवङ्ग-भाषाविनिर्मिता ये ग्रन्थादयउपहाररूपाः प्रलब्धाः, तत्प्रणेतृणां वयं कृतज्ञाश्चिरम्, परमत्राल्पायतनपत्रिकायां न तेषां समस्तानां यथायथं वर्णनं युज्यते, अतः कतिपयानेवाद्य समालोचयितुमुपतिष्ठामहे।

शब्दस्तोममहानिधिः।—संस्कृताभिधानम्; सुप्रसिद्ध श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिना सङ्कलय्य परिशोध्य च कलिकातायां नूतनसंस्कृतयन्त्रे मुद्रयितुमारब्धम्। साम्प्रतमस्य प्रथमखण्डं द्वितीयखण्डञ्च क्रमात् प्रकाशितम्; तत्र प्रथमखण्डमस्माभिराद्यन्तमेकदासमालोच्यातीवानन्दोऽभिगतः, प्रार्थ्यते च निर्विघ्नसमापनमीश्वरः। अत्र प्रथममकारादिवर्णानुसारतः स्थूलाक्षरेण शब्दानां स्वरूपप्रदर्शनम्, ततः क्षुद्राक्षरेण सङ्केतविशेषेण लिङ्गप्रदर्शनम्, ततोऽवयवार्थ-प्रदर्शनम्, ततोव्याकरणप्रक्रिया, ततोऽर्थ-विशेषकथनम्, यदर्थविशेषे लिङ्गभेदः प्रकृतिप्रत्ययभेदश्च ते परतोदर्शिताः; शब्दानां मूलीभूतधातूनपि शब्दक्रममध्ये एव निविश्य तेषामर्थः, गणभेदः, पदनियमः, इट्शून्यतादि, सकर्मकत्वादि, लटि लुङि च रूपमपि दर्षितम्। समाप्ते चामुष्मिन् कोषे चिरन्तना खलु देववाणी वलशालिनी प्रभूतानायासतः सकल-जन-नयन-विहारिणी भवत्यार्य्य-कल्याण-परिवर्द्धिनी भविष्यतीत्याशास्महे, इत्यञ्चैतदारंभणं संस्कृतोन्नति-दिदृक्षूणामतीव हर्षप्रदम्। मुद्रणमप्येतस्यातिसुन्दराक्षरैरतियत्नपूर्वकं नयनप्रीतिमावहकमित्ययं सर्वथोत्तमः।

अथ यद्यपि प्रशंसितस्य दोष-प्रदर्शनं श्रुति-कटुकम्, तथापि यथाचास्य कार्य्यंषे दूषणं नाधिकुर्य्यादिति धिया प्रकाशितांशस्थितामिव स्वाक्षमाणामुत्तर-ग्रन्थ-दुष्टतामपह्नोतुमेतद्विधुगताङ्ककल्पमपि यथायथं बोधयन्नुपदिशामोऽधुना।

तथाच—

ग्रन्थारम्भपृष्ठायां प्रथमपंक्तौ 'श्रुत्यार्थाधिगमम्' इह द्वितीयः स्वरोदीर्घः समीचते, अर्थतोभव्यस्तु ह्रस्वः, तदेवं मुद्राकरप्रामादोयथाऽत्र न स्यात्तथा यतितव्यम्। धातुस्वरूपं प्रदर्श्य तदर्थकाशनात् पुरस्तात् धातुरसाविति केनचिल्लिङ्गेन ज्ञापनीयम्, तथाच धात्वर्थान्वेषिणां झटिति दृष्टिमाकर्षयेत्, धातुशब्दयोर्भेदश्चाङ्गीकृतःस्यात्।

एकस्मिन्नेवार्थे व्यवह्रियेते च यौ तयोरर्थभेदमुररीकरणं दुःसहम्। यथा अकिञ्चनशब्दस्य दरिद्रेवृत्तिरित्युक्त्वा पुनः निर्द्धने चेति चकारोपादानात् दरिद्रनिर्द्धनयोर्भेदउक्तः; यद्यपि दरिद्रनिर्द्धनयोः प्रकृत्यर्थगतभेदोऽस्ति किञ्चित्, किन्तु तथा वक्तुमुद्यतेन पर्य्यायशब्दानां समस्तानामेव परस्परं प्रकृत्यर्थगतभेदः परिदर्शनीयोभवेत्।

दर्शनशास्त्रादिप्रतिपादितपारिभाषिकशब्दानामर्थकथनावसरे स-प्रमाणं तत्कीर्त्तनं दर्शकानामधिकतर-प्रीतिदम्। यथा अधिकारविधिशब्दस्य मीमांसाप्रसिद्धस्य अर्थस्तु लिखितोऽस्ति सम्यक्, तथा तदर्थे विनिगमकं ग्रन्थनामाद्यप्युपपादनीयम्।

येषां शब्दानामर्थबोधे दृष्टान्तस्वरूपोदर्शनीयः, तत्र तथैव सुखयितव्यम्। यथा अन्योन्याश्रयशब्दादेः।

येषां शब्दानामर्थ-द्वयमर्थ-त्रयं वा सुप्रसिद्धम्, तेषां तत् समस्ताएवार्थाउपपादनीयाः; यत्रार्थद्वये व्युत्पत्तिद्वयमावश्यकम् तत्र तद् द्वयमेव दर्शनीयम्। यथा अन्तच् शब्दस्य एकोऽर्थोलिखितः, सामरूपार्थस्तु सुप्रसिद्धः परं न सउपपादितः, तदनुयायिव्युत्पत्तेस्तु का कथा। अपरञ्च तस्य अनुपनीते बालके वृत्तिरिति लिखितम्, तदन्याय्यम्,

यतोऽत्र च-शब्दो वेदाध्ययन-रहित-ब्राह्मणमात्रे मन्वादि-प्रसिद्धोव्युत्पत्तिलभ्यश्च।

प्रायः सर्वत्र प्रमाण-नामास्फुटं कीर्त्तितम्, परं व्यक्तीकरणमावश्यकम्। यथा आश्रम-शब्दस्यार्थ-कथनावसरे 'कलौ तु ब्रह्मचर्य्यवानप्रस्थौ न स्तः गृहस्थभिक्षुकावाश्रमावेव 'गृहस्थो भिक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौ युगे'—इति स्मरणात्'—इत्येवं लिखितम्, परमत्र केन स्मृतमिति नोल्लिखितम्, एवञ्च तस्य प्रमत्तगीतता प्रसज्यतएव। वस्तुतः कलौ यावज्जीवनब्रह्मचर्य्यमेव निषिद्धम्, उपनयनानन्तरं वेदाध्ययनसमाप्तिं यावद् ब्रह्मचर्य्यन्तु सर्वस्मृति-सम्मतम् इत्यलम्॥

सर्वत्रैव गुणोदोषश्च विद्यते, तत्र क्वचित् कस्यचिदाधिक्यम्, अत्यल्पसंख्यकस्यैव परिगणनं सुकरमिति यत्र यदंशस्याल्पता सएवांशः संक्षेपकरैः परिसंखनीयइत्येतस्य वागर्थनिर्णायक-ग्रन्थ-रत्नस्य दूषणान्येव परिगणितानि, गुणानि तु बहूनि अनसूयमतिभिर्विवेचनीयानि॥

२। **तुलादानादिपद्धतिः**—सएव तर्कवाचस्पतिरस्य सङ्गृहीता; अस्याद्यखण्डोमुद्रितः; अत्र तुलादानस्यानुष्ठानं सुष्ठु स्थितम्, मन्त्राश्चेह यथास्थानं सर्वावयवैर्निगदिताः, ततएषा यजमानयाजिनां बहुपकारसाधिका॥ यद्यपि चात्र प्रूफ्-शोधनदोषात् सामान्यनधीतिदोषाच्चास्तिकलङ्कं परम्, तथापि बङ्गाक्षरमुद्रितत्वान्नाधिकदोषावहा, यतो बङ्गदेशे वैदिकमन्त्रशुद्धिः प्रायोऽदृश्यैवेति तत्रैतावदेवश्रमोवाचस्पतेर्बहु मन्यतेऽस्माभिः।

३। **धातुरूपादर्शः**—अयमपि तत्सङ्कलितः। अत्राकारादिक्रमेण प्रायः समस्त-धातूनां तिङन्तरूपाणि दर्शितानि, कृदन्तरूपाण्यपि प्रसिद्धानि बहूनि दर्शितानि। ततोधातूनां प्रत्ययभेदे रूपभेदध्रौव्यनिश्चयाय व्युत्पित्सूनामत्र प्रवृत्तिः साधीयसी।

४। **शब्दार्थरत्नम्**—एतदपितेनैव विद्वता प्रकाशितम्। एषव्याकरणस्य प्रकरणग्रन्थः, भूषणमञ्जूषाद्युक्त वैयाकरणमतसिद्धाः पदार्था अत्र विद्यन्ते। तर्कवाचस्पतिना यावन्तोग्रन्थाः प्रकाश्यन्ते तेष्वेषएव प्रणीतः, अस्य प्रणयनेऽस्ति च व्याकरण-विद्यायाः परिचयोयथेष्टः। ग्रन्थवर्य्योऽसौ वैयाकरणमतजिज्ञासूनां बङ्गदेशीयानाम् महोपकारसाधकः।

५। **तत्वविद्या**—विद्वद्वर-कृतविद्य-श्री-द्विजेन्द्रनाथ-ठाकुर-महोदय-प्रणीता। अस्य प्रथमखण्डत्रयं मुद्रितं प्रचारितञ्च पूर्वम्, अन्तिमखण्डन्तु तत्वबोधिन्यां क्रमशः प्रकाशितम् सम्प्रति दानार्थं पुस्तकाकारेण मुद्रितम्। अस्याः किल तत्वविद्याया निर्माणे असाधारणधीषणायाः परिचयः परिलक्ष्यते। अयंहि नास्तिकास्तिक-भाषित-समस्त-दर्शन मतमनपेक्ष्य स्वतन्त्ररीत्या निर्मितः। अकुटिलधीभिर्दर्शन-विद्भिरध्यापितो भविष्यति ज्ञानचक्षुरुन्मीलकः। बङ्गभाषायामीदृगभिनव-दर्शनं केनाऽपि प्रणीतं न वेति सन्देहः।

६। **रामायणम्**—महर्षिवाल्मीकि प्रणीतम्, रामानुजकृतटीकासमेतम्, सुविज्ञ-श्री-हेमचन्द्र-भट्टाचार्य्येण संशोध्य बङ्गभाषयानूद्य च कलिकातायां काव्यप्रकाशयन्त्रे खण्डशोमुद्रयित्वा प्रकाश्यते, सप्तमसंख्यापर्य्यन्तं प्रकाशं गतम्। इदं हि सर्वथा अत्युत्तमम्, मूल्यञ्चास्यात्यल्पमेव।

७। **वादिविवादभञ्जनम्**—नवद्वीपनिवासि-स्मार्त्ताग्रगण्य-गौड-मान्य-श्री-ब्रजनाथ-विद्यारत्न-भट्टाचार्य्येण धर्मशास्त्रसंहितादिभ्यो राजकार्य्योर्ह-वचनानि समुद्धृत्य गौडीयभाषया चानूद्य सङ्कलय्य प्रकाशितम्। अत्र राजधर्म-निरूपणादि-जयपत्रलेखन प्रकारान्ताश्चतुर्विंशतितमा विषयाः सुनिर्णीताः स्थिताः। ततश्चायमार्य्यशास्त्रीयराजनियमपरिजिज्ञासूनां पर्य्याप्तोपकारकोग्रन्थहीरकः। परमाश्चर्य्यमेतत्—विद्यारत्न सदृशेनापि आत्मभिमानिनाऽत्र मङ्गलमाचरयितुं कृष्णस्य पदयुगलमभिवन्दितम्!! स किं न जानीते—स्वावर-जातिवन्दनं विरुद्धं लोकशास्त्रयोः, जातिव्यवहारश्च शरीरस्यैव आत्मा तु शुनोऽपि महर्षिभिरपि वन्दनीयः!! अथवा सम्यगेतत्—चैतन्योदयावधि नवद्वीप-वासिनः काष्ठ-धारिण इत्यलम्।

८। **वैशेषिकदर्शनम्**—भगवत्-कणाद-

महर्षि-कृतम्, सुर्शिदावाद्-निलयि-नानादर्शन-विद्-शेषधी-श्री-गङ्गाधर-कविरत्न-कविराज-कृत-भाष्ये-णालंकृतम्, तच्छात्रेण सुविचक्षणश्री-श्रीचरण-गुप्तेन प्रकाशितम्। कविरत्नेन कृतमेतद् भाष्यरत्न-मार्षमिव प्रतिभाति—अक्षरार्थोऽस्यातिसुगमः, भावार्थस्तु विद्वदुपदेशगम्यः, व्याख्यानञ्च विस्तृतमकुटिलञ्च। परमेतद् ग्रन्थनिर्मातुः शास्त्रेष्वतिनिमग्नचेतसो लौकिकदृष्टेरभावात् मुफ्शोधनानभिज्ञतयाऽतिप्रौढतया चात्र क्वचित् क्वचित् सन्देहः समुपतिष्ठते।

९। शिवमहिम्नस्तोत्रम्—गन्धर्वराज-पुष्पदन्त-विरचितम्, कीर्त्तित-कविरत्न-कृत-टीका-समेतम्, कथिताख्येनैव तच्छात्रेन प्रकाशितम्। व्याख्यानञ्चास्याति चमत्कृतिकरम्—इदं हि स्तोत्रं व्याख्यागुणेन दर्शनशास्त्रतां गतम्; अत्र नास्तिकास्तिकविविधदर्शनानां मतमभिहितं स-सङ्गत्या श्लोकसम्बद्धम्। एतावद् विचारमन्तरा नास्यार्थः स्फुटीभवतीति-लोकान्जागरयतीवैषग्रन्थः। तथाचास्य माता यो नास्तिकास्तिकवाकोवाक्यादि दशाधिक-ग्रन्थस्य प्रणेता धन्वन्तरिरिव चिकित्सकः स धन्यश्चिरञ्जीवतात्।

१०। प्रबोधशतकम्—मयमनसिंहान्तर्गतशेरपुर-नगर-निवासिना स्मृत्याद्यार्य्यशास्त्रार्थचिन्तापरायणेन श्रीचन्द्रकान्ततर्कालङ्कारेण प्रणीतम्। अस्यायमाद्यश्लोकः:—.

'मनोऽनिशंसन्त्यज वामलोचना—
मवलु दृष्ट्या खलु वामबोचनाम्।
विलोकनेनैव विलोलचेतसाम्
व्यलीकलीलाचतुरां व्यलीकदाम्॥*

अत्र यथास्थानं विविधशब्दनिवेशनम् शान्तिरसानुयायि दृष्टान्तादि प्रदर्शनञ्च प्रशंसनीयम्। परमभिप्रायांशेऽस्माकमस्मिन्नास्ति सम्मतिः, यद्यत्रनारीति सामान्येनानुल्लेखेन व्यभिचारिणीनामेव दूषणं यथायथं वर्णितं तिष्ठेत् तर्ह्यवश्यं स्यादेतच्छतकं सर्वेषां रुचिरमित्याशास्महे वयम्।

११। शृङ्गाररत्नाकरः*—शृङ्गाररसविषयको निबन्धः पद्यग्रन्थः। भाट्पाड़ा-निवासि सुविज्ञ-कृतविद्य-विचारदक्ष-श्रीताराचरण तर्करत्नेन रसिकवरेण निर्मितः। काव्य-रचनायमस्य शक्तिर्बहुलं समीक्षतेऽस्माभिः, भावपूर्णसालङ्कारकविता-रचने नह्यस्य कश्चिच्छ्रम इति भासते। ग्रन्थस्यैतस्य यथायथं विवरणं प्रकटयितुमत्र कतिश्लोका उद्धि्-यन्ते, तेभ्य एव 'स्थालीपुलाक' न्यायेनास्य गुणदोषावपि वेदितव्यौ स्वयम् प्रत्नकर्म्नैः।

तथाहि—

यद्यद्रत्नमिहास्ति सीमरहिते शृङ्गाररत्नाकरे
तत् सर्वं परिशिष्य लब्धुमबलोधातापि कश्चिन्नृश्यम्।
यद्यन्मे परिलब्धमाग्रहकृता तत् साम्प्रतं दीयते
कृत्वा कण्ठविभूषणं सहृदयाहृष्यन्तरत्युत्सवे॥
यूनी यौवनकानने लसति या भावादि पुष्पावली
तस्यां सम्मदशीधुसेवनविधौ ये ये द्विरेफव्रताः।
ते ते धीरवरा ममाद्यरचनाचातुर्य्य सन्दर्शना—
दानन्दाम्बुधिगाहनं विदधतां नान्ये कथञ्चित्पुनः॥

शृङ्गाररत्नाकरमद्य धीरः
प्रमथ्य शृङ्गाररसैकसाराः।
लब्धार्थजातं परमार्थहेतुं
सुखेन कालं गमयन्तु नित्यम्॥

* सम्पन्नः सकलेन्द्रियैरपिनरो नारीविहिनोजड़ः।
एकेनैवानेन चरणेणास्मदभिप्रायस्य स्फुटत्वान्नान्यानि विनिर्मितानि।

प्रेरितम्।

आर्य्यावर्त्तदेशे पण्डितनामधारिणा काश्यां संस्कृतपाठशालायां पालितेन पत्रेण इंलण्डीय-भाषया पर्य्यालोचना कृता संस्कृतशृङ्गाररत्नाकर-स्येति अस्योत्तरदानमयोग्यम् लोकाहि स्वजातीय-भाषया एव गुणदोषौ विचारयन्तीति।

श्रीताराचरण शर्म्मा।

* काशीस्थ-चौखाम्बा-हर्म्म्य-विराजित-राजतुल्य-श्रीहरिश्चन्द्रेण विद्यारसिकेन विद्वताऽत्र बहुधाऽनुकूल्यं कृतम्। प्रणयनेऽप्यस्यैतस्य मतामतमादृतं ग्रन्थंकृता। वस्तुतोऽसावपि हिन्दिकवितारचनेऽसाधारणक्षमः सुरसिकश्च।

† यथादृष्टम्।

(१) वेण्याः सर्पासिभृङ्गाल्यः, केशपाशस्य चामरः।
नीलं कण्ठकलापोऽपि, धम्मिल्लस्य विधुन्तुदः ॥१॥
सीमन्तस्याध्वदण्डौ (२) च, ललाटस्याष्टमी-विधुः।
फलकञ्च कपोलस्य, चन्द्रमा मुकुरः स्थली ॥२॥
भ्रुवोः खड्ग-धनु-र्यष्टि-रेखा-पल्लव-वल्लयः।
दृशोस्त्वकोर-हरिण-मदिरा-खञ्जनोऽम्बुजम् ॥३॥
कुमुदं नीलमम्भोजं श्रुतेर्दोला प्रपाशकः।
नासावंशस्य वंशाधो (३) मुख-तुणीरचञ्चवः ॥४॥
तिलप्रसूनदण्डोचाऽधरस्य नवपल्लवः।
विंवफलं प्रवालं च, दन्तानां मौक्तिकावलिः ॥५॥
कुन्ददाडिम्बबीजानि, हीरकाश्च स्मितस्य तु।
ज्योत्स्नापुष्पाणि पीयूषं, श्वासस्याम्भोजसौरभम् ॥६॥
जिह्वायास्त्वञ्चलोदोला वेण्या भृङ्गी-पिकौरवौ(४)।
सुधामधु च, वक्त्रस्य शशी पङ्कज-दर्पणौ ॥७॥
कण्ठस्य कंबुरंसस्य कुम्भौ, बाह्वोश्च वल्लरी।
मृणाल-लहरी-शाखा-पाशाः पाणिपदस्य तु ॥८॥
पल्लवोम्बुजमङ्गुल्याः, पल्लवो नखपङ्क्तेः।
रत्न-तारा-प्रसूनानि, स्तनयोः कुड्मलौ घटौ ॥९॥
कुम्भि-कुम्भौ (५) गिरीचक्रौ बिल्वे, मध्यस्य वेदिका।
सिंहमध्यञ्च, रोमाल्यारेखा-शैवाल-वल्लयः ॥१०॥
नाभेरम्भोजमावर्त्त ह्रदौ विवरकूपकौ।
त्रिवल्यावीचि सोपान-निःश्रेण्यो जघनस्य तु ॥११॥
पुलिनं पीठफलके, नितम्बस्य स्थलं पुनः।
उर्वोः कदलिका-स्तम्भौ मकरौ करभस्तथा ॥१२॥
जंघायुगस्य तु स्तम्भौ गतेर्हंसमतङ्गजौ।
इमान्यन्यान्यपि स्त्रियो(६) रुपमानं यथोचितम् ॥१३
(७)पुंसोङ्गैरुपमानानां विशेषः कोपिकथ्यते।
स्कन्दस्य वृषरक्षाचस्कन्धोबाहोरहीश्वरः ॥१४॥
हस्तिहस्तपरिस्तम्भार्गलादण्डाश्च वक्षसः।
शिलाकपाटौ यानस्य प्रमत्तोचगतिः(८)पुनः ॥१५॥
(९) एकैकेनापि धर्मेणोपमानं बहुधा भवेत्।
धर्मा वर्णक्रियाकाराधाराधेयादयो मताः(१०)॥१६॥
अभ्यासः स्याद्विभक्तीनामुपमानोपमेययोः।
उपमावाचकानाञ्च धर्माणाञ्च विपर्ययात्(११) ॥१७॥
विपर्य्ययादिति सर्वत्र सम्बध्यते।

विभक्ति विपर्ययादभ्यासो यथा—

सविपक्षान्प्रचिक्षेप तमस्तोममिवार्य्यमा।
द्विषन्तं नाभियुध्यन्ते ध्वान्तोद्भेदारविंयथा(१२)॥१
रविर्णेवान्धकाराणि तेन विचिपिरे द्विषः।
दुह्यन्ति दुर्जनास्तस्मै धूकाइव(१३)विवस्वते ॥२॥
तलसुः शत्रवस्तस्माद् यूकाइव दिवाकरात्।
तमोवद्रिपवस्तस्तास्तस्यार्कस्येव तेजसा ॥३॥
रवाविवोदिते तत्र शत्रवोध्वान्तवद्रणाः।
एवमादिप्रकारेण ज्ञेयमर्थान्तरेष्वपि ॥४॥

उपमानोपमेययोर्विपर्ययाद् (१४) यथा—

विजयीविद्विषोजैषीद्भास्वानिवतमोभरम्।
अध्वंसयद्रविध्वान्तं विजयी विद्विषो यथा ॥१॥
ललितालकवल्लीभिभासते भामिनीमुखम्।
लसल्लीलालिमालाभिर्नलिनी नलिनं यथा ॥ २॥
आभाति पद्मिनी पद्मं भ्रमरा षट्पदपंक्तिभिः।
कान्तामुखमिवानीलविलोलालकवल्लिभिः ॥३॥
इत्यादि।

---

(१) इदनीं क्रमशाप्तं साङ्गस्त्रकुसुममाह। वेण्येति। वेण्यादीनां सर्पादीनि उपमानमिति (१३श्लो०) वक्ष्यमाणेनान्वयः।
(२) अध्वामार्गः, दण्डोयष्टिः।
(३) वंशाधोमुखम्—वेणुदृषस्य कन्दमुखम्।
(४) भृङ्गी भ्रमरी, पिकी कोकिला।
(५) कुम्भी हस्ती, तस्य कुम्भौ।
(६) स्त्रियोः स्त्रीपुंसयोः।
(७) विशेषान्तरमाह—पुंसोङ्गैः।
(८) उन्मत्तबलीवर्द्दगतिः।
(९) पुनर्विशेषान्तरमाह—एकैकेनेति।
(१०) वर्णाः शुक्लादयः, क्रियाः पचनादयः, आकारः संस्थानम्, आधारोद्रव्यम्, आधेयं गुणादि।
(११) उपमावाचकानां प्रथमस्तवकोक्तानां, धर्माणां साधारणधर्माणाम्, यथा चन्द्रवन्मुखमित्यादौ आह्लादजनकत्वादयः साधारणधर्माः विपर्ययादव्ययाद्, अभ्यासः पुनरन्वयः।
(१२) विपक्षानिति बहुवचनम्, तमस्तोममित्येकवचनम् चिक्षेपइति क्रियायां द्वयोरन्वयः।
(१३) धुकादिवाभाताः।
(१४) उभेति। पूर्वार्द्धे उपमानस्य उत्तरार्द्धे उपमेयता, एवम् उत्तरार्द्धे उपमानस्य पूर्वार्द्धे उपमेयतेति व्यत्ययः।

स्पर्द्धते जयति द्वेष्ट्यनुकरोतीत्यादिकाः क्रियाः(१५)।
तथालाक्षणिकाः शब्दाः व्यासेधाद्याइवार्थकाः ॥४॥
व्यासेधोधरणीधरेशितु रनध्यायःसुधायाविधो,
रन्तर्डिण्डिनराचलस्य निधनं दुग्धोधसिन्धोः पिधा।
प्रत्याख्यान ममा नवद्विपमहादेहद्युतेनिह्नवो,
जाह्नव्यास्तवभुजङ्ग यशसां
भारोदिशां हारति (१६) ॥१॥

यथाच—

इन्दुर्वक्त्रस्य वीप्सा सदनमुपकथा पादयोःपङ्कजाली,
पर्यायोलिःकवर्य्यास्तनुतनुमहसां वर्णिका कर्णिकारम्
आभासःकुम्भिकुम्भद्वयमुरसिजयोःकामकोदण्डदण्डः
पाषण्डो भ्रूलतायारतिरभिनयनं यत्स्वरूपस्य यस्याः॥१
उपमाइवसन्देहे किंयोगः किम्मुखंकिंशशी यथा ॥१

इति कविकल्पलतायाम् अर्थाख्य-चतुर्थस्तवके सादृश्यंनाम चतुर्थं कुसुमम्।

(१) उपमैवेवादिविना द्विधारूपकमिष्यते।
रत्नाकरे(२)भवेद्भेद्यं रूपकं तोष्यमम्बुदे ॥

(१५) स्पर्द्धते इत्यादि क्रियाभिरपि उपमानोपमेयभाव प्रतीतिः।

(१६) व्यासेधइति। हे भुजङ्ग! मुकामुक! तव यशसां भारं दिशां हारति हारवदाचरति। उपमानानाह—धरणीधरेत्यादि। धरणीधरे शिता हिमालयः धनदा चलः कैलाशः, अमानवादेवास्तेषां द्विपऐरावतः।

इति कवि०टीकायाम् ४स्त० ४कु०।

(१) रूपकादि निरूपणं पञ्चमकुसुममाह—उपेति। आदिशब्दवोध्या उपक्रमकुसुमोक्ता अन्येऽपि काव्यादर्शद्वितीयसर्गोक्तादृष्टव्या, बाहुल्यभिया न दर्शिता। रूपकलक्षणमाह काव्यादर्शे—'उपमैव तिरोभूतभेदारूपकमिष्यते' काव्यप्रकाशे च—'तद्रूपकमभेदो य—उपमानोपमेययोः' उपमानोपमेययोर्वास्तविकभेद सत्वेऽपि आहार्य्यरूपमभेदज्ञानं रूपकमित्यर्थः।

(२) रत्नाकरे पर्यानविशेषे इतिशेषः; यथा—पापाब्धिशोषकमित्यादि, करुणामृतवारिदइत्यादि। भेद्यत्वन्तु शत्रुत्वेन नाश्यत्वम्; यथा वैरिध्वान्तदिवाकर इत्यादौ ध्वान्तदिवाकरयोर्भेद्यभेदकसम्बन्धस्तथावैरिवर्णनीयपुरुषयोः। तोष्यत्वम् मित्रतयाउपकार्यत्वम्; यथा सुहृत्पद्म दिवाकर इत्यादौ दिवाकरपद्मयोस्तोष्य तोषकसम्बन्धस्तथा वर्णनीयपुरुषतन्मित्रयोः।

भुव्याधारस्तथाधेयं सिंहे वर्णनभेदतः (३) ॥
(४) ध्वान्ताहिविषनागाब्धिशैलरुक्षघनाग्नयः।
रक्षःशङ्कादयोभेद्याः रूपकोक्त्या विरूपकैः ॥
वनचक्राब्धिचक्राङ्ग चक्रचातक षट्पदाः।
पिककेकिमुखास्तोष्यं रूपकैर्मित्ररूपकैः ॥
(५) स्वगुणैर्भूनभोऽम्भोधिनदीवननगादयः।
रूपकस्थैः स्युराधारै राधाराख्यं हि रूपकम् ॥
रत्नसिंहसरोम्भोज चन्द्रादित्यद्रुमादयः।
स्वाधारैरूपकप्रोक्तैराधेयं केवलं क्वचित् ॥
(६) कुलाम्भोनिधिमाणिक्यं वंशकाननकेसरी।
भवारण्यामृतसरोनीतिगङ्गासरोरुहम् ॥
कुलाकाशेन्दुतीक्ष्णांशुसंसारमरुभूरुहः।
जनमानसचक्राङ्ग शौर्य्यविन्ध्याद्रिकुञ्जरः ॥

अथ रूपकोपयोगिशब्दाः—

नागाङ्गरत्ननिधिमेघखगाङ्कसूर्या-
ऽऽकाशाग्निसिन्धुहरिद्वीपकसौधकुम्भाः।
चलाङ्गचातकमयूरचकोरचक्र-
पुंस्कोकिलावनसरोम्बुजरत्नभानि॥

(३) भुव्येति। अयम्भावः—गुणरत्नमहोदधिरित्यादौ आधारतयारूपणमेव वर्णनीयतया वक्तुरिच्छाविषयमित्याधाररूपकम्, अत्र कुलकाननकेशरीत्यादौ आधेयतया रूपणमेव वर्णनीयतया वक्तुरिच्छाविषयमित्याधेयरूपकम्। तथाहि—गुणरत्नमहोदधिरित्यादौ वर्णनीयपुरुषे महोदधित्व रूपणं मुख्यम्, गुणेरत्नत्वरूपणं तदङ्गत्वाद्गौणम्; कुलकाननकेशरीत्यादौ वर्णनीयपुरुषे केशरित्वरूपणम् मुख्यम्, कुले काननत्वरूपणन्तु तदङ्गत्वाद् गौणम्।

(४) ध्वान्तेति। ध्वान्तादि शङ्कादिपर्य्यन्ताः शत्रुरूपकैर्भेद्याः। वनादिकेकिपर्य्यन्ताः मित्ररूपकै स्तोष्याः।

(५) स्वगुणैरित्यादि। भूप्रभृतयोनगाद्यन्तावर्णनीयगुणै राधाराख्यं रूपकं भवति; रत्नादयो द्रुमाद्यन्ता-आधेयाख्यं रूपकम्।

(६) उदाहरणमाह—कुलेति।

ज्योत्स्ना नदी शशि-कला सरसी पताका
वल्ली वनी (७)कमलिनी दयिता सुधा श्रीः ।
कादम्बिनी-सुरभि-दृष्टि-सुरा-विमुक्ता-
तारा-करेणु-कलिका-लहरी-कदल्यः ॥

अथारोप्यगुणाः—

विवेकरजनीनाथसंबर्द्धितशमाम्बुधिः ।
गुणहंसमनोहारिप्रतिज्ञावाहिनीरयः ॥
कीर्त्तिध्वजांचलभ्राजिमानमत्तमतङ्गजः ।
धैर्य्यविन्ध्याचलोत्सङ्गरङ्गत्त्वत्कीर्त्तिनर्मदः॥
गुरुशौर्य्यवरक्रोडक्रीडत्तेजोदिवाकरः ।
दानरत्नाकरक्रोडप्रक्रीडत्कीर्त्तिचन्द्रमाः ॥
प्रतिज्ञावाहिनीपूरपरिप्लुतरिपुद्रुमः ।
शौर्यदावानलप्लुष्टद्वेषिकीर्त्तिलतावनः ॥
वैरिकैरवकान्तारम्लानिकृद्वैर्यभास्करः ।
गुणसागरविस्तारविवेकरजनीकरः ॥
धैर्यहर्य्यक्षवर्य्यश्रीविलसद्गुनकाननः ।
गुणमुक्तागणश्रेष्ठविवेकतटिनीपतिः ॥

(८) अथ भिन्नरूपकम्—

सङ्ग्रामपाथोनिधिसम्भवेन
भवद्यशःकैरविनीधवेन ।
लीलापरिस्मेरित दिङ्मुखेन
म्लानि विद्वेषिमुखाम्बुजानि ॥

यथाच—

(९) यम-महिष-विषाणं भ्रूलता-काल-रात्रेः
कुपित-नियति-भालारात-लेखा-ललाम ।
अधिसमिति विपक्षैर्लक्ष्यते वीरलक्ष्मी
स्तन-तट-नख-लक्ष्मत्वद्धनुः क्षोणिपाल ॥

यद्विनिंदन्निव स्तौतिव्याजस्तुतिरसौ यथा—

(१०) किं ब्रूम हे धरणिमण्डलमण्डनाम्
देव ! त्वदीय-यशसांमहतामनीतिम् ।
यद्विद्विषन्ति जगदीशशरीरशोभाम्
यच्चास्य हाससुपहासपथं नयन्ति ॥

(११) अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थ
मुत्प्रेक्षा यथा—

(१२) त्वत्कीर्त्तिकान्तिधनमपहृत्यराजन्
दिव्यं स्रजन्निव जगत्यपवादभीतः ।
इन्दुः सुधावपुरपिप्रभुरोषधीना-
मप्येषलक्ष्मिषसर्पधृतो न शुद्धः ॥

(१३) यथाच—

समिति त्वत्करवालः पीत्वा मातङ्ग
कुम्भकीलालम् ।
अनुतापीव व्रतयति रिपुनृपतीनां
यशःक्षीरम् ॥

(१४) यथा—

द्विषन्मृगाक्षी नयनाञ्जनानि
यद्देषनित्यं कवलीकरोति ।
क्षितीशतेनाञ्जनसन्निभैव
विभाविभातिस्म भवत् कृपाणे ॥

(१५) अन्योन्यभ्रान्तिकोऽभेदो यदाऽन्योन्यं द्वयोर्भ्रमः ।

---

(७) वनी अल्पवनम् ।

(८) भिन्नरूपकमाह—अथभिन्नेत्यादि । भिन्नम् समस्तम् । अत्र यद्यपि सङ्ग्रामपाथोनिधीत्यादौ समस्तं दृश्यते, तथापि कैरविणीधवेन विद्वेषिमुखाम्बुजानि म्लानानीति भेदकसम्बन्धयोरनयोः समासो न कृत इति भिन्नरूपकत्व मक्षतमेव । एवमुत्तरत्राप्यूह्यम् ।

(९) यमेति । कुपिताकुद्धा नियतिरदृष्टं यस्य । तद्भाले तल्ललाटे त्यादिशब्दबोध्यानाह—यदीति ।

(१०) उदाहरणमाह—किं ब्रूम इति ।

(११) उत्प्रेक्षामाह—अतद्रूपेति । अतद्रूपस्य विभिन्नरूपस्य ; अन्यथाध्यवसानं वैपरीत्येन गुणारोपः ; तथाच काव्यादर्शे—'अन्यथैव स्थितावृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा । अन्यथोत्प्रेक्षते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्बुधाः' वैचित्र्याय प्रस्तुतस्याप्रस्तुतत्वेन वर्णनमुत्प्रेक्षेत्यर्थः ।

(१२ । १३ । १४) उदाहरणमाह—त्वत्कीर्त्तिरिति । यथा चेति यथेति । पूर्वश्लोके चन्द्राङ्कस्य सर्पत्वेन सम्भावनम् ; द्वितीयश्लोके खड्गस्य रक्तपानजन्यपापक्षयाय पयःपानव्रतसम्भावनम् । यशसि क्षीरत्व सम्भावनम् ।

(१५) भ्रमातिशयावलङ्कारावाह—अन्योऽन्यमिति । अन्योऽन्यं परस्परं द्वयोरपि वस्तुनः अन्योन्य भ्रान्तिकः परस्परभ्रान्तिजन्यो यदिचेद्भेदोभवति तदाभ्रमालङ्कारम् ; उपमेयानुक्तौ अतिशयोक्तिरित्यर्थः ।

तत्रोपमेयानुक्तौ तु समासोक्तिर्मता यथा ॥

(१६) कीराः पचेलि-मफल-भ्रमतः पतन्ति
जम्बू-तरु-प्रसव-लग्न-मधुव्रतेषु ।
एते च चञ्चुपुटकेषु विशन्ति तेषां
सान्द्राः पलाश-कुसुमावलिमाकलय्य ॥

कार्यप्रवृत्तौ भ्रमतः साफल्यं जायते क्वचित् ।

यथा—

तवविधुमणिसौधप्राङ्गणे चन्द्रबिम्ब-
प्रतिकृतिमनुफुल्लत्कैरवभ्रान्तिभाजः ।
असकृदसृतविन्दुस्यन्दपानेन भृङ्गाः
प्रसृमरमकरन्दस्वादुसौख्यं लभन्ते ॥

इति कविकल्पलतायाम् अर्थाख्ये चतुर्थे स्तवके रूपकादिकं नाम पञ्चमं कुसुमम्।

---

(१) अथ संक्षेपतो वच्चे समस्यापूरणे विधिम् ।
तत्रादौ विशदाः पञ्च प्रोच्यन्ते कारिका यथा ।१॥

(२) कल्पादि सिन्धुलघुभिर्गुरुता युगान्त
दूरावलोकगुरुभिर्लघुता विधेया ।
विष्णोरधोमुखतया प्रतिबिम्बतस्य
स्याद्दै परित्यमुदकादिषु युग्मता च ॥१॥

अयमर्थः—कल्पस्यादिः कल्पादिः, लघुः क्षुद्र-पदार्थः; एतैर्हेतुभूतैर्वस्तुनो गुरुता विधेया। सृष्टौ हि स्रष्टा महावयवानेव निर्मिमीते स्म पदार्थान्, कालक्रमेण च सर्वे दुर्लभा अभूवन्, सामुद्रियद्रव्येषु शाश्वतिकएवातिरेकः, लघ्वपेक्षया ततोऽधिकस्यापि महिमायोज्यः, युगादिभिर्हेतुभिर्लघुता कल्पनीया च, युगान्तसमये हि सर्वं लघु भवति, दूरे दृश्यमानाः पदार्थाः अतिक्षोदीयांसइव भासन्ते; गुर्वपेक्षयाप्येव माकलनीयम् ।

उदाहरणानि यथा—

कल्पादिकाले गुरुदेहदेश्या
पिपीलिका राजति शैलतुल्या ।
तदा लघीयानपि गण्ड शैलः
श्रीखण्ड शैलस्य तुलां तनोति ॥१॥

सिन्धुना यथा—

अहो पयोराशिनिवासि यादः
पिपीलिका राजति शैलतुल्या ।
सदा जनानां महतां हि सङ्गो
धत्ते लघूनामपि गौरवाणि ॥२॥

महात्म्यं तस्य पाथोधे र्व्याख्यातुं शक्यते कथम् ।
सापि यत्र विभात्यम्भः कीटिकाकुम्भिसन्निभा ॥६॥

स्थलेस्थिता यावन्त स्तावन्तोजीवा जलेपि निवसन्तीति बोद्धव्यम्; ते सर्वे निर्वासितखर्व-भावाः स्वभावादेव ।

लघुभिर्यथा—

कृमिप्रमाणेन महत्तमाङ्गी
पिपीलिका राजति शैलतुल्या ।
यस्मादधोधः परिदर्शनेन
सदा लघूनामपि गौरवाणि ॥१॥

लिक्षा लक्षाग्रतः कीटकोटिः करिघटायते ।
विन्ध्याद्रिमुद्रामाधत्ते मत्तेभः कलभाग्रतः ॥२॥

अथ गुरुपदार्थस्य युगान्तेन दूरावलोकनेन गुरुभिश्च लघुता विधेया। यथा—

कल्पान्तकालकवलीकृत सर्वगात्रो
गोत्रो बिभर्त्ति सुतरां परमाणु रूपम् ।
संवर्त्त पूर्वसमये बिभरांबभूव
योजातरूपधरणीधर सन्निभत्वम् ॥१॥

---

(१६) उदाहरणमाह—कीरइति अत्र कीरस्य भ्रमरसमूहे जम्बु-फल-भ्रमः, भ्रमराणां कीरचञ्चुपुटे पलाश-कुसुम-भ्रमः ।

(१७) समासोक्तिमाह—कार्य्येति ।

उदाहरणमाह—तवेति । अत्र चन्द्र विम्बप्रतिविम्बेऽपि कैरव भ्रमात् तत्र पतितानां भ्रमराणां चन्द्रकान्तस्थित स्वादु-जलपानेनाभीष्ट सिद्धिर्जाता। सौधवर्णनस्य प्रस्तुतत्वेऽपि तस्य विधेयतयानुक्तत्वात् समासोक्तिः ।

इति कवि० टीकायाम् ४स्त० ५कु० ।

(१) क्रमप्राप्तम् समस्या पूरणोपायाख्यं षष्ठकुसुममाह-अथेति । विशदाः स्पष्टाः ।

(२) समस्यापूरणज्ञानार्थं पञ्च कारिकाः वदिष्यति, तत्र प्रथमां कारिकां सोदाहरणमाह—कल्पादीत्यादि। अत्रेयं समस्या 'पिपीलिका राजति शैलतुल्या', अस्याः पूरणं प्रथमः पादः; एवमन्यान्यप्यूह्यानि ।

(टी०) अनारभ्येदमाम्नायते 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः"—इति,"सौर्य्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः"—इतिच ; तथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—"ईषामालभेत"—इति,"चतुरो मुष्टीन्निर्वपति"—इतिच ; ईषा शकटगतोलाङ्गलदण्डवद्दीर्घ काष्ठविशेषः, तस्याः आलम्भः स्पर्शः,तस्मैतं दर्शपूर्णमासगत मीषालम्भनमनूद्य तस्यामालभ्यायामीशायां श्वेतत्वं गुणोविधीयते, तस्य श्वेतकाष्ठस्य वायुना स्पृश्यमानत्वाद् वायव्यता सम्भवति ; तथा चतुर्मुष्टि निर्वापमनूद्य चरुगुणत्वेन विधीयते, चरुः स्थाली सा च निर्वापस्याश्रयः, निरुप्तस्य हविष आग्नेयरूपतया सूर्य्यवत् प्रभासम्बन्धात् सौर्य्यत्वं भूतिब्रह्मवर्चस फलेच सार्वकामिकयोर्दर्शपूर्णमासयोः पूर्वसिद्धे एवानूद्येते। तस्माद्गुणविधिः—इत्येकः पक्षः।

नहि फलपदयोर्नित्यवच्छ्रुतयोः सम्भवत्प्रयोजनयोश्च पाक्षिकानुवादत्वमानर्थक्यं वा युक्तम्, तस्माद्गुणफलविशिष्टे कर्मान्तरे विधीयेते ; तदापि यागस्याश्रवणाद् आलम्भनिर्वापयोरेव श्रवणाद्यावदुक्त कर्मविधिः—इति द्वितीयः पूर्वपक्षः।

श्वेतपशुचरुद्रव्ययोर्वायु सूर्य्यदेवतयोश्च स्पष्टं प्रतीयमानतया रूपवतो र्यागयोरार्थिकयो र्वारयितुमशक्यत्वाद् द्रव्यदेवताविशिष्टयो र्यागयोर्विधिरभ्युपगन्तव्यः ; भूतिकामो वायव्येन श्वेतेन पशुना यजेत, ब्रह्मवर्चसकामः सौर्य्येण चरुणा यजेत,—इत्येवं विधोऽर्थसिद्धो विधिः। द्रव्यदेवता सम्बन्धकल्पितस्य यागस्य लिङ्प्रत्ययेन कर्त्तव्यताविधावालम्भनिर्वापयो र्धात्वर्थयोः का गतिः?—इति चेत्, ब्रूमः—तत्प्राप्तिः स्वार्थिकी, निर्वापालम्भवन्तरेण तत्तद्यागासिद्धेः। तस्माद् यागविधिरिति सिद्धान्तः ॥ २।३।५ ॥

इति पञ्चमाधिकरणम्।

अथ प्रत्युदाहरणसंज्ञया ब्रूते।

(सू०) विशये प्रायदर्शनात्।२।३।१६॥

(वि०) 'विशये' गुणविधिरपूर्वविधिर्वेति संशये 'प्रायदर्शनात्' साहश्यदर्शनाद् व्यवस्था, साहश्यञ्च सहचरितत्वेन। तथाहि—टिप्पिकारोक्तविषयवाक्यमेतत् 'वत्समालभेत' इति, तत्र संशयः—इदं वाक्यं वायव्यं श्वेतमितिवत् यजिमद् भवितुमर्हति, अत्रापि वत्सरूपद्रव्यसंयोगस्य सत्वात् ; अथवा नेतद् यजिमत्, आलम्भः स्पर्शस्तमेव विधत्ते, वायव्यवाक्येनास्य न समता, तत्र देवतायाः साक्षाच्छ्रुतेः, इह तदभावात् ; अत्रोच्यते—प्रायेति, अस्य संस्कारविधीनां मध्ये श्रुतत्वादन्यान्य-संस्कार-विधि-प्रायता ; तस्मादयं संस्कार-विधिरेव। २।३।१६ ॥

उक्तं द्रढयति।

(सू०) अर्थवादोपपत्तेश्च।२।३।१७॥

(वि०) यदि 'वत्समालभेत' इत्यस्य संस्कारविधित्वं न स्यात्तर्हि 'वत्सनिकान्ता हि पशवः' (यतः पशवो वत्सप्रिया तत आलब्धव्यः) इत्यर्थवादो नोपपद्येत ; संस्कारविधित्वे तु गांप्रस्नुयोपपद्यते ; तस्माच्च संस्कारविधिः ॥ २।३।१७ ॥

तदेतत् षष्ठाधिकरणमारचयति।

(अ०) वत्सालम्भो यजिस्पर्शो वायव्यादिवद् यजिः। स्पर्शः स्याद्देव राहित्यात् संस्कारः प्रायपाठतः।२।३।६॥

(टी०) अग्निहोत्राधिकारे श्रूयते 'वत्समालभेत' इति। तत्र च विमतो वत्सालम्भो यजिः स्यात्, प्राणिद्रव्यकालम्भत्वात् ; वायव्यालम्भवत्।

इति चेत्—न, देवतारहितत्वेन तद्वैषम्यात्। किञ्चायं वत्सालम्भोऽग्निहोत्राङ्ग संस्कारः, तत्प्राये पठितत्वात् ; इतरसंस्कारवत्। तस्मादयं स्पर्शमात्रविधिः ॥२।३।६॥

इति षष्ठाधिकरणम्।

अथेदमपि प्रत्युदाहरणसङ्गत्या ब्रूते।

(सू०) संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात्।२।३।१८॥

(वि०) 'अर्थशब्देन' उपदधातीत्येव मादि-संस्कारशब्देन 'संयुक्तः' विधिः 'तदर्थः' उपधानादिप्रतिपत्तिकर्मार्थएव, न यागार्थः; कुतः ? 'श्रुतिसंयोगात्' यथा श्रुतिसंयोगः तथैव व्याख्यातव्य इति नियमात्। तथाहि—श्रूयते 'नैवारश्चरुर्भवति' ततः—'चरुमुपदधाति' अत्र उपदधातीत्यनेन युक्तः समुदायः तदर्थः उपधानरूपप्रतिपत्ति कर्मार्थएव (प्रतिपत्तिकर्मंतु यस्य द्रव्यस्य प्रयोजनं निष्पन्नं तस्य स्थानविशेषे स्थापनादिकम्) नन्विदं द्रव्यसंयोगहेतुकं 'वायव्यं श्वेतमितिवत् यजिमत् कुतो न ? न च नात्र देवतासंयोगः, 'बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः' इत्यनन्तरश्रुतत्वात्—इति चेत्,न, श्रुतिसंयोगात्, श्रुतिसंयोगएव व्यवस्थायां मूलम् 'वायव्यमित्यत्र यथा साक्षाद् देवता श्रुतिः, नात्र तथा, अत्र तु उपदधातीत्यनेन संयुक्तः श्रूयते, दैवतन्त्वानुमानिकम्, अतः। एवञ्च नात्र कर्मान्तरता ॥ २।३।१८ ॥

तदेतत् सप्तमाधिकरणमारचयति।

(अ०) चरुर्भवतिनैवार उपधत्ते चरुन्त्विति। यागः स्यादुपधानं वा यागः शेषोक्त दैवतः। यागत्वानिश्चये शेषो नापेक्ष्योतो यजिः कुतः। किन्तूपधान मात्रत्वं यावदुक्तं चरौ स्थितम्।२।३।१७॥

(टी०) आग्नौ श्रूयते 'नैवारश्चरुर्भवति', 'चरुमुपदधाति' इति च; तत्र नीवारचरुद्रव्यको यागो विधीयते; न चात्र देवताया अभावः, 'बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः' इति वाक्यशेषेण देवतासिद्धेः; उपधानन्तु यागोपयुक्तस्य प्रतिपत्तिः स्विष्टकृदादिवत्।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—यागविधौ निश्चिते सति पश्चाद्देवतायामपेक्षितायां वाक्यशेषवलाद्देवताक्लृप्तिः, इहतु देवताकल्पनेन यागविधित्वनिश्चयः ;—इत्यन्योन्याश्रयं। तस्मादिहोपधानमात्रं विधीयते। २।३।१७ ॥

इति सप्तमाधिकरणम्।

अथापरमपि प्रत्युदाहरणसङ्गत्या दर्शयति। तथाहि—ननु यच्छ्रूयते 'पर्य्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' इत्येतद् यागान्तरविधायकम् अनुवादो वा ? तत्र यदि पत्नीवद्देवताकः पर्य्यग्निकृतद्रव्यक एषविधिः स्यात् तर्हि 'वायव्यं श्वेतम्' इतिवत् द्रव्यदेवतासंयोगात् यागान्तरः; यदि 'त्वाष्ट्रं पात्नीवत मालभेत'—इत्युक्तपात्नीवतयागस्यायमनुवादो विकृति यागः—इत्युच्येत, तर्हि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इत्यनेनैव सिद्धे पर्य्यग्निकरणे व्यर्थएवैषोऽनुवादः—इत्येवं पूर्वपक्षे—सिद्धान्तसूत्रम्।

(सू०) पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः। २।३।१९॥

(वि०) 'पात्नीवते' पात्नीवतघटितविकृतियागे 'अवच्छेदः' व्यवच्छेदः विधेयः कुतः ? 'पूर्वत्वात्' पूर्ववत्वादित्यर्थः, पर्य्यग्निकरणस्य त्वाष्ट्रयागे श्रुतत्वात् पूर्ववत्वं विद्यते, ततः। तथाच पर्य्यग्निकरणस्य सिद्धत्वान्नापूर्वत्वम् अपिचानुवादरूपैतद्वाक्यस्याभावे अतिदेशशास्त्रेण प्रकृति यागगतसर्वाङ्गानामतिदेशः प्राप्तः; सति तस्मिन् वाक्ये अतिसामर्थ्याद् यावदुक्तस्य पर्य्यग्निकरणान्तस्यैव विधिर्भवति, उपरितनेभ्योऽङ्गेभ्योऽवच्छेदः निवृत्तिः सिध्यति, अनुवदन सामर्थ्याच्च पूर्वतनानां न निवृत्तिः; इत्यञ्च कथमपि नापार्थएषोऽनुवादः। एवञ्चानेन त्वाष्ट्र यागस्य विकृतियागे पर्य्यग्निकरणान्तानि कर्म्माणि विधीयंते, न यागान्तरः। २।३।१९ ॥

तदेतदष्टमाधिकरणमारचयति।

(अ०) पर्य्यग्निकृतः पात्नीवत उत्सृज्यत इत्यसौ। यागो गुणो वा यागः स्यादन्वया व्यवधानतः। प्रत्यभिज्ञातमालभ्यमनूद्योत्सर्ग शब्दतः। गुणं पर्य्यग्निकृताख्यं वक्तुमन्तरनिवृत्तये। न दुष्टा परिसंख्याऽत्र चोद-

कात् प्रागविधौ सति। पर्य्यग्निकरणा-न्ताङ्गरीतिः क्लृप्तोपकारतः ।२।३।८॥

(टी०) त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत'—इति प्रकृत्य समाम्नातम् 'पर्य्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' इति। तत्र पर्य्यग्निकृतशब्देन संस्कृतपशुद्रव्यस्य पात्नीवत-शब्देन पात्नीवन्नामकदेवता सम्बन्धस्य च प्रतीय-मानत्वादयं यागविधिः; एवं सति पर्य्यग्निकृत-पात्नीवत शब्दयोरव्यवहितान्वयोलभ्यते; सिद्धान्ते तु पर्य्यग्निकृतमुत्सृजन्तीत्यन्वयं वाञ्छन्ति, तदा-व्यवहितान्वयोदुर्वारः; तस्माद् वायव्य पशुवद्-यागविधिः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—अनारभ्याधीतत्वान्नास्ति वायव्ये प्रकृतप्रत्यभिज्ञा, इह त्वालभ्यत्वेन प्रकृतः पशुः पात्नीवतशब्देन प्रत्यभिज्ञायते, तमनूद्य पर्य्य-ग्निकृतशब्दान्विते नोत्सृजन्तीत्याख्यातेन पर्य्यग्नि-करणाख्योगुणो विधीयते; न च प्रकृतिगतस्य पर्य्यग्निकरणस्य विकृतौ चोदकप्राप्तत्वादनर्थकोऽयं विधिरिति वाच्यम्, उपरितनाङ्गनिवृत्तेर्विधिप्रयो-जनत्वात्। नन्वेवं सति परिसंख्या स्यात्, सा च दोषत्रय-दुष्टा, (स्वार्थत्यागोऽन्यार्थस्वीकारः प्राप्त-बाधश्चेति त्रयो दोषाः) पर्य्यग्निकरणवाक्ये स्वार्थो-विधिस्त्यज्येत, अन्यार्थो निषेधः स्वीक्रियेत, चोद-कप्राप्तान्युपरितनाङ्गानि बाध्येरन्; मैवम्, पर्य्य-ग्निकरणोत्तरभावीन्यङ्गानि नानुष्ठेयानि—इत्येत-स्याः परिसंख्याया अनङ्गीकारात्; कथन्तर्हि तन्निवृत्तिः? आर्थिकी—इति ब्रूमः, चोदक प्रवृत्तेः प्रागेवायं विधिः प्रवर्त्तते, प्रत्यक्षोपदेशस्य शीघ्रबु-द्धिजनकतया कल्प्यातिदेशात् प्रबलत्वात्; तथा-सति उपदिष्टैरेवाङ्गैर्निराकांक्षायां विकृतौ चोदक-प्राप्तस्याप्रवृत्त्यैवोपरितनान्यङ्गानि न प्राप्यन्ते। न चानेन न्यायेन पर्य्यग्निकरणात् प्राचीनानाम-प्राप्तिः—इति वाच्यम्, विधीयमानस्य पर्य्यग्निकर-णस्य नूतनत्वे सत्युपकारकल्पनापत्या प्रकृतौ यत् क्लृप्तोपकारं पर्य्यग्निकरणं तदवस्थापन्नस्यैवात्र विधेयत्वात्; प्रकृतौ च प्राचीनाङ्गानन्तरभाविन एवोपकारः क्लृप्तः—इति अत्रापि तादृशस्यैव विधा-नात् पर्य्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिः सिद्ध्यति। एवञ्च सत्युत्सृजन्ती त्याख्यातेन यथोक्तपर्य्यग्निकरणविधा-वर्थसिद्ध उपरितनाङ्गोत्सर्गो धातुनानूद्यते; तदेव मतगुणविधिः॥ २।३।८॥

इति अष्टमाधिकरणम्।

इदानीं सञ्ज्ञाकृतकर्मभेदस्यानवसरं दर्शयति।

(सू०) अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात्।२।३।२०।

(वि०) एवं हि श्रूयते 'एष वै हविषा हविर्य-जते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते' तदेतत् कर्मान्तरविधायकम्, अदाभ्येति नामधेयान्वितत्वात्, ज्योतिरादिवत्, तथाच अदाभ्यमित्यस्य यजत इत्य-नेनान्वयः;—इत्याशङ्कायामाह—'केवले' द्रव्य-देवतारहिते एष इत्यादिवाक्ये 'कर्मशेषः' प्रकृते ज्योतिष्टोमस्य कर्मणः शेषः स्यात् विधेयोभवेत्, न यागान्तरः; अदाभ्यमित्यस्य गृहीत्वेत्यनेनान्वयः, न व्यवहितेन यजत इत्यनेन। कुतः? 'अद्रव्य-त्वात्' अत्र वाक्ये द्रव्यस्य श्रवणाभावात् (द्रव्यमित्यु-पलक्षणम्, देवताभावस्याप्यत्र विद्यमानत्वात्); अतएवैतद्वाक्यं केवलमित्युच्यते। एवञ्च एवम् 'परा वा तस्यायुः प्राणएति योंऽशुं गृह्णाति' इत्येत-दपि केवलम्। तथाच अदाभ्यमिति अंशुमिति च ग्रह-नामधेयम्, नैते यागनामनी-इति संज्ञाकृतकर्म-भेदोऽत्र न भवति॥२।३।२०॥

तदेतन्नवमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) यददाभ्यं गृहीत्वेति गृह्णात्यंशु-मिति द्वयम्। तद्यागो वा गुणोयागः स्याददाभ्यां शुनामतः। ग्रहयोरेव नाम-स्यादानंतर्य्याद्विधिस्तयोः। गुणोयस्तस्य वाक्येन ज्योतिष्टोमाभिगामिता ।२।३।९

(टी०) अनारभ्य श्रूयते 'एषवै हविषा हवि-र्यजते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते' इति,

तथा 'परा वा तस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णाति' इति च। तत्रादाभ्यशब्दस्य ज्योतिरादिवदपूर्वनामत्वात्तन्नामको यागोयजते इत्याख्यातेन विधीयते, अंशुमित्यत्र यजतेरश्रवणेऽपि नाम विशेषबलादेवापूर्वयागविधिः। न चात्र द्रव्यदेवतयोरभावः, ग्रहणलिङ्गेन ज्योतिष्टोम विकृतित्वावगतौ तदीय विध्यन्तातिदेशेन तत्सिद्धेः।

इति प्राप्ते,ब्रूमः—भवत्वदाभ्यांशु शब्दयोर्नामत्वम्, ते च नामनी ग्रहयोरेव स्यातां न तु यागयोः, गृह्णीत्वेति शब्दस्यानन्तरमेव पाठात्; यजतिस्तु व्यवहितः ताद्दशोऽपि यजिरंशुवाक्ये नास्ति। तस्माद् ग्रहयोरेवात्र विधिः; ग्रहणं ज्योतिष्टोमगतस्य सोमरसस्य संस्काररूपोगुणः, ऐन्द्रवायवादिग्रहणसमानत्वात्; यद्यप्यत्र न प्रकृतो ज्योतिष्टोमः, तथापि तत्सम्बन्धिग्रहणद्वारा वाक्याज्ज्योतिष्टोमगामित्वम्। अतएव सोमार्थमदाभ्यांशु गृह्णीत्वेति निर्दिश्यते। अथवा तैत्तिरीयाणां षष्ठकाण्डस्य षष्ठे प्रपाठके प्राकरणिकं विनियोजकं वाक्यं द्रष्टव्यम्। तस्माद् ज्योतिष्टोमे गुणविधिः॥२।३।८॥

इति नवमाधिकरणम्॥

स्यादेतत् अदाभ्यादीनां ग्रहनामतेति न तत्र संज्ञाकृतकर्मान्तरता, 'अग्निं चिनुते' इति श्रुतौ अग्नियोग नामत्वात् भवेत् कर्मान्तरतेति प्रतिपादयति पूर्वपक्षी।

(सू०) अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत।२।३।२१।

(वि०) 'अग्निः—इति 'क्रतुशब्दः' यागवचनः 'प्रतीयेत, कुतः? 'लिङ्गदर्शनात्' 'अग्नेः स्तोत्रमग्नेः शस्त्रम्'—इत्यत्र श्रुतिलिङ्गस्य दर्शनात्, नहि यागादन्यस्य स्तोत्रादिकं भवति; तथाच 'अग्निं चिनुते'—इत्यस्य अग्निनामकं यागं यजेत इत्यर्थः। २।३।२१॥

अत्र समाधत्ते।

(सू०) द्रव्यं वा स्यात् चोदनायास्तदर्थत्वात्।२।३।२२।

(वि०) वेति शङ्कानुत्। 'द्रव्यम्' अग्निमिति द्रव्यनाम (न क्रतुनाम) कुतः? 'चोदनायाः' वाक्यस्य 'तदर्थत्वात्' तथैवार्थप्रतीतेः; तथाच 'अग्निं चिनुते'—इति चयनं श्रूयते न यजनम्, न च चयनं भवति यागस्य, अतोऽग्निद्रव्यस्यैवायं चयनं विधत्ते इति संस्कारविधिः।२।३।२२॥

यदुक्तं लिङ्गदर्शनात् तत्राह।

(सू०) तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि।२।३।२३।

(वि०) 'तत्संयोगात्' तस्य अग्निचयनस्य सम्बन्धात् 'तदाख्यः' अग्न्याख्यः 'क्रतुः' यागः 'स्यात्' अग्नेः स्तोत्रमिति वाक्ये बोध्यो भवेत्, 'तेन' तथाच तेषु वाक्येषु श्रुतानि अग्निपदानि 'धर्मविधायकानि' लाक्षणिकानि। एवञ्च 'अग्नेः स्तोत्रम्' इत्यादौ श्रुतमग्निपदम् अग्निसंयुक्तयागपरम्—इति लिङ्गाभावः॥२।३।२३॥

तदेतद्दशमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) अग्निं चिनुत इत्यत्र यागो वा संस्कृतिर्यजिः। लिङ्गेन यागनामत्वाद् यजिना चानुवादतः॥ रूढ्या द्रव्यस्य नामैतद् वह्नेराधानवच्चितिः। संस्कृतिः संस्कृते वह्नावग्निष्टोमो विधीयते॥२।३।२४॥

१३२

(मू०) यथाकारी यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेन ॥३।

(टी०) यथा कर्त्तुं यथाचरितुं शीलमस्य सोऽयं मनुष्यः 'यथाकारी यथाचारी' सः 'तथा भवति' । 'साधुकारी साधुः भवति पापकारी पापः भवति । पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेन' ॥३॥

(ता०) पाप-कर्मणस्त्यागेन पुण्यस्यानुष्ठानेन च आत्मानं पवित्रीकृत्य ईश्वर-सहवासं लभेत ॥३॥

१३३

(मू०) यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वाइव सारथेः ।४॥

(टी०) 'यः तु' 'अविज्ञानवान्' अविवेकी 'भवति' 'अयुक्तेन' अप्रगृहीतेन 'मनसा सदा' युक्तो भवति । 'तस्य' 'अकुशलस्य 'इन्द्रियाणि' 'अवश्यानि' 'अशक्यनिवारणानि' 'दुष्टाश्वाः' अदान्ताश्वाः 'इव' 'सारथेः' भवन्ति ॥४॥

(ता०) अवशं मनः तं दुर्भाग्यं पुरुषं धर्मपथाद् प्रच्यावयति, किञ्च कण्टकमयपापारण्ये निपात्य तमशेषयन्त्रणां प्रापयति । अतो यथा कथमपि मन इन्द्रियं च बुद्धिवृत्तेरवशीभूतं धर्मशासनाद् बहिर्भूतञ्च न भवेत् ॥४॥

१३४

(मू०) यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।५॥

(टी०) 'यः' तु पुनः पूर्व्वोक्तविपरीतः 'भवति' 'विज्ञानवान्' विवेकवान् 'युक्तेन मनसा' प्रगृहीतमनाः 'सदा' । तस्य इन्द्रियाणि' 'वश्यानि' प्रवर्त्तयितुं निवर्त्तयितुं वा शक्यानि 'सदश्वाः इव सारथेः' ॥५॥

(ता०) यस्येन्द्रियाणि बुद्धिवृत्तेरधीनानि, तं पुरुषं तानीश्वर-प्रतिष्ठित-धर्मपथं गमयंति किञ्च तस्यातीव कल्याणं साधुवन्ति ॥५॥

१३५

(मू०) यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः । न स तत् पदमाप्नोति संसारञ्चाधिगच्छति।६॥

(टी०) 'यः तु अविज्ञानवान् भवति' 'अमनस्कः' अप्रगृहीतमनस्कः सतत एव 'सदा अशुचिः' । 'न सः' 'तत्' ब्रह्म यत् परं 'पदं आप्नोति संसारं च अधिगच्छति' ॥६॥

(ता०) य ईश्वरस्य विशुद्ध-स्वरूपं न जानाति, यः स्वमनः स्व-वशं कर्त्तुं न क्षमते, यः पापचिन्तया पापालापेन पापानुष्ठानेन च सदा अपवित्रः स संसारस्य कुटिले एव पथि वम्भ्रमते, संसार-पारं यदस्ति ब्रह्मपदं न तत् सम्पद्यते ॥६॥

१३६

(मू०) यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत् पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते ।७॥

(टी०) 'यः तु विज्ञानवान् भवति' 'समनस्कः' युक्तमनाः 'सदा शुचिः' । 'सः तु तत्पदं आप्नोति' 'यस्मात्' आप्तात् पदात् प्रच्युतः सन् 'भूयः' पुनः 'न जायते' संसारे ॥७॥

(ता०) यो धर्ममाश्रित्य विशुद्धचित्तोभवेत्, धर्मस्तस्य परमबान्धवोभवन् तं ब्रह्म-निकेतनं गमयति; यतो न तस्य पुनः प्रच्यवनपूर्विका भवेदधोगतिः ॥७॥

१३७

(मू०) विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनःपारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदं ।८॥

(टी०) 'यः तु' 'विज्ञानसारथिः' विज्ञानं सारथिर्यस्येति 'मनःप्रग्रहवान्' प्रगृहीतमनाः 'नरः' विद्वान्। 'सः' 'अध्वनः' संसारगतेः 'पारं' परमेवाधिगन्तव्यं 'आप्नोति' 'तत्' 'विष्णोः' व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनः 'परमं' प्रकृष्टं 'पदं' स्थानं ॥८॥

(ता०) यः स्वीयं मनो ज्ञानस्य धर्मस्य च वश्यं नयति, स संसारस्य दुर्जयमोहाद् विमुच्य सर्वव्यापि-परब्रह्म-लाभं कुरुते ॥८॥

१३८

(मू०) अनन्दानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधोजनाः ।९॥

(टी०) 'अनन्दाः' अनानन्दाः असुखाः 'नाम ते लोकाः' अन्धेन अदर्शनलक्षणेन 'तमसा आवृताः' तमसा अज्ञानेन आवृताः व्याप्ताः। 'तान्' लोकान् 'ते' 'प्रेत्य'-मृत्वा 'अभिगच्छन्ति' अभियान्ति। के ये 'अविद्वांसः' ब्रह्मावगमवर्ज्जिताः 'अबुधः' अबुधाः दुर्बुद्धयोऽयुक्तमनसः 'जनाः' ॥९॥

(ता०) यैरत्र भूलोके ज्ञान-धर्मोपार्जनमवहित्य पवित्र-ब्रह्मानन्दोपभोगं न कृतम्, ते मृत्योरनन्तरं तं लब्धुं नाधिकारिणः। यथा यथात्र ज्ञान-धर्म-सहकृत ब्रह्मानन्दोपभोगोभवेत्, तथातथैव भवितव्योत्कृष्टा गतिः। अत इह तिष्ठन्नेव युक्तमना पवित्रोभवन्नीश्वरेण साकं सम्बन्ध-निवद्धं कुर्य्यात्; उत्कृष्टगतिमवाप्तुं नान्यः कश्चनोपायः ॥९॥

इति।

षोड़शोऽध्यायः।

१३९

(मू०) शान्तोदान्तउपरतस्तितिक्षुः समाहितोभूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति ।१

(टी०) 'शान्तः' इन्द्रियलौल्यात् उपशान्तः 'दान्तः' युक्तमनाः 'उपरतः' विनिर्मुक्तः 'तितिक्षुः' द्वन्द्वसहिष्णुः एकाग्ररूपेण 'समाहितः भूत्वा' 'आत्मनि' जीवात्मनि 'एव' 'आत्मानं' परमात्मानं स्वयम्भुवं 'पश्यति' ब्रह्मवित् ॥१॥

(ता०) पक्षे सांसारिकसुखस्य कामना, पक्षान्तरे ईश्वरलाभस्य स्पृहा। सांसारिक-सुखवासना यथा यथा ह्रसति, तथा तथैवेश्वर-लाभ-स्पृहा प्रदीप्ता भवति। प्रदीप्तायाञ्चेश्वर-लाभ-स्पृहायां बुद्धिस्तमनुसन्दधाति, अनुसन्धाय च यदा तमेव पूर्णस्वरूपं प्राप्नोति, तदा तं सर्वत्र पूर्णमीक्षते। ब्रह्मविद् ज्ञानप्रसादात् विशुद्धोभवन् तं सत्यस्य सत्यम् प्राणस्य प्राणम् चेतनस्य चेतनम् मङ्गल-स्वरूपं स्वान्तरे स्वीयात्मन्येव लोकते, किञ्च कृतार्थमन्योभवन् परमपवित्र-ब्रह्मानन्दमुपभुंक्ते। स पूर्णः पुरुषो नास्मभ्यं दूरे, यत्रास्माकं जीवात्मा तत्रैव तिष्ठति ; सर्वे लोकाः सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः तस्यैव क्रोड़माश्रित्य तिष्ठन्ति। यावत् न स्फुटति ज्ञाननेत्रं, तावत्सोऽतिदूरः ; स्फुटज्ज्ञाननेत्रस्तु शान्तोदान्त उपरत स्तितिक्षुः समाहितोभवन् स्वात्मनि तं पश्यति ॥१॥

१४०

(मू०) नैनं पाप्मा तरति सर्व्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति सर्व्वं पाप्मानं तपति। विपापोविरजोऽविचिकित्सोब्राह्मणोभवति ।२।

(टी०) 'न' 'एनं' साधकं 'पाप्मा' पापः 'तरति' प्राप्नोति अयन्तु 'सर्व्वं पाप्मानं' 'तरति' अतिक्रामति 'न' च 'एनं पाप्मा' 'तपति' तापयति अयं

'सर्व्वं पाप्मानं' 'तपति' तापयति। सः 'विपापः' विगतपापः 'विरजः' विगतचित्तमलः 'अविचिकित्सः' करतलन्यस्तामलकवत् अस्ति ब्रह्मेति निश्चितमतिः 'ब्राह्मणः' 'भवति' ॥२॥

(ता०) यो ज्ञाननेत्रं तत्रैव ब्रह्मैकलक्ष्ये संस्थाप्य धर्म्मपथे पद-चालनां करोति, पापो न तमाश्रयितुं शक्यते। स पाप-तापात् प्रमुच्य ब्रह्मोपासको ब्राह्मणो भवेत् ॥२॥

१४१

(मू०) स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्योविमुक्तोऽमृतोभवति।३।

(टी०) स विद्वान् 'मोदते' 'मोदनीयं' हर्षणीयं ब्रह्म 'हि लब्ध्वा'। 'तरति शोकं' मानसं सन्तापं अतिक्रान्तोभवति 'तरति पाप्मानं'। 'गुहाग्रन्थिभ्यः' हृदयाज्ञानमोहग्रन्थिभ्यः 'विमुक्तः' सन् 'अमृतः भवति' ॥३॥

(ता०) मनसः तृप्तिसाधनमेव पदार्थं परब्रह्म लब्ध्वा तद्गतप्राणो ब्रह्मज्ञोऽनिर्वचनीय सुखसम्भोगं कुरुते। येन लब्धं परब्रह्म, स तस्यैवेच्छानुसारतः सांसारिकं निर्वहति, फल-कामनाशून्येन तेन तत्प्रतिष्ठित-धर्म-मार्गे एव विचर्य्यते किञ्च स्वार्थपरतां विसृज्य तत्प्रियं साधयितुमविरतं यतते। अतः स शोकात् पापात् उत्तीर्णो भवति अपिच सांसारिक-मोह-पाशात् प्रमुच्य चिरन्तनपरब्रह्मणि नित्यमवतिष्ठते॥३॥

१४२

(मू०) सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्म्मान्न प्रमदितव्यं कुशलान्न प्रमदितव्यं।४।

(टी०) 'सत्यात्' 'न' 'प्रमदितव्यं' विच्छेत्तव्यं अनृतं न वक्तव्यं 'धर्म्मात् न प्रमदितव्यं' 'कुशलात्' आत्मरक्षार्थात् मङ्गलयुक्तात् कर्म्मणः 'न प्रमदितव्यं' ॥४॥

(ता०) सत्यकथनं सत्यव्यवहारश्च ब्राह्मधर्म्मस्य जीवनम्। ये वै सत्यस्वरूपं ब्रह्म लब्धुमिच्छन्ति, न कदापि ते सत्याद् विच्युता भवंति। परब्रह्मपरायणा ब्रह्मनिष्ठाः साधुभावेन सर्व्वदा तस्य धर्म्मावह-मङ्गलालय-प्रतिष्ठित-धर्म्मानुष्ठाने तत्परास्तिष्ठेयुः। धर्म्मानुष्ठानमन्तरा हृदयो पवित्रो न भवति, ईश्वर-प्रसादं न लभते, ब्रह्म-ज्ञानं न प्रकाशते। अतो मुमुक्षुर्न कदापि धर्म्मादविच्छिन्नोभवेत्। ईश्वरीय-मङ्गलेच्छया सह स्व-साधिच्छां योजयित्वा तदादिष्ट-संसार-हित-साधनेऽप्रवृत्ते तन्मङ्गलभावं गृहीतुं न शक्यते। अतः शुभकार्य्यतो न विश्लिष्टो भवेत् ॥४॥

१४३

(मू०) सत्यं वद। समूलोवा एषपरिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।५।

(टी०) 'सत्यं' सत्यवचनं 'वद'। 'समूलः' सह मूलेन 'वै' 'एषः' 'परिशुष्यति' शोषमुपैति 'यः' 'अनृतं' अयथाभूतार्थं 'अभिवदति' ॥५॥

(ता०) सत्यमेव ब्रह्म, सत्यमेव धर्म्मस्य मूलम्; अतो ब्रह्मपरायणः साधुः सत्यव्रतोभवन् सत्यं वदेत्, सत्यं व्यवहरेत् ॥५॥

१४४

(मू०) धर्म्मं चर। धर्म्मात् परं नास्ति। धर्म्मः सर्व्वेषां भूतानां मधु।६।

(टी०) 'धर्म्मं' 'चर' आचर। 'धर्म्मात् परं नास्ति' धर्म्मेण हि सर्व्वे नियम्यन्ते। 'धर्म्मः' सर्व्वेषां नियन्ता प्राणिभिरनुष्ठीयमानरूपश्च 'सर्व्वेषां भूतानां उपकारकत्वेन 'मधु' ॥६॥

(ता०) कर्त्तव्यसाधनमेव धर्म्मलक्षणम्। स्वं प्रति यथा कर्त्तव्यम्, पितरं मातरं च प्रति यथा कर्त्तव्यम्, स्त्रियं पुत्रं च प्रति यथा कर्त्तव्यम्, प्रतिवेशवासिनं बान्धवांश्च प्रति यथा कर्त्तव्यम्, प्रभुं प्रति यथाकर्त्तव्यम्, दीन-दरिद्र-निराश्रयादिकं प्रति यथा कर्त्तव्यम्, ईश्वरं प्रति यथा कर्त्तव्यम्, तदित्येवं कर्त्तव्य-

कर्म्मैव धर्म इत्युच्यते। यस्मिन् देशे, यत्र काले यस्यामवस्थायाम्, यत् कर्मास्माकं कर्त्तव्यम्, तस्मिन्नेव देशे, तत्रैव काले, तस्यामेवावस्थायाम् तदेव कर्म कर्त्तुमस्माकं प्रत्येकस्य शुभबुद्धौ सोऽनुज्ञणमादेशं प्रेरयति वयं तेषामेवादेशानां नितान्तं वशवर्त्तिनः प्रभूय सत्यस्य पथि, धर्मस्य पथि, कल्याणस्य पथि, पद-निक्षेपं प्रकृत्य व्रजन्तश्छिन्नशिरस्का अपि तस्यामृत-निकेतने जीवनं गृहीत्वैवोपतिष्ठेम ॥६॥

१४५

(मू०) श्रद्धया देयं। अश्रद्धया अदेयं।७।

(टी०) यत्किञ्चित् देयं तत् 'श्रद्धया' एव 'देयं' दातव्यं। 'अश्रद्धया अदेयं' ॥७॥

(ता०) शोकाविष्टो भवन्नदद्यात्, अपितु श्रद्धया सह दानं कुर्य्यात् ॥७॥

१४६

(मू०) मातृदेवोभव पितृदेवोभव आचार्य्यदेवोभव।८।

(टी०) माता देवोयस्य सः मातृदेवः त्वं 'मातृदेवः' 'भव'। एवं 'पितृदेवः भव' 'आचार्य्यदेवः भव' ॥८॥

(ता०) यौ पितरौ अमुष्यां पृथिव्याम् ईश्वरस्य मङ्गलरूपस्य प्रतिरूपौ भवन्तौ तस्यप्रतिनिधिरूपौ सन्तौ अस्मदादीनां सस्नेहं रक्षणं पालनं च कुरुतः, किञ्च यस्य सद्गुरोरुपदेशेन वयम् अज्ञान-तिमिरतो विमुच्य अजरामराभयनिरतिशयं ब्रह्म लब्धवन्तः, कृतज्ञाः सन्तः तान् श्रद्दधेयुः, संभजेयुः ॥८॥

१४७

(मू०) यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।९।

(टी०) 'यानि' 'अनवद्यानि' अनिन्दितानि 'कर्म्माणि' 'तानि सेवितव्यानि' त्वया। 'नो' 'इतराणि' निन्दितानि कर्त्तव्यानि ॥९॥

(ता०) सकलमङ्गलालयपरमेश्वरस्य शुभमभिप्रायं लक्ष्यीकृत्य शुभाकाङ्क्षी भवन् शुभकर्म अनुष्ठेयम्; अशुभस्य कर्मणोऽनुष्ठानं नाचरेत् ॥९॥

१४८

(मू०) यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।१०।

(टी०) 'यानि' 'अस्माकं' आचार्य्याणां 'सुचरितानि' शोभनानि आचरितानि 'तानि' एव 'त्वया' उपास्यानि नियमेन कर्त्तव्यानि 'नो' 'इतराणि' विपरीतानि ॥१०॥

(ता०) ब्रह्मविद आचार्य्या उपदिशन्ति, वयं यान् सदुपदेशान् प्रयच्छामः अपिच यान् सदनुष्ठानान् आचरयामः, तत्समस्तमनुसर; असाधूनां दृष्टान्तमनुसृत्य अननुष्ठेये कर्मणि प्रवृत्तो माभूः। १० ॥

१४९

(मू०) एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।११।

(टी०) 'एतैः उपायैः' पूर्व्वोक्तैर्हेयोपादेयैः 'यतते' प्रयत्नं करोति मुमुक्षुः सन् 'यः तु' विद्वान् ब्रह्मवित्। 'तस्य' विदुषः 'एषः आत्मा' 'विशते' संप्रविशति 'ब्रह्मधाम' आश्रयं ॥११॥

(ता०) यो ब्रह्मवित् सत्यमवलम्ब्य धर्मस्यानुगतः प्रभूय शुभकर्मणोऽनुष्ठानं प्रकृत्य मातरं पितरम् आचार्य्यञ्च निषेव्य ब्रह्म प्राप्तुं यतते; तस्यात्मा ब्रह्म-निकेतने प्रविशेत्। स ब्रह्म लब्ध्वा तेन साकं नित्यं सहवासमवाप्य भूमानन्दमुपभुङ्क्ते ॥११॥

१५०

(मू०) शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।१२।

(टी०) शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥१२॥

अथ तृतीयः प्रपाठकः।

——०(०)०——

एतत्प्रपाठकगताः सर्व्वे मन्त्रा ऐन्द्राः—इति देवता-सङ्केतः।

प्रथमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

प्रगाथऋषिः गायत्रीच्छन्दः।

१ २   ३ १ २   ३ १ र २र
उत्त्वा मदन्तु सोमाः कृणुष्व राधो
१ २   ३ १ २
अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

हे 'अद्रिवः' अद्रिमन् वज्रिन् इन्द्र! 'सोमाः' अस्माभिरभिषुताइमे 'त्वा' त्वाम् 'उत्। मदन्तु' उन्मादयन्तु अतिशयं मोदयन्तु, हृष्टश्च त्वम् अस्माकं यज्ञस्य 'राध' राधं सिद्धिं 'कृणुष्व' कुरुष्व अपिच 'ब्रह्मद्विषः' वेद-द्वेषकारिणः 'अव। जहि' नाशं गमय। यज्ञमिमं सफलं निरावाधञ्च कुरु—इति भावः। अद्रिवः—इति अद्रिर्वज्रं तद्विद्यतेऽस्य अद्रिमत्, ततः छन्दसीरः' (८।२१५) इति इवर्णान्तात् परिभूतस्य मतोर्मस्य वः, तस्य सम्बोधने अद्रिवन्निति स्थिते 'मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) इति नस्य रुत्वे रूपम्। उत्—इति उत्कृष्टार्थः, 'व्यवहिताश्च (१।४।८२)' इति त्वा-व्यवहितेऽपि मदन्तु क्रियया युक्तः; भाष्यनये पादपूरणार्थ एषः। मदन्तु-इति 'छन्दस्युभयथा' (३।४।११७) इति सार्वधातुकस्यापि लटोश्चेरार्द्धधातुकत्वाण्णिचो लोपः। राधः—इति राध-साध संसिद्धाविति-खादेरूपम्, 'सुपांसु (७।१।३९' इत्यादिना अमः सुः। कृणुष्व-इति 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) इति विकरण व्यत्यये रूपम्; तत्रैव कार्य्यमिति-विवक्षया आत्मनेपदम्। अव-इति जहि-इत्यनेन (१।४।८२) सम्बद्धः। ब्रह्मद्विषः-इति ये हि वेद-द्वेषकारिणः तएव नास्तिका यज्ञ-विघ्नकराः अतः तान्। राधो अद्रिवः—इति 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' (६।१।११५) इति प्रकृतिभावः ॥१॥

হে বজ্রধারী ইন্দ্র! আমাদিগকর্ত্তৃক সংস্কৃত এই সমস্ত সোমরস তোমাকে অতিশয় আমোদিত করুক; তুমি হৃষ্ট হইয়া আমাদিগের যজ্ঞ সিদ্ধ কর ইহা তোমারই কর্ম্ম এবং যে সমস্ত বেদ-দ্বেষী নাস্তিক তাহাদিগকে বিনাশ কর; অর্থাৎ সোমপান করিয়া আমাদিগের প্রতি সন্তুষ্ট হওত এই যজ্ঞ সফল ও নিরাবাধ কর ॥১॥

यामम्।

५ र   र ४ ५   २ १र
उत्त्वा मदन्तु सोहोमाः। कृणौ हो।
२ १र   २र १   २ १
ष्वरौ हो। धा अद्रिवाः। अ। व ब्रा २३
२ १   २ २
ह्मा। द्विषा२ः। हा २ यि। औ ३ हो
२ १ ३   ५र र
३१ ये ३। जा २ हा २३४ औ हो वा।
२ २ १ १ १ १
ए ३। ययू २ ३ ४ ५ः ॥१॥

द्वितीया ऋक्।

विश्वामित्रऋषिः।

र २   ३ १ २ ३ २ उ   ३ १ २
गिर्वणः पाहि नः सुतम् मधोर्धाराभि
३ १ २ ३ १र   २र
रज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥२॥

हे इन्द्र ! 'गिर्वणः' स्तोत्रलक्षणसामभिः स्तूयमानः त्वं 'मधोः' मधुनः अमृतस्य 'धाराभिः' 'अज्यसे' अक्तोऽसि 'नः' अस्माकं 'सुतम्' अभिषुतम् 'पाहि' रक्ष; रक्षिते च 'त्वादातम्' त्वद्दत्तं 'यशः' वयमाप्स्याम:, निर्विघ्नसमाप्ते यागे यद्यशोभव्यं तत्त्वद्दत्तमेवेति ज्ञास्याम इति यावत्; इत्यनेन स्वस्य कृतज्ञतां प्रतिपादितम्। 'गिर्वणः'—इति गीर्भिः स्तोत्र-लक्षण-साम-वाग्भिः वन्यते सम्भज्यते सः। मधोः-इति 'सुप्तिङ् (३।१।८५) इत्यादि वचनाल्लिङ्गव्यत्यये रूपम्। त्वादातम् — इति' प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (८।१।२४)' इति त्वादेशे 'आ सर्वनाम्नः (६।३।९१)' इत्यात्वे बाहुलकाद् तद्भावाभावे च रूपम्। इत्—इति पादपूरणे॥२॥

হে ইন্দ্র ! স্তোত্রসাম দ্বারা স্তূয়মান তুমি, অমৃত ধারায় সিক্ত হইতেছে, আমাদিগের যজ্ঞ রক্ষা কর ; এই যজ্ঞ রক্ষিত হইলে অর্থাৎ নির্ব্বিঘ্নে সমাপিত হইলে আমাদিগের যে যশ হইবে তাহা তোমারই দেওয়া জ্ঞান করিব। (এতাবতা কৃতজ্ঞ থাকিব ইহাই বলা হইল) ॥২॥

हरिश्रीनिधनम्।

४ ५ र ४ ५ ५
गिर्वणः पाहि नः सुतम्। गिर्वणः
४ १ १ र र र २
पा। हि नः सुता२म्। मधोर्धाराभि
२ १ २ १
राहो २। ज्या से २३। हाउ वा। इन्द्रा
२ १ २ २
त्वा २३ दा। तमाये ३ तू। या२ शा २३४
५र र २ २ १ १ १ १
औ हो वा। हरी ३ श्री २ ३ ४ ५: ॥२

तृतीया ऋक्।

वामदेवऋषिः।

१ २ २ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १र २र ३
सदा वइन्द्रश्चर्कृषदा उपोनु स सप-
२ ३ २ ३-२उ ३ १ २
र्यन्। न देवोवृतः शूर इन्द्रः ॥३॥

वामदेवः स्व-पुत्रपौत्रानाह। 'शूरः' विक्रान्तः 'वृतः' अर्थिभिरिति शेषः 'देवः' दानादिगुणयुक्तः 'इन्द्रः' इन्द्रनामकः 'सः' पूर्ववर्णितः 'इन्द्रः' ईश्वरः 'सदा' सर्वदा 'वः' युष्मान् 'चर्कृषत्' अतिशयेन करोतु प्रवर्द्धयतु,कइव? 'सपर्यन्। न' परिचरन्निव। चर्कृषत्—इति करोतेर्यङ्लुगन्तस्य लेटोरूपम्, तथाच लोडर्थे लेटि 'सिब्बहुलं लेटि (३।१।३४)' इति सिपि, 'इतश्च लोपः- परस्मैपदेषु (३।४।९७)' इति तिप इकारलोपे, लेटो डाटौ (३।४।९४)'इति तिप अडागमे रूपम्। सपर्यन्—इति सपर्यतेर्नामधातोः शतरि रूपम्। न-इति 'उपरिष्टाद् उपमार्थीयः' - इति नैरुक्ताः आ, उप, उ, नु-इति चत्वारः पादपूरणे ॥३॥

বামদেব ঋষি নিজ পুত্রপৌত্রাদিকে আশীর্ব্বাদ করিতেছেন। বিক্রান্ত অর্থিগণ কর্ত্তৃক বৃত হইয়া যথাকাম-ফল-প্রদাতা, ইন্দ্রনামে পূর্ব্ব প্রস্তুত, সেই, ঈশ্বর সম্মান পূর্ব্বক তোমাদিগকে পরিবর্দ্ধিত করুন ॥৩॥

असितम्।

४ ५ २ २ ३ ४ ५
सादा। व इन्द्रा ३:। च र्षादा।
२ र १ २ १ ३ २र १
उपोनु सा३:। सापर्यन्। नदेवा २३:।
२ २ २ ४
वता ३४३:। शू ३४३। रा३ आ ५ यिन्द्रा
६५६: ॥३॥

चतुर्थी ऋक्।

श्रुतकक्ष ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
आत्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सि-
२ २उ ३ १ २
न्धवः। न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥

हे 'इन्द्र !' 'इन्दवः' स्तुतयः 'त्वा' त्वाम् 'आविशन्तु' प्रविशन्तु, यतः 'त्वाम्' त्वत्तः 'न। अतिरिच्यते' न कोऽपि श्रेष्ठः। अत्र दृष्टान्तः—'सिन्धवः'

नद्यः 'समुद्रम्' 'इव'। यथा नद्योयेन केनापि सरलेन वा पथा गच्छन्त्यः समुद्रमेवाविशन्ति, तद्वत् स्तुतयः उद्गातृभिर्गीताः प्रस्तोतृभिः पादशः पठिताः अध्वर्युभिर्वाक्यमात्रव्यवहृता वा सर्वाएव त्वामेव देवश्रेष्ठम् आविशन्तु इति भावः। इत्यञ्च 'प्रधानेषु कृतोयत्नः समस्तफलभाग् भवेत्' इति पातञ्जलन्यायेन त्वदुपासनयैव सर्वोपासना-फलमाप्स्याम इति हृदयार्थः। इन्दवः-इति उन्दीक्लेदने इत्यस्य रूपम्, क्लेदनं चार्द्रीकरणम्, उनत्ति स्तुत्यमार्द्रीकरोतीति 'उन्देरिच्चेत्युप्रत्ययः आद्यस्येत्वञ्च। त्वामिति पञ्चम्यर्थे द्वितीया ॥४॥

হে ইন্দ্র যেরূপ নদী সকল সরল অথবা কুটিল যে কোন ভাবে গমন করুক সমুদ্রেই উপস্থিত হয়, সেইরূপ উদ্গাতৃগণ কর্ত্তৃক গীত, প্রস্তোতৃগণ কর্ত্তৃক পাদবিভাগে পঠিত, অধ্বর্য্যুগণ কর্ত্তৃক সাধারণ বাক্য রূপে উচ্চারিত, সমস্ত স্তুতি তোমাতেই উপস্থিত হউক; তোমা হইতে শ্রেষ্ঠ কেহই নাই * ॥৪॥

सिन्धु साम।

५र र ५ २ १
आत्वा विशन्त्विन्दा ईवाः। समुद्रमि-
२ १ २ १ २ १ २
वसिन्धवः। समुद्रमि। वसिन्धा २३वाः।
२र र २ र २ १र
नत्वामिन्द्रातिरिच्यते। नत्वामा २३
२ १ २ १
यिन्द्रा। तिरिच्या २३ ता ३४३ यि। औ
५
२३४५ ई। डा ॥४॥

पञ्चमी ऋक्।

मधुच्छन्दऋषिः।

३ २ ३ १ २ ३१र २र २ २ ३ १
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्कैभिरर्कि-
२ ३ १ २
णः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥५॥

पूर्वमुक्तमिन्दवः सिन्धवइव एकत्रैव प्रविशन्ति-इति, तदेवात्र स्फुटीभूयते। 'गाथिनः' उद्गातारः (सामवेदिनः) बृहत् 'बृहन्नामकसाम्ना 'इन्द्रम्। इत्' इन्द्रमेव 'अनूषत' नुवन्ति अभिष्टुवन्ति, 'अर्किणः' प्रस्तोतारः (ऋग्वेदिनः) 'अर्कैभिः' अर्कैः अर्कनामऋग्भिः 'इन्द्रम्' इन्द्रमेव अभिष्टुवन्ति, अध्वर्यवः (यजुर्वेदिनः) 'वाणी' वाणीभिः गद्यलक्षणमन्त्रैः 'इन्द्रम्' इन्द्रमेव अभिष्टुवन्ति। गाथिनः—इति गाथाः सामानि तद्वन्तः। बृहत्-इति (७।१।१।३९) तृतीयायालुक्। इत्—इति एवार्थे, उत्तरत्रेन्द्रमित्येतयोरप्युपतिष्ठते। अनूषत—इति नूस्तुताविरत्यस्य रूपम्, 'चन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) इति लुङ्; एकैवैषा क्रिया सर्वत्र सम्बध्या। अर्किणः—इति अर्काः स्वनामप्रसिद्धाऋग्वेद-मन्त्राः तद्वन्तः। अर्कैभिः—इति (७।१।१०) भिस ऐसाभावः। वाणी-इति (७।१।३९) तृतीयायालुक्, यजुषोनिच्छन्दस्त्वेन ऋक्त्वेन व्यवहाराभावः, गानस्वरूपाभावात् सामत्वेनापि न व्यवहारः, प्रेषलक्षणान्वितत्वेन वाणीमात्रेणैव व्यवहारः; अतएवात्र वाणीभिः स्तावकोऽध्वर्यवः (यजुर्वेदिनः) एव बुध्यन्ते ॥५॥

সামবেদীরা (উদ্‌গাতারা) বৃহৎ সাম দ্বারা ইন্দ্রের স্তুতি করিয়া থাকেন, ঋগ্বেদীরা (প্রস্তোতারা) অর্কমন্ত্র দ্বারা ইন্দ্রের স্তুতি করিয়া থাকেন, যজুর্বেদীরা (অধ্বর্য্যুরা) (ছন্দোরহিত, গীতি রহিত) গদ্যরূপ বাক্য-দ্বারা ইন্দ্রেরই স্তুতি করিয়া পাকেন ॥৫॥

५ ३ २र ३ ४र ५ २ १ २
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहात्। इन्द्राम-
१ २ १ १ २
र्काइ। भिरर्किणाः। इन्द्रं वाणी ३ः।
२ २ ४ ४
ह्वा ३ हायि। अनू ५ षता। ह्वो ५यि।
डा ॥५॥

* এতাবতা তুমি সর্ব্বশ্রেষ্ঠ, শ্রেষ্ঠের উপাসনাতেই সমস্ত উপাসনার ফল প্রাপ্ত হইতে পারিবে—এই ভাব প্রকাশিত হইল।

षष्ठी ऋक्।

सुकक्षऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्रइषे ददातु नऋभुक्षण ऋभुंर-
२ ३ १ २ ३ १ २
यिम्। वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥

'वाजी' वेगवान् 'इन्द्र' ईश्वरः 'इषे' ऐश्वर्याय 'ऋभुक्षणम्' महान्तम् 'ऋभुम्। रयिम्' पुत्रलक्षणं धनम् 'नः' अस्मभ्यम् 'ददातु' अपिच 'वाजिनम्' अश्वम् 'ददातु'। वाजइति वेगपर्यायेषु—ऋभुक्षेति महत्पर्यायेषु—ऋभुमित्यपत्यपर्यायेषु—रयिमिति धनपर्यायेषु—निघण्टवः। अत्र वाजीति विशेषणेनेन्द्रस्य आशुदातृत्वं सूचितम्; अश्व-प्रार्थनं उपलक्षणं गवादिसर्वैश्वर्य्यस्य। इषे-इति तादर्थ्ये चतुर्थी ऋभुं रयिम्-इति रेफपरकत्वेनानुस्वारस्यानुनासिकः प्रातिशाख्यविधानात् ॥६॥

বেগবান ইন্দ্র অতি সত্বর হইয়া আমাদিগকে মহদ্গুণসম্পন্ন পুত্র ধন প্রদান করুন এবং অশ্ব প্রভৃতি কতকগুলি ঐশ্বর্য্যসূচক পশ্বাদি প্রদান করুন ॥৬॥

ऐन्द्रम्।

४ ५ ४ र ५ र ४
इन्द्रइषे ददातुनः। ओहायि।
२ १ ३ २ ३ ५
ऋभु। क्षणा २म्। ऋभुंरा २३४ यीम्।
२र र ३ २ २र १र २र १
वाजो ददातु वा ३। वाजीददा। तुवो
५ ४ ५
२३४वा। जा ५ यि नो ६ हायि ॥६॥

सप्तमी ऋक्।

गृत्समदऋषिः।

१ २र ३२ ३ ३ २ १र २र
इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदपचुच्यवत्।
२उ ३ २र २र
स हि स्थिरोविचर्षणिः ॥७॥

'इन्द्रः' ईश्वरः 'महत्। भयम्' 'अभीषत्' अभ्यसदत् पर्युपस्थितम् 'अङ्ग' क्षिप्रम् 'अप। चुच्यवत्' अपच्यावयति अपनयति 'हि' यतः 'सः' 'स्थिरः' अविचलः पुरुषः 'विचर्षणिः' लोकपालत्वात्सर्वमनुष्याणां शुभस्य अशुभस्य च कर्मणो द्रष्टा। इन्द्रो-अङ्ग-इति (६।१।११५) एङः प्रकृतिभावः। अभीषत्-इति अभिपूर्वस्य सीदतेः लुङि बाहुलकाद्रूपम्, 'निपातस्य च' (६।३।१३६) इति दीर्घः, 'पूर्वपदात्' (८।३।११६) इति षत्वम्। चुच्यवत्-इति च्यावयतेर्लुङोरूपम्; वर्त्तमाने (३।४।६) लुङ्, अडभावो बाहुलकात् ॥७॥

ঈশ্বর, আমাদিগের উপস্থিত মহদ্ভয় অতি শীঘ্র দূর করেন; যেহেতু তিনি অচল, সর্ব্ব-লোক-পাতা, সকল জীবের শুভাশুভ সমস্ত কার্য্যের দ্রষ্টা ॥৭॥

सौमित्रम्।

५ र २ १ २
इन्द्रोअङ्गा। महद्भा २३ याम्।
१ र २ १ २ ३ २
अभीषद। पचुच्या २३ वा ३४ त्। सहा
३ २ ४ ५ ४
३४ यि स्थिरा ३ः। विचो वा। षा ५
५
णो ६ हायि ॥७॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

ब्रह्माण्डकारुङ्करणाद्यलिपुङ्गारुण्यसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाब्धिवेद्यम्मननेन मान्यं वन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्प्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०) [October, 1869.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १) [२६ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

व्यवस्थापत्रम्।

नमः

जिलानवद्वीपान्तर्गतोलानिवासिभूम्यधिकारि-श्रीवामनदासमुखोपाध्यायोबङ्गजनपदप्रसिद्धः, अयमार्यशास्त्रार्थनिपुणोविद्वान् विद्वदादरकृद्ब्रह्मण्यानुरक्तोब्राह्मणप्रियश्चिरम्। कतिपयहायन--तोऽस्य सदसि ब्राह्मणानामाह्निककृत्यविचारः प्रवृत्तः। तथाच बहुतराणां श्रुतिस्मृतीतिहाससङ्ग्रहग्रन्थादीनामेकवाक्यतामन्विष्यमाणेन, स्वमस्तिष्कमालोड़यितुमुद्यतेन, विविधविद्याविशारदविहितविस्तरव्याख्यानमाकलयता, तत्त्वं गवेषयताऽनेन, महता, गोभिलाचार्यसूत्रसामवेदीयसन्ध्याङ्गप्राणायामसूत्रस्य यथायथमर्थमाख्यातुमभ्यर्थितावयमब्दावधि, उत्तेजिताश्च प्रायः सर्वदा। परममरकृत्यनिरूपणमस्मादृशानां पदवाक्यप्रमाणशास्त्रापारङ्गमानामक्षरयोजनेऽप्यपाटवानामस्वस्तये यदि भवेदिति तत्तैरस्माभिरत्राद्यापिनोच्छ्वणोऽकारिषाताम्। अद्यत्वस्य विचारणमान्दोलनञ्च कर्त्तव्यमाज्ञानं सर्वैषामेवसामवेदिनां, सन्ध्या विद्वदविद्वत्साधारणकर्त्तव्यत्वात्—इत्येवं विचार्य यथामति व्याख्यायैतद्वाक्यार्थविदामन्तिकं नयामः, तेषां दृष्ट्यैव विगतसंशयत्वेन भाव्यमिति शम्।

तथाहि, सूत्रम्—

‘पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः, एवं त्रीन् कृत्वा सप्त वा षोड़श वा, आचामेत्’

तदिदं व्याख्यामः—

‘पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः’—इत्येकं वाक्यम्, उत्पत्तिविधिः; कर्मस्वरूपमात्रबोधकत्वात्। एवमित्यादिषोड़शवेत्यन्तोगुणविधिः, त्रित्वादिसंख्यात्मगुणं विधत्ते। ‘आचामेत्’ इत्येकं वाक्यम्, प्राणायामोत्तरमाचमनं विधत्ते। एवञ्च पूर्ववाक्येन विहिते प्राणायामकर्मणि एवमित्यादिर्गुणसमर्पकः, न विध्यन्तरम्। [ननु प्राणायामइत्येकवचननिर्द्देशात् उत्पत्तिशिष्टं प्राणायामस्यैकत्वं गम्यते, तत्कथं संख्ययावरुद्धे

प्राणायामकर्मणि एवमित्यादिना त्रित्वादिसंख्यान्तरं विधीयते?—इतिचेद्, ब्रूमः—यत्र क्वचिदुत्पत्तिवाक्ये याच संख्या श्रूयते साखिलोत्पत्तिगतः प्रवृत्ता (सति संख्यान्तर-विधायके) न विवक्षिता; अन्यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति'—इत्युत्पत्तिवाक्यगतैकत्वसंख्ययावरुद्धो होमः 'तिस्र आहुतीर्जुहोति'—इतित्रित्वगुणसमर्पकेण वाक्येन कथमाक्रान्तः स्यात्।*] नचैकस्मिन् प्राणायामकर्मणि त्रित्वादिसंख्यात्रयात्मैक जातीयगुणत्रयं कथमुपपद्येत? विकल्पेन व्यवस्थासिद्धेः। यथा, अनुबन्धनादिविधौ—'गौरनुबध्यः'—इत्येतत्प्रकृत्य आम्नायते 'यूपेऽनुबध्नाति'-इत्युत्पत्तिविधिः, तमनूद्य 'खादिरेऽनुबध्नाति, पालाशकेऽनुबध्नाति, रौहितकेऽनुबध्नाति'—इति यूपस्य खादिरत्वादिगुणं विकल्पेन विधत्ते। इत्यत्र यथा तत्र यूपस्य खादिरादित्रयाणामन्यतमेनैव व्यवस्था, नह्युत्पत्तिविधिमेवाश्रित्य खादिरादित्रयातिरिक्ते आश्वत्थादिके यूपेऽप्यनुबन्धनम्; तथाऽत्रापि पूरकाद्युत्पत्तिविधिविहितप्राणायामकर्मानूद्य एवमिति त्रित्वादिसंख्यात्रयस्य विकल्पेन विधानात् त्रित्वाद्यन्यतमेनैव कर्त्तव्यत्वं प्राणायामस्य, नहि त्रित्वादिसंख्यात्रयातिरिक्तैकत्वाद्यन्वितेऽपि प्राणायामे कृते सामवेदिनां सन्ध्याङ्गप्राणायामो विधिबोधितः कृतोमन्यत इति संक्षेपः।

यच्चाह—'पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः'—इत्यनेनैकस्य प्राणायामस्य नित्यता विहिता, एवमित्यादिना प्राणायामस्य त्रिः करणं सप्तकरणं षोड़शकरणं चेति काम्यता भाविता-इति। तन्न मनोरमम् मीमांसकानामिति सम्भाव्यते, विनिगमकाभावात्। नह्यसति विनिगमके पूर्वत्र नित्यता, उत्तरत्र काम्यतेति कर्मानेकत्वं स्वीकार्य्यम्। यत्र यत्र नित्यकाम्यभेदेन प्रयोगभेदः, तत्र सर्वत्रैव बहुतरमानमवलोकयामः। तथाच—

एवं हि श्रूयते 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' अपरम् 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—इति। अत्र, पूर्वविहितदर्शपूर्णमासप्रयोगमनूद्य द्वितीयेन यावज्जीवकालात्मगुणोविधीयते, तथाच एकः काम्यएव दर्शपूर्णमासप्रयोगः—इति पूर्वपक्षे—यावज्जीवशब्दो न यावज्जीवनकालवाचक इति नायं-गुणविधिः, अपितु पूर्वेण काम्यप्रयोगोविहितः; अनेन तु यावज्जीवं निमित्तीकृत्यापरोनित्यप्रयोगोविधीयते-इतिसिद्धान्तः, सन्त्यत्र श्रुतिदर्शनादीनि पञ्च विनिगमकानि। अपिच, पूर्ववाक्यविहितस्य प्राणायामस्य नित्यताम् उत्तरविहितस्य तस्य काम्यतां मन्वानेनाकामतोऽपि नित्यत्वेन काम्यत्वेन च कर्मभेद उररीक्रियते, न चासति शब्दान्तरादिषड़न्यतमे कर्मभेदहेतौ तथा स्वीकुर्वन्ति जैमिनीयाः; उदाहृतदर्शपूर्णमासप्रयोगयोर्भेदेऽस्त्येवाभ्यासरूपोद्वितीयः कर्मभेदहेतुरितिदिक्।

यच्चाह—'पूरककुम्भकरेचकात्मके एकस्मिन्नेव प्राणायामे कृते त्रिः प्राणायामः कृतोभवेत्—एतदेवाग्रे स्फुटयति—'एवं त्रीन् कृत्वा' 'इति'—तत्प्रलपनमेव, एवं त्रीन् कृत्वेत्यस्य सर्वथा व्यर्थतापत्तेः; आचार्य्यस्य तथैवाभिप्राये न वदेत् 'एवं त्रीन् कृत्वा' इति, गणनासिद्धस्यानुवदनमपार्थमेवेति कैर्नबुध्यत इत्यलमनल्पजल्पनेति।

इत्थञ्च निष्पन्नमेतत्—†

'सामवेदान्तर्गतकौथुमीशाखानुचारिभिः प्रतिसन्ध्यं त्रयः सप्त षोड़श वा प्राणायामाः कर्त्तव्याः, न्यूनातिरेके व्यवहृते भवेदेव विध्युल्लङ्घनम्'।

* विविधशास्त्राध्यापकसुप्रथित श्रीराजारामशास्त्रिनयेयद्भैवं नोत्तिष्ठते।

† एतत्तत्वार्थस.रेऽसम्मतो न कोऽपि विचक्षणः परिलक्ष्यते काश्याम्। अथेदानीं सर्वत्रान्दोलनार्थमिदमिह प्रकाशितम्।

विश्वम्भरास्थित पदार्थ समीचयतुकः
स्वर्लोकमार्ग चर खेचर कामिनीनाम्।
अभ्यागतोनयनवर्त्म महाचलोऽयम्
सत्यं बिभर्त्ति परमाणुसमानरूपम्॥ २॥

कल्पान्तकालधरणीधरणप्रवृत्तो-
कोलाधिराज तनुमान विलोकनेन।
शैलो बिभर्त्ति परमाणुसमत्वमेव
सर्वस्य लाघवमहो गुरुसन्निधौस्यात्॥ ३॥

परमाणुतनोरग्रे कीटिकावारणायते।
वारणोऽपि सुवर्णाद्रि मानतः कीटिकायते॥४॥

महाद्रिशिखरस्थानं वारणः कीटिकायते।
साधुचित्तानुमानेन महाद्रिः कीटिकायते॥ ५॥

इत्यादि गुरुतर पदार्थेन गुरुतरपदार्थस्य लघुता विधेया।

विष्णोरधोमुखतया वैपरीत्यं यथा—

कालीयाहिग्रहव्यग्रे यमुनायां जगन्निधौ।
ज्ञमयाधोमुखं जातं विपरीतं जगत्त्रयम्॥ १॥

अपरेणापि प्रकारेण विपरीतीकृते कृष्णोतदुदरवर्त्तिजगत्त्रय मध्यास्थितः सर्वोपि पदार्थोविपरीतोभणनीयः।

प्रतिबिम्बतोवैपरीत्यं यथा—

तड़ागे दर्पणप्राये प्रतिबिम्बादजायत।
जलशय्याकृतः कृष्णप्रसादः कलशोपरि॥ १॥

त्वन्मुखस्याब्धिसंक्रान्ताधूमवर्त्तिरधसुखी।
भाति यान्तीव पातालं पवित्रयितुमुज्ज्वला॥ २॥

उदकादौ शुभ्रत्वं यथा—

रात्रौ चन्द्रोदये तोयप्रतिबिम्बितविग्रहः।
लोकैरेकोऽपि कोकोयं सद्वितीयः समीक्ष्यते॥ १॥

पूर्वाद्रौरत्नमित्यन्तर्जातार्कप्रतिबिम्बतः।
शङ्क्यते शक्रकान्ताभिः किमुदेति रविद्वयम्॥ २॥

(३) चन्द्रान्धकाररविकीर्त्तिकुकीर्त्तिसन्ध्या-
रागातुपिषङ्कृतवर्णविपर्य्ययेण।
दृष्टान्तवद्वयदिशब्दतया पुराणै-
र्वात्सल्यशोकमधुघातवियोगमाद्यैः॥ २॥

स्वप्नेन्द्रजालिकमतिभ्रमचित्रमाया-
मन्त्रौषधीमणितपः पदमङ्गभावात्।
शौर्य्यौघवाञ्छितमनोगतिपुण्यदेव
प्रश्नोत्तरत्वयसमासविभिन्नसाध्यात्॥ ३॥

(४) श्रीहाटकेश्वरजगत्प्रलयग्रहास्त
पाथोधिमध्यसमय प्रतिबिम्बभावैः।
संग्रामचक्रपुरचन्दनशस्त्रपातै-
श्चण्डीशपद्मगुरुताभिरथोपमानैः॥ ४॥

(५) तद्दुर्घटं भवति तत्प्रकटं पटीया-
नौचित्यचिन्तितपदं परिपूरयेद्यः।
पूर्वोक्तपद्यगदितैरुपदेशभारै-
रेतैरितिस्म कविकल्पलताकृदाह॥ ५॥

---

(३) कारिकान्तराण्याह—चन्द्रान्धकारेत्यादि। चन्द्रादिभिः समस्यापूरणीयेति शेषः।

(४) हाटकेश्वरः पातालस्थलिङ्गः। चण्डीशः शिवः॥

यद्दुर्घटमिति। दुर्घटं योजयितुमशक्यम् तत् समस्यापूरणम् पटीयान् कुशलाकुशलः परिपूर्य कुर्यात्। कविकल्पलताकृद्धेश्वरः समस्यापूरणमाहेति योजना।

(६) अथोदाहरणानि—

कृष्णरक्तादयावर्णाश्चन्द्रेणश्वेताः क्रियन्ते । यथा—

उल्लसत्तुहिनज्योतिर्द्युतिविद्योतितोभितः ।
कैलासशैलसङ्काशः काशते विन्ध्यभूधरः ॥ १ ॥

जवापुष्पं जातिसमं सुवर्णं रजतप्रभम् ।
सुधाकरकरस्पर्शाद् भातिचन्दनवन्मषी ॥ २ ॥

अन्धकारेण यथा—

कैलासो विन्ध्यसंकाशः कर्पूरः कज्जलप्रभः ।
जपातापिच्छगुच्छश्रीस्तमसा भाति लिम्पिता ॥१॥

कृष्णश्वेतादयोवर्णाः वालार्केण प्रथमं रक्ताः तदनुपीताः क्रियन्ते । यथा—

कज्जलं कुङ्कुमच्छायं जातीपुष्पं जपासमम् ।
सुवर्णं पद्मरागश्रि प्रभातार्कप्रभाहतम् ॥ १ ॥

इत्यमन्यत्रापिवर्णपर्य्ययः कार्य्यः । यदापुनश्चन्द्रादीनामेव वर्णविपर्य्यय श्चिकीर्षितस्तदाकीर्त्त्यादिभिरेतेषामेव वर्णविपर्य्ययः ।

स्वर्धुनीसलिलसन्निधिस्फुरतावकीनघनकीर्त्तिमण्डलैः । विस्तृतैस्त्रिजगतिक्षमापते शीतरश्मिरिव वीक्ष्यतेरविः ॥ १ ॥

अन्यवस्तूनां यथा—

मेदिनीदयिततावकैर्यशः अल्प, सञ्चयैरुपचितैः समन्ततः । क्षीरनीरनिधिसोमकोमलैर्जायते रजतकान्तिकज्जलम् ॥ १ ॥

हिमाद्रिसदृशोसेरुर्भाति कुङ्कुमविन्दुवत् ।
भूमिधर ! भवत्कीर्त्त्यां शुम्भिते भुवनत्रये ॥ २ ॥

कुकीर्त्त्यां यथा—

भूमिपाल ! भवदीय-विद्विषन्
मेदिनीपतिकुकीर्त्तिपंक्तिभिः ।
प्रावृषेण्यजलवाहकान्तिभिः
श्यामलोजयति यामिनीपतिः ॥ १ ॥

अन्यवस्तूनामपि यथा—

मेदिनीदयित ! तावकद्विषत्
प्रोन्मिषद् गुरुतरायशः शतैः ।
अन्धकारनिकरैरिवोद्धतैः
कुङ्कुमं मृङ्गमदायतेतराम् ॥ १ ॥

हिमाद्रिर्विन्ध्यवन्धुश्रीः
स्वर्णंमरकतप्रभम् ।
धराधरभवद्वेषि
कुकीर्त्ति प्रसरैर्वभौ ॥ २ ॥

सन्ध्ययोर्यथा—

पूर्वभूधरशिरस्तटीचरः
सान्ध्यरागपटलैः परीवृतः ।
दृश्यतामिह विभावरीमुखे
विद्रुमः प्रतिनिधिः सुधानिधिः ॥ १ ॥

विद्रुमारुणविम्बोष्ठ प्रभापाटलितद्युतिः ।
वदने तव तन्वङ्गि ! कर्पूरः कुङ्कुमायते ॥ २ ॥

कान्तकोपपरवामलोचना
लोचनान्तविततारुणद्युतौ ।
सान्ध्यरागपटले सतिक्षणं
कज्जलं जयति कुङ्कुमोपमम् ॥ ३ ॥

---

(६) अथेत्यादि—तेन अवणपूरणमित्यन्तं सर्वं मन्यकर्त्रैवस्पष्टीकृतम् ।

स्वर्णं सिन्दूरपूरश्चि कर्पूरं पद्मरागरुक् ।
जपाकुसुमसंकाशैः सन्ध्यारागभरैरभूत् ॥ ४ ॥

वर्णान्तर सङ्गाद् यथा—

शशिमुकुटललाटे शैलजागं डपाली
विगलित मृगनाभिव्यक्तघर्मोम्बुसिक्तः ।
समजनिनरकारिश्यामलो यामिनीशो
जगतिमलिनसङ्गात् कोन मालिन्यमेति ॥ १ ॥

मसृणघुसृणपङ्कप्रक्रियाभङ्गिजाग्रत्
कुचकलशविकासैः कुन्दचन्द्रोज्वलोऽपि ।
अगमदुदरभावं कामिनीकण्ठहारो
जगति भवति रागो रागिसङ्गान्नकस्य ॥ २ ॥

क्षितिधरपतिपुत्रीमौक्तिकव्यक्तिभङ्गी
निलयवलयमाला कान्तिजालावलीढः ।
हिमरुचिरुचिरासीन्नीलकण्ठस्य कण्ठो
भवतिविमलयोगान्निर्मलत्वं न कस्य ॥ ३ ॥

अतौच्चैः स्फुर्जदभ्रंलिहस्फटिकवलभी-
वर्य्यैवैदुर्य्यनिर्य-
ज्योतिर्य्योतप्रपातव्यतिकरविधुरी-
भूतशोभाभिभूतः ।
कालिन्दीकालकान्तिः समजनिरजनी-
जीवित ऽाधिनाथो-
धत्ते कोवा कलावानपि हिम लिना-
सङ्गतः कश्मलत्वम् ॥४॥

अहो राहुग्रहग्रस्तसमस्तोज्वलमण्डलः ।
इन्दुः कज्जलविन्दुश्रीर्ग्लानिः कस्य न विप्लवे ॥५॥

दृष्टान्तवद्वयदिशब्दतयायथा—

प्रतीच्यां यदि मार्त्तण्डः समुदेति स्फुरत्करः ।
तदा संजायते नूनमग्निस्तुहिन शीतलः ॥ १ ॥

पुराणैः पुराणचरिते यथा—

अगस्ति मुनिनिःपीत निःशेष जलमण्डलात् ।
अहः पतिमहः शुष्कात्समुद्राद्धूलिरुत्थिता ॥ १ ॥

अतुच्छ-वत्स वात्सल्य पिच्छिलीकृतचेतसा ।
जनन्यामन्यतेत्यर्थं व्याघ्रः सौम्यवपुःक्षमी ॥ २ ॥

शोकेन मधुनाघातेन वियोगेन मादेन च समस्या पूर्य्यते, यत एभिर्व्याप्तः पुमान् विपरीतमाचरति। स्वप्नेऽघटमानमपि घटते। भो! ज्योतिषकलाकुशल! स्वप्ने दृष्टमिदं त्वं विचारयेदित्यादि कल्पनीयम्। इन्द्रजालेन मतिभ्रमेण चित्रेण च। भो! चित्रकर! ईदृक् चित्रं लिखेति वाक्यं रचनीयम्। माययाऽपि विसदृशं सम्भाव्यम्। मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावेन सर्वं साध्यते। यस्मादचिन्त्यो मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः। तपसाऽपि सर्वं साध्यते। यतः सर्वं हि तपसा साध्यं तपस्य दुरतिक्रमम्।

पदभङ्गेन यथा—

मृगात् सिंहः पलायते। मृगमत्तीति मृगात् सिंहविशेषणम्, पलाय मांसाय, ते तव।

अयं मृगः समायाति मृगात् सिंहः पलायते।
इतोवेगात् पलायस्व त्वरितैस्त्वरितैः पदैः ॥ १ ॥

शौर्य्यैशोण्डणा वाञ्छितेन मनोगत्या पुण्येन दुर्घटमपि घटते। दैवप्रसादेनासाध्यमपि साध्यते।

यथा—

निःश्रीकोपि विभो विभातसमये
पश्यत्यवश्यं पुमान्

यस्ते पद्मसमानमाननमसौ
स्यादिन्दिरामन्दिरम् ।
देहोल्लासि किमु कुसमस्वदपरं
यस्य प्रसादाद्भुतैः,
मूकोजल्पति संशृणोति बधिरः
पङ्गुर्नरीनृत्यति ॥ १ ॥

प्रश्नोत्तरेण यथा—

कस्तूरी जायते कस्मात् ?
कोहन्ति करिणां कुलम् ?
किं कुर्यात् कातरो युद्धे ?
मृगात् सिंहः पलायते ॥ १ ॥

समस्यायां यत् साध्यं पदं तत् क्वचित् समासेन भिन्नं क्रियते । यथा—

कर्पूरपूरच्छविवादविद्या
संवावदूक द्युतिगुम्फिताङ्गे ।
इन्दोर्नृपद्वे षितमोवितान
सूर्योदये रोदिति चक्रवाकी ॥ १ ॥

हाटकेश्वरनमस्कारेण पाताले स्वर्गलोकावतारः । जगत्प्रलयेन मर्त्त्यलोकावतारः । ग्रहास्तेन नभोलोकावतारः । यथा—

हाटकेश्वरयात्रायां शिवरात्रि महोत्सवे ।
सुरेन्द्रादिभिरायातैः स्वर्गः पातालमाययौ ॥ १ ॥

जगत्प्रलयकालेऽसौ पृथ्वी पातालमाययौ ।
संहारघोरचण्डीशकोपाटोपाद्दुदित्वरात् ॥ २ ॥

कदाचिन्नारभेदेन क्रमादस्तमुपागतैः ।
ग्रहैः सम्भाव्यते सम्यग् ययौ व्योम रसातलम् ॥३॥

पाथोधिमन्थनारम्भे सम्भेदाद्देवनागयोः ।
पृथिव्यां स्वर्गपाताले दृश्येते स्म समागते ॥ ४ ॥

दर्पणप्रतिमोल्लासि पयः पूरे सरोवरे ।
प्रतिबिम्बच्छलादेतद्भुवि व्योमसमागतम् ॥ ५ ॥

सङ्ग्रामधीरवीराणां विलोकनकुतूहलात् ।
समायातैः सुरेन्द्राद्यैः स्वर्गो नभसि दृश्यते ॥ ६ ॥

आकाशान्तरसञ्चारि हरिश्चन्द्र पुरच्छलात् ।
भूतस्य मिलनायैव जगाम धरणीं नभः ॥ ७ ॥

श्रीरामरावणरणे कपिमण्डलेन,
शस्त्रीकृतैर्मलयजद्रुमचक्रवालैः ।
रिङ्गद्भुजङ्गमकुलैः परितः स्फुरद्भिः,
सम्भाव्यते नभसि सर्पपुरं प्रसर्पत् ॥८॥

श्रीकण्ठकण्ठदोर्दण्ड जटाजुटाहि मण्डलैः ।
अहो पाताल लोकोयं स्वर्लोक कलिताश्रयः ॥९॥

अभ्रंलिह स्फटयूह चन्द्रशालाविलासिभिः ।
नर नारीगणैरेवं मर्त्त्यलोकोद्युलोकगः ॥ १० ॥

सुमेरुशिखरप्रान्त स्फुरद्दिव्यवधूमुखैः ।
परितः स्फुरितः शङ्के शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥ ११ ॥

युद्धक्षुब्धभटच्छिन्नकुम्भिकुम्भस्थलोद्गतैः ।
मुक्ताफलगणैः शङ्के दिवा तारकितं नभः ॥ १२ ॥

यदेतन्मयकाऽकारि कारिकारत्नपञ्चकम् ।
कुरुतानवगीतेन तेन श्रवणपूरणम् ॥ १ ॥

(टी०) 'यएवं विद्वानग्निं चिनुते' इत्येवं विधाय श्रूयते 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनानुयजति, तमुक्थ्येन, तं षोड़शिना तमतिरात्रेण' इत्यादि। अत्राग्निशब्दोयागवाची, स्तोत्रशस्त्रादेः क्रतु लिङ्गस्य श्रूयमाणत्वात्। तच्च लिङ्गमेवं श्रूयते— 'अग्नेः स्तोत्रमग्नेः शस्त्रम्' इति, षडुपसदोऽग्ने श्चित्यस्य भवन्ति' इति च। यदि लिङ्गं प्राप-कापेक्षं तर्हि यजिना तदनुवादः प्रापकः अस्तु, अथातोऽग्निष्टोमेनानुयजतीत्यस्मिन् वाक्येऽग्निं यजतीति यजिसामानाधिकरण्यादुपांशु यजतीति-वद् यागनामत्वम्; अथोच्येत अनुशब्दस्याग्नि शब्देनान्वयाद् यज्यन्वयोऽग्निष्टोमस्येति, तथापि अग्नेः पुरोयजने सत्यग्निष्टोमस्यानुयजनं सम्भ-वति, देवदत्तमनुगच्छति यज्ञदत्त इत्यत्र देवदत्ते पुरोगमनदर्शनात्। तस्मादग्निं चिनुत इत्यत्राग्नि-नामकोयागआख्यातेन विधीयते, चिनोतिश्लिष्ट-काभिरग्निं चिनुत इति वाक्यप्राप्तस्य चयनस्य सोमयागविकृतित्वप्राप्तस्य ग्रहसमुदायस्येवानु-वादः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—अग्निशब्दोरूढ्या वह्नि-द्रव्यमाचष्टे, रूढिश्च क्लृप्तया लिङ्गादिकल्प्याद् याग-वाचित्वाद् बलीयसी—इति न याग-नामत्वम्, न चात्र यागरूपमस्ति द्रव्यदेवतयोरसिद्धेः; अतोऽ-ग्निमादधीतेत्युक्ताधानवदग्निं चिनुत इत्युक्तं चय-नम् अग्निद्रव्यसंस्कारः। न च संस्कृतस्य विनि-योगाभावः, अग्निमग्निष्टोमेन यजत इत्यादिवाक्यै-रग्निष्टोमादौ विनियोगात्। तस्मात् संस्कार विधिः॥ २।३।१०॥

इति दशमाधिकरणम्।

कुण्डपायिनामयनप्रकरणे श्रूयते 'उपसद्भिश्च-रित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति' तदेवमादिर्गुण-विधिः सिद्धेऽग्निहोत्रयागे मासकालं विधत्ते— इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तं सूत्रयति।

(सू०) प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्। २।२।२४॥

(वि०) 'प्रकरणान्तरे' अग्निहोत्रादन्यत्र कुण्ड-पायिनामयनप्रकरणे उपसद्भिरित्यादेः श्रुतत्वात् 'प्रयोजनान्यत्वम्' फलान्तरता अग्निहोत्रयाग-फलभिन्नफलत्वं कल्प्यम्, तथाचेदं कर्मान्तरम्। ननु मासस्यापूर्वस्य विधानं स्पष्टमुपलभ्यते वाक्येन, कल्कथं वार्य्यते—इति चेत्—तथासति उपसदोऽप्य-पूर्वत्वात् तस्यापि विधानं मन्येत, ततश्च वाक्यभेदो-दुर्निवारः, नच प्राप्ते कर्मण्यनेकोविधातुं युज्यते, अतः प्रकरणबलात् कर्मान्तरम्॥ २।२।२४॥

तदेतदेकादशाधिकरणमारचय्य स्फुटयति।

(अ०) मासं जुहोत्यग्निहोत्रं गुणोऽ-न्यत्कर्म वा गुणः। अनूद्य प्राप्तकर्मात्र-मासोऽप्राप्तो विधीयते। उपसद्भिश्चरि-त्वेति नित्ये तासामसम्भवात्। अनेकस्या-विधेश्चान्यत् कर्म प्रकरणान्तरात्।२।२।११॥

(टी०) कुण्डपायिनामयने श्रूयते 'उपसद्भि-श्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्ण-मासाभ्यां यजते' इति। अत्र प्राप्तं नित्याग्निहोत्र-मनूद्य मासलक्षणोगुणोऽप्राप्तत्वाद् विधीयते।

इति चेत्—मैवम्, किं मासएव विधीयते? उतोपसद्भिश्चरित्वेत्युक्ता उपसदोऽपि? नाद्यः, उप-सदामपि नित्याग्निहोत्रप्राप्तिरहितानां त्वन्मते विधातव्यत्वात्; न द्वितीयः, प्राप्ते कर्मण्यनेकगुण-विधौ वाक्यभेदापत्तेः।

ननु माभूत्तर्हिगुणविधिः—कर्मान्तरत्वे किं प्रमाणम्? इतिचेत्—प्रकरणान्तरम्-इति ब्रूमः; नह्येतन्नित्याग्निहोत्रस्य प्रकरणम्, असन्निहित-त्वात्, अयनस्य ह्येतत् प्रकरणम्, अयनमारभ्या-धीतत्वात्। का तर्हि नित्याग्निहोत्रे गुणविधि-शङ्का?—इतिचेत्—प्रकरणस्यासमर्पकत्वेऽपि अग्नि-होत्रशब्देन तत् समर्पणात्, एषागुणविधिशङ्का भवति; सा च वाक्यभेदापत्त्या निराकृता। तथा सति स्वतः सिद्धं प्रकरणभेदं निराकृत्य प्रकरणै-क्यापादनेन गुणं विधापयितुं प्रकृतस्याग्निहोत्र-शब्दस्य शक्तौ निरुद्धायां तदवस्थः प्रकरणभेदो

नित्याग्निहोत्रादि कर्म भिनत्ति। अग्निहोत्रशब्दो-धर्मातिदेशार्थ इति सप्तमे वक्ष्यते।

ननूपसन्नासाभ्यां गुणाभ्यां विशिष्टमिदं कर्म विधीयते, ततोवाजिनन्यायेन गुणभेदात् कर्मभेदो न प्रकरणभेदात्—इति चेत्—न, वैषम्यात्; उपादेयतया विधेयोगुणोवाजिनम्, मासस्त्वनुपादेयम् इत्येकं वैषम्यम्; द्रव्यत्वेन रूपान्तर्गतं वाजिनम्, मासो न तथा—इत्यपरं वैषम्यम्। परमार्थतस्त्वत्र प्रथमतरप्रतीतेन प्रकरणभेदेन सिद्धं कर्मभेदं गुणभेद उपोद्बलयति। ततः प्रकरणान्तरमेवात्र भेदहेतुः॥ २।२।२४॥

समाप्तमेकादशाधिकरणम्।

स्यादेतत् उपसद्भिरित्यादेः प्रकरणान्तरत्वात् कर्मान्तरत्वम्, यदेतत्—'आग्नेयोऽष्टाकपालं निर्वपेत् रुक्कामः' अस्य अनारभ्य श्रुतत्वात् न प्रकरणबलेन कर्मान्तरताऽवकल्प्येत। ततश्च विहितमाग्नेयादिकमनूद्य फलसम्बन्धार्थएषः—इति प्राप्ते सिद्धान्तं सूत्रयति।

(सू०) फलं चाकर्मसन्निधौ॥२।२।२५॥

(वि०) अकर्म्मसन्निधौ फलं च कर्मबोधकम्; तथाच रुक्फलकं वाक्यं नहि कस्यचित् कर्मणः समीपे श्रुतम्—इति न क्वापि फलसमर्पकम् अपितु अपूर्वस्य कर्मणो विधायकम्॥ २।२।२५॥

द्वादशाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) अष्टाकपालमाग्नेयं रुक्कामः प्राकृते फलम्। कर्मान्यद्वा फलं भानात् पूर्वन्यायाप्रवेशनात्। माभूद् भिन्न प्रकरणं कर्मान्तरमसन्निधेः। अनारभ्याधीतमेतद्रूपं न न्यूनमीक्ष्यते॥ २।२।१२॥

(टी०) अनारभ्य श्रूयते 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् रुक्कामः,—इति (रुक्कामस्तेजस्कामः) अत्रे-ष्टौ प्रकृतिभूतं दर्शपूर्णमासगतमाग्नेययागमनूद्य तेजोरूपं फलं विधीयते, कुतः? वाक्येनाग्नेयफलसम्बन्धस्य भासमानत्वात्। नच पूर्वोक्तमासाग्निहोत्रन्यायेन कर्मान्तरत्वम्. वैषम्यात्; तत्रायनमारभ्याधीतत्वादस्ति प्रकरणान्तरत्वम्, इह त्वनारभ्याधीतत्वेन प्रकरणत्वमेव तावन्नास्ति कुतोऽन्यप्रकरणत्वम्; किञ्च मासोऽनुपादेयः अग्निहोत्रानुसारेण सम्पादयितुमशक्यत्वात्, फलन्तूपादेयं दार्शिकपौर्णमासिकाग्नेयानुसारेण तेजसः कामयितुं शक्यत्वात्; तस्मात् फलविधिः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—प्रकरणान्तरत्वाभावेऽप्यनारभ्याधीतत्वादसन्निधिरस्त्येव सएवात्र कर्म भिनत्ति। न चात्र वाजिनन्यायेन कर्मभेदः, अष्टाकपालद्रव्याग्निदेवतात्मनोरूपस्योभयत्रैकविधत्वात्। यदि प्रकरणान्तरत्वमप्यसन्निधिकृतमित्यसन्निधिरेव मासाग्निहोत्रे कर्मभेदकः, तर्हि तस्यैवायं प्रपञ्चोऽस्तु; फलं च मासवदनुपादेयम्, अन्यथा साधनवद्फलत्वप्रसङ्गात्; कामना च विषयसौन्दर्यज्ञानात् स्वतएवोत्पद्यते, नतु विधिवशात् सम्पाद्यते। यद्यधिकरणयोर्न्यायभेदो यदि वा न्यायैक्यं सर्वथा तेजस्काम्येष्टिः कर्मान्तरम्। काम्येष्टिकाण्डपठितेष्वैन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामइत्यादिष्वयमेव न्यायोद्रष्टव्यः। २४।१२॥

समाप्तं द्वादशाधिकरणम्।

प्रत्युदाहरणसङ्गत्या ब्रूते।

(सू०) सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनः श्रुतिः॥ २।२।२६॥

(वि०) कस्यचित् कर्मणः 'सन्निधौ' श्रुतं वाक्यम् 'अविभागात्' पूर्वस्मात् कर्मणो विभागाभावात् तद्रूपत्वात्' फलार्थेन' फलमात्रविधानाय 'पुनः श्रुति' अनुवादः। तथाहि—एवमस्ति 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, पौर्णमास्यां पौर्णमास्यां यजेत, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' तदेतस्य दर्शपूर्ण-

मासकर्मणः सन्निधौ श्रूयते एतयान्नाद्यकामं याजयेत्' तदेतत् पूर्वस्मात् कर्मणः अभिन्नम्, तस्मान्न पूर्ववत् फलहेतुकं कर्मान्तरम्, अपितु अन्नाद्यफलाय पुनः श्रूयते (अनुवादइति यावत्)। एवञ्च कर्मणोऽसन्निधावेव श्रुतं फलं कर्मान्तरविधायकम्, नतु सन्निधाविति निष्पन्नम्॥ २।२।२६॥

त्रयोदशाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) **समे यजेत पौर्णमास्यां यावज्जीवं तथैतया। अन्नाद्यकामइत्यादौ कर्मभेदोऽथवा गुणः। विध्युपादानयोरैक्याद् देशादेरनु पातितः। आवश्यके कर्मविधौ तद्भेदः पुनरुक्तितः। देशादियोगस्याप्राप्ते विधिर्नत्वेकता तयोः। पुंशब्दयोर्व्याप्तित्वात् पुनरुक्त्याऽत्वनूद्यते। २।३।१३॥**

(टी०) दर्शपूर्णमासप्रकरणे देशकालनिमित्तान्याम्नायन्ते 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत,—इति ; अवेष्टिप्रकरणे फलमाम्नातम्—'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्,—इति ; अदिशब्देन संस्कारो गृहीतः, सच दर्शपूर्णमासप्रकरणे समाम्नातः 'शेषं स्विष्टकृते समवद्यति'—इति। तत्र देशकालनिमित्तफलसंस्कारा अननुष्ठेयत्वाद्नुपादेयाः, अतएव विधेयाः, उपादानविधिशब्दयोः पर्य्यायत्वात्, ततः कर्मविधिः—इत्यवश्यमभ्युपेयम्। तत्र प्रकरणिनोर्दर्शादेः पूर्वविहितस्य वैभिर्वाक्यैः पुनर्विधाने समिधोयजतीत्यादिवत् अभ्यासात् कर्मभेदः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः देशादीनामविधेयत्वे विहितकर्मणा सह तेषां सम्बन्धोविधीयते, सच कर्मवत् पूर्वं न विहितः—इत्यप्राप्तत्वाद् विधिसर्हति। यदुक्तम्—उपादानविधिशब्दौ पर्यायाविति, तदसत् ; अप्रवृत्त प्रवर्त्तनं विधानम्, तच्च पुरुषविषयः शब्दव्यापारः ; अननुष्ठितस्यानुष्ठानमुपादानम्, तच्च कर्मविषयः पुरुषव्यापारः ; इति तयोर्महान् भेदः। योऽपि दर्शादीनां पुनर्विधिः, सोऽपिदेशादिसम्बन्धं विधातुं कर्मानुवादः—इति न कर्मभेदमावहति ; समिधो यजतीत्यादौ विधेयगुणान्तराभावेनानुवादासम्भवात् पुनर्विधानं भेदहेतुः ;—इति वैषम्यम्। २।३।१३॥

समाप्तं त्रयोदशाधिकरणम्।

एवमन्यत्र पूर्वपक्षयति।

(सू०) **आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत॥ २।३।२७॥**

(वि०) दर्शपूर्णमासयोः 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतोभवति' इत्याम्नाय 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति'—इति श्रूयते। तदेषः 'आग्नेयः' आम्नायः 'उक्तहेतुत्वात्' पूर्वसूत्रोपात्तपुनः श्रुतिहेतुत्वात् 'अभ्यासेन' द्विर्विधानेन 'प्रतीयेत। अन्यथा पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यादिति भावः॥ २।३।२७॥

एकदेशिना समाधत्ते।

(सू०) **अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेर्न विधीयते॥ २।३।२८॥**

(वि०) 'कर्मणः' आग्नेययागस्य 'अविभात्' एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् 'द्विरुक्तेः' हेतोः 'न' 'विधीयते' विध्यन्तरं न कल्प्यत इत्यर्थः। एवं सति द्विरुक्तस्य किं फलमिति चेत्—अस्तु तन्निरर्थकम्। २।३।२८॥

आनर्थक्यमपि परिहरन् सिद्धान्ती ब्रूते।

(सू०) **अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः॥२।३।२९॥**

(वि०) यदुक्तं समाधानं तदेवेष्टम्, द्विरुक्तिः फलविषये विकल्पयते 'वा' अथवा 'पुनः श्रुतिः, आग्नेय इत्यस्येति शेषः 'अन्यार्था' अन्यत् अश्रुतम् यत् किञ्चन श्रुतिलिङ्गादिसिद्धम् तस्य कल्पनार्था भवेत् ; तथाचाग्निदेवतातु गम्यत एव अश्रुतोपि इन्द्रः कल्पनीयः अतश्चाग्नेये इन्द्रसन्नि-

तोऽग्निः समिचीनतर इति बोधनं द्विरुच्चारणस्य फलमिति भाष्यसम्मतम् ॥ २।३।२८ ॥

तदेतच्चतुर्द्दशाधिकरणं स्फुटयति ।

(अ०) दर्शपूर्णमासयोः प्रोक्त आग्नेयः पुनरप्यसौ। दर्शेयदिति वाक्याभ्यां कर्मान्यद् वानुवादगीः। अभ्यासादन्यकर्मत्वं दर्शेऽसौ द्विः प्रयुज्यताम्। एकत्वं प्रत्यभिज्ञानादनूद्यैन्द्राग्नसंस्तुतिः ॥ २।३।१४ ॥

(टी०) 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतोभवति'—इति कालद्वये विहितम्, 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति'—इति एकस्मिन् काले पुनर्विहितम्। तत्राविशेषात् पुनः श्रुतिलक्षणेनाभ्यासेन प्रयाजानामिवभेदः; तथा सति आग्नेययागस्य दर्शकाले द्विः प्रयोगः।

इतिचेत्—न, प्रत्यभिज्ञानात्; आग्नेयस्यैकत्वे सत्येककालवाक्यस्यानुवादकत्वात्। न चानुवादोव्यर्थः, विधेयैन्द्राग्नस्तुत्यर्थत्वात्; यद्यप्याग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति, तथापि न केवलेनाग्निना साधुर्भवति, इन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः। तस्मादैन्द्राग्नःकर्त्तव्यइति विधेयस्तुतिः। प्रयाजवैषम्यं तूक्तमेवानुसन्धेयम्। तस्मादयमनुवादः ॥२ ३।१४ ॥

समाप्तं चतुर्द्दशाधिकरणम् ॥

समाप्तोऽयौसत्यव्रत-सामश्रमि-रचित-विवरण-युत-मीमांसाचार्य-जैमिनी-कृत-सूत्र-संहितायाम् माधवाचार्य-विनिर्मित-सटीक-न्यायमालायाम् द्वितीयाध्यायस्य तृतीयःपादः।

इति अपवादवादः।

अथ प्रयोगभेदोनाम चतुर्थः पादः।

(वि०) अथात पादे क्रमप्राप्तः प्रयोगभेदो विचारणीयः, नित्योऽयं प्रयोगः काम्योवेति; कर्मभेदोऽपि अध्यायसङ्गत्याविचारविषयः।

यदेतच्छ्रूयते बह्वृच ब्राह्मणे 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति। अत्र संशयः—यावज्जीवमिति कर्मधर्मः कर्त्तृधर्मोवा ? यदि कर्मधर्मः स्यात्, तर्ह्यस्य न कर्मान्तरता सिद्धा च काम्यता, यदि कर्त्तृधर्मः स्यात्, तर्ह्यस्य कर्मान्तरता नित्यता च। अत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति।

(सू०) यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥ २।४।१ ॥

(वि०) यच्छ्रुतम् 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' तस्यैवायम् 'अभ्यासः' पुनः श्रुतिः 'यावज्जीवव दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति, 'यावज्जीविकः' 'कर्मधर्मः, गुणरूपइत्यर्थः, विहितमेवाग्निहोत्रमनूद्य यावज्जीवनपरिमितं कालं गुणं विधत्ते; एवञ्चैतत् पूर्वविहितात् काम्यात् नान्यत् कर्म। अत्र हेतुः—'प्रकरणात्' एकप्रकरणे उभयोः श्रुतत्वात् ॥ २।४।१ ॥

समाधत्ते।

(सू०) कर्त्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्। २।४।२।

(वि०) स्यादेवं यदि यावज्जीवपदं कालपरं स्यात्, यावज्जीवपरिमितकाले यावज्जीवशब्दस्य न शक्तिः, तथाच कालरूपोऽर्थो लक्षणया लभ्यः, नच लक्षणालभ्योऽर्थो वाच्यार्थस्यासति प्रतिवन्धके गृह्यते शिष्टैः; तदेवं 'श्रुतिसंयोगात्' वाच्यार्थस्य परिग्रहात् यावज्जीवमिति 'कर्त्तुः' धर्मः; यावज्जीवेत् तावद् यजेतइति जीवनं निमित्तीकृत्य यागं विधत्ते, निमित्तस्य चानपायेन भवति नैमित्तिकस्यापायः—इति तस्य आमरण कर्त्तव्यतया नित्यता। इत्थञ्च 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'—इति पूर्वविहितात् काम्यात् इदमन्यत् कर्म। २।४।२।

अष्टमी ऋक्।

संयुऋषिः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इमा उ त्वा सुते सुते नक्षन्ते गिर्वणो
१ २ १ २ ३ २उ ३ १ २
गिरः। गावोवत्सं न धेनवः॥८॥

'गिर्वणः' सम्भजणीयः 'त्वा' त्वाम् 'सुते सुते' प्रतियागे 'इमाः' 'गिरयः' स्तुतिलक्षणाः वाचः 'नक्षन्ते' व्याप्नुवन्ति। अत्र दृष्टान्तमुच्यते-'धेनवः' अचिरप्रसूताः 'गावः' 'वत्सम्' 'न' इव। यथा अचिरप्रसूतागावः स्नेहार्द्रेण मनसा वत्सं व्याप्नुवन्ति तद्वत् त्वाम् इन्द्रम् अस्मदीयाः स्तुतयः व्याप्नुवन्तीति भावः॥८॥

যেরূপ স্নেহার্দ্র মানসে * নবপ্রসূতা গো সকল নিজ নিজ বৎসকে প্রাপ্ত হয়, সেইরূপ আমাদিগের এই স্তুত্যাত্ম মন্ত্র (প্রতিয়াগে) তোমাকে প্রাপ্ত হইতেছে॥৮॥

अभयं करम्।

५ र २ १
इमा उत्वा। सुतायि सुतायि नक्षन्ता
२ ५ २ २
२३ यिगी ३४ः। वनः। गा ३ यिराः।
१र २ २ २ १ ५ ४
गावो वा३ त्सा ३म्। नधो २३४ वा। नाधू
५
वो ६ हायि॥८॥

नवमी ऋक्।

भरद्वाजऋषिः।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रा नु पूषणा वय॰सख्याय स्वस्तये।
३ २ ३ १ २
हुवेम वाजसातये॥९॥

'वयम्' 'वाजसातये' अन्न-लाभाय 'स्वस्तये' अनन्त-कल्याणाय 'सख्याय' सख्यं कर्त्तुम् 'पुषणा' पूषणम् जगताम् पालनेन वर्द्धकम् 'इन्द्रा' इन्द्रम् 'नु' सम्मानेन 'हुवेम' आह्वयामः। वाजसातये-इति वाजमन्नं सातिस्तल्लाभः—इति निघण्टवः, वाजप्रार्थनं सांसारिकसुखमात्रस्योपलक्षणम्। स्वस्तये-इति अलौकिकसुखप्रार्थनापरम्। पूषणा—इति द्वन्द्वार्थं पूर्वरूपम्, अत्र इन्द्रा-इत्यत्रच (७।१।३९) अम आत्वम्। हुवेम-इति षाष्ठबहुल वचनात् (६।१।३४) ह्वः सम्प्रसारणम्॥९॥

আমরা ইহলোকে অন্নাদিলাভার্থ এবং পরে অনন্তকল্যাণার্থ, সখ্য করিবার নিমিত্ত, জগতের পরিবর্দ্ধক ইন্দ্রকে সম্মানের সহিত আহ্বান করিতেছি॥৯॥

त्वाष्ट्रम्।

५ र २ १र २ १
इन्द्रा नु पू। षणावा २३ याम्। सा-
र २ १ २ १ १
ख्याय। सुवस्ता २३ यायि। हुवे २ मावा
२ १ ५ ४ ५
२३। जसो २३४ वा। ता ५ यो ६ हायि।
९॥

दशमी ऋक्।

वामदेवऋषिः।

१ २ ३ १ र२र ३ १र २र
न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति
१ ३ २उ ३ २
वृत्रहन्। नक्येवं यथा त्वम्॥१०॥

* যদিচ এস্থানে দৃষ্টান্তদ্বারা মন্ত্রের স্নেহার্দ্রমানস প্রকাশপায়, কিন্তু তাহা অসম্ভব, এই নিমিত্ত উচ্চারয়িতার স্নেহার্দ্রমানস বুঝিতে হইবে।

हे 'वृतहन्' 'इन्द्र !' 'त्वत्' त्वत्तः 'उत्तरम्' उत्तरः उत्कृष्टः 'न कि' नकोऽपि, अपिच त्वतः 'ज्यायः' प्रशस्यः 'न' 'अस्ति', 'यथा' 'त्वम्' एवम् 'न। कि' कोऽपि नास्ति ; त्वं सर्वेभ्यः श्रेष्ठः इत्याशयः उत्तरमिति प्रथमार्थे (३।१।८५) द्वितीया, अस्य किशब्दस्य चार्थांशे मानं निरुक्तम्। त्वत्-इति (७।१।३८) पञ्चम्यालुकिरूपम् ॥ १० ॥

হে বৃত্রহন্ ইন্দ্র! তোমা হইতে উৎকৃষ্ট কেহ নাই, তোমা হইতে প্রশস্ত কেহই নাই ; তুমি যেরূপ সর্ব্বশক্তিমান্ এরূপ অন্য কেহই নহে ॥ ১০ ॥

ऐन्द्राण्यम्।

४ ५ १
न। क्वे ना की। आयिन्द्रत्वदुत्तराम्।
२ १र र ऽ १ २ २
न ज्या यो २। अस्ता २३ यिवू। ऊ ३
२ ३ ५ १ २र १
ऊम्। वा २३४ हान्। नक्वे। वंया २३
२ २ २
घा। ऊ ३ ऊ ३४३म्। तू ३४५ वो ६
५
हायि। १० ॥

इति प्रथमा दशतिः।

द्वितीयदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

विश्वामित्रऋषिः।

२ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
तरणिं वो जना नां त्रदं वाजस्य गो-
२ ३ २ ३ १ २
मतः समानमु प्रशं॰सिषम् ॥ ११ ॥

'जनानाम्' 'त्रदम्' त्राणदम् 'गोमतः' अंशुमतः सूर्य्यस्य 'समानम्' अभिन्नम् 'तरणिम्' तारणम् संसाराब्धेः 'वः' त्वाम् 'वाजस्य' वाजाय अन्नाय अहम् 'प्रशंसिषम्' प्रस्तौमि। तरणिमिति तरत्यनेनेति विग्रहे 'अर्त्तिसृधृधमीत्यादिना' तरतेरनिः, यमवलम्ब्य तरति सतरणिर्यौगिकः। वाजस्येति 'चतुर्थ्यर्थे' (२।३।६२) इति वचनात् षष्ठी। प्रशंसिषमिति वर्त्तमाने (३।४।६) लुङ्। उ-इति पादपूरणे ॥ ११ ॥

তুমি, সমস্ত জীবে ত্রাণকর্ত্তা, অংশুমালী সূর্য্যের সদৃশ তেজস্বী, সংসার সাগর হইতে তরণকারী, আমি তোমাকে অন্নের নিমিত্ত স্তব করি ॥ ১১ ॥

तारणाम्।

५ १ २ १
तरणिं वाः। जना २३ नाम्। त्रदं-
र २ २ १ २ ३ ५
वाजा ३ स्या ३। स्यागोमा २३४ ताः।
२ १र २ ४ ४
समाना २३ मू। प्रशा ५॰सिषाम्। हो ५
इ। डा ॥ ११ ॥

द्वितीया ऋक्।

मधुच्छन्दऋषिः।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २ र
असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहा-
३ २ ३ १र १र
सत। स जोषा वृषभं पतिम् ॥ १२ ॥

हे 'इन्द्र !' 'ते' तव 'सजोषाः। गिरः' प्रीतियुक्ताः 'त्वाम् प्रति' स्तुतीः 'असृग्रम्' विसृष्टवानहम्, ताश्च स्तुतयः पश्यतामेवास्माकम् 'उत्। अहासत' ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति, त्वां कीदृशम्' ? 'वृषभम्' विविधफलानां वर्षितारम् 'पतिम्' स्वामिनम्। सजोषा

इति जुषि प्रीतिसेवनयोरित्येतस्य रूपम्। अस्मृग्रमिति सूत्रे: सामसिके (७।१।८) सड़ागमे रूपम्। अहासतेति ओहाङ्गताविस्यतस्य रूपम् वर्त्तमाने (३।४।६) लुङ्॥ १२॥

হে বিবিধকর্ম্মের বিবিধফল প্রদাতা, ইন্দ্র! স্বামিন্! প্রীতিযুক্ত যে সমস্ত তোমার স্তুতি তোমার উদ্দেশে ত্যাগ করিয়াছি, তাহা ক্রমে ঊর্দ্ধগমন করিতেছে॥ ১২॥

वैरूपम्।

५ र ५र १
अस्मृग्रमा इन्द्राई तेगिराः। प्राती २
१ _ र १ २ _१
त्वाम् २त्। अहा। सता। सा १ जो २षा
_ _ १ २ १
वा २। षभा २ ष्यतिम्। औ २३४५३।
डा॥ १२॥

तृतीया ऋक्।
वत्सऋषिः।

२ २ ३ २ ३ ३ २ ३२३ १२
सुनीथो घा समर्त्त्यो यं मरुतो यम-
३२ ३२उ ३१२
र्य्यमा। मित्रास्पान्त्यद्रुहः॥ १३॥

'सः' 'मर्त्त्यः' मनुष्यः 'सुनीथः' सुप्रशस्तः 'अद्रुहः' न केनापिद्रुह्यते 'यम्' 'मरुतः' देवाः 'पान्ति' रक्षति, 'यम्' अर्यमा' देवः पाति, यम् 'मित्राः' देवाः पान्ति। सुनीथः सुप्रशस्त इति नैघण्टुकाः। अद्रुह इति नद्रुह्यते इति विग्रहः। घा-इति पादपूरणे, 'ऋचि तु नु घ मक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (६।३।१३३) इति दीर्घः॥ १३॥

যাহাকে মরুদ্গণ রক্ষা করিতেছেন, যাহাকে অর্য্যমা রক্ষা করিতেছেন, যাহাকে মিত্রনামে প্রসিদ্ধ দেবগণ রক্ষা করিতেছেন; সেই মনুষ্য সুপ্রশস্ত, কেহই তাহার দ্রোহ করিয়া কৃতকার্য্য হইতে পারেন না॥ ১৩॥

सौमित्रम्।

४ र र ४ १ २र
सुनीथोघा५ समर्त्त्यः। यम्मरुतो२
१ २ १र २ १र र २ १ २ १
यम र्यमा। मित्रास्पान्त्यद्रुहः। ऊ। ऊ।
३र _ १ २ १ २ १ १ १ १ १
वाहा ३१ उवा २। अतिद्विषा२३४५ः।
१३॥

चतुर्थी ऋक्।
त्रिशोकऋषिः।

२३ १ २३२ ३ १र २र ३
यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत् परिशाने
१२ १२ ३ १र २र
पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदाभर॥ १४॥

हे 'इन्द्र!' 'तत्' 'स्पार्हम्' स्पृहणीयम् 'वसु' धनम् अस्मभ्यम् 'आ। भर' देहि 'यत्' 'वीडौ' दृढे मञ्जूषादौ 'यत्' 'स्थिरे' पर्वत-प्राचीर-भूगर्भादौ 'यत्' 'परिशाने' कूपादौ 'पराभृतम्' सम्भृत गुप्तस्थापितमस्ति। पर्शानशब्दः कूपादिवाचकः, प्रातिशाख्यानुशासनात् परिशान इति श्रूयते॥ १४॥

হে ইন্দ্র! যাহা মঞ্জুষাদিতে * দৃঢ়বদ্ধ আছে, যাহা পর্ব্বতগুহাতে প্রাচীরমধ্যে ভূগর্ভে নিহিত আছে, যাহা কূপাদির অভ্যন্তরে স্থাপিত আছে সেই বাঞ্ছনীয় গুপ্তধন আমাদিগকে প্রদান কর॥ ১৪॥

तौभम्।

२र र र र ३ ५
औ हो वा औ हो २३४ वा। औ ६

* মঞ্জুষা—পেড়া, সিন্দুক।

५ २र र ४ २ ३ ५ २र
हा । यद्वीडा वीइन्द्रा ३ यत्स्थिरा ३ । औ
र र र र ५ ५ २
होवा औ हो २३४ वा । ओ ई हा । यत्प-
र ४ २र३५ २र र र र
र्शाने ३ पा ३ राभृतम् । औ हो वा औ
३ ५ ५ २ र
हो २३४ वा । ओ ई हा । वसुस्पार्हा ३
४ २र३५ २र र र र
न्ता ३ हाभर । औ होवा औहो २३४
५ ५ ४
वा । ओ ई हा । हो ५ इ । डा ॥ १४ ॥

पञ्चमी ऋक् ।

सुकक्षऋषिः ।

२ १ २ २ १ २ ३ १र२र ३ २
श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्रशर्द्धं चर्षणीनाम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २
आशिषे राधसे महे ॥ १५ ॥

'श्रुतम्' विख्यातम् 'शर्द्धम्' वलयन्तरम् 'वृत्रहन्तमम्' अतिशयेन शत्रुहन्तारम् 'वः' त्वाम् 'चर्षणीनाम्' आत्मीयानां मनुष्याणाम् 'महो आशिषे' महतीमाशीरधिगन्तुम् 'प्र । राधसे' संसाधयामि राधोऽत्रान्तर्णिजर्थः ॥ १५ ॥

তুমি সর্ব্বত্র বিখ্যাত, অতিশয় বলবান্, প্রশস্ত শত্রুহন্তা ; তোমাকে মনুষ্যগণের মহৎ কল্যাণের নিমিত্ত সম্যক্‌রূপে সাধন করিতেছি ॥ ১৫ ॥

औतम् ।

५ ४ १र २
श्रुताम् । वो वृत्रहन्तमम् । प्रशर्द्धं चर्ष-
१ २ र १ २
णा २२ इ नाम् । आशाइषा २३ इरा ।
३ र २ १ २ ४ ५ ४
धसेमहा । औ ३ हो वा । हो ५ इ । डा ।
१५ ॥

षष्ठी ऋक् ।

वामदेवऋषिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ४ २
अरन्त इन्द्रश्रवसे गमेम शूर त्वावतः ।
१ २ ३ १ २
अरं शक्रपरेमणि ॥ १६ ॥

हे 'शूर । इन्द्र !' 'त्वावतः । ते' त्वत्सदृशस्य तव श्रवसे 'श्रवणाय वयम् 'अरम् । गमेम' पर्य्याप्तं गच्छेमेत्याशास्महे । अतोऽद्य हे शक्र ! 'परेमणि' ज्योतिष्टोमादियागे 'अरम्' पर्य्याप्तम् । त्वावत इति 'युष्मदस्मदोः साहश्ये वतुव्वाच्यः' (५।१।६१) इति वतुपि, प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति त्वादेशे, आ सर्वनाम्ना इत्यात्वे रूपम् ; यथा 'गगनं गगनाकारम्' तथाऽत्र 'त्वावतस्ते' इति । गमेमेति छादेशाभावश्छान्दसः ! परेमणीति परमुत्कृष्टं स्वर्गादि गम्यते येन सः प्रेमा यज्ञस्तत्र ॥ १६ ॥

হে ইন্দ্র ! আমরা ভরসা করি ! ! তোমার শ্রবণার্থ অর্থাৎ আত্মপ্রার্থনা তোমার শ্রুতিগোচর করিবার নিমিত্ত যাহার পর নাই যত্ন করিতেছি ; হে বিক্রান্ত ! তোমার সদৃশ কেহই নাই, তুমিই তোমার সদৃশ ;) হেশক্র ! এক্ষণে কর্ম্মে ক্ষান্ত দিলাম ॥ ১৬ ॥

आभीशवम् ।

५ र २ १
अरन्तइन्द्र श्रवसेए । ए । गमाइम
२र १र २ १ २ २ १
शूरत्वावताइः । हो वा ३ हाइ । अरा
२ १ २ २
शा १ क्रा २३ । हो वा ३ हाइ ।
१ २ १
पराइमा २३ । णा ३४३ इ । ओ २३४५३
डा ॥ १६ ॥

(ता०) प्रातः सूर्य्यस्य प्रकाशइव अन्नताम्नतं ब्रह्म स्वान्तरेऽवाप्य नवोत्साहेन पूर्णोभवन् ब्रह्मवादयाह हे अमृतपुरुषस्य पुत्राः! द्युलोक-भूलोकवासिनो देवमनुष्याः! शृणुत; तिमिरातीतज्योतिर्मयं महान्तमहमवेदिषम्॥ १२॥

१५१

(मू०) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। १३।

(टी०) 'वेद, जाने 'अहं एतं' 'पुरुषं' पूर्णं 'महान्तं' 'आदित्यवर्णं' प्रकाशरूपं 'तमसः' अज्ञानात् 'परस्तात्'। 'तं एव विदित्वा' 'मृत्युं' 'अति एति' अत्येति अतिक्रामति अस्मात् 'न अन्यः पन्थाः विद्यते' 'अयनाय' परमपदप्राप्तये॥ १३॥

(ता०) इमं तिमिरातीतं ज्योतिर्मयं महान्तं पुरुषं विदित्वा साधकोमृत्युमतिक्रामते, सोऽनन्तकालंस्यैव ज्ञानमय-प्रेममय-पुरुषस्य सहचरोऽनुचरो भवन् परममानन्दमुपभुंक्ते। तच्छरणमन्तरामुक्तिमवाप्तुं नान्यः कश्चनोपायोविद्यते॥ १३॥

१५२

(मू०) एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्॥ १४॥

(टी०) यस्मात् ब्रह्मज्ञानानन्तरं परमपुरुषार्थसिद्धिः तस्मात् 'एतत्' ब्रह्म 'नित्यं एव' 'ज्ञेयं'। आत्मनि संतिष्ठतीति 'आत्मसंस्थं' 'न अतः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्' अस्ति॥ १४॥

(ता०) यः सर्वेषामाश्रयः, स चिरमात्मन्येव तिष्ठति। तस्यानुसन्धानं कुर्य्यात्, अपिच तमेव विद्यात्; ज्ञाते तु तस्मिन् सर्वमेव ज्ञातं भवेत्; ततोऽधिकं न किमपिज्ञेयमस्ति॥ १४॥

१५३

(मू०) संप्राप्यैनमृषयोज्ञानतृप्ताः कृतात्मानोवीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरायुक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ १५॥

(टी०) 'संप्राप्य' समवगम्य 'एनं' परमेश्वरं 'ऋषयः' दर्शनवन्तः 'ज्ञानतृप्ताः' ज्ञानेन तृप्ताः 'कृतात्मानः' कृतबुद्धयः 'वीतरागाः' विगतरागादिदोषाः 'प्रशान्ताः' इन्द्रियचाञ्चल्यरहिताः 'ते' एव 'सर्व्वगं' सर्व्वव्यापिनं 'सर्व्वतः' सर्व्वत्र 'प्राप्य' 'धीराः' विवेकिनः 'युक्तात्मानः' समाहितस्वभावाः 'सर्व्वं एव' 'आविशन्ति' प्रविशन्ति ज्ञानेन॥ १५॥

(ता०) ये धीराः ज्ञानेन तं सत्यपुरुषमविदुः, प्रीत्या तस्य मङ्गलभावस्यार्चनां कृतवन्तः अपिच तदीय-मङ्गलेच्छया स्व-साधिच्छां संयुज्य युक्तात्मानोऽभवन्; ते तस्यैव सर्वगतस्य सर्वमङ्गलालयस्य सहवासं लब्ध्वा सर्वत्र प्रविष्टा भवन्ति किञ्च सर्वेषामन्तरे प्रेममयममृतमयं तं पश्यन्ति॥ १५॥

१५४

(मू०) विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणाभूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश। ॥ १६ ॥

(टी०) 'विज्ञानात्मा' 'सह' 'देवैः च' इन्द्रियैः 'सर्वैः' 'प्राणाः' 'भूतानि' पृथिव्यादीनि 'संप्रतिष्ठन्ति' 'यत्र' यस्मिन् अक्षरे ब्रह्मणि। 'तत् अक्षरं' ब्रह्म 'वेदयते' जानाति 'यः तु सौम्य सः सर्वज्ञः सर्वं एव' 'आविवेश' आविशति ज्ञानेन ॥ १६ ॥

(ता०) जीवेन्द्रियप्राणादयः सर्वे पदार्थाः यस्येच्छया समुत्पन्नाः, अपिच यस्येच्छया तिष्ठन्ति, तमेवाविनाशिनं पुरुषं योजानाति; तस्य सर्वे संशया विलीयन्ते, किञ्च स सर्वेषामन्तः प्रविष्टोभवन् सर्वत्रैव मङ्गलमयममृतपुरुषं प्रपश्यति ॥ १६॥

१५५

(मू०) यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्व्वानुभूः। यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्व्वानुभूः। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १७ ॥

(टी०) 'यः च अयं अस्मिन् आकाशे' 'तेजोमयः' चिन्मात्रप्रकाशमयः 'अमृतमयः' अमरणधर्म्मा 'पुरुषः' सर्व्वमनुभवतीति 'सर्व्वानुभूः'। 'यः च अयं अस्मिन् आत्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्व्वानुभूः'। 'तं एव विदित्वा' 'मृत्युं' 'अति एति' अत्येति अतिक्रामति। 'न अन्यः पन्थाः विद्यते अयनाय'। १७ ॥

(ता०) एष आकाशोन शून्यः, अपितु ज्ञानमयामृतमयपूर्णपुरुषेण पूर्णः। अस्मिन्नात्मन्यपि स पूर्णोऽवतिष्ठते। सोऽन्तर्बहिश्च सर्वत्र तिष्ठन् सर्वानवगच्छति। यस्तममृतमयं पुरुषं ज्ञात्वा तत्प्रेमपूर्णः सन् तदीय-मङ्गलेच्छया सह स्वस्वाभिच्छां संयोजितवान्, अपिच तदन्तिके प्राण-समर्पणं कृतवान्; सोऽमृतमयं पुरुषमवाप्य मृत्युमतिक्रमितवान् ॥ १७ ॥

१५६

(मू०) एष आदेशएषउपदेशएतदनुशासनं एवमुपासितव्यमेवमुपासितव्यं ॥१८॥

(टी०) 'एषः' 'आदेशः' उपासनाविधिः 'एषः उपदेशः' मनुष्येभ्यः 'एतत्' 'अनुशासनं' प्रमाणवचनं यस्मादेवं तस्मात् 'एवं' यथोक्तं 'उपासितव्यं' 'एवं उपासितव्यं' पुनर्व्वचनं समाप्त्यर्थं ॥ १८ ॥

(ता०) सर्वेषामुपदेशानां सारएषः—तस्मिन् प्रीतिं तस्य प्रिय-साधनञ्च कुर्य्यात् ॥ १८ ॥

इति।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ओं।

प्रथम खण्डं समाप्तम्।

न्यूनतापरिपूरणम्।

———०(०)०———

ब्राह्मधर्म्मः।

[१ख० । १अ०]

भ्रमतो यथास्थानमेतन्न मुद्रितम् सैषा न्यूनता परिपूर्य्यतेऽद्य ; चतुर्थपृष्ठाया अनन्तरमेव पाठ्यम् ।

६

(मू०) कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एषह्येवानन्दयाति ॥ ६ ॥

(टी०) 'कः ह्रि एव' लोके 'अन्यात्' चेष्टां कुर्य्यात्' 'कः' वा 'प्राण्यात' प्राणनं कुर्य्यात् 'यत्' यदि 'एषः' 'आकाशे' 'आनन्दः' आनन्दरूपः परमात्मा 'न स्यात्' । 'एषः' परमात्मा ह्रि एव' 'आनन्दयाति'. आनन्दयति सुखयति लोकं धर्मानुरूपम् ॥ ६ ॥

(ता०) सत्येव परमात्मनि जगदेतदनुपममुत्पन्नमपि च जीवैर्लभ्यते जीवनोपायः। असति हि तस्मिन् न भायादिदं किञ्चिदपि। क्व भूलोकः, क्व वायुलोकः, क्व वैते प्राणिनः स्थावराजङ्गमा अपि, क्व वा तेषां क्रियाकलापादयः,कुत्र वा तिष्ठेत् सुखं सौभाग्यं यदि सर्वस्रष्टा, सर्व्वाश्रयः मङ्गलस्वरूपः, परमेश्वरो जगदिदं न ससृज्येत, नापिचैतादृशीं सुनियमप्रणालिं स्थापयेत्। स एवैतेभ्यो जनपदेभ्यो वितरत्यानन्दकन्दम् । सहि मङ्गलालयः विश्वपाता अस्माकं सुखमुद्दिश्य यथा यत्र यावत् सुखं योजितवान्, ततएव तथैव वयं तावदेव सुखमभिलभ्य कृतार्थी भवामः। जगच्छोभादर्शनम्, स्वाद्वन्नरसास्वादनम, मातुः पितुश्च स्नेहस्य सुहृदां प्रणयस्य च लभनम्, ज्ञानशिक्षनम्, धर्मानुष्ठानम्—इत्येवमादीनि यावन्ति सुखानि यतो येनोपायेन वयं लभामहे, तावन्त्येव तत्प्रसादतएव। अहो! कीदृशी करुणा तदीया! विषयद्वारयैव विविधमानन्दं प्रेरय्य न स कृतार्थः ; प्रार्थिनिभूते स्वात्मानमपि प्रदायास्माकं जीवनं करोति शीतलम्, मननमपि करोति पूर्णम्, तृप्तांच करोति स्पृहा। ये वै शान्तप्रकृतयोधीराः विषयसुखमप-

भुज्य ततोऽत्मा: अनिशं प्रार्थयन्ति तम्, स तेषां हृदयमन्दिरे प्रादुर्भूय तन्नयनयुगलनि:सृतशोकसन्तप्ताश्रुनिवहानि मार्जयत्यचिरात्; प्रभूतामृतवारिवर्षणेन च विकाशयति तत्परिशुष्कहृदयपङ्कजम्। अहो! य: क्षणमपि तदमृतपुरुषमात्मान्तरे प्रहस्य विमलमानन्दमुपभुक्तवान्, विदितवान् सएव तन्महिमानं ध्रुवम् ॥ ६ ॥

७

(मू०) यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतोभवति ॥ ७ ॥

(टी०) 'यदा' यस्मिन् काले 'हि एव' 'एष:' साधक: 'एतस्मिन्' 'अदृश्ये' अविषयभूते 'अनात्म्ये' अशरीरे 'अनिरुक्ते' अविशेषे विशेषोहि निरुच्यते अविशेषञ्च ब्रह्म तस्मादनिरुक्तम् 'अनिलयने' अनाधारे ब्रह्मणि 'प्रतिष्ठां' स्थितिम् 'अभयम्' यथा स्यात् तथा 'विन्दते'। 'अथ' तदा 'स:' 'अभयंगत: भवति' अभयम् प्राप्नोति ॥ ७ ॥

(ता०) यथा प्राप्तभय शिशवो मातृक्रोडमुपगत्य निर्भयतामुपयन्ति, तथा वयमपि तस्य अमृतमयस्य पुरुषैकस्य सर्वत्र प्रसारितभुजान्तरमाश्रित्यैतद्भयाकीर्णसंसारभीतित: परित्राणमाप्नुम:, निर्भयाश्च वयमदृश्योऽपि य: सर्वद्रष्टा, निराधारोऽपि विश्वाधार:, परमेश्वर: ; तमेवैकं सुहृदमवाप्य, सौहृद्येन च परिज्ञाय तस्मिन्नेवात्मानमभिसमर्पयाम: ; अपिच तदीयाज्ञानुवर्त्तिन: संस्थाया प्रतिष्ठितचित्तेन तत्प्रदर्शित-पथ्यानमभिसञ्चारम: ॥ ७ ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

प्रत्नाख्यकाद्यकरणाद्यलिपुञ्जाकृत्यविम्बं समग्रत्निमनन्तम् । बोधाग्निवेद्यमननेन मान्यं वन्देहमीयज्जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।

राजतादृशी सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३ भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [November, 1869.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२७ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায় ; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

वैदिकसमालोचना ।

(२२ सङ्ख्याया अनन्तरम्)

यजुर्वेदस्य संहिता— चतुर्भिर्दशकैः, चत्वारिंशदध्यायैः, एकत्रिंशदधिकत्रिशतानुवाकैः अष्टाशीत्युत्तरद्विसहस्रकण्डिकाभिर्विभक्ता* । (तत्र, प्रथमदशके—प्रथमाध्याये प्रथमे अनुवाकेषु पञ्चाशत् कण्डिका । एवं तत्रैव दशके २-७-७० । ३-९-७६ । ४-१०-४९ । ५-१०-५५ । ६-८-५० । ७-२२-४०। ८-२५-३२ । ९-७-४७ । १०-६-४३ । द्वितीयदशके—१-१०-४७ । २-७-८५ । ३-७-११६ । ४-७-६५ । ५-९-३५। ६-७-८५ । ७-८-१४ । ८-७-८६ । ९-९-४३ । १०-५-४६। तृतीयदशके—१-७-१०६ । २-८-७५ । ३-६-६० । ४-२१-४७ । ५-११-६७ । ६-८-४४ । ७-१५-४५ । ८-१२-१४ ९-६-५० । १०-४-४६ । चतुर्थदशके—१-७-५१ । २-६-८४। ३-२-४६ । ४-४-२२ । ५-४-५५ । ६-१-२४ । ७-३-२० । ८-७-२७ । ९-९-१२ । १०-१-१८ ।) तस्याः पाठप्रकाराः पञ्चसंहितापाठः, पदपाठः, क्रमपाठः, जटापाठः, घनपाठः । ब्राह्मणश्चैकम्, तद्विभागादिकन्तु प्रतिशाखायां भिन्नम् ।

सामवेदस्य—संहिता 'गानम्' मन्त्रस्थानीयं 'साम' ।

* उक्तमेतत् कण्वशाखानुयायि, अन्यान्यशाखासु अस्ति किञ्चिन्न्यूनातिरेकोऽपि ।

বৈদিকসমালোচনা ।

(২৩সংখ্যার পর ।)

যজুর্ব্বেদের সংহিতা—চারি দশকে, চত্বারিংশৎ অধ্যায়ে, তিনশত একত্রিশ অনুবাকে, দুইসহস্র অষ্টাশী কণ্ডিকায় বিভক্ত * । (প্রথমদশকে—প্রথমাধ্যায়ে ১ অনুবাকে ৫০ কণ্ডিকা । এইরূপ সেই দশকে ২-৭-৭০ । ৩-৯-৭৬ । ৪-১০ ৪৯ । ৫-১০-৫৫ । ৬ ৮-৫০ । ৭-২২-৪০ । ৮-২৫-৩২ । ৯-৭-৪৭ । ১০-৬-৪৩ । দ্বিতীয়দশকে—১-১০-৪৭ । ২-৭-৮৫ । ৩-৭-১১৬ । ৪-৭-৬৫ । ৫-৯-৩৫ । ৬-৭-৮৫ । ৭-৮-১৪ । ৮-৭-৮৬ । ৯-৯-৪৩ । ১০-৫-৪৬ । তৃতীয়দশকে—১-৭ ১০৬ । ২-৮-৭৫ । ৩-৬-৬০ । ৪-২১-৪৭ । ৫-১১-৬৭ । ৬-৮-৪৪ । ৭-১৫-৪৫ । ৮-১২-১৪ । ৯-৬-৫০ । ১০-৪-৪৬ । চতুর্থদশকে ১-৭-৫১ । ২-৬-৮৪ । ৩-২-৪৬ । ৪-৪-২২ । ৫-৪-৫৫ । ৬-১-২৪ । ৭-৩-২০ । ৮-৭-২৭ । ৯-৯-১২ । ১০-১-১৮।) এই সংহিতার পাঁচপ্রকার পাটশৈলী—সংহিতা-পাঠ, পদপাঠ, ক্রমপাঠ, জটাপাঠ, ঘনপাঠ। ব্রাহ্মণবিভাগাদি প্রতিশাখায় বিভিন্ন প্রকার ।

সামবেদের সংহিতা গান ও মন্ত্রের স্থানাপন্ন

* এইগুলি কণ্বশাখানুযায়ী, অন্যান্য শাখায় কিছু ন্যূনাতিরেকও আছে ।

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी । कलिकाता नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

यथा ऋग्यजुषोर्मन्त्रभागः संहितेत्युच्यते तथा सामवेदस्य मन्त्रभागोगानमित्याख्यायते, अपिच, यथा ऋग्वेदस्य मन्त्रः ऋगाख्यः, यजुर्वेदस्य मन्त्रः कण्डिकाह्वः, तथा सामवेदस्य मन्त्रः समाभिधः। अस्ति तेषां साम्नां मूलीभूतर्क्समुदायोग्रन्थविशेष आर्च्चिकनामतः प्रसिद्धः, केचित् तमेव संहितेत्याहुः, परं विशेषेणानुसन्धित्सुभिः स्पष्टमुपलभ्यते आर्च्चिकांशः साम्नामर्थाधिगमायैव सामवेदान्तर्गतः कृत इति; वस्तुतः प्रायः समस्ता एव ऋच स्तत्र ऋग्वेदतः सङ्गृहीता दृश्यन्ते, तासां गीतिस्वरूपाण्येव सामवेदस्य। अपरञ्च यथा सत्यपि गद्यात्ममन्त्रसंश्रवे ऋक् प्रधानो वेदः ऋग्वेद इत्युच्यते, तथैव सामप्रधानः सामवेदः, एवञ्चात्र वेदे साम्नामेव प्राधान्यम्। अतएव यत्र यत्र श्रौते स्मार्त्ते च कर्मणि सामवेदीयमन्त्रपाठस्यास्ति व्यवस्था तत्र सर्वत्रैव प्रायः साम्नामेव विनियोगो दृश्यते, अज्ञाते तु सामनि पठनीयसाम्नो मूलीभूतार्च्चिकान्तर्गता ऋक् पठ्यत इति सत्यम्—परं तथाकारी तन्न्यूनतां परिहर्त्तुं तां त्रिरावर्त्तते, नान्यथा विधिबोधितस्तेन कृतो मन्यते। अतः साम्नां समूहो गानेति प्रथितोऽखिलः संहिता स्थानीयः कृतः, स एव सामवेदस्य मन्त्रभागत्वेन निर्णीतः स्थित आकरे।

तच्च गानम्—गेय, अरण्य, ऊह, ऊह्य—इति चतुर्नामयुत्खण्डचतुष्टयोपेतम्।

तत्र। गेयगानम्—आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान—इत्येतैः त्रिभिः पर्वभिः, † सप्तदशप्रपाठकैः, (११९७) सप्तनवत्युत्तरशताधिकसहस्रसामभिर्विभक्तम्। यदिच गानानि सर्व्वाण्येव गेयानि, तथाप्येतद् ग्रन्थीयसाम्नां गानं समधिकं मधुरमल्पश्रम साध्यञ्चेति सम्भाव्यते अपिच उद्गातृप्रयोगे एतदीय साम्नामेव विनियोगो बहुलमीक्ष्यते, अतोऽसौ गेय—इति योगरूढ्या प्रकथ्यते। आचार्य्याः खल्वध्ययनायोपगतान् माणवकान् प्रथममेनदेवाध्यापयन्ति, ततश्चादिगानमिदमित्यप्युच्यते। तदेतस्य प्रथमे भागे (१८०) अशीत्युत्तरशतसामानि श्रूयन्ते तानि चाग्निदैवतानि अतः स 'आग्नेय पर्व' ‡ इति प्रथितः, इत्थमिन्द्रदेवतकैकनवत्युत्तरपञ्चशतसामात्मद्वितीयो भागः 'ऐन्द्रपर्व'—इति, पवमानदैवतषड्विंशत्युत्तरचतुःशतसामात्मः शेषोभागः 'पावमानपर्व'—इत्यभि शब्द्यते।

साम। যেরূপ ঋগ্বেদ ও যজুর্ব্বেদের মন্ত্রাত্মক ভাগকে সংহিতা বলা যায় সেইরূপ সামবেদের মন্ত্রাত্মক ভাগকে গান বলা যায় এবং যেরূপ ঋগ্বেদের মন্ত্র ঋক্‌নামে ও যজুর্ব্বেদের মন্ত্র কণ্ডিকা নামে খ্যাত সেইরূপ সামবেদের মন্ত্র সাম নামে খ্যাত। ঐ সকল সামের মূলীভূত ঋক্ সমুদয় আর্চ্চিক নামে প্রসিদ্ধ, কেহ কেহ তাহাকেই সংহিতা বলিতেছেন; কিন্তু বিশেষ অনুসন্ধান করিতে ইচ্ছুক মহাশয়দিগের ইহা স্পষ্ট প্রতীত হইবে যে আর্চ্চিকাংশটুকু সামসমস্তের অর্থবোধার্থ মাত্র সামবেদের অন্তর্গত করা হইয়াছে, বস্তুত যে সকল ঋক্ সামবেদে দেখা যায়, প্রায় তৎসমস্ত ঋগ্বেদ হইতেই সঙ্গৃহীত; সেইগুলির গীতি, যাহা সাম নামে প্রথিত তাহাই সামবেদের। অপরঞ্চ, যেরূপ গদ্যাত্মক মন্ত্রের সংশ্রব থাকিলেও ঋক্ প্রধান বেদকে ঋগ্বেদ বলে, সেইরূপ সামপ্রধান বেদকে সামবেদ বলা যায়, সুতরাং সামবেদে সামেরই প্রাধান্য। এই নিমিত্ত যে যে স্থলে শ্রৌত অথবা স্মার্ত্ত কর্ম্মে সামবেদীয় মন্ত্রপাঠের ব্যবস্থা আছে সেই সেই স্থলে প্রায় সামেরই বিনিয়োগ দেখা যায়, সাম জ্ঞাত না থাকিলে পঠনীয় সামের মূল আর্চ্চিকান্তর্গত ঋক্ পঠিত হয় বটে, কিন্তু সেই ন্যূনতা পরিহার করিবার নিমিত্ত ত্রিরাবৃত্তি অবশ্য করিতে হয়, অন্যথা বিধ্যনুগত হয় না। অতএব সামাত্মক গান নামে প্রসিদ্ধ গ্রন্থগুলিকে সংহিতার স্থানাপন্ন করা হইল, আকরে তাহাই সামবেদের মন্ত্রভাগরূপে নির্ণীত হইয়াছে।

সেই গান—গেয়, অরণ্য, ঊহ, ঊহ্য—এই খণ্ডচতুষ্টয়ে বিভক্ত।

গেয়গান—আগ্নেয়, ঐন্দ্র, পাবমান—এই পর্ব্বত্রয়ে * এবং সপ্তদশ প্রপাঠকে ১১৯৭ সামে বিস্তৃত। যদিচ গানমাত্রই গেয়, তথাপি এ গ্রন্থের গান সমধিক মধুর ও অল্পশ্রম সাধ্য এবং উদ্গাতৃপ্রয়োগে ইহারই বিস্তর সাম দেখা যায় এই নিমিত্ত গেয় এই নামটি ইহার যোগরূঢ়। আচার্য্যেরা অধ্যয়নার্থ উপস্থিত বালকগণ-কে প্রথমে এই গান অধ্যয়ন করাইয়া থাকেন এই জন্য ইহাকে আদিগান, বলা যায়। ইহার প্রথমভাগে অগ্নিদেবতাক ১৮০ সাম আছে, এই জন্য ঐ ভাগকে আগ্নেয়পর্ব্ব † বলা যায়; এইরূপে ইন্দ্রদেবতাক ৫৯১ সামে দ্বিতীয়ভাগ ঐন্দ্রপর্ব্ব ও পবমান দেবতাক ৪২৬ সামে শেষভাগ পাবমানপর্ব্ব নামে কীর্ত্তিত আছে।

† वंशादौ अङ्गुलिषु च द्वयोर्ग्रन्थ्योर्मध्यं पर्वेत्युच्यते, तत्साम्यादिहापि विषयविशेषेण प्रकरणभेदः पर्वेति श्रूयते।

‡ अग्निर्देवता अस्य-इति आग्नेयम्, सास्य देवतेत्यधिकारे 'अग्नेर्ढक्'-इति ढक्, त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता।

* যেরূপ বংশদণ্ডে ও অঙ্গুলিতে পর্ব্ব থাকে, সেইরূপ গানের এক এক প্রকরণ এক এক পর্ব্ব নামে ব্যবহৃত হয়।

† অগ্নি দেবতার উদ্দেশে গীয়মান সামের নাম আগ্নেয় তৎসমুদায়ের নাম আগ্নেয় পর্ব্ব।

उक्तमपरहेतुभिर्द्रढयति सूत्रचतुष्टयेन। तत्राद्यम्।

(सू०) लिङ्गदर्शनाच्च; कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत, तत्रानर्थकमन्यत् स्यात्। २। ४। ३।

(वि०) 'च' अपिच 'लिङ्गं' प्रकरणे प्रायश्चित्तादिकं दृश्यते अतो ज्ञायते नित्यमेतत् कर्मान्तरम्। तदेवोपपादयति—'हि' यतः यावज्जीवे 'कर्मधर्मे' सति 'प्रक्रमेण' जीवनान्तकालेन 'नियम्येत' नियुज्येत, 'तत्र' 'अन्यत्' प्रायश्चित्तादिकम् अनर्थकं स्यात्। अयं भावः—काम्यं हि कर्मफलसिद्धये निराबाधमेव क्रियते तदतिपातस्य कः सम्भवः, अतिपाते च तस्मिन् फलस्यैवासिद्धिर्भवतुनाम प्रायश्चित्तादेस्तत्र का प्रसृतिः, विधत्ते त्वतिपाते प्रायश्चित्तादिकम्; नित्यत्वे तूपपन्नमेतत् ॥२। ४। ३॥

द्वितीयम्—

(सू०) व्यपवर्गं च दर्शयति, कालश्चेत्, कर्मभेदः स्यात्॥ २। ४। ४॥

(वि०) 'च' अपिच 'व्यपवर्गम्, समापनं दर्शयति' 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इति, एवं हि ज्ञायते दर्शपूर्णमासे समापितेऽपितिष्ठति सोमस्य 'कालः' 'चेत्' यद्येवम्, 'स्यात्' 'कर्मभेदः' एकं काम्यमपरं नित्यमिति, अन्यथा आजीवनसाध्ये एकस्मिन्नेव कर्मणि नैतदुपपद्यते, कर्मद्वये तु काम्यस्य आजीवनसाध्यत्वाभावात् भवत्येव समापनम्।

तृतीयम्—

(सू०) अनित्यत्वात्तुनैवं स्यात्॥२।४।५॥

(वि०) 'तु' अपिच यदि काम्यमेकमेव कर्म तर्हि 'अनित्यत्वात्' नित्यस्य कस्यचिद् दर्शपूर्णमास यागस्याभावात् 'एवम्' 'न' 'स्यात्' 'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च'—इत्येवं न श्रूयेत। अकृते एव प्रयोगे काम्याद् मुच्यत एव किं जरामरणाभ्यामेवेति यत इति भावः। अतो ज्ञायते अस्ति नित्योऽपि दर्शपूर्णमासयागोऽपरः—इत्याशयः। २। ४। ५॥

चतुर्थम्—

(सू०) विरोधश्चापि पूर्ववत्॥२।४।६॥

(वि०) 'अपि' 'च' यदि दर्शपूर्णमासयागे यावज्जीवनकालस्य गुणस्य विधानं मन्येत तर्हि प्रकृतिवद्विकृतिरिति नियमात् तद्विकारसौर्य्यादिष्वपि यावज्जीविकता प्रसज्येत, अथाच विकृतमपि कर्म 'पूर्ववत्' यावज्जीवनसाध्यं स्यादित्येषः 'विरोधः'। कर्मान्तरत्वेतु नहि काम्यस्य यावज्जीवनसाध्यतेति तद्विकारस्य सौर्यादेरपि न तथात्वमित्यविरोधः। अतो ज्ञायते द्वौ दर्शपूर्णमासयागौ नित्यः काम्यश्च॥ २। ४। ६॥

इत्थं पूर्वपक्षमुक्तं निरस्य यावज्जीवस्य कर्तृधर्मत्वं स्फुटयति।

(सू०) कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात्॥ २।४।७॥

(वि०) पूर्वपक्षमुक्तं निरासेन निष्पन्नमेतत्—यावज्जीवमिति 'कर्तुर्धर्मनियमः' तस्मात् 'कालशास्त्रम्' वादिना कालत्वेन परिगृहीतं यावज्जीवमिति शास्त्रम् 'निमित्तम्' 'स्यात्' जीवनं निमित्तीकृत्य कर्मान्तरस्य विधायकं भवेदिति यावत्। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' — इत्यत्रैवमेव। २। ४। ७॥

तदेतत्प्रथमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) यावज्जीवं जुहोतीति धर्मः कर्मणि पुंसि वा। कालत्वात् कर्मधर्मेतिः काम्यमेकं प्रयुज्यताम्। न कालो जीवनं तेन निमित्त प्रविधानतः। काम्ययोगोप्रभिन्नः स्याद् यावज्जीव प्रयोगतः। २। ४। १॥

(वि०) बह्वृच ब्राह्मणे श्रूयते 'यावज्जीवमग्नि-

होत्रं जुहोति' इति। तत्र यावज्जीवशब्दोमरणावधिकालपरः, तत्कालसम्बन्धस्य प्रकृते काम्याग्निहोत्रे पूर्वमप्राप्तत्वात् जुहोतीत्यनुदिते कर्मणि विधीयते, तथा सत्यस्य वाक्यस्य नित्यप्रयोगविधायकत्वाभावेन वाक्यान्तरे विहितः काम्यप्रयोग एक एवाग्निहोत्रस्य पर्य्यवस्यति ; सच काम्य प्रयोगोऽभ्यसितव्यः, सकृदनुष्ठानस्याग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, यावज्जीवमित्यस्य कालविधेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ; तस्मादयं काम्य कर्मणोऽभ्याससिद्धये कालरूप धर्मविधिः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—यावज्जीवशब्दो न कालस्य वाचकः, किन्तु लक्षकः ; वाच्यार्थस्तत्र—जीवनम्। न च जीवनं कर्म धर्मत्वेन विधातुं शक्यम्, तस्य पुरुषधर्मत्वात्। न च पुरुषधर्मं निमित्तीकृत्य अग्निहोत्रप्रयोगोविधीयते। नचात्र कर्मभेदः, तद्धेतूनां शब्दान्तरादीनामभावात्। नचाभ्यासस्य हेतुः, निमित्तविशेषसद्भावेनाविशेषपुनः श्रुतेरभावात्। अतः प्रयोगभेदः पर्य्यवस्यति, जीवनस्यात्र निमित्तत्वात्। सति निमित्ते नैमित्तिकस्य त्यागायोगात् नित्यत्वमर्थसिद्धम्। न च जीवन निमित्तनैरन्तर्यापत्तिः, सायं प्रातः कालयोर्विहितत्वात्। तस्माज्जीवनस्य पुरुषधर्मत्वात् नित्यकाम्यप्रयोगौ भिन्नौ॥ २।४।१॥

समाप्तम् प्रथमाधिकरणम्।

प्रत्युदाहरणाधिकरणं ब्रूते—अनेकशाखासु श्रूयमाणानि अग्निहोत्रादिविधायकानि अत्र विषयवाक्यानि। प्रतिशाखं विभिन्नं कर्म, उत सर्वशाखाधिगतमेकमेव—इति संशयः। पूर्वपक्षं सूत्रयति।

(सू०) नाम-रूप-धर्मविशेष-पुनरुक्ति-निन्दा-ऽशक्ति-समाप्तिवचन-प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात् शाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात्। २।४।८।

(वि०) 'शाखान्तरेषु कर्मभेदःस्यात्' कुतः ? नामभेदादिभ्यः। तथाहि। काठकम् कालापकम्—इत्येवमादिर्नामभेदः, तस्मात्।

(रूपं द्रव्यदेवते) एकस्यां शाखायाम् अग्नीषोमीयमेकादशकपालमामनन्ति, अपरस्यां द्वादशकपालम् ; तदेषोरूपभेदः, तस्मात्। कारिरीवाक्यान्यधीयानाः तैत्तिरीयाः भूमौ भोजनमाचरन्ति, अपरे शाखिनो न तथा ; सोऽयं धर्मविशेषः, तस्मात्। एकस्यां शाखायां यत् कर्म विहितम्, अपरस्यामपि तदपि श्रूयते ; सैषा पुनरुक्तिः, एतत्प्रसक्तः। केचित् शाखिनोऽनुदितहोमं निन्दन्ति, उदितमपरे ; निन्दावचनमिदम्, अस्मात्। सकलशाखाधिगतमङ्गजातं नह्येकेन केनापि प्रतिपत्तुं युज्यते ; तदियमशक्तिः, तस्मात्। कस्यांचित् शाखायां कुतचित् समाप्ति वचनम्, अपरस्यामन्यत्र ; इति समाप्तिवचनव्यतिक्रमः, अस्मात्। केचिच्छाखिनः कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तमाचरन्ति, अपरे न तथा ; इति प्रायश्चित्तभेदः, तस्मात्। एवं हि श्रूयते 'यदि पुरा दिदीक्षाणाः' इत्यादि, 'अथ यदि अदिदीक्षाणाः' इति च ; एवञ्च इष्टवतामनिष्टपूर्वाणाञ्च द्वादशाहेऽस्ति दर्शनम् ; अथ ताण्डके श्रूयते 'एष वाव प्रथमोयज्ञोयज्ञज्योतिष्टोमः'-इति, तथाचात्रेष्टवतां न भवेद्दर्शनम् ; तदेतदन्यार्थदर्शनं कर्मभेदलिङ्गम्, तस्मात्। एवं हि श्रूयते 'यत्पञ्चसञ्चितम्'—इत्यादि, 'अथ यदि वेदिसञ्चितम्'-इति च ; तथाच पञ्चवेद्योः पाक्षिकं सम्मानं गम्यते ; अथापरे समामनन्ति 'रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति' तत्र न पञ्चसम्मानं न च वेदि सम्मानम् ; तदेतद्द्वितीयमन्यार्थदर्शनम् कर्मभेदलिङ्गम्, तस्मात्। एवं हि श्रूयते 'द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते' कस्यांचित् शाखायां 'तिस्रः संस्तुतानाम्' इति ; तदेतत् तृतीयमन्यार्थदर्शनम् कर्मभेदलिङ्गम्, तस्मात्। एवं हि श्रूयते सारस्वते 'ये पुरोडाशिनः ते उपविशन्ति, ये सान्नायिनः ते वत्सान् वारयन्ति ; तदेतच्चतुर्थमन्यार्थदर्शनम् कर्मभेदलिङ्गम्, तस्मात्। एवं हि श्रूयते 'उपहव्यो निरुक्तः,अग्निष्टोमो यज्ञः रथन्तरसामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा' कस्यांचित्

'उपहव्योऽनिरुक्तः उक्थो यज्ञो बृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा' इति ;—तदेतत्पञ्चमाम्नायार्थदर्शनम् कर्मभेदलिङ्गम्, तस्माच्च। शाखाभेदेकर्मभेदः—इत्येवं स्वीकृते तु इमे नामभेदादयः उपपद्यन्त एव ॥ २ । ४ । ८ ॥

सिद्धान्तं सूत्रयति।

(सू०) एकं वा संयोगरूप चोदनाख्याविशेषात् ॥ २ । ४ । ९ ॥

(वि०) वेति पक्षं व्यावर्त्तयति। सर्वशाखाप्रत्ययम् एकमेव कर्म, कुतः ? संयोग-रूप-चोदना-ख्यानामविशेषात्। तथाहि—संयोगोऽर्थसंयोगः फलश्रुति रितियावत्, यत्र शाखायां यस्य कर्मणो यत् फलं श्रूयते, अन्यस्यामपि शाखायां तस्य तदेव फलम् ; रूपम् द्रव्यदेवते, तेऽपि तथा ; चोदनाऽपि तथैव ; आख्यानामधेयम् तदपि न हि शाखाभेदेन भिद्यते ॥ २ । ४ । ९ ॥

अथ पूर्वपक्ष्युक्तहेतून् निरस्यति विंशसूत्रैः। तत्र यदुक्तम् नामभेदात् कर्मभेदस्तत्राह।

(सू०) न नाम्ना स्याद चोदनाभिधानत्वात् ॥ २ । ४ । १० ॥

(वि०) काठकं कालापकम्—इति 'नाम्ना' कर्मणोभेदः 'स्यात्' इति चेत्—न। कुतः ? काठकादिकं प्रवक्तृभेदहेतुकं चोदनाभिधानम्, कर्मतु चोद्यम्, तस्मात्। कर्मणो नामभेदो नास्ति, नहि ज्योतिष्टोमस्यान्यत्रान्यन्नाम-इत्याशयः ॥ २।४।१०॥

चोदना नामभेदस्य चोद्यभेद हेतुत्वे दूषणं प्रदर्शयति।

(सू०) सर्वेषाञ्चैक कर्म्यं स्यात् ॥२।४॥११

(वि०) योहि ब्रूते काठकं कालापकम् इति नामभेदः कर्मभेदहेतुः, तन्नये कठशाखाविहिता नामग्निहोत्र दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनां सर्वेषामेव ऐककर्म्यं स्यात् सर्वेषामेव काठकत्वात्, एवं सर्वत्र ; अतो वक्तव्यम् काठकादि चोदनाभिधानभेदो न कर्मभेदे हेतुः ॥ २ । ४ । ११ ॥

इदानीं काठकादिनामभेदस्य कर्महेतुतायां विरोधः प्रदर्श्यते।

(सू०) कृतकञ्चाभिधानम् ॥ २।४।१२॥

(वि०) काठकमित्याद्यभिधानं कृतकम्, यतः प्रभृति कठेन दृष्टम् तत एव, एवञ्च पूर्वं नासीद्भेदः इदानीं भेदः—इति विरुद्धम् ॥ २ । ४।१२ ॥

यदुक्तो रूपभेदात् कर्मभेदः तत्राह।

(सू०) एकत्वेऽपि परम् ॥ २ । ४ ।१३ ॥

(वि०) एक कर्मत्वेऽपि रूपभेद उपपद्यते वचनात् ॥ २ । ४ । १३ ॥

यदुक्तं धर्मविशेषात्तत्राह।

(सू०) विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥२।४।१४॥

(वि०) शाखाविशेषे यद्दृश्यते धर्मशास्त्रम्, तत् विद्यायाम् ; विद्याग्रहण नियमपरम् न कर्माङ्गभूतम् ॥ २ । ४ । १४ ॥

यदुक्तः पुनरुक्ति प्रसक्तेः कर्मभेदः, तदाशयकथनपुरःसरं सयुक्तिकं तत् खण्डनं ब्रूते सूत्रपञ्चकैः।

(सू०) आग्नेयवत् पुनर्वचनम्। २ । ४ । १५ ॥

(वि०) यथा अमावास्यायामाग्नेयस्य पुनरुक्त दोषात् मध्यमः पक्षोनिरस्तः, एवमत्रापि तस्मादेव दोषात् कर्मैकत्वपक्षोनिरस्यः—इति पूर्वपक्षिण आशयः ॥ २ । ४ । १५ ॥

(सू०) अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥ २ । ४ । १६ ॥

(वि०) नैतत् द्विर्वचनम्, कुतः ? श्रुतिसंयोगस्य अविशेषात्। यथा एकएव पुरुषो यद्बहिः कथयति तदेव द्विरुक्तमुच्यते, न हि बहुपुरुषैरुच्चारितं

पुनर्वचनमिति कथ्यते ; तथाऽत्रापि एकवेदे द्विरुच्चारितं भवति द्विरुक्तम्, न हि वेदभेदेन वचनभेदात् पुनर्वचनमिति सिद्धान्तिन आशयः। २।४।१६॥

स्वोक्तं परिपोषयति सिद्धान्ती।

(सू०) अर्थासन्निधेश्च॥२।४।१७॥

(वि०) अर्थानां विधेयानाम् असन्निधेः। यदि अनेकशाखाविहित विधेया एक कर्त्तृपराः स्युस्तर्हि स्यादेव पुनरुक्ति प्रसङ्गः, न च तथेत्यदोषः। २।४।१७॥

अर्थासन्निधिमुपपादयति।

(सू०) नचैकं प्रति शिष्यते॥२।४।१८॥

(वि०) यद्येकमेव पुरुषम् प्रति अनेकशाखाभिरनेकशः शिष्येत तर्हि स्यात्कर्मणः पुनरुक्तिप्रसङ्गः, नचैकं प्रति शिष्यते सर्वाभिः, काठकं पुरुषं प्रति विधत्ते कठशाखा, न तु तैत्तिरीयकं प्रति ; एवं सर्वाएव शाखाः एकैकं प्रति विधायकाः। २।४।१८॥

अपिच।

(सू०) समाप्तिवच्च संप्रेक्षा॥२।४।१९॥

(वि०) दृश्यते च यथा यथा समाप्तिः तथा तथा सम्प्रेक्षा—अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानामग्निः परिसमाप्यते, नास्माकम्-इत्यादि ; यद्यर्थानां सकलशाखाविहित विधेयानां सन्निधिः स्यात् तर्हि कथं केचिद्ब्रूयुरेषु दिनेष्वस्माकं न परिसमाप्यते इति। एवञ्च न एकं प्रति सर्वैः शिष्यते—इति विधेयानामसन्निधिः तस्मात् पुनरुक्ति दोषस्याप्रसक्तिः॥२।४।१९॥

निन्दावचनादीनां कर्मभेदहेतुतां करयति।

(सू०) एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्ति वचनानि॥२।४।२०॥

(वि०) पराणि निन्दावचनादीनि कर्मण एकत्वेऽपि नानुपपन्नानि। तथाहि—नहि वैदिकनिन्दानिषेधाय प्रवृत्ता अपितु निन्दितान्दितरत् प्रशंसितुम्, तथाच निन्दितानिन्दितौ द्वावेव विधीपाक्षिकतयोपपन्नौ। तदुक्तं भगवन्मनुना—'श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभावपि। उदितेऽनुदितेचैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः।' इति अशक्तिवचनमपि उपपद्यते, यतो विधेयोऽसमर्थेभ्यो न विध्यति। समाप्तिवचनमपि नानुपपद्यते एकस्मिन्नप्यंशे समाप्ते समाप्तिवचनोपपत्तेः॥२।४।२०॥

यदुक्तं प्रायश्चित्ताचरणं कर्मभेदं लक्षयतीति तदेव स्फुटयन् निरस्यति।

(सू०) प्रायश्चित्तं निमित्तेन प्रक्रमाद्वा-नियोगेन॥२।४।२१।२२॥

(वि०) यच्छ्रूयते 'निमित्तेन' 'कस्यचित् किञ्चित् कर्मनिमित्तं 'प्रायश्चित्तं' नापरस्य तत्कर्मनिबन्धनम् अतो ज्ञायते भिन्नं कर्म इति चेत्, अत्राह—नियोगेन प्रक्रमाद् प्रायश्चित्तं कर्मणएकत्वेऽप्युपपद्यते, तथाच—उदिते होष्यामि-इति प्रक्रम्य अनुदितहोमकारिणो भवति प्रायश्चित्तं एवञ्च तत् न कर्मभेदस्योपपादकम्॥२।४।२१॥२२॥

नन्वेवमपि सकलशाखाविषयस्यापरिज्ञातत्वात समाप्तिवचनं कथमुपपद्यत नाम (शाखाभेदात् कर्मभेद पक्षे नायं दोषः)-इति चेदत्राह।

(सू०) समाप्तिः पूर्ववत्वात् यथाज्ञाते प्रतीयेत॥२।४।२३॥

(वि०) क्व व्यवह्रियते समाप्तिः ? पूर्ववति, यत्प्रारब्धं तत् समाप्तमिति। तथाच यथाज्ञाते समाप्तिः प्रतीयेतैवेति किमनुपपन्नमस्माकमित्यदोषः। २।४।२३॥

(७) अथ चित्तसमस्यायाः पूरणोपायउच्यते ।
पदैः साधारणैरेव च्छन्दः संपूरयेद् यथा ॥

(८) अशेषजनताचित्तचमत्कारनिकेतनम् ।
हरिसिन्धुस्फुरद्रोचिः केषां न कुरुते सुखम् ॥१॥

(९) स्फुरत्सौदामिनीकान्तबहुलश्लाघनीयभाः ।
कलधौतरुगत्यन्तं कुरुते सुखसम्पदम् ॥ २ ॥

(१०) जनताविस्मयाधानं वसुधासुखकारणम् ।
महसां चक्रवालेन व्यतिभाते समन्ततः ॥ ३ ॥

(११) विशदच्छाययातीव विलसत् प्राणिसौख्यकृत् ।
आश्चर्य्यशाला तनुरुक् तनुतेपचितिं सताम् ॥४॥

सदा विलाससदनं निदानं परमश्रियम् ।
महासुखलतावीजं नेत्रयोः कुरुते रतिम् ॥ ५ ॥

(१२) विभाति विभुतास्थानं घनोपलसितोरुभाः ।
मनोरमप्रभावासः कलया लोकसौख्यकृत् ॥ ६ ॥

(१३) हरिमातङ्ग-सच्छाय-रोचिः परमभूषणम् ।
कस्या मोदैकहेतुर्न्नगोमण्डलविभूषणम् ॥ ७ ॥

(१४)उद्दामविस्फुरत्कान्ति रुचिरं गवि भासते ।
सदामोदपदं चित्तनिदानं हरिचारुभ ॥ ८ ॥

(१५)मनोहराकारतयातिरम्यता
समुल्लसच्चारुकलानिकेतनम् ।
अशेषभूमितलवर्त्ति सौख्यकृद्
विलोचनानां कुरुते सुखावलिम् ॥ ९ ॥

(१६) सामान्य शब्दकुसुमे ये सामान्यशब्दाः कथिताः तेऽत्रापि सञ्चारणीयाः ।

यत्किञ्चिदत्र न मया गदितं
ग्रन्थस्य गौरवत्रासात् ।
मत्कृतकविकल्पलता-
परिमलतस्तद्बुधैर्ज्ञेयम् ॥ १ ॥

इति कविकल्पलतायाम्
अर्थाख्ये चतुर्थ स्तवके
समस्यापूरणोपायो-
नाम षष्ठं कुसुमम् ।

(७(अथेति । चित्तसमस्यायाः मानससमस्यायाइत्यर्थः । यथा लोकानां मनसि उदेति तदनुगुणशब्देन छन्दसा च समस्या पूरणीयेत्यर्थः । यथा—केनचिदुक्तम् 'किमद्भुतम्', तस्य पूरणम् 'शिवस्यनिन्दया च या त्यजद्वपुः स्वकीयकम् । तदङ्घ्रिपङ्कजद्वयं शवे शिवे'—इति ; अन्यच्च केनचिदुक्तम् 'सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' तस्य पूरणम् 'चलितस्खलितस्कन्धः प्रयाने तव भूपते'—इति । तदेवाह—पदैरिति ।

(८) अशेषेति । हरिसिन्धुर्गङ्गा, पक्षे हरिः सिंहः सिन्धुः समुद्रः, केषां सुखं न कुरुते ? अपितु कुरुतएव, पक्षे असुखमितिच्छेदः ; तथाहि—सिंहसमुद्रौदृष्ट्वा सर्वेषामेव भयं जायते । पूर्वार्द्धं पक्षद्वये विशेषणम् ।

(९) स्फुरदिति । सौदामिन्याइव कान्ता बहुला श्लाघनीया भा यस्याः सा कलधौतस्य सुवर्णस्य ; पक्षे सौदामिनीकान्तोमेघः, असुखसम्पदं भयम् ।

(१०) जनतेति । जगतामिति वा पाठः । विस्मयाधानम् आश्चर्यजनकम् पृथिव्याः सन्तोषकारणम् महसां तेजसां चक्रवालेन मण्डलेन व्यतिभाते दीप्यमानः समन्ततः सर्वत्र कः सूर्यइत्यर्थः । अथवा एवम्भूता वसुधा व्यतिभाते विराजते महसां नानाविधोत्सवानां चक्रवालेन समूहेन ।

(११) विशेति । तव तनुरुक् सताम् अपचितिं पूजां, पक्षे क्षयं 'भवेदपचितिः पूजाव्ययनिष्कृतिहानिषु'—इति मेदिनी । सौख्यं करोति, पक्षे सौख्यं कर्त्तयति क्षतोच्छेदे ।

(१२) विभातीति । विभाति शोभते, कश्चित्पुरुषइति शेषः । घनवत् उपलसिता उरु श्रेष्ठा भा यस्य, पक्षे घनोपलवत् सिता उरुर्भायस्य ।

(१३) हरीति । हरिमातङ्गः ऐरावतः, कृष्णवर्णगजश्च । गोमण्डलं पृथ्वीमण्डलं, धेनुमण्डलञ्च ।

(१४) वस्तुसमस्यामाह—उद्दामेति । उद्दामा उत्कटा विस्फुरन्ती या कान्ति तया रुचिरम् । गवि पृथिव्याम् नभसि वा । हरिरिन्द्रः सूर्यः सिंहो वा, तद्वत् चारु भा यस्य ; सामान्यत्वान्नपुंसकम् ; किमिदं वस्तु ? तद्ब्रह्मीतिपूरणीयम् ।

(१५) उत्तरमाह—मनोहरेति । अर्थाच्चन्द्रः ।

(१६) उपसंहरते—सामान्येत्यादि ।

कवि० टी० ४स्त० ६कु० समाप्तम् ।

अथ क्षितिख्यातकियत्समस्या
पदाङ्कुरं पल्लवितं करोमि ।
यच्छायमाश्रित्य कविर्न विन्द्यात्
परिश्रमं वाङ्मयमार्गजातम् ॥

त्रियामा शतयामा स्यात्क्षतचन्द्रं नभस्तलम् ।
शतेषुरेषु पञ्चेषुर्भवेद्‌ यूनां वियोगिनाम् ॥ १ ॥

त्वद्गाम्भीर्यगुणस्याग्रे समुद्रो गोःपदायते ।
त्वन्मानससरोजान्तर्गगनं भ्रमरायते ॥ २ ॥

अमत्रीभवतस्तत्र पीयूषपरिवेषणे ।
अभून्नारदवीणाया अलावोरन्तरे सुधा ॥ ३ ॥

अधःकृतं क्षणादेव तेजोऽनर्थाय जायते ।
दहत्येव हि धातारं दीपवर्त्तिरधोमुखी ॥ ४ ॥

भालनेत्रानलोद्भ्रान्तकज्जलौघमलीमसः ।
महेश्वर-शिरस्थायी सोमः श्यामतमो भवत् ॥ ५ ॥

निशीथे सैंहिके येन ग्रस्तसम्पूर्णमण्डलः ।
गगनेन्दीवरोत्सङ्गे इन्दुरिन्दिन्दिरायते ॥ ६ ॥

हीनहत्या दधात्येव लाघवं महतामपि ।
इति मत्वा द्विपद्वेषी मृगात्सिंहः पलायते ॥ ७ ॥

पूर्वो ह्रस्वः परो दीर्घः स्नेहः संजायते सताम् ।
असतां विपरीतस्तु स एव परिदृश्यते ॥ ८ ॥

इहार्थसूत्रं यस्यादौ तेन शास्त्रेण निर्भरम् ।
जिज्ञासा ब्रह्मणो यस्य क्रियते तदुपास्महे ॥ ९ ॥

धन्योऽसौ पोत्रिणीपुत्रो यस्यासौ प्रलयापदि ।
सगोत्रोऽपि स्थितो दंष्ट्राकण्टकाग्रे महोदधिः॥१०॥

भुवं बिभर्त्ति यस्यैकं शिरोहीनः सुलोचनः ।
स त्वां प्रणमितुं स्तोतुं द्रष्टुं श्रोतुं क्षमः प्रभो ॥११॥

अयशः स्वं सुतनुते तन्वाते तन्वते जिताः ।
कज्जलालिकलङ्कानां व्याजाद्दीपाम्बुजेन्दवः ॥१२॥

रत्नाभरणविद्योतपर्यावातनश्वरः ।
अन्धकारभयाद्दीपस्तन्यङ्ग्या नीयते शमम् ॥१३ ॥

भ्रामर्य्यङ्घ्रिहतिभ्रान्ते जगतीत्यरयो ब्रुवन् ।
मक्षिकापादघातेन कम्पितं भुवनत्रयम् । १४ ॥

उषाप्रीत्यै पटे सूक्ष्मे चित्रितं चित्रलेखया ।
मक्षिकापादघातेन कम्पितं भुवनत्रयम् ॥ १५ ॥

सभाभित्ति मणिश्रेणि प्रतिबिम्बित विग्रहे ।
धार्त्तराष्ट्र शते तर्कि कन्दर्पाणां शतद्वयम् ॥ १६ ॥

अहल्याकेलिकालेऽभूत् कन्दर्पाणां शतद्वयम् ।
तत्पश्चवाणीभिन्नाक्षः सहस्राक्षोऽन्धतां गतः ॥१७

बलिसद्मोच्चशालाग्र प्रतिष्ठितगभीरिमा ।
उपपन्नतमा जाता प्राकारोपरिकूपिका ॥ १८ ॥

लङ्कादाहे सुरैरुक्तं हनुमत्पुच्छवह्नितः ।
सौवर्णोद्रवतां गच्छंस्तम्भएषष्टतायते ॥ १९ ॥

उन्मीलत्तिलकं क्वापि क्वचित् प्रस्फुरिताञ्जनम् ।
क्वचित् पत्रावली कीर्णं श्रीमुखं पर्वतोपमम् ॥२०॥

समस्यापूरणोपायानन्तरं समस्याकुसुममाह—अथेत्यादि। शत श्लोकैः यद्यपि समस्यापूरणमप्यत्रास्ति तथापि तदुपाय-विरहात् पूर्वकुसुमाद्‌ विशेषः । अङ्कुरं प्रादुर्भावम् ; पल्लवितं विस्तारितम् ; यच्छायं यत्प्रतिबिम्बम् निदर्शनमित्यर्थः ; वाङ्मयं वाक्यसमूहः तस्य मार्गः काव्यम्, तत्र जातः

अमत्रीभवतः पात्रीभूतस्य ॥ ३ ॥

धातारं दीपधारकम् ॥ ४ ॥

इह जगति तद्‌ब्रह्म उपास्महे, यस्य ब्रह्मणः अथसूत्रम् ; 'अथतो ब्रह्मजिज्ञासा'-इति सूत्रम् आदौ यस्य वेदान्त शास्त्रस्य तेन जिज्ञासा क्रियते, 'मुमुक्षुभि-रितिशेषः ॥ ९ ॥

पोत्रिणी वराही ; प्रलयापदि प्रलयापत्तिसमये ; गोत्रा पृथ्वी, तत्सहितोऽपि ; दंष्ट्रा एव कण्टकः ; तदग्रे तस्य वराहावतारस्य ॥ १० ॥

अहीनः सर्पराजः अनन्तः ; त्वां परमेश्वरम् ; प्रभो इति सम्बोधनम् । बहुमस्तकत्वात् प्रणमितुं बहुवक्त्रत्वात् स्तोतुं बहुलोचनत्वाद्‌ द्रष्टुञ्च शक्तः ॥ १२ ॥

हे सुत ! ते तव तन्वा शरीरेण जितास्ते दीपादयः कज्जलादिव्याजात् स्वम् अयशस्तन्वते ॥ ११ ॥

रत्नाभरणेनैव अन्धकार-भयशान्तिर्भविष्यति । दीपेनेति निष्प्रयोजनीयत्वाच्छमं नीतः निर्वापित इत्यर्थः ॥ १३॥

भ्रामरी दुर्गा, तथाच मार्कण्डेयपुराणे—'यदारुणाख्यस्त्रैलोक्ये महाबाधां करिष्यति । तदाहं भ्रामरं रूपं कृत्वा संख्येय षट्पदम् । त्रैलोक्यस्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम् । भ्रामरीति च मां लोकास्तदास्तोष्यन्ति सर्वतः ।' अरयो दैत्याः ॥ १४ ॥

बलिसद्म रसातलम् ॥ १८ ॥

तिलकः कुङ्कुमादिकृतः, चुरकश्च ; अञ्जनं कज्जलम्, सौवीरकञ्च ; पत्रावली पत्ररचना, छदनञ्च ॥ २० ॥

गोलब्धजन्मा मधुरः शिखि-प्रीति-विवर्द्धनः ।
उन्मीलदर्जुनच्छायो नवनीतायते गिरिः ॥ २१ ॥

सद्म-पद्मवदाभाति लसद्वारविराजितम् ।
यत केशरसंपूर्णं यदानन्दयते मनः ॥ २२ ॥

घनबालमनोहारि सुमनोभिर्निषेवितम् ।
बहुधातुलसत्कान्ति पुस्तकं मस्तकायते ॥ २३ ॥

एषा नजातबालेन्दु र्घनोत्तुङ्गपयोधरा ।
अभिरामवयोधाम सन्ध्या वन्ध्यावधूरिव ॥ २४ ॥

स्निग्धालिवद्धसौहार्द्दा सरसामोदमन्दिरम् ।
इयं गुणवती भाति पुष्पमालेव कामिनी ॥ २५ ॥

कलानिधिकरस्पर्शप्रसन्नोल्लासितारका ।
बिभ्राणाम्बरमानीलं यामिनी कामिनीयते ॥२६॥

उल्लसत्पार्थिवद्रव्योपासिता जीवनार्थिभिः ।
उपकण्ठाभिरामेयं गर्गरी नगरीयते ॥ २७ ॥

क्षतरामानिशप्रीतिरक्षविक्षेपकारणम् ।
समुद्रतरणोल्लासी दीपोऽयं हनुमानिव ॥ २८ ॥

वितन्वानो द्युतिं स्निग्धश्यामांजन मनोहरः ।
दीपो नीपोपमो भाति घनालोकविकस्वरः ॥२९॥

विस्फुरन्मीनमकराहंससञ्चारमञ्जुला ।
राजते सरसीवद्यौ रटत् कर्कट संकटा ॥ ३० ॥

अपः कादम्बिनी स्वच्छन्नलिनीलतयाश्रितः ।
उल्लासितजगत्प्राणस्तडागो गगनायते ॥ ३१ ॥

आपीततारकः पादैराक्रान्तगिरिकाननः ।
बिभ्रदुग्रललामत्वं विडालइव चन्द्रमाः ॥ ३२ ॥

त्र्यम्बकनेत्रदायादः प्रमदालयतां दधत् ।
हरिणाङ्कः सुधाधारः सौधोऽयं चन्द्रमायते ॥३३॥

चूतश्चन्द्रवदाभाति कुहूभिर्जनितक्षयः ।
धत्ते चकोरकामोदकरः खगमनोरुचिम् ॥ ३४ ॥

सोमः प्रीतिकरः कुर्वन् वनं सुवङ्कविद्रुमम् ।
समुद्रोऽग्निरिवाभाति दीप्तश्रीसूः सदानवः ॥३५॥

स्फुरद्धिमकराक्रान्तः प्रका-
शयन्नक्रमेणाधृतिजनकः ।
अन्तर्वर्त्ति शिखावान् समुद्र-
इव भाति दीपोऽयम् ॥ ३६ ॥

वयसः शेषे सेवा वा पररूपं करोतितवदेव ।
अधुना सुरतटिनीतटनिकटे वासो विनाशो वा॥३७

गौः पृथ्वी धेनुश्च, शिखी मयूरो वह्निश्च, अर्जुनो धवलो-वृक्षविशेषश्च ॥ २१ ॥

वारे वासरे विराजितः, पक्षे सुगमम् । स्फुटितं केशरं हिङ्गुलं किञ्जल्कश्च ; 'केशरं हिङ्गुले क्लीवं किञ्जल्के न स्त्रियाम्'—इति मेदिनी । पत्राणि वाहनानि पक्षिणो वा ॥२२॥

बालाः त्रुटयः केशाश्च ; 'बालो ना कम्बलेऽश्वस्य गजस्यापि च बालधौ । अलङ्कारान्तरे मेध्ये बाली बाला त्रुटौ स्त्रियाम्,—इति मेदिनी । धातवः हिरण्यादयः हरितालमनःशिलादयश्च ; सुमनाः पण्डितः पुष्पञ्च ॥ २३ ॥

न जातबालः शिशुरेव इन्दुर्यस्याम्, पक्षे बालचन्द्रः ; घना निविडा उत्तुङ्गा उन्नता मेघा यस्यां सा, पक्षे सुगमम् । वयसः पक्षिणः तेषाम् आश्रयः, पक्षे सुगमम् ॥ २४ ॥

अक्षम् इन्द्रियम् रावणपुत्रश्च ; विक्षेपो विविधरूपे क्षेपः द्रव्यसंयोगः, तथाच 'द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्'—इति विश्वनाथः, पक्षे विक्षेपो विनाशनम् ; सतुल्यानन्दं यत् रतं सुरतं तदेव रणम् तत्पयउल्लसितं शीलमस्य, पक्षे सुगमम् ॥ २८ ॥

कदम्बानां समूहः कादम्बम् तद्विद्यते यासु ताः, पक्षे कादम्बिनी मेघमाला, अत्र अपः कादम्बिनी जलयुक्तमेघमाला अपःशब्दः सान्तोऽपि ; नलिनी पद्म मृणालश्च, पक्षे अलि-नीलता भ्रमरवत् कालिम्नी तया श्रितः युक्तः, पक्षे जगत्-प्राणोवायुः ॥ ३१ ॥

ईषत् पीता तारका कनीनिका यस्याः, पक्षे आपीता विलोपिता तारका नक्षत्राणि येन ; गिरिका बालमूषिका, पक्षे सुगमम् ; उग्रः उत्कटः महादेवश्च ; ललामोभूषणं पुच्छञ्च ; 'ललामं पुच्छपुण्ड्राश्व भूषाप्राधान्यकेष्वित्यमरः ॥ ३२ ॥

त्र्यम्बकनेत्रदायादः त्र्यम्बकनेत्रोत्पन्नः पुत्रः, त्र्यम्बकनेत्रदायादः तत्तुल्यधवलः ; हरिणः पाण्डुरः मृगश्च ; सुधा चूर्णम् अमृतञ्च ॥ ३३ ॥

कुहूः कोकिलः अमावास्याच ॥ ३४ ॥

सोमश्चन्द्रो याज्ञिकलताविशेषश्च ; वनं जलम् अरण्यञ्च ; विद्रुमः प्रवालः द्रुमभिन्नश्च ; दीप्ता या श्री स्तस्याः सूः जनकम् प्रदीप्तशोभाजनकश्च ; दानवेन सह वर्त्तमानं सदा नूतनश्च । ३५ ।

पररूपं परब्रह्मरूपम्, वृद्धकाले गङ्गानिकटे सेवा वासो मरणञ्च करोतीत्यन्वयः ॥ ३७ ॥

चमूं भरन् पञ्च दुरञ्च दुर्वी-
तले प्रयाणे तव भूमिपाल ! ।
अभून्नृपाणां विगलत्प्रपाणां
कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः ॥ ३८ ॥

पितामहादेशवशाद्रसाया-
स्तलं यदा ते प्रविवेशमाणाः ।
तदा बभूवार्जुनवीर वैरिः
कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः ॥ ३९ ॥

आद्यं निशायाः क्षणमन्त्यमन्त-
र्बुध्वा विधुं तापिनमुष्णभानुम् ।
बिम्बं स्वकं भ्रान्ततया चकान्तम्
चन्द्रोदये नृत्यति चक्रवाकी ॥ ४० ॥

सर्वस्य जन्तोर्भवति प्रमोदो
विरोधिवर्गे परिभूयमाने ।
तिरोहिते त्वद्यशसा नरेन्द्र !
चन्द्रोदये नृत्यति चक्रवाकी ॥४१ ॥

निशाकरोत्सङ्गनिषण्णतुङ्ग
कुरङ्गशृङ्गे जलधेर्निवासः ।
आसीत् पुरासीमपयः पयोधि-
र्निर्मन्थनादित्यवदन्मुनीन्द्राः ॥ ४२ ॥

सरो निभे व्योम्नि सितांशुकाभं
शशाङ्कमुङ्गः कलयत्यसुं यत् ।
अवैम्यतः स्वच्छकलाच्छतार-
माखुः खनत्यम्बरमम्बुमध्ये ॥ ४३ ॥

पूर्वाचलग्रावणि शृङ्ग सङ्गि
स्फुरन्महानीलविभाविलासैः ।
प्रलिप्तमूर्त्तिः प्रतिभाति किन्नु
श्यामामुखे कज्जलविन्दुरिन्दुः ॥ ४४ ॥

न्यश्चदुदञ्चत् नीचोन्नतां प्राप्तत् ; कुठारोऽस्त्रविशेषः ; कमठे फलके ठकारः ठइति शब्दः ॥ ३८ ॥

पितामहो भीष्मः शरशय्याकाले पानीयं मालुकाम इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

श्यामा रात्रिः 'श्यामा क्षपा तमी तमा-इति महीपः । कज्जलविन्दुरिवाभातीत्यन्वयः ॥ ४४ ॥

मयूरमालोक्यमहान्तमब्धि
मण्डूकमल्लस्यमुखे महाहिः ।
विवेश वल्मीक विलम्बि शंक्य
वधं हि वामो विदधाति वेधाः ॥ ४५ ॥

राधा-मुखं चुम्बति कार्त्तिकेयः
कर्णावतंसीकृतफुल्लपद्मम् ।
शृणोति तस्मादुदितञ्च गीतं
कृष्णः समुग्धे ! प्रणयी कथन्ते ॥ ४६ ॥

कृष्णेन सृष्टा किल कौतुकेन
स्त्याना हिमैर्गोपिकया कयापि ।
हसन्ति कायां निहितास्य शक्त्या
ननर्त्त बह्नौ नवनीतनारी ॥ ४७ ॥

समस्तनीहारधरादधाना
घनाः प्रसूनेषु शिलीमुखालीः ।
उपास्यतां नील-तमाल-कान्ता
क्षामोदरीव क्षितिभृद्दरीव ॥ ४८ ॥

मल्लो बलवान् 'मल्लः पात्रे कापाले च मत्स्य भेदे बलीयसि'-इतिमेदिनी ; वामो विरुद्धः वेधा अदृष्टम् ॥ ४५ ॥

हे मुग्धे ! स कृष्णः ते तव कथं प्रणयी ? यः कार्त्तिके जाग्रदवस्थायां राधामुखं चुम्बति, तस्मात्तन्मुखादुदितं गानं शृणोति ॥ ४६ ॥

सृष्टा निर्मिता, नवनीत पुत्री दधि, सारपुत्तलिका हसन्ति, कायाम् अङ्गारधान्यां निहिता स्थापिता, पुनः किं-कृता ! हिमैस्त्याना घनीकृता सा अस्य कृष्णस्य शक्त्या वह्नौ ननर्त्त ; अघटनघटनापटुत्वं दर्शितम् ॥ ४७ ॥

इयं क्षामोदरी कृशोदरी सेव्यतां ; केव ? क्षितिभृद्दरीव पर्वतगुहेव ; किम्विधा ? समस्तनी अन्यूनाधिकस्तनी, हारधरा ; प्रसूनेषुः कामः तस्य शिलीमुखालीर्वाणपंक्ती र्दधानाः कटाक्षे इतिशेषः ; नीलतमा अलकान्ता स्वर्णकुन्तल-पर्यन्ता यस्य उपास्यतां सेव्यताम्, पक्षे समस्तनीहारधरा अशेषशिशिरयुक्ता शिलीमुखा भ्रमराः नीलतमालैः कान्ता मनोहरा ॥ ४८ ॥

सप्तमी ऋक्।

विश्वामित्र ऋषिः।

२ १ २ २ १ २ ३ १२ ३ १

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुकथि-

२ १ २ ३ १ २

नम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥ १७॥

हे 'इन्द्र'! 'नः' अस्माकम् स्वभूतम् 'धानावन्तम्' निस्तुषाः भृष्टाः यवाः धानाः, ताः सन्ति यत्र तम् 'करम्भिणम्' करम्भोदधिसक्तवः, सोऽस्ति यत्र तम् 'अपूपवन्तम्' गोधूमादिचूर्णपिष्टकान्यपूपाः तद्वन्तम् 'उकथिनम्' उकथानि स्तोत्राणि, तानि सन्ति यस्मिन् तम्, सोमम् 'प्रातः' इह प्रातः सवने 'जुषस्व' सेवनं कुरुस्व' भुंक्ष्वेति यावत् ॥१७॥

হে ইন্দ্র! এই প্রাতঃসবনে ধানা,* করম্ভ,† অপূপ,‡ উক্‌থ§ বিশিষ্ট আমাদিগের এই সোম সেবন কর (১)॥ ১৭॥

पौषम्। ¶

५र र ३ २ ३ ४ ५ र १र

धानावन्तं करम्भिणाम्। अपूपवन्त-

२ २ २ ३ ५

मू१ कथी ३ नाम्। इन्द्रा प्रा२३४ताः।

३ ५ ४ ५ ४

ओ २३४ हाइ। जुषोवा। स्वा ५ नो ई

५

हाइ॥ १७॥

अष्टमी ऋक्।

गोषुक्ती अश्वसूक्ती वा ऋषिः।

३१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः।

३ १र २र ३ १ २

विश्वा यदजयस्पृधः॥ १८॥

हे 'इन्द्र!' त्वम् 'नमुचेः' नमुचिनामकस्यासुरस्य 'शिरः' 'अपांफेनेन' वज्रेण 'उदवर्त्तयः' छिन्नवानसि; कदेत्युच्यते—'यत्' यदा 'विश्वाः' सर्वाः 'स्पृधः' सेनाः 'अजयः' जितवान् तदेत्यर्थः। १८।

হে ইন্দ্র! যখন তুমি সমস্ত বিপক্ষ-সৈন্য জয় করিয়াছিলে, তখন বজ্রদ্বারা নমুচি নামক মহাসুরের শিরশ্ছেদ করিয়াছ॥ ১৮॥

चुरपवि।

५ ४र र ५र ४ ५ ४ १ २ १

अपांफेनेन नंमुचेः। शिरइ। द्रोत्।

७ ३ ५ १ १

अवा२र्त्ती २३४याः। वाइश्वा २३ः। या२

३ ५र र २ १ १ १ १ १ १

दा २ ३ ४ औ होवा। जयस्पृधा२३४५ः

। १८।

नवमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

इमे तइन्द्र सोमाः सुतासो येचसोत्वाः।

१ २

तेषां मत्स्व प्रभूवसो॥ १९॥

हे 'प्रभूवसो' बहु-धन! 'इन्द्र!' 'इमे' 'सोमाः' 'ते' तव त्वदर्थाः, एषु 'ये' 'सुतासः' सुताः अभिषवसंस्कारेण संस्कृताः 'च' अपिच ये 'सोत्वाः' सोतव्याः अभिषव संस्कारार्हाः 'तेषाम्' सर्वेषाम् पानेन 'मत्स्व' हृष्टोभव। इमान् संस्कृता-

* ওষরহিত ভৃষ্ট যব।

† দধি মিশ্রিত সক্তু।

‡ গোধূমাদিচূর্ণপিষ্টক, অর্থাৎ রুটি।

(§) স্তোত্রবিশেষ।

(১) এই মন্ত্রে ধানা, করম্ভ, অপূপ; এই তিনটি ইন্দ্রের প্রাতরাশ নির্দ্দিষ্ট হইয়াছে।

¶ এই মন্ত্রটি গৌড়রাজ্যে পৌষমাসে পিষ্টক পর্ব্বের একপ্রকার সূচক হইয়াছে।

संस्कृतान् सर्व्वानेव पिबेति यावत्। प्रभू-वसोइति 'प्रभुइति बहुनाम' 'वसुइति धननाम' अनयोर्बहुव्रीहि स्तस्य सम्बोधनम्; मन्त्रे दीर्घः। सुतास इति 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) इति जसो ऽसुक्। सोत्वा इति तव्यार्थे त्व प्रत्ययोऽयंछान्दसः। मत्स्वेति तृप्यर्थ-मादयते रूपम्॥ १९॥

হে প্রভূতৈশ্বর্য্য, ইন্দ্র! এই সমস্ত সোম তোমার নিমিত্ত রহিয়াছে, ইহার যে অংশ সংস্কৃত এবং যে অংশ সংস্কৃত নহে কিন্তু সংস্কারযোগ্য, তৎসমস্ত পান করিয়া তৃপ্ত হও॥ ১৯

सौमित्रम्।

५ र २ १र २ १
इमेतआ। इ सोमाः। होवा३होइ।
२ १र र २ १ २ २ ५ २
सुतासोये ३। चासोतू २३४वाः। ते ४
५र २ २ १ २ १ ५
षाम्। हा३हाइ। मात्स्वप्रभू २३४वा।
४ ५
वा५ सोई हाइ॥ १९॥

दशमी ऋक्।

ऋष्यादिकम् पूर्व्ववत्।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
तुभ्यꣳसुतासः सोमा स्तीर्णं बर्हि-
२ ३ १ २
र्विभावसो। स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय॥ २०॥

हे 'विभावसो!' दीप्तधन! 'इन्द्र!' इमे 'सुतासः' सुताः अभिषुताः 'सोमाः' 'तुभ्यम्' त्वदर्थाः इदंच 'तीर्णम्' 'बर्हिः' त्वदर्थम्, तदेतत् सर्व्वं गृहाण, गृहीत्वाच 'स्तोतृभ्यः' स्तोतॄन् अस्मान् 'मृडय' सुखय। स्तोतृभ्य इति द्वितीयार्थे पञ्चमी॥ २०॥

হে প্রদীপ্তধন, ইন্দ্র! এই সমস্ত সংস্কৃত সোম এবং এই বিস্তীর্ণ বর্হিঃ তোমার নিমিত্ত রহিয়াছে, গ্রহণ কর; আমরা তোমার স্তোতা, আমাদিগকে সুখী কর॥ ২০॥

सौमित्रम्।

४ ५ २ १र र र र
तुभ्यꣳहाउ। सुतासः सोमाः। स्तीर्णं
२ १ २
वा २३र्हीः। विभा २ हो१इ। वा २३ सा-
१ २ २ १ ३ २
उ। स्तोता ३ उ वा ३। भ्यआ २ इ। इन्द्रृ
५र र ३ ५
३४ औ होवा। डा २३४या॥ २०॥

इति द्वितीया दशतिः।

तृतीयदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

शुनःशेफ ऋषिः।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शत-
२ १ २ ३ १ २
क्रतुम्। मꣳहिष्ठꣳ सिञ्च इन्दुभिः॥२१॥

'मंहिष्ठम्' पूजनीयतमम् 'शतक्रतुम्' बहुकर्म्मणाम् 'इन्द्रम्' 'वः' त्वाम् 'वाजयन्तः' पूजयन्तः वयम् 'इन्दुभिः' सोमैः 'आ। सिञ्चे' आसिञ्चामः तर्पयामः-इत्याशास्महे। अत्र दृष्टान्तमुच्यते—'क्रिविं यथा' क्रिविरिति कूपनाम तत्सामीप्यात् आवाहकोऽपि क्रिविरुच्यते तमिव; यथा कश्चित् कृषिः कूपादुदकम् आवहति यः बलीवर्द्दः तं, तेनोदकेन सिञ्चति, तथा वयमपि सोमस्य प्रापयितारं त्वां तेनैव सोमेन सिञ्चामः; प्रापकत्वेन बहुप्रीत्याप्रदत्वेन च इन्द्रस्यात्र क्रिविसादृश्यम्। २१।

যেরূপ কোন কৃষি, কূপ হইতে জল-বাহক বলীবর্দ্দকে জলদ্বারা সিঞ্চন করে; সেইরূপ আমরা ভরসা করি—অতিশয় পূজনীয়, বহু-

কর্ম্মা, ইন্দ্র তোমাকে পূজনকরত সোমদ্বারা পরিতৃপ্ত করি * ॥ ২১ ॥

कौत्सम् ।

५र २ १ र
आवइन्द्राम् । क्र विंयथा । वाजया२३
२ १
न्ताः । शताक्रतुम् । मꣳहिष्ठा २३ꣳ
२ १ ८ २ ५
सी । चाया३उवा३इ । दू२३४भोः ॥ २१ ॥

द्वितीया ऋक ।

श्रुतकक्षऋषिः ।

१ २ २ १ र २र २ १ २
अतश्चिदिन्द्र न उपायाहि शतवाज-
२ २ २ १ २
या । इषा सहस्रवाजया ॥ २२ ॥

हे 'इन्द्र!' 'नः' 'उप । आ । याहि' उपागच्छ । इदानीं त्वरां द्योतयति—'शतवाजया' गत्या 'सहस्रवाजया' 'इषा' इच्छया । शतमिति, सहस्रमिति च बहुनाम ; वाज इति वेगनाम ; बहवो-वेगाः यस्याः गतेः सा शतवाजा गतिः, तया ; किञ्च बहुतरावेगाः यस्याः इच्छायाः सा सहस्रवाजा इच्छा, तया । इषा-इति इष इच्छायामित्यस्य क्विबन्तस्य तृतीयायां रूपम् । अधिकेन किम् ईदृक् सत्वरमागच्छ यत् स्वर्गात् आगमनं न प्रतीयेत अपितु 'अतः । चित्' अस्मात् स्थानादिवैव प्रतीयेत । चिदित्युपमार्थेऽत्र ॥ २२ ॥

হে ইন্দ্র! তুমি বহুবেগগতিতে ও বহুতর উদ্বেজিত ইচ্ছায় আমাদিগের নিকটে আগমন কর। ঈদৃক্ শীঘ্র আগমন কর—যে, তুমি স্বর্গ হইতে আসিতেছ এরূপ প্রকাশ না পাইয়া, এখান হইতেই আসিয়াছ ইহা প্রকাশ পায় ॥ ২২ ॥

कौत्सम् ।

५ ५ १ र २
अतश्चिदिन्द्र न उपाई ए । आयाहि-
१र २ २ २ २ २
श । त वाजा २३ या ३४ । इषा ३४सहा
२ १ ५ ४ ५
३ । स्रवो २३४ वा । जा ५ योईहाइ ॥२२॥

तृतीया ऋक् ।

वृशोक ऋषिः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद्
२ ३ १ २ ३ १र २र
वि मातरम् । कउग्राः के ह शृण्विरे ॥२३॥

'वृत्रहा' इन्द्रः 'जातः' आविर्भूतः 'बुन्दम्' प्रणिधानम् 'आ । ददे' गृहीतवान् अवलम्बितवानिति भावः तथाच 'मातरम्' यज्ञस्य रचयितारम् ऋत्विजम् 'वि । पृच्छात्' विविधं पृष्टवान् । किं तदित्याह—'के' 'उग्राः ?' प्रचण्डाः यज्ञविघ्नकरा इति यावत् 'के' 'ह' वा 'शृण्विरे ? शृण्वन्ति शास्त्रशासनमिति यावत् । यथायोग्यं दण्डपुरस्कारदानमेव प्रश्नस्योद्देश्यम् । बुन्दमिति उ बुन्दिर् निशामने इत्यस्य रूपम् । पृच्छादितिलेटोरूपम् । शृण्विरे इति लटो झेरिरे चादेशो बाहुलकात् ॥ २३ ॥

ইন্দ্র আবির্ভূত হইয়া মনোনিবেশ পূর্ব্বক যজ্ঞের মাতা ঋত্বিককে জিজ্ঞাসা করিলেন—কাহারা উগ্র, যজ্ঞবিঘ্নকারী এবং কাহারাই বা শ্রুতিশাসন শ্রবণ করিতেছেন? * ॥ ২৩ ॥

* অর্থাৎ যেরূপ উদকের প্রাপয়িতা কৃষিগণের অতিপ্রীত্যাস্পদ হয়, সেইরূপ তুমি আমাদিগের অতি প্রীতিভাজন এবং যেরূপ উদকবাহককে উদক-দ্বারা সিঞ্চন করা, সেইরূপ সোম-প্রাপক তোমাকে সোমদ্বারা সিঞ্চন করিতে অভিলাষ করিয়াছি।

* যথাযোগ্য বিবেচনা করিয়া দণ্ড পুরস্কার প্রদান করাই এই প্রশ্নের উদ্দেশ্য।

औषसम् ।

५र २१र
आवुन्दं वू । चहाद । दाइ । जातः
२ १ ३ ५ २
पृच्छा ३त् । विमा २ ता २३४राम् । क-
१ २ १ २र १ २
उग्रा २३: के । हा ष्टग्विरो इडा२३ भा
१
३४३ । औ २३४५इ । डा ॥ २३ ॥

चतुर्थी ऋक् ।

मेधातिथि ऋषिः ।

३१२ ३१२ ३१२
हवदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये
१२ ३२३१२
साधः कृण्वन्तमवसे ॥ २४ ॥

'हवदुक्थम्' 'सृप्रकरस्नम्' 'साधः । कृण्वन्तम्' इन्द्रम् 'ऊतये' रक्षणाय 'अवसे' पालनाय च आत्मन इति शेषः 'हवामहे' आह्वयामः । हवदुक्थम्—हवदिति वृहतोहकारस्य वकारेरूपम्, उकथं स्तोत्रम्. वृहत् उकथं स्तोत्रं यस्य सः हवदुक्थ: तम् वृहत् स्तोत्रकमित्यर्थः । सृप्रकरस्नम्—सृप्रौ प्रलम्बौ करस्नू बाहू यस्य सः सृप्रकरस्नः (उकारस्याकारश्छान्दसः) तम् प्रलम्बबाहुमित्यर्थः । साधः कृण्वन्तम् वृत्रवधादिकर्म कुर्वन्तम्, कृण्वन्तमित्यत्र विकरणव्यत्ययः पूर्ववत् ॥ २४ ॥

বৃহৎ স্তোত্র,* সৃপ্রকরস্ন, † বৃত্রবধাদি কর্ম্মকারী, ইন্দ্রকে আমরা রক্ষার্থ ও পালনার্থ আহ্বান করি ॥ ২৪ ॥

भारद्वाजम् ।

५ ५र १
हवदुक्थं हाई वामहाइ । साम्रा २
१ र १ २
कारा २ । स्नमू । तयाइ । सा१धा२ः ।
१ २१ ५ ४
कारवा २३ । तमो २३४वा । वा ५ सो ६
५
हाइ ॥ २४ ॥

पञ्चमी ऋक् ।

शौनक ऋषिः ।

३ २ ३ १२ ३१ २
ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति
३२ ३ २३२ ३१२
विद्वान् । अर्य्यमादेवैः सजोषाः ॥ २५ ॥

'वरुणः' 'मित्रः' 'विद्वान्' वृहस्पतिः 'अर्य्यमा' इमे चत्वारः देवाः 'देवैः' अन्यैरपि 'सजोषाः' सहप्रीयमाणाः 'नः' अस्मान 'ऋजुनीती' (ऋज्वी-नीतिर्नयो यस्य मार्गस्य स ऋजुनीतिर्मार्गः तम् ऋजुनीती 'दयाडियाजिकाराणामिति-' साम्मिक वचनेनेत्वम्) ऋजुनीतिम् अकुटिलनीतिमन्तं मार्गम् 'नयति' नयन्तु प्रापयन्तु । नयतीति लोडर्थे लट्, एकवचनन्तु वरुणादेर्विभिन्नान्वय-विवक्षया—वरुणः नयतु, मित्रः नयतु इत्यादि ॥ २५ ॥

বরুণ, মিত্র, বৃহস্পতি, আর্য্যমা, এই চারি দেবতা অন্যান্য দেবগণের সহিত প্রীতিপূর্ব্বক আমাদিগকে সেই পথ প্রাপ্ত করান, যে পথে কুটিল রীতি নাই ॥ ২৫ ॥

कौत्सम् ।

५ र ४र ५र४ ५ ४ २ १र
ऋजुनीती नोवरुणः । इहा । मित्रो-
२ १ २ १२ १र
नयति विद्वा २३ँसाः । इहा । अर्यमा-
२ १२ १ ऽ २
दा २३इ वाइ । इहा । सजोषा ३उवा
२ ५
३ । ई ३४ हा ॥ २५ ॥

---

* যাঁহার বৃহৎ স্তোত্র আছে, তাঁহাকে বৃহৎ স্তোত্র বলা যায়।

† সৃপ্র শব্দে দীর্ঘ, করস্নশব্দে হস্ত, সুদীর্ঘ হস্ত যাঁহার তাঁহাকে সৃপ্রকরস্ন কহা যায়।

ব্রাহ্মধর্ম্ম—দ্বিতীয় খণ্ড।

কোন কোন মহাশয় "ব্রাহ্ম" নাম শ্রুত মাত্র বিরক্ত হন্ সুতরাং এই গ্রন্থের ক্রমশপ্রকাশন তাঁহাদিগের পক্ষে অত্যন্ত গ্লানিকর হইতে পারে; কিন্তু যদি তাঁহারা কিঞ্চিৎ স্থিরধী হইয়া ইহার কোন একটি প্রস্তাব পাঠ করেন, তবে ভরসা করি—যাহারপরনাই হৃষ্ট হইবেন। যদিচ ব্রাহ্মগণের কোন কোন উপদেশ ও ব্যবহার তাঁহাদিগের মতের বিপরীত, কিন্তু এই গ্রন্থে সন্নিবিষ্ট কোন উপদেশই সেরূপ নহে; এই গ্রন্থে যাবৎ উপদেশ আছে, তত্তাবৎ আর্য্যধর্ম্মে প্রমাণপ্রবর শ্রুতিস্মৃত্যাদি হইতে সঙ্কলিত। ইহা সমস্ত জাতীয় বিদ্যালয়ের প্রশংসনীয় পাঠ্য পুস্তক হইতে পারে, "পঞ্চতন্ত্র" "চাণক্য" "হিতোপদেশ" প্রভৃতি যতগুলি উপদেশ বিধায়ক পাঠ্য পুস্তক আছে ইহা তৎসর্ব্বাপেক্ষা অনেকাংশে উৎকৃষ্ট; ইহাতে যে সমস্ত উপদেশ আছে তাহার কোন একটি কোনধর্ম্মাক্রান্তের মতবিরোধী নহে প্রত্যুত সকলেরই আগ্রহাতিশয়ে আদরণীয়; অথচ ইহা কাহারও অভিনব প্রণীত নহে, আদি ব্রাহ্মসমাজে সঙ্গৃহীত ও ধর্ম্মনামে প্রখ্যাত। এতাবতা ইহা কোনরূপেই কাহার অপ্রিয় হইতে পারে না, বরং বুদ্ধিজীবী মনুজমাত্রেরই অতিশয়, প্রীতিকর হইবে। ইহা ব্রাহ্মগণ সঙ্কলিত এই সূচনায় যদি কেহ অগ্রাহ্য করেন, তবে সত্যভাষণ প্রভৃতি যে সমস্ত উপদেশ তাঁহাদিগের সম্মত কিন্তু ব্রাহ্মাচার্য্য কর্ত্তৃকও উপদিষ্ট হইতে দেখা যায়, তাঁহাদিগকে তাহাও ত্যাজ্য করিতে হয়; পক্ষান্তরে, স্বমতের অবিরোধী অবশ্য গ্রহণীয় ইহা স্বীকার করিলে এই গ্রন্থও তাঁহাদিগের নিকটে কেন না আদরভাজন হইবে? যদি ইহার তাৎপর্য্যাংশে কোন বিবাদ থাকে, তাহাতে তাঁহাদিগের ধীষণার আন্দোলনাই পরিবর্দ্ধিত হইবে, প্রকৃত সদুপদেশের হানি কোনরূপেই সম্ভাবিত নহে। অতএব এই অংশ আমরা অতিশয় প্রীতিসহকারে প্রকাশ করিতেছি, ভরসা করি—ইহা ব্রাহ্মাব্রাহ্ম সাধারণের প্রীতিজনক হইবে।

যখন বেদ ও মীমাংসাদি প্রকাশ করিতে আরম্ভ করা হইল, তখন "হিন্দুহিতৈষিণী"—সম্পাদক-প্রভৃতি আমাদিগকে স্বমতানুযায়ী হিন্দু স্থির করিলেন; কিছুদিনে বৈদিকসমালোচনা প্রকাশ হইতে আরম্ভ হইলে "হিন্দুরঞ্জিকা"—সম্পাদক প্রভৃতি বৌদ্ধ বলিয়া নির্দ্দেশ করিলেন; এক্ষণে কেহ ব্রাহ্ম বলিতেও পারেন;—আমরা এই দোষক্ষালনার্থ উপরি উক্তভাবে লেখনী চালিত করিলাম ইহা কেহ স্থির না করেন। "প্রত্নকম্রনন্দিনী" ব্রাহ্মমতবিরোধী আর্য্যদিগের হর্ষ সম্পাদনে উদ্যত নহে, অথচ তাঁহাদিগের বিমর্ষ সম্পাদিতেও প্রবৃত্ত নহে। আমরা ভূয়োভূয় বলিতেছি—এই পত্রী কোন ধর্ম্মের সহিৎ সংশ্রব রাখে না; যে সকল পত্রিকার উদ্দেশ্য ধর্ম্মপ্রতিপাদন তত্তৎসম্পাদকেরাই এক এক নির্দ্দিষ্ট ধর্ম্মাক্রান্ত হইয়া প্রখ্যাত হইতে অভিলাষ করেন; যাঁহারা শুদ্ধন্যায়ানুগত লিখিতে প্রবৃত্ত আছেন, তাঁহারা কোন নির্দ্দিষ্ট ধর্ম্মাক্রান্তরূপে প্রথিত হইতে পারেন না; যাঁহারা তাঁহাদিগকে নির্দ্দিষ্ট করিতে বাঞ্ছা করেন, তাঁহারা ভ্রমে পতিত হন মাত্র।

ब्राह्मधर्म्मः—द्वितीयखण्डम्।

प्रथमोऽध्यायः।

१

(मू०) ओमाचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति॥ १॥

(टी०) 'आचार्य्यः' 'अन्तेवासिनं' शिष्यं 'अनुशास्ति' कर्त्तव्यं धर्म्मं ग्राहयति॥ १॥

(ता०) ज्ञाननेत्रेणेश्वरं प्रदृश्य तत्र प्रीतिमावहन् तत्प्रियकार्य्यमाशाभ्रयात्। धर्मस्तस्य प्रियः, अधर्मस्तस्याप्रियः; अतो धर्म एव मानवानां कर्त्तव्यः उपादेयः, अधर्मस्त्वकर्त्तव्यः परित्याज्यः। अननुष्ठिते हि धर्मे ब्रह्मज्ञानं निष्फलं भवेत् एवमधर्मस्यानुशीलनेनात्मा मलिनः सन्नधोगतिमवाप्येत। स धर्माधर्मविवेकाय मनुष्येभ्यो यां शक्तिं दत्तवान् सैव धर्मज्ञानमित्युच्यते; मनुष्यस्तेन चोभयं पृथक् कृत्य अधर्माचरणं परिहरन् निष्पापस्त्विष्ठन्नपि च धर्मकार्य्यस्यानुष्ठानेन पवित्रोभवन् पवित्र स्वरूपस्य परमेशस्य सन्निधिमुपगच्छेत्। आचार्य्यःशिष्यस्य तदेव धर्मज्ञानं प्रस्फुटितं परिमार्जितञ्च प्रकर्त्तुं किं कर्म विहितं किंवा निषिद्धमिति प्रदर्शयति॥ १॥

२

(मू०) ब्रह्मनिष्ठोगृहस्थः स्यात् तत्त्वज्ञानपरायणः। यद् यत् कर्म्म प्रकुर्व्वीत तद्ब्रह्मणि समर्पयेत्॥ २॥

(टी०) 'गृहस्थः' ब्रह्मण्येव निष्ठा निष्पत्तिः यस्य सः 'ब्रह्मनिष्ठः' 'स्यात्' भवेत्। किञ्च 'तत्त्वज्ञानपरायणः' तत्त्वज्ञानपरं प्रकृष्टं अयनं आश्रयो यस्येति। यत् 'यत्' लोकहितं धर्म्मंञ्च 'कर्म्म' 'प्रकुर्व्वीत' अनुतिष्ठेत् तस्य तस्य फलाभिसन्धिं परिहाय 'तत्' कर्म्म 'ब्रह्मणि' सर्व्वमङ्गलास्पदे पूर्णे परमेश्वरे 'समर्पयेत्'॥ २॥

(ता०) माता, पिता, भ्राता, भगिनी, स्त्री, पुत्रः—इत्यादिपरिवारवर्गाणां सम्बन्धं परित्यज्य सन्न्यासी माभूत्। सम्बन्ध एषोमङ्गलस्वरूपादीश्वरादेव सङ्घटितः, अस्योच्छेदोऽकर्त्तव्यः। गृहस्थः सन् सम्बन्धममुमभिरक्षेत्।

परं य एतच्छुभावहसम्बन्धस्य योजयिता, तं विस्मृत्य मोहपाशेनावद्धो न स्यात्। तत्रैव योजितचित्तः सन् संसारधर्ममनुतिष्ठेत्। सम्पदि तस्यैवानुगतोभवेत्; विपदि तस्यैव शरणमापद्येत। शरीरः पृथिव्यां सञ्चरिष्यति, परम आत्मा परमात्मनि अवस्थास्यति। कार्य्यकाले तत्र तिष्ठन्नेव कार्य्यं कुर्य्यात्; विश्रामकाले तत्र तिष्ठन्नेव विश्राम्येत्। अन्तरिन्द्रियाण्यात्मनोऽधीनानि भव्यानि वहिरिन्द्रियाणिचात्मनोऽधीनानि भव्यानि; आत्मा परमात्मनोऽधीनः सन् तानि यथाकर्मसु नियोजयेत्। यत्तस्यादेश इति जानीयात् तत् प्राणान्तं प्रतिपालयेत्; यत्तदिच्छा-विरुद्ध-इति जानीयात् तत् विषवत् परित्यजेत्। एवं ब्रह्मनिष्ठः सन् संसार-निविष्टोभवेत्।

स्वरूपेण वस्तूनामवगमनं तत्त्वज्ञानम्। रज्जुवस्तुषु अयं सर्प इति भ्रमो यथा नोत्पद्येत; सत्या-

सत्ये, मङ्गलामङ्गले, धर्माधर्मौ च पार्थक्येन ज्ञातुं यथा क्षमेत, अतो तत्वज्ञानमालोचयेत् अपिच तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुतिष्ठेत्।

फलं प्रति निरपेक्षः सन् प्रेमास्पदस्येश्वरस्यैव प्रीतिकामनया तस्य प्रियकार्य्यस्यानुष्ठानं कुर्य्यात्। सुखं वा, दुःखं वा ; सम्पद् वा, विपद् वा ; सम्मानं वा, अपमानं वा ; भवतु तस्यादेश-प्रतिपालनमेवैकं साधकस्य लक्ष्यं स्यात्। अहं तत्कर्मकर्त्तुमादिष्टः, एषएव मे परमोलाभः; यदि तदाज्ञाप्रतिपालने कृतकार्यो भवेत्, तदेव मत्परमोलाभः; अहं तदाज्ञाकारी तदाज्ञापालनमेव मद्धर्मः ; सुखं भवेत् भवतु, दुःखं भवेत् भवतु नाम ; तद् अङ्गीकृत्वा तत्रैव निविष्टः स्याम् ; इत्थं फलाभिसन्धिं परित्यज्यत् किमपि कुर्वीत तत् परब्रह्मणि समर्पयेत्॥ २॥

३

(मू०) मातरं पितरञ्चैव साक्षात् प्रत्यक्षदेवतां। मत्वा गृही निषेवेत सदा सर्व्वप्रयत्नतः॥ ३॥

(टी०) 'मातरं पितरं च एव साक्षात् प्रत्यक्षदेवतां'। 'मत्वा' विचिन्त्य 'गृही' ,निषेवेत' शुश्रूषेत 'सदा' 'सर्व्वप्रयत्नतः' सर्व्वप्रयत्नेन॥ ३॥

(ता०) ब्रह्मोपासकः पितरं मातरं स्नेह-प्रतिपालनयोरीश्वर-प्रतिनिधिं मन्येत, किञ्च तदेवान्तरिकसम्मानं तयोः सेवायां प्रदर्शयेत्। न कदापि तयोर्यत्ने शैथिल्यं कुर्यात्। पितुर्मातुश्च सेवायां पुण्यं लभते, अकृतायाञ्च तस्यां प्रत्यवायो जायते। विश्वपिता अखिलमाता परमेश्वरः पितृमातृद्वारया स्वस्य पितृभावं मातृभावं च प्रदर्शयति। तदेतस्य पितृमातृसेवनमतिमहदतिपवित्रं कर्म। शरीरदानेन तयोः सेवां कुर्यात्, मनसा तौ सेवयेत्, वाक्येन तौ सेवयेत्, किञ्च स्वोपार्जितैरर्थैस्तयोः सेवनं कुर्यात्॥ ३॥

४

(मू०) श्रावयेन्मृदुलां वाणीं सर्व्वदा प्रियमाचरेत्। पित्रोराज्ञानुसारी स्यात् सत्पुत्रः कुलपावनः॥ ४॥

(टी०) 'श्रावयेत्' 'मृदुलां' कोमलां 'वाणीं' वाचं 'सर्व्वदा' प्रियं' हितं 'आचरेत्' कुर्य्यात्। 'पित्रोः' मातापित्रोः 'आज्ञानुसारी' आज्ञानुवर्त्ती च 'स्यात्' भवेत् 'सत्पुत्रः' कुलपावनः' कुलपावित्र्यजननः॥ ४॥

(ता०) पितरं मातरञ्च प्रति न कदापि कर्कशं व्यवहरेत्। कोमलवचनैस्तौ सम्भाषयेत्;—विनीतवेशेन तयोः सम्मुखमुपतिष्ठेत, भक्ति-पूर्णनयनाभ्यां तौ विलोकयेत्, अपिच सानन्दं तयोरादेशवाक्यं प्रतीक्षेत। अहरहस्तयोः शुभानुध्यानं हितानुष्ठानञ्च कुर्यात्। तौ यत् किञ्चन कार्यं कर्त्तुमादिशतः, क्लेशमपि स्वीकृत्य तत् सम्पादयेत्। यदि तयोः काप्याज्ञा न्यायविरुद्धेतिबुध्येत, तर्हि तदस्वीकरणकाले समधिकनम्रतां विनयं सम्मानं च प्रदर्शयेत्। स्वसुख-भोग-कामनां खर्वीकुर्वन्नपि तौ सुखिनौ सन्तुष्टौ च कर्त्तुं यतेत। एतदेव सत्पुत्रलक्षणम्। एतादृगेवपुत्रः परमपितुरीश्वरस्य सत्पुत्रोभवति। अनेनैव कुलस्य पावित्र्यमुपजायते॥ ४॥

५

(मू०) गुरूणाञ्चैव सर्व्वेषां माता परमकोगुरुः। माता गुरुतरा भूमेः स्यात् पितोच्चतरस्तथा॥ ५॥

(टी०) ये ये गुरुत्वेन निर्द्दिष्टाः तेषां 'सर्व्वेषां' 'च' 'गुरूणां' मध्ये 'माता' 'एव' 'परमकः' परमः श्रेष्ठः 'गुरुः'। 'माता गुरुतरा भूमेः' 'तथा' 'स्यात्' अन्तरिक्षात् 'उच्चतरः' 'पिता'॥ ५॥

(ता०) सकलमनुष्येषु पितरं मातरं च श्रेष्ठमध्यवस्येत। तयोरपेक्षया विद्वन्तः क्षमतावन्तश्चानेके स्युः, परमीदृग्गुरुतरोमाननीयश्च सम्बन्धो न

केनापि सह। पुत्रो यदि विद्यया धनेन क्षमतया वा ताभ्यां श्रेष्ठः स्यात्, तथापि जन्यजनकभावो गुरुतरः सम्बन्धः, ततस्तौ चिरेण गुरुतरौ पूज्यतरौ। विद्यामदेन धनमदेन वा पितरं मातरं च न कदाप्यवहेलयेत्॥ ५॥

६

(मू०) यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि॥ ६॥

(टी०) 'नृणां' अपत्यानां 'सम्भवे' सति 'यं' 'क्लेशं' 'मातापितरौ' 'सहेते'। 'तस्य' क्लेशस्य 'निष्कृतिः' आनृण्यं 'कर्त्तुं वर्षशतैः अपि' 'न' 'शक्या' न शक्यते॥ ६॥

(ता०) पितरौ सन्तानार्थं शारीरिकं क्लेशम् मानसिकमुद्वेगं च भुंजाते, पुत्र उपयुक्तोभवन् कायमनोवाक्यैरामृत्यु तयोः सेवनं करोतु नाम तथापि न तत्परिशोधने समर्थः। अतः सर्वप्रयत्नेन तयोः सेवनमपि कृत्वा न कदाप्येवमभिमन्येत यदहं तयोर्यथेष्टमुपकारं करोमि, प्रत्युत तयोरमायिकं स्नेहमचलां च सहिष्णुतां संस्मृत्य सर्वदा कृतज्ञस्तिष्ठेत्। आमरणं तयोः प्रियकार्य्यं प्रतिपालनं च कुर्यात् किञ्च परलोकगतयोस्तयोः प्रियकामनाः समस्ताः परिपूरयितुं यत्नशीलः स्यात्॥ ६॥

७

(मू०) भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्य्या पुत्रः स्वका तनुः। छाया स्वदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परं। तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा॥ ७॥

(टी०) 'ज्येष्ठः' 'भ्राता' 'पित्रा' 'समः' पितृतुल्यः। 'भार्य्या पुत्रः' च 'स्वका तनुः' स्वशरीरमेव। 'स्वदासवर्गः च' नित्यानुगतत्वात् आत्मनः 'छाया' इव। 'दुहिता' 'परं' कृपणं' कृपापात्रम्। 'तस्मात्' कारणात् उक्तैः 'एतैः' 'सदा' 'अधिक्षिप्तः' आक्रोशितोऽपि 'असंज्वरः' असन्तापः सन् 'सहेत'॥ ७॥

(ता०) परमप्रेमास्पदपरमेश्वरस्य प्रीतिकामनया परिवारगणं परिपालयेत्, समस्तपरिवारं तस्यैव परिवार इति बुध्येत। अतो भ्राता, भगिन्या, भार्य्यया, पुत्रेण, कन्यया, दासेन, दास्या वा समुपस्थिते कस्मिन्नपि क्रोधस्य विरागस्य वा कारणे, सम्बन्धगुणमवलम्ब्य येन सह यथा सम्बन्ध स्तथा साधुव्यवहरेत्। ज्येष्ठ-भ्रातरं-पितृतुल्यं पश्येत्, कनिष्ठभ्रातरं प्रति पुत्रमिव स्नेहं विदध्यात्, भार्य्यां सन्तानादिकञ्च स्वस्याङ्गमिव जानीयात्, एवं दासदास्यादिकं प्रति सर्वथा दयां प्रकाशयेत्। कस्यापि दोषे नहि क्रोधान्धः सन् निष्ठुरतां प्रदर्शयेत्, प्रत्युत क्षमाशीलोभवन् सर्वं संशोधयेत्। ईश्वरो येनाटलस्नेहेन समस्तमेतत् प्रतिपालयति, तमनुकृत्य परिवाराणां भरणपोषणादिकं, शारीरिकम् मानसिकमाध्यात्मिकं कल्याणं च साध्नुयात्॥ ७॥

८

(मू०) अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्व्वीत केनचित्॥ ८॥

(टी०) 'अतिवादान्' अतिक्रमवादान् परोक्तान् 'तितिक्षेत' सहेत। 'कञ्चन' कञ्चिदपि 'न' 'अवमन्येत'। 'न च इमं' 'देहं' क्षणभङ्गुरं 'आश्रित्य' अवलम्ब्य तदर्थं 'केनचित्' सह 'वैरं' विरोधं 'कुर्व्वीत' 'कुर्य्यात्'॥ ८॥

(ता०) सहिष्णुतया अन्यकृतात्युक्तिं पराजयेत्, अत्युक्तिपरिवर्त्तनेनात्युक्तिं न प्रयुञ्जीत; यतोधर्मसाधनमेव जीवनस्योद्देश्यो न वैरनिर्यातनम्। न कमप्यवमानयेत्, ईश्वरो न कमपि मनुष्यमपमानितं स्यातुं सृष्टवान्, सर्वएवैते तस्य स्नेहास्पदाः; अतः सर्वान् समाद्रियेत। क्षणभङ्गुरमेतन्मानवदेहं धृत्वा गर्वितः सन् न केनापि शत्रुतामाचरेत्, प्रत्युत यानि यावद्दिनं पृथिव्याम् तिष्ठेत्, तावत् सर्वेषां हितसाधने नियुक्तः स्यात्। ईश्वरः सर्वेषां पिता, मनुष्या मिथो भ्रातरः, परस्परशत्रुतया नैतत्पवित्रसम्बन्धमुल्लङ्घयेत्॥ ८॥

इति।

प्रत्नकम्रनन्दिनी

मासिकपत्रिका।

ब्रह्माण्डकारङ्करणाद्यखिलप्रकारणयसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाच्छिवेद्यमननेन मान्यं वन्देऽहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।

राजतादसौ सुचित्तचित्प्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३ भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [December, 1869.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२८ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায়; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ স্থকিয়া ষ্ট্রীট।

काशीराजसभायाम्

प्रतिमा-पूजन-विचारः।

यथाक्रममिममवगन्तुमनेके कुतूहलाः—इति वचसा पत्रादिना च विज्ञायेह यत्नतोऽवतार्य्यते।

कश्चिद् दयानन्दोनाम (१) साधुः सद्धर्माविर्भावेनासद्धर्म परिलोपनेऽहंकृतसङ्कल्प इति घोषयन्नकस्मादावेदयत् काशीनरेशं श्रीमदीश्वरीप्रसादनारायणसिंहशर्माणमशास्त्रीयत्वात् प्रतिमापूजनमवैधमिति विचारेण स्थिरीकर्त्तुं मह्यमत्रागत इति, विदित्वा च महीपालः तदीयात्मभावं ससमादरं कृत्वा विचाराय सम्मतिमपालयद्धर्मपाल-कार्यं ततो भोग्यमात्यवरवर्य्योऽपि च त्यक्तभोगः सर्वशास्त्रसार-सारोऽसारीकृत-संसारः सीतारामीयः श्रीहरिहरप्रसादशर्म्मा विचारस्य दिनस्थिराय मध्यस्थ-निर्णयाय च प्रयतमानो वादिनमजिज्ञपत्, ज्ञापितश्च सः—'अहमुदासीनः सर्वदैवावसरो मम, किन्त्वत्र न मया कोऽपि मध्यस्थः स्वीक्रियते सर्वेषामेव मिथ्याचारित्वदर्शनादित्यवोचद्वचः।

श्रुत्वैतत् राजकीयकोविदा लिखित-विचारेऽभवन् कृतप्रयत्नाः, परं तत्रापि वाद्यसम्मते र्न ते पूर्णमनोरथाः ततो महाराज-सदसि योऽद्य वरः पण्डितः श्रीताराचरणो नाम तार्किकः स एकदा बलाबल-परीक्षणाय प्रच्छन्नवेशो वादिनमुपगत्यासौ नाधीत-विद्योऽपितु साहसिकः सहसा विचारोपहसने प्रवृत्त इति बुद्ध्वाऽबोधयत्तदेवान्यान् सभासदः काशीस्थान्यान्यांश्च संख्यावतः। इत्थमभवत् सर्वैरुपेक्षणीयः स साधुः समन्तात्।

अथ पूर्वकीर्त्तिताह्वेन सीतारामीयेन विचारितः—वाद्यसौ पण्डितो वा धूर्त्तो वा भवतु, परमेतर्हि काशीराज-सभामुपगतो विचाराय कश्चिदिति भूतः प्रवादो दुर्निवार्य्यः, अतो लोक-प्रबोध

(१) गुज्जरनिवासी, व्याकरणाद्यङ्गेषु सामवेदे च कृतश्रमः किन्त्वनधीतदर्शनस्ततो दर्शनविहीनः, मथुरायां निवसतिस्म कश्चिदन्धोऽनेक पण्डितमतविरुद्धः प्रतिमापूजनादीनामवैधत्ववादी तस्य शिष्यः चत्वारिंशद्वयस्कः, सुदीर्घकायः पुष्टो बलवांश्च लक्ष्यते॥

॥०॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रत सामश्रमी। कलिकातायां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम्॥०॥

नायतु विचारायोजनमवश्यं कार्य्यमिति ; तथाच बहुभिः पण्डितैः विचार-समयं निर्द्धार्य्य ज्ञापितः स वादी। अनन्तरमुपस्थिते (२) तत्समये राजाज्ञयाहूतैरत्रत्यैर्विविधशास्त्रविशारदैरन्यूनशतकोविदैः समालङ्कृते आनन्द वागाख्योपवने सदानन्दः श्रीमानानन्दकाननेशो महाराजः श्रीमता यौवराज्याभिषिक्तेन प्रभुनारायणसिंहशर्म्मणा राजकुमारेण अन्यैस्तात्रत्यैः कतिपयैः सुप्रसिद्धधनिभिः स्वामात्यवर्गैश्च सानन्दं समागत्योक्तनाम तर्करत्नमादिशत्—क्रियतान्तावत् शास्त्रार्थः-इति। अहमपि वादि-प्रतिवादि-वचः सारानुवदने नियुक्तोऽग्रसरः पक्षपातशून्यो विचारदत्तकर्णः संयतोऽभवम्।

अथ प्रवृत्तः शास्त्रार्थः

(दिवा सप्तमयामे)

ताराचरणः। वक्तुमुद्यतः।

दयानन्दः। (एक एव वदेत् नान्यः-इति ब्रुवन्) प्रतिमा-पूजनं वेदे क्व लिखितमितिकथ्यताम् ?

ता०। एतन्मात्रं प्रमाणं नान्यत्, अत्र किं प्रमाणम् ?

द०। वेदेयन्नदृश्यते तदप्रमाणमेव।

ता०। कथम् ?

द०। वेदविरुद्धानां नास्ति प्रामाण्यम्।

ता०। अत्र किम् प्रमाणम् ?

द०। श्रुतिर्व्विस्मृतिश्च प्रमाणम्।

ता०। तदेवोद्भावय।

द०। प्रामाण्यविचारो भविष्यति पश्चात्, पूर्वं वेद-विचारः कर्त्तव्यः।

ता०। वेद-विचारः कीदृशः कर्त्तव्यः ? वेदस्य नित्यानित्यत्व विचारः प्रामाण्याप्रामाण्य-विचारो वा ?

द०। पाषाणादि-प्रतिमा-पूजनं वेदोक्तं न वा ? इति।

ता०। अस्माकं यथा वेदस्य प्रामाण्यं तथा सर्वेषाम्।

द०। वेदातिरिक्तानां न प्रामाण्यम्।

ता०। वेदे कुत्र लिखितम् अन्येषां नास्ति प्रामाण्यम् ?

द०। वेद-विरुद्धस्य प्रामाण्यं नास्ति।

ता०। वेद-विरुद्धः कः ?

द०। योनास्ति वेदे।

ता०। इदं किं वेद-लिखितम् अथवा भवत्कथितम् ?

द०। त्वत्प्रश्नोत्तरं पश्चाद्दास्यामः ; प्रतिमा-पूजनं वेदे लिखितं नवेत्येका वक्तव्या ?

बालशास्त्री(३)। (स्व-स्वरूपं प्रकाशयितुमिच्छन्) वेदानुक्तत्वेन अप्रामाण्यमुक्तं तत्र कोहेतुः ? स एव आदौ विचार्य्यः।

द०। वेदे प्रतिमा-पूजनं न भवेत्, अन्यत्र विचारः ; अतो वेदे अस्ति नास्ति वा इति विचारः पुरस्तात् कर्त्तव्यः ; सूत्र-स्मृति-प्रभृतीनां सर्वेषामेव मूलं वेदः।

ता०। सर्वेषां वेदमूलत्वे प्रमाणोद्भावनं कर्त्तव्यम् ?

द०। मनुकात्यायनमहाभारतादिकमेव प्रमाणम्।

ता०। तत्र तत्रैवान्येषामप्यस्ति प्रामाण्यम्।

द०। किं वृथावाग्वितण्डया ; यथा मन्वादीनां मीमांसा-वेदान्तादि सूत्राणाञ्च सर्वेषामस्ति मूलं वेदः, तथा प्रतिमापूजनस्यापि मूलं वेदो-दर्शनीयः।

विशुद्धानन्दस्वामी (४)। अहो ! किं वारं वारम् एवं ब्रूषे वेदान्तादि सूत्राणां सर्वेषामस्ति मूलं वेदः "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्*"—इत्यस्य मूलीभूतः कोवेदः ? इति वक्तव्यः।

द०। कोऽपि वदिष्यति अस्य अक्षरस्य प्रमाणं देयं तत्र किम्।

वा०। सर्वेषामेव देयम् ; अत्रैव प्रतिज्ञानात्।

द०। सर्वे वेदा नहि मे कण्ठस्थाः। (सभ्याः हसन्ति)

---

(२) तत्परदिनापराह्णे—शौरापञ्चाशपञ्च द्वितीयदिवसीये, चान्द्रकार्त्तिक-त्रयोदशीयुतमङ्गलवासरीये।

(३) बालशास्त्री। अयं महाराष्ट्रब्राह्मणः, सुप्रसिद्ध-वैयाकरणः, राजकीयसंस्कृतपाठशालायां सांख्यादीनामध्यापकः, अभिनवकृतविद्येषु प्रशंसनीयः, अतीवधीरः, विनीतवचनः, विचारेषु प्रविष्टवादी, सुसभ्यश्चेति॥

(४) विशुद्धानन्दसरस्वती स्वामी। अयं गौड़स्वामिपदमाधानस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य श्रीविश्वरूपानन्द सरस्वती स्वामिनः सतीर्थो, बहुतीर्थदर्शी, विविधदर्शनवित्, अध्यापकेषु प्रशस्यः, पुरुष-व्याघ्रो विचारदक्षः, प्रसिद्धः।

* वेदान्तसूत्रम्—२ अ० २ पा० प्रथमम्।

वि०। (सन्तुष्टः गर्जयन्) तत् किमेव मभिलपसे।

द०। (क्रुद्धः वि०सम्मुखं प्रत्युपविश्य) तवास्ति किं सर्वमुपस्थितम्? धर्मस्य किंल्लक्षणं? वद।

वि०। "चोदनालक्षणोऽर्थो" धर्मः (इत्यादि सविस्तरं)

द०। (विरक्तो वारयन्निव) लक्षणम् एकम् बहु वा?

वि०। लक्षणम् एकम्, प्रमाणानि बहूनि।

द०। (हसति) हो-हो लक्षणम् एकम्!! दशलक्षणानि—(पठति) 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः। धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्'।

ता०। (श्रुवन्नेव व्यग्रः) एते तु अनुमापकहेतवः न लक्षणानि।

द०। (ता०प्रत्युपविश्य) किमनर्थं गर्जसे; अधर्मस्य लक्षणं वद?

ता०। दुरदृष्टजनकत्वम्।

द०। (अग्राह्यभावेन) किं त्वया कोलाहलेन, (वि०प्रत्युपविश्य) त्वं वद स्वामिन् धर्मे का श्रुतिः?

वि०। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्येवमादिः।

द०। (उपसंहरन्निव) किम्प्रयोजनमप्रकृतविचारेण; वेदे क्वापि प्रतिमाशब्दो नास्ति, यत्र चैकत्र सामवेदेऽस्ति 'स परं दिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदाऽस्य युक्तानि यानानि प्रवर्त्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति'-इत्येव मादिः † तस्यापि ब्रह्मलोकपरता।

ता०। तत्रको हेतुः?

द०। (पूर्ववत् ता०सम्मुखम् उपविश्य) पश्यतु तावत् प्रकरणम्—(स्थिरः सन् बोधयति) 'स प्राचीं दिशमन्वावर्त्तते—इत्यादिना 'स दक्षिणां दिशमन्वावर्त्तते'-इत्यादिना 'स उदीचीं दिशमन्वावर्त्तते'—इत्यादिना 'स प्रतीचीं दिशमन्वावर्त्तते'—इत्यादिना 'स पृथिवीमन्वावर्त्तते'—इत्यादिना च पञ्चभिः खण्डैः पृथिव्यां जान्यद्भुतानि भवितुं युज्यन्ते तेषां शान्तिः तत्रत्यैरेवैवं कर्त्तव्येति विधाय 'सोऽन्तरिक्षमन्वावर्त्तते-इत्यादिना अन्तरिक्षलोके यान्यद्भुतानि भवेयुः तेषां शान्तिः तत्रत्यैरेवैवं कर्त्तव्येति विधाय 'स दिवमन्वावर्त्तते'-इत्यादिना द्युलोकेयान्यद्भुतानि स्युः तेषां शान्तिः तत्रत्यैरेवैवं कर्त्तव्येति विधाय 'स परं दिवमन्वावर्त्तते'-इत्यादिना तु ब्रह्मलोके यान्यद्भुतानि भव्यानि तेषां शान्तिः तत्रत्यैरेवैवं कर्त्तव्येति विधत्ते, तथाच यथा मनुष्यलोके सन्ति मनुष्यायतनानि अस्ति च तत्कम्पनसम्भवः, तथा ब्रह्मलोके सन्त्येव देवतायतनानि अस्ति च तत्र तत्कम्पनसम्भवः—एवमेव प्रकरणमनुगम्यते।

वा०। भवदुक्तप्रकरणेन तु नहीदमागतम्—यत् ब्रह्मलोक परतैव तस्याः श्रुतेः, अपितु अन्वावर्त्तनं श्रूयते तस्य कोऽर्थः? (स्वयंव्याचष्टे) अनु आवर्त्तनम् अनुलक्ष्मीकृत्य आवर्त्तनम्, यदा ब्रह्मलोकादिषु अद्भुतानि लक्ष्यन्ते तदा तानि लक्ष्यीकृत्य एवं शान्तिः, एवञ्च ब्रह्मलोकीयापि शान्तिः मर्त्यैरेवानुष्ठेया (५)।

द०। कथमसर्वज्ञा वयं जानीम तत्र भूतमद्भुतम्?

वा०। ग्रहादीनां गत्यादिकं यथा ज्ञायसे तथैव।

द०। किमनेन कष्टकल्पनेन तत्रत्यैरेवैवं कर्त्तव्यमित्येव सुलभम्।

वा०। तत्र अनुष्ठातारः के भविष्यन्ति?

द०। स्वर्गादौ इन्द्रादयो देवाः सन्ति न वा?

वि०। मन्त्रमयी देवता। (महाराज-भ्रु-कुञ्चनम्)

द०। कथमुपासना?

वि०। प्रतीकोपासना, शालग्रामादौ।

द०। क्व वेदे लिखितमिदम्?

वि०। एकस्य हि सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः, भवता सर्वाएव दृष्टाः?

द०। शृणु शृणु—सहस्रवर्त्मा सामवेदः सहस्रमार्गकः-इति तस्यार्थः संहिता तु सर्वत्र शाखासु एका एव।

वि०। मार्ग इति चेत् कठेन प्रोक्ता कठीति कथम्?

द०। तस्य तन्मार्गे प्रवर्त्तकत्वात्।

(महाराज)। (६) (अमात्यमण्डलीमुखः) ययूसा भी कभी होताहै!!!)

---

† सामवेदीय षड्विंशब्राह्मणस्य पञ्चम प्रपाठकगतदशमखण्डः।

(५) विचारदक्षोऽसौ शास्त्री यथाश्रुतव्याख्यानतत्परो भवन्नसदृशं व्याख्यानं कृतवान्॥

(६) महाराजः, संस्कृतज्ञः, संस्कृतभाषणेऽपि च समर्थः, विचारमर्मबोधे बोधनेऽपि दक्षः, अत्र यदकथयत् न तत् विचाराङ्गत्वेन, अपितु परस्परकथोपकथन च्छलेनेति॥

वि॰। वेदाः अपौरुषेयाः तत्र पुनः के प्रवर्त्तयितारः ?

द॰। वेदाः परमेश्वरे एव तिष्ठन्ति, परमेश्वर एव प्रवर्त्तकः तत ऋष्यादयस्च।

वि॰। किं लक्षणके ईश्वरे तिष्ठन्ति वेदाः ?
न्याय-नय-सिद्धे - नित्यज्ञानादिविशिष्टे ईश्वरे ?
पातञ्जल-नय-सिद्धे--क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेषे ?
वेदान्तानुयायिनि—सच्चिदानन्दरूपे वा ?

द॰। एवं भवन्मते ईश्वराबहवः सन्ति ! !

वि॰। सन्त्येव मतभेदे।

द॰। लक्षणे भेदः ईश्वरे वा ? ईश्वरज्ञानमति–कठिनम् ! ! !

वि॰। सुलभमिति केनोक्तम् ? कस्मिन् स्वरूपे तिष्ठन्ति वेदाः-इति प्रकृतं वद ?

द॰। सच्चिदानन्दरूपे।

वि॰। तत्र न किमपि, तत्र न किमपि ! अस्तु वा केन सम्बन्धेनेति वद ?

द॰। कार्य्यकारणसम्बन्धेन।

वि॰। (उच्चैः) स सम्बन्धो न वृत्तिनियामकः, अन्यथा धर्मे तिष्ठतु सुखम्।

द॰। तत्र न किमपि तिष्ठति, कार्य्यकारणसम्बन्धस्य न वृत्तिनियामकः-इतिचेत् आकाशः केन सम्बन्धेन क्वतिष्ठति-इति वद ?

वि॰। स एव ईश्वरः।

द॰। (उपहसन्) हेः ! स-ए-व-ई-श्वरः।

ता॰। अस्य मुखव्यङ्गस्य कोऽर्थः ?

द॰। (क्रुद्धः) कोऽर्थः कोऽर्थः, अर्थ संज्ञाकस्य ?

ता॰। विषयमात्रस्य।

द॰। अलमनर्थ विचारणेन यत्प्रकरणं तद्वद ?

वि॰। (दृष्टेदत्तवामहस्तः) अरे ! बाबा ! ! तूं अभिकुछ् पढानहि कुछ्दिन पढ्।

द॰। (हस्तं बलाद्दूरीकृत्य) भवता सर्वम् पठितम् ?

वि॰। (प्रहस्य) सर्वम्।

द॰। (पुनःप्रत्युपविश्य) व्याकरणमपि ?

वि॰। तदपि।

द॰। (रक्तेक्षणः) कलमसंज्ञा कस्य ? (गर्जयन्) वद वद ?

वा॰। (७) कलमसंज्ञा महाभाष्ये एकत्र परिहासेन कथिता, न सा प्रकृतसंज्ञा। अपिच प्रकृतविचारणे प्रवृत्तस्त्वं कथमप्रकृतं विचारयसि ? पुराणादीनां वेदविरुद्धताकथम् ? तदुद्भावय।

द॰। (यथावदुपविश्य) शृणु शृणु—म्लेच्छभाषाध्ययनादेः पुराणादौ निषेधोऽस्ति, वेदे क्व ?

वा॰। (सभ्यान् पश्यन् पठति) न म्लेच्छितवै नापभाषितवै'—इत्यादि।

द॰। (मदभिमुखोवद, अन्यथा नाहं श्रोष्यामि-इतिवदन्) नासौ वेदः।

वि॰। 'पद्युह वा श्मशानं यच्छूद्रः तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'—इत्यादि।

द॰। किमिदम् ? संहिता ब्राह्मणादिकं दर्शय ? (महाराजाभिमुखः) गतरजन्यामागतेन राजपुरुषेण महाराजो पुस्तकाय विज्ञापितः—विचार समये वेदानां पुस्तकानि स्थाप्यानि—इति।

(म॰। (नीचैः) पण्डितोंका कण्ठस्थही है।)

दे॰ (८)। जनचतुष्टयव्यवहितोदण्डायमानः अत्युच्चैः) किमभिलप्यसे—'वेदानां पुस्तकानि अत्र स्थाप्यानि, वेदानां पुस्तकानि अत्र स्थाप्यानि'—इति ? कति वेदाः ?

द॰। (हसन्) मनुनैवोक्तम्·'अग्नि वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोहयज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्'।

दे॰। (भर्त्सयन्निव) 'एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणोवेदः, वाकोवाक्यमितिहासः पुराणम् वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः'; तत्सर्वं पठितम् ? एकस्य सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः तासां द्वावेवात्र, अन्याः सर्वाः ब्रह्मलोके। (सुखभङ्गाहस्तप्रसारणेचतर्जयित्वा) विचाराय आगतोऽसि ! पाषाणादिपूजनमशास्त्रीयम्—वाराणस्याम् एवं कथयसि ! न जानासि किम् इयम् काशीपुरी ! ! ! (सभ्याः अनेके सहर्षाहसन्ति तं निवारयन्तिच)

द॰। (सभयमूर्द्धसुखस्तम्भखं पश्यन्) अत्र किं तव बलं वर्त्तते ?

ता॰। अस्ति शास्त्रे बलम्।

---

(७) अत्र बालशास्त्रिणः सम्योपस्थितेर्भूयसी प्रशंसा ॥

(८) देवदत्त पण्डितः, वृद्धवैयाकरणः, राजकीयपाठशालायां व्याकरणाध्यापकश्च ॥

द०। यदस्ति शास्त्रं तदवलम्ब्य वद, अप्रत्यक्षं शास्त्रं पूर्वं स्थितमिति नाऽहम् मन्ये।

सभ्याः। किं किं मन्यसे तदेवोच्यताम् ?

द०। (सानन्दम्) शृणु—ऋग्यजुः सामाथर्वेति चत्वारो वेदाः, आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्ववेद अर्थवेद-इतिचत्वार उप वेदाः, शिक्षादयः षडङ्गाः, ईशादयोदश श्वेताश्वतरकैवल्ये चेति द्वादश उपनिषदः, व्यास-जैमिनी-बौधायन-कात्यायनादीनि सूत्राणि, मनुः स्मृति, महाभारतरूपेतिहासः, बाल्मिकीयं रामायणं चेति(०)।

वि०। (तदभिमुखः प्रत्युपविश्य) व्याख्यानानि ?

द०। सनातनानि तान्यपि ग्राह्याणि।

वि०। (हसन्) श्लोकाः ?

द०। वेदाविरुद्धश्चेत् ते अपि ग्राह्याः। अपिच (मदभिमुखः) महाभारतादिष्वपि वेद-व्याकरण-शिष्टाचार-विरुद्धस्य न प्रामाण्यम्, (प्रगर्ज्य) पिष्टपेशनवद्वचनानां केषामपि न प्रामाण्यम्

माधवार्य्य (९) (उच्चैः) सुनिये सुनिये, जरा मेरा भीतो सुनीये—तैत्तिरीय शाखामे है—'यदागच्छत् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्त्ते कृणुतादाविरस्मै' ‡ यंहा पर पूर्त्तशब्द है; वापीकूपतडागादीनां पूर्त्तत्वं पराशरस्मृतिसम्मतम्, एवञ्च व्याप्यादीनामुत्सर्गविधिः क्व वर्त्तते वेदेपुराणे वा ?

द०। (नीचैः) पूर्त्तशब्दार्थेएव विरोधः, अतो नैरुक्तमानय

मा०। (समदृष्ट्या जर्द्धदृष्ट्या च समन्तादवलोक्य) यः बात् पांच् बरस् का लड़का भी समज् ता है, यो श्रुतिमें पूर्त्तका विधान है, वापीकुपों का प्रतिष्ठापन पूर्त्त कहाव् ताहै, अव् वापी कूपोंका प्रतिष्ठापद्धति कंहाहै, वेदमें या पुराणमें ? पुराण् नहि मानतें तौ यः पूर्त्तकर्म कैसे किये जायगें ?

वामनाचारी। (१०) (व्यग्रः) साक्षादपि पुराणशब्दः श्रूयते वेदे। (पुस्तकमवलम्ब्य पठति) 'अजान्ह वै ब्राह्मणानितिहासान् पूराणानि कल्पान् गाथा नाराशांऽसी मेदाङ्क' इत्यादि *।

द०। (शृवन्नेव) अत्र पुराणानीति ब्राह्मणविशेषणम्

वि०। (पुस्तकं दापयित्वा स्वयंच तत्र दत्तदृष्टिः) कथं दूरेऽन्वयः ?

द०। (पुस्तकं परित्यज्य) 'अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'—† अत्र यथा तथैव।

वि०। (स्थिरभावेन) तत्र न व्यवधानम् सर्वेषामेव विशेषणत्वात्।

वा०। (स्मारयन्निव) विशेषणस्य फलं वक्तव्यम् ?

द०। पुराणविशेषणेन नवीनानां व्यावृत्तिः फलम्।

वि०। इतिहासस्यापि विशेषणं देयम् !

द०। दत्तमेव छान्दोग्यादौ—सस्वरं पठति विज्ञानं वावध्यानाद् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजूर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणः ‡।

सभ्याः। (सशिरः कम्पनम्) नैवम् १००, नैवं पाठः, इतिहासपुराणम्—इत्येव पाठः; तथाच नात्र पुराणस्य विशेषणत्वं सम्भवति।

द०। (गर्जयन्) इतिहास पुराणः—इत्येवमेव पाठः—इति नो चेत् मत्पराजयः, अन्यथा युष्माकं पराजयः—इति लिख्यताम्।

ता०। (सहासमुच्चैः) एतावत् कालमपि त्वत्पराजयोऽवशिष्टः किम् ?

द०। (अग्राह्यभावेन) नहि ! युष्माभिः पराजितोऽहम् ! जयाजये युष्माकमेव स्वकीयेच्छा !!

ता०। अद्यापि विचारयितुं प्रवृत्तश्चेत् कथय।

द०। (उपहसति) कोथोय कोथोय-हा हा हाः (१२)।

ता०। (सकोपः) किमेवं मुखव्रीडनं कुरुषे ? त्वत्सदृशा मे बहवश्छात्राः सन्ति।

द०। (प्रहस्य) वदवद, यथा बहवो मूर्खाः प्रत्यहमागत्यागत्य मां विविधकटू वदन्तो गच्छन्ति तथा त्वमपि वद।

(०) प्रमाणत्वेनाङ्गीकृते महाभारते वाल्मिकीये रामायणे च बहवः प्रक्षिप्तश्लोकाः सन्ति, तान् न मन्ये-इत्यपि कथितम्।

‡ संहितायाः पञ्चमाष्टके।

(९) माधवाचारी, ऋग्वेदी, महाराष्ट्रब्राह्मणः सम्यगधीतवेदः, अर्थेऽपिचास्यास्ति गतिः, अतो वैदिकेषु प्रशस्यः, सुधीः॥

(१०) वामनाचारी, माधवस्यायं भ्राता, अयमपि तत्तुल्यः।

* तैत्तिरीय ब्रह्मयज्ञ प्रकरणे।

† भगवद्गीता २ अ०।

‡ सप्तमप्रपाठकीय सप्तमखण्डः।

(१२) उच्चारणदोषं परिलक्ष्योक्तमेवम्। वस्तुतो बङ्गानामुच्चारणदूषणानि बहूनि॥

सभ्याः। (विमर्श्याः) किमनेन लौकिकेन ? च्चणमात्रेणैव समस्त कोलाहलो निवर्त्स्यति, तत्प्रकृतमनुसर।

मा०। (अत्युच्चैः सवागाडम्बरम्) शुक्लयजुर्वेदीय शतपथब्राह्मणे अश्वमेधप्रकरणे-अष्टमेऽहनि इतिहास पाठः, नवमेऽहनि पुराणपाठः श्रयते पुराणानामप्रमाण्ये तत्र तत्तत् पाठः कथं वेदविहितः ? **

द०। तत्रान्यथैव व्याख्येयम् पुस्तकमानय (१३)।

मा०। गृहाण।

द०। तत्पत्रं गृहीत्वा बहुकालमावर्त्त्य प्रत्यावर्त्त्य च दृष्ट्वा स्वगतं पश्यन्निव तूष्णीं स्थितः।

वि०। हर हर महादेव—इति ब्रुवन् उत्थितः।

सभाभङ्गः करतालि ध्वनिश्च (१४)।

(रात्रि द्वितीययामारम्भे)

एवं पराजिते प्रबलवादिनि दयानन्दे प्रायः समस्ताएव काशीस्थ पण्डिता ब्रुवते-'घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा रासभरोहणम्। येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्'-इत्येवमनुसत्य प्रवृत्तो दयानन्दोऽयमात्मानम्पण्डितम्मन्यमानो धूर्त्तः शास्त्रानुसारिभिः साधुभिः सर्व्वत्र सर्व्वदा सर्व्वथैव तिरस्करणीयः-इति।

श्रीमन्महाराजस्तु गभीरधीश्चाश्चर्य्यञ्च दृष्ट्वा ऽऽद्यन्तं विचारकोलाहलं न हि तृप्तिं जगाम। ततः प्रकाशितवांश्च क्रमादिदं स्वागतम्—'अस्तु दयानन्दो दुष्टो मुर्खश्च परं न स एकेन केनचित् कोविदेन पराजेयः सम्भाव्यते, स हि 'षड्भिः कर्णौ निपातितः'—इति न्यायेन श्रस्तबलो निरस्तः'' । अपिच 'नहि तन्निरासनेनैव विचारः शेषतां गतः, उद्भावयन्तु कोविदा मिथः खण्डनमण्डनम् मण्डनखण्डनञ्च, ग्रन्थाकारेण प्रकाशमेतु च तत्समस्तं मदाज्ञया'-इति।

ततः—पण्डितवरः श्रीशिवसहाय परमहंस परिब्राजकः तथा सीतारामीयः श्रीहरिहरप्रसादशर्मा-दयानन्दस्य शास्त्रार्थेऽनुपयुक्तत्वात् प्रतिमा-पूजन-विरोध-खण्डनाय सम्पादितान्यपि प्रमाणानि विचारसमये समस्तानि नोपनीतानि, तानि तु ग्रन्थाकारेण प्रकाश्यानि-इति विविच्य राजानमोदितौ पूर्णमनोरथौ।

अपरे - श्रीहरेकृष्णव्यासः, श्रीजयनारायण तर्कपञ्चाननः, श्रीशिवकृष्ण वेदान्तसरस्वती; इत्येवमादयो विद्वदग्रगण्याः कतिपयाः वदन्ति 'विचारस्तु सम्यक् न भूतः, परं दयानन्दः पराजितः-इतितु सत्यम्'।

इति(१५)।

** अथाष्टमेऽहन् एवमेवैताखिष्टिषु संस्थितास्वेवैवाध्द-ध्वर्य्यविति हवै होतरित्येवो ध्वर्य्युर्मत्स्यः सांमदोराजेत्याह तस्योदके च राविशस्तइम आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदि शतीतिहासो वेदः सोऽयमिति किञ्चिदितिहास माच चीतैव मेवाध्वर्य्युः संप्रेष्यति न प्रक्रमां जुहोति। १२। अथ नवमेऽहन् एव मेवैताखिष्टिषु संस्थितास्वेवैवाहृदध्वर्य्यविति ह वै होतरित्येवाध्वर्य्युस्तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह तस्य वयांसि च वायो विधिश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशन्ति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्य्युः संप्रेष्यति न प्रक्रमां जुहोति॥ १३॥

(१३) एतदवसरेऽनेकैरनेकविधानि अर्थाश्चारयितुमारब्धानि, ततोऽवदत् दयानन्दः "वकवादेन किम्" इति, तदेतच्छ्रुत्वाह विशुद्धानन्दस्वामी किं भो! तमसाधुवचनं न भाषसे, तत् वक वाद" इत्यपि साधुः? ततो 'वकं वदति इति वकवाद इत्यपि साधुः इति ब्रुवन्नुच्चैरहसत् दयादन्दः। सभास्था अप्यहसन् ततोऽधिकम्" एतत्पूर्वमप्येवं वाक्छलादिकं भूतम् परस्परम्॥

(१२) भूतशास्त्रार्थसार एवेह प्रदर्शितः नाऽत्र कश्चनायः स्वकपोलकल्पितः, नापि कश्चित् परित्यक्तः, प्रायो यथावद्भाषापीहानुकृता तथाच यस्य यथा कथनरीतिः सापि बहुलमीक्ष्यते, किं बहुनेति।

এই সভায় অনেকানেক বিবিধ শাস্ত্রাধ্যাপকের সমাগম হইয়াছিল, ইহাতে আমি স্থির জানিয়াছিলাম এ সময়ে অনেকগুলি অশ্রুতপূর্ব্ব বিচার সামগ্রী প্রাপ্ত হইতে পারিব, ফলে তাহা কিছুই ঘটিল না; সভাস্থ পণ্ডিতগণ বোকা ভুলাইয়া নিজ নিজ আবাস প্রতিগমন করিলেন, আমি যে পদ অবলম্বন করিয়াছিলাম তাহাতে কোন পক্ষে কিছুই বলিতে পারি নাই এবং এক্ষণেও দয়ানন্দের পরাজয় হইয়াছে এইমাত্র বলিতে পারি—ইহার অধিক বলিতে পারি না।

उक्तानि पञ्चान्यार्थदर्शनानि खण्डयितुमुच्यते षट्सूत्री। तत्नाद्यावादिमं निरस्यति।

(सू०) लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वात्, न हि तत्र कर्मचोदना, तस्माद् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात्॥२।४।२४॥

(वि०) शाखाभेदात् कर्मभेद इति द्रढयितुं यत् प्रथमं 'लिङ्गम्' अन्यार्थदर्शनम् उक्तम् तत् 'अविशिष्टम्' नहि लिङ्गत्वेन ग्रहणीयम् 'सर्वशेषत्वात्' सकलपक्षे एव तस्य शेषत्वसम्भवात्, कर्मभेदपक्षे यथा स उपपद्यते कर्माभेदपक्षेऽपि तथैवोपपद्यत इति यावत्। तथाहि—यत् प्रदर्शितं ताण्ड्यकम् 'तत्र' 'न हि' 'कर्मचोदना' न हि सामवेदब्राह्मणे ताण्ड्यकाद्यावस्ति ज्योतिष्टोमस्य द्वादशाहस्य विधानम्, 'तस्मात्' विधेरभावात् न सोऽनुवादः अपि तु 'द्वादशाहस्य' कर्मणः 'आहारव्यपदेशः स्यात्' आहरणव्यवहारार्थं इति यावत्। एतदुक्तं भवति—यदि शाखाभेदात् स्यात् कर्मभेदः तर्हि भिन्नशाखीयस्य ज्योतिष्टोमस्य कथं स्यादत्ताहारव्यपदेशः, कर्मैकत्वे तु उपपन्नमेतत् शाखान्तरविहिते ज्योतिष्टोमे कौथुमीयानामनिष्टपूर्व्वाणां नियोग इति। एवञ्च नैतदन्यार्थदर्शनम्॥२।४।२४

द्वितीयमन्यार्थदर्शनं खण्डयति।

(सू०) द्रव्ये चाचोदितत्वात् विधीनामवस्था स्यात् निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्॥२।४।२५।

(वि०) द्रव्ये 'अग्नौ' एकयूपे पशवेकादशिनी विधानेन यूपैकादशिन्या अचोदितत्वात् विधीनां श्येनपक्षादिसम्मानविधीनाम् व्यवस्था न स्यात् भवदुक्तं व्यवस्थितविषयत्वं न स्यात्, कुत? वाचस्तोमादिषु यूपैकादशिन्या निर्देशात् अचमात्रान्तरालव्यवहारविधिर्व्यवतिष्ठते तस्मात् श्येनपक्षोपलक्षितसम्मानादिचोदना नित्यानुवादः स्यात्; अतो न कर्मभेदलिङ्गमित्यर्थः॥२।४।२५॥

तृतीयं निरस्यति।

(सू०) विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात्॥२।४।२६॥

(वि०) कुतश्चित् षोडशीविहितः क्वचित् प्रतिषिद्धः, तस्मात् पक्षे स्यात् अतिरेकः; तेन किम्? इत्याशयः। तथाहि यस्मिन् षोडशिग्रहणं तत्र एकविंशतिप्रचयात् तिस्रो भवन्ति, यस्मिन् न तत्र द्वयोः स्तोत्रीययोरतिरेकः, एवञ्च षोडशिग्रहणस्य पाक्षिकत्वेन द्वयोस्तिसृणां वा सुतरामतिरेको न कर्मभेदे लिङ्गम्। अतिरेक प्रकारस्तु दर्शितः शावरादौ॥२।३।२६॥

चतुर्थं निराह।

(सू०) सारस्वते विप्रतिषेधात् यदेति स्यात्॥२।४।२७॥

(वि०) सर्व्वेषां कर्मणां ज्योतिष्टोमपूर्व्वकत्वात् सारस्वते सत्रे पुरोडाशिनां सान्नायिनां च दर्शनं विप्रतिषिद्धम् अतः यदा इति कल्पनीयं स्यात्। तथाहि—यदा पुरोडाशिनः पौर्णमास्यां तदा उपवसन्ति यदा सान्नयिनोऽमावास्यायां तदा वत्सान् वारयन्ति। इत्यञ्च नैतदन्यार्थदर्शनं कर्मभेदे लिङ्गम्॥२।४।२७॥

पञ्चमं प्रत्याख्यातुमनुभाषते।

(सू०) उपहव्येऽप्रतिप्रसवः॥२।४।२८॥

(वि०) कर्मैक्यपक्षे उपहव्ये बृहद्रथन्तराणाम् प्रतिप्रसवः पुनर्विधिः न सम्भवति—इति चेत्॥२।४।२८॥

अत्राह।

(सू०) गुणार्थो वा पुनःश्रुतिः॥२।४।२९

(वि०) पुनःश्रुतिः प्रतिप्रसवः गुणार्थो भविष्यति तथाहि—यदा रथन्तरसामा तदा अश्वः श्वेतो दक्षिणा, यदा बृहत्सामा तदा रुक्मललाट इति; इत्यश्चैष प्रतिप्रसवोऽपि न कर्मभेदे लिङ्गम्॥२।४।२९॥

अथ सिद्धान्ती स्वमतं द्रढयति।

(सू०) प्रत्ययं चापि दर्शयति॥२।४।३०॥

(वि०) 'अपिच' कर्मैक्ये 'प्रत्ययं' प्रतीतिम् 'दर्शयति आचार्यः' एतदुक्तं भवति—कस्यांचित् शाखायां किञ्चित्कर्म श्रूयते न पुनस्तत्र तद्गुणाः,

अन्यस्यां गुणमात्रमेव श्रूयते नतु कर्म—इत्थं स्पष्टमेतत् प्रतीमः—सकलशाखाविषयमेकमेव कर्म। २।४।३०॥

अन्यथा शङ्कते।

(सू०) अपि वा क्रमसंयोगाद् विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥ २।४।३१॥

(वि०) अपिवेति सम्भाव्यते। विधिपृथक्त्वमेव न्याय्यम्, कुतः! क्रमसंयोगात्, विभिन्नशाखा विहितविभिन्न क्रमादिभिः प्रकृतकर्मणः संयोगात्; अन्यशाखाविहितविधीनुपसंहरन्नपि स्वशाखाविहित क्रममुपरुणद्धेत्रवेति यतस्तत इति भावः। एवञ्च एकस्यामेव शाखायाम् एकस्य कर्मणोविधि र्व्यवतिष्ठेत, अन्यस्यामन्यस्येत्येवमिति सम्भाव्यते। २।४।३१॥

परिहरति।

(सू०) विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात्। २।४।३२॥

(वि०) शाखान्तरविहितेन 'विरोधिना' क्रमादिना शाखान्तरीयस्य तस्य 'असंयोगात्' विशेषविहितत्वेन संयोगाभावात् क्रमभेदेऽपि ऐककर्म्मम् तदवस्थम्, सत्येवं विधीनां सर्वेषाम् 'तत् संयोगात्' तैस्तैः विधिभिः संयोगात् एकवाक्यत्वम्, तथाच स्यादेव सर्वशाखाधिगतकर्मण एकत्वप्रत्ययः। एवञ्च प्रत्यभिज्ञाना सर्वशाखाप्रत्ययमेकमेव कर्मेति सिद्धम्॥ २।४।३२॥

तदेतद्द्वितीयाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) शाखाभेदात् कर्मभेदो न वा कर्मात्र भिद्यते। दृष्टं काठकनामादि बहु भेदस्य कारणम्। ग्रन्थद्वारादिनाह्येते यज्ञस्ते भेदहेतवः। रूपादि प्रत्यभिज्ञानादभिन्नं कर्म गम्यते॥ २।४।२॥

(टी०) काठककाण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादिशाखासु दर्शपूर्णमासाख्यं कर्माम्नातम्। तत्र शाखाभेदात् कर्म भिद्यते, कुतः? भेदकारणानां नामभेदादीनां बहूनामुपलम्भात् काठककाण्वादिको नामभेदः; कारीरीवाक्यान्यधीयानाः केचिच्छाखिनोभूमौ भोजनमाचरन्ति, शाखान्तराध्यायिनो नाचरन्तीति धर्मभेदः; एकस्यां शाखायामधीता ईषेत्वादयोमन्त्राः फलाग्र-शाखाच्छेदादयः क्रियाश्च शाखान्तरेऽप्यधीयन्ते-इति पुनरुक्तिः; एवमशक्त्यादयो भेदहेतव उदाहार्य्याः;—नह्यल्पायुषा मनुष्येण सर्वशाखाध्ययनपूर्वकं कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं शक्यम्। तस्मात् शाखाभेदेन कर्मभेदः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—रूपाद्यभेदादेकं कर्माग्नेयाष्टाकपालादियागरूपम्। यदेवैकस्यां शाखायां तदेवान्यास्वप्युपलभ्यते 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'-इति; यागरूपः पुरुषव्यापारश्चैकविधः; दर्शपूर्णमासाविति कर्मनामाप्येकम्; स्वर्गकाम-इति फलसम्बन्धोऽप्येकः; तस्मात् अभिन्नं कर्म। पूर्वपक्षहेतवस्त्वन्यथा सङ्गच्छन्ते। काठकादिकं ज्योतिरादिवन्नकर्मनाम, काठकेन यजेतेत्य श्रवणात्; काठकमधीत इति प्रयोगाद् ग्रन्थनामेत्यवगन्तव्यम्। भूमौ भोजनादिरध्ययनधर्मः। पुनरुक्तिरध्येतृभेदान्न दुष्यति। अल्पायुषापि शाखान्तरस्योपसंहारन्यायेन कर्म्मानुष्ठातुं शक्यते। तस्मादनन्यथासिद्ध रूपप्रत्यभिज्ञानाच्छाखाभेदेऽपि कर्म न भिद्यते।२।४।२॥

इति द्वितीयाधिकरणम्।

समाप्तोऽसौ सत्यव्रतसामश्रमि-रचित-विवरणयुत-मीमांसाचार्यजैमिनीकृत-सूत्र-सहितायाम् माधवाचार्य-विनिर्मितसटीकन्यायमालायाम् द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

द्वितीयाध्यायः समाप्तः।

अथ तृतीयोध्यायः ।

(वि०) द्वितीयेऽध्याये इदमस्माद्भिन्नम् इदमभिन्नम्, अभिन्ने च कर्म्मणि यावन्ति सन्ति अवान्तराणि विभिन्नकर्माणि तेषु इदम् प्रधानम् इदमप्रधानम्-इति च निरूपितम्, अत्र हि तेषु प्रधानेष्वप्रधानेषु कर्मसु येन यस्य सम्बन्धः स विवरीष्यते। इह अष्टौ पादाः; तत्र प्रथमे—सम्बन्धनिरूपकाणां श्रुतिलिङ्गादीनां मध्ये श्रुतिविचारितः; द्वितीये—लिङ्गम्; तृतीये-वाक्यप्रकरणादि, चतुर्थे निवीतोपवीतादिषु अर्थवादत्वविधित्वादिनिर्णयहेतुः श्रुत्यादेः परविरोधसदसद्भावः, पञ्चमे—प्रतिपत्तिकर्माणि, षष्ठे अनारभ्याधीतानि, सप्तमे—बहुप्रधानोपकारकप्रयाजादीनि, अष्टमे—याजमानानि (तदेषश्लोकः— "श्रुति-लिङ्गं च वाक्यादि-विरोध-प्रतिपत्तयः। अनारभ्योक्ति—बह्वर्थ—स्वाम्यर्था अष्टपादगाः ॥१॥"

अथ श्रुत्याख्यः प्रथमः पादः।

(वि०) प्रथमेऽध्याये क्रियालक्षणोऽर्थोधर्मइति निरूप्य द्वितीयेऽध्याये "भावार्थाः क्रियाशब्दास्तेभ्यः क्रियाप्रतीयेतैषह्यर्थो विधीयते' इति क्रियायाः प्रतिपादकत्वमेकत्रैकस्यैव भावार्थकर्मशब्दस्य निरूपितम्, तथाचावान्तरकर्मणां मिथः, क्रियाप्रतिपादकवाक्येनच अङ्गाङ्गिभावापरपर्य्यायशेषशेषितयान्वयोऽवनितः, इदानीं कस्य कः शेष इति निरूपयितुमुद्यतेनादौ सूत्रषट्कैः शेषपदार्थएव लक्षणादिना स्फुटीक्रियते। तत्रैतत् प्रतिज्ञासूत्रम्

(सू०) अथातः शेषलक्षणम् ॥ १ ॥

(वि०) 'अथ' कर्मभेदनिरूपणानन्तरं यतो भिन्नानामवान्तरकर्मणां मिथः प्रधानेनच भूता सम्बन्धजिज्ञासा 'अतः' 'शेषलक्षणम्' वक्तव्यम्, तथाच शेषशेषि भावः सम्बन्धः स्फूटिष्यति ॥१॥

तदेतत् प्रथमाधिकरणमारचय्य स्फुटयति।

(अ०) अशाब्दी शेषता शाब्दी वा न शाब्द्यप्रतीतितः। क्रियाकारकसंसर्गमात्रे व्युत्पत्ति सम्भवात्। गुणप्रधान भावेन संसर्गेऽन्तर्भवत्यसौ। व्युत्पत्ति सम्भवात् तत्र शाब्दता स्यात् क्रियादिवत् ॥ १ ॥

यदिदमस्मिन् (१) तृतीयाध्याये प्रतिपादितं शेषत्वम् न तच्छाब्दम्, कुतः? केनापि शब्देन शेषत्वस्याप्रतीयमानत्वात्; व्युत्पन्नो हि शब्दः प्रत्यायकः, व्युत्पत्तिश्च न शेषशेषिभावे क्वचिद् दृष्टा लोके, सर्व्वत्र क्रियाकारकान्वयस्यैव व्युत्पत्तिप्रयोजकत्वदर्शनात्; अतः शेषतयाः अशाब्दत्वात् नायमध्याय आरम्भणीयः।

इति चेत्-मैवम्, अन्वये शेषशेषिभावस्यान्तर्भावात्। नहि गुणप्रधानभावमन्तरेणान्वयः सम्भवति, तयोर्गुणयोः परस्पराकांक्षारहितत्वेनान्वय योग्यत्वाभावात्, एवं द्वयोः प्रधानयोरपि। अतो

(१) अत्रेदमवधेयम्—यद्यपि बुद्धिस्थेऽपि इदं शब्दः प्रयुज्यते तथापि वक्ष्यमाणस्य विचारविषयत्वं न सम्भवति, विचारे विषयस्यैव प्राथम्यात्। वस्तुतोऽस्य विचारस्य अधिकरणत्वं चिन्त्यम्, विषयवाक्यशून्यत्वेन पञ्चावयवत्वाभावात् ध्वनितञ्चैतद् भाष्ये, दीधितावपि।

व्युत्पत्तिसम्भवात् क्रियाकारकतदन्वयोर्यथाशब्दः तथा तदन्वयान्तर्गतः शेषशेषिभावोऽपि शब्दः। तस्मादयमध्याय आरम्भणीयः ॥१॥

इति प्रथमाधिकरणम्।

प्रतिज्ञातं ब्रूते।

(सू०) शेषः परार्थत्वात्॥ २॥

(वि०) 'परार्थत्वात्' हेतोः 'शेषः' लक्षणीयः यत्र यत्र पारार्थ्यम् अस्ति तत्र तत्रैव शेषत्वमिति व्याप्तिः। तथाच योयः परार्थः स सशेष इति शेषलक्षणम्॥ २॥

द्वितीयाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) स्वरूपहेतु न स्तोऽत्र स्तो वा नैवा निरूपणात्। पारार्थ्यं शेषताहेतु रूपं तेनोपलक्षितम्॥ २॥

(टी०) न तावदत्र शेषत्वस्य स्वरूपं निरूपयितुं शक्यते। तथाहि, शेषत्वं नाम—किमविनाभूतत्वम्? प्रयोज्यत्वं वा? विध्यन्त (१) विहितत्वं वा? नाद्यः—षड्यागानामविनाभूतानां परस्पर-शेषत्वप्रसङ्गात्; न द्वितीयः—पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपतीत्यत्र तुषोपवापनं प्रति शेषस्यापि कपालस्य तत्प्रयोज्य त्वाभावात्; न तृतीयः—विध्यादिविहितस्य पलाश शाखाच्छेदनस्य सत्यपि शेषत्वे विध्यन्तविहितत्वाभावात्। तस्मात् नास्ति शेषतायाः स्वरूपम्, नापि हेतुरस्ति; विमतः शेषः एवं त्वात्-इति कस्यचिद्धेतो रनिरूपणात्।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—विमतः प्रयाजादिः शेषः, परार्थत्वात्—भृत्यादिवत् इति हेतुः सुनिरूपितः; अविना भूतादीनां लक्षणानां दुष्टत्वेऽपि परार्थः शेषः इति लक्षणस्यादुष्टत्वात्। तेन लक्षिताकारः स्वरूपम्। नच पारार्थ्यस्यैव हेतुत्वे लक्षणत्वे च साङ्कर्य्यम्, आकारभेदेन तद्भेदात्; दृष्टान्ते गृहीत व्याप्तिं सह्यायीकृत्य बोधक आकारोहेतुः, इतरव्यावृत्त्या बोधक आकारोलक्षणम् (२)। तस्माच्छेषताया हेतुस्वरूपे विद्येते॥ २॥

इति द्वितीयाधिकरणम्।

(१) विध्यन्त इति कर्त्तव्यता-इति मीमांसासङ्केतः।

(२) एतद् विचार क्रन्दनम्।

लक्षितस्य शेषस्य लक्ष्यं निर्द्दिशति।

(सू०) द्रव्य-गुण-संस्कारेषु बादरिः ।३॥

(वि०) वादरिराचार्य्यः द्रव्यादित्रिष्वेव अस्ति शेषत्वम्—इति मन्यते। तथाहि—द्रव्याणि व्रीह्यादीनि, दृश्यते तेषाम् क्रियार्थत्वेन पारार्थ्यम्; गुणाः अरुणिमादयः, दृश्यते हि तेषाम् द्रव्य-परिच्छेदकतया पारार्थ्यम्; संस्काराः अवहननादयः, दृश्यते किल तेषाम् क्रियायोग्यत्वापादकत्वेन पारार्थ्यम्॥ ३॥

नन्वेवं द्रव्यादित्रयातिरिक्तानाम् कर्मादीनामपि तथा दृश्यते पारार्थ्यम्-इति त्रिष्वेवेति नियमः कथमुपपद्येत?-इतिचेत्—इष्टमेवैतदित्याह।

(सू०) कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्। फलञ्च पुरुषार्थत्वात्। पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्॥४-६॥

(वि०) एतच्छास्त्राचार्य्येण भगवता जैमिनिना तु शेषस्य पारार्थ्यं लक्षणं कृतम्, नतु तल्लक्ष्यपरिगणनं चिकीर्षितम्; एवञ्च यस्य यदा पारार्थ्यं तस्य तदास्त्येव शेषत्वम्। दृश्यते हि लोके-रथस्य चक्रापेक्षया स्थितेऽपि प्राधान्ये गमनोपयोगित्वेन पारार्थम्, अपिच गमनस्य रथापेक्षया सत्यपि प्राधान्ये उत्तरदेशसंयोगरूपफलार्थ्यत्वेन पारार्थम्, किञ्च तत्फलस्य गमनापेक्षया सत्यपि प्राधान्ये आरोह्यर्थत्वेन पारार्थ्यम्, तथा आरोहिणश्च सर्वथा सत्यपि प्राधान्ये आरोहण क्रियार्थत्वेन पारार्थ्यम्। तस्मान्नास्त्यवधारणं शेषोऽयमयंनेति। तदेतत्सूत्रार्थः—'जैमिनिः' आचार्य्यः फलार्थत्वात्' स्वर्गादिफलसाधनत्वेन 'कर्माणि अपि' ज्योतिष्टोमादीन्यपि शेषभूतानि, किञ्च 'पुरुषार्थत्वात्' पुरुषप्रवृत्तिसाधनत्वेन 'फलं च' शेषभूतम्, अपिच 'कर्मार्थत्वात्' औदुम्बरीसम्मानादिकर्मसाधनत्वेन 'पुरुषस्य' शेषः-इति मन्यते स्म; नावधारणमिति भावः। वस्तुतो द्रव्यगुणसंस्कारेषु शेषत्वं तिष्ठति नियमत इमे शेषा एव, नैवमन्यत्र कर्मादिषु,-तेष्वापेक्षिकप्राधान्यस्यापि सत्वात्—इतीदमेव तात्पर्य्यं परिगणनकारिणो वादरेः ।४-६

मन्दोः शृङ्गं सप्ततालप्रमाणम्
कल्याणाद्रिः सर्षपस्यैकदेशः।
विन्दुः सिन्धुः सिन्धुरप्येकविन्दुः
अब्धौ मुग्धे साधुनीचोपकारे॥ ४९॥

जहास वन्ध्या स्वसुतास्यदर्शनात्
चचाल पङ्गुः स्वपदेन लीलया।
नितान्तमूकस्य वदावदोऽजनि
प्रसादतस्ते तरुणेन्दुशेखर!॥ ५०॥

जहि तमो गरुड़ध्वज! धूर्जटे!
कुरु करे गरलं पिव चामृतम्।
सुविदितैव जगद्दुरितारिता
निगदिताऽवतु विश्वमजद्वयी॥ ५१॥

संज्ञावियोग परितापिनि गाहमाने
भानौ सरो विकसिताम्बुरुहं रजन्याम्।
तद्वीचयेव मकरन्द गतालिविम्बः
चन्द्रोऽरविन्द कुहरे विहरत्यरीणः॥ ५२॥

भूचक्रशक्राविलसन्मणिवन्धतास्ति
तद्वच्च पञ्चशरशासनशालितास्ते।
तल्लाञ्छनत्वमपि गाङ्गजलोषितत्वम्
हारे हरे हिमकरे मकरे करे च॥ ५३॥

प्रत्यक् पयोनिधि तटीचरमीक्षितं यद्
बन्धूकपुष्पसदृशं तमसोऽतिरेकात्।
जानामि कुण्डलित तच्चकशङ्कया तन्
मार्तण्डमण्डलमखण्डशिखण्डितुण्डैः॥ ५४॥

पीताम्बरोद्य जलदस्तडिदद्य लोला
भीमोऽद्य वारिनिवहः सरिदद्य दुर्गा।
दोषाकरोद्य समयः क्षितिरद्य चाद्री
नोमा भविष्णु शिवमाविधुनोति तन्वि॥ ५५॥

हयनिकरखुरोत्थैः कर्णवातावधूतै
र्नवजलदनिभस्तैर्हस्तिसङ्घोरजोभिः।
धवलयति धरित्रीमन्धकारप्रचारः
स्फुटमिति निगदन्ति क्ष्माप! साश्चर्यमार्याः॥ ५६॥

अजनि रजनिमध्ये मण्डलं चण्डरश्मे-
र्धनुरुदयमनभ्रा बिभ्रती द्यौ सुकान्ति।
इह हि विधिरिदानीं दृश्यते देव! वामः
प्रहिणु जनकपुत्रीं मित्रतासेतु रामः॥ ५७॥

प्रविशतु हरिनाभी पङ्कजान्तर्निषस्य
द्रुहिणचरणसेवां कर्तुमिन्द्रे ससैन्ये।

मन्दोर्मत्स्यविशेषस्य॥ ४९॥

अजद्वयी जन्मरहितौ द्वौ, विश्वम् अवतु, हे गरुड़ध्वज! हे धूर्जटे! जगतां दुरितारिता पापनाशकता निगदिता व्युत्पत्तिलब्धा तथाहि—पापान् हरतीति हरिर्हरश्च; अतः सुविदितान्नामोच्चारणादेव सर्वैर्ज्ञाता इत्यर्थः॥ ५१॥

सूर्येऽस्तंगते चन्द्रस्य कान्तिर्भवति, ततश्च तत्प्रतिविम्बं जले पतति, तदेव कविनोत्प्रेक्ष्यते—संज्ञेति। संज्ञा-इति सूर्यभार्याभिधानम्। अरीणः परिपूर्णः॥ ५२॥

भूचक्र शक्र। हे भूमीन्द्र! विलसन्मणिवन्धता हारेऽस्ति, पञ्चशरः कामः तस्य शासनशालिता दण्ड-कर्तृत्वं हरेऽस्ति तल्लाञ्छनं हिमकरेऽस्ति; गङ्गोन्मिषत्वं गङ्गावाहनत्वं मकरेऽस्ति; एतच्चतुष्टयं तव करेऽस्ति॥ ५३॥

प्रत्यगिति अस्तं यान्तमित्यर्थः, तमसोऽन्धकारस्य; अयंभावः—तक्षकस्तावद्रक्तवर्णः (तथाच हेमचन्द्रः—तक्षकस्तु लोहिताङ्गः स्वस्तिकाङ्कित मस्तकः) अन्धकाररूपमयूरोत्खेकृतं भक्षणार्थमिति कविरुत्प्रेक्षते; अखण्ड सम्पूर्णमित्यर्थ॥ ५४॥

हे तन्वि! भयहेतुसत्त्वेऽपि भविष्णु भावि, शिवं कल्याणं, मामां नो असम्यग् विधुनोति; भयहेतूनाह—पीतेति, पीतं व्याप्तमम्बरं येन सः, दोषारात्रिः तत्कर्त्ता समयः रात्रिकाले इत्यर्थः॥ ५५॥

हे क्ष्माप! भूप! आर्याः श्रेष्ठाः साश्चर्यम् इति निगदन्ति, तदेवाह—हयेति॥ ५६॥

मन्दोदरदुश्चिह्नमवलोक्य रावणं प्रत्याह—देव! महाराज! धनुः शक्रधनुः, एतानि दिव्याद्भुतानि; तथाच विष्णुधर्मोत्तरे—ग्रहर्क्षवैकृतं दिव्यमित्यादि; मत्स्यपुराणे—'निरभ्रेऽथवा रात्रौ श्वेतं याम्योत्तरेण तु। इन्द्रायुधं ततो-दृष्ट्वा उल्कापातं तथैवच'-इत्यादि॥ ५७॥

अगणित परिमाणे भङ्गभङ्गी दधानो
भ्रमति कमलकोषे मत्तमातङ्ग सङ्घः ॥ ५८ ॥

जलमुचि जलपूरं मुञ्चति स्पष्टशब्दम्
प्रतिगज इव कोपा दूर्द्धविन्यस्तहस्ताः ।
सपदि समुपयातोदन्यया व्याप्तवक्त्राः
सरलितकरदण्डाः कुम्भिनोऽम्भः पिवन्ति॥५९॥

प्रभ्रमरमधुपाली पातसम्पातपुष्यत्
कमल बहलगन्धं विन्ध्यमध्यास्य वाप्याम् ।
जलगत निजमूर्त्तिं वीच्यमाना: सशङ्कम्
सरलितकरदण्डाः कुम्भिनोऽम्भः पिवन्ति ॥६०॥

तिलक मलिक संस्थं वीच्यते पद्मलाच्या
मृगमदगजराजी राजितं याव दास्तु ।
अमल जललवान्तस्तावदेवास्य पानान्
मशक गलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ॥ ६१ ॥

कृशतरजठरान्तर्देवकस्यात्मजायाः
सकलभुवनलीला वास ! यस्ते निवासः ।
मनुज दनुजदेवाश्चर्य भूतं तदेतन्
मशक गलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ॥ ६२ ॥

यदा विष्णुनाभिकमले ब्रह्मा तदा तत् सेवार्थं ससैन्य-इन्द्र आगतः, तदा गजयूथः भङ्ग भङ्गीं दधानः भ्रमरवत् कमलकोषे भ्रमतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

प्रतिगज इव प्रतिद्वन्द्वी कश्चिद् गजः शब्दायते-इति मत्वेतिभावः, सपदि तत्क्षणात् समुपजाता या उदन्या पिपासा तया व्याप्तं प्रसारितं वक्त्रं यैः ते ॥५९॥

कुम्भिनोगजाः, विन्ध्यपर्वतमाश्रित्य वाप्याम् अम्भः पिवन्तीत्यन्वयः, मधुपाली भ्रमरपंक्तिः ॥ ६० ॥

तिलकेति । पक्षे-पद्मलाच्या नायिकया, अलिक संस्थं भालस्थं, मृगमदगजराजिराजितम् मृगमदचित्रितगजसमूह युक्तम् तिलकम्, अमल जले निर्मल-जलकणामध्ये यावद्दृश्यते ; तदानीं मशक गलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम्-इत्यमानि ॥६१॥

देवकस्यात्मजाया देवक्याः कृशतरजठरान्तः ! हे सकल-

भ्रमति कमलकोषे मत्तमातङ्ग सङ्घः
सरलित करदण्डाः कुम्भिनोऽम्भः पिवन्ति ।
मशक गलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम्
समुदितमिति मत्ता यः प्रगे सम्प्रयातः ॥ ६३ ॥

उदारालङ्कारा सुललितपदाऽऽविष्कृतरसा
समापन्ना शय्या मनुगुणमाणिक्यसुभगा ।
स्फुरद् वर्णाभ्यर्णे स्थितजन घनानन्द वसतिः
समस्या वेश्येव प्रतिपुरुष मेषा विलसति ॥६४॥

भुवन लीलाया आवास,अधिष्ठानभूत, विष्णो ! ते तव यो निवासः स चमत्कारः; तदेवाह—दनुजेति ; दृष्टान्तयति मशकेति ॥ ६२ ॥

केनचित् सुरां पीत्वा रात्रौ 'भ्रमति'-इत्यादि चरणत्रयम् असम्भावितम् उक्तम्, प्रातर्मादकतोपगमात् संज्ञां प्राप्ते तस्मिन्, अन्यः कश्चिदन्यं प्रत्याह—यः रात्रौ पूर्वोक्तं त्वयं मत्ता मन्यमानः, सोऽद्य प्रगे प्रातः सम्प्रयातः मतः ॥६३॥

* उदारेति। एषा समस्या (समशब्दात् क्यचि सर्वप्रातिपदिकेभ्यः सुगसुगाविति ततोऽप्रत्ययादित्यकारः) तुल्यार्थविषयिणी इच्छा, वेश्येव वारवनितेव प्रतिपुरुषं विलसति विलासमेति । किं विशिष्टा समस्या ? उदाराः अलङ्काराः शब्दार्थोभयसंश्रितेषु अर्थालङ्काराः यस्याः सा । सुललितानि पदानि सुप्तिङन्तानि यस्याः सा । आविष्कृतः रसः शृङ्गारादिः यया । शय्यां शब्दालङ्कारभेदाम्, समापन्ना प्राप्ता, उक्तञ्च सरस्वतीकण्ठाभरणे—'शब्दालङ्कार संज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः । जातिर्गतीरिति वृत्तिच्छाया-मुद्रोक्तियुक्तयः । भणिति गुम्फना शय्या पठिति र्यमकानिच । श्लेषानुप्रासचित्राणि वाकोवाक्यं प्रहेलिका । गूढप्रश्नोत्तराध्येय श्रव्यप्रेच्याभिनीतयः । चतुर्विंशति रित्युक्ताः शब्दालङ्कारजातयः' इति, 'शय्येत्याहुः पदार्थानां घटनायाः परस्परम् । सा प्रक्रान्तेन कस्मिंश्चिदपक्रान्तेन कुत्रचित्'-इत्यादि । अनुगुणाः महान्तो ये गुणाः ओजःप्रसादादयः, उक्तञ्च वामनेन—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा इति ये खलु' शब्दार्थ धर्मा काव्यशोभां कुर्वन्ति, तेचौजः प्रसादादयो न यमकादयः ;

---

* उदारालङ्कारेत्यादि कुसुम समाप्तिं यावत् श्लोकानां पूर्वतनैव व्याख्या समीचीनेति सैवात्र दृश्यते। स० ॥

गते देशाद्देशं प्रणयिनि कृशाङ्ग्याः स्फुरदुरु
व्यथायाः संतापप्रशमनं विधौ नीरज युगम्।
सखीभि र्निक्षिप्तं मुकुलित मुखं तत्र शुशुभे
कुचद्वन्द्वस्योपर्यपरमिव जातं कुचयुगम् ॥६५॥

प्रसर्पत्तापार्त्तिप्रशमन विधानाय मलय-
द्रुमक्षोदाभ्यङ्गाधिकतरभवत् पाण्डुरतनोः।
अभिज्ञोऽप्यज्ञासीत् कथमपि सखीनां परिकरो
न सेटोऽमन्तस्याचमिकमिवमां प्रत्ययलुकाम् ॥६६॥

अलिव्राताघ्रात प्रसवमयचापे विजयिनि
प्रविष्टे पातालं जलनिधिपदव्या रतिपतौ।
अधोमैनाकस्य स्थितवति समस्तं समभवद्
धनुः कोटौ भृङ्गस्तदुपरिगिरिस्तत्र जलधिः॥६७॥

प्रयात्यश्विद्वारा फणिपतिभुवं हन्तु मसुरान्
पृथापुत्रे चापग्रथित सुमनो नीलमधुपे।

तएव माणिक्यानि तैः सुभगा। पुनः किं विधा समस्या! स्फुरन्त एव वर्णाः अक्षराणि तदभ्यर्णे अभ्यासे स्थिता ये जनाः लोकाः तेषां घनानन्दः निविड़सन्तोषः तस्य वसतिः स्थानम्। वेश्यापक्षे—उदाराः बहुमौल्याः अलंकाराः कटककुण्डलादिरूपाः। सुललितं पदं वाक्यं ('पदं शब्देच वाक्येच'-इति मेदिनीकरः) तेन आविष्कृताः रसाः शृङ्गारादयो यया; अथवा पदं स्थानं ('पदं स्थाने क्रमे त्राणे'-इतिमहीपः) तेन आविष्कृता प्रकटीकृता रसा भूमि र्ययेति सा। शय्यां समापन्ना शयनं प्राप्ता। अनणुगुणाः सौन्दर्य्यादयः तएव माणिक्यानि। स्फुरन्तो वर्णाः ब्राह्मणादयो यस्यां, स्फुरद्वर्णः कान्तिः यस्या इति वा। अभ्यर्णे समीपे स्थिताः ये जनाः तेषाम् आनन्दवसतिः ॥ ६४ ॥

गते-इति। सखीभिः वयस्याभिः कृशाङ्ग्याः नायिकायाः कुचद्वन्द्वस्य स्तनयुग्मस्य उपरि सन्ताप प्रशमन विधौ ज्वरशान्ति निमित्त मित्यर्थः न्यस्तं धृतं नीरज युगं कमलयुगम् तत्र स्तनद्वये अपरं द्वितीयं कुचयुगमिव जातं शुशुभे शोभां प्रापेत्यर्थः कस्मिन्नति प्रणयिनि भर्त्तरि देशाद्देशं परदेशं गते सति। किम्बिधायाः कृशाङ्ग्याः! स्फुरंती उरुर्यस्याः सा दीर्घविरहज्वराक्रान्ता। किम्बिधं नीरज युगम्? मुकुलितमुखं सङ्कुचिताग्रम् ॥ ६५ ॥

प्रसेति। अभिज्ञोऽपि प्रवीणोऽपि ('प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञ'-इत्याद्यमरः) सखीनां परिकरः सङ्घः ('काले परिकरः संघे'-इति मेदिनीकरः) प्रसर्पन् यस्तापः तस्य आर्त्तिरार्त्ति र्वा पीड़ा तस्याः प्रशमनविधानम् उपशम करणं तदर्थमात्रः अङ्गीकृतः मलयद्रवक्षोदः चन्दनाद्ररजः ('क्षोदः स्यात् पुंसि रजसि-इति मेदिनीकरः) तदभ्यङ्गो लेपनम् तेनाधिकतराभवन्ती, पाण्डुरा श्वेता, तनुः शरीरं यस्याः तस्याः नायिकायाः, अमं रोगम् ('आन्तकस्याम आमयः"—इति महीपः) कथमपि प्रयासेन नाज्ञासीत् न ज्ञातवान्-इत्यर्थः। किम्बिधायास्तस्याः? सेटः (इट्किट् कटिगताविति ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः-इति) ज्ञानवत्याइत्यर्थः। किम्बिधम् आमम्? चमुअदनम्, कमिः कान्तिः वमिर्वान्तम्, तेषां प्रत्ययः साक्षात्कारः तस्य लुम्पनं लुः तं कायतीति काः सोमपावत् तम्। (प्रत्ययलुकामिति द्वितीयैकवचनम्)। "न सेटोऽमन्तस्याचमि कमिवमाम्"—इत्येकं सूत्रम् "प्रत्ययलुकामिति सूत्रैकदेशम्—इति कालापव्याकरणगत सूत्रद्वयाभिप्रायेण समस्येयम् ॥ ६५ ॥

अलीति। रतिपतौ कामे ('पुष्पधन्वारतिपतिः' इत्यमरः) पातालं रसातलम् (अधोभुवनपातालं वलिसद्मरसातलम्-इत्यमरः) जलनिधिपदव्या समुद्रमार्गेण (अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानं पदवी सृतिः-इत्यमरः) प्रविष्टे सति प्राप्ते सति, समस्तं सम्पूर्णम् इदमित्यध्याहार्य्यम् वक्ष्यमाणं समभवत् समजायत-इत्यर्थः। तदेव दर्शयति—धनुषः कोटिरग्रं तस्यां भृङ्गः भ्रमरः, तदुपरि भ्रमरोपरि गिरिः पर्व्वतः, तत्र पर्व्वते जलधिः-इति। किंविधे रतिपतौ? अलिव्रातैः भ्रमरनिकरैः (स्तोमौघ निकरव्रात-इत्यमरः), आघ्रातः (तुदविदोन्दत्राघ्रेति नत्वविकल्पः) घ्राणेन्द्रियविषयीकृतः, प्रसवमयः पुष्पप्रचुरः (प्रसवः पुष्पफलयोः-इति मेदिनीकरः) चापो यस्य तस्मिन्। पुनः किंविधे? विजयिनि। पुनः किंविधे? मैनाकस्य हेमाद्रिपुत्रस्य अधःस्थितवति (तिष्ठतीति स्थितवान् तस्मिन्)। धनुः कोटाविति पुष्पाग्रे भ्रमरस्यावश्यकत्वम्, मैनाकस्याधोगत्या तदुपरि गिरिरित्युचितं तदुपरिजलधिरित्यसम्भावित समस्या ॥ ६६ ॥

प्रकारान्तरेणान्यां तामाह—प्रयातीति। पृथापुत्रे अर्ज्जुने अश्विद्वारा असद्द्वारेण (स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः-

अधो मैनाकस्य स्थितवति समस्तं समभवद्
धनुः कोटौ भङ्गस्तदुपरिगिरि स्तत्र जलधिः ॥६८॥

गेहे गेहे कति कति सदैकान्तदेशेषु शय्याः
त्वत्सङ्गार्थं सुभग न तया कारयित्वोज्झिता स्ताः।
स्थाने स्थाने कति कति नच ग्रन्थयः पक्ष्मलाक्ष्या
कर्पूरस्योज्ज्वलफणिलता पत्रयुक्ता न मुक्ताः ॥६९॥

लीलालोलाकलनकुशलः स्फीत पीताम्बरश्री
र्लोक प्राणामृत वितरिता भास्वराम्भोजघोषः।
उष्णा मुष्णन्न शुभमवने स्तूर्ण पूर्णाऽभिलाशः
स्वप्ने दृष्ट स्तरुण तुलसीभूषणो नीलमेघः ॥७०॥

इत्यमरः) फणिपतिभुवम् नागराजभूमिम् असुरान् दैत्यान् हन्तुं प्रयाति सति। किंविधे पृथापुत्रे ? चापे धनुषिप्रथितायाः सुमनसः पुष्पाणि तत्र लीनः मधुपो भ्रमरो यस्येति तस्मिन्। पुनः किंविधे ? मैनाकस्य अधःस्थितवति। समस्तम्-इति पूर्व्वोक्तैव समस्या ॥ ६७ ॥

कस्याश्चिद् विरहविधुराया नायिकायाः सखी तत् प्रियं प्रत्याह—गेहे-इति। गेहे गेहे गृहे गृहे। हे सुभग ! इति सम्बोधनम्। तया नायिकया, सदा निरन्तरम् एकान्तम्, देशेषु प्रदेशेषु, कति कति ताः शय्याः कारयित्वा न उज्झिता ? अपि तु उज्झिता एव। पक्ष्मलाक्ष्या तया स्थाने स्थाने ग्रन्थयः बद्धाः (ग्रन्थिस्तु ग्रन्थिपर्वणोर्ना बन्धे-इति मेदिनीकरः, कति नेति विशिष्टमव्ययम् किञ्चनेति वत् वीप्सायां द्विरुक्तिः) न मुक्ताः उत्सृष्टाः किन्तु उत्सृष्टाः किंविधाः कर्पूरस्य ग्रन्थयः ? उज्ज्वलानि निर्मलानि फणिलतानां नागवल्लीनां पत्राणि पर्णानि तद्युक्ताः ॥६९॥

लीलेति। मयेति कर्तृपदमाक्षेप्यम्। तरुणा या तुलसी तद्भूषणः नीलमेघः (नीलमेघ इवेत्युपमा) श्रीकृष्णः स्वप्ने दृष्ट इत्यन्वयः। किंविधः कृष्णः? लीलायां क्रीड़ायां लोलाश्चञ्चलाः तासामाकलनम् आलिङ्गनादि तत्र कुशलः, स्फीता निर्मला पीताम्बरश्री यस्येति, लोकप्राणानाम् अमृतम् मोक्षः तद्वितरिता दातेत्यर्थः (शेषषष्ठ्यात्र समासः ; भास्वरः कान्तिमान् यः अम्भोजः शङ्खः तस्य घोषः शब्दो यस्मिन् (घोषो गोपरवा-ऽऽभीरपल्ली-कांस्येषु-इति महीपः), भास्वरः अम्भोज-

शालग्रामोपरिविनिहितं
श्यामलाङ्ग्याः कराब्जम्,
वीक्ष्यैकस्याः समुचितवरं
पूजयालब्धुमिच्छोः।
एवं जाने मृदु-भुज-शिर
श्चुम्बिताटङ्कलक्ष्म्याः,
भृङ्गे पद्मं कमलमुकुले-
नालमस्मिन् मृणालम् ॥ ७१ ॥

घोषो यस्येति वा, भास्वरः दीप्तिमान् अम्भोजइव कमलवत् घोषो गोपानन्दाख्यो येनेति वा, घोषः गोकुलमिति वा, अवनेः पृथिव्याः अशुभम् अकल्याणम् उष्णम् तीव्रम् उष्णम् दूरीकुर्व्वन् सन्, तूर्णं शीघ्रं पूर्णाः अभिलाषाः मनोरथाः यस्येति। मेघपक्षे—लीला स्वभावः तेन लोला चञ्चला विद्युत् तस्याः आकलनम् तत्र कुशलः ; स्फीतं यथा तथा पीता आच्छादिता अम्बर श्री व्योमशोभा येनेति (अम्बरं व्योम्नि वाससि-इत्यमरः) लोकानां प्राणभूतं यदमृतम् उदकम् तस्य वितरिता दाता (पयः कीलालममृतम्-इत्यमरः) भास्वरः अम्भसः जातः तथा घोषो यस्मिन् ; अशुभं विन्द्यम् उष्णम् तापम् उष्णन् तूर्णं पूर्णाः अभिलाषाः कामाः यस्मात् (कामोऽभिलाषस्तर्षश्च-इत्यमरः) ॥ ७० ॥

शालेति। अहमेवं जाने—किं कृत्वा ? एकस्याः श्यामलाङ्ग्याः कराब्जं वीक्ष्य। किं विधं कराब्जम् ? शालग्रामस्योपरि विनिहितं स्थापितम्। किं विधायाः श्यामलाङ्ग्याः ? पूजया समुचितं यथायोग्यं वरं लब्धुं प्राप्तुम् इच्छोः, इच्छतीतीच्छुः सकामाया इत्यर्थः। पुनः किं विधायाः ? मृदुः कोमलः यो भुजः तस्य शिरः उपरिभागः स्कन्धः, तत्र चुम्बिनी लग्ना, ताटङ्कलक्ष्मीः कर्णभूषाशोभा यस्याः सा तथा तस्याः। कथमेवम् ? इत्यत आह—भृङ्गे भ्रमरे पद्मम्-इत्यनेन शालग्रामस्य भृङ्गता, श्यामत्वात् ; करस्य च पद्मत्वम् ; कमलमुकुलेनालमित्यनेन करपद्मनालं भुज इति ; अस्मिन् मृणालम्-इत्यनेन अस्मिन् भुजनाले मृणालत्वम्। ताटङ्कस्येति वैपरीत्योपचिता समस्या। मृणालं विसम्-इत्यमरः) ७१ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

९

(मू०)यावन्न विन्दते जायां तावदर्द्धोभवेत् पुमान्। यन्न वालैः परिवृतं श्मशानमिव तद्गृहम्॥ १

(टी०)'यावत्' 'पुमान्' पुरुषः 'जायां' 'न विन्दते' न लभते' 'तावत्, 'अर्द्ध' असर्व्वः 'भवेत्' भवति। 'यत्' गृहं 'वालैः' बालकैः गृहाभरणभूतैः 'न' 'परिवृतं' न सुसज्जीकृतं 'तत् गृहं' 'श्मशानं इव॥ १

(ता०) प्रजाकामः परमेश्वरः स्त्रियः पुरुषांश्च ससर्ज। तदीयशुभसङ्कल्पंप्र परिलक्ष्य पवित्रोद्वाहबन्धनेन मिथः सम्मिलिता भवेयुः; नैतत् तस्यानभिप्रेतत्वेन विनिश्चयेयुः। वालकवालिकयोः पितुर्मातुश्च हृदयानन्दो गृहस्य च भूषणं—विवाहवन्धनस्यैष एव पवित्रः पुरस्कारः॥१॥

१०

(मू०)प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हागृहदीप्तयः। स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥ २

(टी०) 'प्रजनार्थं' अपत्योत्पादनार्थं एताः स्त्रियः 'महाभागाः' बहुकल्याणभाजनभूताः 'पूजार्हाः' सम्मानार्हाः 'गृहदीप्तयः' गृहशोभाकारिण्यः। 'स्त्रियः श्रियः च गेहेषु' तुल्यरूपाः 'न' अनयोः 'विशेषः अस्ति' कश्चन' कश्चिदपि। यथा निःश्रीकं गृहं न शोभते' एवं निःस्त्रीकं इति॥ २

(ता०) स्त्रियः पुरुषाश्च उभावेव परमपितुः परमेशस्य स्वं स्वाशीर्वादभाजनत्वेन तुल्यौ। परन्तिमं संसारमागत्य येन यथा कार्य्यभारो वहनीयः सर्व्वदर्शीमङ्गलस्वरूपः स ईश्वरः तं तथैव शरीरं मनश्च; ज्ञानं भावश्च; धर्मं भूषणञ्च प्रददौ। स्त्रियो गर्भधारणशिशुपोषणादिकं करिष्यन्ति, अतः सोऽखिलमाता परमेश्वरेण स्वीयसुकोमलमातृभावैः ताः निर्माय गृहश्री स्वरूपाश्च निर्द्धारिताः। अतस्ताः प्रति यत्नम्, समादरम् सन्तोषञ्च प्रदर्शयेत्॥२॥

११

(मू०)सर्व्वावयवसम्पूर्णां सुवृत्तामुद्वहेन्नरः। क्रयक्रीता च या कन्या पत्नी सा न विधीयते॥ ३

(टी०) सर्व्वावयवसम्पूर्णां' 'सुवृत्तां' सुशीलां कन्यां 'नरः' 'उद्वहेत्' परिणयेत्। 'या' 'च' 'कन्या' 'क्रयक्रीता' क्रयेण मूल्येन क्रीतेति 'सा' 'पत्नी' 'न विधीयते'॥ ३

(ता०) सर्व्वावयवसम्पन्नां साधुशीलां स्त्रियमुद्वहेत्। रुग्नाया अङ्गहीनाया वा दुश्चरित्रायाश्च पाणिग्रहणं न कुर्य्यात्। ये पुरुषा याश्च नार्य्यः चिररुग्नाः विकलाङ्गा वा, ते तस्य मङ्गलस्वरूपस्य प्रजापतेः प्रजावर्द्धने स्वाननधिकारिणो विवेचयेयुः किञ्चतस्य अपरं सहस्रप्रकारं प्रियकार्य्यमस्ति ताननुतिष्ठन्तो धर्मसाधने नियुक्ताः स्युः; असंयताः सन्तः संसारेऽत्र रोगशोकादिकं न विस्तारयेयुः। स्त्रीषु पुरुषेषु वा कस्मिंश्चित् चारित्र्यहीने भूते अशेषाण्यमङ्गलानि समुत्पद्येरन्; अतः परस्परमन्योन्यसुशीलतामवगत्य विवाहवन्धनेनावद्धः स्यात्। पुरुषाः खलु मूल्यै र्न हि पत्न्यः क्रियेरन्, यतो न तत् धर्मानुमोदितम्॥३॥

१२

(मू०)अन्योन्यस्याव्यभिचारोभवेदामरणान्तिकः। एष धर्म्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ ४

(टी०) भार्य्यापत्योः 'अन्योऽन्यस्य' परस्परस्य 'आमरणान्तिक' मरणान्तं यावत् तावत् धर्म्मार्थकामेषु 'अव्यभिचारः' 'भवेत्'। 'एष' 'स्त्रीपुंसयोः 'परः' प्रकृष्टः 'धर्म्मः' 'समासेन' संक्षेपेण 'ज्ञेयः' ॥४॥

(ता०) पत्नी पतिश्च धर्म्मे, सांसारिककार्य्ये, भोगेऽथवा न मिथोऽतिक्रामेत्; पत्नी स्वामिनः सहधर्म्मिणी, सहकर्म्मिणी, सहभोगिनी भवेत्। धर्म्मकार्य्ये परस्परपार्थक्यमेव धर्म्मविषयको व्यभिचार उच्यते। सांसारिककार्य्ये परस्परभिन्नमतोऽर्थविषयकव्यभिचारः; तेन चानेकानिष्टघटनाः समुत्पद्यन्ते। यदि पतिरन्यस्यां स्त्रियि पत्नीचान्यस्मिन् पुरुषे आसक्ता भवेत्, तर्हि तौ भोगविषयकव्यभिचारिणौ; भोगविषयकव्यभिचारएव सर्वाधिको दूषणीयः; यतोऽस्मादेव पापमपवित्रता चात्पत्तिमवाप्य व्यभिचारिणं धर्म्मात् परिभ्रष्टयति। यदि पुरुषोऽन्यां स्त्रियं स्त्री वान्यं पुरुषमासक्तचेतसावलोकयेदनुध्यायेद् वा, तर्हि तौ मानसिकव्यभिचारदोषेण दूषितौ। अतः स्त्रीन् पुरुषांश्च प्रति संक्षिप्तोपदेश एषः धर्म्मार्थकामविषये मिथो नातिक्रमेयुः, कायमनोवाक्यैः सर्वदा सर्वथा दाम्पत्यसम्बन्धमवश्यं प्रतिपालयेयुः ॥४॥

१३

(मू० तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ। यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्ताविरेतरम् ॥ ५

(टी०) 'स्त्रीपुंसौ' स्त्री च पुमांश्च तौ 'तु' 'कृतक्रियौ' कृतविवाहौ 'तथा' 'नित्यं' सर्व्वदा 'यतेयातां' यत्नं कुर्य्यातां 'यथा' धर्म्मार्थकामविषये 'वियुक्तौ' विच्छिन्नौ सन्तौ 'तौ' इतरेतरं परस्परं 'न अभिचरेतां' न व्यभिचरेतां ॥५॥

(ता०) पतिः पत्नीचोभयमेवव्यभिचारेभ्य आत्मानमति यत्नेन संरक्षेत्। परमेश्वरः कतमं शुभमभिप्रेत्य परस्परं कतमगुरुतरसम्बन्धेन सममीमिलत्, तदनुचिन्तनमन्तरे जागरूकमभिस्थापयेत्। दम्पत्योर्विशुद्धप्रेमा ईश्वरस्य प्रियः, प्रियश्च सर्वजगताम्; एवञ्च स दम्पत्योः कल्याणकरः, वंशस्य कल्याणकरः, समस्तजगतां कल्याणकरः; मिथो यत्नवन्तौ प्रभूय तमविरतं परिवर्द्धयेत्; मनस्यपि न तद्विरुद्धमाचरेत्। उभयोर्हृदयं, लक्ष्यं, सुखं, दुःखं च एकमेव भव्यम्, किञ्चा भावेवात्मानौ परमेश्वरेस्य सम्मिलितौ दासदास्यौ विविच्य सर्वान्तःकरणेन तदीयाज्ञां प्रतिपालयितुं चिरव्रतिनावुपतिष्ठेयाताम्। इन्द्रियसुखं तुच्छं जानीयात्, सामान्यमालपनं परित्यजेत्; यथा चैहिकं पारत्रिकञ्च मङ्गलं स्यात् तथैवालोचनां कुर्यात्। कार्यवशतः कर्हिचिद् परस्परे वियुक्ते देशान्तरस्थावुभावेव यत्नेनैतत्पवित्रदाम्पत्यव्रतं परिपालयेताम् ॥५

१४

(मू०)सन्तुष्टोभार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवं ॥ ६

(टी०) 'यस्मिन् एव कुले' 'नित्यं' भर्त्ता' 'भार्य्यया' 'सन्तुष्टः' 'तथा एव' 'भार्य्या' 'च' 'भर्त्रा' सन्तुष्टा 'तत्र' 'ध्रुवं' निश्चितं 'वै' अवधारणे 'कल्याणं' श्रेयः भवति ॥६॥

(ता०) भर्त्ता अपिच भार्य्या मिथः सम्प्रीतिं सन्तोषं च स्थापयितुं मिथः प्रीतौ प्रसन्नौ च स्यातुं यत्नशीलौ स्याताम्। यथा च परस्परस्यालाप आचरणञ्च परस्परस्य विरक्तिं न जनयेत् तथैव यतितव्यौ। न परस्परः उग्रतां प्रदर्शयेत, नच्चैकोऽपरं हीनं विद्यात्, नाप्येकोऽपरमविश्वसेत्। इतरेतरः प्रियमाचरेत् इतरेतरो हितमनुतिष्ठेयात्

इतरेतरः क्षमामवलम्बयेत्। उभौ सम्मिल्यैव संसारस्य हितचिन्तामुन्नति साधनञ्च कुर्याताम्। एकस्य मातरं पितरं च उभावेव मातृत्वेन पितृत्वेन च मन्येयाताम्, एकस्य भ्रातरं भगिनीञ्च उभावेव भ्रातृत्वेन भगिनीत्वेन च स्निह्याताम्, एकस्य सुखं दुखं, सम्पदं विपदं च उभौ परिवण्ट्य गृह्णीयाताम्; किञ्चोभावेव पवित्रतायाः शान्तेः शुभबुद्धेः धर्मस्य बलस्य च प्राप्तये तस्य मङ्गलमयविधातृ-पुरुषस्य शरणापन्नौ तिष्ठेयाताम्। यत्र परिवारेऽमूदृशौ दम्पती स्यातां तत्र किल सुखं शान्तिः कल्याणञ्च प्रचुरमभिवर्षेत्॥६॥

१५

(मू०) सा भार्य्या या पतिप्राणा सा भार्य्या या प्रजावती। मनोवाक्कर्मभिः शुद्धा पतिदेशानुवर्त्तिनी॥ ७

(टी०) 'सा भार्य्या' 'या' 'पतिप्राणा' 'पतिरेव प्राणोय स्येति 'सा भार्य्या' 'या' 'प्रजावती' सापत्या। सा भार्य्या या 'मनोवाक्कर्मभिः' 'शुद्धा' पवित्रा सती 'पतिदेशानुवर्त्तिनी' पत्युराज्ञानुसारिणी'॥ ७

(ता०) स्त्री स्वामिनं प्राणसममीक्षेत, वंशप्रतिष्ठार्थं सन्तानं कामयेत; चित्तेन पवित्रा स्यात्, विशुद्धकर्माण्यनुतिष्ठेत्; स्वामी प्रभुः सहि यत् किञ्चन ब्रूयात् तत् प्रीत्या प्रफुल्लतया च प्रतिपालयेत्॥७॥

१६

(मू०) छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्म्मसु। सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्य्येषु दक्षया॥ ८

(टी०) 'छाया इव अनुगता' 'स्वच्छा' विशुद्धा 'सखी इव हितकर्मसु'। 'सदा' 'प्रहृष्टया' हर्षयुक्तया 'गृहकार्य्येषु' 'दक्षया' कुशलया स्त्रिया 'भाव्यं' भवितव्यं॥८॥

(ता०) स्त्री धर्मार्थभोगविषये स्वामिनं स्वनेतारं प्रकृत्यच्छायेव तदनुगता स्यात्, तथा च तस्याः कोमलः स्वभावो विपद्भ्यः परिरक्षिता भविता; अतः सा स्वामिनं आश्रयतरुमात्मानमाश्रितलताञ्च विविच्यात्; परं स्वामिनो भ्रमप्रमादैरन्धीभूता सती कालं न यापयेत्, यत ईश्वर स्त्रस्यै अपि यथेष्टां विचारधीषणां दत्तवान्। अतो हितकारिणी सखीव स्वामिनमहितविषयाद् विनिवर्त्तयेत, अपिच सत्कर्मसाधने मन्त्रिणी भवेत्, किञ्च तस्य शरीरं मनश्च सुस्थमारक्षितुं यत्नवती तिष्ठेत्। स्वयं च शरीरपरिच्छदादिभिरन्तःकरणेन च निर्मला स्यात्। प्रफुल्लहृदया सती गृहकर्मणामनुष्ठाने व्यापृता तिष्ठेत् किञ्च तत्र सुनिपुणा भवितुं चिरं यतेत॥ ८।

१७

(मू०) न केनचित् विवदेच्च अप्रलापविलापिनी। न चातिव्ययशीला, स्यात् न धर्म्मार्थ विरोधिनी॥ ९

(टी०) 'न' 'च' 'केनचित्' सह 'विवदेत्' विवादं कुर्य्यात् 'अप्रलापविलापिनी' न अनर्थकथनशीला। 'न च अतिव्ययशीला स्यात्' 'न धर्म्मार्थविरोधिनी' भवेत्॥९॥

(ता०) यत्र परिवारे द्वेषेर्ष्या विषादादयः प्रविशन्ति—सुखसन्तोषादयस्ततः पलायन्ति, अपि च स परिवारस्त्वरितमेव ध्वंसः समुपजायते। अतो गृहिणी तत्र सतर्का तिष्ठेत्, यथा परिवारवर्गेषु शान्तिः स्यात् तथोपायं विदध्यात्, सर्वैः सह न्यायानुगतं व्यवहरेत्, किञ्च सर्वेषां कल्याण

मभिकांक्षयेत्। असारकथां परित्यज्य मितभाषिणी भवेत्. येन येन वाक्येन लज्जाघृणावा जायेत अथवा यद्द्वारा अन्यस्मत्वभिप्रायो गम्येत, तदेतत् त्रिविधमश्लीलवाक्यं परित्यजेत्; सारवन्मधुर-वाक्यै; सर्वान् सम्भाषयेत्। न काप्यनावश्यकं व्ययं कुर्यात् अपि च आवश्यकं व्ययितुं न हि सङ्कुचिता भवेत्। यथा च धर्मस्य सांसारिक-कार्यस्य वा व्याघात उत्पद्येत, तादृश्याचरणे तादृश्यामोद-प्रमोदे च आसक्ता न स्यात् ॥८॥

१८

(मू०) पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा संयतेन्द्रिया। इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुपमं सुखं॥ १०

(टी०) 'पतिप्रियहिते युक्ता' पत्युः प्रिये हिते च कार्य्ये नियुक्ता 'स्वाचारा' शोभनाचारा 'संयतेन्द्रिया' नियतेन्द्रिया' च सती। 'इह' जीवन्ति 'कीर्त्तिं' यशः 'अवाप्नोति' प्राप्नोति 'प्रेत्य' परलोके 'अनुपमं' निरुपमं 'सुखं' 'च' ॥१०॥

(ता०) स्वामिनो हितकारिणीं प्रियकारिणीं, सदाचारामपि च जितेन्द्रियां स्त्रियं प्रति यथा मनुष्याः सन्तुष्टा भवन्ति, सर्व्वदर्शीश्वरोऽपि तथैव प्रसन्नो भवति साध्वीहिकं पारत्रिकञ्च मङ्गलमवाप्य कृतार्थ्या भवति, किञ्च तदीयाखिलकीर्त्तिः पृथिव्यामन्यान्यस्त्रीभ्यः साधुकर्म्मसूत्साहं प्रदत्ते ॥१०

१९

(मू०) स्त्रीभिर्भर्त्तृवचः कार्य्यं एषधर्म्मः परः स्त्रियाः। सद्वृत्तचारिणीं पत्नीं त्यक्त्वा पतति धर्म्मतः॥ ११

(टी०) 'स्त्रीभिः' साध्वीभिः 'भर्त्तृवचः' पतिवाक्यं 'कार्य्यं' 'एषः' 'स्त्रियाः' 'परः' प्रकृष्टः 'धर्मः'। 'सद्वृत्तचारिणीं सदाचारशीलां' 'पत्नीं' 'त्यक्त्वा' 'धर्मतः' 'पतति' पतितोभवति ॥११॥

(ता०) पत्नी पतिवाक्यं प्रतिपालयेत्। पतिः स्त्रियं तत्स्वाभाविकमृदुतां निरपेक्ष्य कठोरं नानुरुन्ध्यात्। तस्याः शारीरिकं मानसिक माध्यात्मिकञ्च कल्याणं साधयितुं यत्नवान् स्यात् तां सदुपदेशं श्रावयेत्, साधुदृष्टान्तं प्रदर्शयेत्। प्रीत्या समादरेण च तां प्रतिपालयेत् अपिचात्म-धर्मार्थभोगविषये सहभागिनीं कुर्यात्। यः साध्वीं स्त्रियं प्रार्थयति स स्वयं सत्पतित्वमवलम्बयितुं यतेत। साध्वीं स्त्रियं परित्यज्य स्थिते धर्मोल्लङ्घनं कृतं स्यात्, अतः पुरुषः साध्वीं स्त्रियं न परित्यजेत् ॥ ११ ॥

२०

(मू०) सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियोरक्ष्याविशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥ १२ ॥

(टी०) 'सूक्ष्मेभ्यः अपि' स्वल्पेभ्योऽपि 'प्रसङ्गेभ्यः' दुःसङ्गेभ्यः 'विशेषतः' विशेषेण 'स्त्रियः' 'रक्ष्याः' रक्षणीयाः किं पुनर्म्महद्भ्यः। 'हि' यस्मात् 'अरक्षिताः' सत्यः 'द्वयोः' कुलयोः' पितृभर्त्तृ-कुलयोः 'शोकं' सन्तापं 'आवहेयुः' दापयेयुः ॥१२॥

(ता०) यत्र असाधुदर्शनम्, यत्र असाधुश्रवणेन मनसोऽसाधुत्वं सम्भाव्येत, यैश्चामोदप्रमोदादिभिर्धर्म्मभावो मालिन्यमुपगच्छति, यत्र हि पाप लोभनं मनोविचलयति, तत्रावस्थिति र्न कार्य्या। यांस्वपवित्रतामोदयति, ये चापवित्रतायां मग्नास्तिष्ठन्ति, तेषां संसर्गो विषवत् परित्याज्यः, पातिव्रत्यधर्मे यासामनुरागो नास्ति, तासां स्वभावोऽतीव भयावहः। तदेवमादेर्दुःस्थानात् दुःसङ्गात् स्त्रियो यत्नेन रक्षणीयाः। पापसंसर्गात् पापासक्ति रुत्पद्यते ॥ १२ ॥

प्रत्नकम्रनन्दिनी

मासिकपत्रिका।

प्रत्नाख्यकाम्रकरणात्यलिप्सुप्राकरणमिमं समग्रात्मिमन्नम्। बोधाग्निवेद्यम्भननेन मान्यं वन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सठीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।

राजतादृशी सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्तराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [January, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२८ सङ्ख्या

The Hindu Commentator may be ordered of the Proprietor, Benares, or through Messrs. Trubner & Co., London, his European Agents.

এজেণ্ট—শ্রীযুক্ত বাবু চণ্ডীচরণ চট্টোপাধ্যায়; কলিকাতা, সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়, নং ২৪ সুকিয়া ষ্ট্রীট।

वैदिकसमालोचना।

(२७ संख्याया अनन्तरम्)

अरण्यगानम्—अर्क, द्वन्द्व, व्रत-इत्येतैः त्रिभिः पर्वभिः, षट्प्रपाठकैः, (२९०) नवत्युत्तरद्विशत-सामभिर्विभक्तम्। एतद्धि अरण्यमिव दुर्गममत-एवारण्यमुच्यते। एतदीय-साम्नाम् उच्चारण-स्वर रक्षण-गलकम्पनादिकम् अत्यायाससाध्यम्; गान-मेतद् यावदुच्चैर्जनसंघेन च पाठ्यं भवेत्, ताव-देव सौश्राव्यं व्यक्तस्वरताञ्च यायात् किञ्चै-तत्पाठो बलमनेकपाठकैकताञ्चापेक्षते। अपर-मपि—अस्माभिर्गुरु-परम्परया श्रुतमेतत्—एतत्पठन-मरण्ये सिंह-गर्जनञ्चोभयं तुल्यम्—गुर्विण्यन्तिके बहुवैदिकैरकस्मादस्यैकस्मिन्नपि सामन्यत्युच्चै-र्घोषिते गर्भस्यापि पात-सम्भवः—'बाग्घ ह ह ह ह-इत्यादि (१) सामपाठात् व्याघ्रादेः अभाइ-माहे'-इत्येवमादि (२) सामपाठात् सर्पादेश्च महा-रण्येऽपि त्राणमाप्यते—अतएवैतदरण्यमुच्यते-इति। एतद्गानाध्ययनाध्यापनप्रथा, गेयगानतः पृथक् सर्वथा; अत्र प्रायः सर्वेषामेव साम्ना-माद्यभाग एवान्त्यभागत्वेन श्रूयते, मध्ये निहित-मन्त्र-स्वरूपञ्च, अंशशस्त्रिरावृत्तञ्च प्रायशः (३)।

(१) पञ्चमप्रपाठकस्य शेषार्द्धभागीय-विंशतितमं साम।

(२)-द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमाष्टौ सामानि, सर्पादिनामकानि।

(३) यथा—हाउ। ३। संत्वानोनवुः। ३। अनोनवुः। ३। मरुतः। ३। विश्वस्मात्। ३। (इति आद्यभागः) प्र-

(svara marks printed above: २र over हाउ; १ र २र over संत्वानोनवुः; १ र२ over अनोनवुः; १ over मरुतः; २र over विश्वस्मात्)

বৈদিকসমালোচনা।

(২৭ সংখ্যার পর)

অরণ্য গান—অর্ক, দ্বন্দ্ব, ব্রত--এই পর্ব্ব-ত্রয়ে, ৬ প্রপাঠকে ২৯০ সামে বিভক্ত। এই গ্রন্থ অরণ্যের ন্যায় দুর্গম এই নিমিত্ত ইহাকে অরণ্য বলা যায়। এ গানের সাম গুলির উচ্চা-রণ, স্বর-রক্ষণ, গল-কম্পনাদি অতিশয় যত্ন সম্পাদ্য; ইহা যত উচ্চৈঃ ও জনসঙ্ঘে পঠিত হইবে, ততই সুশ্রাব্য ও ব্যক্ত-স্বর হইবে; ইহার পাঠে বলও অধিক পাঠকের একতা নিতান্ত প্রয়োজনীয। আমরা গুরু পরম্পরা শ্রুত আছি—ইহার অধ্যয়ন ও অরণ্যে সিংহ গর্জন উভয়ই তুল্য—গুর্ব্বিণী-সন্নিধানে বহু-বৈদিক কর্ত্তৃক অকস্মাৎ ইহার কোন একটি সাম অত্যুচ্চৈর্ঘোষিত হইলে গর্ভপাৎ হওয়াও আশ্চর্য্য নহে—অরণ্যানীতে উপস্থিত, বিপদা-পন্ন ব্যক্তি, "বাগ্ঘ হহহহ"—ইত্যাদি(১) সাম পাঠ করিয়া ব্যাঘ্রাদির নিকটে এবং "অভাই মাহে"—ইত্যাদি(২) সাম পাঠ করিয়া সর্পাদির নিকটে ত্রাণ পাইতে পারে—এই নিমিত্ত ই-হাকে 'অরণ্যগান' বলা যায়। এই গানের অধ্যয়ন-অধ্যাপনা-প্রথা গেয়গান হইতে সর্ব্ব-থা পৃথক্; ইহাতে প্রায় সকল সামেরই আদি ভাগই অন্ত্যভাগ, মধ্যে মূল মন্ত্র, এবং প্রায়

(১)—পঞ্চম প্রপাঠকের শেষার্দ্ধের বিংশতিতম সাম।

(২)—দ্বিতীয় প্রপাঠকের সর্পাদি নামক প্রথম ৮ সাম।

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी। कलिकातायां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

अस्तिचात्र पूर्व-गान-स्रुतमपि किञ्चित् साम, किन्तु तदिह पारिषत्कृति-व्यतिक्रमेण गीयते। गेय-गानमध्याप्यैवेममध्यापन्त्याचार्य्यास्ततोऽसौ द्वितीय-गानमित्याख्यायते। अस्य प्रथमभागस्य साम्ना-मर्क्को देवता, अतः सोऽर्कपर्व्वेति प्रसिद्धः, तत्र सन्त्यष्टाशीति (८८) सामानि; द्वितीयभागे द्वयो-र्द्वयोः साम्नोरेकै कै वाख्येति सद्वन्द्वपर्वेत्युच्यते, तत्र सन्त्यष्टाधिक-सप्तति (७८) सामानि; शेषभागे हि 'वाचोव्रतम्'-इत्येवमादीनि व्रतपाठ्य सामानि (४) सतानि, अतो व्रतपर्वेति सोऽभिधीयते, तत्र चतुर्विंशत्यधिकशत (१२४) सामानि सन्ति। अस्य द्वितीयप्रपाठक-प्रथमार्द्धे द्वाविंशतिसामानन्तरम् एका ऋक्, तदव्यवहितम् तत्पदपाठः श्रूयते; गान-ग्रन्थ-मध्ये ऋक्, पदपाठो वा न कथमपि सम्भवति, अत्रैतदन्यत्र गानान्तरेच नैवं क्वापि दृश्यते; अत्रैवं घटनायाः कारणमस्माभिर्ब्बहुनु-सन्धानेनापि नोपलब्धम्, अपिच ग्रन्थे साम-संख्यया गृहीतमिति। वयमपि सामत्वेव परिगणितं हि तद्वयम्। एतदीयसाम्नांगृह्ये (५) बहुत्र प्रयोग दृश्यते, ब्रह्मयज्ञपाठे तु एतत् षष्ठ-प्रपाटक-परार्द्ध-गत-सामानि यथायथं शेषभाग-त्वेन परिगृह्यन्ते।

প্রত্যেক অংশই ত্রিরাবৃত্ত (৩)। আচার্য্যেরা গেয় গান অধ্যয়ন করাইয়া পশ্চাৎ ইহা অধ্যয়ন করাইয়া থাকেন, এই নিমিত্ত ইহা দ্বিতীয় গান নামে প্রথিত। ইহার প্রথম ভাগের সামগুলির 'অর্ক' দেবতা, এই নিমিত্ত ঐ ভাগকে 'অর্কপর্ব্ব' বলা যায়, ঐ পর্ব্বে ৮৮ সাম আছে; দ্বিতীয় ভাগে দুই দুই সামের এক এক নাম, অতএব উহাকে 'দ্বন্দ্বপর্ব্ব' বলা যায়, ঐ পর্ব্বে ৭৮ সাম আছে; শেষ ভাগে 'বাচোব্রত'—প্রভৃতি ব্রত-পাঠ্য(৪) সাম সকল আছে, অতএব উহাকে 'ব্রতপর্ব্ব' বলা যায়, ঐ পর্ব্বে ১২৪ সাম আছে। এই গানের দ্বিতীয় প্রপাঠকের প্রথমার্দ্ধে ২২ সামের অনন্তর একটি ঋক্ আছে ও তদব্যবহিতেই উহারই পদ পাঠ আছে, গান-গ্রন্থের মধ্যে ঋক্ অথবা পদ পাঠ কোন রূপেই সম্ভাবিত নহে এবং ইহাতেও অন্য কোন স্থলে, অথবা গানান্তরে কুত্রাপি এরূপ দেখা যায় না, এ স্থলে ঈদৃশ ঘটনার কি কারণ? আমরা বহু অনুসন্ধান করিয়াও বুঝিতে পারিলাম না, অপরঞ্চ গ্রন্থমধ্যে ঐ দুইটি সামসংখ্যায় গৃহীত হইয়াছে(৫)—তদ্দৃষ্টে আমরাও সাম সংখ্যাতেই পরিগণিত করিলাম। ইহার ষষ্ঠ প্রপাঠকের অন্তিমার্দ্ধ, ব্রহ্ম যজ্ঞ পাঠের শেষ ভাগ রূপে যথানুপূর্ব্বী গৃহীত হইয়া থাকে। গৃহ্যকর্ম্মে(৬) অধিকাংশ অরণ্যগানের সামই বিনিযুক্ত দেখা যায়।

र १ २ १ २ १ २ ३र
इन्द्राय बृहाताई। हाताई। हाताई। हाउ। ३।
र १ २ १ २ १ २ २
मरुतो ब्रह्म अर्च्चाता। चाता। चाता। हाउ। ३।
र १ २ १ २ १ २ २र
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्राटूः। क्राटूः। क्राटूः। हाउ।
र १ २ १ २ १ २
३। बज्रेण शत पर्वाणा। र्वाणा। र्वाणा। (इति
२र १ र २र १र
मध्यभागः) हाउ। ३। संत्वानो नवुः। ३। अनो
२ १ २र
नवुः। ३। मरुतः। ३। विश्वस्मात्। २। वाइश्वस्मा
५र र ३१११११
२३४ औ हो वा। ई २३४५ (इति अन्त्यभाग)
५ प्र०२ अ० ६ सा०।

(४)-व्रतशब्देनात्र वैदिकव्रतो बोध्यः, तथाहि—'वचामेतेन कल्पेन वाचो व्रतेन पूर्वेण प्राश्नीयाच्छ्रुतनिगादी भवति'-इति श्रुतनिगदनव्रते 'वाचोव्रत'-साम-विनियोजकम् सामविधान-ब्राह्मणम्। एवं पयोव्रतादौ 'ईखयन्ती'-इत्येवमादीनां साम्नां विनियोगः सामविधान-ब्राह्मणादि-गम्योऽनुसन्धानेनोपलभ्यः।

(५)-कर्म द्विधा—श्रौतम्, गृह्यञ्च; तत्र अग्निहोत्रादिकं श्रौतम्, परिणयादिकं गृह्यम्।

২র ১র২র ১র২
(৩)—যথা—হাউ। ৩। সন্ত্বানোনবুঃ। ৩। অনোনবুঃ। ৩।
১ ২র
মরুতঃ। ৩। বিশ্বস্মাৎ। ৩। (এইটী আদি ভাগ) প্রব
র ১২ ১২ ২২ ২র
ইন্দ্রায় ব্রহাতাই। হাতাই। হাতাই। হাউ। ৩। মরু-
র ১২ ১২ ১২ ২র
তো ব্রহ্ম অর্চ্চাতা। চাতা। চাতা। হাউ। ৩। ব্রত্র হন-
র ১২ ১২ ১২ ২র য়
তি ব্রত্রহাক্রাতূঃ। ক্রাতূঃ। ক্রাতুঃ। হাউ। ৩। বজ্রেণ
১২ ১২ ১২ ২র
শতপর্ব্বাণা। র্ব্বাণা। র্ব্বাণা। (এইটি মধ্যভাগ) হাউ।
১র২র ১র২ ১
৩। সন্ত্বানোনবুঃ। ৩। অনোনবুঃ। ৩। মরুতঃ। ৩।
২র ২র ৫রর ৩ ১ ১ ১ ১
বিশ্বস্মাৎ। ২। বাইশ্বস্মা ২৩৪ ঔহোবা। ঈ ২ ৩ ৪ ৫
(এইটি অন্ত্যভাগ) ১প্র০২অ০৬সা০।

(৪)—এ স্থলে ব্রতশব্দে বৈদিকব্রত। কোন্ ব্রতের কোন্ সাম তাহা 'সামবিধান' ব্রাহ্মণাদিতে অনুসন্ধান করিলে সবিশেষ জানা যায়, যথা—শ্রুতনিগদন ব্রতে 'বাচোব্রত' সাম বিনিযুক্ত হয়, পয়োব্রতে 'ঈঙ্খয়ন্তি' প্রভৃতি সাম বিনিযুক্ত হয়, ইত্যাদি।

(৫)—কর্ম্ম দুই প্রকার—শ্রৌত ও গৃহ্য; অগ্নিহোত্রাদিকে শ্রৌত এবং পাণিগ্রহণাদিকে গৃহ্য বলা যায়।

तदेतत्तृतीयाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) किं द्रव्यगुणसंस्कारमात्रं शेषो ऽथवा फलम्। पुमान् कर्म च पक्षौ द्वा वादेयौ मतभेदतः॥ शेषत्वमुपकारित्वं द्रव्यादावाह वादरिः। पारार्थ्यं शेषता तच्च सर्वेष्वस्तीति जैमिनिः॥ ३॥

(टी०) स्फ्य-कपालादिकं द्रव्यम्, आरुणिमादिको गुणः, अवघात-प्रोक्षणादिकः संस्कारः—एतेषु त्रिष्वेव शेषत्वम्; स्वर्गः फलम्, तत्कामी पुरुषः, दर्शपूर्णमासौ कर्म; नहि फलादीनां त्रयाणां शेषत्वमस्ति, उपकारित्वस्य शेषत्वलक्षणस्य फलादिष्वभावात्;—इति वादरेर्मतम्।

पारार्थ्यं तल्लक्षणमभिप्रेत्य फलादयोऽपि शेषाः—इति जैमिनेर्मतम्। तथाच त्रीणि सूत्राणि पठ्यन्ते—'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्,' 'फलञ्च पुरुषार्थत्वात्', 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्'-इति। तत्रोपकारित्वमतिव्याप्तम्, प्रधानभूते स्वामिनि गर्भदासोपकारित्व दर्शनात्(४)। तस्मात् जैमिनिमतमेव मुख्यसिद्धान्तः (५)॥ ३॥

इति तृतीयाधिकरणम्।

भूता शेषनिर्द्धारणा—सम्प्रति कः कस्य शेष-इति प्रकृतार्थमनुसरन् सामान्यत आह।

(सू०) तेषामर्थेन सम्बन्धः॥७॥

(वि०) 'तेषाम्' निर्वापादिरूपशेषाणाम् 'अर्थेन' प्रयोजनेन औषधादिना 'सम्बन्धः'; न येन केन चित् न च सर्वैः-इत्यभिप्रायः। यत्र क्रियमाणा निर्वापादयः उपकारेण प्रयोजनवन्तः स्युः तत्रैव तेषां कर्त्तव्यता, नान्यत्रेति निष्पन्नम्।

उक्तं विचार्य्य दृढयितुमाशङ्कते।

(सू०) विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च॥८॥

(वि०) यस्तु शेषत्वेन 'विहितः' अवहननादिः स व्रीह्यादेरेव धर्मः, अत्र नास्ति मानम्; अपितु 'सर्वधर्मः' 'स्यात्' स्यादेव आज्यादेरपि धर्मः। ननु आज्यादेरवहननादिकं न दृष्टोपकारि, यतश्च तद्धर्मः तच्छेषभूतः स्यात् इति चेन्न 'संयोगतोऽविशेषात्' अपूर्वेण संयोगस्य विशेषाभावात्, मास्तु आज्ये अवहननस्य दृष्टोपकारित्वं, विधिबोधितापूर्वजनकत्वेत्वस्य वोभयत्र तुल्यता-इति विधिसामर्थ्य लिङ्गात्तत्र भविष्यतीत्याशयः। 'प्रकरणाविशेषाच्च' अपिच नास्ति प्रकरणविशेषोपि, एकस्मिन्नेव दर्शपूर्णमासप्रकरणे सर्वेषां श्रुतत्वात्; एतेन प्रकरणादपि सर्वधर्मता प्राप्ता सर्वस्येति ध्वनितम्॥ ८॥

समाधत्ते।

(सू०) अर्थलोपादपकर्म स्यात्॥९॥

(वि०) अर्थस्य सम्भावितदृष्टप्रयोजनस्य तुषविमोकनादेः लोपात् अदर्शनात् व्रीह्याद्यन्यत्र आज्यादौ अवहननादिकम् अकर्म स्यात् अकरणीयमिति यावत्॥ ९॥

उक्तं प्रतिपादयति।

(सू०) फलन्तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात्॥१०॥

(वि०) 'चेष्टया' अवघातादिना 'सह' जायमानम् एव 'फलम्' तुषविमोकादिकं न्याय्यम्; 'विप्रयोगे' आज्यादौ 'अभावात्' दृष्टफलस्यादर्शनात् 'शब्दार्थः' शाब्दमेव फलमदृष्टरूपं किञ्चित् कल्प्यं 'स्यात्' सति दृष्टे चरितार्थे

(४) ननु परार्थः शेषः इत्युक्तेऽपि स्वामिनो गर्भदासोपकारित्वेन कुतो नाति व्याप्तिः? अत्राह-यस्तत्यन्तं परार्थः तं वयं शेष इतिब्रूमः, तथाच आत्मन एवोपकारार्थं सुपकरोति गर्भदासमिति न दोषः।

(५) द्रव्यगुणसंस्कारा यागं प्रति नियोगतो गुणभूताः इति वादरेर्मतमपि नान्याय्यमिति ध्येयम्।

तदन्याय्यम्। एवञ्च लिङ्गाभावोऽपि दर्शितः। तथाचात्र येन यस्य सम्बन्धः प्रत्यक्षः श्रुतः, तस्यैव स शेषः, तथाहि-'व्रीहीनवहन्ति'-इति व्रीहेरेवावहननम्, 'आज्यमुत्पवते'-इत्याज्यस्यैवोत्पवनम्;— इति सिद्धान्तः ॥ १० ॥

चतुर्थाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) श्रुता व्रीह्याज्यसान्नाय्यधर्माः साङ्कर्य्यगामिनः। व्यवस्थिता वा साङ्कर्यं फलापूर्वेण सङ्गतेः॥ अवान्तरापूर्वसत्वात् साक्षात् तेनैव सङ्गतौ। श्रुत्या व्यवस्थापितास्ते सा हि प्रकरणोत्तमा ॥४॥

(टी०) व्रीहिधर्माः—अवघात-प्रोक्षणादयः, आज्यधर्माः—उत्पवनावेक्षणादयः, सान्नाय्यधर्माः-दोहनातञ्चनादयः; ते सर्वे फलहेतुतया दर्शपूर्णमासा-पूर्वेण संगच्छन्ते, अवान्तरा पूर्वस्य कस्यचिदभावात्; एकेनैवा पूर्वेण फलसिद्धावपूर्वान्तरस्य कल्पकाभावात्। फलापूर्वप्रयुक्त्या चानुष्ठीयमाना धर्माः यस्मिन् कस्मिन्नपि द्रव्येऽनुष्ठिताः फलापूर्वं जनयन्त्येव।

इति साङ्कर्य्ये प्राप्ते, ब्रूमः—आग्नेयादयः षड्यागाभिन्नक्षणवर्त्तिनो विनश्वराः सम्भूय फलापूर्वं जनयितुं न शक्नुवन्ति; ततः तज्जननसमर्थानि आग्नेयादिजन्यानि षड़वान्तरापूर्वाणि कल्प्यानि तेषु पुरोडाश-द्रव्यकयागजन्यापूर्वं व्रीहिधर्माणाम् प्रयोजकम्, प्रत्यासन्नत्वात्, फलापूर्वं तु तेन व्यवहितम्। एवम् आज्यधर्माणाम् सान्नाय्यधर्माणाञ्च तत्तद्द्रव्यकयागजन्यावान्तरेणापूर्वेणैव साक्षात् सङ्गतिः। तथा सति तत्तदपूर्वप्रयुक्तसंस्काराः तत्तदपूर्वसाधनप्रकृतिद्रव्येष्वेव व्यवतिष्ठन्ते। ननु दर्शपूर्णमासप्रकरणमत्र संस्काराणां विनियोजकम् तच्च सर्वप्रकृतिद्रव्यसाधारणम्-इति तदवस्थमेव साङ्कर्य्यम्। अथोच्येत तुषविमोकस्य व्रीहिष्वेव सम्भवात् तेष्वेवावघातो नत्वाज्यसान्नाय्ययोः; एवं विलापनमाज्ये एव, दोहनादिकं सान्नाय्ये एव। बाढम्! दृष्टार्थानां धर्माणां व्यवस्थितत्वेऽप्यदृष्टार्थाः प्रोक्षणादयः संकीर्य्येरन्नेव—इतिचेत्—नैवम्, 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'आज्यमवेक्षते'-इत्यादि द्वितीयाश्रुत्या व्यवस्थापितत्वात्; श्रुतिश्च प्रकरणाद् बलीयसी। तस्माद् व्यवस्थिताः धर्माः ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाधिकरणम्।

सामान्यत उक्तं श्रुतेः शेषत्वनियामकत्वम्— इदानीम् द्रव्यादिक्रमेण दर्शयितुमादौ द्रव्यस्य शेषतां तावल्लक्षयति। तथाहि स्फ्य-कपालादीनि दशयज्ञायुधत्वेन श्रुतानि,तत्र आयुधस्य पारार्थ्यात् सिद्धं शेषत्वं परमुद्धननश्रपणादीनां सर्वेषामेव तानि सर्वाणि शेषभूतानि माभूवन्नित्यत्र तृतीयादिश्रुतेर्नियामकत्वमाह।

(सू०) द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत ॥११॥

(वि०) 'द्रव्यं' स्फ्यादि 'तदर्थमेव' उद्धननादिक्रियार्थमेव 'चोद्येत,' नहि सर्वं सर्वार्थम्; कुतः? 'उत्पत्तिसंयोगात्' 'स्फ्येनोद्धन्ति'-इत्याद्युत्पत्तिवाक्ये एव स्फ्यादीनाम् उद्धननादिक्रियाभिः संयोगात्। इत्थञ्च उद्धन्तीति सह स्फ्येनेति तृतीयाश्रुतिरेव स्फ्यस्य उद्धननक्रियायाः शेषत्वे मानम्, एवं कपालादिषु। निष्पन्नमेतत्—यच्चोक्तं स्फ्यश्चेत्यादि दशयज्ञायुधमित्यन्तम्, तत्र तृतीयादिश्रुतेरभावात् साङ्कर्य्यप्रसङ्गः। स्फ्येनोद्धन्तीत्यादिविधिवाक्य सत्वात् स्फ्यश्चेत्याद्यस्यानुवादत्वम्—इति सिद्धान्ते परिहृतं तत् ॥ ११ ॥

पञ्चमाधिकरणं स्फुटयति।

(अ०) द्रव्यस्य स्फ्य-कपालादेः साङ्कर्यं वा व्यवस्थितम्। यज्ञायुधत्वं सर्वेषां सम्मतेनात्र सङ्करः॥ वाक्यस्योद्धननादेः स्याद् वैयर्थ्यं सङ्करे सति। अनुवादोह्यायुधोक्तिर्व्यवस्था तेन पूर्ववत् ॥५॥

(टी०) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते 'स्फ्यश्च कपालानि

च अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या च उलूखलञ्च मुसलञ्च दृषच्च उपला च एतानि वै दशयज्ञायुधानि'-इति। स्फ्य-शब्देन खड्गाकारं काष्ठमुच्यते; अग्निहोत्रहवणी निर्वाप साधनं काष्ठपात्रम्; शम्या मुसलाकारकाष्ठम्। तत्र, व्रीह्यादिद्रव्येऽवघातादि संस्काराणां सांकर्ये निराकृतेऽपि स्फ्य-कपालादिद्रव्याणाम् उद्धनन-पुरोडाशश्रपणाद्यङ्गक्रियासु साङ्कर्यं निराकर्त्तुमशक्यम्, येन केनापि द्रव्येण यस्यां कस्यांचित् क्रियायां कृतायामपि श्रूयमानस्य यज्ञायुधत्वस्याविरोधात्; नह्यव्यवस्थामात्रेण यज्ञसाधनत्वमपैतीति।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—'स्फ्येनोद्धन्ति' 'कपालेषु श्रपयति' 'अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति' 'शूर्पेण विविनक्ति' 'कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति' 'शम्यया दृषदमुपदधाति' 'उलूखल-मुसलाभ्यामवहन्ति' 'दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि'-इत्येतेषां विशेषसंयोगबोधकानां वाक्यानां वैयर्थ्यं साङ्कर्यपक्षे प्रसज्येत। व्यवस्थापक्षेऽपि सम्बन्धसामान्यबोधकं यज्ञायुधवाक्यमनर्थकम्-इति चेत्—न, उद्धननादिवाक्यसिद्धार्थानुवादत्वात्। न च वैपरीत्येनोद्धननादिवाक्यानामेवानुवादत्वम्—इति वाच्यम्, बहुवैयर्थ्यस्य जघन्यत्वात्। न चात्यन्तं यज्ञायुधानुवादस्य वैयर्थ्यम् 'यज्ञायुधानि सम्भरन्ति'-इत्यासादनविधानोपयुक्तत्वात्। तस्मात् अवघातादिसंस्कारद्रव्यस्य कपालादिद्रव्याणि व्यवस्थितानि ॥ ५ ॥

इति पञ्चमाधिकरणम्।

द्रव्यस्य शेषत्वमुदाहृत्य गुणस्य शेषत्वमुदाहरति—

(सू०) अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्। १२।

(वि०) यत्र 'द्रव्यगुणयोः' 'ऐककर्म्यम्' तस्मात् 'अर्थैक्यम्' तत्र 'नियमः स्यात्' परस्परमवच्छेद्यावच्छेदकतया नियमः सिद्धोभवेत्। तथाहि—ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' अत्र अरुणयेति गुणश्रुतिः, पिङ्गाक्षी एकहायनी च द्रव्यश्रुतिः अनयोर्द्रव्यगुणयोः सोमक्रयरूपैककार्य्यार्थित्वादैककर्म्यम्, अन्यथा वाक्यभेदः प्रसज्येत, तस्मात् एकवाक्यतया प्रतीयमानत्वरूपमर्थैकत्वम्; अतः पिङ्गाक्षीमेकहायनीं मुक्त्वा नान्यत् द्रव्यं सोमक्रयसाधनम्, अरुणादन्यस्य न सोमक्रयसाधनस्य विशेषको गुणः-इति नियमः सिद्धः। एवञ्च अरुणगुणविशिष्टपिङ्गाक्ष्यैकहायनगवा सोमक्रयो विहित इति अरुणयेति क्रयक्रियायामुपयुक्तस्य गो-द्रव्यस्य शेषः, न प्रकरणोपात्तानां समस्तानाम् ॥ १२ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति।

(अ०) क्रीणात्यरुणयेत्येतत् सङ्कीर्णं वा क्रयैकभाक्। क्रयेणानन्वयात् कीर्णः सर्वद्रव्येषु रक्तिमा। द्रव्यद्वारा क्रये योगात् तद्भागे चान्वयः पुनः। साक्षात् क्रये गुणस्यार्थात् द्रव्ये सन्निहितत्वतः ॥ ६ ॥

(टी०) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति'-इति। तत्र अरुणशब्दो अरुणिमानं गुणमाचष्टे, गुणिविषयतया प्रयुज्यमानस्यापि 'नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धिः'-इति न्यायेन * गुणबोधकत्वात्; आकृत्यधिकरणन्यायेन † अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ‡ गुणमात्रे तद्व्युत्पत्तेश्च। तस्य चारुणिमगुणस्य तृतीयाश्रुत्या सोमक्रय-साधनत्वं प्रतीयते, तच्चानुपपन्नम्, अमूर्त्तस्य गुणस्य वासोहिरण्यादिवत्क्रयसाधनत्वासम्भवात्;

---

* नागृहीतविशेषणाबुद्धिर्विशिष्टमुपसंक्रामते-इतिन्याय-स्वरूपः।

† १अ० ३पा० १०अधि०।

‡ प्रथमाध्याय-तृतीयपाद-दशमाधिकरणे स्पष्टम्।

ततः तृतीयाश्रुतेर्विनियोजकत्वाभावेन प्रकरणस्यात्र विनियोजकत्वं वक्तव्यम्, प्रकरणञ्च ग्रहचमसाद्यखिलद्रव्येऽप्यरुणिमानं निवेशयति। न चानेन न्यायेन पिङ्गाक्ष्यैकहायनीशब्दार्थयोरपि सर्वद्रव्यगामित्वं शङ्कनीयम्, तयोः शब्दयोर्द्रव्यवाचित्वात्; पिङ्गलवर्णेऽक्षिणी यस्या गोः सा पिङ्गाक्षी, एवमेकहायनी; यद्यप्येक गोवाचिनौ शब्दौ तथापि विशेषणभूतधर्मभेदाच्छब्दद्वयम्, तच्च युगपत् प्रवृत्तं सत् धर्मद्वयविशिष्टं गोद्रव्यं क्रयसाधनत्वेन विदधाति। न चेतरद् द्रव्यमितरद्रव्ये निवेशयितुं शक्यम्। अरुणिमगुणस्तु द्रव्येषु विशेषणत्वेनान्वेतुं योग्यत्वात् तेषु निविशते, तत्रैवाक्षरयोजना—अरुणयेत्येतत् पृथक् वाक्यम्, तत्र तृतीयाश्रुत्या प्राकरणिकानि साधनद्रव्याणि सर्वाण्यनूद्य प्रातिपदिकेन गुणो विधीयते, यानि ज्योतिष्टोमे साधन द्रव्याणि तानि सर्वाण्यरुणानि कर्त्तव्यानीति, तस्माद् गुणसङ्कीर्णः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यप्यमूर्त्तो गुणस्तथापि हायनवदक्षिवच्च गोद्रव्यं व्यवच्छिनत्ति, तच्च द्रव्यं साधनमिति तद्द्वारा गुणस्य क्रयेणान्वयो भवति; एवं सति वाक्यभेदो न भविष्यति। ननु वाक्यभेदाभावे लक्षणा दुर्वारा? गुणवाचिनः शब्दस्य गुणिद्रव्यपरत्वाङ्गीकारात्—मैवम्, गुणस्यैवात्र तृतीयाश्रुत्या साधनत्वमुच्यते, तच्च द्रव्यद्वारमन्तरेण न सम्भवतीत्यर्थापत्त्या द्रव्यावच्छेदकत्वं कल्प्यते। तर्हि ग्रहचमसादि द्रव्यमपि अवच्छिद्यताम्? इतिचेत्—न, तस्य द्रव्यस्य क्रयसाधनत्वाभावेन तदवच्छेदेन गुणस्य श्रूयमाणक्रयसाधनत्वासिद्धेः। तर्हि 'वाससा क्रीणाति, अजया क्रीणाति'-इति वस्त्रादीनां क्रयसाधनत्वात् तदवच्छेदोऽस्तु-इतिचेत्—न, तेषां क्रयान्तरसाधनत्वात्; न हि तत्र अग्निहोत्रे पयोदध्यादिविकल्पवत् क्रयानुवादेन वस्त्रादिद्रव्यविकल्पो विधीयते, अनुवाद्यस्य क्रयमात्रस्य अग्निहोत्रवदन्यत्वाविधानात्; ततो वस्त्रादिद्रव्यविशिष्टाः क्रयान्तरविधयः; नहि स्ववाक्यगतैकहायनीद्रव्यमुपेक्ष्य वस्त्राद्यवच्छेदोयुक्तः, तस्मात् क्रयेण साक्षादन्वितयो र्द्रव्यगुणयोः पश्चादर्थापत्त्या परस्परावच्छेदकत्वेनान्वयः। तथा सति आरुण्यविशिष्टैकहायन्या क्रीणानीत्यर्थः पर्य्यवस्यति, तस्मादारुण्यगुणः क्रयहेतुमेकहायनीमेव भजते॥ १२॥

इति षष्ठाधिकरणम्।

संस्कारस्य शेषत्वमुदाहरति। तत्र पूर्वपक्षः—

(सू०) एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥ १३॥

(वि०) 'एकत्वयुक्तं' कार्यं संस्कारात्मकम् 'एकस्य' एकस्यैव शेषो भवतु, कुतः? 'श्रुतिसंयोगात्' तथैव श्रवणात्। तथाहि, ज्योतिष्टोमप्रकरणे—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' अत्र ग्रहम्-इत्येकवचनान्तश्रवणात् दशापवित्रेण (वाससः खण्डेन) सम्मार्जनरूपसंस्कारात्मकार्य्यम् एकत्वयुक्तम् एकस्यैव कस्यापि ग्रहस्य शेषः स्यात्, नतु सर्वेषां ग्रहाणाम्॥ १३॥

उत्तरपक्षः—

(सू०) सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम्॥ १४॥

(वि०) वेति पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। सम्मार्जनरूपसंस्कारात्मकार्य्यम् ग्रहमित्येकवचनश्रवणादेकत्वयुक्तमपि 'सर्वेषां' ग्रहाणाम् शेषः, कुतः? 'लक्षणत्वात्' (लक्षणं स्वरूपम् आकृतिरिति यावत्) स्वयं व्याचष्टे—'अविशिष्टं हि लक्षणम्' 'हि' यतः 'लक्षणम्' ग्रहाणां स्वरूपम् 'अविशिष्टम्' निर्विशेषम् ग्रहत्वेन सर्वेषामैक्यमिति यावत्। सर्वासां ग्रहव्यक्तीनामेकाकारतया इयं ग्रह-व्यक्तिः सम्मार्जनीया—इयं न इयं नेति विशेषेण परिज्ञातुमशक्यत्वात् आकृतिः पदार्थ इति सर्वे ग्रहाः सम्मार्जनीयाः-इति भावः॥ १४॥

रोहिण्याः सरुषः पदं नमसितुं
नाप्नोति यत्पङ्कज-
भ्रान्त्या तत्र चिरस्थितिं विदधतो
भृङ्गातिभाग्यं तव।
तत्पारम्परिकोपि मेऽस्तु विनयः
प्रोच्येति रोमाञ्चितः,
चन्द्रश्चुम्बति चञ्चरीक-चरणं
चञ्चच्चपेटाहतः॥ ७२॥

कूजत्येष रसाल-शाखि-शिखरे
प्रोल्लासयन् कामिनि!
कान्तः कामिनि-मानसं परभृतः
कोवा मुखं चुम्बति।
नास्मिन् मासि मृगीदृशः कृशतनो-
स्तन्मानमङ्गीकृतम्,
दूरीकृत्य कुरु प्रसादमधुना
प्राणेश्वरेऽनागसि॥ ७३॥

तर्त्तुं पर्वतसन्निभेन कपिना
ऽलाबूं कृतां वक्षसि,
क्षिप्रं वीक्ष्य निमज्जतीमथ नल-
सृष्टास्तरन्तीः शिलाः।
लोको नृत्यपरं बिभीषण-जनं
प्रेक्ष्याह सेतूद्यमे,
तुम्बी मज्जति सन्तरन्ति दृषदः
प्रेतो दिवा नृत्यति॥ ७४॥

रोहिण्या इति। चञ्चरीकस्य भ्रमरस्य (भ्रमरश्चञ्चरीकः स्याद्रोलम्बो मधुसूदनः—इति त्रिकाण्डशेषः) चरणं पादम्, चुम्बति स्पृशतीत्यर्थः किं कृत्वा? इति प्रोच्य उक्त्वा। इतीति किम्? हे भृङ्ग! सरुषः सकोपायाः रोहिण्याः पत्न्याः पदं चरणं नमसितुं नमस्कर्त्तुं (नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्—इति नमःशब्दात् क्यचि 'तुसुन् कस्येति विभाषा'—इति यलोपः) नाप्नोति न लभे। अहमित्यध्याहारः क्रियाबलात्। तव भृङ्गस्य अतिभाग्यमिति। किं विधस्य तव? तत्र रोहिणीपदे पङ्कजभ्रान्त्या कमलभ्रमेण चिरस्थितिं बहुकालवासं विदधतः सम्पादयतः। पुनः इतीति किम्? मे चन्द्रस्य विनयः नम्रता तत्पारं परिकोपि तत्र रोहिणीपदे पारम्परिकः परम्परासम्बन्धेन जातः स तथा अस्त्विति। यद्यपि साक्षाद्रोहिणीचरणे मत्संसर्गो न भवति तथापि त्वच्चरणसम्बन्धेन पारम्परिकः सम्बन्धः सुखजननो भवतीति भावः। अतएव किं विधः चन्द्रः? रोमाञ्चितः सात्त्विकभावसम्भावितः। पुनः किं विधः? चञ्चन् यश्चपेटः तेन आहतः निराकृतः॥७२॥

काचित् सखी नायिकामुपदिशति—कूजतीति। हे कामिनि! एषः परभृतः कोकिलः (वनप्रियः परभृतः कोकिलः-इत्यमरः) रसालः आम्रः यः शाखी वृक्षः (आम्र-चूतो रसाल इत्यमरः, वृक्षो महीरुहः शाखी-इत्यमरः) तस्य शिखरम् अग्रम् (शिरोग्रं शिखरम्-इत्यमरः) कान्तं सुन्दरं यथा स्यात् तथा कूजति शब्दं करोति। किं कुर्व्वन् सन्? कामिनीनां तरुणानाम् मानसं मनः प्रोल्लासयन् सन् आह्लादयन् सन्। कान्तमिति मानसविशेषणं वा, कान्त इति पाठे परभृत विशेषनम्। अस्मिन् मासि कोवा प्राणी कृश-तनोर्मृगीदृशः मुखं न चुम्बति? अपि तु चुम्बति तत्तस्मात् अङ्गीकृतं मानं दूरीकृत्य अधुना अनागसि निरपराधे प्राणेश्वरे भर्त्तरि प्रसादं कुरु। तम् मानम्-इति पाठे तम् अङ्गीकृतम् मानम्-इति व्याख्येयम्॥७३॥

तर्त्तुमिति। लोकः जनः सेतूद्यमे सेतु-प्रारम्भे इति प्राहेत्यन्वयः। किं कृत्वा? क्षिप्रं शीघ्रं निमज्जतीम् अलाबूं वीक्ष्य। किं भूताम् अलाबूम्? कपिना वानरेण तर्त्तुं पारं गन्तुं वक्षसि उरसि कृतां धृताम्। किं विधेन कपिना? पर्वतसन्निभेन शैलतुल्येन। अथ अन्यदित्यर्थः। नलः तन्नमा वानरः, तेन सृष्टाः स्वहस्तेन क्षिप्ताः याः शिलाः पाषाणाः तरन्तीः वीक्ष्य। नृत्यपरं विभीषणजनम् विभीषण एव जनः—इत्यनेन विभीषणेऽसाधारण्यं सूचितम्, विभीषणस्य जनः परिवारः इति वा तं प्रेक्ष्य। इतीति किम्? तुम्बी पर-तरण समर्था निमज्जति ब्रूडति। दृषदः शिलाः (पाषाणः प्रस्तर-ग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्-इत्यमरः। निमज्जन-स्वभावाः

इन्द्रो मानुष-भावमेत्य पतगो-
भूत्वा भवत्यं न्त्यजो-
राजा रङ्कदशामुपेत्य क्रमितां
गत्वा द्रुमो जायते।
खर्जूरः खदिरत्वमेत्य कदली-
काण्डे पुनर्लीयते,
संसारे बहु-जीव-योनि-गहने
धिक् कर्मिणां चेष्टितम् ॥ ७५ ॥

उन्मीलद्रदकौमुदीकमबला-
वक्त्रं निदानं मुदाम्,
आलोलालकवल्लिभास्वदलिकम्
प्राप्तं मुहुः पश्यताम्।
केषां चेतसि जायते न तदिदं
काकोल-कान्ति-च्छविम्,
राहुं चुम्बति चन्द्रमाः प्रतिदिनम्
मध्यन्दिनेऽधः स्थितः ॥ ७६ ॥

आराद्धुं किल तालकेश्वरमिता-
विद्येति याः कीर्त्तिताः,
आकाशे वनिता चतुर्दश दश-
ग्रीवास्त्रयो विंशतिः।
तत्रासन् गिरिशे प्रसेदुषि नख-
स्वस्सिन्धु-चन्द्रामल-
क्रोडेषु प्रतिबिम्बिताः सहजया
मूर्त्त्या च लङ्कापतेः ॥ ७७ ॥

तरन्ति। रक्षः (प्रेत इति वा पाठः) नक्तंचरं दिवा न्दत्यतीति ॥७४॥

इन्द्र इति। इन्द्रः (इदि परमैश्वर्ये) ऐश्वर्यवान् मानुष-भावं मनुष्यत्वं प्राप्य अनन्तरम् पतगो भूत्वा पक्षीभूत्वा (पतत्रि पत्रि पतगः इत्यमरः) अन्त्यजः शुद्रो भवति। राजा राजतेऽसौ तथा। रंक-दशां कृपण-दशाम् (रङ्कस्तु कृपणे मन्द इति मेदिनीकरः) उपेत्य प्राप्य क्रमितां कीटतां गत्वा द्रुमः वृक्षः जायते। खर्जूरः आस्वाद्य-फलो वृक्षः, खदिरत्वं कण्टकित्वमेत्य पुनः कदलीखण्डे कदलीसमूहे लीयते। संसारे कर्मिणां जीवानां जीवितम् धिक् दुःखायै वेति भावः। किं विधे संसारे ? बह्वः या-ः जीवयोनयः ताभिः गहने निविड़े ॥७५

उन्मीलदिति। अबलायाः योषितः (स्त्री योषिदबलेत्यमरः) वक्त्रं मुखं मुहुर्मुहः वारं वारं पश्यताम् अवलोकयताम् केषां पुरुषाणां चेतसि अन्तःकरणे तदिदं न जायते ? अपितु सर्व्वेषां पुरुषाणां चेतसीदं जायते। किन्तदित्याह — मध्यन्दिने मध्याह्ने (दिवामध्यं मध्यन्दिने चेति हैमः) प्रतिदिनं प्रतिदिवसम् अधःस्थितः चन्द्रमा राहुं चुम्बति संयोजयतीत्यर्थः। किं विधं राहुम् ? काकोलं विषं द्रोणकाको वा (पुंसि क्लीवे च काकोलकालकूट-हलाहला इत्यमरः, द्रोणकाकस्तु काकोल इत्यपि) तस्य कान्तिः तद्वत् तत्समाच्छवि र्यस्येति। किं विधं वक्त्रम् ? उन्मीलन्ती रदकौमुदी दन्त-ज्योत्स्ना यस्य तत्। पुनः किं विधम् ? मुदां हर्षाणां निदानम् उत्पादकम्। पुनः किं विधं वक्त्रम् ? आलोला किञ्चिच्चपला या अलकवल्लिः केश-लता तया भास्वान् दीप्तः अलिकप्रान्तः ललाट-प्रदेशो यस्य तत् तथा (वल्लिर्हस्वान्ता च ; वल्लेरिति ङः रायमुकुटोक्तेः, हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः, इति माघः ; ललाटमलिकमित्यमरः) अबलावक्त्रस्य चन्द्रत्वम्, आलोलालकवल्लेः श्यामत्वाम् राहुप्रसक्तिरित्युभयत्र समाहितमलङ्कारः ; 'यत्साद्दश्य तत्सम्पत्तिः समाहितम्'—इति ॥७६॥

आराद्धुमिति। तास्चतुर्दशवनिताः आकाशेऽन्तरिक्षे (किलेति वार्त्ता-सम्भावनयोः इत्यमरः)॥ महेश्वरं शङ्करम् आराद्धुं सेवितुम् इताः प्राप्ताः ताः काः ? याः विद्येति नाम्ना (अविभक्तिकोऽयं निर्द्देशः, भावपरो वा) कीर्त्तिता उक्ता इत्यर्थः। तत्र गिरिशे महादेवे प्रसेदुषि सति प्रसन्ने सति त्रयोविंशतिः दशग्रीवाः रावणाः आसन् अजायत इत्यर्थः त्रयोविंशतित्वमेव प्रकटयति विशेषणेन—किं विधाः ? लङ्कापतेः सहजयाच मूर्त्त्या शरीरेण (चकारः एवकारार्थे अव्ययानामनेकार्थत्वात्, सहजयैवेत्यर्थः) नखाः विंशति, स्वः-सिंधु-गङ्गा, चन्द्रामलक्रोडश्चेति गणनया द्वाविंशतिः तेषु प्रतिबिम्बि-

विष्णोर्भक्तिवशाद्वहन्ति तरल-
स्थानेषु कण्ठ-स्रजाम्,
मत्स्यादीं स्त्वदरातयो हृदि सदा
हेम्ना विनिर्मायितान्।
गाढालिङ्गनतो बभुः प्रतिमया
सुव्यक्तरूपास्ततो,
देव! त्वद्रिपु-कामिनी-कुच-तटे
कृष्णावतारा दश॥ ७८॥

पृथ्वी चन्द्र-शुचि-प्रभाऽमल-जला-
ऽऽवास: सुख-स्पर्शना,-
ऽभीष्ट-प्रापक-रत्न-भास्वदुभय-
प्रान्ताऽच्छ-गुच्छावलिः।
एषा यै रवलोकिता सुकृतिभि-
र्जानामि पुण्येन तै-,
रष्टौ धूर्जटि मूर्त्तयः स्तनतटे
तन्वङ्गि! दृष्टा स्तव॥ ७९॥

गण्डप्रान्तगलन्मदाम्बुतटिनी-
प्रौढप्रवाहाविलै-,
र्दिग्-दन्तावल-दंत-कालिम-गुणै:
श्यामीकृता वायव:।
मूर्त्तीभूय गजाधिरोहपदवी-
मभ्येत्य देव-द्विषत्-,
सेनायां वलि-दानवारि-समरे
कालाग्निलीलां दधुः॥ ८०॥

ताः प्रतिफलिताः त्रयोविंशतिः इति। अनेन रावणस्य परम-भक्तत्वम् निकटवर्त्तित्वं च सूचितम् नखादीनां विमलत्वं चेति। अत्र द्वितीयचरणः समस्येति ज्ञातव्यम् ॥७७

विष्णोरिति। भो देव! त्वदरातयः त्वद्वैरिणः विष्णोः परमात्मनः भक्तिवशात् मत्स्यादीन् हेम्ना सुवर्णेन निर्मायितान् (मिनाति मिनोतीति णिच्यात्वपक्षे युक्, तदभावे इङ्गावायादेशः, कर्मणि क्तः) कारितान् हृदि कण्ठस्रजां कण्ठमालानां तरल-स्थानेषु मध्यमणिप्रदेषु सदा सर्वदा वहन्ति दधतीत्यर्थः। ततोऽनन्तरं त्वद्रिपु-कामिनी-कुच-तटे दशकृष्णावताराः (मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथवामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्कीति वै दश) बभुः शोभां प्रापुः। किं विधाः कृष्णावताराः? गाढालिङ्गनादिति गाढालिङ्गनतः (आद्या-दित्वात् तसिः) प्रतिमया प्रतिस्वरूपेण प्रव्यक्तरूपाः प्रकट-मूर्त्तयः ॥ ७८ ॥

पृथ्वीति। हे तन्वङ्गि! कृशाङ्गि! अहमित्याक्षेप्यम् जानामीति क्रियायोगात्। तव स्तन-तटे कुच-तटे यैः सुकृतिभिः पुण्यशीलैः एषा दृश्यमाना अच्छ-गुच्छावलिः अच्छाः स्वच्छाः गुच्छाः स्तवकाः तेषाम् आवलिः अथवा गुच्छाः हार-विशेषाः (हारभेदा यष्टिभेदाद्गुच्छ-गुच्छार्द्धगोस्तना इत्यमरः, द्वात्रिंशद् यष्टिकोगुच्छ इति) तस्य आवलिः श्रेणिः। अव-लोकिताः तैः पुण्यशीलैः पुण्येन सुकृतेन अष्टौ तत्संख्याकाः धूर्जटिमूर्त्तयः दृष्टाः। किं विधा अच्छ गुच्छावलिः? पृथ्वी स्थूला, पक्षे पृथ्वीरूपा, पुन: किं विधा? चन्द्रवत् शुचिः प्रभा यस्याः सा, पक्षे चन्द्रः चन्द्रमाः शुचिरग्निः (शुचिरप्युज्ज्वलमित्य-मरः) अमलं यज्जलं मुक्ताकान्तिः तदावासः तत्स्थानम्; पक्षे, जलम् उदकम् आवासः आकाशः। पुनः किं विधा? सुखं समीचीनं स्पर्शनं यस्याः; पक्षे, सुखरूपः स्पर्शनोवायुः। पुनः किं विधा? अभीष्ट प्रापकाणि उत्तमफलदानि रत्नानि तै र्भास्वन्तौ उभयप्रान्तौ यस्याः सा ॥ ७९ ॥

गण्डेति। वायवः मरुतः, वलिदान वारिसमरे वलिश्च दानवारिश्च तयोः समरः संग्रामः तस्मिन्, कालाग्निलीलां प्रलयानलसाम्यं दधुः धारयन्तिस्म। किं कृत्वा? मूर्त्तीभूय (अमूर्त्ताः मूर्त्ताः भूत्वा-इति च्व्यन्तः)। पुनः किं कृत्वा? देवद्विषत् सेनायां देवद्विषन्तो दैत्याः। गजारोह पदवीं हस्त्यारोहपदवीम् अभ्येत्यप्राप्येत्यर्थः। किं विधाः वायवः? दिशां पूर्वादीनां ये दन्तावलाः गजा (दन्ति दन्तवलाः इत्यमरः)

दुग्धस्पर्द्धिभिरैन्दवैः समुदित-

ध्वान्तेभ-पञ्चाननैः,

कृत्स्नेऽप्यंशुभिरन्तरे धवलिते

द्यावापृथिव्योर्निशि ।

धूम्राभं नयनाञ्जनालिक-लसत्

सिन्दूर-पूरोद्भवम्,

काली-कज्जल-शोणिमा धवलय-

त्यर्द्धं नभोमण्डलम् ॥ ८१ ॥

सेवा-व्यग्र-नवग्रहागत-तमो-

भीत्या शिरस्थापगा-,

ऽऽलोक-प्रोल्लसदीर्ष्यया गिरिसुता-

पञ्चानन-त्रासतः ।

शीर्षार्द्धाङ्ग-कराश्रयात् पुर-रिपो-

रानन्द-भाजोऽनिशम्,

चन्द्रश्चन्द्रमुखी मृगश्च युगपत्

खेद-प्रमोदौ दधुः ॥ ८२ ॥

ऐरावतादयः तेषां दन्त कालिमगुणैः श्यामीकृताः अश्यामाः श्यामाः कृताः । किं विधैः दिक्दंतावलदन्तकालिमगुणैः ? गण्ड-प्रान्तात् कपोलप्रदेशात् गलत् निर्गच्छत् यन्मदाम्बुदानोदकं तस्य तटिनी नदी तस्याः प्रौढप्रवाहः महान् प्रवाहःतेनाविलाः कलुषाः तैः, दन्त-कालिमम् मद-जल-जनितम् नतु स्वभावजम् ॥ ८० ॥

दुग्धेति । काली-कज्जल-शोणिमा कर्त्तृपदम्, काली पार्वती तस्याः कज्जलम् अञ्जनं. तद्युक्तः यः शोणिमा रक्तगुणः ; अर्द्धं समांशकं ; नभोमण्डलम् आकाशमण्डलम् ; धवलयति श्वेतं करोतीत्यर्थः । किं विधः काली-कज्जल-शोणिमा ? नयनोरञ्जनं कज्जलम् अलीके ललाटे लसत् यत्-सिन्दूरं तयोः पूरः (पूरणम् पूरः) तस्मादुद्भवो यस्येति । कस्मिन् सति ? ऐन्दवैः (इन्दोरिमे तथा) अंशुभिः किरणैः, निशिरात्रौ, द्यावापृथिव्योरन्तरे आकाशे, कृत्स्ने समग्रे, धवलिते सति शुक्लतां प्राप्ते सति । किं विधैरंशुभिः ? दुग्धस्पर्द्धिभिः अतिशुभ्रैः इत्यर्थः । पुनः किं विधैः ? समुदितानि यानि ध्वान्तानि तिमिराणि तान्येव इभाः गजाः तेषां पञ्चाननाइव, पञ्चाननाः सिंहाः संहारकत्वात् । किं विधं नभोमण्डलम् ? धूम्राभं धूसरमित्यर्थः ; किञ्चित् कृष्णं किञ्चित् ताम्रम् धूम्रमिति (तथैवोक्तममरे-धूम्र-धूमलौ कृष्ण-लोहिताविति) । इन्दुकिरणैः सम्पूर्ण नभोमण्डलस्य श्वेतत्वं सम्पादितमेव तत्र पार्वत्याः सम्मुखनभसः तन्नयनाञ्जन-तल्ललाट सिन्दूरयोश्च पूरणेन धूम्राभत्वं जातम् पश्चाद्भागस्थितस्य शुभ्रत्वं तथैव स्थितमिति तात्पर्य्यम् ॥ ८१ ॥

सेवेति । चन्द्रः चन्द्रमुखी पार्वती च मृगश्च एते त्रयः पदार्थाः युगपत् एकसमयावच्छेदेन खेद-प्रमोदौ दुःख-हर्षौ दधुः प्रापुरित्यर्थः प्रत्येकं खेद-हेतुमाह—सेवार्थं याताः प्राप्ताः (सेवा-व्यग्रेति पाठे—सेवायाम् अव्यग्राः सावधानाः ये नवग्रहाः सूर्यादयः तेषु मध्ये आगतः यः तमः राहुः (तमस्तु राहुः स्वर्भानुरित्यमरः) तस्माद् भीतिः भयं तया चन्द्रः खेदं दधाविति योजना । शिरस्था या आपगा गङ्गा तस्याः आलोकः दर्शनम् तेन प्रोल्लसन्ती जाता या ईर्ष्या द्वेषः तया चन्द्रमुखीति। गिरिसुता-पञ्चाननः पार्वती-सिंहः तस्य त्रासः भयं, तस्मात् मृगः । प्रमोदहेतुमाह-किं विधा एते ? पुररिपोर्महादेवस्य शीर्षं शिरः अर्द्धाङ्गं च करश्च तस्याश्रयात् तत्र विद्यमानत्वात् शिरसि चन्द्रस्य अर्द्धाङ्गे चन्द्राननायाः करे मृगस्य स्थितत्वात् महदाश्रयाद् अस्माकं वैरि-भयं नास्ति-इति प्रमोदः ॥ ८२ ॥

षष्ठी ऋक् ।

प्रभातिथि ऋषिः उषा देवता ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

दूरादिहेव यत् सतोऽरुणप्सुरशि-

३ २ ३ १ २

श्वितत् । विभानुं विश्वथातनत् ॥ २६ ॥

'यत्' या उषा देवता प्रातः 'अरुणप्सुः' अरुण-रूपा 'दूरात्' दूरे एव उत्थाय 'इह' पृथिव्याम् 'सतः' वर्त्तमानान् पदार्थान् 'अशिश्वितत्' प्रति-दिनं श्वेतते, सैव मध्यन्दिने (सूर्यरूपा) 'विश्वथा' सर्वथा 'भानुम्' दीप्तिम् 'व्यतनत्' विशेषेण तनोति । एतेन या उषादेवता सैव सूर्यः-इति-ध्वनितम्, तदुक्तम् नैरुक्ते-'तिस्र एव देवताः अग्नि-र्वायुः सूर्यश्च, तासाम् महाभाग्याद् बहूनि नाम-धेयानि', यदा सूर्य्यः अरुणप्सुः स एव कालः अ-रुणोदय इत्युच्यते । अरुणप्सुरिति अरुणपूर्वक-गत्यर्थधातोः 'मृगय्वादयश्च' इति कुप्रत्ययः । अरुण-प्सुरिति अवर्णादेव यत् पदेन उषादेवता लभ्यते, यदिति क्लीवता व्यत्ययात् । दूरादिति ल्यप्लोपे पञ्चमी ; सूर्यस्य द्युलोकस्थत्वात् दूरस्थत्वम्, तदु-क्तम् नैरुक्ते—'अग्निः पार्थिवो देवो वायुरन्तरिक्ष-स्थो द्युस्थः सूर्य्यः' । अशिश्वितदिति श्वितावर्णे इत्यस्य णिजर्थे यङि, तस्य लुङि, सार्वकालिकलुङि रूपम् । अतनदिति सार्वकालिकलङि विकरण-व्यत्यये रूपम् इव शब्द उपमार्थीयः, अस्यप्रमा-र्थस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोग इति पादपूरणार्थः इति माधवः ॥ २६ ॥

যে রক্তবর্ণ ঊষা দেবতা*প্রতিদিন প্রত্যূষে দূরে উত্থিত হইয়া পৃথিবীস্থ তাবৎ পদার্থকে আরক্তিম করেন, তিনিই মধ্যাহ্নে (সূর্যরূপে) সর্ব্বপ্রকারে দীপ্তি বিস্তার করেন* ॥ ২৬ ॥

* এতাবতা যিনি ঊষা দেবতা তিনিই সূর্য্য। অতি-প্রত্যূষ—যাহাকে অরুণোদয় কাল বলাযায়, সেই সময়ে যে রক্তবর্ণ রবিমণ্ডল দৃষ্ট হইয়া থাকে, তাহাকেই অরুণপ্সু' অথবা ঊষা দেবতা বলা যায়।

औषसम् ।

२र १र ४र ५ २ १

दूरादी २३ हेव यत्सताः । अरुणप्सु

२ १ २ १र २

रशिश्वा २३इ तान् । विभानू २३उवी ।

१ र २ १ २ १

श्वाथातनत् । इडा २३ भा ३४३ । ओ

२३४५ इ । डा ॥ २६ ॥

सप्तमी ऋक् ।

विश्वामित्रऋषिः मित्रावरुणौ देवते ।

१ २ ३ १र २र

आनो मित्रावरुणा घृतै र्गव्यूतिमुक्ष-

३ १ २

तम् । मध्वारजांसि सुक्रतू ॥ २७ ॥

'मित्रावरुणा' मित्रवरुणौ देवौ 'नः' अस्माकम् 'गव्यूतिम्' गवां स्थानम् 'घृतैः' अपिच 'रजांसि' क्षेत्रस्थपांसून् 'मध्वा' 'आ' । उक्षतम्' आभि-मुख्येन सिञ्चतम्, कीदृशौ तौ ? 'सुक्रतू' सुप्रज्ञौ । अस्माकम् गावः प्रचुर-क्षीरवत्यः भवन्तु, क्षेत्राणि च अमृत-सिक्तानि भवन्त्विति भावः । मित्रा-वरुणेति—'देवता द्वन्द्वे च'-इत्यानङि सुपांसुलुगि-त्याले च रूपम् । गावो यत्र चरन्ति तत् स्थानं गव्यूतिरुच्यते । सुक्रतू-इति क्रतुशब्दः प्रज्ञाप-र्य्यायेषु निघण्टौ, सुक्रतू-इति विशेषणेन आत्म-प्राप्तियोग्यतापि सूचिता ॥ २७ ॥

সুপ্রজ্ঞ* মিত্র এবং বরুণদেবতা আমা-দিগের গো-স্থান ঘৃতদ্বারা সিক্ত করুন এবং ক্ষেত্রস্থ ধূলিসকল মধু দ্বারা সিক্ত করুন। অর্থাৎ মিত্র এবং বরুণদেবতার প্রসাদে আ-মাদিগের গো সকল বহু ক্ষীরবতী হউক এবং কর্ষিত ভূমি সকল অত্যুর্ব্বরা হউক ॥ ২৭ ॥

* 'মিত্র এবং বরুণ সুপ্রজ্ঞ'—ইহা দ্বারা আপনাদিগের প্রার্থিত-প্রাপ্তি-যোগ্যতা আছে ইহাও সূচিত হইল।

संयोजनम्।

१र ४र ५ र २ २र १
आनो मित्रा। वरुणा ३। औहो-
१र ४र ५ २
वा २३४। घृतैर्गव्यूतिम्। क्षता ३म्।
२र १ १ २र १ ५र
औहोवा २। माध्वा रजाꣳसि सू३।
२र १ र १ २
औ होवा २। क्रतू। इडा २३ भा ३४३।
१
ओ २३४५इ। डा॥ २७॥

अष्टमी ऋक्।

हिरण्यस्तूपऋषिः मरुतो देवताः।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उदुत्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्न-
३ १ २ ३ १र २र
त। वाश्रा अभिज्ञु यातवे॥ २८॥

ये देवाः 'अभिज्ञु' अभिज्ञं यजमानं 'यातवे' यातुम् उपगन्तुं 'वाश्राः' वाशनस्वभावकाः शब्दकारिणः वेगगमनेनेति यावत् 'त्ये' ते 'सूनवः' रुद्रस्य अपत्यभूताः मरुतो देवाः 'यज्ञेषु' सत्सु 'गिरः' गर्जितलक्षणा वाचः 'काष्ठाः' वृष्टिलक्षणा आपस्तु 'उत्। अत्नत' उदतनुत ऊर्द्ध्वं विस्तारयन्ति। क्रतुफलेन घनघटां सम्पाद्य वर्षयन्तीति भावः। अभिज्ञु-इति भूमौ अभिगते जानुनी यस्य स यजमानः तस्यैव क्रतौ तथात्वात्, लोके तु 'प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः' अत्र अभितोऽपि; सुपांसुलुगित्यादिना अमोलुक्। यातवे-इति 'तुमर्थे सेसेन्'- (३।४।६) इत्यादिना सिद्धम्। वाश्रा इति 'स्फायि-तञ्चि-वञ्चि (उ०। द्वि०)-'इत्यादिना' शब्दार्थ-वाशेः रक्ति सिद्धम्। यज्ञेषु इति 'यस्य च भावलक्षणमिति सप्तमी, यथा-गोषु दुह्यमानासु गतः इति। काष्ठा इति उदक पर्याये निघण्टौ। अत्नतेति तनोतेः सार्वकालिकलङि उकारस्याकारे रूपम्। ऋचि उ-इति पादपूरणार्थः॥ २८॥

যাঁহারা অভিজ্ঞুকে প্রাপ্ত হইবার নিমিত্ত শব্দযুক্ত হন অর্থাৎ যজমানকে আলিঙ্গন করিতে বেগগামী হন, রুদ্রের অপত্যস্বরূপ সেই মরুৎ দেবতারা যজ্ঞ-সমাপ্ত্যনন্তর—গর্জনাত্মক বাণী ও বৃষ্ট্যাত্মক বারি, বিস্তার করিয়া থাকেন *॥ ২৮॥

आर्त्तवम्।

५ र र ५र १ २र १
उदुत्ये सूना ईवो गिराः। काष्ठाय। ज्ञा-
३ २ ५ २र १र
इ। षुवा २त्ना २३४ता। वा आ आ २३
२ १ ४ २ ५
भी३। सु २३ या ३। ता ३४५वो ई हायि
॥ २८॥

नवमी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः विष्णुर्द्देवता।

३ ३उ ३ १ २ ३ १र २र ३
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे प-
२ १ २ ३ २
दम्। समूढमस्य पाꣳसुले †॥ २९॥

'विष्णुः' देवः 'इदम्' सर्वं जगत् उद्दिश्य 'वि। चक्रमे' पादक्रमणं कृतवान्, कथमित्युच्यते 'त्रेधा' त्रिः प्रकारम् पदम् स्वकीयम् पदम् 'निदधे' स्थापितवान् त्रिःप्रकारस्थापनन्तु स्थानभेदेन, तदुक्तम् यास्केन—'पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति,' 'अस्य' विष्णोः 'पाꣳसुले' पाꣳसवोरेणवः तन्मये पृथिव्याम् यत् पदम् तत् 'समूढम्' अन्तर्भूतम् न लक्ष्यते इति यावत्। अथवा पाꣳसुले-इति लुप्तोपमम्, पदत्रिकमेव पांसुले इव निदधे सुप्रतिष्ठापितवान् इत्यर्थः। विष्णुर्विशतेर्व्यश्नोतेर्वेति नैरुक्ताः। त्रेधेति त्रिधापर्य्यायः प्रसिद्धः। समूढमिति संपूर्वस्य वहेरूपम्॥ २९॥

* এতাবতা—ঘন-ঘটা-গর্জ্জন, বর্ষণাদি যজ্ঞেরই ফল।

† 'समूह्लमस्य पाꣳसुरे'—इत्येवं ऋग्वेदीय पाठः

বিষ্ণু, এই সমস্ত জগৎ আক্রমণ করিয়া রহিয়াছেন; তিনি পৃথিবীলোক, অন্তরিক্ষলোক, দ্যুলোক,—এই ত্রিলোকে পাদত্রয় স্থাপন করিয়াছেন, যেরূপ স্বমধ্যে বৃক্ষাদি প্রোথিত হয়, সেইরূপ ইঁহার সেই পাদত্রয় সুপ্রতিষ্ঠাপিত রহিয়াছে। অর্থাৎ একজনা সর্ব্বব্যাপী পুরুষ এই ভুবনত্রয়ে † অবিচলভাবে রহিয়াছেন ॥ ২৯ ॥

विष्णु साम।

५ ५ १ २ २ १
इदा ई मे। विष्णु २ः। विचक्रा२३४
५ १ र १ २
माइ। त्वाइधानि। दधाइपा १ दा २ म्।
१ २ १ २
समू २ह्रो १। ढा२३ मा ३। स्या २ पा
५र र २ २
२३४ औ होवा। ए३। सुले १ ॥ २८ ॥

इति तृतीया दशतिः।

चतुर्थदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।
मेधातिथि ऋषिः इन्द्रो देवता।

१ २ २ १ २ २ २ ३ १
अतीहि मन्युषाविणᳪ सुषुवाᳪ समु-
र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
पेरय। अस्य रातौ सुतम् पिव ॥ ३० ॥

हे इन्द्र! 'अति'। इहि अतीवागच्छ। एत्यच 'मन्युषाविणम्' मन्योर्यज्ञस्य साविणम् सोतारम् अभिषवकर्त्तारम् माम् 'सुषुवांसम्' कृताभिषवम्-इति 'उपेरय' उपगत्य प्राप, मां कृतार्थं कुरु इति भावः; तथाच 'अस्य' यज्ञस्य 'रातौ' फलदानविषये 'सुतम्' अभिषुतम् संस्कृतम् सोमम् 'पिव' त्वत्कर्त्तृक-सोमपानेनैव मदिष्टफलं मयोपगतम्-इति मंस्ये-इति भावः। मन्युषाविणमिति 'पूर्वपदात्' इति षत्वम्। सुषुवांसमिति 'छन्दसि लिट्'-इति भूतसामान्ये लिटि 'क्वसुश्च'-इति क्वसुः। रातािविति रातिर्दानपर्य्याये निघण्टुः। ऐन्द्रपर्वणि पाठात् देवतान्तरलिङ्गाभावात् मन्त्रस्यास्येन्द्रो—देवता ॥ ३० ॥

হে ইন্দ্র! তুমি এইস্থলে আগমন কর। অনন্তর যজ্ঞের অভিষবকারী আমাকে কৃতাভিষব করত প্রাপ্ত হও; অর্থাৎ তোমার আগমনেই আমি কৃতকার্য্য হইব। এবং এই যজ্ঞের ফলদান স্বরূপ এই সংস্কৃত সোম পান কর (অর্থাৎ এই সোম পান কর-ইহাই আমার যজ্ঞের যথেষ্ট ফল) * ॥ ৩০ ॥

कौत्सम्।

५ र २ १
अतीह्िमा। न्यूषा२ वा इणा २म्। सुषु-
१ १ २ ३
वाᳪसा २ म्। होइ। उपै १ राया २। अ-
२र १ १ २ ५र र
स्य राता २३ उ। ह्र२ता २३४ औ होवा।
२ ५
पी २३४ वा ॥ ३० ॥

द्वितीया ऋक्।
वामदेव ऋषिः वरुणोदेवता।

२ २ १ २ ३१र २र ३ १ २
कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
१र २र ३ १ २
तदिध्यस्य वर्द्धनम् ॥ ३१ ॥

'प्रचेतसे' प्रकृष्टज्ञानाय (वरुणाय) 'महे। देवाय' 'वचः' स्तोत्रात्मकं साम 'शस्यते' उच्चार्य्यते (उद्गातृभिरिति शेषः) तत् कुतः? उच्यते—'हि' यस्मात् 'अस्य' देवस्य 'वर्द्धनम्' प्रशंसनम् 'तत्'

---

† ভুবনত্রয় শব্দে ঊর্দ্ধলোক, মধ্যলোক, অধোলোক; এতাবতা সমস্ত ব্রহ্মাণ্ডই ত্রিভুবনের অর্গত।

* এই মন্ত্রে সম্পূর্ণ নম্রতা প্রকাশিত আছে।

বচ: অস্তি তত:। যদস্তি তদেব কীর্ত্ত্যতে, নারোপিতং কিঞ্চিৎ ইতি নিষ্পন্নোঽর্থঃ। কদিতি, ত-ইতি, ইৎ-ইতিচ পাদপূরণে ॥ ৩১ ॥

যেহেতু প্রচেতা দেবতার প্রশংসা আছে, সেই নিমিত্তই তাহা উদ্গাতৃগণ কর্ত্তৃক সামরূপে কীর্ত্তিত হইয়া থাকে (অর্থাৎ আরোপিত নহে) * ॥ ৩১ ॥

কাশ্যপম্।

২৪ ২৪র৫র ২২ ১ ১
কদু প্রচেতসে। মহা ৩ই। বা২৩৪চো।
৫রর ৪ ৫র ২১ ২
দেবা হ্যাও। বচো দেবা। যস্মন্না২৩তা৩৪
২২ ২২ ২১ ৫
ই। তদা ৩৪ই ত্রিয়া ৩১ স্তবো ২৩৪ বা।
৪ ৫
ধা ৫ নো ই হ্যা ই॥ ৩১ ॥

তৃতীয়া ঋক্।

মেধাতিথিঋষিঃ ধনদো (কুবেরঃ) দেবতা।

২ ২ ২ ২ ২১ ২২ ১২ ২১র
উক্থং চ ন শস্যমানং নাগো রযিরা-
২র ১ ২ ৩২ ৩১২
চিকেত। ন গায়ত্রং গীয়মানম্॥ ৩২ ॥

'রয়িঃ' রয়িমান্-দেবঃ কুবের ইতি যাবৎ' রয়িনামতঃ প্রসিদ্ধো বা 'নাগোঃ' অতিশয়াব্যক্তভাষিণঃ যথোচিতস্বরবর্ণাদ্যুচ্চারণজ্ঞানহীনস্য 'শস্যমানম্' উচ্চার্য্যমাণম্ 'উক্থম্' স্তোত্রাত্মকম্ 'ন' 'আ'। 'চিকেত' ন শৃণোতি 'চ' অপিচ 'গীয়মানম্' 'গায়ত্রম্' গায়ত্রসংজ্ঞকং সাম 'ন' শৃণোতি। এতেন কৃপা সূচিতা, অন্যথা ক্বচিদ্ যথা শ্রুতার্থগ্রহে বিপরীতমেব ফলমুৎপদ্যেত কিন্ত্বেবং নিন্দয়া যথাস্থানং স্বরবর্ণাদ্যুচ্চারণেন ভাব্যম্ ইতি বিহিতঃ। রয়িরিতি ধনপর্য্যায়েষু দেবপর্য্যায়েষু চ নৈঘণ্টবঃ নাগোরিতি 'কুঙ্ গুঙ্ অব্যক্তে শব্দে' তস্য গুঃ অব্যক্তভাষী; ন গুঃ অগুঃ ব্যক্তভাষী, ন অগুঃ নাগুঃ অত্যব্যক্তভাষী (নঞ্দ্বয়েন অতিশয্য গম্যতে) তস্য। চেতি ভিন্নক্রমঃ, পূর্ব্বার্দ্ধে শ্রুতম্ পরার্দ্ধে আনীয় ব্যাখ্যেয়ম্। আচিকেতেতি 'ছন্দসি লঙ্ লুঙ্ লিটঃ'-ইতি সার্বকালিক লিটিরূপম্, অদ্যত্যা নঞ্ দ্বয়েনৈব সম্বধ্যতে ॥ ৩২ ॥

ধনবান্ কুবের দেবতা, যাহারা অত্যন্ত অব্যক্তভাষী অর্থাৎ যথাস্থান স্বরবর্ণাদি উচ্চারণে অসমর্থ, তাহাদিগের উচ্চারিত উক্থ নামক স্তোত্র শ্রবণ করেন না এবং তাহাদিগের গায়ত্র নামক সামও শ্রবণ করেন না * ॥ ৩২ ॥

বার্হদুক্থম্।

৫ ৪ ৫ ৪ ২১র
উক্থং চ নো হ্যায়ি। শস্যমানম্।
রর ২ ১র র ২ ২র
নাগোরা ২৩ য়ীঃ। আচিকেতা। ন গায়া
২ র ১ ২ ৫র
২৩ ত্রাম্। গী। যমা ২ না ২৩৪ ঔ-
র ২ ৫
হোবা। ভা ২৩৪ পা ॥ ৩২ ॥

---

* এতাবতা আরোপিত কীর্ত্তন অনুচিত ইহাও প্রকাশিত হইল।

* এতাবতা কুবেরের সম্পূর্ণ অনুগ্রহ সূচিত হইল-অন্যথা যথাশ্রুত স্বরও বর্ণের অর্থানুসারে ফলপ্রদ হইলে অনেকস্থানে নিরর্থক হইলেও কোন কোন স্থলে বিপরীত ফলও ঘটিতে পারে। অপরঞ্চ স্বর ও বর্ণাদির যথাস্থান উচ্চারণাদি শিক্ষা করিবে-ইহাও বিহিত হইল।

२१

(मू०) अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः। आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः॥१३॥

(टी०) या दुःशीलतया नात्मानं रक्षन्ति ताः आप्तकारिभि आप्ताः विश्वस्ताः कारिणः आज्ञाकारिणः आप्ताश्च ते कारिणश्चेति आप्ताकारिणस्तैः 'पुरुषैः' 'गृहे रुद्धाः' अपि 'अरक्षिताः' भवन्ति। 'याः तु' धर्म्मज्ञतया 'आत्मानं आत्मना' 'रक्षेयुः' रक्षन्ति 'ताः' एव 'सुरक्षिताः' भवन्ति। अतः स्त्रीभ्यो धर्म्ममुपदिशेदित्यभिप्रायः॥१३॥

(ता०) अन्तःकरणे एव पापाङ्कुर उत्पद्यते। ततः क्रमेण कार्य्यमपि पापमयं प्रादुर्भवति। पवित्रे खल्वन्तःकरणे कार्य्यमपि पवित्रं भव्यम्। अतः स्त्रीभ्यो धर्म्मोपदेशं प्रदाय, धर्म्मे हि तासामनुरागं परिवर्द्धयेत्; तथा सति तासां मनांसि धर्म्मात्मदुर्गेष्ववस्थाय पापेभ्य आत्मनोऽभिरक्षितुं समर्थानि भव्यानि। ये चात्मानं स्वयं रक्षितुं समर्था स्त एव रक्षिता भवन्ति॥१३॥

२२

(मू०) भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा। यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥१४॥

(टी०) 'ज्येष्ठस्य' 'भ्रातुः' 'या भार्य्या' 'सा' 'अनुजस्य' भ्रातुः 'गुरुपत्नी' भवति। 'यवीयसः' कनिष्ठस्य भ्रातुः 'तु या भार्य्या' 'सा' 'ज्येष्ठस्य' 'स्नुषा' वधूरिव मुनिभिः 'स्मृता'॥१४॥

(ता०) यथाहि ज्येष्ठभ्रातरं पितृतुल्यं पश्येत्, तथैव तदीयां भार्य्यां मातरमिव सम्मानयेत्; किञ्च यथा कनिष्ठभ्रातरं पुत्रसदृशं पश्येत्, तथैव तदीयां भार्य्यां पुत्रवधूमिव स्निह्यात्। येन च यथा सम्बन्धः तद्भार्य्यां प्रति तदनुरूपमेव सद्भावं प्रदर्शयेत्॥१४॥

इति।

तृतीयोऽध्यायः।

२३

(मू०) गृहस्थः पालयेत् दारान् विद्यामभ्यासयेत् सुतान्। गोपयेत् स्वजनान् वन्धूनेषधर्म्मः सनातनः॥१॥

(टी०) गृहस्थः पालयेत् दारान् विद्यां अभ्यासयेत् सुतान्'। 'गोपयेत्' रक्षेत् 'स्वजनान् वन्धून्' 'एषः धर्म्मः सनातनः'॥१॥

(ता०) पत्न्याः प्रतिपालनम्, तनुजानां शिक्षादानम्, बान्धवानामानुकूल्य-करणम्—एतत् त्रिकं गृही नित्यकर्म्मत्वेन जानीयात्। सन्तानेभ्योऽन्नदानेन वस्त्रप्रदानेनैव च नहि जनक-जननी-कर्त्तव्यं शेषतां गच्छति, यथा च ते सद्भावेन ईश्वरं सकलमनुष्यांश्च व्यवहरन्तोऽत्र जीवनयात्रामतिवाहितुं परत्र च सद्गतिमाप्तुं समर्थाः भवेयुः, पिता माता च तथैव शिक्षयेत्। गृहस्थो यथासाध्यं स्वजनानां सुहृदाञ्च सहायतां कुर्य्यात्; अन्यस्य हित-साधने न कदापि पराङ्मुखो भवेत्॥१॥

२४

(मू०) कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः। देया वराय विदुषे धनरत्नसमन्विता॥२॥

(टी०) 'कन्या अपि' 'एवं' ईदृशेन प्रकारेण 'पालनीया' 'शिक्षणीया' च 'अतियत्नतः'।

'विदुषे' पण्डिताय 'वराय' धनरत्नसमन्विता' सा 'देया' ॥ २ ॥

(ता०) कन्यामपि पुत्रमिव प्रतिपालयेत्, ज्ञानं धर्म्मं च शिक्षयेत्। कन्या, पतिकुलेऽवस्थाय यत् समस्तं गुरुतरभारं ग्रहीष्यति, तत् खलु पितुरुपदेशेन मातुर्व्यवहारानुकरणेन च बहुलं शिक्षति। अतो जननी जनकश्च यत्नेन तच्छिक्षां सम्पादयेत् यासां विद्यानां शिक्षणेन ईश्वर-ज्ञानम् ईश्वर-भक्तिश्च समुज्वलेत्, महानुभावता च उत्पद्येत, पुत्रकन्या-निर्विशेषेण ता एव सम्यक् शिक्षयेत्। अनन्तरं वयःप्राप्तां तामभियुक्ताय वराय समर्पयेत् ॥ २ ॥

२५

(मू०) यादृग्गुणेन भर्त्ता स्त्री संयुज्येत यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ ३ ॥

(टी०) 'यादृग्गुणेन' 'भर्त्ता' साधुनाऽसाधुना वा 'यथाविधि' 'स्त्री संयुज्येत'। 'सा' 'तादृग्गुणा' 'भवति' 'समुद्रेण इव' यथा समुद्रेण सह युक्ता 'निम्नगा' नदी स्वादूदकापि क्षारजला जायते तथा ॥ ३ ॥

(ता०) भर्त्तृ-गुणेन भार्य्यापि गुणवती भवति, किञ्च भर्त्तृ-दोषेण भार्य्याया अपि दोषः समुत्पत्तुं शक्यते ; अतः कन्यायै गुणवान् वरोऽन्वेष्टव्यः। यो ज्ञानवान, ईश्वरपरायणः, आचार-व्यवहारे च साधुः, यस्य कुलं शीलञ्च कन्यापेक्षया न हि हीनतरम्, यं प्रति कन्यायाः विरागो विद्वेषो वा न तिष्ठेत्, तादृशे सत्पात्रे एव कन्यां समर्पयेत् ॥ ३ ॥

२६

(मू०) अज्ञातपतिमर्य्यादामज्ञातपतिसेवनां। नोद्वाहयेत् पिता बालामज्ञातधर्म्मशासनां ॥ ४ ॥

(टी०) 'अज्ञातपतिमर्य्यादां' अज्ञाता पतिमर्य्यादा यया तां तथा 'अज्ञातपतिसेवनां'। तथा 'अज्ञातधर्म्मशासनां' 'बालां' 'पिता' 'न उद्वाहयेत्' न विवाहयेत् ॥ ४ ॥

(ता०) दाम्पत्यव्रतः कीदृशो गुरुतरः, भर्त्रा सह सम्बन्धः कीदृशोऽनुलङ्घनीयः, धर्मश्च कीदृग्-यत्नपाल्यः—यादृग्-वयस्का कन्यैतत् समस्तं हृदयं गमयितुमसमर्था तिष्ठेत्, तादृग् वयस्कां ताम् न हि सम्प्रदद्यात् ॥ ४ ॥

२७

(मू०)न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयात् शुल्कमण्वपि। गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५ ॥

(टी०) 'कन्यायाः पिता' 'विद्वान्' शुल्कग्रहणदोषज्ञः कन्यादाननिमित्तकं 'अणु अपि' अल्पमपि 'शुल्कं' मूल्यं 'न' 'गृह्णीयात्'। 'हि' यस्मात् 'नरः' 'लोभेन' 'शुल्कं' 'गृह्णन्' अपत्यविक्रयी' सन्तानविक्रेता 'स्यात्' ॥ ५ ॥

(ता०) कन्यायाः प्रतिपालनम् शिक्षादानम् सत्पात्रे समर्पणं च पित्रोरवश्य कर्त्तव्यम्। एतत् त्रिकं सम्यक् निर्वाह्यैव तौ भवेतां कृतार्थं मन्यमानौ। कन्यां प्रदाय तन्मूल्यरूपं पणापरपर्य्यायम् न किञ्चिदपि गृह्णीयात् ; गृहीते तु पणे न तद् दानम् भवेत्, अपितु विक्रयमेव तत्। यो यः पिता या या च माता लोभासक्तचेतसा कन्यां विक्रीणीते, ते नराधमेषु परिगणिताः तिष्ठन्ति, यतो मनुष्य-विक्रयो धर्म-विरुद्ध व्यवहारः ॥५॥

इति।

चतुर्थोऽध्यायः।

२८

(मू०) न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। योव युवाप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः॥ १॥

(टी०) 'न' 'तेन' हेतुना 'वृद्धः भवति येन' 'अस्य' मनुष्यस्य 'पलितं' शुक्लकेशं 'शिरः' मस्तकं। किन्तु 'युवा अपि' सन् 'यः' 'अधीयानः' विद्वान् 'तं' 'वै' एव 'देवाः' 'स्थविरं' वृद्धं 'विदुः' जानन्ति॥ १॥

(ता०) यत्नतो विद्यां शिक्षेत्, न तामवहेलयेत्। विद्यया ज्ञाननेत्रमुन्मील्यते। यो वै भ्रमः ऐहिक-पारत्रिक मङ्गल-लाभस्य विघ्नकारी, यो वै भ्रमः सत्य मसत्यत्वेन असत्यञ्च सत्यत्वेन प्रकाशयति, योवै भ्रमः कार्यमकार्यमिति कृत्वा अकार्यञ्च कार्यमिति कृत्वा प्रतिपादयति, ततो मुक्तिमवाप्तुं ज्ञानादृते न विद्यतेऽन्य उपायः कश्चन। अतो विद्यया ज्ञानमुद्दीपयेत्। भौतिकविद्यामभ्यासयेत्. ततश्च इह भौतिके जगति भूताधिपतेः परमेश्वरस्य ज्ञानं, शक्तिः मङ्गल-भावः आश्चर्य्यमहिमा च देदीप्यते तानीमानि परिदृश्य तं प्रति श्रद्धा भक्तिश्च परिवर्द्धेत् अपिच सर्वेषां कल्याणकर-कार्य्यानुष्ठाने विपुल- सामर्थ्यं जायेत। एवमात्मविद्यां शिक्षेत्; अयमात्मा तस्य सत्य-सुन्दर-मङ्गल-पुरुषस्य सादृश्यं दधाति। आत्म-स्वरूपेऽवगते तस्य अदृश्यानिर्वचनीया चिन्त्यानन्तस्वरूपस्याभास आप्यते, अपिच स्वीयजीवनोद्देश्य-साधने प्रचुर उपायोपगम्यते। इत्यमुभाभ्यां विद्याभ्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां ब्रह्मविद्यां प्रलभ्य ब्रह्मवान् भवेत्, किञ्च तत् प्रियकार्य्यानुष्ठानेनामुष्मिक-पारत्रिक-मङ्गलमवाप्य कृतकृत्यो भवेत्॥ १॥

२९

(मू०) मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः। स्वलक्षणान्तु योवेद समुनिः श्रेष्ठ उच्यते॥ २॥

(टी०) 'मौनात्' वाक्याभावात् 'न सः मुनिः भवति' 'न' 'अरण्यवसनात्' वनवासात् 'मुनिः'। 'स्वलक्षणं तु' आत्मस्वरूपं तु 'यः' 'वेद' जानाति 'सः' 'श्रेष्ठः' 'मुनिः' मननशीलः 'उच्यते' कथ्यते॥ २॥

(ता०) वने वसतिः वाग्-विसर्जनञ्च न मुनिलक्षणम्। निभृतः सन् स्वीय-विषय मालोचयेत् तथाच—अहं कः? अनेन शरीरेण मम कः सम्बन्धः? कस्मात् स्थानात् आगतः? को मामानिनाय? कस्मै चात्रावतिष्ठामि? क्व वा यास्यामि? कदाचित् सुखम्, कदाचित् दुःखम्, कदाचित् सम्पत्, कदाचित् विपद्, कदाचित् हर्षः, कदाचिद् विषादः, मयि उपतिष्ठते—तदेषामुद्देश्यः कः? एतच्छरीरम्, एतदिन्द्रियजातम्, एषा प्रवृत्तिः, एषा वासना, कस्मै मह्यमदायि? सुखा-योजनानि चतुर्दिक्षु सुसज्जितानि सन्ति, चिरं तानि कथं न तृप्तिकराणि? सकल-कामनाम् भित्वा या अमृतत्व-कामनोत्थिता भवति, क्व सा परिपूर्णा भविष्यति? यः प्रकृतो मुनिः सः स्वं प्रविश्य समस्तमेतत् मनने नाधिगच्छति, किञ्च ईश्वर-प्रसादात् यमालोकं लभते, तेन स्व-गन्तव्य-मार्गं प्रपश्यन्नाप्यायते॥२॥

३०

(मू०) नात्मानमवमन्येत पूर्व्वाभिरसमृद्धिभिः। आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभां॥ ३॥

(टी०) 'पूर्व्वाभिः' पूर्व्वकालवृत्तिभिः 'असमृद्धिभिः' धनानामसम्पत्तिभिः मन्दभाग्योऽहमिति 'आत्मानं' 'न' 'अवमन्येत' नावजानीयात।

किन्तु 'आमृत्योः' मरणपर्य्यन्तं 'श्रियं' सम्पत्तिं 'अन्विच्छेत्' तत्सिद्धिनिमित्तं उद्यमं कुर्य्यात् 'न एनां' 'दुर्लभां' 'मन्येत' बुध्येत ॥ ३ ॥

(ता०) त्रिभुवनपालकः परमेश्वरः मनुष्येभ्य आश्चर्यशक्तिं प्रदाय जीविका-संस्थानाय यथेष्टमुपायमकार्षीत् अतः पुरा रचितं पूर्वोपार्जितं वा धनादिकं नास्तीति विचार्य स्वं दुर्भाग्यं न बुध्येत किञ्च गतमिव पुनर्भवनं दुर्घटमितिधिया निरुद्यमो न भवेत्। दारिद्र्यदुःखे पतन्नपि न स्वमवज्ञास्पदम् मन्येत। न्यायमार्गेऽनुतिष्ठन् परिश्राम्येत, अपिच यावज्जीवनं स्वं धनोपार्जनाधिकारिणं जानीयात्। पृथ्वीतो दारिद्र्य-दुःख-दूरकरणम् आनन्द-स्वरूप-परमेशस्य प्रियकार्य्यमेवेति निश्चिनुयात् ॥ ३ ॥

३१

(मू०) सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं। एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥ ४ ॥

(टी०) 'परवशं' 'सर्व्वं' 'दुःखं' दुःखहेतुः 'सर्व्वं आत्मवशं' 'सुखं' सुखकारणं। 'एतत्' 'समासेन' संक्षेपेण 'सुखदुःखयोः' लक्षणं 'विद्यात्' जानीयात् ॥ ४ ॥

(ता०) ईश्वरः करुणया मनुष्येभ्यो याः शक्तीरदात् मनुष्यास्ता अवलम्ब्य स्वाधीनाः स्युः। आत्मचिन्तामात्मनिर्भरञ्चाभ्यस्येयुः। यावच्छक्ति स्व-कार्य्यं स्वयमेव कुर्युः। बान्धवानां परामर्शं यत्नतो गृह्णीयुः, परं हिताहितविवेचने स्वयम-विरतास्तिष्ठेयुः। कृतज्ञ-चेतसाऽन्यकृत-साहाय्यमाद्रियुः, परं न स्वयं निश्चेष्टाः भवेयुः। सत्युपायान्तरेऽन्य-गलग्रहाः न स्युः अपि च भिक्षावृत्तिं ना श्रयेरन् ॥ ४ ॥

३२

(मू०) नोच्छिन्द्यादात्मनोमूलं परेषां चातितृष्णया। उच्छिन्दन् ह्यात्मनोमूलमात्मानं तांश्च पीड़येत् ॥ ५ ॥

(टी०) 'आत्मनः मूलं' धनादिकं यत् किञ्चित् तत 'न उच्छिन्द्यात्' न उत्सादयेत् 'परेषां च' धनादिकं 'अतितृष्णया' नोच्छिन्द्यात्। 'हि' यस्मात् 'आत्मनः' परेषाञ्च 'मूलं' 'उच्छिन्दन्' 'आत्मानं' 'तान् च' मनुष्यान् 'पीड़येत्' पीड़यति ॥ ५ ॥

(ता०) अतिलोभेन पर-धन-नाशनमित्येवेति न तत्र स्वस्यापि सर्व्वस्वान्तो भवितुं शक्यते। अतो मितव्ययमभ्यस्य अतिलोभं परित्यजेत्। मितव्ययेन स्वस्य, परिजनानाम्, समाजस्य च कुशलं रक्षेत्, कार्पण्य दोषेण न कदापि लिप्येत ॥ ५ ॥

३३

(मू०) युवैव धर्मशीलः स्यात् अनित्यं खलु जीवितं। कोहि जानाति कस्याद्य-मृत्युकालोभविष्यति ॥ ६ ॥

(टी०) 'युवा एव धर्म्मशीलः स्यात्' यतः 'जीवितं' जीवनं 'खलु' निश्चितं 'अनित्यं'। 'कः हि जानाति' यत् 'अद्य' 'कस्य' 'मृत्युकालः भविष्यति' ॥ ६ ॥

(ता०) यौवनं सुखभोगाय वार्द्धक्यं धर्मानुष्ठानायेति अविवेकि-वचः। अधर्मो हि वृद्धं कलुषयति युवानमपि यौवने यत्किञ्चनाभ्यसितं भवेत्, प्रायश्चिरं तच्छुभाशुभ-फलं भोक्तुमुपयुज्येत। यौवने एव पाप-प्रलोभनं तीव्रवेगेन मनुष्यमाक्राम्यते। मृत्युर्युवानमपि पृथ्वी लोकतो निःसारति—नैतत् विस्मरेत्। अतो यौवनकालादारभ्यैव ईश्वरस्य शरणापन्नस्तिष्ठेत्, सदाचरणमभ्यस्येत्, पापान्निवृत्तः स्थातुं यत्नशीलो भवेत्, कु-संसर्गं परित्यज्य साधुसङ्गं सेवेत, किञ्च स-कठोरमहरहः स्वं परीक्षेत ॥ ६

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

महाव्रकारुङ्करणाद्यलिप्सुङ्गारुण्यसिन्धुं समशक्तिमन्तम् । बोधाच्चिवेद्यम्मननेन मान्यं वन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।

राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३ भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०) [February, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १) [३० संख्या

Notice—The names of the Agent's will be given in the first Copy of the year.

विज्ञापनम्

जानन्त्येतत् संस्कृतविद्यानुरागिनः—वेदान्तसूत्रस्य सन्ति बहूनि व्याख्यानानि तानिच परस्परं विभिन्नाभिप्रायसमर्पकाणि, तथैव न्याय-भक्ति-योगादि सूत्राणामपि ; परमनल्पक्षोभणीयएषः तानि सर्वाण्येवैतर्हि प्रायोलुप्तकल्पानि, अतस्तेषामाविष्कर्त्तुमुद्यतः सूत्रभाष्यचतुष्टयमयीं त्रिंशत्पृष्ठात्मिकां मासिकपत्रिकां प्रचारयितुमीहेऽधुना, अक्षरं शोधनादिकञ्च तस्या उत्कृष्टमेव भव्यम्, मूल्यं प्रेरणव्ययसमेतं (१२) द्वादश मुद्राऽग्रिमम् वार्षिकम् ।

ग्राहकशतमन्तरा नैतदारम्भः सम्भाव्यते, अतोऽद्य येषामेषापूर्वपत्री ग्राह्या भवेत्, तेऽनुकम्पया निर्द्दिष्टमूल्यं सम्मतिपत्रं वा प्रेरयन्तु सत्वरम् ।

काशी-चौखाम्बा-निवासी श्रीहरिश्चन्द्रः ।

NOTICE

Sanscrit Scholars are aware that several commentaries are in existence on the Vedanta aphorisms, totally differing from each other. Similarly, there are disvergent commentaries on the Nyaya, Bhakti, Yoga &c, I have resolved to publish the four principal commentaries (Bhashyas on the Sutras by monthly issues of 8 pages each of large paper and in clear types. Annual subscription in advance with postage, Rs. 12.

Gentlemen wishing to subscribe to this valuable Magazine are requested to send their subsriptions or notice of their intentions, for unless 100 subscribers are secured, it cannot be started.

Benares
February,
1870.

HARISCHUNDRA

वैदिकसमालोचना ।

(२९संख्याया अनन्तरम्)

ऊहगानम्—दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त, क्षुद्र-इत्येतैः सप्तभिः पर्वभिः त्रयोविंशति प्रपाठकैः — चतुःषष्ठ्युन

বৈদিকসমালোচনা ।

(২৯সংখ্যার পর)

ঊহগান—দশরাত্র, সংবৎসর, একাহ, অহীন, সত্র, প্রায়শ্চিত্ত, ক্ষুদ্র—এই সপ্তপর্ব্বে—ত্রয়োবিংশতি প্রপাঠকে—৯৩৬সামে বিভক্ত। (গেয় ও

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी । कलिकातायां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥

सहस्रसामभिः—विभक्तम्। गेयारण्ययोरवलम्बिता बहवोऽध्ययनप्रथा इहानुकृता भवन्ति; अत आचार्याः तदुभयाध्ययनजातविद्येभ्य एतदध्ययनाधिकारं प्रददत्यतएवैतत् तृतीयम्। अत्र त्यपर्वनामानि कर्माभिधानानुयायीनि, तथाहि—दशरात्रि-निष्पाद्यक्रतु-व्यवहार्य्य-साम-समुदयात्मकः प्रथमोभागो दशरात्रेति कीर्त्त्यते, एवं संवत्सरादीनि; विविध-क्षुद्र-कर्मसु विनियोज्यानि सामानि सन्ति शेषभागे ततः स क्षुद्रेत्युच्यते। प्रथमे पर्वणि द्वाविंशत्युत्तरद्विशतं, द्वितीये द्विपञ्चाशदधिकंशतं, तृतीये अष्टाधिकसार्द्धशतं, चतुर्थे चतुर्भिन सार्द्धशतम्, पञ्चमे एकविंशत्युत्तरशतं, षष्ठे पञ्चाशत्, सप्तमे सप्ताशीतिसामानि। गानस्यैतस्य प्रायः सर्वाण्येव सामानि त्रीणि सम्मिल्य एकैकसंख्योपेतानि; अर्थसङ्गति-पाठक्रम-वर्णसंख्या-स्वरप्रकृति-ग्राम-मूर्च्छनादि-श्रुतिषु यानि त्रिकाणि सर्वथैकरूपाणि तानीहैकैकसामेति व्यवह्रियन्ते, एतदीयैक-सामन्यधीते सामत्रयाध्ययनं स्फुटमुपलभ्यते; एकमेव साम एकेत्येव संख्यायते क्वचित्, क्वचित् द्वेच सामनी। इत्यमेतत् किञ्चिदूनसहस्रत्रयसामात्मकमिति समालोचनया प्रतीयते। एतदीयसाम्नामूहनैस्त्रिवृदादयः स्तोमाः सम्पद्यन्ते, *अतएवेदं गानमूहमुच्यते।

ऊह्यगानम्—इदमपि पूर्ववद् दशरात्रादिभिः सप्तभिः पर्वभिर्विभक्तम्। प्रथमे पर्वणि एकोनत्रिंशत्, द्वितीये एकचत्वारिंशत्· तृतीये त्रयोविंशतिः, चतुर्थे एकसप्ततिः, पञ्चमे चतुःसप्ततिः, षष्ठे एकोनविंशतिः, सप्तमे द्विपञ्चाशत्, संकलनयात्र पञ्चाधिकद्विशतं (२०५) सामानि सन्ति। परं यं नियममाश्रित्य ऊहगानस्य सामसंख्या त्रिसहस्रप्रायः, तेन नियमेनास्यापिप्रायः षट्शतम् (६००)। इह प्रपाठकाः षट्। एतदध्ययनादिकं प्रथमगानस्येव प्रायः समस्तम्, द्वितीयगानस्येवाप्यंशशः, सामाकृत्यादिकन्त्वविकलमूहस्येव; ततोगेयादीन्यस्याध्ययनेऽनुकूलानि भवन्ति, अतएवास्यतु र्य्यत्वं कल्पितमाचार्य्यैः। यतोऽस्याध्ययन स्वरनियमादिकमधीतगेयारण्योहा माणवकाः स्वयमूहितुं शक्यन्ते ततोऽयमूह्येति चिरं कीर्त्त्यते।

* तत्प्रकारस्तु परसंख्यायां वक्ष्यते।

অরণ্যে অবলম্বিত অধ্যয়ন-প্রথাই ইহাতে বহু অনুকৃত হইয়াথাকে এই নিমিত্ত আচার্য্যেরা যাঁহারা উক্তগানদ্বয়ে কৃতবিদ্য, ইহার অধ্যয়নে তাঁহাদিগকেই অধিকার প্রদান করিয়া থাকেন; অতএব ইহা তৃতীয়গান। ইহার পর্ব্বনামগুলি কর্ম্মনামানুযায়ী, তথা—দশরাত্রি-সম্পাদ্য যজ্ঞে ব্যবহার্য্য সামসমূহ প্রথমভাগে শ্রুত হইয়াছে, এইনিমিত্ত উহাকে ‘দশরাত্রপর্ব্ব’ বলা যায়, এইরূপ ‘সংবৎসর’-প্রভৃতি; বিবিধ ক্ষুদ্র ক্ষুদ্র কর্ম্মে বিনিযোজ্য সামনিকর শেষভাগে থাকায় উহা ‘ক্ষুদ্রপর্ব্বত’ নামে বিশ্রুত। প্রথমপর্ব্বে ২২২—দ্বিতীয়ে ১৫২—তৃতীয়ে ১৫৮—চতুর্থে১৪৬—পঞ্চমে ১২১—ষষ্ঠে ৫০—সপ্তমে৮৭—সাম আছে।এইগানের প্রায় সকল সামই তিনটির একটি, অর্থসঙ্গতি-পাঠক্রম-বর্ণসংখ্যা-স্বরপ্রকৃতি-গ্রাম-মূর্চ্ছনাদি; সকলপ্রকারে যে তিনটি একরূপ তাহা এক সামরূপেই ব্যবহৃত হইয়াছে সুতরাং একটীসাম অধ্যয়ন করিলে সামত্রয়ের অধ্যয়ন স্পষ্ট উপলব্ধ হয়; কোন কোন স্থলে এক সামের, কোন কোন স্থলে দুইসামের একটিও আছে—এ নিয়মে এই গানের সামসংখ্যা কিঞ্চিন্ন্যূন সহস্রত্রয় ইহাও বলা যায়। এই গ্রন্থের সামগুলির ঊহনানুসারে ত্রিবৃদাদিস্তোম নিষ্পন্ন হয়, *এই নিমিত্ত ইহাকে ঊহ বলা যায়।

ঊহ্যগান—ইহাও ঊহগানের ন্যায় দশরাত্রাদি সপ্তপর্ব্বে বিভক্ত। প্রথম পর্ব্বে ২৯, দ্বিতীয়ে২৩, চতুর্থে ৭১, পঞ্চমে ৭৪, ষষ্ঠে ১৯, সপ্তমে৫২ (সর্ব্বশুদ্ধ ২০৫) সাম আছে। অপরঞ্চ যে নিয়মে ঊহগানের সামসংখ্যা প্রায় তিনসহস্র সে নিয়মে ইহারও অন্যূন ছয়শত হইবে; এই সমস্ত ছয় প্রপাঠকে বিন্যস্ত। ইহার অধ্যয়ন নিয়মাদি অধিকাংশই গেয় গানেরন্যায়, কোন অংশে অরণ্যগানের সাদৃশ্যও দেখা যায়, সামাকৃতি অবিকল ঊহগানের সমান সুতরাং গেয়প্রভৃতি গানত্রয়ই ইহার উপযোগী এই নিমিত্ত আচার্য্যেরা ইহার চতুর্থত্ব কল্পনা করিয়াছেন। যাঁহারা গেয় অরণ্য ঊহ গান অধ্যয়ন করিয়াছেন তাঁহারা এগানের অধ্যয়ন স্বরনিয়মাদি স্বয়ং ঊহন করিয়া লইতে পারেন সেই নিমিত্ত ইহা ঊহ্যনামে প্রথিত আছে।

* তাহা পরসংখ্যায় দেখান যাইবে।

अत्रोत्थेयाशङ्का-परिहारं सूत्रयति।

(सू०)चोदिते तु परार्थत्वाद् यथाश्रुति प्रतीयेत॥ १५॥

(वि०) यत् चोदितम् 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत'-इति. तत्र यथाश्रुति एकत्वं प्रतीयेतैव कुतः? परार्थत्वात्, अस्ति तत्रपशोः यागार्थत्वरूप पारार्थ्यम् तस्मात्-इत्यर्थः। तत्र हि पशोर्यागार्थत्वम्, सर्वपश्वालभनं च न सम्भवति—इति कृत्वा व्यक्तिराश्रिता; इहतु न हि ग्रहस्य सम्मार्गार्थत्वम् प्रत्युत सम्मार्गस्यैव ग्रहार्थत्वम्, सम्भवति च सर्वेषां ग्रहाणां सम्मार्जनम्-इति स्वेष्ट आकृतिपक्षएव अवलम्बितः-इति भावः।

इत्यञ्च ग्रहमात्राणां शेषः सम्मार्जन संस्कारः। एवम् अग्निहोत्र-प्रकरणे—"अग्नेस्तृणान्यपचिनोति"—इत्यत्र सर्वेषामग्नीनामपचयनसंस्कारः, दर्शपूर्णमास-प्रकरणे—'पुरोडाशं पर्य्यग्नीकरोति'-इत्यत्र सर्वेषां पुरोडाशानां पर्य्यग्नीकरणसंस्कार-इति दिक्॥ १५॥

सप्तमाधिकरणमारचयति।

(अ०) सम्मार्ष्टि ग्रहमित्येको ग्रहः शोध्यउताखिलः। एक उद्देश्यसंख्याया उपादेयवदादरात्। प्राधान्यात् तद्गुणाद्वत्तेरेकत्वमनपेक्षितम्। तद्विधौ वाक्यभेदोऽतो द्रव्योक्त्या सर्वशोधनम्॥ ७॥

(टी०) सोमे श्रूयते—"दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" (दशापवित्रं वासः खण्डः) तत्र यथा पशुना यजेतेत्यत्रोपादेय पशुगतमेकत्वं विवक्षितम्, तद्वदुद्देश्य ग्रहगतमप्येकत्वं विवक्षितम्; किञ्च ग्रहशब्दस्य जातिवाचित्वेन जातेः संस्कार्य्यत्वे सति तदाश्रयभूते यस्मिन् कस्मिन्नपि द्रव्येऽनुष्ठितेन संस्कारेण जातिः संस्कृता भवति; तस्मादेकग्रहः शोधनीयः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—ग्रहमिति द्वितीयया ग्रहस्योद्देश्यतया प्रयोजनवत्तयाच प्राधान्यम् गम्यते, ग्रहं प्रति गुणः सम्मार्गः, 'प्रतिप्रधानं च गुण आवर्त्तनीयः'-इति न्यायेन यावन्तो ग्रहाः सन्ति ते सर्वे सम्मार्जनीयाः। एवं निश्चये सम्मार्जयितव्यग्रहे इयत्ताया अबुभुत्सितत्वात् उद्देश्य गतमेकत्वं श्रूयमाण मप्यविवक्षितम्। अथोच्येत—नेदमुद्देश्यगतम्, किन्तु स्वयं विधेयम्-इति—तन्न, वाक्यभेदापत्तेः। ग्रहं सम्मृज्यात् तच्चैकमित्येवं विधेयार्थभेदाद् वाक्यभेदः! पशुना यजेतेत्यत्र तु यागं प्रति गुणभूतः पशुः नहि 'प्रतिगुणं प्रधानस्या वृत्तिः'-इति कश्चिन्न्यायोऽस्ति, ततः इयत्ताया बुभुत्सितत्वाच्छ्रूयमाणमेकत्वं विवक्षितमिति वैषम्यम्। नच जातिः संस्कार्य्या, अमूर्त्तत्वात्; ततो जातिद्वारा द्रव्यलक्षको ग्रहशब्दः, तत्र चावृत्तिरुक्ता। तस्मात् सर्वे ग्रहाः सम्मार्जनीयाः॥ ७॥

इति सप्तमाधिकरणम्।

दृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वपक्षं सूत्रयति।

(सू०) संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात्॥ १६॥

(वि०) 'गुणानां' सम्मार्गादीनाम् अव्यवस्था-स्यात्' कुतः? 'संस्कारात्' संस्कारकत्वात्। तथाहि—"ग्रहं संमार्ष्टि" इत्यत्र यथा सर्वेषां ग्रहाणां सम्मार्जनसम्भवात् एकत्वम् अविवक्षितम्, तथा ग्रहपदस्यापि चमसाद्युपलक्षणता स्यात्; यथा-लोके—'स्थाल्यानि सम्मृज्यन्ताम्'-इत्युक्ते स्थालग्रहणमुपलक्षणम्, भोजनपात्राणि सर्वाण्येव सम्मृज्यन्ते, तथाऽत्रापि ग्रहपदमुपलक्षणम् चमसाअपि प्रकरणगताः तेऽपि सम्मार्जनीयाः॥ १६॥

समाधत्ते—

(सू०) व्यवस्था वा अर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्द प्रमाणत्वात्॥ १७॥

(वि०) वेति पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। ग्रहेष्वेव

सम्मार्ग-व्यवस्था, कुतः? 'अर्थस्य' ग्रहरूपस्य 'श्रुति-संयोगात्' श्रुत्या सम्बन्धात्, ग्रहस्योपलक्षणत्वे श्रुतिः पीड्येत। संस्कर्त्तुं योग्याः सर्वे एव संस्कार्याः लोकवत्;—इति यत् पूर्वपक्षवीजम् तन्निराकर्त्तुमाह—'तस्य शब्दप्रमाणत्वात्' 'तस्य' वैदिकार्थस्य 'शब्दप्रमाणत्वात्' शब्दैकप्रमाण-गम्यत्वात्; इत्थं लोकवेदयोर्वैषम्यं दर्शितम्। तथाच यथाश्रुता: ग्रहाकृतिमद् व्यक्तय एव सम्मार्जनीयाः, न चमसादयः-इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति।

(अ०) चमसादि च सम्मृज्यान्नो वा तस्यास्ति मार्जनम्। एकत्ववद्ग्रहत्वस्याप्यनादरेण सम्भवात्। अवाधोऽत्रादरे हेतु र्वाक्यभेदस्तु नैव हि। चमसादौ न सम्मार्गः श्रुत्या तद्विषयार्पणात् ॥ ८ ॥

(टी०) ग्रहमित्यत्र प्रत्ययार्थभूतमेकत्वं यथा न विवक्षितम् तथा प्रातिपदिकार्थस्य ग्रहत्वस्याप्य विवक्षा सम्भाव्यते, ततो ग्रहशब्दस्य सोमपात्रोपलक्षकत्वाद् ग्रहाणामिव चमसानामपि सम्मार्गेण सोमावसेकनिर्हरण प्रयोजन सम्भवाच्च चमसादयोऽपि सम्मार्जनीयाः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—एकत्वं वाक्यभेदेन दुष्टत्वात् न विवक्षितम्, अदुष्टंतु ग्रहत्वं कुतो न विवक्ष्येत? ततः सत्यपि प्रयोजने प्रमाणाभावात् चमसादौ नास्ति सम्मार्गः। नच विषया पेक्षया तत्कल्पनं, ग्रहश्रुत्यैव तद्विषय समर्पणात्। तस्मान्नास्ति सम्मार्गः ॥ ८ ॥

इति अष्टमाधिकरणम्।

ननु वैदिकार्थस्य शब्दमात्रैकप्रमाणत्वेन यथैव श्रुतिसंयोगः तथैव व्यवस्था-इत्युक्तम्, यत्र सा न घटते तत्र किं कर्त्तव्यम्?-तत्राह—

(सू०) आनर्थक्यात् तदङ्गेषु ॥ १८ ॥

(वि०) यत्र यथाश्रुते व्यवस्थाया आनर्थक्यम् सम्भाव्येत, तत्र तस्मादेव हेतोः तदङ्गेषु सा स्वीकार्या। तथाच एवं हि श्रूयते 'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति' अत्र यथाश्रुते वाजपेय-इति प्रसिद्धे यागे यूपाभावः-इति कृत्वा एतस्य विधेः आनर्थक्यं प्राप्तम्, तस्मात् वाजपेयाङ्गभूते पशुयागे योऽस्ति यूपः तस्य सप्तदशारत्निता व्यवस्थेया। नन्वेवं यथाश्रुतोऽर्थो ग्राह्यः-इत्युक्तं व्याकुप्येतेति-चेत्—न, पशुयागस्यैतस्य वाजपेयाङ्गत्वेन वाजपेयत्वाह्वानात्; साक्षाद् बाधेऽन्तरिते व्यवस्थेत्येव विशेषः ॥ १८ ॥

नवमाधिकरणमारचयति।

(अ०) भवेत् सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपकः। उन्मानं द्रव्यगं वाजपेयस्याङ्गं पशोरुत आनन्त्यात् प्रकरणात् कर्माङ्गं षोड़शिन्यदः। ऊर्द्ध्वपात्रे खादिरेऽग्रे संयुज्यान्वेति कर्मणा यूपद्वारा पशोरङ्ग पशुद्वारा च कर्मणः। सौमिकत्वाद् वाजपेये यूपो नास्ति पशुं विना ॥ ९ ॥

(टी०) वाजपेयप्रकरणे श्रूयते—'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपोभवति'-इति। तत्र यूपद्रव्यगतं सप्तदशारत्नि शब्दोदितं यदूर्द्ध्वमानं तद्वाजपेय कर्मणोऽङ्गम्, सप्तदशारत्निशब्द-वाजपेय शब्दयोरानन्तर्य्यात्। प्रकरणं चैव मनुगृह्यते। यदि कर्मणः साक्षादूर्द्ध्वमानं न सम्भवेत् तर्हि वाजपेयगतं खादिरमूर्द्ध्वं यत् षोड़शिपात्रं तस्मिन्नदउन्मानं प्रथमं संयुज्यतद्द्वारा कर्मणात्वेति।

इति प्राप्ते, ब्रूम—सप्तदशारत्निर्यूपइति सामानाधिकरण्यात् यूपेन साक्षात् सम्बन्ध्यते, तस्य च यूपस्य पश्वङ्गत्वात् उन्मानं यूपद्वारा पशोरङ्गं भवति, तस्यापि पशोर्वाजपेयाङ्गत्वात् पशुद्वारा कर्मणोऽङ्गम्। यद्यपि वाजपेय-यूपशब्दयोरानन्तर्य्यमस्ति तथापि वाजपेयस्य सोमयागतया साक्षाद् यपसम्बन्धाभावात् पशुव्यवधानमभ्युपेयम्। वाज-

पेयस्येति षष्ठ्याः सम्बन्धमात्रवाचित्वेन व्यवहित-सम्बन्धमप्यसावभिधत्ते देवदत्तस्य नप्तेतिवत्। यत्तु सप्तदशारत्नि-वाजपेययोरानन्तर्य्यम्, यच्च प्रकरणम्, तदुभयमविरुद्धम्; पशुवङ्गत्वेऽप्यन्ततो वाजपेयाङ्गत्व-स्वीकारात्। किञ्च पूर्वपक्षे यूपशब्देन षोड़शिपात्रं लक्षणीयम्, सिद्धान्ते तु नासौ दोषः॥ १८॥

इति नवमाधिकरणम्।

द्रव्य-गुण-संस्कारेषु शेषत्वमुदाहृतम्, कर्मणः शेषत्वं दर्श्यते। तत्र पूर्वपक्षः—

(सू०) कर्त्तृगुणे तु कर्मासमवायात् वाक्यभेदः स्यात्॥ १९॥

(वि०) दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजवाक्ये श्रूयते "अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्या" (अभिक्रमणं कर्त्तृगुणम्) अत्र कर्त्तृगुणघटित श्रुतौ 'वाक्यभेदः स्यात्', कुतः? 'कर्मासमवायात्' कर्मणा कर्मणः सम्बन्धाभावात्; नहि अमूर्त्तमभिक्रमणं कर्म, हवनं साधयितुं शक्नोति, यतश्च तस्य शेषः स्यात्-इतिभावः। तथाच अभिक्रमणविधिर्होमविधिवत् स्वतन्त्रः, नतु होमकर्मणः शेषः-इति निष्पन्नम्॥ १९॥

उत्तरपक्षः—

(सू०) साकांक्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण॥२०॥

(वि०) तुः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। अभिक्रामम्-इति णमुलन्तं पदम्, अतः 'साकांक्षम्' क्रियान्तरसाकांक्षत्वेव, तस्मात् जुहोतीत्यनेन 'एकवाक्यं स्यात्', क्रिययोरमूर्त्तयोः कथं समवायः?-इत्याह 'असमाप्तं हि पूर्वेण' 'हि' यतः 'पूर्वेण' अभिक्राममित्येतावता णमुलन्तेन 'असमाप्तम्' वाक्यम्; कर्त्तृद्वारा कर्मणोःसम्बन्धोऽबाध इति-भावः। तथाच अभिक्रम्य अभिक्रम्य आहवनीय-देशमासाद्य अध्वर्युः जुहोति-इति वाक्यार्थः पर्य्यवसितः। इत्थं अभिक्रमणस्य कर्मणः प्रयाजमात्राङ्गत्वरूपं शेषत्वम्॥ २०॥

दशमाधिकरणमारचयति।

(अ०) अभिक्रामं जुहोतीति युक्तं कर्त्राऽखिलस्य तत्। किं वा प्रयाजमात्रस्य कृत्स्नकर्त्तृयुतं भवेत्। प्रयाजाभिक्रमणयोः क्रियात्वादुभयोरपि। मिथः सम्बन्धराहित्यान्नैवं तेऽपि समत्वतः। कर्त्तृयोगाददोषश्चेत् समानेयं समाहितिः। ततः प्रयाजादि सान्निध्यात् तत्कर्त्रैवास्य संयतिः॥ १०॥

(टी०) दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजसमीपे श्रूयते 'अभिक्रामं जुहोति'-इति। तत्र होमकाले यद्देतदाहवनीयस्य अभितः सञ्चरणं तत् कृत्स्नदर्शपूर्णमासकर्त्ता सम्बध्यते, न तु प्रयाजमात्रकर्त्ता; कुतः? अभिक्रमणस्य क्रियारूपस्य कारकत्वाभावेन प्रयाजक्रियया सम्बन्धा सम्भवात्।

—इति चेत्—मैवम्, क्रियारूपत्वादेव दर्शपूर्णमास-क्रियाया अपि सम्बन्धाभावात्। अथोच्येत-अभिक्रमणं कर्त्तृकारकेण साक्षात् सम्बध्यते, तद्द्वारा कृत्स्न-दर्शपूर्णमास-कर्मणा सम्बध्यते-इति तदेतत् समाधानं प्रयाध-सम्बन्धेऽपि समानम्। अतः सन्निधिबलात् प्रयाज-कर्त्ता सम्बध्यते॥ १०॥

एतदेवाधिकरणं वार्त्तिककारमतेनारचयति।

(अ०) यद्वा वलित्वं सान्निध्यादस्ति प्रकरणे ततः। दर्शादिप्रक्रियाधीते क्रमणस्यात् तदङ्गता। अवान्तर प्रकरणं समिधो यजतीत्यतः। तन्मध्यपाठात् तस्याङ्गं तद्द्वारा दर्श-शेषता॥ वा० १०॥

(टी०) अस्मिन्नपिमते तावेव विषय-संशयौ, पूर्व्वपक्ष-हेतुमात्रमन्यत्। प्रयाजसन्निधितोऽपि दर्शपूर्णमास-प्रकरणस्य प्रबलत्वात्, प्राकरणिकेषु कृत्स्नेषु अभिक्रमणं निविशते-इति पूर्वपक्षः।

समिधोयजतीत्यारभ्याम्नातम् अवान्तरप्रकर-

णम्, तन्मध्येऽभिक्रमणम् आम्नातम्, तस्य चाभिक्रमणविधेः उभयतः प्रयाजविषयैर्वाक्यैः संदष्टत्वादभिक्रमणम् प्रयाजमात्रे निविशते-इति सिद्धान्तः। अस्मिन्नपि पक्षे महाप्रकरणं न विरुध्यते, प्रयाजद्वारा दर्शपूर्णमासयोर्निवेशात् ॥ वा० १० ॥

इति दशमाधिकरणम्।

दर्शितं कर्मणस्य शेषत्वम्, इदम्फलमस्य शेषोऽस्यवेति विचार्य्याभावात् फलस्य शेषता नेह प्रदर्शनीया, ततः क्रमप्राप्तस्य पुरुषस्य शेषता दर्श्यते। तदिदं पूर्वसूत्रप्रत्युदाहरणम्।

(सू०) सन्दिग्धे तु व्यवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

(वि०) वाक्यभेदो न भवत्येवेत्येवं नियमोन। 'सन्दिग्धे' अस्य शेषः सर्वस्य वेति संशयापन्नस्थले 'व्यवायात्' व्यवधानात् हेतोः स्यादेव वाक्यभेदः। तथाहि—दर्शपूर्णमासप्रकरणे सप्तमाष्टमयोरनुवाकयोः सामिधेन्य उक्ताः; नवमे निविदः; दशमेकाम्याः सामधेनीकल्पाः—इदं कालस्यैतावतीरनुब्रूयादिदं कामस्यैतावतीरिति; एकादशे उपवीतमाम्नातम्-उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते'-इति। तत्र सन्देहः—सामधेनीनां प्रकरणे उपवीतं समाम्नातम्, अनन्तरं वा? यदि तत्प्रकरणे श्रुतं स्यात् तर्हि सामधेनीरेवानुब्रुवाणः उपव्ययेत, अन्यथा सर्वानेव पदार्थां ननुतिष्ठता उपव्यातव्यम्; एवं सन्दिग्धे वाक्यभेद एव निर्णयः; कुतः? व्यवायात्, निवित्पदानि तासां प्रकरणं व्यवदधति, व्यवहितेन च नैकवाक्यता भवति; तस्मात् उपवीतस्य सामधेनीभिः नैकवाक्यता अपितु प्रकरणे यदनुष्ठेयम् तत्सर्वं यज्ञोपवीतिना पुरुषेण कर्त्तव्यम्। एवञ्च यज्ञोपवीति पुरुषस्य क्रतुप्रकरणाङ्गत्वम् ॥ २१ ॥

तदेतदेकादशाधिकरणमारचय्य स्फुटयति।

(अ०) उपव्ययतइत्यस्य सामिधेन्यङ्गताथवा। दर्शाङ्गता प्रक्रियैषावान्तरतोस्विहाग्रिमः। लिङ्गादग्नेरङ्गभूतैर्निवित्संज्ञकमन्त्रकैः। विच्छेदे सति दर्शाङ्ग महाप्रकरणोक्तितः ॥ ११ ॥

(टी०) दर्शपूर्णमास प्रकरणे-विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र इत्यस्मिन् प्रपाठके—सप्तमाष्टमयोरनुवाकयोः—सामिधेनी ब्राह्मण-माम्नातम्, नवमे निवित्संज्ञकानाम् अग्ने महानसि ब्राह्मण भारतेत्यादीनाम् मन्त्राणां ब्राह्मणम्—दशमेकाम्याः सामिधेनीपक्षाः, एकादशे तूपवीतमेवं विहितम्—'निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितॄणाम्, उपवीतं देवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते'-इति। तत्र पूर्वन्यायेन सामिधेनीप्रकरणस्यावान्तरस्याङ्गीकारात् सामिधेन्यङ्ग मुपवीतम्।

इतिचेत्—न, निविद् ब्राह्मणेन सामधेनीप्रकरणस्य विच्छेदितत्वात्। न च निविदामपि सामिधेन्यङ्गतया तत्प्रकरणपाठाद विच्छेदकत्वम्-इति-वाच्यम्, लिङ्गेन निविदामग्न्यङ्गत्वावगमात्; आहुत्यधिकरणभूतमग्निं सम्बोध्य महानसी त्यादिभिर्निविद् वाक्यैरग्नेरुत्साहजननाय तद्गुणा आवेद्यन्ते, अतएव निर्वचनमेव श्रूयते—"निविद्भिर्न्येवेदयन्त निविदां निवित्त्वम्"-इति। ननु समिध्यतेऽग्निर्याभिर्ऋग्भिस्ताः सामिधेन्यः-इतिव्युत्पत्त्या ता अपत्र ज्वलनद्वारेणाग्न्यर्था एवेति चेत्—सत्नुनाम, नैतावता परस्पराङ्गाङ्गिभावः।

ननु विच्छिद्यतां सामधेनी प्रकरणम्, निवित्प्रकरणेनोपवीतस्य निविदङ्गत्वं स्यात्-इति चेत्—न, काम्य-सामिधेनीभिर्व्यवधानात्। नच काम्यसामिधेन्यङ्गता शङ्कनीया, सन्निधितः प्रकरणस्य प्रबलत्वात्।

तस्मादत्र प्रयाजन्यायाभावात्, दर्शपूर्णमासाङ्ग-मुपवीतम् ॥ ११ ॥

इत्येकादशाधिकरणम्।

शम्भोस्ताण्डव-डम्बरे तट-भुवि

प्रभ्रश्यतोमस्तकात्,

अम्भोधिः परमाणुमध्यमविशद्

भीतोनिशा-नायकात्।

सङ्गादस्य हि दृद्धितो मम समस्ता

भूर्भवेदाप्लुता,

तद्विघ्नोऽस्य भविष्यतीत्यवहितः

सिद्धीर्दधानोऽष्टधा ॥ ८३ ॥

इन्दोर्बिम्बमिदं न कुम्भज-मुने

स्तकाश-पुष्पोपमम्,

वर्ष्मैतन्न कलङ्क एष तदिदं

तस्यैव कृष्णाजिनम्।

अम्भोधिः परमाणु-मध्यमविशद्

भीतोनिशा-नायकात्,

इत्याशङ्क्य पुनस्तथैव ववृधे

विज्ञाय तत्त्वं मुदा ॥ ८४ ॥

नित्यं सत्कर-पुष्कराश्रय-परो

निर्नाशयन् कण्टकान्,

सङ्ग्रामे रिपु-राज-कुञ्जर-घटा-

दन्तावलीं पाटयन्।

श्रीहम्मीरमहीमहेन्द्र भवत

स्तीक्ष्णोऽसि दण्डः स्फुटम्,

हेरम्बस्त्वण-क्रमेलक-गल-

स्पर्द्धी मृगाङ्कायते ॥ ८५ ॥

शम्भोरिति। अम्भोधिः समुद्रः शम्भोः शङ्करस्य ताण्डव-डम्बरे नृत्योपक्रमे (तांडवं चोद्धतं नृत्यमित्युक्तत्वात्) मस्तकात् शिरः प्रदेशात् तटभुवि प्रभ्रश्यतः स्खलतः निशा-नायकात् चन्द्रात् भीतः भयप्राप्तः सन् परमाणुमध्यम् अविशदित्यन्वयः। चन्द्रस्खलनेनास्य किमिति भयसम्भावना? इत्यत आह—हीति निश्चये, अस्य निशानायकस्य सङ्गात् मम समुद्रस्य वृद्धितः (वृद्धेरिति वृद्धितः) समस्ता भूः पृथ्वी आप्लुता सिक्ता भवेत्—तत् अस्य चन्द्रस्य विघ्नः, तट-भुवि पतनरूपः नाशः भविष्यति-इति अवहितः अवधानयुक्तः येन, यस्य वृद्धिस्तथाशनिरीक्षणमसाम्प्रतमित्युचितमस्य प्रवेशनम्। अस्य नु महतः सूक्ष्मे कथं प्रवेशः? इत्याशङ्कायां विशिनष्टि—किं विधः अम्भोधिः? अष्टधा सिद्धिं दधानः (धत्तेऽसौ दधानः अणिमामहिमा चैव गरिमा लघिमा तथेत्याद्यमरः)। अत्र द्वितीयचरणः समस्तेति ज्ञेयम् ॥ ८३ ॥

इन्दोरिति। अम्भोधिः समुद्रः परमाणुमध्यमविशदिति योजना। किं विधः अम्भोधिः पुनः पुनः वारं वारम् इत्याशङ्क्य वितर्क्य निशानायकात् चन्द्रात् भीतः भयं प्राप्तः। इतीति किम्? इदं पुरोवर्त्ति इन्दोश्चन्द्रस्य बिम्बं मण्डलं न, किन्तु कुम्भजमुनेः अगस्त्यस्य (अगस्त्यः कुम्भ-सम्भवः:—इत्यमरः)। तदेतद् दृश्यमानं काशपुष्पोपमम् अतिशुभ्रं वर्ष्म शरीरम् (शरीरं वर्ष्म विग्रहः—इत्यमरः) एष तद्गतः कलङ्कः न, किन्तु तस्यैव कुम्भजमुनेरेव तदिदं श्यामलं दृश्यमानं कृष्णाजिनं कृष्णमृगचर्मेति। अणिमादिसिद्धिसामर्थ्यात् समुद्रः अगस्त्यभयेनाणुतां प्रापेति भावः पुनः तत्त्वं सत्यत्वं चन्द्रोयमिति विज्ञाय ज्ञात्वा तथैव (यथा-पूर्वं ववृधे वृद्धिं जगाम। अत्र तृतीयचरणः समस्येति ज्ञेयम् ॥ ८४ ॥

नित्यमिति। श्रीहम्मीरमहीमहेन्द्रेति सम्बोधनम्। भवतः तीक्ष्णः असिदण्डः स्फुटं प्रकटम् हेरम्ब इव (रूपकमिदम्) गणेश इवेत्यर्थः। किं विधः असिदण्डः? नित्यमनवरतम् (नित्यानवरताजस्रमित्यमरः) संश्चासौ करश्च हस्तः स एव पुष्करं कमलं तस्याश्रयपरः सर्वदा तत्र स्थित इत्यर्थः। हेरम्बपक्षे—सन् यः करः शुण्डादण्डः तस्य यत् पुष्करं कमलं तस्याश्रयपरः सर्वदा तत्र स्थित इत्यर्थः। ननु "पुष्करं पङ्कजे व्योम्नि पयः करिकराग्रयोः" इत्यभिधानात् करपद-पौनरुक्तिः? तत्र-विशिष्टवाचकानां पदानां विशेष्यपरतयैवेति समाधेयम्। तद्देशोद्देश्यम्। क्रमेलकगलस्पर्द्धी-उष्ट्रः क्रमेलक इत्यमरः, तस्य गलः कण्ठः, तत्स्पर्द्धी धूसरत्वेन, ततोऽप्यधिकोऽहमिति स्पर्द्धां करोतीति भावः। किं कुर्वन्? कण्टकान् दुष्टान् निःशेषयन् क्षपयन् सन् क्रमेलकगलश्च कण्टकान् भक्षणेन क्षययति (कण्टको न स्त्रियां क्षुद्रशत्रौ मत्स्यादि-कीकसे। नैयोगिकादिदोषोक्तौ स्याद्रोमाञ्च द्रुमाङ्गयोः इति

विघ्न-व्रात-सुतीक्ष्णकण्टक-घटा
मास्वादयन् देहिनाम्,
हेरम्बस्तरुण-क्रमेलक-गल-
स्पर्द्धी मृगाङ्कायते ।
दीप्यद्दन्त-मरीचि-वीचि-निचय-
ज्योत्स्नाभिरुल्लासयन्,
कल्याणाम्बुनिधिं विपक्ष-कमलो-
ल्लासञ्च वित्रासयन् ॥ ८६ ॥

मग्नान्यर्कपिपासु-सप्त-तुरगा
ऽऽस्यान्तर्गतानि ध्रुवम्,
गङ्गायां गगनानि सप्त गगने
गङ्गास्त्रयोविंशतिः ।
किन्त्वेकादश-रुद्र-मस्तक-धृता
स्तन्मौलि-चन्द्रान्तरे,
तावत्यः प्रतिमागताः सुविशदा
नैसर्गिकी चापरा ॥ ८७ ॥

यत्सप्तर्षि-कमण्डलूदर-गता-
न्यासन्निमग्नानि तद्,
गङ्गायां गगनानि सप्त गगने
गङ्गास्त्रयोविंशतिः ।
रुद्रै र्भक्तिवशंवदैरुपदशैः
सूरै रुपैकादशैः,
पूज्यन्ते च पृथक् पृथक् बलिशतै
रावाहनेपि स्थिताः ॥ ८८ ॥

मेदिनीकरः) । स एवासिदण्डः मृगाङ्कायते चन्द्रवदाचरति किं कुर्वन् सन् ? सङ्ग्रामे युद्धे, रिपु-राजाः शत्रुमुख्याः, तेषां कुञ्जर-घटाः दन्ति-समुदायाः तद्दन्तावलीं पङ्क्तिं पाटयन् त्रोटयन् ; मृगाङ्कोऽपि कुञ्जरघटा-दन्तावलीं पाटयति अनुकरोति ॥ ८५ ॥

विघ्नेति । हेरम्बः गणेशः तरुणक्रमेलकगलस्पर्द्धीति योजना । किं कुर्वन् ? देहिनां प्राणिनां विघ्नव्राताः अन्तरायसमूहाः तएव तीक्ष्णकण्टकाः तेषां घटां समुदायं आस्वादयन् दूरीकुर्वन् ; क्रमेलकोऽपि कण्टकास्वादनरुचिर्भवतीति । हेरम्बः मृगाङ्कायते चन्द्रवदाचरति । किङ्कुर्वन् सन् ? कल्याणाम्बुनिधिं मङ्गलसमुद्रं, दीप्यन्तः ये दन्तमरीचयः दन्तत्विषः त एव वीचिनिचयाः लहरीसमुदायाः, तेषां ज्योत्स्नाभिर्ज्वालमालाभिः, उल्लासयन् वर्द्धयन् ; चन्द्रोऽपि समुद्रं किरण-वीचि-निचय-ज्योत्स्नाभिरुल्लासयति । च पुनः किं कुर्वन् ? विपक्षाः वैरिणः त एव कमलानि तेषाम् उल्लासं वित्रासयन् दूरीकुर्वन्नित्यर्थः ; चन्द्रोऽपि कमलोल्लासं परिहरति । अत्रापि द्वितीय पादः समस्या ॥ ८६ ॥

मग्नानीति । गगनानि, ध्रुवं निश्चयं, गङ्गायाम् मग्नानि ध्रुवमितीवार्थे वा मग्नानीवेत्यर्थः । किं विधानि गगनानि ? अर्कस्य सूर्य्यस्य, पिपासवः सतृषाः, सप्ततुरगाः सप्ताश्वाः, तेषामास्यान्तर्गतानि मुखमध्यप्रविष्टानि । सप्तगगने गङ्गास्त्रयोविंशतिः । त्रयोविंशतिकत्वं विशदयति—किन्त्विति, एकादश ये रुद्राः तेषां मस्तकधृताः ; प्रत्येकमेकैकरुद्रमस्तकस्थित्या एकादशत्वं तासां ; तन्मौलिचन्द्रान्तरे रुद्रमस्तकचन्द्राभ्यन्तरे प्रतिमागतास्तावत्यः एकादश, एवं मिलित्वा द्वाविंशति जाताः सुविशदाः सुतरां प्रकटाः ; नैसर्गिकी स्वभावसिद्धाऽपरा च एवं समुदायेन त्रयोविंशतिरिति । द्वितीयचरणेनात्र समस्या ॥ ८७ ॥

यदिति । सप्तगगनानि यत् यस्मात् । सप्त च ते ऋषयश्च तेषां कमण्डलूदराणि पानपात्रमध्याः तद्गतानि गङ्गायां निमग्नानि आसन् । कमण्डलुभरणे तद्गतानि गगनानि गङ्गायां प्रविष्टानीति भावः । सप्तगगने गङ्गास्त्रयोविंशतिरासन् । त्रयोविंशतित्वमेव प्रकटयत्युत्तरार्द्धेन । उपदशैरेकादशै रित्यर्थः । भक्तिवशंवदैः प्रियवशेति खच्, अजन्तत्वान्मुम् पूर्वस्य । रुद्रैः पृथक् पृथक् प्रत्येकं बलिशतैः पूजासमुदायै पूज्यन्ते । च परम्, उपैकादशैर्द्वादशभिः सूरैः सूर्य्यैः पृथक् पृथक् प्रत्येकं बलिशतैः पूजासमुदायैः पूज्यन्ते । पृथक् पृथक् आवाहनोपस्थिताः—आवाहनं मन्त्रेणाह्वानं तेनागताः । अतो गङ्गास्त्रयोविंशति रिति सर्वं समञ्जसम् । अत्रापि द्वितीयचरणः समस्या ॥ ८८ ॥

कस्तूरी-तिलकं विसारि विलसत्
सीमन्त-मुक्ता-मणिः
वक्त्रं निन्दित-चन्द्र-बिम्ब विभवं
नीलञ्च कौशेयकम् ।
चोलं जालक-वाससां यदभव
त्तद्गोपयूनामभूत्,
जम्बूवज्जलविन्दुवज्जलजव
ज्जम्बालवज्जालवत् ॥८९॥

ख्यातस्त्वं फल-पुष्प-वृष्टि-सुमनः-
स्वाधीन-जाम्बूनदः,
क्षीणास्ते रिपु-सम्पदः प्रतिदिनं
मित्रोदये मोदसे ।
पान्थानां कुरुषे विलम्बनमहो !
दत्तान्तरस्तेजसाम्,
जम्बूवज्जलविन्दुवज्जलजव
ज्जम्बालवज्जालवत् ॥ ९० ॥

नित्यं भात्यलकानुबन्ध-मधुरा
भालस्थली सुभ्रुवः,
तारुण्यं विलसन्मदाविलमुरो
नक्षत्र-मालाश्रितम् ।
अङ्गं चम्पक-गौर मक्षि सकल-
ग्रामोल्लसन्मूर्च्छनम्,
गङ्गावद् गजगण्डवद् गगनवद्
गाङ्गेयवद् गेयवत् ॥ ९१ ॥

कस्तूरीति । गोपयूनां गोप्यश्च गोपाश्च युवतयश्च युवानश्चेति समासः, 'पुमान् स्त्रिया'-इत्येकशेषः)युवति सम्बन्धि यत् कस्तूरी-तिलकमित्यादिचोलान्तम् अभवत्, तत् सर्वम् गोपयूनां जम्बूवदित्यादि जालवदित्यन्तमभूदिति योजना । तदेव प्रत्येकं विशदीकरोति-विसारि प्रसरणशीलम्, कस्तूरीतिलकं मृगमदतिलकम्, जम्बूवत्, श्यामलत्वात् वर्त्तुलत्वाच्च साम्यम् (यद्यपि फले जम्बुशब्दो ह्रस्वान्तः, तथापि वृक्षवाचक दीर्घान्त एवेह फले अभेदोपचारात् प्रयुक्तः ; जम्बु स्त्री जम्बु जाम्बव मित्यमरः)। विलसन्ती या सीमन्त-मुक्तावलिः (सीमन्तः कथ्यते स्त्रीणां केशमध्ये तु पद्धतिरिति हलायुधः) । जलविन्दुवत् सोज्ज्वलत्वात् । निन्दितः चन्द्रबिम्बविभवो येन तत् तथा वक्त्रं मुखं जलजवत् कमलवत् सौगन्ध्यात् सौन्दर्य्यातिशयाच्च । च परं, नीलं कौशेयकं (कौशेयं कृमिकोशोत्थमित्यमरः) जम्बालवत् कर्दमवत् सवर्णत्वात् (पङ्कोऽस्त्री कर्दमः शादो जम्बालश्च निषद्वरः-इति महीपः) । जालकवाससां चोलं कञ्चुकम् (चोलः कूर्पासकोऽस्त्रियाम्—इत्यमरः,) जालवत् आनायवत् (मत्स्यादि धारण-साधनं जालम् 'आनायः पुंसि जालं स्यात्'-इत्यमरः) ॥ ८९ ॥

ख्यातइति । हे राजन् ! त्वं फलानां वृष्टि वर्षणम् तया पुष्टिः पोषणं तस्याः, सुमनसां शुद्धचित्तानां स्वाधीनं जाम्बूनदं सुवर्णं यस्य सः, एवंविधः ख्यातः प्रसिद्धः । ते रिपुसम्पदः क्षीणाः । त्वं प्रतिदिनं मित्रोदये मोदसे । पान्थानां मार्गस्थानां विलम्बनं कालपरिकलनं कुरुषे, देशान्तरागतानां त्वत्सङ्गतिसुखभाजां स्वदेशगमनेच्छा न भवतीति भावः । तेजसां पराक्रमाणाम् अहो-इत्याश्चर्य्ये, दत्तान्तरः दत्तमान्तरं येनेति स तथा । सर्वत्र जम्बूवदित्यादि-पद पञ्चक-घटित-समस्या-चरणेन यथाक्रममुपमालिङ्गवचनभेदभिन्ना ज्ञेया । तदुक्तं वामनालङ्कारे—'उपमानोपमेययो लिङ्गव्यत्यासो लिङ्ग-भेदः-इति, सैन्यानि नद्य इव जग्मुरित्युदाहरणम् । इष्टः पुन्नपुंसकयोः प्रायेणेति, तत्रोदाहरणम्-इन्दुरिव मुखमिति ॥ ९० ॥

नित्यमिति । सुभ्रुवः नायिकायाः भालस्थली, नित्यम् अनवरतम्, तारुण्यं तरुणिमा, उरः वक्षस्थलम्, अङ्गं शरीरम्, अक्षि चक्षुः, भातीति सर्वत्रानुसन्धेयम् । किं विधा भालस्थली ? अलकानां चूर्णकुन्तलानामनुबन्धः संसर्गः तेन मधुरा सुन्दरा । किंविधम् तारुण्यम् ? विलसंश्चासौ मदश्च उन्मादस्तेनाविलं कलुषं युक्तमित्यर्थः । किं विधःउरः ? नक्षत्र-माला हारविशेषः तया आश्रितम् अधिष्ठितम् (सैव नक्षत्र-माला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः-इत्यमरः) किं विधम् अङ्गम् ? चम्पकवत् गौरं पीतम् (गौरः पीतेऽरुणे शुभ्रे विशुद्धेऽप्यभिधेय वत्-इति मेदिनीकरः) किं विधमक्षि ? सकलः यः ग्रामः नगर-भेदः, तस्मिन् उल्लसन्ती मूर्च्छना यस्येति । अथवा कलाभिः

कीर्त्तिस्ते विमला सदैव कमला
भृङ्गैरियं सेव्यते,
शून्यं शत्रुकुलं तव क्षितिभृतो
भेत्ताभवांश्छक्तितः ।
चारित्त्रं भरतानुयायि भवतो
हम्मीर ! पृथ्वीपते !
गङ्गावद् गजगण्डवद् गगनवद्
गाङ्गेयवद् गेयवद् ॥ ९२ ॥

वन्धं क्वापि कदापि चानुभवतो
मोक्षञ्च तन्मानसे,
तोषं वर्द्धयतः सदा सुमनसां
नीचैः स्थितिं कुर्वतः ।
श्रीमत्पुष्पक-वास-लब्ध-यशस
स्तस्मादनन्तर्हितः,
पानीयस्य दशाननस्य कवरी-
भारस्य तुल्यक्रमः ॥ ९३ ॥

पङ्क-व्योम-विहार-दक्षसरस
श्री नीलकण्ठाश्रयम्,
कृत्वामितसमं दया खलु महा
कालं घनं कुर्वतः ।
सोत्कम्पा-निमिषेक्ष्यमाण-विलसत्
सत्पुष्पक-श्री-जुषः,
पानीयस्य दशाननस्यकबरी-
भारस्य तुल्यः क्रमः ॥ ९४ ॥

सह वर्त्तमानाः सकलाः पुरुषाः, तेषां ग्रामः समूहः, तत्र उल्लसन्ती मूर्च्छना यस्येति । अत्र गङ्गावदिति चतुर्थ चरणः समस्या । तत्तत्पदै र्यथाक्रममुपमेति योजनीयम् । किं विधा गङ्गा ? अलकायाः कुवेरनगर्य्याः अनुवन्धस्तेन मधुरा । किं विधं गजगण्डम् ? विलसन् यः मदः दानोदकं तेना विलम् । किं विधं गगनम् ? नक्षत्रमाला तारकापंक्तिः तयाश्रितम् । किं विधं गाङ्गेयम् ? चम्पकगौरम् । किं विधं गेयम् ? सकल-षेधामाः स्वराः तैः विलसत्यः मूर्च्छनाः यस्मिन् तत् (ग्रामो वृन्दे-वसथे स्वरे-इति महीपः) ॥ ९१ ॥

कीर्त्तिरिति । भोहम्मीरपृथ्वीपते ! ते तव कीर्त्तिः सदैव निरन्तरं विमला निर्मला, गङ्गावत् गङ्गेवेत्यर्थः । दैवेना इष्टेन सहितस्तथा, तत्सम्बोधनं वा । ते इयं कमला लक्ष्मीः भृङ्गैः खिङ्गैः सेव्यते (मनोहरे तटे शुक्रे भृङ्गो धूम्याट-खिङ्गयोः मधुव्रते इति मेदिनीकरः) भवतः चारित्त्रं चरित्रस्य भावः तथा भरतं शाकुन्तलेयम् अनुयातीत्यनुयायि किं वत् गेयवत् (गेयं गानम्) गेयमपि भरतानुयायि । भरतोनाट्यवेदोपाध्यायः शास्त्रं वा (भरतोनाट्य शास्त्रे मुनौ नटे रामानुजे च दौष्यन्तौ-इति मेदिनीकरः) । भङ्ग्यन्तरेणेयं समस्या । अस्तीति सर्वत्रैक क्रियाध्याहारः ॥ ९२ ॥

वन्धमिति । पानीयस्य जलस्य, दशाननस्य रावणस्य, कवरीभारस्य केशकलापस्य, तस्मात् कारणात् तुल्यः क्रमः, अनन्तर्हितः न अन्तर्हितः आच्छादितः प्रकट इत्यर्थः । तत्र पानीयस्य तावद्दर्शयति—क्वापीति देशतः, कदापीति कालतः, बन्धं सेतुना अनुरोधनम् अनुभवतः प्राप्नवतः । च परं मोक्षं मोचनम् अनुभवतः, सदा निरन्तरं तन्मानसे तत् प्रसिद्धं मानसं सरः तस्मिन् । सुमनसां सुष्टुचित्तानां तोषं वर्द्धयतः । पुनः किंविधस्य ? नीचैः स्थितिं कुर्व्वतः नीचगामित्वस्वभावादितिभावः । श्रीमन्ति यानि पुष्पकाणि तेषां वासः सौगन्धं तेन लब्धं यशः सामख्या येनेति तथा तस्य । किंविधस्य दशाननस्य ? क्वापि कदापीति वालिना सन्ध्याकाले स्वदेशे रावणं कक्षपुटे निगृह्य समुद्रे सन्ध्यावन्दनार्थं गतमिति रामायण-कथा ; अतः बन्धम् अनुभवतः , च परम् मोक्षम् अनुभवतः ; तन्मानसे वालिमानसे तोषं वर्द्धयतः, मैत्रीकरणेन सुखं वर्द्धयतः, सदा सर्व्वदा सुमनसां देवानां नीचैः स्थितिं कारानिवेशनेन कुर्व्वतः । श्रीमत् यत् पुष्पकं कुवेरविमानं तत्र वासः अधिष्ठानं तेन लब्धं यशो येनेति स तथा तस्य । किंविधस्य कवरीभारस्य ? बन्धम् अनुभवतः प्रसाधनादिनेति भावः । मोक्षं च सुरतादाविति, सुमनसां सुष्टुचित्तानां सदा मानसे अन्तःकरणे तं प्रसिद्धं तोषं वर्द्धयतः, नीचैः स्थितिम् अधः प्रचारं कुर्व्वतः, अनेन लम्बालकत्वं सूचितम् ; श्रीमन्ति यानि पुष्पकाणि तेषां वास तेन लब्धं यशः येनेति तथा तस्य, वासः वसतिः सुवासो वा ॥ ९३ ॥

पङ्केति । इहापि पूर्ववत् पानीयदशाननकवरीभाराणां साम्यमुन्नेयम् ॥ ९४ ॥

३४

(मू०) सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्मा त्मविद् बुधः। प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति॥ ७॥

(टी०) 'सुवृत्तः' शोभनचरितः 'शीलसम्पन्नः' सद्गुणसम्पत्तियुक्तः 'प्रसन्नात्मा' प्रसन्नचित्तः 'आत्मवित्' ब्रह्मवित् 'बुधः' पण्डितः। 'इह लोके' सम्मानं' पूजां 'प्राप्य' 'प्रेत्य' व्यावृत्यास्मात् लोकात् 'सुगतिं' साधुगतिं 'गच्छति' प्राप्नोति॥ ७॥

(ता०) सदसद्विवेक्तुं बुद्धिं परिमार्जयेत्, सुमार्जित-शुभबुद्धेरादेशानुरूपं कर्म प्रकृत्य सच्चरितः सुशीलश्च स्यात्; सच्चरितः सुशीलश्च भवन् मनः प्रसन्नं रक्षेत् अपिच ब्रह्मज्ञानमवाप्य ब्रह्म-परायणो भवेत्। इहलोके सम्मानं परलोके च सद्गति रस्य पुरस्कारः॥ ७॥

३५

(मू०) यस्य वाङ्मनसो स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा। तपस्त्यागश्च सत्यञ्च सवै परमवाप्नुयात्॥ ८॥

(टी०) 'यस्य' जनस्य 'वाङ्मनसो' वाक् च मनश्च 'सदा' 'सम्यक् प्रणिहिते' प्रकृष्टावधानयुक्ते 'स्यातां' भवेतां 'तपः' 'त्यागः च' दानञ्च 'सत्यञ्च' 'सवै' सएव 'परं' पदं 'अवाप्नुयात्' प्राप्नोति॥ ८॥

(ता०) मिथो वाङ्मनः-संयताभावेऽनृतं प्रलापश्चेति द्वयो र्महादोषयोरापतन्ति मानवाः। मनो यज्जानाति वाक्येन तदन्यथा प्रकाशिते—मिथ्योक्तिः*; एवम् वाक्येन यत् प्रकाश्यते, मनस्तदनुयायिचिन्तां न कुर्वच्चेत्—जातोऽसम्बन्धप्रलापः†। अतोवाक्यं मनश्च संयम्य ईश्वरे ध्यानधारणात्मिकां तपस्यां, सद्व्ययोदानम्, सत्य-व्यवहारञ्च कुर्य्यात् ‡॥ ८॥

३६

(मू०) धर्म्मनित्यः प्रशान्तात्मा कार्य्ययोगवहः सदा। नाधर्म्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्त्तते॥ ९॥

(टी०) 'धर्म्मनित्यः' धर्म्मे नितरां रतः 'प्रशान्तात्मा' समाहितचित्तः 'कार्य्ययोगवहः' कार्य्योपायतत्परः 'सदा'। 'न अधर्म्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्त्तते'॥ ९॥

(ता०) शान्तचित्तो धर्मानुगतश्च सन् कर्मानुष्ठाने तदुपाय-चिन्तनेच व्यापृत स्तिष्ठेत्! अलसो निष्कर्मा च यः स्यात् तस्य मनः पापालोचनायां प्रवर्त्तेत तथाच, तस्मात् कर्म च पापमयं जायेत। आलस्यः सर्वेषां दूषणानामाकरः॥ ९॥

३७

(मू०) धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः। श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं सपरिहीयते॥ १०॥

(टी०) 'यः' धर्म्मञ्च अर्थञ्च 'धर्मार्थौ' तौ 'परित्यज्य' 'इन्द्रियवशानुगः' इन्द्रियाणां वशानुगामी 'स्यात्' 'सः' 'क्षिप्रं' शीघ्रं 'श्रीप्राणधनदारेभ्यः' 'परिहीयते' प्रहीनो भवति॥ १०॥

(ता०) ईश्वराराधनं सांसारिक-कार्यं च

*एवञ्च मनो यज्जानाति वाक्येन तदन्यथा प्रकाशनं मिथ्याकथन-लक्षणम् निष्पन्नं।

†एवञ्च मनो यन्न चिन्तयति वाक्येन तत्प्रकाशनम् प्रलापलक्षणम् निष्पन्नम्।

‡अत्र यत् मिथ्याभाषण-प्रलपनयोर्भेदः सूचितः सोऽतीवपूर्य्यसनीयः। स०।

परित्यज्य इन्द्रियाणां तृप्तिकरामोदे आसक्तो न भवेत् । विषय-सुखं मनुष्यार्थं सृष्टम्, नहि मनुष्यो विषय-सुखार्थः । मनुज-जीवनस्योद्देश्यो-ऽतिमहान् । यः कश्चन मौढ्यवशेन ईश्वरमग्राह्य इन्द्रियाणां दासः विषयसुखासक्तश्च तिष्ठति; मङ्गल-मयः परमेश्वरः तं चेतयितुं यथोचितं-दण्डयति—सः श्री-प्राण-धन-दारातोऽविलम्बेन परिच्युतो भवति १० ॥

३८

(मू०) बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मा-त्मना जितः । स एव नियतोबन्धुः सएव नियतोरिपुः ॥ ११ ॥

(टी०) 'येन' आत्मना' स्वेन 'आत्मा' 'जितः' वशीकृतः 'तस्य' 'आत्मनः' 'आत्मा' 'एव' सएव 'बन्धुः' । 'सः एव' आत्मैव 'नियतः बन्धुः सः एव नियतः रिपुः' ॥ ११ ॥

(ता०) आत्मनि विविधाः प्रवृत्तयः सन्ति; सर्वा एव ताः स्व-स्व-विषये नेतुमात्मानमाकर्ष-यंति । यद्यात्मा एतावत् प्रवृत्ति स्रोतेष्वेवाव-गाहनं कुर्यात्, तर्हि तस्य दुर्द्दशायाः परिसीमा-नतिष्ठेत् । अतएवेश्वरस्तस्मै कर्त्तृत्व-शक्तिमदात्, यया चात्मा स्वस्य प्रवृत्ती र्वशीकुर्वन् कल्याणमये पथि अग्रसरो भवितुं युज्येत । एव मेव मनुष्यः स्वं दमितुं न शक्यते चेत्, स्वयमेव स्वस्यानिष्टं यथा कुरुते, नान्यस्तथाकर्त्तुं समर्थः; अपिच स्वयमेव स्वस्याधिपतिर्भवन् यथा स्व-हितं साधयेत् नान्य-स्तथा कोऽपि किमप्युपकर्त्तुं शक्येत । अतः स्व-शासने स्वं परिरक्ष्य स्व-मङ्गलमाचरन् स्वेन सौहृदं सम्पादयेत्, स्वयमेव स्व-शत्रु र्न भवेत् । स्वयं स्वाधिपतिर्भवन् विचरेत्; मङ्गलमार्गे बलात् स्वं चालयेत् । यदि कश्चिदान्तरिक-रिपुः प्रबलोभवन् तत्र विघ्नमापादयेत्, बलेन तमतिक्रमेत् । आत्म-शासने आलस्य मौदास्यं वा प्रकाश्य आत्मानं स्वेच्छाचारिणं भवितुं न कदाप्युपयुज्येत । सर्वा-न्तःकरणैः ईश्वरानुगतो भूत्वा व्यवहरन्नेव स्वेन सौहृद्यमुपगतं मन्येत ॥ ११ ॥

३९

(मू०) प्राप्य चाप्युत्तमं जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवं । न वेत्त्यात्महितं यस्तु सभवेदात्मघातकः ॥ १२ ॥

(टी०) 'यः तु' 'उत्तमं' मानवं 'जन्म' 'प्राप्य' 'च अपि' 'इन्द्रियसौष्ठवं' 'इन्द्रियवैकल्यं' 'लब्ध्वा' 'च' । 'आत्महितं' 'नवेत्ति' न जानाति 'सः' 'आत्म-घातकः' आत्मघाती 'भवेत्' भवति ॥ १२ ॥

(ता०) सदैवात्मनोहितं चिन्तयेत् । कथमा-त्मनोज्ञानं धर्मोन्नतिश्च भविष्यति ? कथमीश्वर-प्रेम पवित्रता चैधिष्यते ? कथं वेश्वरेण सम्मिलन्न आत्मा मोक्षमवाप्तुं शक्यते ? एवमुपाया नन्तु सन्दध्यात्; आत्मनोऽनन्त जीवनस्यापरिमेय-दीर्घतां संस्मृत्य तत्सम्बलमाहरेत् । क्षुद्रतायां मलिनतायाञ्चाशक्तिं परित्यजेत् । यत्किञ्चन आत्म-नोऽनन्तकालं हितकरं भवितुं युज्येत, तदेव गृह्णीयात् । पापेन्वाचरिते एव स्वानिष्टं कृतं भवेत्; अतः स्वयं स्वस्यानिष्टं कुर्वन् आत्मानं न विनश्येत; अमूल्यमुत्कृष्टं मानवं जन्म पापाचरणै र्न मलिनयेत् ॥ १२ ॥

४०

(मू०) पूर्व्वे वयसि तत् कुर्य्यात् येन वृद्धः सुखं वसेत् । यावज्जीवेन तत् कुर्य्यात् येनामुत्र सुखं वसेत् ॥ १३ ॥

(टी०) 'येन' कर्म्मणा 'वृद्धः' सन् 'सुखं' यथा स्यात् तथा 'वसेत्' 'तत्' कर्म्म 'पूर्व्ववयसि' 'कुर्य्यात्' । 'येन' 'अमुत्र' परत्र लोके 'सुखं'

वसेत्' 'तत्' 'यावज्जीवेन' यावज्जीवनेन 'कुर्य्यात्' ॥ १३ ॥

(ता०) वर्त्तमानसुखे एव मुग्धो मनुष्य सन् भविष्यच्चिन्तां न परित्यजेत्। यत् सुखं केवल-मद्यभोग्यम्, तदनुरोधेन चिरस्थायिनं मङ्गलं नावहेलयेत्। क्रीड़ां कौतुकञ्चैवावलम्ब्य वाल्यं यौवनञ्च नाति वाहयेत्; धर्म-शिक्षा, ज्ञान-शिक्षा, परिश्रमाभ्यासः-इत्येवमादिकं कार्य्य-जातं वाल्ये यौवने च नियत्नेनानुतिष्ठेत्, नोचेत् वार्द्धक्यं दुःखस्य विरक्ते श्चैवाधारं भवेत्। यदि क्षणस्थायि-सुखाय व्यग्रएव प्रथम-वयोऽतिवाहयेत्, तर्हि चिन्तयैतत्—यदा वार्द्धक्य मुपस्थास्यति यदा शरीरमेतत् दौर्वल्यमाप्स्यति, यदेमानीन्द्रियाणि जैर्णमेष्यन्ति, तदा शान्तिः निर्भयस्य च न काप्याशा स्थास्यत्। आकलय चैतावत्—यदि पार्थिव सुख-मेव यथेष्ट विचार्य्य निर्विचारचित्तेन चिरजीवनं तस्यैवायासेवरतः तिष्ठेः, यदि ज्ञानं धर्मं पवित्र-तांच सञ्चितुं न शक्येः, तर्हि यदा पृथिवीं परित्यज्य ईदृकस्थलेऽयास्यत् यत्र पृथिव्याः न किमपि वस्तु सहनेतुं शक्ष्यसे, तदा कीदृशी यन्त्रणा समुपस्था-स्यत? यतः तत्र यदावश्यकम् तत् किमपि त्वद-न्तिके न वर्त्तते ॥ १३ ॥

४१

(मू०) नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितं। कालमेव प्रतीक्षेत निर्द्दिशं भृत-कोयथा॥ १४ ॥

(टी०) 'मरणं' 'न अभिनन्देत' न कामयेत् 'जीवितं' च 'न अभिनन्देत'। किन्तु 'कालं एव' 'प्रतीक्षेत 'यथा' 'भृतकः' कर्म्मकरः 'निर्द्दिशं' निर्द्दिश्यते असौ निर्द्देशो भृतिः तत् परिशोधन-कालं तथा ॥ १४ ॥

(ता०) स्वस्थानित्यं जीवनं विस्मृत्य पार्थिव-विषयेन मुग्धस्तिष्ठेत्, किन्तु परलोकेऽतीव निश्चित-मानसः स नैहिकजीवनमुपेक्षेत। ईश्वरोऽस्माकं समस्त जीवनस्य प्रभुः, स यावद्दिन मस्मानिह रक्षति तावत् सन्तोषं तदाज्ञां वहामः; स यदा लोकान्तरमुपनेतुं मृत्युं प्रेरयिष्यति तदा शोकमकृत्वा भवन् तदाज्ञया सन्तुष्टा भविष्यामः। स्वकी-याशां भूलोके वद्धां माकार्षीत्, द्युलोकेऽपि वद्धां माकार्षीत्; परमेश्वरे एव संस्थापयेत् ॥ १४ ॥

इति।

४२

पञ्चमोऽध्यायः।

(मू०) सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतोभवेत्। सन्तोषमूलं हि सुखं दुःख-मूलं विपर्य्ययः॥ १ ॥

(टी०) 'सुखार्थी' सुखप्रार्थकः 'परं' 'सन्तोषं' 'आस्थाय' अवलम्ब्य 'संयतः भवेत्'। 'हि' यस्मात् 'सुखं' 'सन्तोषमूलं' सन्तोषहेतुकं 'विपर्य्ययः' असन्तोषस्तु 'दुःखमूलं' दुःखकारणं ॥ १ ॥

(ता०) यो यथायोग्यः, ईश्वरस्तदनुरूपमेव सुखं तस्मै ददाति। अतः स्व-योग्यतायाः अनुरूपं सुखमवाप्य परितृप्तो भवेत्। यो योग्यतातीतं सुख-माकांक्षति सदुराकांक्ष इत्युच्यते। दुराकांक्षाया वशीभवन् असन्तुष्टो न भवेत्, अन्यथा यदाकांक्षितं तदर्थमनर्थमतीवकष्टमाप्येत, उपस्थित सुखस्यास्वादन मपि नाप्येत। अतः सुखदाताईश्वरो यदा त्वत्साध्य-चेष्टानुरूपं यत्किञ्चन सुखं दास्यति; कृतज्ञचेतसा तदेव परिगृह्य सन्तुष्टोऽभविष्यः। धनार्थं, मानार्थं, पदार्थं, मर्यादार्थं, किमप्यर्थम् दुराकांक्षो नभवेत् ॥ १ ॥

४३

(मू०) असन्तोषपरामूढ़ाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः। अन्तोनास्तिपिपासायाः सन्तोषः परमं सुखं॥ २ ॥

'मूढ़ाः' मूर्खाः 'असन्तोषपराः' 'पण्डिताः' 'सन्तोषं यान्ति' सन्तुष्टाभवन्ति। यतः 'पिपासायाः' विषयतृष्णायाः 'अन्तः न अस्ति' अपि तु 'सन्तोषः परमं सुखं' ॥ २ ॥

(ता०) यथा यथा विषयान्भुज्यते, तथा तथैव विषयतृष्णा परिवर्द्धते; एकस्मिन् विषये हस्तगते, पुनर्विषयान्तरे मनः प्रधावितं भवति, अपिच लब्धे तस्मिन् पुनरन्य-प्रापनाय लालायितं भवति। पण्डिताः खल्वीदृशीं विषयतृष्णा-प्रतिकृतिं विलोक्य सन्तोषमवलम्ब्य सुखिनो भवन्ति, किञ्च प्रकृततृप्तिस्थानं संसारातीतमिति विज्ञाय संसारासक्तिं परित्यजन्ति। स्थूलदर्शिनस्तु तदविज्ञानेन बाह्याडम्बरमेव सुख-कारणमिति निश्चित्य यत्र यावदधिक-बाह्यविषयान् पश्यन्ति तत्र तावदधिक सुखमस्तीत्यामनन्ति। परं तेऽमुं न जानन्ति—यत् बाह्यविषयाणां न्यूनातिरेकेऽपि सुख-दुःख-भोग परिमाणं सर्व्वत्रैव समानम्; अतएव ते सुखरत्नस्य सूर्य्यमणिस्वरूपं सन्तोषमवलम्बितुमसमर्थाः सदैवासुखिनस्तिष्ठन्ति। अतो विषयतृष्णां विजित्य सन्तोषमभ्यस्येत ॥ २ ॥

४४

(मू०) सुखदुःखं हि पुरुषः पर्य्यायेणोपसेवते। सुखमापतितं सेवेत् दुःखमापतितं वहेत् ॥ ३ ॥

'हि' यस्मात् 'पुरुषः' 'सुखदुखं' सुखञ्च दुःखञ्च तत् 'पर्य्यायेण' क्रमेण 'उपसेवते'। तस्मात् 'आपतितं' आगतं 'सुखं' 'सेवेत्' सेवेत 'दुःखं आपतितं वहेत्' ॥ ३ ॥

(ता०) मङ्गलस्वरूप ईश्वरो निरन्तर मस्माकं करोति, येनोपायेनास्माकं मङ्गलं भव्यं स तमेव विदधाति। यदा वयं तदीये कल्याणमये पथि गच्छामः, तदा सोऽस्मभ्यं सुखमात्र प्रसादं ब्रह्मानन्दञ्च पुरस्कारं प्रददाति। यदातु तदीयं मङ्गलमयमादेशमग्राह्य कुपथे पदमर्पयामः, तदा स पुनरस्मान् सत्पथे आनेतुं सुख-सम्पत्तितो विच्योतयति; तदावयं दुःखं ग्लानिञ्च भुक्त्वा चेतनां लभामहे। सुखं दुःखम्—उभयमेवैतत् तन्मङ्गलाभिप्राय-साधनाय पर्य्यायेण पर्य्यटति; दुर्व्वलस्य वै मानवस्योभयमेव भोग्यं। अतः सुखे समुपस्थिते कृतज्ञ चेतसा तत्प्रसादमिति तं भुज्येत, अपिच दुःखे उपस्थिते तदपि मङ्गलाय आगतमिति शान्तचेतसा निर्व्वहेत्, सदाच तस्य कल्याणमयस्या देशमनुसरेत् ॥ ३ ॥

४५

(मू०) न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्। शरीरमवायतनं दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ४ ॥

'न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखं'। 'शरीरं एव' 'आयतनं' आश्रयः 'दुःखस्य च सुखस्य च' ॥ ४ ॥

(ता०) सुखं न भवति चिरस्थायि, दुःखमपि न भवति चिरस्थायि; एकं मङ्गलमेव चिरस्थायि। यदा सुख-सम्पद्भ्यामस्माकं मङ्गलं भव्यम्, तदा स तदेव प्रेरयति, यदा दुःख-विपद्भ्यामस्माकं मङ्गलं भव्यम्, तदा स तदेव प्रेरयति। सुखं दुःखमुभयमेव अपूर्व्व-प्रकृति-मनुष्यं मङ्गलराजस्य सन्निहितं करोति। अतः सुखं दुःखं चानपेक्ष्य एकमात्रं मङ्गलमेव लक्ष्यं प्रकल्प्येह विचरेत्। कदाचित् तदीय मङ्गलाभिप्राय-सम्पादनाय स्वेच्छयैव सुख-सम्पदवश्यं विसर्जनीयम्, दुःख-विपद्वावश्यमालिङ्गनीयं भविष्यति; तदा तु दुःख-विपदेवास्माकं परमसम्पत् ॥ ४ ॥

४६

(मू०) सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियं। प्राप्तं प्राप्तमुपासीत् हृदयेनापराजिता ॥ ५ ॥

चतुर्थी ऋक्।

वामदेवऋषिः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २ ३ २३ १ २ ३
इन्द्र उक्थेभिर्मंदिष्ठो वाजानां च
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २
वाजपतिः। हरिवांत्सुतानां सखा॥ ३३॥

'उक्थेभिः' उक्थलक्षणसामभिः 'मंदिष्ठः' स्तुत्यः 'इन्द्रः' त्वम् 'वाजपतिः' अन्नस्वामी, अतो ब्रवीमि 'वाजानाम्' दाता भवेति शेषः। 'च' अपिच त्वम् 'हरिवान्' अश्ववान् अश्ववद्रथारूढः युगपत् शतशतमखेषु गच्छसि, अतो ब्रवीमि 'सुतानाम्' सर्वेषाम् सोमानाम् 'सखा' भवेति शेषः। उक्थेभिरिति साप्तमिकबहुलवचनाद् भिसऐसादेशो न। मन्दिष्ठ इति मदि स्तुतावित्यस्मात् बाहुलकात् कर्मणि तृचि 'तुश्छन्दसि' इतीष्ठनि रूपम्। ऋचि हरिवांत्सुतानामिति नश्चेति सस्य धुट् प्रसिद्धः॥ २२॥

উক্থ নামক মন্ত্রদ্বারা স্তুত্য, ইন্দ্র! তুমি অন্ন-স্বামী, অতএব আমাদিগকে অন্নদান কর; এবং তুমি অশ্বযুক্ত ঘোটকারূঢ় হইয়া এক কালে শত শত যজ্ঞে উপস্থিত হইয়া থাক, অতএব সমস্ত সোমযাগের সখা হও* ॥ ৩৩ ॥

বার্হদুক্থম্।

५ २ १ २
इन्द्रउक्थायि। भिर्मान्दाइष्ठो ३।
१ २ ३ ५ १र २ १
वाजाना २३४ न्वा। वाजपतिः। हारा-
३ ५ १र २र १
२ इ वा २३४त्सू। ता ना २ऽस। खा।
२ ४ ५ ४
औ ३ हो वा। हो ५इ। डा॥ ३३॥

पञ्चमी ऋक्।

श्रुतकक्ष ऋषिः।

३ १ २ ३१र २र ३ १ २
आयाह्युप नः सुतं वाजेभि र्माहृणी-
२१ २३ १ २
यथाः। महाँ इव युवजानिः॥ ३४॥

इन्द्र! त्वम् 'न' अस्माकम् 'सुतम्' सोमं प्रति 'वाजेभिः' वाजैः अन्नैः अस्मद्दत्तमन्नं गृह्णन् 'उप। आ। याहि' समीपमागच्छ। एत्यच यत् किञ्चनात्र वैगुण्यं जातम् तेन 'मा। हृणीयथाः' माक्रोधं गमः मा रोषीरित्यर्थः। दृष्टान्तमाह—'महानिवयुवजानिः' युवतिर्जाया यस्य स युवजानिः, स यदि महान् तर्हि यथा तरुण्याः भार्य्यायाः अपराधेऽपि न रुष्यति, तद्वदित्यर्थः। एतेन युवतिभार्या चेत् तां न रुष्येत्-इत्यपि विधिः सिद्धः। 'छन्दसिपरेऽपि'—इति वचनात् उपेत्यस्योपसर्गत्वम्। हृणीयथाइति हृणीङ् रोषणे लज्जायाञ्च—इत्यस्य कण्ड्वादे रूपम्॥ २४॥

ইন্দ্র! তুমি অস্মদত্ত অন্নগ্রহণ করত আমাদিগের সোমযাগে আগমন কর, এবং যেরূপ মহান্ ব্যক্তি যুবতী ভার্য্যার অপরাধে রুষ্ট হয় না, * সেইরূপ এই যজ্ঞে যাহা কিছু ত্রুটি হইয়া থাকে তাহাতে রোষ করিও না ॥ ৩৪ ॥

কৌৎসম্।

४र ५र ४ १ २ २ २
आयाही। उपनः सुतम्। होवा ३
२ १र ५र २र
हाइ। वाजे २ भिर्माहृणीयया ३ः।
१ २ २ १र २ १ १
होवा ३ हाइ। महाँ इव युवा २३। हो-

* এতাবতা—যাঁহার নিকটে যাহা প্রার্থনা করিবার অভিলাষ হইবে, পূর্ব্বে তাঁহার তৎ-পূরণ-যোগ্যতা, পরীক্ষা করিবে।

* এই অংশটুকু রসিকগণের পর্য্যাপ্ত আমোদজনক। এবং এতদ্দৃষ্টে অনেকে উপদেশও পাইতে পারেন। 'যুবতীভার্য্যার সামান্য অপরাধে, কোপ করিবে না'।

२ २ १ २ ५र र
वा ३ हा ३इ। जा^२ ना २३४ औ हो-
२^ ५
वा। ऊ ३ २३४ पा॥ ३४॥

षष्ठी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः वसुर्देवता।

३ १र २र३ १र २र
कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव
३१ २३२ ३२ ३२ ३१२
श्मशा रुधद्वाः। दीर्घं सुतं वाताप्याय
॥ ३५॥

हे 'वसो' वसुनामदेव! 'वाताप्याय' (वाताप्येत्युदकनाम तस्यार्थाय) उदकार्थम् उदकानां प्राप्तये वृष्ट्यर्थमिति यावत्, अनुष्ठितं यत् 'सुतम्' अभिषुतं तत्र (सप्तम्यर्थे द्वितीया) 'हर्यते' कामयमानाय तुभ्यं कामयमानं त्वा मनुकूलयितुं यत् दीर्घम्। 'स्तोत्रम्' कीर्त्यमानं भवति तत् 'श्मशा। वाः। कदा। अव। रुधत्' श्मशेति कुल्यानाम, लुप्तोपमम्; यथा श्मशा वाः उदकम् अवरुणद्धि तद्वत् त्वं तत् स्तोत्रं कदा अवरुधत् अवरोत्स्यसि श्रोष्यसीत्यर्थः। हर्यते इति हृयमाणायेति स्थाने व्यत्ययेन। रुधदिति लेटोरूपम्। आ-इत्यनर्थकः पादपूरणे॥ ३५॥

হে বসু! বৃষ্টির নিমিত্ত অনুষ্ঠিত এই অভিষবে তোমাকে প্রসন্নকরণার্থ যে সকল সুদীর্ঘ স্তোত্র কীর্ত্তিত হইতেছে, তুমি সেই-সমস্ত, যেরূপে কুল্যা বারি রোধ করে সেইরূপে কবে রোধ করিবা? অর্থাৎ কতদিনে সেই-গুলি তোমার কর্ণগোচর হইবে?॥ ৩৫॥

कौत्सम्।

२र ३ ५र १ २
औ २ हो १ इ। कदावसो। स्तोत्रा
२ ३ ४ ५ ३ २
३म्। हर्यता आ। औ २ हो १ इ। अव-
३ ५र ३ २ ३ ५
श्मशा। रुधाद्ध २३४ वाः। औ २ हो १ इ।

३र२ ३५ २र२ २ ४
दोर्घां सुतम्। वाता ३४३। पोइयाप्या
३ १११ १
६५६। ई २३४५॥ ३५॥

सप्तमी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३१२३ २३ १२३ १र
ब्राह्मणादिन्द्रराधसः पिबा सोममृतूं
२र ३२ ३१र २र
रनु। तवेदं सख्यमस्तृतम्॥ ३६॥

हे 'इन्द्र!' 'ब्राह्मणात्। राधसः' ब्राह्मणशब्दोऽत्र ब्राह्मणसम्बन्धस्योपलक्षकम्, स्व-स्वामिभावस्य सम्बन्धः, राधसइत्यस्य विशेषणम्; राधइति धननाम तच्चात्र सोमपात्रम्, ब्राह्मणस्वामिकात् सोमपात्रात् 'सोमम्' 'पिबा' पिव। पानकालं निर्दिशति—'ऋतून्। अनु' ऋतूनाम् पश्चात् ऋतवः पूर्वं पिबन्तु तदनन्तरं त्वं पिबेति। ब्राह्मणस्य वस्तु इन्द्रः कथं ग्रहीष्यतीत्याह—इन्द्र! ब्राह्मणैः सह 'तव इदं सख्यम्' यष्टृ-यष्टव्यलक्षणम् 'अस्तृतम्' अहिंसितम् त्रैकालिकं ध्रुवमिति यावत्। पिबा-इति 'द्व्यचोतस्तिङः'। ६।३।१३५'-इति दीर्घः। ऋतूं रनु-इति 'दीर्घादटि समानपादे। ८।३।९'-इति रुत्वम् (७।१।८) सान्तमिकरुडागमस्यैतद्द्वयं वैदिकम्॥३६॥

হে ইন্দ্র! তুমি যষ্টব্য ও ব্রাহ্মণেরা যষ্টা, ব্রাহ্মণদিগের সহিত তোমার এই সম্বন্ধ নিত্য, ইহার নাশ নাই; অতএব ব্রাহ্মণের পাত্র হইতে তুমি সোমরস পান কর *॥ ৩৬॥

आर्ङ्गसद्मनम्।

५र र २र१ २र १
ब्राह्मणादी। इराधसाः। पिबासोमा
र १ २र१
३म्। ऋतूं रनू। तवेदां सा२३। ख्या
४ २ ५
३२मा ३। स्ता३४५र्त्तौहोवाइ॥ ३६॥

* এতাবতা ব্রহ্মস্বগ্রহণে ইন্দ্রের অধিকারিত্ব সূচিত হইল এবং যজ্ঞের নিত্যত্ব প্রতিপাদিত হইল।

अष्टमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्व्ववत्।

२१ २ ३१ २ ३ १ २
वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र
१ २
गिर्वणः। त्वन्नो जिन्व सोमपाः॥ ३७॥

हे 'इन्द्र!' यतः त्वं 'गिर्वणाः' स्तुत्यः अतः 'वयं' 'ते' तव 'स्तोतारः' 'स्मसि' स्मः। 'त्वम्' 'सोमपाः' सन् 'नः' अस्मान् 'जिन्व' प्रीणय; त्वया सोमे पीते एव वयं तृप्ताः स्याम, अथवा त्वं सोमं पीत्वा तृप्तः सन् तदनुरूपफलदानेनास्मान् तर्पयेति भावः। गिर्वण-इति गीर्भिः स्तुतिलक्षणाभिः वाग्भिः वन्यते सम्भज्यते सः। स्मसिइति 'इदन्तोमसि। ७। १। ४६।'-इति सिद्धम्। घा-इति अनर्थकः, 'ऋचितुनु घ मक्षु तङ् कुत्रोरुष्याणाम्। ६। ३। १३३।'-इति दीर्घः। अपीत्यप्यनर्थकः॥ ३७॥

হে ইন্দ্র! তুমি আমাদিগের ভজনীয়, অতএব আমরা তোমার স্তোতা হইয়াছি; সম্প্রতি সোমপান করত আমাদিগকে তৃপ্ত কর অর্থাৎ তুমি সোমপান করিলেই আমরা তৃপ্ত হই অথবা সোমপান করত তৃপ্ত হইয়া তদনুরূপ ফলদানদ্বারা আমাদিগের তৃপ্তিসাধন কর॥ ৩৭॥

अर्द्धसद्मनम्।

५ ४ ५र र ४ ५ ४ २र १र
वयं घाते अपि स्मसाइ। स्तोतार इन्द्र
१ ७
गिर्वणाः। ववा २३ होइ। तुवन्नोजी २।
१ १ २ १ १ २ ५र
ववा २३ हो। न्वमो२३। मा२पा २३४ औ
र २ १ २ ११११
हो वा। ए३। उपा २३४५॥ ३७॥

नवमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

१२ ३ १र २र २ २ २ १ २
एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनषु धेहि
१ २ २ १ २
नः। सत्राजिदुग्रपौंस्यम्॥ ३८॥

हे 'सत्राजित्' सदा शत्रूणां जेतः 'उग्र' अप्रसह्य 'इन्द्र!' कासुचित्' 'पृक्षु' संपृक्तक्रियासु मैथुनादिषु 'नः' अस्माकं 'नृम्णम्' आन्तरिकम् उत्साहम् अपिच 'तनुष' पौंस्यम् बलं 'आ। धेहि' निधेहि स्थापय। पृक्षु-इति पृचीसम्पर्कें इत्यस्य रूपम् सम्पृच्यन्ते यस्यां क्रियायां सा पृक् मैथुनादिक्रिया, यागेऽपि यजमानदेवयोः सम्पर्कों जायते अतः साऽपि क्रिया पृक्, संग्रामे वैरसम्पर्कोभवत्येव ततो रणक्रियाऽपि पृक्, एवं बह्वः पृक्क्रियाः सन्ति; तत्रापि सर्व्वत्र सदसद्भ्यां द्वैधम् अतः कासुचिदित्युच्यते, तथाच साध्वीषु पृक्क्रियासु नृम्णं पौंस्यञ्च प्रार्थनीयं नान्यत्रेति भावः। सत्राजिदिति 'ऋचितुनु-इत्यादिना साप्तमिकं दैर्घ्यम्॥ ३८॥

হে অজেয়, অপ্রসহ্য, ইন্দ্র! কতিপয় পৃক্ক্রিয়াতে* অর্থাৎ সাধু-পৃক্ক্রিয়াগুলিতে আমাদিগকে আন্তরিক উৎসাহ ও শারীরিক পুরুষার্থ প্রদান কর॥ ৩৮॥

चौदहलम्।

५र र ५ २
एन्द्र पृक्षु कासुची ई दे। न्वम्णाम्।
र १ २ १ र २
तनूषू ३ धाइ। हा१इ ना२ः। सा३ाजिदु।
१ २ २ ५
ग्रपौ२३ंसि याउ। उ३४पा॥ ३८॥

---

* যে ক্রিয়াতে কোন দুই পদার্থের সম্পর্ক হয় তাহাকে পৃক্ক্রিয়া বলা যায়। যথা—মৈথুন, যজ্ঞ, যুদ্ধপ্রভৃতি; যজ্ঞে যজমান এবং দেবতার উপাস্য উপাসক ভাবে সম্বন্ধ হয়। যুদ্ধে বৈরিগণের সহিত পরস্পর নাশ্যনাশকভাবে সম্বন্ধ হয়। এই-সমস্ত পৃক্ক্রিয়া ন্যায়পথে হইলেই সৎ ও তদ্বিপরীতে অসৎ—এই দুইপ্রকার; তন্মধ্যে সাধুপৃক্ক্রিয়ামাত্রে উৎসাহ ও পুরুষার্থ প্রার্থনীয়, অন্যত্র নহে।

दशमी ऋक्।

श्रुतकक्ष ऋषिः।

३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३२ ३ २
एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूरउत स्थिरः।
३ २ ३ २ ३ १ २
एवा ते राध्यं मनः॥ ३९॥

हे इन्द्र! 'हि' यस्मात् 'वीरयुः' 'एवा' त्वमेव वीरकामः सृष्टिकामः 'उत' अपिच 'स्थिरः' कूटस्थः 'एवा'। 'शूरः' त्वमेव शूरः विक्रान्तः 'असि' भवसि, तस्मात् 'ते'। 'एवा' तवैव 'मनः' 'राध्यम्' आराध्यम् सन्तोष्यम् अस्माकमिति शेषः त्वदन्यो न कोऽपि स्रष्टा, त्वमिव अविचलस्वभावः पालनकर्मसु विक्रान्तश्च न कोऽपि, अतः तवैवैकस्य मनोऽस्माभिः प्रसाद्यम्,नान्यत् किञ्चन तथा प्रसाद्यमिति भावः। वीरयुरिति वीराः सृष्टाः पदार्थाः समस्ताः, तान् कामयति-इति क्यचि 'नच्छन्दस्य पुत्रस्य'-इति दीर्घनिषेधः क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययश्च। एवा-इति 'निपातस्य च'-इति षाष्ठदीर्घः॥ ३९॥

হে ইন্দ্র! যেহেতু তুমিই সৃষ্টিকাম হইয়া সৃষ্টি করিতেছ, তুমিই অবিচলস্বভাবে সেই সৃষ্টপদার্থ সমস্ত পালন করত বিক্রান্ত হইতেছ; সেই নিমিত্ত একমাত্র তোমারই মন আমাদিগের সন্তোষ্য * ॥ ৩৯ ॥

उक्थ्योमहीयवम्।

५र र २ ४ ५र २र १ ५
एवा ह्यो३ असि वीरयूः। एवाशू१रा
१ २ १ २र र १
२ः। उता२३स्थिराः। आइवाते रा। धिया
२ २र १११
२ मानाउ। वा३। स्तौषे३४५॥३९॥

पञ्चमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

वसिष्ठ ऋषिः इन्द्रोदेवता बृहतीच्छन्दः।

३ १ २ ३ १ २
अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव

* এই মন্ত্রে একেশ্বরবাদ প্রকাশ পাইতেছে।

३ १ २ १ २ ३ १र २र ३ १ ३ १ २
धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशा-
३ १ २
नमिन्द्र तस्थुषः॥ ४०॥

हे 'शूर' विक्रान्त 'इन्द्र!' 'त्वा' त्वाम् 'अभि'। नोनुमः' आभिमुख्येन पुनः पुनः नमस्कुर्मः। कीदृशं त्वाम्? 'अस्य' 'जगतः' 'ईश्वरम्' किञ्च 'स्वर्दृशम्' सर्वज्ञम्; अपिच न केवलमस्यैव जगत ईशानम्, अपितु 'तस्थुषः' सर्वलोकस्यास्य स्थावरमात्रस्य 'ईशानम्' ईश्वरम् (अत्रेदमवधेयम्—स्थावरग्रहणं जङ्गमस्याप्युपलक्षणम्-इति केचित्, तस्थुः शब्देन जडोऽगृह्यते तथाच जड़मात्रस्यैव कर्त्तृत्वमीश्वरे, चैतन्यानि तु नित्यानि न तत्कर्त्तेश्वरः इति कश्चित्)। अत्र दृष्टान्तमुच्यते—'अदुग्धाः' दुग्धरहिताः 'धेनवः' अचिरप्रसूताः गावः 'इव'। अत्र अदुग्धा इत्यनेन नितान्तप्रयोजनीयवस्तुलाभाय वयं नोनुमइति सूचितम्, धेनवइत्यनेन गृहस्थावयमिति सूचितम्, पशुदृष्टान्तदानेन आत्मपौरुषं निरपेक्षितम्॥ ४०॥

হে বিক্রমশালী ইন্দ্র! তুমি এ জগতের ঈশ্বর এবং অন্যান্য জগতেরও ঈশ্বর, দুগ্ধরহিত অচিরপ্রসূত গো সদৃশ * আমরা তোমাকে বার বার নমস্কার করি ॥ ৪০ ॥

भारद्वाजस्यार्कः।

५ र २ १ ७ १ २
अभित्वाशू। रनो नु मा२ः। ओइ नू
२ १ २र १ ७ १
३माः। आदुग्धाइ। वधाइनवा२ः। ओइ
२ २ १ र २ १
ना३ वाः। आइशानमस्य जगतः। सुवा
२ १ २ २ १ र २ १
ईशम। आर्दृ३ शाम्। आइशानमि। द्रता
२ १ १ ३ ५र र
स्थुषः। आ २३। स्थू२ षा२३४। औहो
२ १ २ ११११
वा। स्थुषः स्थू षा२३४५ः॥४०॥

* এস্থলে দুগ্ধরহিত এই বিশেষণে নিতান্ত প্রয়োজনীয় বস্তু লাভের নিমিত্ত—ইহা সূচিত হইল। অচিরপ্রসূত এই বিশেষণে আমরা গৃহস্থ—ইহা সূচিত হইল। গো সদৃশ এই পশুদৃষ্টান্তদ্বারা নিজ-পৌরুষ-নিরপেক্ষতা সূচিত হইল।

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

भ्रत्ताखण्डकारकङ्करणाद्यलिपुङ्गारुणयसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाच्चिवेद्यम्मननेन मान्यं वन्देहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधबर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३भाग] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०) [March, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १) [३१सङ्ख्या

सम्पादकीय-विज्ञापनम्।

चिरदिनादारभ्येह सामवेदप्रकाशनमारब्धम् परमद्यापि तत्समापनं बहुदूरमीक्ष्यते, विद्यमान-नियमेन प्रकाश्ये तस्मिन् बहुकालसाध्यत्वात् प्रयत्नव्याघातोऽपि सम्भवेन्नाम; अतोऽद्य कविकल्पलतानुरूपान्यग्रन्थकाशने निवृत्तयत्नावयम्, मीमांसादर्शनस्यापि प्रकाशनं कृत्स्नः. यदि जीवाम किञ्चिदहस्तर्हि तत्समापनमपि न दुर्घटम्। यद्यपि प्रत्नग्रन्थमात्रस्याविष्कारार्थमेतत्पत्रिकायाः समुद्भवः. न केवलं वेदस्यैवेति सत्यम्; तथापि सम्प्रति वेद प्राप्त्यर्थं यथा लालायिताः प्रत्नकम्राः न तथाऽन्यस्य कस्यचिन्महोपकारकस्यापि चित्तविनोदकस्यापि वा ग्रन्थस्याप्त्यर्थमिति विविच्याद्यारभ्य सामवेदीयैतदारब्धग्रन्थसमाप्तिं यावत् उक्तं व्यवस्थापयाम:।

विज्ञापनम्

जानन्त्येतत् संस्कृतविद्यानुरागिन: — वेदान्तसूत्रस्य सन्ति बहूनि व्याख्यानानि तानिच परस्परं विभिन्नाभिप्रायसमर्पकाणि, तथैवं न्याय-भक्ति-योगादि सूत्राणामपि; परमनल्पक्षोभणीयएष: तानि सर्वाण्येवैतर्हि प्रायोलुप्तकल्पानि, अतस्तेषामाविष्कर्त्तुमुद्यत: सूत्रभाष्यचतुष्टयमयीं द्वात्रिंशत्पृष्ठात्मिकां मासिकपत्रिकां प्रचारयितुमीहेऽधुना, अक्षरं शोधनादिकञ्च तस्या उत्कृष्टमेव भव्यम्, मूल्यं प्रेरणव्ययसमेतं (१२) द्वादश मुद्राऽग्रिमम् वार्षिकम्।

ग्राहकशतमन्तरा नैतदारम्भ: सम्भाव्यते, अतोऽद्य येषामेषापूर्वपत्री ग्राह्या भवेत्, तेऽनुकम्पया निर्दिष्टमूल्यं सम्मतिपत्रं वा प्रेरयन्तु सत्वरम्।

काशी-चौखम्बा-निवासी श्रीहरिश्चन्द्र:।

NOTICE

Sanscrit Scholars are aware that several commentaries are in existence on the Vedanta aphorisms, totally differing from each other. Similarly, there are disvergent commentaries on the Nyaya, Bhakti, Yoga &c, I have resolved to publish the four principal commentaries (Bhashyas on the Sutras by monthly issues of 8 pages each of large paper and in clear types. Annual subscription in advance with postage, Rs. 12.

Gentlemen wishing to subscribe to this valuable Magazine are requested to send their subsriptions or notice of their intentions, for unless 100 subscribers are secured, it cannot be started.

Benares
February,
1870.

HARISCHUNDRA

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी। कलिकातायां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम्॥

वैदिकसमालोचना।

(३० संख्याया अनन्तरम्)

उक्तं पुरस्तात् 'साम्नामूहतैः त्रिवृदादयः स्तोमाः सम्पद्यन्ते' इति,—तत्प्रकारो यावत् प्रदर्शयितव्यं तावदद्य प्रदर्श्यते। तथाहि—ऊहगानस्यैकविंशतितमप्रपाठकस्यैकादशदीनां यज्ञायज्ञीयनामधेयानां त्रयाणां साम्नां स्वराद्यूहनेन तन्मूलीभूतानां नवानामृचां विष्टुतिभिस्त्रिवृत् स्तोमो भवति, तद्यथा —

१-'उपास्मै गायता'-इत्यादिः प्रथमा
२-'अभि ते मधुना'-इत्यादिः मध्यमा
३-'स नः पवस्व-इत्यादिः उत्तमा } सूक्तम् १

४-'दविद्युतत्या'-इत्यादिः प्रथमा
५-'हिन्वानो हेतृभिः-इत्यादिः मध्यमा
६-'ऋधक् सोमः'-इत्यादिः उत्तमा } सूक्तम् २

७-'पवमानस्यते'-इत्यादिः प्रथमा
८-'अच्छाकोशम्'-इत्यादिः मध्यमा
९-'अच्छासमुद्रम्'-इत्यादिः उत्तमा } सूक्तम् ३

एतासां नवानामृचां त्रिस्त्रिरावृत्त्या एकैका विष्टुतिर्निष्पद्यते। तत्र यस्या विष्टुतेः प्रथमावृत्तौ प्रथमानां तिसृणामृचां गानम्, अन्यासामृक्स्वरेण पाठः; * द्वितीयावृत्तौ मध्यमानां तिसृणां गानम्, तृतीयावृत्तौ उत्तमानां तिसृणां गानम्। सैषा त्रिवृत्स्तोमस्याद्या विष्टुतिः, प्रथम-द्वितीय-तृतीयावृत्तिक्रमेण प्रथममध्यमोत्तमानां गानात् ऊर्द्ध्वगमनादुद्यतीत्युच्यते ऊर्द्ध्वं गच्छतीति यावत्। यस्या विष्टुतेः प्रथमावृत्तौ द्वितीयसूक्तगतानाम्, तृतीयावृत्तौ तृतीयसूक्तगतानाम्। सैषा त्रिवृत्स्तोमस्य मध्या विष्टुतिः, प्रथम द्वितीय तृतीय सूक्तानां आवृत्त्यानुपूर्व्वेण गीतत्वात् परिवर्त्तिनीत्युच्यते आवर्त्तिनीति यावत्। यस्या विष्टुतेः प्रथमावृत्तौ आद्यसूक्तगतानां यथाक्रमं गानं, द्वितीयसूक्तानाम् मध्यमोत्तमप्रथमेति विपर्य्ययेण गानम्, तृतीयावृत्तौ तृतीयसूक्तगतानाम् उत्तमप्रथममध्यमेतिविपर्य्ययेण गानम्। सैषा त्रिवृत्स्तोमस्य अन्त्या विष्टुतिः, नीडं तद्यथा व्यस्ततृणादिनिर्मितम् एवमेता ऋचोऽपि व्यत्ययेनात्रगीताः कुलायाः, तद्वतीयं कुलायिनीत्युच्यते। एवं तिसृभिर्विष्टुतिभिर्यः स्तोमो निष्पद्यते स त्रिवृदाख्यः। तदिदमूहितं गानं पवमान दैवतत्वात्, (ज्योतिष्टोमस्य प्रातःसवनानुष्ठाने औदुम्बर्य्याः स्तम्बशाखायाः सन्निधौ) सदोनामक मण्डपाद् बहिर्गेयत्वाच्च वहिष्पवमानमुच्यते।

* गीतातिरिक्तानामृचामृक्स्वरेणपाठस्तु प्रत्यावृत्तौ।

বৈদিকসমালোচনা।

(৩০সংখ্যার পর)

পূর্ব্বে বলা হইয়াছে 'সামগুলির উহনানুসারে ত্রিবৃদাদিস্তোম নিষ্পন্ন হয়' সম্প্রতি তাহা যতদূর দেখান যাইতে পারে দেখাইতেছি। যথা উহগানের একবিংশ প্রপাঠকের ১১।১২।১৩ এই তিনটি সামের স্বরাদি উহনেও তন্মূলীভূত নয়টি ঋচার বিষ্টুতিতে-ত্রিবৃৎস্তোম হয়, যথা—

১-'উপাস্মৈগায়তা'-ইত্যাদি প্রথমা
২-'অভি তে মধুনা' ইত্যাদি মধ্যমা
৩-'সনঃ পবস্ব'-ইত্যাদি উত্তমা } সূক্ত ১

৪-'দবিদ্যুতত্যা'-ইত্যাদি প্রথমা
৫-'হিন্বানো হেতৃভিঃ'-ইত্যাদি মধ্যমা
৬-'ঋধক্সোমঃ'-ইত্যাদি উত্তমা } সূক্ত ২

৭-'পবমানস্যতে'-ইত্যাদি প্রথমা
৮-'অচ্ছা সমুদ্রম্'-ইত্যাদি মধ্যমা
৯'অচ্ছা সমুদ্রম্'-ইত্যাদি উত্তমা } সূক্ত ৩

এই নয় ঋচার তিন তিন আবৃত্তিতে এক এক বিষ্টুতি হয়। যে বিষ্টুতির প্রথমাবৃত্তিতে-১ম৪র্থ-৭ম ঋচার গান ও অন্য ছয় ঋচার ঋক্স্বরে পাঠ, দ্বিতীয়া বৃত্তিতে-২য় ৫ম ৮ম ঋচার গান, তাহা ত্রিবৃৎস্তোমের আদি বিষ্টুতি; উহাতে প্রথম দ্বিতীয় তৃতীয় আবৃত্তিক্রমে প্রথম মধ্যম উত্তম তিন তিন ঋকের গান হয় এই নিমিত্ত ঐ বিষ্টুতিকে 'উদ্যতী' বলা যায় অর্থাৎ ক্রমে উর্দ্ধগন্ত্রী। যে বিষ্টুতির প্রথমাবৃত্তিতে প্রথমসূক্তের, দ্বিতীয়াবৃত্তিতে দ্বিতীয়সূক্তের তৃতীয়াবৃত্তিতে তৃতীয় সূক্তের গান হয়, তাহা ত্রিবৃংস্তোমের মধ্য বিষ্টুতি, উহাতে আবৃত্তিক্রমে সূক্তত্রয়ের গানহয় এই নিমিত্ত ঐ বিষ্টুতীকে 'পরিবর্ত্তিনী' বলা যায় অর্থাৎ আবর্ত্তিনী। যে বিষ্টুতির প্রথমাবৃত্তিতে ৯ম ৮ম ৭ম ক্রমে গান হয়, তাহা ত্রিবৃংস্তোমের শেষ বিষ্টুতি; কুলায় অর্থাৎ নীড় যেরূপ ব্যস্ততৃণ দ্বারা নির্ম্মিত হয়, এই বিষ্টুতির ঋক্গুলিও সেইরূপে ক্রমবিপর্য্যয়ে গীত হইবায় ইহাকে 'কুলায়িনী' বলা যায়। এইরূপে বিষ্টুতিত্রয়ে ত্রিবৃৎস্তোম সিদ্ধ হয় এবং এই স্তোমে উহিত গানসমষ্টি পবমান-দৈবত ও (জ্যোতিষ্টোম যাগে প্রাতঃসবনানুষ্ঠান কালে ঔদুম্বরীর সমীপে) সদোনামক মণ্ডপের বহির্ভাগে গীত হয় এই নিমিত্ত 'বহিষ্পবমান' নামেও ব্যবহৃত হইয়া থাকে।

* যে ঋক্গুলির গান না হইবে তাহা প্রত্যি আবৃত্তিতেই ঋক্স্বরে পঠিত হইবে।

इत्तं द्रव्यादीनां शेषत्वदर्शनम्। अथ प्रत्युदाहरण-प्रकरणात् 'आनर्थक्यात् तदङ्गेषु (१८)'-इत्यस्य प्रत्युदाहरणं सूत्रयति।

(सू०) गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात् ॥ २२ ॥

(वि०) अग्न्याधानप्रकरणे श्रूयते—'वारणोवै यज्ञावचरः स्यात्, नत्वेतेन जुहुयात् वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात् जुहुयादेतेन'-इति। तदेषां वारण-वैकङ्कतादिपात्राणाम् अग्न्याधानसंस्कारे नोपयोगः, तस्मात् 'आनर्थक्यात् तदङ्गेषु'-इति नियमात् अग्न्याधान-प्रकरणे श्रुतं पवमानहविरग्न्याधानाङ्गमपितुं युज्यते-इति ततोपयुज्येत; एवञ्च यथा सप्तदशारत्निर्वाजपेयाङ्गभूतपशुयागाङ्गत्वम्, तथैव वारण-वैकङ्कतादीनाम् अग्न्याधानाङ्गभूत पवमान हविरङ्गत्वं प्राप्तम्। तत्राह—'गुणानाम्' अग्न्याधेय पवमान हविरादीनाम् 'सम्बन्धः स्यात्' परस्पराङ्गाङ्गीभाव सम्बन्धो नस्यात्; कुतः? परार्थत्वात्समत्वात्' परार्थत्वेन सर्वेषामेव साम्यादित्यर्थः। वाजपेयपशुयागयोस्तु प्रधानाप्रधानयोर्गुण-गुणीभावः, नात्र तथेति वैषम्यम्। तथाच पवमानहविषोऽग्न्याधानाङ्गत्वाभावेन नेह सप्तदशारत्निवद् व्यवस्थेति वारण वैकङ्कतादिपात्राणां दर्शपूर्णमासादि क्रतुस्थ यागाङ्गत्वम् ॥ २२ ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति।

(अ०) वैकङ्कतादिकं पात्रं पवमानहविःष्वथ। यज्ञेऽखिले प्रकरणादाधानेऽन्वित मस्तु तत्। अनर्थकं तदङ्गेषु हविःष्वेवाव तिष्ठते। नाधानहविषां साम्याद् वाक्याद् यज्ञेऽखिले भवेत् ॥१२॥

(टी०) आधानप्रकरणे दारुपात्रं होमार्थं यज्ञार्थं च श्रूयते—'तस्माद् वारणो वै यज्ञावचरः स्यात्, नत्वेतेन जुहुयात्; वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात्, जुहुयादेवैतेन'-इति। (यज्ञावचरो यज्ञप्रचारहेतुः) तत्र वारण-वैकङ्कतादिपात्रं प्रकरणबलाद् आधाने प्रथममन्वेति एतेन पात्रेणाधाने प्रयोजनाभावाद् आधानाङ्गेषु पवमानहविःष्वेव तत्पात्रं निविशते; अस्ति हि पवमानहविषामाधानाङ्गत्वम्, तत्प्रकरणे पाठात्—कृत्तिकास्वग्निमादधीतेत्यस्मिन् प्रकरणे-'प्रजापतिर्वाचः सत्यमपश्यत्-इत्यनुवाके—'त्रीणि हवींषि निर्वपति'-इत्यादिना तानि विहितानि। ततो यथा सप्तदशारत्नित्वं वाजपेये साक्षादसम्भवात् तदङ्गपशोरङ्गे निविशते, तद्वदिदमपि।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—अग्निमुद्दिश्याधानं यथाविहितम्, तथापवमानहवींष्यपि 'यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतः'-इति आहवनीयद्देशेन पवमानहविर्होमविधानात्। तस्मात् अग्निसंस्कारत्वेन समाम्नातानामाधानहविषां नास्ति परस्पराङ्गाङ्गिभावः, तथासति प्रकरणस्य पात्रं प्रति विनियोजकत्वाभावात् 'वैकङ्कतो यज्ञावचरः'-इति वाक्येन दर्शपूर्णमासादि-सर्वयज्ञेषु तद् विनियुज्यते ॥ १२ ॥

इति द्वादशाधिकरणम्।

पूर्वसूत्रापवादमाह।

(सू०) मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

(वि०) दर्शपूर्णमासे आज्यभाग-क्रमे श्रूयते—'वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनुच्येते, वृधन्वती अमावास्यायाम्'-इति ; तदेतस्य वार्त्रघ्नीमन्त्रद्वयस्य वृधन्वतीमन्त्रद्वयस्य च गुणस्य आज्यभागात्मगुणेन सह 'मिथः' परस्परम् अङ्गाङ्गिभावः सम्बन्धः स्यात्, कुतः ? 'अनर्थसम्बन्धात्' प्रधानेन दर्शपूर्णमासरूपयागद्वयेन सम्बन्धः अनर्थः स्यात् यत इत्यर्थः। तथाहि—एका वार्त्रघ्नी आग्नेयी, एका सौमी, तथा वृधन्वत्यौ ; दर्शपौर्णमासे हि सोमदेवताया अभावात् सौमीद्वयस्य नास्त्युपयोगः-इति प्रधानेऽनर्थ सम्बन्धः। तस्मात् आज्यभागयोः प्रक्रमे विहितत्वात् गुणयोरपि तयोरेवाङ्गमेतन्मन्त्र चतुष्टयम् ; पौर्णमास्यामित्यादि श्रवणन्तु कालनिर्देश परम्। एवञ्च वार्त्रघ्नप्रादिर्न पूर्वन्यायेन क्रतुस्य यागाङ्गत्वम् ॥ २३ ॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति।

(अ०) वार्त्रघ्नौ पूर्णमासे स्तो वृधन्वत्यौ तु दर्शगे। इति प्रधानशेषत्वमुक्तं किं वा व्यवस्थितिः॥ क्रमेण प्राप्ता मन्त्रास्त्वारोऽप्याज्यभागयोः। क्रमाद् वाक्यं बलीयोऽत एषां दर्शादिशेषता॥ न मुख्ये शेष एकोऽस्ति नाधारत्वादिकालयोः। दर्शादेरव्यवस्थित्यां प्राप्तौ वाक्याद् व्यवस्थितिः॥१३॥

(टी०) दर्शपूर्णमास प्रकरणे श्रूयते—'वार्त्रघ्नी पौर्णमास्या मनुच्येते, वृधन्वती अमावास्यायाम्'-इति। तच्चेदं वार्त्रघ्नीयुगलं वृधन्वतीयुगलञ्च होत्रकाण्डे-आज्यभागयोः क्रमे—'अग्निर्वृत्राणि जंघनत्'-इत्यनुवाकेनाम्नातम्। उदाहृतेन तु ब्राह्मणवाक्येन दर्शपूर्णमास यागयोस्तद्विधिरवगम्यते, तत्र वाक्यस्य प्रबलत्वादेषां मन्त्राणां दर्शपूर्णमास यागाङ्गत्वम्, न तु आज्यभागाङ्गत्वम्।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—'अग्निर्वृत्राणि जंघनत्'-इत्याग्नेयी प्रथमा वार्त्रघ्नी, 'त्वं सोमासि सत्पतिः'-इति सौम्या द्वितीया वार्त्रघ्नी ; 'अग्निः प्रत्नेन मन्मना'-इत्याग्नेयी प्रथमा वृधन्वती, 'सोमगीर्भिष्ट्वावयम्'-इति सौम्या द्वितीया वृधन्वती। तत्र मुख्ययो दर्शपूर्णमास यागयोः आग्नेय पुरोडाश सद्भावात्, आग्नेयीद्वयस्य विकल्पेन पुरोऽनुवाक्यत्वं कथञ्चिद् भवतु, सौम्ययोस्तु तन्न सम्भवति ; कालस्यतूपसर्जनत्वात् तद्वाचित्वं युक्तम् ; किञ्च प्रयाजमन्त्रानुवाकस्यानन्तरमेवाय मनुवाकः पठितः, सचाज्य भागयो रङ्गयोः क्रमः, न तु मुख्ययोर्दर्शपूर्णमासयोः ; तस्मात् न मन्त्रचतुष्टयस्य मुख्ययागाङ्गत्वम्, किन्त्वाज्य भागाङ्गत्वम्।

नन्वेतत् क्रमेणैव लब्धम्—तत्राप्याग्नेये प्रथम आज्यभागे मन्त्रोऽप्याग्नेयः, सौम्ये द्वितीये सौम्या-इति ? एषा व्यवस्था लिङ्गेनैव लभ्यते ? बाढ़म्—तथापि वार्त्रघ्नो युगलं पूर्णमासीकाले, वृधन्वती युगलममावास्यायाम्—इत्येषा व्यवस्था पर्वमप्राप्ता ब्राह्मणवाक्येनाभिधीयते-इति न तद्वैयर्थ्यम् ॥१३॥

इति त्रयोदशाधिकरणम्।

अथ यथा 'अभिक्रामं जुहोति'-इत्यत्र जुहोतिसन्निहितं श्रुतम् अभिक्रमणं होमस्याङ्गम्-इति सिद्धान्तितम्, तथैव 'हस्तौ अवनेनिक्ते, उलपराजिं स्तृणाति'-इति ; इहापि हस्तावनेजनम् अनन्तर श्रुतस्योलपराजिस्तरणस्यैवाङ्गं भवितुं युज्यते-इत्याह।

(सू०) आनन्तर्य्यमचोदना ॥२४॥

(वि०) 'आनन्तर्य्यम्' आनन्तर्यमात्रम् 'अचोदना' अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध नियामको भवेत् ॥ २४॥

अत युक्तिमाह।

(सू०) वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् ॥२५॥

(वि०) 'हस्तौ अवनेनिक्ते'-इत्येवमादीनां वाक्यानां आकांक्षाराहित्येन पूर्णत्वादित्यर्थः। 'अभिक्रामं जुहोति'-इत्यत्र तु अभिक्राममिति साकाङ्क्षं श्रूयते, तत्र आनन्तर्य्यस्याङ्गाङ्गिभाव नियामकत्वम्, नात्र तथेति भावः। एवञ्च न केवलम् उलपराजिं स्तरितुं हस्तावनेजनरूप हस्तसंस्कारः कार्य्यः, अपितु प्रकरणगत सर्वानेव कर्त्तुमिति सिद्धान्तः। एवं 'मुष्टीकरोति, वाचं यच्छतीत्येवमादीनामपि संस्काराणां क्रत्स्न प्रकरणाङ्गत्वम् ॥ २५ ॥

चतुर्द्दशाधिकरणमारचयति।

(अ०) हस्तौ द्वाववनेनिक्ते स्तृणात्युलपराजिकाम्। दर्भस्तरण एवाङ्गं हस्तशुद्धिरुताखिले ॥ तन्माचाङ्गत्वमत्रस्यादानन्तर्य्यात्मकात् क्रमात्। लिङ्गप्रकरणाभ्यान्तु सर्वानुष्ठानशेषता ॥१४॥

(टी०) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'हस्तावनेनिक्ते, उलपराजिं स्तृणाति'-इति। (वेद्यामास्तरितुं सम्पादितस्तरणस्तम्बः उलपराजिः) तत्र हस्तशुद्धि-दर्भस्तरणवाक्ययोः नैरन्तर्य्येण पठितत्वात् क्रमप्रमाणेन हस्तशुद्धिरास्तरणमात्रस्याङ्गम्।

इतिचेत्—मैवम्, अवनेजनं हस्तसंस्कारः संस्कृतौ हस्तौ सर्वानुष्ठाने योग्यौ-इत्येतादृशं सामर्थ्यं लिङ्गं, प्रकरणं च दर्शपूर्णमासयोः स्फुटम्, अतः प्रबलाभ्यां लिङ्ग प्रकरणाभ्यां क्रमबाधात् सर्वशेषो हस्तशुद्धिः।

अयं न्यायो वाग्यमेऽपि द्रष्टव्यः—सच वाग्यमो ज्योतिष्टोम प्रकरणे श्रुतः 'मुष्टीकरोति, वाचं प्रयच्छति'-इति, तदनन्तरमेवेदं श्रूयते-'दीक्षितमावेदयति'-इति, आवेदन प्रकारश्चैवं श्रुतः 'अदीक्षिष्टोऽयं ब्राह्मणइति त्रिरूपांश्वाह' देवेभ्य एवैनं प्राह, त्रिरुच्चैरुभयेभ्य एवैनं देवमनुष्येभ्यः प्राह'-इति। अत्र मुष्टीकरण-वाङ्नियमाभ्यां हस्तजिह्वागत चापले निवारिते सति मनस एकाग्र्यम्, तस्य सर्वकर्मसु योग्यत्वं लिङ्गम्; तेन क्रमो वाध्यते ॥ २४ ॥

इति चतुर्द्दशाधिकरणम्।

यथा मुष्टीकरणादीनां क्रत्स्नप्राकरणिकाङ्गत्वम् तथा चतुर्द्धीकरणस्य न क्रत्स्नपुरोडाशाङ्गत्वमिति प्रतिपादितुमादौ पूर्वपक्षमवतारयति—

(सू०) शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत, मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥

(वि०) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते-'आग्नेयं चतुर्द्धा करोति'। तत्र चतुर्द्धा करणात्मः 'शेषः' 'गुणसंयुक्तः' आग्नेयम्-इति देवता-गुण-संयुक्तः 'साधारणः प्रतीयेत' आग्नेयाग्नीषोमीयैन्द्राग्नानां त्रयाणामेव प्रतीयेत, 'उ'-इति नञर्थः, परस्मात् सूत्रात् व्यवस्थेत्यपकृष्यते, अस्यैवेति न व्यवस्थेत्यर्थः। कुतः ? 'तेषां' पुरोडाशानाम् 'मिथः' परस्परं 'सम्बन्धात्' त्रिष्वेवाग्ने; श्रुतत्वात्। अयम्भावः-

यथा डित्थडवित्थयोः सहोदरयोः एकोदरजन्यत्व सम्बन्धात् तयोर्माता डित्थमातेत्यपि गद्यते डवित्थमातेत्यपि, तथैवात्राग्नीषोमीयस्याप्यस्त्यग्निरपि देवइति तस्याप्याग्नेयत्वेन ग्रहणम् एवमैन्द्रस्येति पुरोडाशमात्रस्य शेषः चतुर्द्धा करणम् ॥ २६ ॥

समाधत्ते –

(सू०) व्यवस्था वा अर्थसंयोगात्, लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धात्, लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥

(वि०) चतुर्द्धा करणमाग्नेय मात्रस्य शेषइति व्यवस्था सिद्धैव। कुतः ? 'अर्थसंयोगात्' अर्थेनाग्निना एकदैवत्यस्य तद्धितार्थस्य संयोगात्, 'लिङ्गस्य' देवता लिङ्गस्य 'अर्थेन' सामर्थ्येन 'संयोगात्' नह्युभय दैवत्ये एक दैवत-प्रत्ययो उत्पद्यते सामर्थ्या भावादित्यर्थः। एवमेवाग्नेयमिति पदं चरितार्थमित्याह –'गुणश्रुतिः' आग्नेयमिति देवतागुणश्रुतिः 'लक्षणार्था' आग्नेय मात्रस्येति खरूपनिर्णयार्था, अन्यथा 'प्राशित्रमवद्यति'-इतिवत चतुर्द्धाकरोतीत्येवमेव वदेदिति शम् ॥ २७ ॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति।

(अ०) चतुर्द्धाकार्यआग्नेयः पुरोडाश इतोरितम्। चतुर्द्धाकरणं सर्वशेषो वाग्नेयमात्रगम्॥ उपलक्षणताग्नेये युक्तातः सर्वशेषता। अग्नीषोमीय ऐन्द्राग्ने यतोऽस्त्याग्नेयता ततः॥ नाग्नेयत्वं तयोर्मुख्यं केवलाग्न्यनुपाश्रयात्। तेनैकस्मिन् पुरोडाशे चतुर्द्धाकरणस्थितिः ॥१५॥

(टी०) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते 'आग्नेयं चतुर्द्धाकरोति'। तत्राग्नेयवदैन्द्राग्नाग्नीषोमीययोरपि, पुरोडाशयोरग्नि सम्बन्धात्; आग्नेयशब्देन पुरोडाशत्रयमुपलक्ष्यते, ततः त्रयाणां शेषः।

इति चेत् – नैवम्, नह्याग्नेय इत्ययं तद्धितः सम्बन्ध मात्रे विहितः किन्तु देवता सम्बन्धे, अग्निश्च केवलो द्विदैवत्ययोः पुरोडाशयोर्नदेवता; ततो देवतैक देशेन कृत्स्नदेवतोपलक्षणादाग्नेयत्वं तयोर्नमुख्यमिति मुख्य एवाग्नेये चतुर्द्धा करणं व्यवतिष्ठते ॥ ३ । १ ।१५ ॥

इति पञ्चदशाधिकरणम्।

समाप्तोऽसौ सत्यव्रतसामश्रमि-रचित-विवरणयुत-मीमांसाचार्य्य-जैमिनि-कृत-सूत्र-सहितायां सटीकन्यायमालायाम् तृतीयाध्यायस्य प्रथमःपादः।

निःपीतो मुनिनार्णवश्चिरमभू-
त्पङ्कावशेषोऽभितः
शुष्कोरःस्थलतामवाप पवन-
प्रोद्भूत-धूलीमयः।
गङ्गे! देवि! भवत्-प्रवाह-कृपया
भूयः प्रणीतो जनैः,
अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधि
र्वारांनिधि र्वारिधिः॥ ९५॥

इन्दुर्वारण-रत्नमश्व-तिलकः
श्रीः पारिजातः सुधा-
वर्गः स्वर्गपरिच्छदोऽयमजनि
त्वत्तः सुरैः प्रार्थितात्।
धिक् लोकं तव यस्तथापि तनुते
तोयाङ्कनामावलीम्,
अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधि
र्वारांनिधिर्वारिधिः॥ ९६॥

शय्या-सद्म हरेः श्रियो जनयिता
रत्नाकरो नायकः,
तीर्थाना मिति सागरस्य कथया
नासौ तथा तुष्यति।
अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधि
र्वारांनिधि र्वारिधिः,
श्रुत्वैतानि पदानि तुष्यति यथा
तर्षार्त्त-कण्ठोज्वरी॥ ९७॥

पाथोधेर्मथ्य-काले सुर-धृतममृतं
लक्ष्मकौञ्चिजाभ्याम्,
स्वर्भानुस्तायमानं कपट-पटु-पिव
च्छिन्नमूर्द्धाऽच्युतेन।

निःपीत इति। अर्णवः समुद्रः (अर्णांसि सन्त्यस्मिन्निति अर्णः शब्दः कृतसलोपो द्रष्टव्यः) शुष्कं यत् उरःस्थलं तस्य भावः शुष्कोरःस्थलता ताम् अवापेत्यन्वयः। किम्भूतः? मुनिना अगस्त्येन निःपीतः चुलकितः चिरं पङ्कावशेषः कर्दमप्रायः अभूत्; अभितः सर्वत्रेत्यर्थः। पुनः किंविधः? पवना प्रोद्भूता वा धूली तत्प्रचुरः। भो गङ्गे! देवि! भवत्याः प्रवाहः ओघः तस्य कृपया भूयः पुनः पुनः जनैरित्यध्याहारः प्रणीतः। इतीति किम्? अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारांनिधिर्वारिधिरिति॥ ९५॥

इन्दुरिति। कस्यचित् समुद्रं प्रति स्तुतिवचनरचनेयम्। भो समुद्र! सुरैर्देवैः प्रार्थितात् त्वत्तः इन्दुश्चन्द्रः, वारणरत्नं गजरत्नम्, जातौ (जातौ यद्रत्नमुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयत इति वचनात्, ऐरावत इति यावत्) अश्वतिलकः हयालङ्कारं, उच्चैःश्रवाः, श्रीमान् पारिजातः वृक्षः, सुधावर्गः अमृतसमुदायः, इत्येतत् समजनि जातम्। किंविधात् त्वत्तः? स्वर्गः परिच्छदोऽस्येति तस्मात्, अथवा स्वर्गः परिच्छिद्यते येनेति 'कादेर्णं' इत्यनेन ह्रस्वः प्रथमान्तमिन्द्वादीनां विशेषणम्। तथापि यः लोकः, तव समुद्रस्य अम्भोधिः जलधिः पयोधिः उदधिः वारां-निधिः वारिधिः इति तोयान्नाम् उदकानाम् अङ्कश्चिह्नं यस्याम् एवं विधायः नामावलीनामपरम्परां तां तनुते विस्तारयति तं लोकं धिक् (धिग्योगे द्वितीया) अस्त्विति शेषः॥ ९६॥

शय्येति। तर्षेण पिपासया आर्त्तः पीड़ितः कण्ठः गलः स्वरो वा यस्य स तथा (उदन्या तु पिपासा तृट् तर्ष इत्यमरः कण्ठो गले सन्निधाने ध्वनाविति मेदिनीकरः) ज्वरी सन्तापवान् यथा एतानि पदानि श्रुत्वा तुष्यति सन्तोषं प्राप्नोति। एतानि कानीत्याह—अम्भोधिः, जलधिः, पयोधिः, उदधिः, वारांनिधिः वारिधिः—इति। तथा असौ ज्वरी हरेः विष्णोः शय्यासद्म निद्रागृहं, श्रियः लक्ष्म्याः जनयिता पिता, (पिता जनयिता वप्तेति त्रिकाण्डशेषः) रत्नानां कौस्तुभादीनाम् आकरः खनिः (खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः) तीर्थानां गङ्गादीनां नायकः मुख्यः-इति सागरस्य कथया न तुष्यति॥ ९७॥

श्लोकद्वयेपि स्कन्दं प्रति पार्वतीवचनाभिप्रायेण समस्यां विशदयति। पयोधेरिति। हे स्कन्द! गुह! (पार्वतीनन्दन:

चक्रे सोमस्य वाक्यादिति भुवि लुठितं
भर्त्तृ-शोकार्त्त-चित्ताः,
श्लिष्यन्ति स्कन्द ! पत्न्योविधु-भय-विधुरं
राहु-वक्त्रोऽधुनापि ॥ ९८ ॥

अस्मिन् पाथोधि-माथेऽमृत-हरण-रुषा
शौरिणा भिन्न-मौलि,
श्लिष्यन्ति स्कन्द ! पत्न्यो विधु-भय-विधुरं
राहु-वक्त्रोऽधुनापि।

स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः-इत्यमरः) पत्न्यः पाणिगृहीताः स्त्रियः, राहुवक्त्रः अधुनापि इदानीमपि विधुभयविधुरं विष्णुभयविधुरं (विधुर्ना कर्पूरेन्दुविष्णुष्विति मेदिनीकरः) विह्वलं यथा स्यात् तथा श्लिष्यन्ति श्लिष आलिङ्गने) आलिङ्गयतीत्यर्थः। राहुवक्त्रः स्त्रीभिः कथमालिङ्गितमित्याकांक्षायामाह अच्युतेन विष्णुना स्वर्भानुः राहुः सोमस्य चन्द्रस्य वाक्यात् वचनात् छिन्नः मूर्द्धा मस्तको यस्य स तथा चक्रे कृत इत्यर्थः। किं विधः स्वर्भानुः ? अमृतम् कपट-पटु-पिबः कपटेन दम्भेन पटु यथा स्यात् तथा (पिबतीति पिब पाघ्राध्मेति शः) किम्भूतममृतम् ? पाथोधेः समुद्रात् मन्थकाले मन्थनसमये लब्धं प्राप्तम्। पुनः किं विधम् ? सुरधृतम् देवैर्धृतञ्च (हृतमिति वा पाठः)। पुनः किं विधम् ? अर्काब्जिजाभ्याम् अर्कः श्रीसूर्य्यः अब्जिजश्चन्द्रः ताभ्याम् (अत्रिज इति वा पाठे चन्द्र एव)। त्रायमाणं त्रायते तत् तथा रक्ष्यमाणम् (कर्मणि लट्)। किंविधाः पत्न्यः ? भर्त्तृशोकार्त्त-चित्ताः विकलान्तःकरणाः। किंविधं वक्त्रः ? इति हेतोः छिन्नमस्तकत्वात् भुवि पृथिव्यां लुठितम् (लुठ उपघाते कर्मणि क्तः) ॥ ९८ ॥

अस्मिन्निति। उमायाः पार्वत्याः इति वाक् एवं प्रकारा वाणी वः नो वा पदमध्याहार्य्यं पातु रक्षत्वित्यर्थः। इतीति किम् ? हे स्कन्दः ! अस्मिन् पाथोधिमाथे (मथनं माथः घञ्) समुद्रमथने अमृतस्य हरणं तेन कृत्वा या रुट् क्रोधः तया (रुट् क्रुधौ स्त्रियमित्यमरः हेतौ तृतीया) छिन्नः मौलिर्यस्य तत् एवं विधम् राहुवक्त्रः, अधुनापि इदानीमपि पत्न्यः सङ्कुलाः राहोरेवं विधभयविधुरं विष्णुभयविधुरं श्लिष्यन्ति। ते तव मयूर (मीनाति हिनस्ति मयते वाऽहीन् 'मीञ्

श्यामं शोकार्त्त-नादास्तडिदमल-रुचो
मेघमाशङ्क्य तत् ते,
धत्ते नृत्यं मयूरः प्रमुदित-हृदयः
पातु वागित्युमायाः ॥ ९९ ॥

वस्त्राभावोऽनुबिम्बे नयन-कमलयो
राजयः कण्टकानाम्,
अस्ति स्तः सन्ति कान्ता-कुच-कलश-तटे
नास्ति नस्तो न सन्ति।

चित्रं श्रीखण्डहारौ प्रियतमकरजो-
ज्जागरूक-व्रणानि,
त्वद्वैरि-क्ष्मापतीनामखिल-वसुमती-
कान्त-कान्तार-मार्गे ॥ १०० ॥

हिंसायां' 'मयगतौ' 'खर्जिपिंजादिभ्य उरोलचौ' मञ्जुं रौति पृषोदरादित्वात् मयूरः ; मयूरो बर्हिणो बर्ही-इत्यमरः) तत् राहुवक्त्रः श्यामं कालं मेघम् आशङ्क्य तर्कयित्वा नृत्यं धत्ते। किं विधः मयूरः ? प्रमुदितं हृदयं यस्येति स तथा, मेघदर्शनान्मयूराः नृत्यन्तीति जातिः मेघे विद्युच्छब्दयो विद्यमानत्वं विशेषणद्वयेन समाधत्ते—किंविधाः पत्न्यः ? शोकेन दुःखेन आर्त्तः नादो यासां ताः। पुनः किंविधाः ? तडिद्वत् अमलाः रुचो यासां ताः : अत्र पद्ये द्वितीयचरणः समस्या ॥ ९९ ॥

वस्त्राभाव इति। हे वसुमतीकान्त वसुधारण ! (सर्वसहा वसुमती वसुधेत्यमरः), कान्तारमार्गे वनमार्गे (कान्तारोऽस्त्री महारण्ये विले दुर्गमवर्त्मनीति मेदिनीकरः) त्वद्वैरिक्ष्मापतीनां त्वच्छत्रुराजानां कान्ताकुचकलशतटे स्त्रीस्तनकुम्भतटे वस्त्राभावः अस्ति। नयनकमलयोः अनुबिम्बे प्रतिरूपे स्तः। कण्टकानां राजयः रोमाञ्चाश्च पंक्तयः सन्ति। कुचकलशतटे-इतिपदं सर्वत्राविकरणत्वेन सङ्गच्छते। चित्रं पत्रवल्लीरचनादिकं नास्ति। श्रीखण्डञ्च हारश्च तौ न स्तः। प्रियतमानां करजाः नखाः तेषाम् उज्जागरूकाणि उद्भूतरूपाणि व्रणानि (व्रणोऽस्त्रियामित्यमरः) न सन्ति। अत्रापि द्वितीयपादः समस्या ॥ १०० ॥

प्रत्येकं दिक्पतीशाऽनिल-तपन-वसून्
सन्ततस्त्वं यया भूः,
अश्रौषीस्त्वं यया च स्वर-सहित-लसन्
मूर्च्छना-ग्राम तानान्।
क्रष्णा-न्यस्तान्य-मौलीक्षणवदवसरे
साच साच प्रमादात्
शीर्षाणां सैव बन्ध्या सव नवतिरभू-
ल्लोचनानामशीतिः ॥ १०१ ॥

इति कविकल्पलतायामर्थाख्ये चतुर्थे स्तवके समस्यानाम सप्तमं कुसुमम्।

*कस्यचिद् वयस्यस्य शेषमत्या वा शेषं प्रति वाक्यम्—प्रत्येकमिति। मौलयश्च ईक्षणानि च मौलीक्षणं (मुण्डोत्तमो-त्तमाङ्गकमौलिः शिरः शीर्षमूर्द्धकानि स्युरिति हलायुधः, ईक्षणं चक्षुरक्षिणीत्यमरः, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः) कृष्णे परमात्मनि न्यस्तम् अन्यत् यत् मौलीक्षणं तद्वान् यः अवसरः समयः तस्मिन्। प्रमादादनवधानात्। सा शीर्षाणां मस्तकानां मस्तकानां नवतिः सङ्ख्या, सा लोचनानां नेत्राणाम् अशीति सङ्ख्या, बन्ध्या अभूदिति योजना ; ईश्वर-मननावलोकनाभा-वादुभयोर्बन्ध्यात्वं निष्फलत्वं जातमिति भावः। सा का शी-र्षाणां नवतिः बन्ध्या ? यया शीर्षनवत्या, प्रत्येकं प्रतिव्यक्ति। दिक्पतयः इन्द्रादयः दश ; ईशाः महारुद्राः एकादश ; अनिलाः वायवः प्रवहाद्याः सप्तस्कन्धाः तेषां प्रतिस्कन्धं सप्तसप्तखण्डानि एवं मिलित्वा एकोनपञ्चाशत् ; तपनाः सूर्याः द्वादश ; वसवः अष्टौ ; एवं गणनया नवतिसङ्ख्यकान् सन्ततस्त्वम् अभूः। यया च लोचनानाम् अशीत्यासंख्यया—स्वराः निषादादयः स,ऋ,ग,म,प,ध,नी इत्यपरनामानः सप्त, एतैः सहिताः लसन्तः मूर्च्छनाः एकविंशतिः, ग्रामाश्च त्रयः, तानाश्च एकोनपञ्चाशद्, एवं सर्वमेलनेन अशीतिः संख्याः। तान् अश्रोषीः श्रुतवान्, चक्षुःश्रवत्वात् तज्जातेः इति शिवम् ॥१०१

इति कविकल्पलताटीकायां चतुर्थे स्तवके सप्तम कुसुमम्।

अथ ग्रन्थकर्तृविज्ञापनम्।

न कवित्वाभिमानेन न कीर्त्ति-प्रसरेच्छया।
विहिताऽसौ मया किन्तु कौतुकात् कवितार्थिनाम् ॥१
निःफलालसतां त्यक्त्वा कविकल्पलता मम।
एषा फलाय महते पोषणीया मनीषिभिः ॥ २ ॥
अन्यकन्यापि पुण्यार्थमपविद्धाऽपि शर्मदा।
पोषणादेवमेषापि श्रेयसे च भविष्यति ॥ ३ ॥

अथ ग्रन्थस्तुतिः॥

हन्त! सन्ततमिमामुपासतः
कस्य नश्यति न वाचि वाच्यता ?।
उल्लसन्ति कलकण्ठकामिनी-
कूजितादपि च पूजितागिरः ॥ १ ॥

कलकण्ठकलत्र कोमल
स्वन-लक्ष्मी-सहया सुकेलयः।
कविकल्पलतानु कम्पया
कविनः कस्य भवन्तु नोक्तयः ? ॥ २ ॥

नकवित्वेति। नकवित्वेत्यादिना भविष्यतीत्यन्तेन श्लोक-त्रिकेण कविना स्व-नम्रतां सूचयति।

हन्तेति। वाचि वाच्यता वाग्विषयिणीनिन्दता 'वाच्यन्तु कुत्सिते हीने' इति मेदिनी ॥ १ ॥

कलेति। कलकण्ठं मधुरकण्ठं यत् कलत्रं भार्या तस्य यो कोमलस्वनः मधुरशब्दः तस्य या लक्ष्मी माधुर्य्यं तां सहते भजते तया, कविकल्पलताया अनुकम्पया कृपया करणभूतया कस्य कविनः उक्तयो वाक्यानि सुकेलयः सुखजनिका न भवन्तु ? कविकल्पलताध्ययनात् सर्व एव मधुर-काव्य-रचना-क्षमा भवन्तीति भावः ॥ २ ॥

निसर्ग-सारस्वत-सम्भृतानि
सूक्तानि मुक्ता-मणि-कोमलानि।
भवन्त्यमुख्याभजतां तद्देषा
हेयादुपेक्ष्या न विचक्षणेन ॥ ३ ॥

स्वर्धेनु-दुग्ध सवयांसि वचांसि
वाणी-मञ्जीर-मञ्जुल-निनाद-सहोदराणि।
एतान्निषेव्य कवयः कविता मतानि
विद्वत्सभासु स विलास मुदीरयन्ति ॥ ४ ॥

मद-कल-कल-कण्ठी-केलि-नादानुवादाः
परिणत सहकारास्वाद-संवाद-भाजः।
अभिनव-मधु-धारा-बन्धवः काव्य-बन्धा-
विधुत-विधुरचोऽस्याः सेवयाविर्भवन्ति ॥ ५ ॥

सर्वं विनश्यति विहाय कवित्वमेकं
कायेन साकमिति कस्य नहि प्रसिद्धम्।
एतद्विमृश्य कविकल्पलता सुकाव्य-
सम्पत्तये सुकविभिः सततं निषेव्या ॥ ६ ॥

अथान्त्य मङ्गलाचरणम्।

आविःकृता वसुमती-वलयेश्वरेण,
देवेश्वरेण कविना कवि-नायकेन।
काव्यप्रमानसमुद्रे सकलार्थ-सूतिः,
सत्सून-गुच्छ-'कविकल्पलता' विभूयात् ॥ १ ॥

इति।

श्रीमहाकवि-देवेश्वर-विरचिता
कविकल्पलता
समाप्ता।

निसर्गेति। निसर्गात् स्वभावतः सारस्वतसम्भृतानि संस्कृतरचितानि, सूक्तानि सुष्ठुभाषितानि, मुक्तामणय इव कोमलानि भवन्ति। केषामित्याह अमुख्याभजताम् अमुख्येन अनुत्कृष्टरीत्या अनिविष्टचित्तेनेति यावत्, अभजताम् आलोचनामकुर्वताम्; सुसन्निविष्टमालोचयतामिति निष्कर्षम् ॥ ३॥

स्वर्धेन्विति। स्वर्धेनुः कामधेनुः तस्या दुग्धं तेन सवयांसि तुल्यानि, वचांसि वाक्यानि, वाण्याः सरस्वत्याः मञ्जीरस्य मञ्जुलो मनोहरो यो निनादः तस्य सहोदराणि तुल्यानि, कविताम्रतानीति योजना ॥ ४ ॥

मदेति। अस्याः कविकल्पलतायाः सेवया काव्यबन्धाः आविर्भवन्ति। कीदृशाः? इत्याह—मदेति, परिणतेति, अभिनतेति, विधुतेति च; (बन्धुः सदृशः) ॥ ५ ॥

सर्वमिति। स्पष्टम् ॥ ६ ॥

आशीःस्वरूपेणान्त्यमङ्गलाचरणेन ग्रन्थं समापयति—आविरिति। वसुमती एव वलयस्वरूपा आलवालरूपा यस्याः सा भूव्यापिनीत्याशयः। ईश्वरेण देवेन ब्राह्मणेनेति यावत् 'भूदेवाः ब्राह्मणाः स्मृताः'—इति नियमादिति शम् ॥१॥

सार्वभौमोपाधिकेन वेचारामद्विजन्मना।
कविकल्पलता-टीकारचिता सुधियां मुदे ॥१॥

इति श्रीवेचारामसार्वभौमकृता कविकल्पलताटीका
समाप्ता।

(टी०) 'सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वा अप्रियं'। 'प्राप्तं' प्राप्तं तत् सर्व्वं 'अपराजिता' अपराभूतेन 'हृदयेन' मनसा 'उपासीत' स्वीकुर्य्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

(ता०) सुखमेव भवतु दुःखमेव वा, प्रियमेव घटतामप्रियमेव वा; सर्व्वैतदेव लक्षेत्— यथा न कथमपि तत्र हृदयमभिभूतं भवेदिति, हृदये एवाभिभूते किङ्कर्त्तव्य-मूढोऽवस्था-स्रोते निमग्नो नानानिष्टं भूज्येत; तत्र ईश्वरस्य मङ्गल-स्वरूपे श्रद्धया एकान्तनिर्भरमापाद्य सुखं दुःखं सम्पद् विपच्च पराजयेत्। निश्चयमेतद् जानीयात्— सर्व्वदर्शी, सर्व्वशक्तिमान्, पूर्णः, मङ्गलस्वरूपः, परमेश्वरः जीवितो जागरितोऽस्माकं सन्निहितश्चेति। प्रभूत-सुख-सम्पत्ति-समयेऽपि तं न विस्मरेत्, घोरतर-विपत्ति-समयेऽपि तं न विस्मरेत्। सुख-दुःख-सम्पद् विपदां सर्व्वेषामेव पृष्ठतः स राजते-इति जानीयात्, तानीमानि सर्व्वाणि प्रभिद्य तं द्रष्टुमभ्यसेत। एवंसति न कोऽपि हृदयं पराजेतुं शक्ष्यति ॥ ५ ॥

४७

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्। न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्म्मं परित्यजेत् ॥ ६ ॥

(टी०) 'प्रिये' प्राप्ते 'अतिभृशं' अत्यर्थं 'न' 'हृष्येत्' न मोदेत 'अप्रिये' 'च' 'न' 'संज्वरेत्' न म्लायेत्। 'अर्थकृच्छ्रेषु' अर्थाभावहेतुकेषु बह्वष्वपि कष्टेषु सत्सु 'न मुह्येत्' न मुग्धोभवेत्। 'न च धर्म्मं परित्यजेत्' ॥ ६ ॥

(ता०) प्रिय-घटनया आह्लाद-मत्तो न भवेत्, अप्रिय-घटनयाच विषाद-निमग्नो न भवेत्। अतिहर्षोऽतिविषादश्च द्वयमेवैतत् विवेकशक्तिमपहरति। अविवेकी मनुष्यः कार्य्याकार्य्य-विमूढो भवन् नानानर्थेषु निपतति। ईश्वरः सर्व्वेषां मूलाधारः-इति विविच्य सम्पदि नम्रस्तिष्ठेत्, विपदि धर्म्मस्यान्तर्गतः सन् तत्प्रतीकारं चेष्टयेत्। याश्चाप्रियाः अप्रतिविधेयाः धैर्य्यावलम्बनेन ता अतिवाहयेत्। इदमपि विविच्य पश्येत्— वयं यद् प्रियत्वेन विज्ञाय हृष्टाभवामः, वस्तुतस्तदहितकरमपि भवितुमर्हेत्;—यद् वयमप्रियमिति ज्ञात्वा भीता भवामः, वस्तुतस्तत् हितकरमपि भवितुमर्हेत्। दारिद्र्य-दुःखे निपतन् दुर्बलहृदयोमानवः न्यायपथमतिक्रम्य जीविकामाप्तुं यतते; परमिदं विस्मरति—योऽद्य मनसि दुःखात् परित्राणोपायत्वेन भाति, भविष्यति सएव गाढ-दुःखोपस्थापकः। अतो यदि दुःखभरेणैतत् क्षणभङ्गुरं शरीरं भज्ज्यात्, तथापि धर्म्मं परित्यज्य आत्मानमपवित्रं न कुर्व्वीत ॥ ६ ॥

४८

सन्तापात् भ्रश्यते रूपं सन्तापात् भ्रश्यते बलम्। सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्व्याधिमृच्छति ॥ ७ ॥

(टी०) 'सन्तापात्' सन्तापेन हेतुना 'भ्रश्यते' नश्यति 'रूपं' तथा 'सन्तापात् भ्रश्यते बलं'। 'सन्तापात् 'भ्रश्यते ज्ञानं' 'सन्तापात् व्याधिं' 'ऋच्छति' प्राप्नोति ॥ ७ ॥

(ता०) यथाच मनस्तापम् हृदय-वेदनाश्च भोक्तुं भवेत्, ईदृशी घटना तु संसारे प्रतिनियतमेवोपतिष्ठति। लघुचेतसोमनुष्याः तादृशघटनयैव मनस्तापैरभिभूताः श्रीभ्रष्टाः बलभ्रष्टा बुद्धिभ्रष्टाः रोगाक्रान्ताश्च सन्तोऽत्यन्तं क्लेशान् भुञ्जन्ते; अतो मनसि सुमहान् सन्तापो यथा नोदियात् तथा यतितव्यम्। सन्ताप-कारणे समुपस्थिते धैर्य्येण विवेकेन चात्मानं रक्षेत्। सर्व्वाएव घटनाः कस्मिन्चिदेकस्मिन् विषयेऽस्मान् शिक्षयन्ति, अतो मनस्ता-

पेनाधीरोभवन् तां मङ्गल-जननीं शिक्षामवाप्नु वञ्चितो न भवेत्। बहवस्तु सन्तापाः स्वदोषत एवोत्पद्यन्ते, अतस्तत्र हतचेतनो न भूत्वा स्व-दोष-संशोधने यत्नवान् भवेत्। हृदयमन्दिरेऽनवरत-विराजितानन्दमयेश्वरेण सह वासः सर्व्वप्रकार-सन्ताप-महौषधः-इति बुध्येत ; तं ध्यात्वा तत्समया स्व-दुःखं निवेद्य, शान्तिं प्रार्थ्य चाखिल-हृदय-ज्वालां निर्व्वापयेत् अपिच सदा प्रफुल्लः संसारेऽव-तिष्ठेत ॥ ७ ॥

इति।

षष्ठोऽध्यायः।

४९

स्वीयं यशः पौरुषञ्च गुप्तये कथितञ्च यत्। कृतं यदुपकाराय धर्म्मज्ञो न प्रका-शयेत् ॥ १ ॥

(टी०) 'स्वीयं' आत्मीयं 'यशः' 'पौरुषं च' पुरुषकारञ्च 'गुप्तये' गोपनाय 'च' 'यत्' 'कथितं'। 'कृतं यत्' 'उपकाराय' उपकारार्थं परेषां। तं सर्व्वं 'धर्म्मज्ञः न प्रकाशयेत्' ॥ १ ॥

(ता०) यशोलाभमेव परिलक्ष्य विचरणमक-र्त्तव्यम्। यशः-स्पृहां संयम्य धर्म्ममेव परिलक्ष्य व्यवहरेत्। तथासति लोका यदि यशः कीर्त्तयेयुः, तदाकर्ण्य स्फीतोगर्व्वितश्च न भवेत् प्रत्युत विनयं नम्रतां च प्रदर्शयेत्। स्वयमेव स्व-यशः कदापि न कीर्त्तयेत्। यद्यात्मानं सुख्यातिभाजनं बुध्येत परं लोकमुखतस्तथा न प्रतीयेत, तत्र न विस्मितो भवेत्, नापि चञ्चलो भवन् स्व-यशः स्वयमेव गातुमुद्-यतेत ; सर्व्वेष्वेव कार्य्येषु स्वकीय-धर्म्मज्ञाने परि-तृप्त एव स्वयमपि परितृप्तस्तिष्ठेत्। यत स्व-ख्यातिः स्वेनैव कथ्या भवेत्, तत्र च यावत्परिमाणा खलु सा भवेत् प्रयोजनवती, तावदेव वक्तव्या, न तदतिरिक्ता।

परमेश्वरो यस्मै यावच्छक्तिं प्रदात्, तेन ताव-देव तदीय-प्रियकार्य्यं मनुष्ठातव्यम् ; परं तथानु-ष्ठायी आत्मानं न श्लाघयेत्। मूढाएव पौरुषा-दधिकमप्यात्मश्लाघनं कर्त्तुमिच्छन्ति; धीरास्तु मौन-मवलम्ब्य स्व-समस्त-प्रभावानीश्वरायोत्सृजन्ति।

गोपनेन संरक्ष्यमिति यत्किञ्चित् केनचित् कथितम्, तत् न कदापि प्रकाशयेत् ; प्रकाशिते तस्मिन् विश्वास-घातकता प्रसज्येत। यदि गोप्य-मेतत् गोपनेनैवायं रक्षतीति धिया सौहृद्य-समये कश्चित् कञ्चित् किञ्चिदकथयत् — अनन्तरं यदि सौहृद्य-विच्छेदो जायेत, तथापि गुप्तं तदिति यत्नेन गोपयेत्।

स्व-कृतं परोपकारं स्वमुखेन न व्यञ्ज्यात् ; तथा व्यक्ते तस्य गौरवं महत्वञ्च विलुप्येत, कृतश्चो-पकारो धर्म्म-स्वरूपमवलम्बितुमसमर्थः स्यात् ॥१॥

५०

सत्यं मृदु प्रियं वाक्यं धीरो हितकरं वदेत्। आत्मोत्कर्षं तथा निन्दां परेषां परिवर्जयेत् ॥ २ ॥

(टी०) सत्यं' यथादृष्टश्रुतं 'मृदु' कोमलं 'प्रियं' प्रीतिदं 'हितकरं' 'वाक्यं' 'धीरः' धीमान् 'वदेत्' सर्व्वेभ्यः। 'आत्मोत्कर्षं' आत्मस्तुतिं 'तथा' 'परेषां' 'निन्दां' 'परिवर्ज्जयेत्' ॥ २ ॥

(ता०) मनो यज्जानाति, वाक्येन तदन्यथा न कुर्य्यात् ; यथा च लोकास्तदीयमनोगतमर्थं ग्रही-तुं समर्थाः सन्तः संशयमारोहेयुः ईदृशं जटिलं वाक्यं न प्रयुञ्ज्यात्, अपिच मत्स्वगतमर्थमबुद्ध्वान्यथै-वार्थं कल्पयन्तु लोकाः-एवमभिप्रायेण न किञ्चिद्

भाषयेत्; यत् सत्यमिति स्थिरं जानीयात् कथनसमये तदेव प्रत्यापयेत्। हृदय-वेदनां प्रददन् कठोर-वाक्येन सम्भवति सम्भाषणम्, हृदय-ग्राहि-कोमलभावेनापि सम्भवति सम्भाषणम्; ये वै क्षुद्रहृदया सएव कठोरवाक्यं व्यवहरन्ति—न तथा कार्यम्। क्षुद्रतां कठोरवाक्यं च विहाय सहृदयः सन् कोमलवाक्येन लोकैः सम्भाषयेत्। कस्यचित् हृदयाघातं प्रतिपादयितुमप्रियं न वदेत्। सर्वेषां हितं परिलक्ष्य हितमेव ब्रूयात्। आत्मश्लाघनं न कुर्य्यात्, अपिचात्मश्लाघां परिलक्ष्य स्व-सच्चरित्रं सुविस्तार्य्य न गदेत्। पर-निन्दनं न कुर्य्यात्, अन्यायेन कस्यचित् धन-सम्पत्ति-ग्रहणम्-अन्यायेन कस्यचित् सुख्याति-सम्पत्ति-नाशनञ्चोभयमेतत्तुल्यमेव। कस्यचित् स्वभावं शोधयितुं जगद्धितं साधयितुं वा यदि कस्यचिद्द दोषोल्लेखनं नितान्तमावश्यकं स्यात्, तर्हि सदयहृदयेन तत् सम्पादयेत् ॥ २ ॥

५१

सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्व्वदा। कामक्रोधौ वशे यस्य तेन लोकत्रयं जितं ॥ ३ ॥

(टी०) 'सत्यं एव व्रतं यस्य' तथा 'दीनेषु सर्व्वदा' 'दया'। 'कामक्रोधौ' कामश्च क्रोधश्च तौ 'यस्य' 'वशे' अधीनतायां वर्त्तते 'तेन' वशिना 'लोकत्रयं' 'जितं' वशीकृतं ॥ ३ ॥

(ता०) सर्वदा सत्यव्रतस्तिष्ठेत्; मनः सत्यानुगतं कुर्य्यात्, वाक्यं सत्यानुगतं कुर्य्यात्, आचरणमपि सत्यानुगतं कुर्य्यात्; दीने दयावान् सदैव तिष्ठेत्— यो धर्म-दीनः, तस्मै धर्मोपदेशं प्रदद्यात्; यो ज्ञान-दीनः, तस्मै ज्ञानोपदेशं प्रदद्यात्; यो धन-दीनः, तस्मै धनं प्रदद्यात्। कामं क्रोधञ्च वशीकुर्यात्; एतद्रिपुद्वये प्रबले सति मनुजोऽनेकविधपापाचरणे प्रवृत्तो भवति। कामं जेतुं तद्विषयिणीं चिन्तां परित्यजेत्; क्रोधं जेतुं क्षमामभ्यस्येत ॥ ३ ॥

५२

विरक्तः परदारेषु निस्पृहः परवस्तुषु। दम्भमात्सर्य्यहीनो यस्तेन लोकत्रयं जितं ॥ ४ ॥

(टी०) 'यः' 'परदारेषु' परपत्नीविषयेषु 'विरक्तः' विगतानुरागः तथा 'परवस्तुषु' 'निस्पृहः' स्पृहा-रहितः। दम्भमात्सर्य्यहीनः' दम्भः कैतवेन धर्म्माचरणं मात्सर्य्यमन्यशुभद्वेषः ताभ्यां रहितः 'तेन' तादृशेन प्राज्ञेन 'लोकत्रयं' 'जितं' ॥ ४ ॥

(ता०) आसक्तचित्तेन अन्यदीयं स्त्रियं न पश्येत्, न चिन्तयेत्, न स्पृशेत्। परकीयवस्तुमात्रेषु स्पृहाशून्यः सन् न्यायोपार्जिते आत्मविषये एव परितृप्तस्तिष्ठेत्। दम्भं मात्सर्य्यञ्च परित्यजेत्। छलनापूर्वकं धर्माचरणमेव दम्भः, अन्यदीय-मङ्गले द्वेष एव मात्सर्य्यः। लोक-प्रतारण-कामनां परित्यज्य सर्वदर्शीश्वरस्य तृप्त्या धार्मिको भवेत्। ईश्वरे इव सर्वत्र प्रीतिं प्रकर्त्तुमभ्यस्येत, तथाच मानसिक-क्षीणतातत्वंतन्नो मात्सर्य्योऽन्तर्हितोऽभविष्यत् ॥ ४ ॥

५३

न बिभेति रणाद्योवै संग्रामेऽप्यपराङ्मुखः। धर्म्मयुद्धे मृतोवापि तेन लोकत्रयं जितं ॥ ५ ॥

(टी०) 'यः वै' 'रणात्' युद्धात् 'न बिभेति' न भीतो भवति 'संग्रामे अपि' युद्धे च 'अपराङ्मुखः'

न पलायनवहिर्म्मुखः। 'धर्म्मयुद्धे हतः वा अपि' 'तेन लोकत्रयं जितं॥ ५॥

(ता०) युद्धं द्वेधा। यत्र स्वत्वं नास्ति अन्यायेन तद् ग्रहीतुं युध्यन्ते दुरात्मानः; इत्थं न्यायस्वरूपेश्वरेण विरोधाचरणं कृतं भवति, ततो नैतद्धर्मयुद्धम्। अन्यायाचरणं निवारयन् न्यायस्य सिंहासनं प्रतिष्ठापयितुं यद् युद्धमनुष्ठितं भवति, तत् प्रतिकारयुद्धं धर्मयुद्धं चोच्यते एतेन अन्यायप्रतीकारो न्याय-रक्षा च भवति। किन्त्वे तदपि प्रेम-स्वरूपेश्वर-राज्ये न हि सामान्य शोचनीयम्—ये मनुष्याः परस्परालिङ्गनीयाः,ये च ते सर्वे एकस्य मङ्गलस्वरूपस्य समस्नेहेन प्रतिपालिता भवन्ति, ते किल स्व-स्व-हस्तान् परस्पर-रक्त-दूषितान् करिष्यन्ति—एको भ्राता अपरैकस्य भ्रातुः शरीरे सांघातिकमाघातं विधास्यन्ति-एतस्मिन् मनस्यपि नीते हृदयोऽखिलशोक-दुःखैराच्छन्नो भवति; अतः शान्त्या क्षमयाच रक्षिते न्याये न कदापि युद्धे प्रवृत्तो भवेत्, अपिच धर्मयुद्ध-भानेनात्मश्चरितां न तृप्येत। परम् अकल्याण निवारणाय यदि प्रवृत्तः तर्हि न तत्र भीतः पराङ्मुखो वा भवेत्॥५॥

५४

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं। प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः॥ ६॥

(टी०) 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' 'सत्यं अप्रियं 'न ब्रूयात्'। 'प्रियं च न' 'अनृतं' मिथ्या 'ब्रूयात्'एषः' 'सनातनम्' नित्यः 'धर्म्मः'॥ ६॥

(ता०) यथा च सत्यस्यापलापो न भवेत् लोकस्य च प्रीतिरुत्पद्येत तथा वाक्यं व्यवहरेत्, अपिच तादृशमेव वाक्यं प्रयोक्तुं यत्नतः शिक्षेत्। यत् सत्यम्, परं तथोक्ते कस्यचित् हृदये आघातः स्यात्, तत् संयतं रक्षेत्,—नोच्चारयेत्; यद्येकान्तमावश्यकं स्यात् दयया सह तद्भाषेत, परं तदनुमोद्य नाह्लादेत, मनस्यानन्दभाक् न कुर्य्यात्। यत्किञ्चन प्रियं परमनृतम् तदेकदैव परित्यजेत्। एवं खलु वाक्संयमं नित्यकर्मेति जानीयात्॥६॥

५५

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ ७॥

(टी०) 'गात्राणि' अङ्गानि स्वेदाद्युपहतानि 'अद्भिः' जलेन क्षालितानि 'शुद्धन्ति'। 'मनः' निषिद्धचिन्तनादिना दूषितं 'सत्येन' सत्याभिधानेन 'शुध्यति' 'भूतात्मा' जीवात्मा' 'विद्यातपोभ्यां' ब्रह्मविद्यातपोभ्यां शुध्यति। 'बुद्धिः' विपर्य्यय-ज्ञानोपहता 'ज्ञानेन' यथार्थेन 'शुध्यति'॥ ७॥

(ता०) वाक्प्रयोगे सत्यवादी भवेत्, व्यवहारे सत्यपरायणो भवेत्, तथाचान्तरिन्द्रियं प्रसादमाप्य शुद्धतामुपगच्छेत्। ब्रह्मविद्यया ब्रह्मज्ञानं समुज्ज्वलेत् किञ्च ईश्वरादिष्ट-धर्मानुष्ठान-तपश्चर्य्यायामात्मानं नियोजयेत्, तथाचात्मा मोहात् पापतापाच्च परिमुच्य शुद्धतामुपगच्छेत्; अपिच ज्ञानानुशीलनेन भ्रमप्रमादाद् विमुच्य बुद्धिं शुद्धतामापयेत्। आत्मानं सर्व्वथा शुद्धसत्वं प्रकृत्य शुद्धस्य अपापविद्धस्य परमेश्वरस्य सन्निहितो भवितुं शक्नुयात॥ ७॥

५६

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥ ८॥

द्वितीया ऋक् ।

शंयु ऋषिः ।

१र २र ३ १र २र
त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य
३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ
कारवः। त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां
३ १ २
काष्ठास्वर्वतः ॥४१॥

हे 'इन्द्र!' 'वाजस्य' अन्नस्य 'कारवः' कारकाः कृषिणो वयं 'त्वाम्' 'सातौ' लाभभूमौ क्षेत्रे इति यावत् 'इत्'-इति 'हवामहे' आह्वयामः। 'वृत्रेषु' शत्रुसमुदाये स्थिता वयम् 'त्वां' 'सत्पतिम्' सतां पालकं ज्ञात्वा हवामहे। 'काष्ठासु' यज्ञेषु 'अर्वतः' गच्छन्तो वयं 'त्वाम्' 'नरः' नराकारः-इति ध्यात्वा हवामहे 'हि' निश्चयार्थः सर्वत्र सम्बध्यः। हवामहे-इति सम्प्रसारणे (६।१।३४) रूपम्। सातावित्ति सातिर्लाभः, क्षेत्रमपि लाभभूमित्वात् सातिः। काष्ठा दृष्टिलक्षणा आपः तन्निदानं यज्ञः-इह सएव लक्ष्यते। अर्वतइति गत्यर्थेषु पठितस्यार्वतेः शतरिरूपम्, सुपांसुलुगित्यादिना जसः सु। अत्रेदमवधेयम्— नितान्तमूढ़ाः लाभव्यग्राः ये पांशुलपादुकाहालिकाः कर्षणसमये लाङ्गल मूलं धृत्वा क्षेत्रे गच्छन्तः इत्-इत्-इत्यस्फुटवान् वदन्ति, तत् त्वामेवाह्वयन्ति यतस्ते तथैव फलमाप्नुवन्ति; अपिच धर्मयुद्धे प्रवृत्ताः वीराः त्वं सतांपालकः-इति विज्ञाय 'यतोधर्मस्ततोजयः'-इत्येवमादिकं वदन्ति, तत् त्वामेवाह्वयन्ति यतस्ते तथैव रक्षिता भवन्ति; यज्ञेषु प्रवृत्ताः याज्ञिकाः अग्निस्त्वं नररूपः-इत्यादिना स्तुवन्ति, तत् त्वामेवाह्वयन्ति यतस्ते तथैव कृतकार्या भवन्ति। अत्र प्रथमदलेन वैश्यकर्तृकाह्वानं, द्वितीयदलेन क्षत्रियकर्तृकाह्वानं, तृतीयदलेन ब्राह्मणकर्तृकाह्वानं लक्षितम्; तत्राप्यस्ति तात्पर्य्यम्, तथाच—वैश्याः धनाद्युपार्जन रक्षणाद्यर्थं प्रायः सदैव चिन्ताकाभीताईश्वरस्मारकास्त्वेति तेषां प्राथम्यम्, क्षत्रियाः प्रायो विपद्भिभीता ईश्वरस्मारकास्त्वेति ततः पराः, ब्राह्मणास्तु प्रायोनिर्भीताः सकामाश्चेत् तदा ईश्वरस्मारकाः-इति ते शेषभूताः ॥ ४१ ॥

হে ইন্দ্র! অন্নসমুদয়ের উৎপাদক আমরা, লাভভূমি-(ক্ষেত্র) কর্ষণ করিবার সময়ে তোমাকে ইৎ ইৎ বলিয়া আহ্বান করিয়া থাকি, সংগ্রাম কালে শত্রু মধ্যে তোমাকে সাধুপালক জানিয়া আহ্বান করিয়া থাকি, যজ্ঞকরিতে প্রবৃত্ত হইয়া 'হে অগ্নি! তুমি নরাকার'-ইত্যাদি বাক্য দ্বারা তোমাকেই আহ্বান করিয়া থাকি ॥ ৪১ ॥

भारद्वाजम् ।

५र २ १ २र १ २
त्वामिद्धी। हवा २ महे। आ। औ ३
र र २ २ ५ २र र र
हो वा हाउवा ३। ऊ३४ पा। सातौ वा
१ २ १ २ र र
ज। स्या३का२र वः। आ। औ ३ हो वा
२ २ ५ १र
हा उवा ३। ऊ ३४ पा। त्वां वृत्रा इषु
२ २ १ २ १ २ र
इ। इन्द्रसा २ त् पतिम्। आ। औ ३ हो
र २ २ ५ १ र
वा हा उ वा ३। ऊ३ ४ पा। नरस्त्वां
र २र १ २ १ २ र
काष्ठा। सु आ २ र्वतः। आ। औ ३ हो
र २ २ ५
वा हाउवा ३। ऊ ३२३४पा ॥४१॥

तृतीया ऋक्।

वामदेव ऋषिः।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
विदे। योजरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सह-
२ ३ १ २
स्रेणेव शिक्षति ॥४२॥

'वः' इव: 'जरितृभ्यः' स्तोतृभ्यः स्तोतृन् प्रसादयितुम् 'मघवा' ऐश्वर्यवान् 'पुरूवसुः' बहुधनः 'सहस्रेण' प्रकारेण सुख-दानेन, दुःख-दानेन, जाग्रति, स्वप्ने, इत्येवं 'शिक्षति' 'इव लोकान्' इति शेषः ; तम् 'वः' त्वाम् 'सुराधसम्' सुवित्तम् 'इन्द्रम्' 'यथा विदे' यथावित् यथाज्ञानम् 'अभि। प्र। अर्च' आभिमुख्येन स्थित्वा प्रकर्षेण अर्चयामि। जरितृभ्य इति जृणातेः स्तुत्यर्थेषु पाठात् जरितृशब्देन स्तोतर्थः प्रतिपद्यते। वः-इति एकस्मिन् बहुवचनम्। अर्चेति उत्तमपुरुषार्थे मध्यमः। विदे-इति शेभावे रूपम् ॥ ४२ ॥

যিনি স্তোতৃগণকে কৃতার্থ করিবার নিমিত্ত ঐশ্বর্য্যবান্ ও বহুধন, যিনি সুখে দুঃখে, জাগ্রৎ স্বপ্নে, নানা প্রকারে সমস্ত জীবকে শিক্ষা দিতেছেন ; আমি অতি স্থিরচিত্তে সেই সুবিজ্ঞ ইন্দ্রের উত্তমরূপে অর্চ্চনা করিতেছি ॥ ৪২ ॥

साभतम्।

५ २ १र २ १
अभिप्रवाः। सुराधा २३ साम्। इन्द्र
२ ३र २ ३
मर्च्चयाथा१विदा २३४ इ। यो जा ३४ रि
२ १र र २ १
तृ। भ्यो मघवा पूरू १ वा सू २ः। सहा२
१ ३ ५र र २ १
३। स्रा २ इ रा २३४औहोवा। शिक्ष-
३ १ १ १ १
तो२३४५ ॥४२॥

चतुर्थी ऋक्।
नौधस ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्ध
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
सः। अभिवत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं
३ १ २
गीर्भिर्नवामहे ॥४३॥

'तं' त्व 'वः' त्वाम् 'इन्द्रम्' 'स्वसरेषु' यागगृहेषु 'गीर्भिः' 'अभि। नवामहे' आभिमुख्येन स्तुमः। कीदृशं तम्? इत्याह—'दस्मम्' उपक्षयितारं असाधूनामिति शेषः, अपिच 'ऋतीषहम्' सेनानां परकीयानामभिभवितारम्, किञ्च 'अन्धसः' 'वसोः' सोमस्वरूपान्नात्मधनस्य 'मन्दानम्' मतारम्। दृष्टान्तमुच्यते—'धेनवः। वत्सं। न' अचिरप्रसूतागावः वत्समिव धेनवइव वयं वत्समिव त्वां सस्नेहं स्तुम इतिभावः। दस्ममिति 'तसु दसु उपक्षये'-इत्यस्य रूपम्। ऋतीषहमिति ऋतयः सेनाः, ता योऽभिभवति तम् ; 'सहेः पृतनर्त्ताभ्याञ्च (८।३।१०९)' इति षत्वम्। नवामहे इति लेटीरूपम् उपग्रहव्यत्ययस्च। नेति उपरिष्टादुपमार्थीयः ॥ ४३ ॥

আমরা—যিনি দুষ্টদিগের নিগ্রহকারী, যিনি শক্রসৈন্যের অভিমর্দ্দক, যিনি সোমরূপ অন্নের অত্তা সেই ইন্দ্রকে যে রূপ অচির-প্রসূত গো সকল নিজ নিজ বৎস সস্নেহে আহ্বান করে সেই রূপ অতি প্রীতিসহকারে স্তব করিতেছি ॥ ৪৩ ॥

नाविकम्।

४ ५ ४ ५ २ र १ २
तं वः। एदास्माम्। ऋतीषहम्। हा
१ २ २ १ २ १ र २ र
२ इ। आ औ ३ हो। इहा। वासोर्मन्दा
१ २ १ १ २ १
नमन्धसा३ः। हा२इ। आ औ३हो। इ
२ १ २र र १ र ५
हा। अभिवत्सन्नस्वसरेषु धेनवा२ः। हा
१ २ २ १ २ १ २
२ इ। आ औ३ हो। इहा। इन्द्रम्।
१ २ २ १ २ ३र२
हा२इ। आ औ ३ हो। इहा। गीर्भी
३ ५र र १र ३ १ १ १ १
इः। ना २३४ औ होवा। वामहे २३४५
॥४३॥

पञ्चमी ऋक् ।

कालेय ऋषिः ।

१ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २
तरोभि र्वो विदद्वसुमिन्द्रꣳसबाध
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
ऊतये । बृहद् गायन्तः सुतसोमे अध्वरे
३ २उ ३ २ ३ १ २
हुवे भरन्न कारिणम् ॥ ४४ ॥

'तरोभिः' आत्मीयैर्बलैः 'विदद्वसुम्' लभमानधनम् 'इन्द्रम्' 'वः' त्वाम् 'सबाधः' बाधयापीडया सहितः अहम् 'ऊतये' स्व-रक्षणाय 'सुतसोमे अध्वरे' ज्योतिष्टोमादौ सोमयागे बृहद्गायन्तः' बृहत्साम गायन् 'हुवे' आह्वयामि । कथमिव ? 'कारिणम्' जगत् कर्त्तारं 'भरम्' जगद्भर्त्तारम् 'न' इव, एतेन यतः स्रष्टरित्वय्येव भर्त्तृत्वम् अतः पीड़ितोऽहं त्वामेवाह्वयामि-इति सूचितम् । तरोभिरिति तरो बलपर्य्यायो निघण्टौ। विदद्वसुमिति 'विद्लृलाभे' इत्यस्य शतरि विदद् धनं यस्य तम्। बृहद्गायन्त इति बहुवचनं व्यत्ययेन । हुवे इति सम्प्रसारणे (६.१।३४) रूपम् । नेत्युपरिष्टादुपमार्थीयः ॥ ४४ ॥

যে ইন্দ্র আত্মবলে ধন লাভ করিতেছেন, যিনি জগৎস্রষ্টা এবং জগদ্ভর্ত্তা, তাঁহাকে বাধাবিশিষ্ট আমি নিজরক্ষণার্থ এই জ্যোতিষ্টোম নামক সোমযাগে বৃহৎসাম গান করত আহ্বান করিতেছি ॥ ৪৪ ॥

कौशम् ।

४ ५ १ र २
तारो । भारवौविदा३१ उवा २३ ।
५ १ २र १र२ र १ २र
वा २४ सूम् । इन्द्रा २ꣳस बाधऊतये२ ।
१ २ १र र १
बृहात् । बृहा ३१ ऊवा२ । गायन्तः सुत-
२र र १र २ १र २ १ र २
सोमे अध्वरे । हुवेभा२३राम् । ना कारि-
१ २ १
णाम् । इडा २३ भा३४३ । ओ २३४५
इ । डा ॥ ४४ ॥

षष्ठी ऋक् ।

वसिष्ठ ऋषिः ।

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तरणि रित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र
युजा । आव इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरानेमिं
२र ३ १ २
तष्टेव सुद्रुवम् ॥ ४५ ॥

यः 'तरणिः' सूर्य्यः 'वाजम्' अन्नम् अपि च 'पुरन्ध्या युजा वः" पत्नीयुयो युष्मान् 'सिषासति' सातुम् अन्तकर्मणि नेतुम् इच्छति । इत्थं सोऽमङ्गलकारकः इति चेन्नेत्याह—'इव' यथा 'तष्टा' काष्ठतट् 'सुद्रुवम्' घातकं 'नेमिम्' रथाङ्गविशेषं स्यति तद्वत् ; तथा च—पुरातनस्य नेमेः विविधदोषयुक्तत्वमनिष्टकरत्वं यदाबुध्यते तदा नवीनसिसृक्षया शोधनेच्छया वा तस्यैव स्रष्टा तं भनक्ति, एवम् स्रष्टा सृष्टमन्नादिकं यदा विविधदोषग्रस्तं पश्यति तदा नूतनसिसृक्षया शोधनेच्छया वा तत् सर्वम् संहरति । तं सूर्यरूपेण प्रलयकर्त्तारम् 'इन्द्रम्' 'पुरुहूतम्' 'गिरा' स्तुतिलक्षणया वाचा 'आनमे' आभिमुख्येन नमामि । पुरन्ध्या-इति पुरं ध्यायति पुराणिष्टं शोचति पुरन्ध्रीपत्नी तया । युजा-इति सुपांसुलुगित्यादिना शस आत्वम् । व इति इरात्मपरम् । सुद्रुवमिति वधार्थस्य द्रुणातेरूपम् ॥ ४५ ॥

যেরূপ কাষ্ঠতট্ নিজনির্ম্মিত পুরাতন নেমি দোষাশ্রিত হইলে তাহা শোধন করণেচ্ছায় নষ্ট করিয়া থাকে,—যে দেব সেই রূপ কদন্ন এবং কুস্ত্রী ও কুপুরুষ সকল নাশ করিতে ইচ্ছা করেন, সেই সূর্য্যরূপী পুরুহুত ইন্দ্রকে আমি প্রণাম করি ॥ ৪৫ ॥

रौषिरम् ।

५ ३ २ ४ ५ २र १
तरणिरीत् । सिषा३साती । वाजा
२ १ २ र १ २ ४ ५
पुराम् । धियायुजा । आवा ३ आइन्द्राम् ।
२ र २र १ २ र १ २
पुरुहूतम् । नमेगाइरा । नाइमीꣳ२-
४ ५ २र १ १ १ १ १
ताष्टे । वासुद्रुवा२३४५म ॥ ४५ ॥

सप्तमी ऋक् ।

मेधातिथि ऋषिः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
पिवा सुतस्य रसिनो मत्स्वान इन्द्र
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
गोमतः । आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे-
१ २ ३ १ २
३ऽस्माꣳ अवन्तु ते धियः ॥ ४६ ॥

हे 'इन्द्र !' 'गोमतः' उदकमिश्रस्य 'रसिनः' स्वादोः 'नः' । सुतस्य' अस्माकं स्वभूतस्य सोमस्यैकदेशं 'पिबा' पिब पीत्वाच 'मत्स्व' हृष्टोभव । 'आपिः' व्यापकः त्वम् 'सधमाद्ये' सोमयागे 'नः' अस्माकं 'वृधे' वर्द्धनाय 'बोधि' लुध्यस्व । 'ते' तव 'धियः' 'अस्मान्' 'अवन्तु' । पिबेति 'द्व्यचोतस्तिङः'-इति दीर्घः । गोमतइति गौरित्युदकपर्य्यायो नैघण्टवः । नः-इति षष्ठीनिर्द्देशात् एकदेशमिति गम्यते । मत्स्वेति चुरादेर्णिजभावे रूपम् । बोधि-इति बहुव्यत्ययेन साध्यम् । सधमाद्येइति सधशब्दः सहपर्य्यायः, सहमाद्यन्ते देवाः यत्र । वृधे३इति 'प्रतिश्रवणे च । ८ । २ । ९९ ।'-स्मृतिः ॥ ४६ ॥

হে ইন্দ্র ! উদকসংমিশ্র সুস্বাদু এই আমাদিগের সোমৈকদেশ পান করিয়া মত্ত হও । তুমি সর্ব্বব্যাপী এই সোমযাগেও রহিয়াছ, আমাদিগের বৃদ্ধির জন্য বাঞ্ছা কর ; তোমার ইচ্ছা আমাদিগকে রক্ষা করুক ॥ ৪৬ ॥

पृक्थम् ।

५ ४ २ ३ ४ ५ १ २र
पिवा ३ सुतस्यरसिनाः । मत्स्वान इन्द्र
र १ २र १ र र र
गोमता२३ होइया । आपिर्नोबोधि सधमा
र १ २ १र २
द्येवृधा२३ होइया । अस्माꣳ आ२३ वा ।
१ २ १
वुताइधा२३ या ३४३ः । औ २३४५ इ ।
डा ॥ ४६ ॥

अष्टमी ऋक् ।

भर्ग ऋषिः ।

२उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्वा वृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्व-
मिष्टये ॥ ४७ ॥

हे 'इन्द्र !' 'चेरवे' यज्ञे 'त्वम्' 'हि । एहि' अवश्यमागच्छ । एत्यच 'भगम्' निजैश्वर्यम् वसुत्तये' धनदानार्थम् 'विदाः' जानीहि । हे 'मघवन्' धनिन् 'गविष्टये' गोमेधयागार्थम् 'उद्वावृषस्व' अतिशयेन वर्ष गामिति यावत् अपिच 'इष्टये' अश्वमेधयागार्थम् 'अश्वम्' 'अत्' उद्वावृषस्व । चेरवइति चेरवश्चेतयितारः देवाः तेषामिदमुपासनस्थानं चेरवो यागः तत्र । विदाइति लेटो रूपम् । वसुत्तिये-इति वसुत्तिर्धनदानमिति माधवः । वावृषस्वेति वर्षतेर्यङ्लुकिरूपम् । गविष्टयेइति इष्टियोगः गोरिष्टिर्गविष्टिः तस्मै तत्सम्पादनाय उदित्युपसर्गद्वयश्रवणात् वा वृषस्वेति क्रियाभ्यस्यते ॥ ४७ ॥

হে ইন্দ্র ! তুমি এই যজ্ঞে আগমন কর, তোমার যে সমস্ত ঐশ্বর্য্য আছে তাহা ধনদান করিবার জন্য-এই রূপ নিশ্চয় কর । হে মঘবন্ ! গোমেধ যজ্ঞ সম্পাদনার্থ গো বর্ষণ কর এবং অশ্বমেধ যজ্ঞ সম্পাদনার্থ অশ্ব বর্ষণ কর ॥ ৪৭ ॥

कौत्समलम् ।

५ ४ ३ ४र ५र २ १र
तुवा३ꣳ हो ३ एहिचेरवाइ । विदाभ
१ ५ र ४
गंवसू२त्ताया २३४ इ । उद्वावृषस्वमघा-
५ २र १ १ र
वान् । एहोइ । गा२विष्टयाइ । उदिन्द्रा-
२ १ ५ ४ ५
श्वमोवा ३ औ २३४ वा । ष्टा ५ योईहाइ
॥ ४७ ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

सत्साम्प्रदायिकाऽनवद्यकाव्यसिद्धान्तप्रवचनसत्प्रकाशिका । बोधाच्छिवेद्यमननेन मान्यं वन्देऽहमीशं जगदेकबन्धुम् ॥
सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [April, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२२सङ्ख्या

वैदिकसमालोचना

(२१ संख्याया अनन्तरम्)

गानचतुष्टयान्तर्गतनां सकलसाम्नाम् प्रत्येकस्यैकैकं नामधेयमस्ति । गेयगानस्य प्रथमसाम्नः पर्क्कतिनाम, यत्र क्वचित् पर्क्कस्य विनियोगो विहितः तत्र तदेव विनियुज्यते । एवमरण्यगान प्रथमसाम वैरूपाभिधम्, ऊहगान प्रथमसाम आमहीयवाख्यम्, ऊह्यगान प्रथमसाम रथन्तर संज्ञकम् । एवं याज्ञिकादिव्यवहारार्थं सर्वाण्येव सामानि नामवन्ति ; तत्रायं विवेकः—ऋषिनामतो बहूनि नामानि, वामदेवादिभिः ऋषिभिः दृष्टानि वामदेव्यादीनि ; देवनामतोऽपि कानिचित् मारुतादीनि ; कानिचित् गौणानि, रथेनेव तारयतीवेत्याद्यर्थकानि रथन्तरादीनि ; कानिचित् ऋगेकदेशमूलानि, यथा-यज्ञा यज्ञावो-अग्नये-इत्येतस्यामृचि यत् साम तद् यज्ञा यज्ञीयमुच्यते, एवं 'जराबोधीयम्' 'वारवन्तीयम्'-इत्यादि कतिचित् गूढार्थान्यपि, यथा-पृचीसम्पर्के-इत्यादिमूलकानि पर्क्कादीनि । यत्र हि एकैवाख्या

বৈদিকসমালোচনা ।

৩১ সংখ্যার পর)

গানচতুষ্টয়ান্তর্গত সকল সামেরই এক একটি আখ্যা আছে । গেয়গানের প্রথমসামের নাম পার্ক যে কোন স্থলেপর্কসামের বিনিযোগ বিহিত আছে, সেই সেই স্থলে তাহাই বিনিয়োজ্য । এইরূপ অরণ্যগানের প্রথমসাম বৈরূপ, উহগানের প্রথমসাম আমহীয়ব, ঊহ্যগানের প্রথমসাম রথন্তর এবং সকল সামই যাজ্ঞিকগণের ব্যবহারোপযোগী এক একটি নামধেয়ান্বিত ; তন্মধ্যে—ঋষিনামানুযায়ী অনেকগুলি, যথা বামদেব ঋষি কর্ত্তৃক দৃষ্ট যে সাম তাহা বামদেব ; দেবতা নামানুরূপ কতকগুলি, যথা মরুত দেবতার উদ্দেশে গীত সামের নাম মারুত ; কতকগুলি গৌণ অর্থাৎ গুণানুযায়ী, যথা রথন্তর অর্থাৎ রথ যেরূপ দুর্গমপথ তারণ করে এই সামও সেইরূপ এই দুর্গম ভবারণ্য তারণ করিতে পারে, কতকগুলি ঋগেক দেশমূলক, যথা "যজ্ঞা যজ্ঞাবো-অগ্নয়ে" এই ঋক্‌কে অবলম্বন করিয়া যে সাম হইয়াছে তাহাকে "যজ্ঞা যজ্ঞীয়ম্" বলে এবং জয়াবোধীয়ম্ বারবন্তীয়ম্ প্রভৃতি, কতকগুলি গূঢ়াভিপ্রায় সমর্পক যথা সম্পর্কার্থ পৃচধাতুমূলক

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी । कलिकातायां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥

सतोर्बहूणां च दृश्यते, तत्र तद्विशेषणान्येव विशेषप्रतिपत्तिहेतवः तथा-पर्क-इत्यस्य गौतमस्येत्येवमादिकं विशेषणम् तथाच यत्र पर्क-इति सामान्येन विधीयते तत्र पर्काभिधानि यावन्ति सामानि सर्वेषामेव ग्रहणं बुध्यते, यत्रतु गौतमस्य पर्कइति सविशेषणं श्रूयते तत्र 'श्रग्नायि'-इत्यस्यैकस्यैवोपस्थितिर्भवति ; एवं वैरूपमिति विविधविशेषणान्वितम्, तथाहि-'अजोवैरूपम्' 'ह्रस्ववैरूपम्' 'द्वादशनिधनवैरूपम्'-इत्येवमादि ; 'श्रामहीयवम्'- 'रथन्तरम्'-इत्यादिकमप्येवमेव। यत्र नास्ति सामविशेष प्रतिपत्तिहेतुर्नामविशेषणम् तत्राविशेषेण विनियोगोऽपि श्रूयते, यथा-एतोन्विन्द्रंस्तवामा'-इत्यादि 'तू'-इत्यन्तमेकम् 'एतेन्विन्द्रंस्तवाईमा'-इत्यादि 'डा'-इत्यन्तमपरम्—अनयोर्द्वयोरेव साम्नोः 'शुद्धाशुद्धीयम्'-इत्येकमेव नाम, मार्जन प्रकरणे च द्वे एवैते विनियुज्येते। वैदिकानां सामनाम-परिज्ञानम् अति प्रयोजनीयम्, परं तावत्साम्नां प्रायः पञ्चसहस्रपरिमितानामाख्यया परिचयो न हि सुकरः सम्भाव्यते, अपितु अधीतसाम्नां नामधेयापरिज्ञानम् आत्मज संज्ञाया अपरिज्ञानञ्चोभयं तुल्यमेतत्।

वर्णितगान चतुष्टयातिरिक्तान्यपि त्रीणि सामानि सन्ति। तेषामाकृत्यध्ययनरीत्यादिकं परस्परं गेयादिभिश्च सर्वथा विभिन्यम्, अतस्त्यनि नचक्वचिद् गेयादौ निविष्टानि अपितु स्व-स्व-नामतः प्रसिद्धानि पृथगभूतानि। तत्रैकं 'तवश्या वीयम्'-सामैतद् * बृहद्गायत्रीव, विनियोगोऽस्य बहुत्र। अपरम् 'भारुण्डम्'-सामैतद् गीयते † श्राद्धादौ। अन्यत् 'माहानाम्नम्'— सामैतद् ‡ ब्रह्मयज्ञादौ विनियुज्यते, एतदीयगान अतिश्रमसाध्यम्, अस्याध्ययनाध्यापनमुभय मेवातिसुकठिनम्।

* अस्मिन् बहव ओङ्काराः श्रूयन्ते।

† अस्मिन् हाउकारा बहवः सन्ति।

‡ प्राय एतत् अरण्यगान पुस्तकान्ते एव लिखितंदृश्यते, परम् 'अरण्यगानं समाप्तम्'-इत्येवं लिलिख्यैतदलेखि, आर्चिकादौ भाष्यादौच पृथक्तयैव निर्णीतमस्तीत्यतस्ततः पृथक्।

পর্ক প্রভৃতি। যে স্থলে দুই অথবা অনেক সামের একই নাম, তথায় তাহার বিশেষণগুলিই বিশেষার্থ প্রতিপন্ন করিবে, যথা পর্ক এই নামের বিশেষণ গৌতমস্য অর্থা গৌতমের এতাবতা পর্ক নামক সাম অয়েকগুলি থাকিলেও যেস্থলে "গৌতমস্য পর্ক" সামের বিধান শ্রুত হইয়াছে তথায় গেয়গানের প্রথম সামেরই বিনিয়োগ হইবে ; এবং এক বৈরূপসামই বিবিধ বিশেষণে অনেক হইয়াছে, যথা—"অজোবৈরূপম্" "হ্রস্ববৈরূপম্" "পঞ্চনিধন বৈরূপম্" "ষন্নিধন বৈরূপম্" "দ্বাদশনিধন বৈরূপম্" পুষা বৈরূপম্" ইত্যাদি এইরূপ "আমহীয়ব" "রথন্তর" প্রভৃতি। যে কোনস্থলে একনামক দুই তিন সামের বিশেষ নির্ণায়ক বিশেষণ নাই সেস্থলে একত্র ঐ দুয়ের অথবা তিনেরই বিনিয়োগ হয়, যথা—"এতোন্বিন্দ্রং স্তবামা" এবং "এতেন্বিন্দ্রং স্তবাডমা" এই দুই সামেরই নাম "শুদ্ধাশুদ্ধীয়ম্" মার্জনপ্রকরণে এই দুয়েরই অবিশেষে বিনিয়োগ হইয়া থাকে। বৈদিকদিগের সাম-নাম-পরিজ্ঞান অতিপ্রয়োজনীয়, কিন্তু তাবৎ সামের (প্রায় পঞ্চসহস্রের) নামের পরিচয় সুকর নহে, পরং অধীত সামসমস্তের নাম নাজানা এবং আত্মজসংজ্ঞায় অজ্ঞ থাকা উভয়ই তুল্য।

বর্ণিত সামচতুষ্টয়াতিরিক্তও তিনটি সাম আছে। তাহাদিগের আকৃতি অধ্যয়নরীত্যাদি গেয়াদি গান চতুষ্টয় হইতে এবং পরস্পর সর্ব্বথা বিভিন্ন, অতএব ঐ তিনটি গেয়াদি কোন গানের মধ্যেই নিবেশিত হয় নাই অপিচ স্ব স্ব নামেই পৃথক্‌রূপে প্রসিদ্ধ রহিয়াছে। তাহার একটি 'তবশ্যাবীয়ম্' * ইহা একপ্রকার বৃহদ্গায়ত্রী, ইহার অনেকস্থলে বিনিয়োগ দেখা যায়। অপর 'ভারুণ্ডম্' † এইটি শ্রাদ্ধাদিতে গীত হয়। আর একটি "মাহানম্যম্ ‡ এই সাম ব্রহ্মযজ্ঞাদিতে বিনিযুক্ত হয়, ইহার গান অতিশ্রমসাধ্য, ইহার অধ্যয়নাধ্যাপন উভয়ই অতি সুকঠিন।

* ইহাতে বিস্তর প্রণব শ্রুত হয়।

† ইহাতে হাউকার বিস্তর আছে।

‡ এই সামটি প্রায় অরণ্য গানের পুস্তকের শেষেই লিখিত দেখা যায় কিন্তু অরণ্যগমিং সমাপ্তং এইরূপলিখনের পরে লিখিত আছে এবং অর্চ্চিকাদি গ্রন্থে ও ভাষ্যমধ্যে ইহা পৃথক্‌রূপেই নির্ণীত রহিয়াছে।

नवमी ऋक्।

वसिष्ठ ऋषिः मरुतोदेवताः।

१र २र ३ २ ३ १र २र ३ १
न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमꣳ-
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
सते। अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे
१ ३ १ २
पिवन्तु कामिनः॥ ४८॥

हे 'मरुतः' देवाः। 'वसिष्ठः' ऋषिः यो योगबलेन सर्वज्ञः सोऽपि 'वः' युष्माकं मध्ये 'हि' निश्चयं 'न' कमपि 'चरमम्' जघन्यम् 'परिमंसते' अभिजानाति, सर्वेएव यूयं समानकालाः समानवयस्काः महान्त इति भावः; यतएवम् अतः 'अद्य' 'अस्माकं' स्वभूतं 'सुते' सुतं सोमं 'विश्वे' सर्व्वेएव 'सचा' सह मिलित्वा 'कामिनः' श्रद्धावन्तो भूत्वा भवन्तः 'पिवन्तु'। परिमंसते इति मंसतेइति ज्ञानार्थौनैघण्टवः। सुते इति सुपांसुलुगित्यादिना अमः शेभावे शेच्छन्दसीति (६।१।७०) पररूपेरूपम्। स चेति सहार्थौ निपातस्य चेति दीर्घः॥ ४८॥

বসিষ্ঠ ঋষি যিনি যোগবলে সর্ব্বজ্ঞ, হে মরুদ্‌গণ! তিনিও তোমাদিগের মধ্যে কে কনিষ্ঠ? ইহা অবগত নহেন (অর্থাৎ তোমরা সকলেই তুল্য প্রভাব) অতএব আপনারা সকলেই মিলিত হইয়া অদ্য আমাদিগের এই সোমরস শ্রদ্ধাপূর্ব্বক পান করুন॥ ৪৮॥

जनित्वम्।

५ २ ४ ५ ४ ५ २ १ —
नहि वा ३ श्चारमञ्चना। ऊवेहो २
१ ३ — १र
इ। वसिष्ठः पराइमꣳसाता२इ। अस्मा-
^ ३ २^ ३ ५
कमद्य मरुता२ः। सुताइसा २३४चा।
१ २ १ २ १ २ १
वाइश्वे ३ होइ। पिबा३हो। तुवा२३।
१ ^ ३ ५र र २ १ १ १ १ १
मा२इना२३४ औहोवा। जनित्वा२३४५म्
॥ ४८॥

दशमी ऋक्।

प्रथगाथ ऋषिः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
माचिदन्यद्विशꣳसत सखायो मारि-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
षण्यत। इन्द्रमित् स्तोता वृषणꣳसचा
३ १र २र ३ १ २
सुते मुहुरुक्था च शꣳसत॥ ४९॥

हे मदिष्टाः! यूयम् 'अन्यत् चित्' इन्द्रादन्यत् किमपि 'मा। विशंसत' न प्रशंसत अपि च मिथः 'सखायः' सखिभावापन्नाः सन्तः 'मा। रिषण्यत्' मा हिंसिष्ट। इति निषेधदलम्। निषिद्धविपरीतं प्रकाशयति— 'वृषणं' सर्वफलवर्षितारम् एकम् 'इन्द्रम्' 'इत्' एव 'स्तोता' स्तुत 'च' अपि च 'सुते' अभिषुते 'सचा' सहभूताः सन्तः 'उक्थाः' उक्थैः 'मुहुः' वारं वारम् 'शंसत' प्रशंसत। चिदिति कदाचिदित्यादौ यथा प्रयुज्यते तथैवात्र। अन्यदिति सामान्ये नपुंसकम्। रिषण्यतेति रिष्टीयते रूपम् 'दुरस्युद्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति। ७। ४। ३५।' इति सिद्धम्। स्तोतेति 'छन्दस्युभयथा।३।४।११७। इत्यार्द्धधातुकत्वाद् ङित्वाभावाद् गुणः, 'द्व्यचोतस्तिङ' इति दीर्घः। उक्थेति 'सुपांसुलुगित्यादिना भिस आत्वे रूपम्॥ ४९॥

তোমরা ইন্দ্র ভিন্ন অন্য কাহারও স্তুতি করিও না, পরস্পর ভ্রাতৃভাবে থাকিয়া কেহ কাহারও হিংসা করিও না। সর্ব্বফলপ্রদ একমাত্র ইন্দ্রের স্তুতি কর, যজ্ঞমধ্যে সকলে সৌভ্রাত্রভাবে মিলিত হইয়া বিবিধ উক্‌থ মন্ত্রদ্বারা বারংবার তাঁহারই স্তব কর* ॥ ৪৯॥

मैधातिथम्।

५र ४ ५ ३ २ ४ ५
माचिदन्यदोहाइ। विशा३ꣳसाता।
१ र — २ २ १ २
सखाया२हो१इ। मा औ३हो। राइषा-

* এই মন্ত্রটি উপদেশ, ইহাতে পারমার্থিক ঐহিক উভয় প্রকার উপদেশই পাওয়া যায়।

१ २ १ र र
उवा ण्यातावुवा । इन्द्रमित्स्तोताहृष-
२ २ १ २ १ २ १
णा औ३हो साचाउवा । हूताउवा । मुक्र-
२ २ १ ३र १ ३र
कथा औ३हो चया । औहो वाहो
५ ४ ५
२३४ वा । सापूतोई हाइ ॥ ४९ ॥

इति पञ्चमीदशतिः ।

षष्ठदशत्याम् ।

प्रथमा ऋक् ।

पुरुहन्माऋषिः ।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ ३ १
न किष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदा
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
वृधम् । इन्द्रं न यज्ञै र्विश्वगूर्त्त मृभ्वसम-
२ ३ १र २र
धृष्टं धृष्णुमोजसा ॥ ५० ॥

'यः' यजमानः 'इन्द्रम्' 'यज्ञैः' 'सदावृधम्' सर्वदा वर्द्धितारम् 'न' इव 'चकार' करोति, 'तम्' 'किः' कश्चन 'कर्मणा' घातकर्मणा 'न । नशत्' न विनाशयेत । कीदृशम् इन्द्रम् ? 'विश्वगूर्त्तम्' विश्वेषां शत्रूणां वधाय आहृतम् 'ऋभ्वसम्' महान्तम् 'अधृष्टम्' अनभिभूतम् 'ओजसा' बलेन 'धृष्णुम्' अभिभवितारं शत्रूणामिति शेषः । किरिति अत इत्वं बाहुलकात् । किष्टमिति 'युष्मत्तत-त्क्षुःष्वन्तः पादम् । ८।३।१०६।'—षत्वे रूपम् । नशदिति लेटोरूपं शुद्धोपि नशिरन्तर्णीतणिजर्थो त्रिपूर्वार्थश्च । चकारेति लङ्लुङ्लिट इति सार्वधातुक लिटिरूपम् ॥ ५० ॥

যে যজমান যাগদ্বারা বিশ্বগূর্ত্ত, মহান্, অপরাজিত, নিজবলে শত্রু-জেতা ইন্দ্রকে সর্ব্বদা বর্দ্ধিতপ্রায় করিতেছেন অর্থাৎ বিবিধনামোচ্চারণ করত বিবিধগুণ প্রদর্শন পুরঃসর ইন্দ্রের মহিমা বিস্তার করিতেছেন, তাঁহাকে কেহ নাশ করিবে না ॥ ৫০ ॥

वैखानसम् ।

५ २ ४ ५ ४र ५ २ [illegible]
नकिष्टा३ङ्कर्मणानशात् । [illegible] ।
२ ३र २ २ ३र २ १ २ १
सदावृधा २३म् । सदावृधाम् । इन्द्रान्नया ।
२र ३ २ १ ७ र ऽ १ २ ३
ज्ञै विश्वगू । तमा २भ्वसा २३म् । तमृभ्व-
२ १ २ १ २ ३र २ १
साम् । अधार्ष्टधा । ष्णुमोजसा २३ ।
२ ३र २ १
ष्णुमोजसा ३४३ । ओ२३४५इ [illegible] ॥

द्वितीया ऋक् ।

प्रगाथऋषिः ।

३ १ २ ३ १ २
य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा [illegible]
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
तृदः । सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसु नि
२ ३ १ २ ३ १ २
ष्कर्त्ता विहुतं पुनः ॥ ५१ ॥

'यः' इन्द्र 'ऋते' यज्ञे 'अभिश्रिषः' अभिश्रितस्य आश्रितस्य पशोः 'जत्रुभ्यः आतृदः पुरा' ग्रीवा नाडीभ्यः आतर्द्दनात् छेदनात् [illegible] नाडीयोगं 'सन्धाता' पोषयिता [illegible] पुरूवसुः' बहुकर्मा 'मघवा' [illegible] श्रितं स्कन्धं मुण्डञ्च विभिन्नदेशस्थान् [illegible] निश्चयं करोति । स एव पाता पुनः [illegible] र्त्तेति भावः, यज्ञीयपशुग्रहणाञ्चोपलक्षणं सर्वेषामिति बोध्यम् । चिदिति पादपूरणे ॥ ५१ ॥

যে ইন্দ্র যজ্ঞে বধার্থ আনীত পশুদিগের গ্রীবানাড়ী ছেদনের পূর্ব্বে নাড়ীসমূহের সন্ধিরক্ষা করেন, সেই বহুকর্ম্মা, মঘবা, পরে স্কন্ধমুণ্ড বিভিন্ন দেশস্থ করিয়া থাকেন। অর্থাৎ এই সমস্ত সৃষ্টপদার্থের যিনি পাতা, তিনিই সংহর্ত্তা ॥ ৫১ ॥

सात्यम् ।

५ २ ४ ५ ४ ५ १
यक्रुता ३इ चिदभिश्रिषाः । पुरा२-
१ र १ २ १ २ २ १
जावृ२भ्य आट्दा३ः । होवा३हाइ । सा-
१ १ २ १ र ऽ र १ २
न्धा२तासा २म् । धाइमघवा २पुरूवसुः ।
१ २ २ १ १
होवा३ हाइ । नाइष्का२र्त्तावो२ ऊतं
१ २ १ २ ५ र र
नव । होवा२ । हा२३४ । औ होवा ।
…पा ॥ ५१ ॥

तृतीया ऋक् ।

प्रगाथ ऋषिः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ र २ र ३
आत्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथेहिर-
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ण्यये । ब्रह्मयुजो हरय इन्द्रकेशिनो वह-
३ १ २
न्तु सोमपीतये ॥ ५२ ॥

हे 'इन्द्र' 'सहस्र' सहस्रसंख्याकाः 'हरयः' अश्वाः 'त्वा' त्वाम् 'सोमपीतये' सोमपानाय 'आ । वहन्तु' 'शतम्' शतसंख्याकाश्च 'आ' आवहन्तु । कीदृशाः हरयः ? 'हिरण्यये' हिरण्मये 'रथे' त्वदीये 'युक्ताः' नियुक्ताः किञ्च 'ब्रह्मयुजः' युज्यन्ते इतियुजः ब्रह्मणामन्त्रेन युज 'केशिनः' बहुकेशवन्तः । आ इति वारद्वयश्रवणात् वहन्त्विति क्रिया अभ्यस्यते । हिरण्यये इति 'ऋत्व्य-वास्त्व्य-वास्त्वमाध्वी-हिरण्ययानि छन्दसि ॥६।४।१७५।' इति सिद्धम् केशिन इति बहुकेशवत्वमश्वस्य सुलक्षणम् सहस्रं शतमिति बहुत्वपरं, 'रथेऽश्वाधिकनियुक्ते आगमनमाशु भविष्यतीति तात्पर्यम् ॥ ५२ ॥

হে ইন্দ্র! হিরণ্ময়রথে মন্ত্রবলে নিযুক্ত, পৃষ্ঠদেশে বহুকেশবিশিষ্ট, সহস্র সহস্র ঘোটক, সোমপানার্থ তোমাকে বহন করুক ॥ ৫২ ॥

भारद्वाजम् ।

५ र र २ १ २
आत्वासहा । स्रमाशा१ ता२म् ।
१ र २ र र १ २ १
युक्तारथे हिरण्यये । ब्रह्मायु१जा२ः । हा-
२ १ २ १ २
रयइ । इकाइँ शा१इना२ः । वहान्तू१सो
१ २ ५ र र ३ ५
२३ । मा२ पा २३४ औ होवा । ता२३४ये
॥ ५२ ॥

चतुर्थी ऋक् ।

विश्वामित्र ऋषिः ।

२ ३ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूर रो-
३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २उ ३
मभिः मात्वा केचिन्नियेमुरिन्नपाशिनोति-
१ २ ३ १ २
धन्वेवताँ इहि ॥ ५३ ॥

हे 'इन्द्र!' 'मन्द्रैः' गम्भीरस्वरविशिष्टैः 'मयूर रोमभिः मयूराणामिव लोमान्वितैः 'हरिभिः' अश्वैः 'आ । याहि' । परं तत्रास्ति शङ्का—'पाशिनः' लुब्धकाः 'केचित्' मयूरलोभेन 'त्वा' त्वाम् 'मा । नियेमुः' न नियच्छेयुः न रुन्ध्युः । अथवा नास्तीदं शङ्का—'तान्' रोधकान् 'धन्वा' धनुषा 'अति' अतीत्य विजित्य 'इहि' आगच्छ । नियेमुरिति सार्वकालिक लिट् । मन्नस्त्रेवशब्दोऽनर्थकः इति माधवः ॥ ५३ ॥

হে ইন্দ্র! গম্ভীরস্বর, ময়ূরেরন্যায় লোমবিশিষ্ট, অশ্বযোগে তুমি আগমন করিতেছ; পথিমধ্যে কিন্তু কোন ব্যাধেরা ময়ূরলোভে তোমাকে জালে আবদ্ধ করিতে চেষ্টা পায়, যদি সেইরূপ ঘটনাই ঘটে, তবে ধনুবলে তাহাদিগকে পরাজয় করিয়া আগমন করিবা ॥ ৫৩ ॥

वाभ्रम् ।

आमन्द्रैरा । इन्द्रहरिभाइयाहि मयूरा इरोमाभाइइः । मात्वाकाइचीत् । नियेमू २३४ रीत् । नपाशिनाः । अतिधान्वे२ । वताऽ२३ । आ२इहा२३४ औहोवा । वा २३४याः ॥ ५३ ॥

पञ्चमी ऋक् ।
गौतम ऋषिः ।

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठम-र्त्यम् । नत्वदन्योमघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥ ५४ ॥

हे 'शविष्ठ' शवितः प्रहृष्ट 'इन्द्र !' 'देवः' 'त्वम्' 'अङ्ग' चिप्रम् 'मर्त्यम्' मानवं 'प्रशंसिषः' प्रशस्तं करोषि, हे 'मघवन् !' 'त्वदन्यः' 'मर्डिता' सुखयिता 'न । अस्ति' अतः 'ते' तव 'वचः' स्तुतिवाक्यं 'ब्रवीमि' । शविष्ठेति प्रमोदार्थस्य शवते रूपम् 'तुग्छन्दसि ।५।३।५९।' इति सिद्धम् । प्रशंसिष इति लेटो रूपम् । मर्डितेति 'मृडसुखने' इत्यस्य रूपम् ॥ ५४ ॥

হে প্রফুল্ল, দেব, ইন্দ্র! তুমি মনুষ্যদিগকে অতিশীঘ্র প্রশংসাভাজন করিয়া থাক; হে মঘবন্! তুমি ভিন্ন সুখদাতা অন্য কেহই নাই, অতএব তোমাকেই স্তুতি করিতেছি ॥ ৫৪ ॥

गौङ्गवम् ।

त्वमाइंगा प्रशंसिषाः । दाइवाइः । शविष्ठमाइ । तायाम् । नत्वदन्योमघवा२३ ना२ । स्तिमाइडोइता । आइन्द्रब्रा वा । औ३हो । मितो २३४वा । [illegible] हाइ ॥ ५४ ॥

षष्ठी ऋक् ।
पुरुमेध ऋषिः ।

त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः । त्वं वृत्राणि हंस्य प्रतीन्येक इत् पुर्वनुत्त-श्चर्षणीधृतिः ॥ ५५ ॥

हे 'इन्द्र' 'त्वम्' 'यशाः' यशः यश[illegible] पूयमानातिरिक्तः सोम ऋजीषस्तद्वान् [illegible] शवो बलं तस्याधिपतिः 'असि' भव[illegible] अखण्डः 'एकः इत्' एक एव 'त्वम्' [illegible] मनुष्यधैर्याय 'पुरु' बहुरूपः 'अप्रतीनि' दुर्जयानि 'वृत्राणि' शत्रूणि 'हंसि' । यशा इति अन्तर्णीत मत्वर्थः अचोऽतस्तिङ्इति दीर्घः । शवसस्पतिरिति 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपारपदपयस्पोषेषु ।८।३।५३।' इति सत्वम् । अप्रतीनीति नास्ति प्रति प्रतिरूपो येषां तानि दुष्प्रधर्षाणीति यावत् । चर्षणी धृतिरिति चतुर्थ्येकस्य सुपांसुलुगित्यादिना सुः ॥ ५५ ॥

হে ইন্দ্র! তুমি যশস্বী, মেধাবী, [illegible] অখণ্ড, একই তুমি মনুষ্যদিগের [illegible] নিমিত্ত বহুরূপ হইয়া দুর্জ্জয় শত্রু [illegible] করিতেছ ॥ ৫৫ ॥

यशसम् ।

त्वमिन्द्रा । यशाः । असाइ । ऋजीषी शवसः । पताइः । त्वं वृत्राणोइ हंसिया । प्रतीनाए२ । कइत्पूरू२ । अनूर्हो १ । तस्च । षा२ण२३४ औ होवा । धा २३४ त्ताः ॥ ५५ ॥

सप्तमी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः।

२ ३१ २ ३ १ २ क २र ३ २ १

इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इ-

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

न्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य

३ १ २

सातये ॥ ५६ ॥

'इन्द्रम्' 'इत्' एव प्रारिप्सितयज्ञे 'देवतातये' [illegible] देवत्वेन वरितुम् 'प्रयति' प्रयतते, 'इन्द्रम्' [illegible] 'अध्वरे' प्रवर्त्तमानयज्ञे प्रयतते, 'समीके' [illegible] शुद्धम् शेषाहुतिदानकाले रक्षःपिशाचा- [illegible] ग्रामः समुपतिष्ठते तदा 'इन्द्रम्' एव [illegible] अस्मति 'धनस्य' 'सातये' लाभाय 'इन्द्रम्' [illegible] 'वनिनः' स्तावकाः हवामहे आह्वयामः। देवतातये इति 'सर्वदेवात्तातिल् ।४।४।१४२।'-इति देवशब्दात् स्वार्थे तातिल्। प्रयति-इति परस्मैपदं व्यत्ययेन तलोपो बाहुलकात् ॥ ५६ ॥

যজ্ঞারম্ভকালে দেবরূপে বরণ করণার্থ ইন্দ্রকেই যত্ন করা যায়, প্রবৃদ্ধ যজ্ঞেতেও সোমাদি পান করাইবার নিমিত্ত ইন্দ্রকেই যত্ন করা যায়, যজ্ঞশেষকালে যক্ষরাক্ষসাদির সহ [illegible] উপস্থিত হয় তাহার উপশমার্থ ইন্দ্রকেই [illegible] যায়, এই বরপ্রার্থনার সময়েও [illegible] ধনপ্রাপ্তির নিমিত্ত আমরা ইন্দ্রকেই আহ্বান করিতেছি ॥ ৫৬ ॥

योन्यसुचम्।

४ ५ ४ ५र ४ १ २

इन्द्रमिद्देवता। तयाइ। इन्द्रं प्रयति

१ २ १ र १र

यध्वा२३राइ। आइन्द्रा२म्। समीकेव-

र २ १र २ १

निनो हवामा२३हाइ। आइन्द्रा२म्।

१ २ १ ५ २ ५

धानस्यसो२३४वा। ता २३४ये ॥५६॥

अष्टमी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः।

२ १ २ ३ १ २ ३ १र

इमा उत्वा पुरूवसो गिरो वर्द्धन्तु या

२र ३ १ २३ १ २ ३ २ ३ १र

मम। पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोभि-

२र

स्तोमैरनूषत ॥ ५७ ॥

हे 'पुरूवसो' बहुधन इन्द्र! 'इमाः' 'गिरः' 'त्वा' त्वाम् 'वर्द्धन्तु' वर्द्धयन्तु गुणकीर्त्तनेनेति यावत् इमाः काः? इत्याह-'याः' 'मम' 'पावकवर्णाः' पावकस्येव दीप्तवर्णाः 'शुचयः' 'विपश्चितः' ऋत्विजः 'स्तोमैः' स्तोत्रैः 'अभ्यनुषत' अभिनुवन्ति ॥५७

হে বহুধন ইন্দ্র! এই বাক্যসকল তোমাকে বৃদ্ধ করুক, অর্থাৎ তোমার বর্ণনে উপযুক্ত হউক; যে সমস্ত—অগ্নির ন্যায় দীপ্তবর্ণ, শুচি, বিপশ্চিৎ, মদীয় ঋত্বিকেরা স্তোমমন্ত্রদ্বারা স্তুতিস্বরূপে কীর্ত্তন করিতেছেন ॥ ৫৭ ॥

५ ४र ५ र र र ४ ५ ४ ४

इमाउत्वापुरूवसो गिरः। एपु। गि-

१ २ ३ र २ १ २र ३ २ ३ २

राः। बार्द्धन्तु या ममा २३ पावकवर्णाः।

१ २ २ ऽ २ २ ०

शुचयो वी३पा। हु३म् हुम्। चा २३४इ

५ २ १ र र २ १ ४ २

ताः। अभिस्तोमैरनौ २। हुवाइ। हो३वा।

१ २ ४ ५ ४

षता। औ३होवा। होपुइ। डा ॥५७॥

नवमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २

उदुत्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईर

२ १ २ २ १र २र
ते। सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो
२ २ २ १ २
वाजयन्तो रथा इव ॥५८॥

'सत्राजितः' सदाशत्रूणां जेतारः 'धनसाः' परकीयानां धनानाम् संभक्तारः आहर्त्तारः 'अक्षितोतयः' अक्षिता ऊतिः पालनं येषाम् अक्षीणपालनाः 'स्तोमासः' स्तोमनामकाः 'मधुमत्तमाः' अत्यन्तमधुराः 'त्वे' ताः 'गिरः' 'उदीरते' ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति भवन्तमिन्द्रं प्रति गच्छन्ति ॥ ५८ ॥

যাহার উচ্চারণে শত্রুদিগের পরাজয় হয় ও ধনলাভ হয়, যাহাদিগের পালন অক্ষীণ, সেই স্তোমনামক অত্যন্ত প্রীতিকর বাক্যসকল ইন্দ্রের নিকটে গমন করিতেছে ॥ ৫৮ ॥

वासिष्ठम्।

५ र २र १ २ २
उदुत्येमा। धूमत्तमा २३। गाइर स्तो
५ २र १र २ २ २
२३४मा। साइताये ३। सात्राजा २३४ इ-
५ २ २ ५ २र १र
ताः। धानासा २३४ आ। क्षीतोतया २३ः।
२ २ ५ २ २ ४
वाजाया २३४न्ताः। रथा ३ आ ५ इवा
६५६ ॥ ५८ ॥

दशमी ऋक्।
देवातिथिः ऋषिः।

१ २ २ २ २ २ ३२उ. २ १र २र
यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरि-
२ १ २ २ २उ २ १ २ २ १
णम्। आपित्वेन प्रपित्वेतूयमागहि क-
२ २ २उ २ १ २
ण्वेषु सुसचापिब ॥५९॥

'यथा' 'गौरः' सिंहः 'तृष्यन्' तृष्णायुक्तः सन् 'अवेरिणम्' इरिणमवस्थाय 'अपाकृतम्' उदकेन कृतं प्रदेशं तडागादिकम् 'एति' तद्वत् हे इन्द्र! 'आपित्वे' आपानकाले 'प्रपित्वे' प्राप्ते 'नः' अस्माकम् 'तूयम्' यज्ञम् 'आगहि' आगच्छ, एत्य च 'कण्वेषु' कण्वैः 'सचा' सह 'सु' सुष्टु 'पिब' सोममिति शेषः ॥ ५९ ॥

যেরূপ সিংহ তৃষ্ণাযুক্ত হইয়া মরুভূমি ত্যাগ করিয়া জলাশয়ে গমন করে সেইরূপ হে ইন্দ্র! তোমার পানকরিবার সময় উপস্থিত হইলে তুমি স্বেচ্ছাপূর্ব্বক আমাদিগের যজ্ঞে আসিয়া কণ্বঋষিগণের সহিত সোমরস পান করিব॥ ৫৯ ॥

गौराङ्गिरसम्।

२ १र ४र ५र १ र
यथागौ २३ रो अपाकृताम्। तृष्यन्ने-
२ १र २ र १र
ति यवेरा २३इ णाम्। आपित्वेनः प्रपि-
र र २ १र २ १ १ १
त्वेतूयमागा २३ही। कण्वे२षु सू२३। सा
२ ५र र २ ५
२ चा २३४ औहोवा। पो२३४बा ॥५९॥

इति षष्ठी दशतिः।

सप्तमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।
भर्ग ऋषिः।

२ २ १ २ २ २ २ १ २
शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभि-

२ १ २ ३ २र २र ३ १ २ ३ २ ३
रूतिभिः। भगं न हि त्वा यशसं वसुविद
१ २ ३ १ २
मनु शूर चरामसि ॥ ६० ॥

हे 'शचीपते' शचीति कर्मनाम तस्याधिपते 'इन्द्र!' 'विश्वाभिः' सर्वाभिः 'ऊतिभिः' पालनैः सह 'भगम्' ऐश्वर्यम् 'शग्धि' साधय। 'हि' यतः हे 'शूर!' 'वसुविदम्' कर्मज्ञम् 'यशसम्' यशस्विनम् 'त्वा' त्वाम् 'अनुचरामसि' परिचरामः वयमिति शेषः। शग्धीति 'घसि भसोर्हलि च। ६। ४। १००।' इति सिद्धम्। 'उ', 'सु'—द्वावप्येतौ 'न' इति च पादपूरणे; 'इकः सुञि।६।३।१३४।' इति दीर्घः, सुञ इति षत्वञ्च। चरामसीति इदन्तो-मसि इति सिद्धम् ॥ ६० ॥

হে সমস্ত কর্ম্মাধিপতি ইন্দ্র! আমাদিগকে সম্পূর্ণ পালনের সহিত ঐশ্বর্য্য প্রদান কর, অর্থাৎ ঈদৃশ ঐশ্বর্য্য প্রদান কর যাহা নষ্ট না হয়। হে বিক্রমশালিন্! তুমি সর্ব্বজ্ঞ, যশস্বী, আমরা তোমার অনুচর ॥ ৬০ ॥

हारायणम्।

५ र २ १ २^ ३ ५
शग्ध्यूषु। शचाइ पताइ। ई२३४न्द्रा।
२ र १ २^ ३ ५ २
विश्वाभी३रूति भाइः। भा२३४गाम्। न
र १ २^ ३ ५ १
हि त्वायशा३सं वसू। वी२३४दाम्। अनू
१^ ३ ५र र १ र८ २ ३
२३। शू२रा २३४ औ होवा। चरा२मसी
१ १ १ १
२३४५ ॥६०॥

द्वितीया ऋक्।

रेता ऋषिः।

१ २ ३ २ ३ १ २ क २र ३ १ २
या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असु-
३ २ ३ १ २ ३ २ ३
रेभ्यः। स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्द्धय ये च
२ ३ १ २
त्वे वृक्त बर्हिषः ॥ ६१ ॥

हे 'इन्द्र' 'स्वर्वान्' यन्न दुःखेन संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वः पदास्पदम्—तद्वान् त्वम् 'असुरेभ्यः' सकाशात् 'याः' 'भुजः' (भुज्यन्ते इति भुजः ताः) सम्पत्तीः 'आभरः' (हृ ग्रहोश्छन्दसीति हस्य भः) आ अहरः आहृतवानसि हे 'मघवन्' 'अस्य' अनेन धनेन 'स्तोतारम्' माम् 'वर्द्धत' पोषय 'च' अपि च 'ये' ऋत्विजः 'त्वे (सुपां सुलुगित्यादिना शेभावे, शेछन्दसीति पररूपे रूपम्) त्वयि यष्टव्ये 'वृक्त बर्हिषः' आस्तीर्णबर्हिषः त्वां ये यजन्ते इति यावत् तानपि वर्द्धय ॥ ६१ ॥

হে মঘবন্ ইন্দ্র! নিত্যসুখী তুমি, অসুরদিগের নিকট হইতে যে সমস্ত সম্পত্তি হরণ করিয়াছ তাহা দ্বারা আমাকে এবং যাহারা তোমার উদ্দেশে কুশা বিস্তীর্ণ করিয়াছে সেই ঋত্বিক্ গণকে পোষণ কর ॥ ৬১ ॥

वाम्रम्।

२र २^ ३ ५ २ १ २
याइहोइ। ई२३४न्द्रा। भुजा ३ आभा
१ २ र १ २
१ रा२ः। सुवा२३हा। र्वाँ असू३राइभा
१ २ २ १
१ या२ः। स्तोता३हा। रमिन्मघवन्तस्या-
७ १ २ २ र १
वर्द्धाया २। याइचा३हाइ। त्वेवृक्त बर्हा२
२ १
३ इषा ३४३ः। ओ २३४५इ। डा ॥६१॥

तृतीया ऋक्।

जमदग्निऋषिर्मितार्यमवरुणादेवताः।

২ ২ ২ ২ ২ ২ ১ ২ क ২र
प्रमित्राय प्रार्यम्णे षचथ्यमृतावसो।
২ ২ ১ ২ ২ ২ ২ ১ ২ ২ ১र ২र
वरूथ्ये३वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु
गायत ॥ ६२ ॥

हे 'ऋतावसो' ऋतावसवः—मदीया ऋत्विज! 'राजसु' अत्र राजसूये राजगणमध्ये 'मित्राय' मित्रस्यार्थाय 'अर्यम्णे' अर्यम्णोऽर्थाय 'वरुणे' वरुणाय वरुणस्यार्थाय 'षचथ्यम्' सचनीयं संभजनीयम् 'वरुथ्ये' वरणीयम् 'छन्द्यम्' गोप्यम् दुष्टेभ्यः 'स्तोत्रम्' स्तोत्रात्मं 'वचः' 'प्रगायत'। ऋतावसो–इति ऋतो यज्ञः स एव वसुधनं यस्य तस्य सम्बोधनम् दीर्घश्छन्दसः, एकवचनं बहुवचनस्थानिकम्। वरुणे इति चतुर्थ्यर्थइति वचनात् सप्तमी। वरूथ्यइति निपातनात् सिद्धम्, द्वितीयार्थे सप्तमी। प्रार्यम्णे षचथ्यमिति पूर्ब्बपदादिति षात्वम् सचथ्यमिति अथुगागमे रूपम्। मन्त्रप्रद्वयं क्रियावर्त्तनार्थम्॥ ६२ ॥

হে মদীয় ঋত্বিক্‌গণ! এই রাজসূয়ে মিত্র এবং অর্য্যমা ও বরুণ দেবতার উদ্দেশে ভজনীয়, বরণীয়, দুরাত্মাদিগের নিকটে গোপ্য, ঈদৃশ স্তোত্ররূপ বাক্য গান কর॥ ৬২॥

वारुणम्।

५ र र _ १
प्रमित्राय प्राहाउ। आ२र्यम्णाइ। ष
_ १ २ _ १ २र १र
चा२श्चो। थियौ२। ऊवाई। आर्त्तावसाउ।
_ १ १ र २र १
वरा२श्चो। ऊवाइ। वरुणेच्छा। दीयंव-
र _ १ २र _ १
चाः। स्तोत्रा२ऽ स्तोइ। राजौ २। ऊवा।
२र १र २ २ ५
षु गायता ३१ उवा २३। ज३४पा॥६२॥

चतुर्थी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः।

२ १ २ २ १ २ २ २ २
अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र[illegible]-
१ २ २ १ २ २ २ २ १ २ २ १
यवः। समीचीनासऋभवः समस्वरन्रुद्रा
२ २ २
गृणान्तपूर्व्यम् ॥ ६३ ॥

हे 'इन्द्र' 'आयवः' ऋत्विग्लक्षणास्तव्याः 'स्तोमेभिः' स्तोमैः 'त्वा' त्वाम् 'समस्वरन्' [illegible] रितवन्तः इदानीमपि 'अभिगृणान्ति' प्र[illegible]। कीदृशस्ते ? 'समीचीनासः' समीचीन[illegible] 'ऋभवः' महान्तः 'रुद्राः' रोदनस्वभा[illegible] स्तारणशीलाः। कीदृशन्त्वाम् ? '[illegible]नम्। कस्मै ? 'पूर्वपीतये' अनादि[illegible] मपानाय ॥ ६३ ॥

হে ইন্দ্র! সাধু, মহান্, স্তাবক, ঋত্বিক্‌গণ অনাদিকালপ্রবৃত্ত সোমপানার্থ সনাতন, তোমাকে স্তোমাত্মকমন্ত্র দ্বারা আহ্বান করিয়াছে এবং সম্প্রতিও সেইরূপে স্তবন করিতেছে॥ ৬৩ ॥

वषट्कारणिधनम्।

४ २ ४र र २ ४र ५ र २
अभित्वापर्वपीतये। अभित्वा
४र ५ २ र र १ ७
पीत याइ। इन्द्रस्तोमेभी ३ रायवा
१ २ १र ऽ २
भिराया १ वा २३ः। ओमो ३ वा। समा-
र र १ ७ _ १
चीना सऋभवः सा ३ मास्वरा २ न्। समा
२ १र ऽ २ र
स्वा १ रा २३ न्। ओमो ३ वा। रुद्रागृण
१ ७ _ १ २
न्ता ३ पूर्विया २ म्। तपूर्व्वा १ या २३म्।
१र २ १र र २
ओम्। ओ २। वा २३४ औहोवा। ज
५
२३४पा॥ ६३ ॥

पञ्चमी ऋक्।

पुरुमेधा ऋषिः।

२ ३ १र २र३ १ २
...न्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शत-
२
पर्वणा॥ ६४॥

हे 'मरुतः' मदीया ऋत्विजः! 'वः' यूयम् ... 'इन्द्राय' महते इन्द्रस्यार्थाय 'ब्रह्म' सोम-... 'प्रार्च्चत' प्रस्तुत। कीदृशस्येन्द्रा-... इत्याह—यः 'वृत्रहा' शत्रुहन्ता 'शतक्रतुः' ... बहुप्रज्ञो वा 'शतपर्वणा' बहुसन्धिना ... 'वृत्रं' शत्रुं मेघं वा 'हनति' हन्ति॥६४॥

हे मदीय ঋত্বিক্‌গণ্! তোমরা সেই মহান্ ইন্দ্রের নিমিত্ত সোমরূপ অন্নের অর্চ্চনা কর, যে বহুপ্রজ্ঞ, শত্রুহন্তা, ইন্দ্র শতপর্ব্ব বজ্রদ্বারা শত্রু হনন করিয়াথাকেন॥ ৬৪॥

मारुतम्।

४॥ ५र ४र ५ ४ २ र
...इन्द्राय बृहते। प्रवाः। इन्द्रा३या
१र ऽ २ र
बृहा१ते २३। ओमो ३ वा। मरुतोब्रह्मा
१ २ १र ऽ २ १
३ आर्चा१ ता २३। ओमो ३ वा। वृत्रं
२ १ १र ऽ२
हाना। तिष्ट। वाहा २३। ओमो३वा।
१ २ ३ ५ ३ २ २
शता क्रतूः। वा २३४ औ। वाशा ३। हा३
२ ४ ४
हा। तपापूर्वणा। हो ५इ। डा॥ ६४॥

नृमेधा ऋषिः।

षष्ठी ऋक्।

३ १ र २र ३ १ २ ३ १
बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्त-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
मम्। येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं
३ २ ३ १ २
देवाय जागृवि॥ ६५॥

हे 'ऋतावृधः' यज्ञवर्द्धयितारः 'मरुतः' ऋत्विजः! 'येन' देवेन 'ज्योतिः' आदित्यादितेजः पदार्थम् 'अजनयत्' तस्मै 'इन्द्राय' 'देवाय' इन्द्र-नामदेवस्यार्थाय 'बृहत्' साम 'गायत'। कीदृशं तत् बृहन्नामकं साम? इत्याह—'वृत्रहन्तमम्' अतिशयेन वृत्रस्य हन्तृ, अनेन साम्ना स्तुत इन्द्रो-वृत्रं हन्ति यतस्तत इति भावः। पुनः कीदृशं तत्? 'जागृवि' अति प्रीतिकरत्वेन जागरण-करम्। किञ्च 'देवम्' सामसु श्रेष्ठत्वात्॥ ६५॥

হে যজ্ঞের বর্দ্ধনকারী ঋত্বিকগণ! যাঁহা কর্ত্তৃক আদিত্যাদি জ্যোতিস্পৃষ্ট হইয়াছে সেই ইন্দ্রনামক দেবতার উদ্দেশে—বৃত্রহননে উপ-যোগী, অতিপ্রাতিকর, সাম-শ্রেষ্ঠ, বৃহৎ নাম সাম গান কর॥ ৬৫॥

स्वः।

१ र २ १ २
सान्वा त्रिशातिधाइता१ इभी३ः।
१ र १ २
ताइभीरः। बृहदिन्द्राया ३ गाया १ ता
१ र १ २
२। याता२। मरुतो वृत्रा३हान्ता १ मा
१ र र
२म्। तासा२म्। येनज्योति रजनयन्नृ३
१ २ १ र र र १
तावा१र्द्धी२ः। वार्द्धी२ः। दोवन्देवाया३जा-

২ ১ ২ ১ ১ ২
গূবী২। সাংবাশিশাতিধাতুতাইমী ৩ঃ।
১ ২ ৫ ২ ২ ১ ২ ১ ১ ১ ১
তা২ই।মা২৩৪। ঔহোবা। অবসে২৩৪৫
॥ ৫৫ ॥

সপ্তমী ঋক্।

শক্তি ঋষিঃ।

২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২ ৩ ২ ৩ ২ ৩
ইন্দ্র ক্রতুন্ন আভর পিতা পুত্রেভ্যো
১ ২ ১ ২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২
যথা। শিক্ষাণো অস্মিন্ পুরুহূতযামনি
৩ ১ ২ ৩ ২
জীবাজ্যোতি রশীমহি॥ ৫৫ ॥

হে 'ইন্দ্র' 'যথা' 'পিতা' 'পুত্রেভ্যঃ' তথা ত্বম্ 'নঃ' অস্মভ্যম্ 'ক্রতুম্' প্রজ্ঞাম্ 'আভর' দেহি। হে 'পুরুহূত' বহুভির্হুত ইন্দ্র! 'অস্মিন্' 'যামনি' যান্তি দেবা যস্মিন্ স যামা যজ্ঞঃ তত্র 'নঃ' অস্মান্ 'শিক্ষ'। 'জীবাঃ' জীবন্তো বযম্ 'জ্যোতিঃ' জ্ঞানম্ 'অশীমহি' প্রাপ্নুযামঃ ত্বত্প্রসাদা দিতি শিক্ষাণ ইতি 'নশ্চ ধাতুস্থোরুষুভ্যঃ'। ৮। ৪। ২৭। ইতি-ণত্বম্ ॥ ৫৫ ॥

হে ইন্দ্র পিতা যেরূপ পুত্রের প্রতি সেই-রূপ তুমি আমাদিগকে প্রজ্ঞা প্রদান কর। হে পুরুহূত! এই যজ্ঞে আমাদিগকে শিক্ষা দাও। তোমার প্রসাদে আমরা যেন জীবন্তই জ্ঞানজ্যোতি লাভ করিতে পারি॥ ৬৬॥

বামম্।

২ ১ ২ ২ ১ ২
ইন্দ্রা ঔ৩হো। ক্রতুন্না৩ আভা ১রা
১ ২ ২ ২ ১ ২
২। পিতা ঔ৩হো। পুত্রেভী৩যোযা১থা২।
১ ২ ২ ২ ২১
শিক্ষা ঔ৩হো। ণো অস্মিন্পুরুহূতযা
মা১নী২। জোবা২৩ঃ। জ্যো২তা ২৩৪
৫২ ২ ২ ১২ ৩ ১ ১ ১ ১
ঔহোবা। অশীমহী ২৩৪৫ ॥ ৫৫ ॥

অষ্টমী ঋক্।

ইভিঃ ঋষিঃ।

১ ২ ৩ ১২ ৩ ১ ২ ৩
মান ইন্দ্র পরাবৃণক্ ভবা নঃ সধ-
১ ২ ১ ২ ৩ ২৩ ৩ ২ ৩ ১ ২
মাদ্যে। ত্বন্নঊতী ত্বমিন্ন আপ্যং মান-
৩ ১ ২
ইন্দ্র পরাবৃণক্॥ ৫৭ ॥

হে 'ইন্দ্র' 'নঃ' 'অস্মান্' 'মা পরা বৃণক্' বর্জনম্ মা করোঃ। 'নঃ' অস্মাকম্ 'সধমাদ্যে' যজ্ঞে 'ভব' সাক্ষা দাবির্ভবেতি ভাবঃ। 'ত্বম্' 'নঃ' অস্মাকম্ 'ঊতী' অবিতা রক্ষিতা। 'ত্বম্' 'ইত্' এব 'নঃ' অস্মাকম্ 'আপ্যম্' সম্বন্ধম্। অতঃ পুনরপি ব্রবীমি—হে 'ইন্দ্র' 'নঃ' অস্মান্ 'মা পরা বৃণক্' মা বর্জয়ঃ॥ ৫৭॥

হে ইন্দ্র! আমাদিগকে বর্জ্জন করিও না, আমাদিগের যজ্ঞে আবির্ভূত হও। তুমি আমাদিগের রক্ষক, তুমিই আমাদিগের সম্বন্ধনীয়, জ্ঞেয়, অতএব পুনশ্চ বলিতেছি—হে ইন্দ্র! আমাদিগকে বর্জ্জন করিও না॥৬৭॥

আঙ্গিরসম্।

৫২ ১ ৩ ২ ১২
মানইন্দ্রা। পরাবা৩ণাক্। ভবানঃ
২ ২ ২ ১ ২২
সধমা১ দী৩যাই। ত্বন্নঊতীত্বমিন্ন আ
২ ২ ১২ ২ ২
পি৩যাম্। মানইন্দ্রপরাবৃণা ৩১ উবা২৩।
২ ৫
ক৩৪ পা॥ ৫৭ ॥

नवमी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः।

२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तब-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
र्हिषः। पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि-
३ १ २
स्तोतार आसते॥ ६८॥

हे 'वृत्रहन्' इन्द्र! 'सुतावन्तः' सोममभिषुतवन्तः 'वृक्तबर्हिषः' आस्तीर्णबर्हिषः पवित्रस्य' भवतः 'स्तोतारः' 'वयम्' 'त्वा' त्वाम् 'परि आसते' पर्य्यास्महे परिहृत्य व्यवतिष्ठामः अत्र दृष्टान्तमाह- 'प्रस्रवणेषु' 'आपः' 'न' इव। यथा आपः नदीनिर्झरणस्थानेषु द्वीपं परिवार्य्य व्यवतिष्ठन्ते तद्वत् वयंस्तोतारः त्वां परिवार्य्य व्यवतिष्ठाम इतिभावः। घेत्यनर्थकः॥ ६८॥

হে বৃত্রহন্! যেরূপ প্রস্রবণমধ্যে জলসকল একটী দ্বীপ করিয়া তাহাকে বেষ্টন করত বিদ্যমান হয়, সেইরূপ আমরা সোমাভিষব করণান্তে, কুশাস্তরণ করত, পবিত্রস্বরূপ তোমার স্তোতৃভাবে তোমাকে বেষ্টন করিয়া উপবিষ্ট আছি॥ ৬৮॥

কাণ্বম্।

५ २ ४र ५र ४ ५ १ र २
वयं घा३ त्वा सुतावन्ताः। आपोनवृक्ता
१ २ १ २ १ २ १ २ ३
बा२३र्हिषाउ। वा २३। पवित्रस्या। प्रस्र-
२ १ २ १ ५ १ २
वणाइ। पुवृत्रा २३४ हान्। पा२३री।
१र र २ १र ३
स्तोतारः। आसा २३४५ ताई५ईइ। आ
१ १ १ १
२३४५ष्॥ ६८॥

दशमी ऋक्।

संयु ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
कृष्टिषु। यद्वापंचक्षितीनां द्युम्नमाभर
३ १र २र ३ १ २
सत्रा विश्वानि पौंस्या॥ ६९॥

हे 'इन्द्र' 'नाहुषीषु' यक्षरक्षो गन्धर्वादिजातिषु 'च' अपिच 'कृष्टिषु' पिशाचादिषु 'यत्,' 'यत् वा' 'पञ्चक्षितीनाम्' म्लेच्छादीनाम् 'ओजः' बलम् 'नृम्णं' धनम् 'द्युम्नम्' अन्नम् 'पौंस्या' पौंस्नम् साहसम् 'विश्वानि' सर्वाणि तानि 'सत्रा' सर्वदा' आ भर' आहर। यद्यपि नाहुषी, कृष्टि, क्षिति-इति त्रयोऽपि मनुष्यपर्य्यायाः तथाप्यत्र विशेषार्थ भाजनत्रमानम् भाष्यमेव नान्यत्। पञ्चक्षितीनामिति चत्वारोवर्णाः म्लेच्छादय स्ततोऽन्याः पञ्चमाः, क्षितयो मनुष्याः' पञ्चसते क्षितयः-इति पञ्चक्षितयः तेषाम्। नाहुषीष्वाइत्यत्र सुत 'आ' अनर्थकः पौंस्या-इति सुपांसु गित्यात्वम्॥ ६९॥

হে ইন্দ্র! যক্ষ রক্ষ গন্ধর্ব্বাদি জাতিতে এবং পিশাচাদিতে ও চতুর্বর্ণাতিরিক্ত মনুশ্য-গণের যে বল, ধন, অন্ন, সাহস আছে। তুমি তৎসমস্ত সর্ব্বদা হরণ কর॥ ৬৯॥

स्रौक्थीगवम्।

५र ५र ४ ५ ४र ५ र ५
औ होइ। यदिन्द्रना। हुषीषुईवा।
१ १ १
ओ जो२नाम्णा२म्। चकृष्टि। षू। ए२
१ २
हो१आइहो२। हा२जजवाइ। या १द्वा
१ र १
२ पाञ्चा२। क्षितीनाम्। ए२हो१आइ-
१ २ १ र २ १
हो२। हा२ जजवाइ। द्युम्नमाभ। रा।
१ १
ए२हो१आइ हो२। हा२जजवाइ। सा

_ ১ _ ১ ৰ _
১ত্বা২বাহ্ব্বা২। নিষোঁ৩ষি। যা। এ২
_ _ ১ ২
ছী১ আহুহো২। হা২ঊঊ বা২। যা২৩৪
৫ৰ ৰ ২ ৫
ঔহোবা। ঊ২৩৪পা॥ ৬৯॥

ইতি সপ্তমী দশতিঃ।

অষ্টমদশত্যাম্।

প্রথমা ঋক্।

মেধাতিথি ঋষিঃ।

৩ ২ ৩ ১ৰ ২ৰ ৩ ১ ২ ৩ ২
সত্যমিত্থা বৃষেদসি বৃষজূতির্নোঽবিতা।
ক ২ৰ ৩ ১ ২ ৩ ২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২
বৃষা হ্যুগ্র শৃণ্বিষে পরাবতি বৃষো অর্বাবতি
৩ ২
শ্রুতঃ॥ ৭০॥

হে ইন্দ্র! 'সত্যম্' সত্যস্বরূপঃ ত্বম্ 'ইত্থম্' অনেন প্রকারেণ পূর্ব্বর্চি কথিতপ্রকারেণ 'বৃষা' দুরাত্মনাং দুঃখস্য বর্ষিতা 'অসি' ভবসি। অপিচ বৃষজূতিঃ' ধর্ম্মগতিস্ত্বং 'নঃ' অস্মাকম্ 'অবিতা' রক্ষিতা অসি। হে 'উগ্র' অপ্রসহ্য! 'পরাবতি' দূরে দ্যুলোকে স্থিতঃ ত্বম্ 'শৃণ্বিষে' স্তবনং নিন্দনঞ্চ শৃণোষি, শ্রুত্বাচ 'বৃষা' যথাযথং সুখস্য দুঃখস্য চ বর্ষিতা ভবসি। 'শ্রুতঃ' বিখ্যাতঃ ত্বম্ 'অর্বাবতি' নিকটেঽপি তিষ্ঠন্ স্তবনং নিন্দনং চ শৃণোষি, শ্রুত্বাচ 'বৃষা' যথাযথং সুখস্য দুঃখস্য চ বর্ষিতা ভবসি। অত্রত্য ইত্, হি, উ-ইতি পদত্রয়ম্ এবার্থেঽনর্থকো বা॥ ৭০॥

হে ইন্দ্র! সত্যস্বরূপ তুমি এই প্রকারে দুরাত্মদিগের দুঃখের বর্ষণকারী হইতেছ, তুমি ধর্ম্মগতি, আমাদিগের রক্ষক হইতেছ; হে উগ্র! তুমি দূরে থাকিয়াই স্তুতি নিন্দাদি শ্রবণ করত যথাযথ সুখদুঃখ বর্ষণ করিতেছ; তুমি বিখ্যাত, নিকটে থাকিয়াও স্তুতিনিন্দা শ্রবণানুসারায়ী যথাযোগ্যের প্রতি সুখ দুঃখ বর্ষণ করিতেছ॥ ৭০॥

বৃষকম্।

৫ ৪ ৫ ৪ৰ ৪ ১
সত্যমিত্থা। ষা ৫ ইদসাই। বৃষ...
ৰ _ ১ৰ ১ _
নোঽবিতা২। বৃষাহ্যুগ্রা শৃণ্বিষা২।
ৰ ১ ২ ১
পরাবতাই। বৃষো২বা। বতাই শ্রূ২৩তা৪ঃ।
১
ঔ২৩৪৫ইডা॥ ৭০॥

দ্বিতীয়া ঋক্।

রেভ ঋষিঃ।

৩ ১ ২ ৩ ২ ৩ ১ ২ ৩
যচ্ছক্রাসি পরাবতি যদর্বাবতি বৃত্রহন্।
১ ২ ৩ ২ ৩ ১ ২
অতস্ত্বা গীর্ভির্দ্যুগদিন্দ্র কেশিভিঃ
৩ ২ ৩ ১ ২
সুতাবাঁ আবিবাসতি॥ ৭১॥

হে 'শক্র!' 'যত্' যদি ত্বম্ 'পরাবতি' অস্মিন্ লোকে দ্যুলোকে 'অসি' হে 'বৃত্রহন্' 'যত্' যদি 'অর্বাবতি' সন্নিকৃষ্টে অন্তরিক্ষলোকে। হে 'ইন্দ্র' সুতাবান্' সোমস্য অভিষবকারী যজমানঃ 'অতঃ' ইহ পৃথিবীলোকে সংস্থায়ৈব 'ত্বা' ত্বাম্ 'কেশিভিঃ' বালবদ্ভিঃ গীর্ভিঃ বারবন্তীয়সামভিঃ 'দ্যুগত্' উচ্চৈঃ স্বরেণ 'আবিবাসতি' পরিচরতি॥ ৭১॥

হে শক্র! যদি তুমি দ্যুলোকে আছ, হে বৃত্রহন্! যদি তুমি অন্তরীক্ষ লোকেই, অতঃ হে ইন্দ্র! সোমাভিষবকারী যজমান এই পৃথিবীতে থাকিয়াই বালবিশিষ্ট বাক্যদ্বারা অর্থাৎ বারবন্তীয়নামক সামদ্বারা তোমার পরিচর্য্যা করিতেছে॥ ৭১॥

দ্বৈগতম্।

৫ ২ ৪ ৫৫ ৪ৰ ৫ ১ ২ৰ
যচ্ছক্রা ৩ সীপরাবতী। যাদর্বাব।
১ ২ ৩২ ২ ২
তিবাবা১ৎহা২ন্। অতা৩ঃ। ঔ৩হো৩বা।
১ৰ ৰ ২ _ ১
ত্বাগোর্ভির্দ্যুগদিন্দ্রাকে ১ শিভি ২ঃ। সুতা
১ ^ ২ ৫ৰ ৰ ২
২৩। বাঁ২আ ২৩৪ ঔ হোবা। এ৩।
১ৰ ১ ২ ১ ১ ১ ১
বিবা২সতো২৩৪৫॥ ৭১॥

(टी०) 'यः' कश्चित् 'अन्यथा' अन्यप्रकारेण सन्तं' विद्यमानं 'आत्मानं' स्वं 'अन्यथा' प्रकारेण 'प्रतिपद्यते' प्रतिपादयति। 'तेन' 'आत्मापहारिणा' 'चौरेण' 'किं पापं न कृतं' अपितु सर्व्वमेव कृतमित्यर्थः ॥ ८॥

(ता०) सततमकपटमाचरेत्। स्वयमेकविधोऽन्यविधत्वेन लोके न प्रत्यापयेत्। यदसाधुत्वेन ज्ञातम्, लज्जितः सन् तदभितः परित्यजेत्, यद्व ...जानीयात् इदं साधु, तदेव वाक्येन कार्य्येण च प्रदर्शयेत् ॥ ८॥

५७

(मू०) नास्ति सत्यसमोधर्म्मः न सत्याद्विद्यते परं। न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ॥ ९ ॥

(टी०) 'सत्यसमः' सत्येन तुल्यः 'धर्म्मः' नास्ति' 'न' अपि 'सत्यात्' सत्यमपेक्ष्य 'परं' प्रकृष्टं 'विद्यते'। किञ्च 'अनृतात्' असत्यात् 'तीव्रतरं' ...तरं 'किञ्चित्' किञ्चनमात्रं 'न हि' 'इह' ...ते' ॥ ९ ॥

(ता०) सत्यमेव ईश्वरस्वरूपम्, तत्रैवास्ति धर्मः प्रतिष्ठितः। अतो ज्ञानेन सत्यमुपार्जयेत्, सत्यं श्रद्दधेत आचरणे च सत्यपरायणो भवेत्। सर्वतो भावेन मिथ्यां परित्यजेत्—मिथ्यातोऽधिकम् असत्यम् कठोरं घृणाकरं च नास्ति किमपि। मिथ्यया ज्ञानं मोहमेति, वाक्यमाचरणं पापविलतां गच्छति ॥ ९ ॥

५८

(मू०) प्रियाभवति दानेन प्रियवादेन चापरः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १० ॥

(टी०) 'प्रियः भवति दानेन' 'अपरः' कश्चित् 'प्रियवादेन च' प्रियोभवति। किं 'च' 'अप्रियस्य' 'पथ्यस्य' हितस्य 'वक्ता श्रोता च' 'दुर्लभः' कृच्छ्रेण लभ्यतेऽसौ ॥ १० ॥

(ता०) हितकरं वाक्यं सर्वदा प्रीतिकरं न भवति, प्रियवाक्यञ्च क्षणविशेषेऽहितकरं भवति, परं यः श्रोतुरसन्तोषभिया हितं न वदति, न स प्रकृत-हितैषी; किञ्च योऽप्रियमिति हितं न शृणोति, स भवति दुखभाक्। अतः सर्वेषां हितैषी भवन् हितमेव वदेत्, अपिच हितमप्रियमपि केनाप्युपदिश्यते चेत्—शान्तो भवन् तद् गृह्णीयात् ॥ १० ॥

इति।

५९

सप्तमोऽध्यायः।

(मू०) समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति। तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्म्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ १ ॥

(टी०) 'समक्षदर्शनात्' साक्षात् दर्शनात्

'श्रवणात् च एव' 'साक्ष्यं' साक्षित्वं 'विध्यति'। 'तत्र' साक्ष्ये 'साक्षी' 'सत्यं' यथादृष्टश्रुतार्थं 'ब्रुवन्' 'धर्म्मार्थाभ्यां' 'न हीयते' न वियुज्यते ॥१॥

(ता०) ईश्वरस्यायमभिप्रायः—न्यायः सत्यञ्च जयं लभेत, साधूनामप्येषैव कामना—न्यायस्य सत्यस्य च जयो भवेत्। परमसाधवो मानवा ईश्वराभिप्रायमुल्लङ्घ्य अपरं प्रत्यन्यायमाचरन्ति; तन्निवारणे न कृते लोकस्थितेरत्यन्तव्याघातो भवति। अतएव विचारपतिः न्यायान्यायविवेकेन जयं यच्छति, इत्थं धर्मः सुरक्षितो भवति। साक्षी यथादृष्टं यथाश्रुतं विवादास्पदविषयं विचारपतिं ज्ञापयित्वा धर्मरक्षणस्य सहकारितां करोति। अतो धर्माधिकरणे साक्ष्यदानं धर्मार्थविरोधित्वेन न विवेचयेत् ॥१॥

६०

(मू०) यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्व्वमेवाञ्जसा वद। सत्येन पूयते साक्षी धर्म्मः सत्येन वर्द्धते ॥२॥

(टी०) 'यथाश्रुतं यथादृष्टं' दृष्टश्रुतानतिक्रमेण 'सर्व्वं' 'अञ्जसा' तत्त्वतः 'एव' 'वद' ब्रूहि। यस्मात् 'सत्येन' कथनेन 'साक्षी' 'पूयते' पापात् प्रमुच्यते 'धर्म्मः' च अस्य 'सत्येन' 'वर्द्धते' वृद्धिमेति ॥२॥

(ता०) साक्षी यथादृष्टं यथाश्रुतं समस्तं यथायथं वदेत्, यथाज्ञातमविकलं प्रकाशयेदिति भावः। यः स्वचक्षुषाऽपश्यत् सएव प्रकृतसाक्षी, यत्कृतमपरसन्निधौ तद्वृत्तमपि भवितुं शक्यम्; अतः साक्ष्यदानावसरे दृष्टविषयश्रुतविषयात् पृथक्कृत्य वदेत्। सत्यसाक्ष्यदानेन पुण्यं लभते, यतस्तथा धर्मो रक्षितो भवति। मिथ्यासाक्ष्य-दानेन निरयमुत्पद्यते ॥२॥

६१

(मू०) यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते। तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥३॥

(टी०) 'यस्य' 'हि' 'वदतः' कथयतः साक्षिणः 'विद्वान्' चेतनावान् 'क्षेत्रज्ञः' जीवात्मा किमयं सत्यं वदत्युतानृतमिति 'न अभिशङ्कते' नाशङ्कते किन्तु सत्यमेवायं वदतीति निर्व्विशङ्कः सम्पद्यते। 'तस्मात्' पुरुषात् 'अन्यं' 'लोके' 'श्रेयांसं' प्रशस्ततरं 'पुरुषं' 'देवाः' 'न' 'विदुः' न जानन्ति ॥३॥

(ता०) मनसोऽगोचरं पापं नास्ति, अतः साक्षी साक्ष्यदानकाले स्वगतमेवं विवेचयेत् यदहं वच्मि न तन्मिथ्येति; सएव सत्यवादी, अपि च सर्वदर्शीश्वरः तत्प्रति प्रसन्नो भवति ॥३॥

६२

(मू०) एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे। नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥४॥

(टी०) किञ्च हे 'कल्याण' हे भद्र 'एकः' एव 'अहं अस्मि' जीवात्मकः 'इति' 'यत् त्वं' 'आत्मानं' 'मन्यसे' जानीसे मैवं मंस्थाः। यस्मात् 'एषः' 'पुण्यपापेक्षिता' पुण्यानां पापानाञ्च द्रष्टा 'मुनिः' सर्व्वज्ञः परमात्मा 'ते' तव 'हृदि' हृदये 'नित्य स्थितः' ॥ ४ ॥

(ता०) हे याचिन्! यथा त्वं बहिः न एकाकी, तथैवान्तरेऽपि त्वं न एकाकी, पुण्यपापदर्शी सर्वज्ञः [illegible]: तद्धृदये निरन्तरमवतिष्ठति, सएव पुण्यस्य [illegible]कर्त्ता पापस्य च दण्डदाता ; हे साधो! एतद्ध् [illegible] साक्ष्यदानं कुरु। मिथ्यासाक्ष्यं प्रदाय [illegible]कोपरि परमेश्वरीयवज्राकर्षणं माकरोः [illegible]

इति।

अष्टमोऽध्यायः।

६३

(मू०) यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रा-त्मानं नियोजयेत् न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् ॥ १ ॥

(टी०) 'यत्' यत्र 'कल्याणं' मङ्गलं 'अभिध्यायेत्' अनुभवेत् 'तत्र आत्मानं नियोजयेत्'। 'न' 'पापे' पापिनि जने 'प्रतिपापः' पापप्रतीकारवान् 'स्यात्'। किन्तु 'सदा' 'साधुः' एव 'भवेत्' ॥ १ ॥

(ता०) यथाच मङ्गलं भवेत् तथैव व्यवहरेत्। ईश्वरो मङ्गलस्वरूपः, मङ्गलमेव तस्योद्देश्यः। यत्किञ्चन एकं प्रति मङ्गलत्वेन प्रतिपद्यतेऽन्यं प्रत्यमङ्गलत्वेन, न तद् वास्तविकं मङ्गलम् ; यत्-किञ्चन अद्यैव मङ्गलत्वेन प्रतिभाति श्वोऽमङ्गलत्वेन भास्यति, तदपि न वास्तविकं मङ्गलम् ; यत् सर्वेषां मनुजानां, यच्चानन्तकालाय, तत्रैवात्मानं नियोजयेत्। पापकारिणं प्रति पापं नाचरेत्, केनचिदन्याये आचरिते तत्प्रतिकारं न कुर्य्यात्। सदा साधु तिष्ठेत्, साधूपायमवलम्ब्य असाधुतां प्रतिविदध्यात् ; न्यायपथे तिष्ठन् अन्यायाचारस्य प्रतिविधानं कुर्य्यात्। निज-क्रोधमात्रस्य शान्ति-करणमसाधुकार्य्यम्, परमसाधुं साधुतया संशिक्ष्य, जगति शान्तिविस्तारणं साधु-लक्ष्यम् ॥ १ ॥

६४

(मू०) अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्। जयेत कदर्य्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतं ॥ २ ॥

(टी०) 'अक्रोधेन' क्रोधसंवरणेन 'जयेत् क्रोधं' 'असाधुं' भावं व्यवहारं वा 'साधुना' साधुना भावेन व्यवहारेण वा 'जयेत्'। 'जयेत्' 'कदर्य्यं' क्षुद्रं अपकारिणमिति यावत् 'दानेन' दानादिना उपकारेणेति यावत् 'जयेत्' 'सत्येन च' 'अनृतं' मिथ्या ॥ २ ॥

(ता०) स्वयमक्रोधः सन् क्रुद्धं जयेत्, क्रोधस्य वशीभूतो न भवेत्, अपितु क्रोधान्धं विविधोपायेन प्रकृतिस्थं कुर्य्यात्, किञ्च येन येन कारणेन अन्यस्य

क्रोधोद्दीपितो भवेत् तद्दूरीकुर्य्यात्। असाधुं साधुतया जयेत्; केनचिदसद्व्यवहृतेऽपि तस्मात् साधुव्यवहरेत्; केनचिद् सद्भावे प्रदर्शितेऽपि तं सद्भावं प्रदर्शयेत्। योऽहितमाचरेत् तस्यापि हितं चिन्तयेत्। असत्यं सत्येन पराजयेत्; प्राणान्तमपि सत्यमवलम्ब्य तिष्ठेत्, सत्यमेव जयः॥ २॥

६५

(मू०) कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते। सत्यसाधुसमारम्भात् बुद्धिर्धर्म्मेषु राजते॥ ३॥

(टी०) 'सुख दुःखेषु' सुखेषु च दुःखेषु च 'कुशलः' कुशलस्वभावः 'साधून् च अपि उपसेवते'। 'सत्यसाधुसमारम्भात्' सत्यसाधुलक्षणकर्म्मणः समारम्भात् तस्य 'बुद्धिः धर्म्मेषु' 'राजते' विलसति॥ ३॥

(ता०) सुखं दुःखं चोभयमेव चित्तचाञ्चल्यमुत्पादयितुं शक्यते। दुःखकाले यथा चाञ्चल्यमुपतिष्ठते, सुखसमयेऽपि तथैवान्यविधं चाञ्चल्य मुत्पद्यते। कदाचित दुःखभोगोत्कण्ठापेक्षया सुखभोगीयमत्तताऽपि धर्मसाधनस्याधिकतरविघ्न मुत्पादयति। अतोऽचलचित्तोभवन् सुखदुःखोभयावस्थायामेव कुशलं लब्धुं यतेत। यत्नेन साधुसङ्गं कुर्य्यात्। संसारे नानाविधावस्थायां पतति, तेनान्तःकरणमपि वैविध्यमाप्तुं विक्षिप्ततामेतुञ्च क्षुभ्येत, धर्मभावोऽपि म्लानीभवितुं शक्येत, पवित्रोत्साहो निर्वाणम् भवेत्, साध्वाशा नैराश्यभावतः परिणमितुं शक्येत, मोहः समुत्पद्य जीवनं मलिनयितुं शक्येत; एतादृगवस्थायां साधुसंसर्गः आत्मानं पुनः प्रकृतिस्थं कुर्य्यात्। साधुसङ्ग-प्रभावेण मुमूर्षुरात्मा जीवनं प्राप्नोति, हृताशोमानव आशांलभते, निरुत्साहचित्तः समुत्साहितो भवति। यथा सूर्य्यस्यालोको रूपहीनवस्तुजातं रूपवन्तं करोति, तथैव साधूनां साधुता असाधु-जीवनं पवित्रं पुण्यशीलं च करोति। साधुसङ्गस्यैषमहान् गुणः येनासाधुभावं साधुतामेति। अतो धर्मार्थिणः साधुसङ्गसेवां नावहेलयेत्।

यस्यानुष्ठानेन ज्ञानं हृदयं च परितृप्यते, तदेव सत्कर्म जानीयात्; तादृश कर्मानुष्ठानेनैव धर्मबुद्धिर्दीप्तिं लभते; ये हि ज्ञानविरुद्धानि हृदयविरुद्धानि च कर्माण्याचरन्ति, तेषां धर्म्मज्योतिं क्रमात् दौर्बल्यमेति, अन्तेच ते धर्माधर्म विवेकशून्याभवन्तो धर्मात् पतन्तः अधोगच्छन्ति॥ ३॥

६६

(मू०) मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः। अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः॥ ४॥

(टी०) 'मोहजालस्य' अविवेकसमूहस्य 'योनिः' 'कारणं' 'हि' प्रसिद्धो 'मूढैः' एव सह 'समागमः' संयोगः। 'अहनि अहनि' प्रतिदिनं 'साधुसमागमः' 'धर्म्मस्य योनिः'। तस्मादुज्झित्वाऽसाधुसङ्गतिं धर्म्मेषुभिर्नित्यं सद्भिरेव समागमः कर्त्तव्यइति वाक्यार्थः॥ ४॥

प्रत्नकम्रनन्दिनी

मासिकपत्त्रिका ।

मत्त्राख्यकाण्डकरणाद्यखिलप्रकाशकसिन्धुं समस्तभगवन्तम् । बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देहमीशजगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।

राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्नकम्रनन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [May, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२२सङ्ख्या

वैदिकसमालोचना

(२१ सङ्ख्याया अनन्तरम्)

अथ समालोचित गानचतुष्टयानां सामत्रयाणाञ्च योनिभूतानामृचां समुदायोग्रन्थः 'आर्चिकः', सच 'छन्दस्य'-'आरण्यिक'-'माहानाम्न्य' उत्तर'-इति चतुर्विभक्तः । तत्राद्यच्छन्दस्यार्चिकः । सोऽयं षट्प्रपाठकैः, एकोनषष्टिभिर्दशतिभिः, चतुरशीत्यधिकपञ्चशतर्ग्भिरन्वितः । यद्यप्यार्च्चिकस्य तावन्तमेव विभागं च्छन्दस्येति वक्तुं युज्यते आर्चिकमन्त्राः सर्वएव छन्दोबद्धा यतः, तथापि विभागान्तरणां विशेषनामकरणाभिप्रायेण पूर्वभागस्यैतस्य न कृता काचिद् विशेषाभिधा, एकत्र विशेषणेनोभयपार्थक्यं सुलभम्, अतोऽस्य नामान्तराभावात् छन्दस्येत्येव नामधेयं योगरूढ़म् । एतदीय प्रपाठकानां प्रत्येकस्यार्द्धं शद्वयम्, अर्द्धाडेत्युच्यते च तत् । दशानामृचां संहतिर्दशति रुच्यते, परं क्वचित् दशत्याम् चतुर्दशमिता अपि ऋचो दृश्यन्ते, एकत्र षट्च । यद्यप्यत्र पर्वविभागो न श्रूयते, परमस्य गानानुक्रमेणोपनिबद्धत्वात् तद्विभागोऽप्यनायाससाध्यः । आरण्यिकार्चिको द्वितीयः । अर्द्धप्रपाठकमात्र एषः, एकप्रपाठकत्वेन कथं न व्यवहृत इति चिन्त्यमेतत् । इह पञ्चदशत्यः, पञ्चपञ्चाशदृचः श्रूयन्ते । ग्रन्थोऽयमरण्य-

বৈদিকসমালোচনা।

(৩১ সংখ্যার পর)

সমালোচিত গাণচতুষ্টয়ের ও সামত্রয়ের মূলীভূত ঋগ্ময় গ্রন্থগুলির নাম 'আর্চ্চিক', উহা 'ছন্দস্য' 'আরণিক' 'মাহানাম্ন্য'—'উত্তর' এই চতুরংশে বিভক্ত। ১ম ছন্দস্যার্চ্চিক। ইহা ছয় প্রপাঠকে, উনষষ্ঠি দশতিতে, পঞ্চশতচতুরশীতি ঋকে বিন্যস্ত। যদ্যপি যাবৎ আর্চ্চিককেই ছন্দস্য বলা যাইতে পারে, যে হেতু আর্চ্চিকের সমস্ত মন্ত্রই ছন্দোবদ্ধ, তথাপি বিভাগান্তরের বিশেষ নাম করণাভিপ্রায়ে এই আদ্যভাগ সামান্য নামেই বিশ্রুত করা হইয়াছে; উভয় পদার্থের মধ্যে একের বিশেষাভিধান থাকিলেই সুতরাং অপরটি তাহা হইতে বিভিন্ন হইয়া পড়ে; অতএব এই গ্রন্থের বিশেষ কোন নাম না থাকায় 'ছন্দস্য' এই সাধারণ নামটিই যোগরূঢ় হইয়া পড়িয়াছে। ইহার প্রত্যেক প্রপাঠকগুলি অংশদ্বয়ে বিভক্ত, প্রপাঠকাংশকে 'অর্দ্ধ ও আড়া' বলা যায়। দশ ঋকের সংহতিকে দশতি কহে, কোন কোন দশতিতে চতুর্দ্দশ ঋক্ পর্য্যন্তও দেখা যায়, ছয় ঋকেরও একটি দশতি আছে। যদিচ এই গ্রন্থে পর্ব্ববিভাগ উপাত্ত নাই, কিন্তু ইহা গানানুক্রমে গ্রথিত হইবায় তদ্বিভাগও অনায়াসে হইতে পারে। ২য়—আরণিকার্চ্চিক। ইহা অর্দ্ধপ্রপাঠক মাত্র; এতাবান্ মাত্রই এক প্রপাঠক বলিয়া কেন ব্যবহৃত হইতেছে না? চিন্তনীয়। ইহাতে পাঁচটি

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी । कलिकातायां नूतन-संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहन मुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

गानस्य मूलम्, इममवलम्ब्य गीतमरण्यम्; परं नह्यसौ गानक्रमेणोपनिबद्धः, ततोऽस्मिन् गानानुयायी पर्वविभागो नोपयुज्यते। अपिच यथा छन्दस्य मात्रमवलम्ब्य गेयान्तर्गतसाम्नां सर्वांशशोऽर्थ उपलभ्यते, तथेममेवाश्रित्य नारण्यगानसाम्नाम्; अत्र तएव मन्त्राः सन्ति, येऽरण्ये साममध्यभागस्वरूपाः; सामाद्यन्तभागमूलभूतास्तु न भवन्ति ऋचः, सन्तितुपदानि वाक्यानि च, परं तेषां छन्दोमयत्वाभावादत्रार्च्चिकग्रन्थे नास्ति प्रवेशः माहानाम्न्यार्च्चिकस्तृतीयः। दशतिमात्र एषः। एकादश ऋचः सन्त्यस्मिन् तेषां प्रत्येकस्य नाम महानाम्नीति, इमा एवावलम्ब्य गीतं माहानाम्न्यम्, एतावदृचामेकं सामनास्त्यपरमित्यप्यवधेयम् उत्तरार्च्चिकस्तुर्थः। नवभिः प्रपाठकैः, पञ्चोनचतुःशतसूक्तैः पञ्चाशदधिकसहस्रगृभिः विभक्तः। यतोऽयमार्चिकस्य शेषभागस्तत उत्तराख्यः। ग्रन्थोऽयमूहगानस्य मूलस्वरूपः, परं नहि तत्क्रमेणोपनिबद्ध-ततोऽत्रापि पर्वविभागोऽशक्यः। अपिचास्य कस्या अप्येकस्या ऋचो गानेऽन्वेष्येऽति विस्तृतमूहं बह्वालोडितं भवति। अस्य प्रपाठकाः पूर्ववदंशद्वयोपेताः अंशत्रयान्विता अपि कतिचित्, भाष्यकारो भगवान् सायनाचार्य्यस्तु प्रप्राठकांशमपि प्रपाठकं गणयति ततस्तन्नये एकविंशति प्रपाठकैरुपेत उत्तरः। एकदैवतानाम् एक-छन्दस्कानाम् त्यृचां संहतिरिह सूक्तमुच्यते, क्वचित् क्वचित् सूक्ते तदधिकास्त्र ऋचः सन्ति, द्वेऽपिदृश्येते क्वचित् क्वचित्। अपरञ्च सक्तानामनेकानामाद्या ऋक् छन्दस्यार्च्चिका दुद्धतेतीह भासते। ऊह्यगानस्य मूलीभूता ऋचः प्राय उत्तरार्चिके एवोपलभ्यन्ते, आरण्यकेऽपि कतिचित्। तवश्यावीयभारण्ड साम्नोस्तु मूलं किञ्चिदुत्तरे किञ्चिच्च स्तोभग्रन्थे लभ्यते। साम्नां यद् यदंशस्य मूलीभूता ऋचोन सन्ति तत्तदंशस्य मूलस्वरूपोग्रन्थः स्तोभ उच्यते, प्रपाठकद्वयात्मकः पदमयः सः। सोयमरण्यव्याख्यायाम् महोपयोगीति।,

कीर्त्तितनामार्चिकचतुष्टयानां पदच्छेद निर्णयार्थं पदग्रन्थाः सन्ति चत्वारः। यद्यपीमे आर्चिक प्रतिरूपा एव तथापि सन्धिविश्लेष-समासभेदादिभिः कारणैः स्वरभेदेनाधीता भवन्ति। वैदिकाः प्रायः परस्परमुत्तरप्रत्युत्तरव्याज्येनैतत्-पारायणं कुर्वन्ति, तद्धि चर्चैत्युच्यते।

দশতি আছে এবং ঐ পাঁচটি ৫৫ ঋকে বিভক্ত। এই গ্রন্থ অরণ্যগানের মূল; এই ৫৫ ঋক্ অবলম্বন করিয়াই ঐ গান গীত হইয়াছে, কিন্তু ইহা গান ক্রমে নিবদ্ধ নহে, সেই নিমিত্ত ইহাতে গানানুযায়ী পর্ব্ববিভাগও হইতে পারে না। অপি চ যেরূপ ছন্দস্য মাত্র আশ্রয় করিলেই গেয়গানের সমস্ত সামের সর্ব্বাংশের অর্থ লাভ করা যায়, অরণ্যগানের অর্থোপলাভের নিমিত্ত ইহা সেরূপ নহে; এই গ্রন্থে সেই সমস্ত মন্ত্র আছে যাহা অরণ্যগানের সামগুলির মধ্যভাগে গীত হয়, যে যে অংশ আদ্যন্ত ভাগরূপে গীত হয় তাহা ছন্দোময় পাদবদ্ধ না হইবার ঋক্ নহে, পদস্বরূপ; সুতরাং ঋগ্ময় এই আর্চ্চিকগ্রন্থে সেগুলির প্রবেশ নাই। ৩য়—মাহানাম্ন্যার্চ্চিক। ইহা দশতিমাত্র; এই দশতিতে একাদশটি ঋক্ আছে, তৎপ্রত্যেকের নাম মহানাম্নী। এই সমস্তকে অবলম্বন করিয়া যে একটি সাম গীত হইয়াছে, তাহাকেই 'মহানাম্ন্য' বলা যায়; এতগুলি ঋকের একটি সাম আর অন্য দেখা যায় না। ৪র্থ—উত্তরার্চ্চিক। ইহা নয় প্রপাঠকে, চারিশত ছেয়ানব্বই সূক্তে, এক সহস্রপঞ্চাশৎ ঋকে বিভক্ত। এই গ্রন্থ আর্চ্চিকের শেষভাগ এই নিমিত্ত ইহাকে 'উত্তর' কহা যায়। এই গ্রন্থ উহগানের মূলস্বরূপ কিন্তু গান ক্রমে গ্রথিত নহে, সুতরাং ইহাতেও পর্ব্ববিভাগ হইতে পারে না; এবং ইহার কোন একটি ঋকের গান অন্বেষণ করিতে হইলে অতি বিস্তৃত উহগান বহু আলোড়ন করিতে হয়। ইহার প্রপাঠকগুলিও প্রায় পূর্ব্ববৎ অংশদ্বয়ে বিভক্ত, অংশত্রয়ে বিভক্তও কতিপয় আছে, ভগবান্ ভাষ্যকার সায়নাচার্য্যমহোদয় তত্তৎ অংশগুলিকে এক এক প্রপাঠক বলিয়া নির্দ্দিষ্ট করিয়াছেন, সুতরাং তন্মতে এই উত্তরার্চ্চিক এক বিংশ প্রপাঠকে বিন্যস্ত। এক দৈবত এক ছন্দের তিন তিনটি ঋক্‌কে এক এক সূক্ত বলা যায়, কোন২ সূক্তে তদধিক ঋক্ ও দেখা যায়, কোন২ সূক্তে ঋগ্‌দ্বয়ও আছে। অপরঞ্চ অনেকগুলি সূক্তের প্রথম ঋক্‌গুলি ছন্দস্যার্চ্চিক হইতে উদ্ধৃত। উহ্যগানের মূলীভূত ঋক্ সমস্ত প্রায় উত্তরার্চ্চিকেই দেখা যায়, কিঞ্চিদংশ আরণিকেও আছে। তবশ্যাবীয় এবং ভারণ্ডসামের মূল কিছু উত্তরে কিছু স্তোভগ্রন্থে। সামের যে যে অংশের মূলীভূত ঋক্ নাই সেই সেই অংশের মূল স্বরূপ পদাত্মক গ্রন্থের নাম স্তোভ, উহা প্রপাঠকদ্বয়ে বিভক্ত; অরন্যগান ব্যাখ্যানে এই গ্রন্থ মহান্ উপযোগী।

উল্লিখিত আর্চ্চিক চতুষ্টয়ের পদচ্ছেদনির্ণয়ার্থ চারিখানি পদগ্রন্থ আছে। যদ্যপি এই গুলি আর্চ্চিকের প্রতিরূপই তথাপি সন্ধিবিশ্লেষসমাসভেদাদি কারণে স্বরভেদে অধীত হয়। বৈদিকগণ প্রায় উত্তর প্রত্যুত্তর ক্রমেই এই গ্রন্থের পারায়ন করিয়া থাকেন, ঐ রূপ পারায়ণকে 'চর্চ্চা' কহা যায়।

तृतीया ऋक्।

वसु ऋषिः।

२ १ २ ३ १ र २र ३ १ २
अभि वो वीर मन्धसो मदेषु गाय
३ र ३ १र २र ३ २ ३ १ २
गिरा महाविचेतसम्। इन्द्रं नाम श्रुत्यं
३ २ ३ २ ३ १ २
शाकिनं वचो यथा॥ ७२॥

हे अन्तरात्मन्! 'वः' त्वम् 'अन्धसः' सोमलक्षणस्यान्नस्य 'मदेषु' प्राप्तेषु देवेषु 'वीरम्' विक्रान्तम् 'विचेतसम्' विविधप्रज्ञम् 'शाकिनम्' शकनं शाकः शक्तिस्तद्वन्तम् 'इन्द्रम्' 'नाम' प्रसिद्धम् 'महा गिरा' महत्या स्तुतिलक्षणया वाचा 'अभि गाय'। दृष्टान्तमाह—'यथा' 'श्रुत्यम्' श्रुतौभवं 'वचः' वचनम् यथा कश्चित् श्रुतिगतं वचनं सत्यार्थत्वेन स्तौति तद्वदित्यर्थः॥ ७२॥

হে অন্তরাত্মন্! সোমপান-মত্ত-দেবগণ-মধ্যে বিক্রান্ত, বিবিধপ্রজ্ঞ, শক্তিমান্, ইন্দ্রের নাম শ্রুতিবিদিত বাক্যের ন্যায় যথার্থরূপে মহৎস্তুতিবচনে সুন্দররূপে গাণ কর॥ ৭২॥

कार्त्तयशसम्।

५ ४५रर ४ ५ ४ २र १
अभिवोवीरमन्धसाः। मदेषु ३ गाया
१ २ १ २ ३ ५
२। गिरा माहा३। वीचेता २३४ साम्।
४ ५ र ४ १ २र १ ३
इन्द्रन्नामा। श्रुत्यंशाका २ इ। ना२३४
५र र २ र १ ३ १ १ १ १
औहोवा। वचो उपा २३४५॥ ७२॥

चतुर्थी ऋक्।

संयु ऋषिः।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथंस्व-
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तये। छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यञ्च
३ १ २ ३ १ २
यावयादिद्युमेभ्यः॥ ७३॥

हे 'इन्द्र!' 'त्रिधातु' त्रयोधातवः कनकरजतमानिक्यानि यत्र तत् 'त्रिवरूथम्' त्रिषु कालेषु ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु 'वरूथम्' वरणीयम् 'छर्दिः' 'दीप्तम्' 'शरणम्' गृहम् 'मघवद्भ्यः' सोमलक्षणेन धनेन धनिभ्यः ऋत्विग्भ्यः 'च' अपि 'मह्यम्' 'स्वस्तये' अविनाशाय 'यच्छ' देहि। 'च' किञ्च 'एभ्यः' सम्प्रदानभूतेभ्यः 'दिद्युम्' वज्रम् 'यावय' पृथक् कुरु, कदाचिदपराद्धानप्येनान् वज्रेण मा हिंसिरितिभावः॥ ७३॥

হে ইন্দ্র! আমাকে এবং অন্যান্য সোমযাজীদিগকে কনক-রজত-মাণিক্য-রূপ-ত্রিধাতু-রঞ্জিত, গ্রীষ্ম-বর্ষা-হেমন্তাত্মক ত্রিকালে বরণীয়, দীপ্তিযুক্ত, গৃহ চিরদিনের নিমিত্ত প্রদান কর। অপিচ বজ্র আমাদিগ হইতে দূরে রাখ অর্থাৎ আমাদিগকে নষ্ট করিও না॥ ৭৩॥

इन्द्रशरणम्।

४ ४ २ १ र
इन्द्रत्रिधा५तु शरणाम्। त्रिवरूथं-
२ १ २ १
सुव स्तयाइ। छर्दिया २३ च्छा। माघ-
२ १ ७ २ र १ २
वद्भः। चामह्या २३ञ्चा। यावया२३दी।
१ १ २ ४ ५ ४
द्यूमे २ भिया औ ३ होवा। हो ५ इ। डा
॥ ७३॥

पञ्चमी ऋक् ।

नृमेधा ऋषिः ।

१ २ ३ २ ३ १र २र

आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र

वसूनि जाते जनिमान्योजसा प्रतिभागं

२र

न दीधिमः ॥ ७४ ॥

हे ऋत्विजः ! यज्ञीयपावकार्च्चिभिः 'सूर्य्यम्' 'आयन्तः' प्रयन्तः 'इव' यूयम् 'इन्द्रस्य' 'जातः जनिमानि विश्वा वसूनि' जातानि जनिष्यमाणानि विश्वानि सर्वाणि धनानि 'ओजसा' स्वेन बलेन 'भक्षत' भोगं कुरुत, वयं हि तत् सर्वम् 'भागं न' स्वभोग्यम् भागमिव 'प्रति दीधिमः' अनुध्यायामः । भवद्भिरेतावन्ति आहुतीनि हुतानि यथा च तच्छिखया द्युलोकस्थोऽपि सूर्य्यः भर्जित इवाभूत् तद्बलेन भवन्तः सर्वेषां पदार्थानां भोगाधिकारिणः ततश्च वयम् समस्तमेतत् अस्मदादीनां भागमिव जानामः इति भावः ॥ ७४ ॥

হে ঋত্বিক্‌গণ্ ! তোমরা যজ্ঞীয়াগ্নিতে এতাবৎ আহুতি প্রদান করিয়াছ, যে, ঊর্দ্ধগত অগ্নিশিখায় সূর্য্য পর্য্যন্ত ভর্জিত প্রায় হইয়াছেন ; অতএব তোমরা স্বীয়কর্ম্মবলে সৃষ্ট ও সৃজ্যমাণ ইন্দ্রের যাবতীয় পদার্থ ভোগ কর, আমরা স্থির জানিতেছি ঐ সমস্ত ধনই আমাদিগের ভাগস্বরূপ ॥ ৭৪ ॥

५र ५र ५

आयन्तीम् । आयन्तइवसू ४ रायाम् ।

१ १ १ १ र

विश्वा२इदिन्द्रा२ । स्यभा२क्षता । वासू-

२ र १र २र १ २

निजातो जनिमा । नियोजा १ सा २ ।

१ २र १ र १ २ १र

प्रतिभागन्न दो२धिमः । मा२३ती । भा-

२ २ १ ३ २ १

गान्ना ३दा । ऊम् । धिमा३ः । ओ२३४

५ २ १ १ १ १

वा । हे२३४५ ॥ ७४ ॥

षष्ठी ऋक् ।

पुरुहन्मा ऋषिः ।

३ १ २ ३ २र २र ३ १

नकीम देव आ पतदिषं दीर्घायोम-

२ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३

र्त्यः । एतग्वाचिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो

१ २ ३ १ २

हरी युयोजते ॥ ७५ ॥

स्वपुत्रमुपदिशति— हे 'दीर्घायो' ! 'यः' 'मर्त्यः' मनुष्यः 'अदेवः' देवशून्यः न देवोपासकः सः 'तत्' 'इषम्' प्रार्थितमन्नम् 'न' 'आप' नाप्नोति । 'चित्' यदि 'एतशः' यष्टा 'एतग्वा' अश्वौ 'युयोजते' अतिशयेन युनक्ति स्वरथे इति शेषः । दृष्टान्तमाह यथा 'इन्द्रः' देवः स्वीये रथे 'हरी' अश्वौ 'युयोजते' ॥ ७५ ॥

পুরুহন্মাঋষি নিজপুত্রকে উপদেশ দিতেছেন—হে দীর্ঘায়ু ! যে মনুষ্য দেবার্চ্চনারত নহে সে উৎকৃষ্ট অন্নও লাভ করিতে পারে না এবং যাজ্ঞিকব্যক্তি যেরূপ ইন্দ্র নিজরথে অশ্বদ্বয় যোজনা করেন—সেইরূপ নিজরথে অশ্বদ্বয় যোজনা করিয়া সুখী হন ॥ ৭৫ ॥

वाम्नम् ।

३ ४र ३ ४र ५ र २ २ १

नकीमदेव आ । हा३हा३इ । पा२३४ ।

५ १ १र

तत्पतो वा । इषंऽहो२इ । दीर्घा हो

१ ७ १ २र

२ । योमर्त्तीया २ः । आइतग्वाचित् ।

१ २ ३ २ २ ५

य आइता शो । युया उवा३ । ज३४पा ।

१ _ १ _ १ _ १
जता२इ। आइन्द्रो२इहारो२। युयो२इ।
१ २ ५ र २ ५
जा२ता२३४औ होवा। ज२३४पा॥७५॥

सप्तमी ऋक्।

नृमेध-पुरुमेढौ ऋषी।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आनो विश्वासु हव्यमिन्द्रꣳ समत्सु
३ १ २ ३ १२
भूषत। उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन्
३ १ २
परमज्या ऋचीषम॥७६॥

नृमेधः स्वपुत्रपौत्रानाह—'विश्वासु' 'समत्सु' सर्वासु क्रियासु 'नः' अस्माकं 'हव्यम्' आह्वातव्यम् 'इन्द्रम्' 'आ भूषत' परिभूषत आश्रयत्वेन परिगृह्णीत पुरुमेढ इन्द्रमाह— हे 'वृत्रहन्' इन्द्र! 'परमज्याः' परमा उत्कृष्टा ज्याधनुर्गुणो यस्य स त्वम् 'ब्रह्माणि' पुरोडाशादीन्यन्नानि 'सवनानि' प्रातःसवनादीनि 'ऋचीषम्' सोमम् प्रति 'उप' उपगच्छ॥७६॥

নৃমেধঋষি নিজ পুত্রপৌত্রদিগকে বলিতেছেন—ইন্দ্র আমাদিগের সকল কর্ম্মে নিমন্ত্রণীয়, তোমরা তাঁহাকে আশ্রয় রূপে গ্রহণ কর। পুরুমেঢ় ঋষি ইন্দ্রকে বলিতেছেন—হে বৃত্রহন্! তোমার ধনুকেরগুণ অত্যুৎকৃষ্ট, তুমি প্রাতঃসবনাদি সবন, পুরোডাশাদি অন্ন ও সোম প্রাপ্ত হও॥ ৭৬॥

साक्रम्।

४र५ ४ ५ २ १ _ १
आनः। एविश्वा। सुहाव्या२म्। आ-
२ १२ २ ३ ५
इन्द्रꣳ सम। त्सूभू१षाता। ज२३४पा।
२ २ १२र १ २र ३ २
हा ३ हाइ। ब्रह्माणि सवना। निवृत्र-

१ २१ २ १ २ २
हान्। परमा२३ज्याः। आर्चो३हाइ।
१ २ ४ ५ ४
षमा। औ३होवा। होपुइ। डा॥७६॥

अष्टमी ऋक्।

वशिष्ठ ऋषिः।

१ र २र ३ २ ३ ३ १ २ ३
तव दिन्द्रावमं वसुत्वं पुष्यसि मध्य-
२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १
मम्। सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न
२ ३ १ २
किष्ट्वा गोषु वृण्वते॥७७॥

हे 'इन्द्र' 'अवमम्' निकृष्टम् 'वसु' धनम् 'तव इत्' तवैव। 'मध्यमम्' धनम् 'त्वम्' त्वमेव 'पुष्यसि' पुष्णासि। 'विश्वस्य' सर्वस्य 'परमस्य' उत्कृष्टस्य धनस्य त्वमेव 'सत्रा' सर्वदा 'राजसि' ईशिषे। 'गोषु' गोधनेष्वपि 'त्वा' त्वाम् 'किः' कश्चित् 'न वृण्वते' न वारयति तत्रापि त्वम् ईशिषे इति भावः॥७७॥

হে ইন্দ্র! ত্রিলোকে যাবৎ নিকৃষ্টধন আছে তাহা তোমারই, মধ্যবিধ ধন সমস্তও তুমিই রক্ষা করিতেছ, সমস্ত উৎকৃষ্ট ধনও তুমিই সর্ব্বদা ভোগ করিতেছ; গোধন ভোগ করিতেও তোমাকে কে নিবারণ করিতেছে? অর্থাৎ তাহাও তোমার॥ ৭৭॥

निधनकामम्।

४ र ४ १ २
तवेदिन्द्रा ५ वमंवसु। त्वंपुष्यसिमध्य-
१ २ ३ ५ १ २ १ २ र
मम् साचावा२३४इश्वा। स्यापरमस्यरा-
१ २ ३ ५ १ ७
जसि। नकिष्ट्वा२३४गो। षूवृण्वा २३
२ १ २ १ २र
ताइ। होवा ३ होइ। हो। वाहा-
१ १ १ १
३१ उवा २३४५॥७७॥

नवमी ऋक्।

प्रगाथऋषिः।

२र ३ १ २ ३ २ ३ २३ १२
क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धिते मनः।
१२ ३ १ २ ३१
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्रगायत्रा
२
अगासिषुः॥ ७८॥

हे इन्द्र! 'क्व' 'इयथ' गच्छसि? 'क्व' 'असि'? 'हि' यतः 'ते' तव 'मनः' 'पुरुत्रा' बहुप्रकारमत एवं पृच्छामि 'इति योज्यम्। हे 'खजकृत्' संग्रामकृत् पुरन्दर' शत्रुपुरदारयितः! 'युध्म' योद्धुम् 'अलर्षि' गच्छसि, त्वां 'गायत्राः' उद्गातारः 'प्रागासिषुः' प्रकर्षेण स्तुवन्ति। अत्र 'इत्' 'चित्' इति द्वावपि पादपूरणे॥ ७८॥

হে ইন্দ্র! যেহেতু তোমার মন বহুধা বিভক্ত, অতএব জিজ্ঞাসা করি কোথা যাইতেছ? কোথায় আছ? হে সংগ্রামকারী, শত্রুপুরবিদারী দেব! তুমি যুদ্ধকরিতে যাইতেছ, উদ্গাতারা তোমার স্তব করিতেছে॥ ৭৮॥

इन्द्रप्रियम्।

५र २र१ १
क्वेयथा। क्वेदसा२इ। ओहोर
१र २ ५ २ १र
औ होयि। औ३हो २३४ वा। पुरुत्रा-
२र१ १ र१
चाइत्। हितेमना२ः। औहो२। औ
२ ५ २ १ २र१
होइ। औ३हो२३४वा। अलर्षियू। धाखजकू२त्। ओहो२। औ होइ। औ३हो
५ २ १ २र१ १
२३४वा। पुरन्दरा। प्रगायात्रा२ः। औ
१ १र २
औहो२। औहोइ। औ३हो२३४वा।
२ २ १ ३ ५र र २ १
अगा३। सा२इषू२३४औहोवा। सुषा२३सा
१११
२३४५ः॥ ७८॥

दशमी ऋक्।

कलि ऋषिः।

३ १२ ३ १र २र ३ २ ३ १२
वयमेन मिदाह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
१ २ ३ १र २र ३२३२ ३१ २
तस्मा उ अद्य सवने सुतम्भरा नूनं भूषत
३ २
श्रुते॥ ७९॥

'इदा' इदानीम् 'ह्यः' पूर्वस्मिंश्चाहनि 'वयम्' 'इह' अस्मिन् यज्ञे 'एनम्' 'वज्रिणम्' इन्द्रम् 'अपीपेम' आप्यायामः। हे ऋत्विजः! यूयम् 'अद्य' अस्मिन्नहनि 'सवने' मध्यन्दिनसवने 'तस्मै' इन्द्राय 'सुतम्' अभिषुतम् 'भर' भरत प्रापयत दत्त, अपिच 'श्रुते' श्रुतं विख्यातं तम् 'नूनम्' निश्चयम् 'आ भूषत' आभिमुख्येन अलङ्कुरुत स्तोत्रशस्त्रमन्त्रैरिति यावत्। 'उ' पादपूरणे॥ ७९॥

আমরা ভরসাকরি বিগতকল্য এবং অদ্য এই বজ্রীকে আপ্যায়িত করিতেছি, হে মদীয় ঋত্বিক্গণ তোমরা আজি মধ্যন্দিনসবনে তাঁহাকে সংস্কৃত সোমপ্রদান কর এবং সেই বিখ্যাত দেবকে স্তোত্র শস্ত্র মন্ত্রাবলিতে ভূষিত কর॥ ৭৯॥

इन्द्रवैरूपम्।

५ र १ ३ ५र र
वयमेनाम्। आ२इदा २३४ औहो-
३ ५ १र२र र१
वा। ह्यो २३४ याः। अपीपेमेहवजि-
१ १ ७
णाम्। तास्मा२ उवा२। द्यसवनाइ। सुतं
र १र २ १ २र १
भारा२। आनूना२३भू। षातश्रुते। इडा२३
२ १
भा३४३। ओ२३४५इ। डा॥ ७९॥

इति अष्टमीदशतिः।

नवमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

पुरुहन्मा ऋषिः।

१र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १
यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रि-
२ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १
गुः। विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो
२३२ ३ २
वृत्रहा गृणे ॥८०॥

'यः' 'चर्षणीनाम्' मनुष्याणाम् राजा, 'अध्रिगुः' अधृतं गमनं यस्य अनिरुद्धगमनः 'रथेभिः' रथैः 'याता' गमनशीलः,'यः' 'विश्वासां' सर्वासां 'पृतनानाम्' सङ्ग्रामभूमीनाम् 'तरुता' तरिता तारकः जेतेति यावत् 'वृत्रहा' शत्रुहन्ता तम् 'ज्येष्ठम्' अतिशयेन प्रशस्यम् इन्द्रम् 'गृणे' गृणामि स्तौमि अहमिति यावत् तरुतेति ग्रसितस्कभितेत्यादिना साम्प्रतिकेन सिद्धम् ॥ ८० ॥

যিনি মনুষ্যগণের অধিপতি, যিনি রথগামী, যাঁহার গমন কেহই রোধ করিতে সমর্থ নহে, যিনি সমস্ত সংগ্রামে শত্রুহন্তা বিজেতা, আমি সেই অতিশয় প্রশস্য দেবকে স্তব করি ॥ ৮০ ॥

पौरुहन्मनम्।

५र र २ ४ ४ ५ १ र २ र
यो राजा३चर्षणा३इनाम्। यातारथे।
१ २ १ १ २
भिराध्रा१इगू २ः। आ३इगू २ः। वा३इश्वासा
१ २ १ २ १ २ ४३
३म्। तरुता ३। तरुता ३। पार्त्तांना २३४
५ १ २ र १ २४ २
नाम्। ज्या३इष्ठं यो वा। वाहागा २३४
५ ४ ४
णा३इ। वहा५गृणा३इ। हो५इ। डा ॥८०॥

द्वितीया ऋक्।

भर्ग ऋषिः।

१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १र
मघवं छग्धि तव तन्न ऊतये विद्विषो वि-
२र
मृधो जहि ॥८१॥

हे 'इन्द्र' 'यतः' यस्मात् 'भयामहे' बिभेमो-वयम् 'ततः' तस्मात् 'नः' अस्माकम् 'अभयम्' 'कृधि' कुरु। हे 'मघवन्' 'नः' अस्माकम् 'ऊतये' पालनाय 'तव' मतिं 'शग्धि' साधय, 'मृधः' मृधे सङ्ग्रामे 'विद्विषः' विद्वेषकारिणः 'विजहि' विनाशय ॥ ८१ ॥

হে ইন্দ্র! আমরা যাহা হইতে ভয় পাই তাহা হইতে আমাদিগের অভয় কর। হে মঘবন্! আমাদিগের রক্ষার নিমিত্ত তোমার মতি প্রার্থনীয়, আমাদিগের বিদ্বেষকারিদিগকে সংগ্রামে বিনাশ কর ॥ ৮১ ॥

अभयङ्करम्।

५ २ ४ ५ ४र ५ १ र र
यत आ३इन्द्रा भयामहा३इ। ततो नो
२ १ २ १ २ १र
अभयं का२३र्द्धी। मघवञ्छग्धितवतन्नऊता
२ १ २ १ र २
२३या३इ। विद्वा३इषो२३वी। मा३र्द्धो जहि।
१ २ १
हुवा२३भा३४३। ओ२३४५इ। डा ॥८१॥

तृतीया ऋक्।

इरिमिरि ऋषिः।

१ २ ३ १र २र ३ १
वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणां सत्रं सोम्या

२ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
नाम्। द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामि-
३ १ २ ३ १ २
न्द्रो मुनीनाꣳ सखा ॥८२॥

हे 'वास्तोष्पते' गृहस्वामिन्! त्वमिह जगति 'ध्रुवा' 'स्थूणा' अविचल आश्रयभूतः स्तम्भः, 'सोम्यानाम्' सोमसम्बन्धीनां याज्ञिकानाम् 'अंसत्रम्' कवचम्, 'द्रप्सःपुराम्' रक्षःपुरां 'भेत्ता', 'शश्वतीनां प्रजानां प्रकृतीनाम् 'इन्द्रः' ईश्वरः, 'मुनीनाम्' मननशीलानां 'सखा' ॥ ८२ ॥

হে গৃহস্বামিন্! তুমি এই ব্রহ্মাণ্ডের আশ্রয় অবিচল স্তম্ভ; যাজ্ঞিকগণের কবচের-ন্যায় শরীর রক্ষক, দুরাত্ম-পুরীর ভেদনকারী সমস্ত বস্তুরই ঈশ্বর, মননশীল সাধুগণের সখা ॥ ৮২ ॥

कावषम्।

५र र २ १ २ ३
वास्तोष्पताइ। ध्रुवा। स्थूणा ओ २३४
५ १ २ र १र र २ १ र
वा। अꣳसत्रꣳ सोम्याना२म्। द्रप्सः पुरां
र र २ ३ ५
भेत्ता शश्वता२३इनाम्। आ२३४इन्द्राः।
१ र ऽ ५
मुनी२। ना३१उवा२३। सा२३४खा ॥८२॥

चतुर्थी ऋक्।
जमदग्नि ऋषिः।

३ १ २ ३ १ २ २
बण्महाꣳ असि सूर्य्य बडादित्य म-
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
हाꣳ असि। महस्ते सतो महिमा पनि-
३ १ २ ३ १ २
ष्टम मह्नादेव महाꣳ असि ॥८३॥

हे 'सूर्य' सुष्ठु ईरयितः कर्मसु प्रेरयितः! त्वम् 'वट्' सत्यम् 'महान्' 'असि', हे 'आदित्य' अदितेः पुत्र! त्वम् 'वट्' सत्यम् 'महान्' 'असि', 'सतः' सत्यस्य 'ते' तव 'महिमा' माहात्म्यम् 'पनिष्टम' अतिशयेन पन्यः स्तुत्यः, 'मह्ना' महत्वेन गुणेन हे 'देव' दानादिगुणयुक्त! त्वम् 'महान्' 'असि' इदिति पादपूरणे ॥ ८३ ॥

হে সূর্য্য! (শুভকর্ম্মে প্রেরয়িতঃ!) তুমি যথার্থ মহান্, হে আদিত্য! (অখণ্ডনীয়!) তুমি যথার্থ মহান্, নিত্য স্বরূপ তোমার মহিমা অতিশয় স্তবনীয়, হে দেব! (দানাদি-গুণান্বিত!) তুমি মহান্ ॥ ৮৩ ॥

सूर्यसाम।

५ २ ४ ५र १ र २
बण्महाꣳ ३ असि सूर्य्या। बाडादि-
१ २ ३ ४र २र
त्य। महाꣳ आ१सा२३४इ। महस्ते सतो
४ २र ४ ५ २ २ १ २
महिमापनि। ष्टा३मा। मह्नादा२३इ वा
२ १ ५ ४ ५
३। महो२३४वा। आ५सोईहाइ ॥८३॥

पञ्चमी ऋक्।
देवातिथि ऋषिः।

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
अश्वी रथी सुरूप इन्द्रो माꣳयदिन्द्र
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ते सखा। श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा
३ १ २ २ १र २र
चन्द्रैर्याति सभामुप ॥८४॥

हे 'इन्द्र!' 'यत्' यः 'श्वात्रभाजा' कर्मप्रवृत्तेन 'वयसा' 'सदा' सचते' सेवते आजीवनं त्वामुपासते इति भावः, सः 'ते' तव 'सखा' सखिभूतः अतएव इह 'अश्वी' अश्ववान् 'रथी' रथ-

वान् 'सुरूपः' रूपवान् 'गोमान्' प्रत्येव 'चन्द्रैः' चन्द्रसमकक्षैः सभ्यैः सह 'सभाम्' चन्द्रलोकगताम् 'उप। याति' उपगच्छति ॥ ८४ ॥

হে ইন্দ্র! যে যাবজ্জীবন কর্ম্মে প্রবৃত্ত থাকিয়া তোমার উপাসনা করিতেছে, সে তোমার মিত্র স্বরূপ হইতেছে; অতএব ইহলোকে অশ্ববান্, রথবান্, রূপবান্ গোমান্ থাকিয়া, পরে চন্দ্রসদৃশ সভ্যগণের সহিত চন্দ্রলোকস্থ সভা প্রাপ্ত হইতেছে ॥ ৮৪ ॥

वैश्वदेवम् ।

अश्वी अश्वी । रथी सु३रूपा१ई२त् ।
गोमाᳫ यदिं । द्राते१साखा२ । ख्वाचा२भा-
जा२ । वयसासचते सा२३दा । चन्द्राइर्या३
तो३ । सा २३ भा३म् । ज ३४५ पोईहाइ
॥ ८४ ॥

षष्ठी ऋक्

पुरुन्मा ऋषिः ।

यद् द्याव इन्द्र ते शतᳫ शतं भूमी उत
स्युः । न त्वा वज्रिन्त्सहस्रᳫ सूर्य्या अनु
न जात मष्ट रोदसी ॥ ८५ ॥

हे 'इन्द्र!' 'यद्' यद्यपि 'शतं' 'शतं' 'द्यावः' 'उत' अपिच 'भूमीः' भूमयः 'स्युः' तथापि 'ते' तवैव पालनीया इतियावत्! हे 'वज्रिन्!' 'सहस्रम्' 'सूर्याः' अपि 'त्वा' त्वाम् 'न' 'अनु' अनुरूपं नेत्यर्थः । किञ्च 'रोदसी' द्यावापृथिव्यौ इयमप्येतत् 'जातम्' सृष्टं समस्तं 'न' 'अष्ट' न व्याप्नोति त्वत्सृष्टेः परिधिं न गच्छतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥

হে ইন্দ্র! যদ্যপি শত শত দ্যুলোক ও ভূলোক থাকে তথাপি তোমারই পালনীয়, হে বজ্রিন্! সহস্র সূর্য্য একত্র হইয়াও তোমার অনুরূপ হইতে পারে না, এবং দ্যাবা পৃথিবী উভয় মিলিত হইয়াও ত্বৎসৃষ্ট সমস্ত পদার্থের সীমা প্রাপ্ত হইতে পারে না ॥ ৮৫ ॥

वैरूपम् ।

यद्यावा२३इन्द्र ते शताम् । शतं भूमी-
रुत स्यू२ः । नत्वावज्रिन्त्सहस्रᳫ सूर्य्या अ-
नू२ । नाजा२तामा२३ । ष्टरो२३४वा । दा
५ सोईहाइ ॥ ८५ ॥

सप्तमी ऋक् ।

देवातिथि ऋषिः ।

यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वाहूयसे नृ-
भिः । सिमा पुरूनृषूतो अस्या नवेसि
प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥ ८६ ॥

हे 'इन्द्र!' त्वम् 'यत्' यद्यपि 'प्राक्' 'अपाक्' 'उदक्' 'न्यक् वा' न्यक्च सर्वत इति यावत् 'नृभिः' 'हूयसे', तथापि हे 'प्रशर्द्ध' प्रकर्षेणोत्साहिन् 'सिमा' सिम! सर्वरूप! 'पुरूनृषूतः' पुरुभिः बहुभिः ऋत्विग्लक्षणैः अस्माभिः षूतः प्रेरितः त्वम् 'आनवे' आनवाय अनोरपत्यार्थम् 'असि' किञ्च 'तुर्वशे' तुर्वशाय च राज्ञे 'असि' ॥ ८६ ॥

হে প্রশর্দ্ধ, অনেকরূপী, ইন্দ্র! যদিচ তুমি

পূর্ব্ব পশ্চিম উত্তর দক্ষিণ সর্ব্বদিকেই ঋত্বিক্‌গণ কর্ত্তৃক আহূত হইয়া থাক, তথাপি সম্প্রতি অস্মদাদি বহু ঋত্বিক্ কর্ত্তৃক প্রেরিত তুমি অনুতনয়ের নিমিত্ত এবং তুর্ব্বশ নামক রাজার নিমিত্ত হইতেছ ॥ ৮৬ ॥

नैपातिथम्।

४ ५ ४र १ र र
यदिन्द्र प्रागपाक्। उदाक्। न्यग्वाहू-
२ १र – १र र र र २ १
यसे नृभा२इ:। सिमापुरूनृषूतो अ। सियो
– १ –१ – १ २ १
नवा२इ। आसी२ प्रापा२। षतो वा३ओ
५ ४ ५
२३४वा। वीपू षोईहाइ ॥८६॥

अष्टमी ऋक्।

वसिष्ठ ऋषि:।

२ १र २र ३ १र २र
कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति।
३ १र ३र ३ १ २ ३ २ ३ १र
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्य्ये दिवि वाजी
२र
वाजं सिषासति ॥८७॥

हे 'मघवन्!' यः 'वाजी' अन्नवान् 'पार्य्ये' 'दिवि' पारयितव्य-द्युलोकस्यार्थं 'हि' निश्चयं 'श्रद्धा' श्रद्धया 'वाजम्' सोमलक्षणमन्नम् 'सिषासति' संस्करोति, हे 'इन्द्र!' 'त्वावसो' त्वावसुम् त्वमेव वसु धनं यस्य 'तम्' यजमानम् 'कः' 'मर्त्यः' 'आदधर्षति' जयति ? न कोऽपीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

হে মঘবন্, ইন্দ্র! যে অন্নবান্ দ্যুলোক পাইবার নিমিত্ত প্রকৃত শ্রদ্ধাতে সোম সংস্কার করে, তুমি যাহার ধনস্বরূপ হইয়াছ, সেই যজমানকে কোন্ ব্যক্তি জয় করিতে পারে? কেহই না ॥ ৮৭ ॥

कौमुदम्।

५ –१ – १र र
कस्तमिन्द्रा। त्वा२वासा२उ। आमर्त्यो
२ र १ – १ १र
दधर्षताइ। श्रद्धाहाइते २। माघवन्पा।
२ ^ ३र २र २र २र –
रियाइदा १ इवो २। वाजोवाजा २ म्।
१ १ ^ ३ ५र र २^
सिषा२३। सा२ता २३४ औहोवा। ऊ३२
५
३४पा ॥८७॥

नवमी ऋक्।

भरद्वाज ऋषि:।

१ ३ ३ ३ ३१र २र ३ १ २
इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्य:।
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हित्वा शिरो जिह्वया रारयच्चरत्त्रिंशत्
३ १ २
पदान्यक्रमीत् ॥८८॥

हे 'इन्द्राग्नी' 'अपात्' पादवर्जिता 'इयम्' उषा 'पद्वतीभ्यः' मनुष्यजातिभ्यः 'पूर्वा' प्रथमा 'आ अगात्' आगता (यावन्मनुष्या न प्रबुध्यन्ते तावत्तेभ्यः पूर्वतरमित्यर्थः) 'शिरः' आदित्यं 'हित्वा' परित्यज्य (आदित्यादपि पूर्वमुदिता सतीतिभावः) 'जिह्वया' वाचा 'रारयत्' रारयती अत्यर्थं शब्दं कुर्वती (उषोदयवेलायां पक्षिणः कूजन्ति तद्देवोषस्युपचर्यते 'चरत्' चरन्ती आदित्योदयं प्रतिगच्छन्ती 'त्रिंशत् पदानि' त्रिंशन्मुहूर्त्ताख्यानि स्थानानि 'अक्रमीत्' आक्रान्तवती, एवञ्च उषाकालोगतः एतर्हि आदित्यकालः यागसमयः समुपस्थितः अतोऽत्र युवां प्रकाशयाथामित्याशयः ॥ ८८ ॥

হে ইন্দ্রাগ্নী! পাদরহিত এই উষা পাদবিশিষ্ট মনুষ্যাদি জাতি হইতে প্রথমেই উদয় হইয়াছেন এবং আদিত্য হইতেও পূর্ব্বে

পক্ষিজিহ্বাদ্বারা কূজন করত বিচরণ করিতে করিতে ত্রিংশৎ মুহূর্ত্ত অতিক্রম করিয়াছেন, আদিত্যোদয় হইয়াছে, যাগকাল উপস্থিত, অতএব (একত্রস্থিত) তোমরা এক্ষণে প্রকাশিত হও ॥ ৮৮ ॥

बाच:साम ।

५ र र र ५ १र
इन्द्राग्नी अपादियाई मे । पूर्वा गा२त् ।
१ २ १र ३र १
पद्वताद्र मा१या२: । हित्वा शिरो २ जिह्व
र र ७ १ २
यारा । रापद्वारा२त् । चिंशत्पदा । नि-
१ १ ३ ५र र ३
या२३ । क्रा२मा२३४ औहो वा । ऊ२३४
५
पा ॥८८॥

दशमी ऋक् ।
मेधातिथि ऋषि: ।

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरू-
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
तिभिः । आशंत शंत माभि रभिष्टिभि
१ २ ३ १ २
रास्वापे स्वापिभिः ॥८९॥

हे 'इन्द्र!' 'नेदीयः' अतिशयेन सन्निकृष्टः त्वम् 'मितमेधाभिः' मिता परिमिता यावती देया तावती मेधा यत्र ताभिः 'ऊतिभिः' पालनैः 'आ इहि' आगच्छ । हे 'शन्तम' कल्याणतम ! 'शन्तमाभिः' कल्याणतमाभिः 'अभिष्टिभिः' सोमादि-यागैः करणकैः 'आ' इहीत्यनुकर्षणीयः । हे 'स्वापे सुष्टु अपि व्याप्तिः यस्य तस्य सम्बोधनम् सुव्यापक ! 'स्वापिभिः' सुष्टु आप्तिभिः आत्मीयभावैः 'आ' अत्रापि इहीति सम्बध्यते । अत्र इदित्यनर्थकः ॥८९

হে ইন্দ্র! আমাদিগের অতিসন্নিকৃষ্ট, তুমি, আমাদিগকে যাবৎ মেধা প্রদান করিবা, তাবন্মাত্রের সহিৎ পালন গুণে আগমন কর। হে অতি কল্যাণ স্বরূপ! অতিকল্যাণময় সোমাদিযাগবলে তুমি আগমন কর। হে সু-ব্যাপক! তুমি আত্মীয়তা ভাবে আগমন কর॥৮৯

याम्नम् ।

४ ५ ४र५र ४र ५ ४ ५ ४ ५र र
इन्द्र नेदीय एदि । ह्वाइमितमे । धा ।
२ १र र २ १ र
भिरूतिभिः । आशंता२३मा । शंतमाभि-
२ १ र २ १ २ ४
रभिष्टिभिः । आस्वा२३पे । स्वाऔ३ह्वो३ ।
२ ३
पिभिरो२३४५इ । डा ॥८९॥

दशमदशत्याम् ।

प्रथमा ऋक् ।
नृमेधा ऋषिः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहि-
३ १र २र३ १ २ ३ १ २ ३
तम् । आशुं जेतारं हेतारं रथीतम-
१ २ ३ १ २
मतूर्त्तं तुग्रियावृधम् ॥९०॥

हे 'इन्द्र!' 'इतः' अस्मात् द्युलोकात् 'वः' त्वाम् आह्वयामीति वाक्यशेषः । कस्मै ? 'ऊती' ऊतये । कीदृशं त्वाम् ? 'अजरम्' जरावर्जितम् 'प्रहेतारम्' शत्रूणां प्रकर्षेण नाशयितारम्, 'अप्रहितम्' अप्रतिहतम् 'आशुम्' आशु शीघ्रं 'जेतारम्' शत्रूणाम्, 'हेतारम्' वर्द्धयितारम् यष्टॄणाम्, 'रथीतमम्' अतिशयेन रथवन्तम्, 'अतूर्त्तम्' अहिंसितम् केनचिदपि, 'तु ग्रिया वृधम्' तुग्रिया इत्युदकनाम तस्य सम्बर्द्धनम् पालयितारम् ॥ ९० ॥

হে অজর, শত্রুনাশক, অপ্রতিহত, আশু শত্রুজিৎ, যাজ্ঞিক-বর্দ্ধয়িতা, উৎকৃষ্ট রথী, অবিনশ্বর, উদক-বর্দ্ধন, ইন্দ্র! তোমাকে আত্ম-রক্ষার্থ আহ্বান করিতেছি ॥ ৯০ ॥

प्रहितम् ।

५ र २ १ २ ३ ६
इत ऊती । वो ३ ओजा३राम् । औ३

२ २ २र १ २ २ ३ २
होइवा। प्रहेतारमप्राहोइताम्। औइहो
२ र २र १ २ २
इवा। आयुं जेताराइ७ हा इताइराम्।
२ २ १ र ५
औइहोइवा। रथाइतममतूर्त्ता२३४न्तू।
३ २ १ ३ ५र र . २
ग्रियाइ। वा २ र्डा २३४ औहोवा। स्तुषे १
॥ ९० ॥

द्वितीया ऋक्।

वशिष्ठ ऋषिः।

१र २र ३ १ २ ३ २उ ३ १र २र
मोषु त्वा वाघत श्चनारे अस्मन्निरी-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
रमन्। आरात्ताद्वासधमादं न आगही
२ ३ १र २र
हवासं नुपश्रुधि ॥९१॥

हे इन्द्र! ‘अस्मत्’ अस्माकम् ‘वाघतः’ ऋत्विजः ‘त्वा’ त्वाम् ‘आरे’ अदूरे अन्तिके ‘मा न निरीरमन्’ मान इति द्वावेव निषेधार्थकौ निषेधद्वयेन चावश्यमर्थो लभ्यते, निर्नियमार्थे, रीरमन् इति रमयन्तु इत्यर्थे, तथा च नियमेनावश्यं रमयन्त्वित्यर्थः। ‘वा’,अथवा ‘आरात्तात्’ दूरात् द्युलोकात् ‘नः’ अस्माकम् ‘सधमादम्’ यज्ञम् प्रति ‘आ गहि’ आगच्छ। ‘वा’ अथवा ‘इह’ ‘सन्’ अत्रैव ‘उपश्रुधि’ उपगम्य शृणु स्तुत्यादिकमिति शेषः। उःषु चेति पादपूरणानि ॥ ९१ ॥

হে ইন্দ্র! আমাদিগের ঋত্বিক্‌গণ তোমাকে নিকটেই প্রাপ্ত হইবে, অথবা দূর হইতে তুমি আমাদিগের যজ্ঞে আগমন কর,অথবা এই স্থলেই আছ; আমাদিগের স্তুত্যাদি শ্রবণ কর ॥ ৯১ ॥

आतम्।

५र र १ ३
मोषुत्वावा। घाता २३४५ः। चा २३४
५ २र१र २ ३ १ २
ना। आरे अस्मन्निरी२रमन्। आरा१त्ता

— १ ७ — १ र २ १
द्वा२। साधमादा२म्। ना आगहि। आइ
७ — १ २ १ २
हवासा२न्। उपश्रुधि। इडा२३भा ३४३।
१
ओ२३४५इ। डा ॥९१॥

तृतीया ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सुनोत सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
१ २ ३ १र२र ३ २उ ३ १र
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित्
३ १र१र २र
पृणते मयः ॥९२॥

हे मदीया ऋत्विजः! ‘सोमपाव्ने’ सोमपानकर्त्रे ‘वज्रिणे’ ‘इन्द्राय’ इन्द्रस्यार्थाय ‘सोमम्’ ‘सुनोत’ अभिषुणुत, अपि च ‘पक्तीः’ पक्तव्यानि सवनीयादीनि हवींषि ‘अवसे’ अवः कल्याणम् तत्स्वरूपाय इन्द्राय ‘पचता’ पचत, अपिच ‘कृणुध्वम्’ संस्कुरुध्वम्, अपिच ‘मयः’ मयस्य सुखस्य ‘पृणते’ पूरयित्रे इन्द्राय ‘पृणन्’ पृणत पूरयत। अत्र इत् पदद्वयं पादपूरणार्थकम् ॥ ९२ ॥

হে মদীয় ঋত্বিকগণ! সোমপানকারী বজ্রী ইন্দ্রের নিমিত্ত সোম অভিষুত কর। সেই কল্যাণস্বরূপ দেবের নিমিত্ত পক্তব্য সবনীয়াদি হবি সকল পাক কর এবং সংস্কার কর। সেই সুখ পূরয়িতা দেবের নিমিত্ত পানপাত্র পূর্ণ কর ॥ ৯২ ॥

गौरीवितम्।

५ र र र ५ १र
सुनोत सोमपाव्ना ६ ए। सोममिन्द्रा
१ २ २ १ २ १
२३। होवा३हा। यवज्रा२३इ णाइ। पच-
२र १ २र १ २ २
ता पक्ताइरवसेक्र। णुध्वा १मी २३ त्वाइ।
१ २ २ १ २
इ। णान्। आइत्पृ३हा। णताइमा २३ या
१
३४३ः। ओ२३४५इ। डा ॥९२ ॥

चतुर्थी ऋक्।

संयुऋषिः।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तꣳहूमहे
३२ १२ ३ १ २
वयम्। सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा
३ १ २ ३ २
समत्सु नो वृधे ॥९३॥

'यः' देवः 'सत्राहा' (सत्रेति सदापर्य्यायः) सदा शत्रुहन्ता अपिच 'विचर्षणिः' विशेषेण द्रष्टा सर्व्वस्य जगतः 'तम्' 'इन्द्रम्' 'वयम्' 'हूमहे' आह्वयामः। हे 'सहस्रमन्यो' बहुदीप्त! 'तुविनृम्ण' बहुबल! 'सत्पते' सतां पालयितः! इन्द्र! 'समत्सु' समेषु सर्व्वत्र 'नः' अस्माकम् 'वृधे' वर्द्धनाय 'भव' ॥ ९३ ॥

যে দেবতা সর্ব্বদা শত্রুহনন করিতেছেন, যিনি সমস্ত জগৎ বিশেষ রূপে দেখিতেছেন, সেই ইন্দ্রকে আমরা আহ্বান করিতেছি। হে বহুপ্রদীপ্ত, অসীমবল, সাধু-রক্ষক, ইন্দ্র! আমাদিগের বর্দ্ধনার্থ সর্ব্বত্র উপযুক্ত হও; অর্থাৎ সকল সময়ে সকল স্থানেই আমাদিগের উন্নতি কর ॥ ৯৩ ॥

वामदेव्यम्।

२ ४र ३र ४ ५ २
यः सत्राहा विचर्षणीः। इन्द्रं ताꣳ३ꣳ
४र ५ ५र ५ १ र २ १र
हूम हेवयाम्। इन्द्रं तꣳ हूमहे वा २३
२ १ र २ १ २
याम्। सहस्रमन्योतु विनृम्णसत्या२३ताइ।
१र २ १ र २ र १ २
भवासा२३मा। त्सूनोवृधे। इडा २३भा३४
१
३। ओ२३४५इ। डा ॥९३॥

पञ्चमी ऋक्।

पुरुच्छेप ऋषिः अश्विनौ देवते।

१ २ ३ २ ३ १ २
शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिश-
१ २ ३ १ २र ३ २ ३
स्यतम्। मा वाꣳ रातिरुपदसत्कदा च
२उ ३ २ ३ २ ३ २
नास्मद्रातिः कदाचन ॥९४॥

हे 'शचीवसू! शचीति कर्म्मनाम कर्म्मधनौ अश्विनौ देवौ! 'शचीभिः' यागादिकर्म्मभिः उपायभूतैः 'दिवा' अह्नि 'नक्तम्' रात्रौ 'दिशस्यतम्' दयतेर्दानकर्म्मणः एतद्रूपम् दास्यमानम् यद् यद्, तत् तत् वयम् प्रार्थयाम इति यावत्। 'वाम्' युवयोः 'रातिः' दानम् तत् 'कदाच' कस्मिन्नपि 'मा उपदसत्' तसु दसु उपक्षये इत्येतस्य रूपम् मा उपक्षैषीः, किञ्च 'अस्मद्रातिः' अस्माकं यत् किञ्च न विप्रादिसम्प्रदानकं दानम् तदपि 'न' 'कदाचन उपदसत् मा उपक्षैषीरित्यर्थः ॥ ९४ ॥

হে কর্ম্মধন দেবযুগল! যাগাদি-কর্ম্ম-ফলে দিবারাত্রে যাহা কিছু আমাদিগকে দেয় হইবে তাহাই আমরা প্রার্থনা করিতেছি। তোমাদিগের নিয়মিত দান আমাদিগের পক্ষে যেন কখন উপেক্ষিত না হয় এবং আমরা যে দান করিয়াথাকি তাহাও যেন তোমার উপেক্ষিত না হয় ॥ ৯৪ ॥

आश्विनम्।

४र र ४ १ र
शचीभिर्नीꣳ शचीवसू। दिवा नक्तं
२ १ १ २
दिशस्यताम्। मावा२म्। रातिरुपदसत्क-
१र १ २ १ ५
दाचना। आस्मा२त्। रातिः कदो२३४वा।
४ ५
चापूनोइहाइ ॥९४॥

षष्ठी ऋक्।

वामदेव ऋषिः वरुणो देवता।

२२ २ १ २ २ १ २ २ १ २ २
यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत
१ २ १र २र २ १ २ २ २ २ २
मर्त्यः। आदिद्वन्देत वरुणं विपा गिरा
२ २ २ १ २
धर्त्तारं विव्रतानाम्॥९५॥

'स्तोता' 'मर्त्यः' स्तुतिचमोमानवः 'मीढुषे' वृष्ट्याद्यर्थम् 'यदा कदा च' यस्मिन् कस्मिन्नपि काले 'विव्रतानाम्' विशेष व्रतानां काम्यानां कारीर्य्यादि यागानाम् 'धर्त्तारम्' पोषयितारम् 'वरुणम्' देवम् 'पिवा गिरा' निर्मलवाचा 'जरेत' स्तुवीत अपिच 'वन्देत' नमेत्। आत् इत्-इति द्वौ पादपूरणौ एतदुक्तं भवति—यथा अग्निष्टोमादौ ब्राह्मणादि वसन्तादिकाल इति कालनियमः, काम्ये कर्मणि इष्टियागादौ न तथा; इह तु यदा वर्षणं वाञ्छनीयम् तदैव तदनुष्ठेयमिति॥ ९५॥

স্তুতিশীল ব্যক্তি বৃষ্টির আবশ্যক হইলে যে কোন সময়েই হউক, যাগাদির পোষক বরুণ দেবকে নির্ম্মল বাক্যদ্বারা স্তব বন্দনা করিবে অর্থাৎ বৃষ্ট্যাদির নিমিত্ত অনুষ্ঠেয় কারিরী প্রভৃতি কাম্য যাগের কালনিয়ম নাই বসন্তাদি সকল ঋতুতেই ঐ যজ্ঞানুষ্ঠান করিতে পারাযায়॥ ৯৫॥

पञ्चम्।

५ र १ २ ५र र २
यदाकदा। चा२मा२३४औहोवा। ढू२३४
५ २र १र २र १ २ १ २
षो स्तोता जरेत मर्त्तियाइः। आदिद्वन्द।
१ ७ २ २ २ २ १ २र
तावरुणा२२४म्। विपा ३४ गिरा। धार्त्ता
१ १ २ ५र र २ १ १ १ १
रावी२३। व्रा२ता२३४औहोवा। ना२३४५
म्॥ ९५॥

सप्तमी ऋक्।

वत्स ऋषि; इन्द्रो देवता।

२ १र २र २ २ २ १ २
पाहिगा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्या-
१र ०२र २ २ २ १ २ २ २ २ १ २
तिथे। यः समिस्लो हर्य्योर्योहिरण्यय इन्द्रो
२ १ २ २ १ २
वज्री हिरण्ययः॥९६॥

हे 'मेध्यातिथे' मेधो यज्ञः तत्र भवः मेध्यः मेध्यश्चासावतिथिः मेध्यातिथिः तस्य सम्बोधनम् 'इन्द्राय' (सम्बुद्ध्यर्थे चतुर्थी) इन्द्र! 'मदे' मोदाय अस्माकमिति यावत् 'गाः' पशून् 'अन्धसः' अन्नाञ्च 'पाहि' रक्ष कस्त्वमित्याह—'यः' त्वम् 'हर्य्योः' अश्वयोः 'सम्मिस्लः' स्वकीये रथे अश्वयोः सम्मेलयिता, समीप-गमनार्थमितिभावः, 'यः' त्वम् 'हिरण्ययः' हिरण्यसदृशो दीप्तः, 'इन्द्रः' इन्द्र इति प्रसिद्धः 'वज्री' वज्रायुधः 'हिरण्ययः' वरणीयः स इति॥ ९६॥

যে দেব যজ্ঞ-সমীপে গমনার্থ স্বরথে স্বয়ং অশ্বদ্বয় যোজনা করেন, যিনি হিরণ্ময়, যিনি ইন্দ্রনামে প্রসিদ্ধ, যিনি বজ্রায়ুধ, যিনি বরনীয় সেইযজ্ঞীয় অতিথি, ইন্দ্র! তুমি আমাদিগের আমোদ রক্ষার নিমিত্ত অন্ন ও গোসকল রক্ষা কর॥ ৯৫॥

सौभरम्।

४र ५ र ४ २ १र २ १
पाहिगाआ। धसोमा २३ दाइ। आ
र २ र १र २ १ २र
इन्द्राय मे। धियाता२३इथाइ। यः सम्मिस्लो।
१ २र १ ७ १
हरियोर्यः। हायि रण्याया २ः। आइन्द्रो
२ २ २ १ ५ ४
वा३ज्री३। हिरो २३४ वा। ण्या ५ यो ई
५
हाइ॥९६॥

(टी०) 'मोहजालस्य' अविवेकसमूहस्य 'योनिः' 'कारणं' 'हि' प्रसिद्धौ 'मूढैः एव' सह 'समागमः' संयोगः। 'अहनि अहनि' प्रतिदिनं 'साधुसमागमः' 'धर्म्मस्य योनिः'। तस्मादुज्झित्वाऽसाधुसङ्गतिं धर्म्मेप्सुभिर्नित्यं सद्भिरेव समागमः कर्त्तव्य इति वाक्यार्थः॥ ४॥

(ता०) साधुसङ्गाद्धर्मो लभ्यते, असाधुसङ्गात् मोहमात्रमुत्पद्यते; साधुसङ्गोहेतुरुन्नतेः, असाधुसङ्गोऽधःपतनस्य निदानम्; साधुसङ्गेन जीवनं लभ्यते, असाधुसङ्गो मृत्युमुखे निपातयति; साधुसङ्गे स्थिते ईश्वरे भक्तिःश्रद्धा च वर्द्धते, असाधुसमागमेतु संशयोऽविश्वासस्य समुत्पद्य मनुष्यमीश्वरतो दूरीकरोति। असाधूनामालापएव धर्मबन्धनं शिथिलयति। असाधुसंसर्गेण पापेच्छया धर्मश्रद्धाच मन्दीभवति। अतो धर्मार्थी जनः असाधुसङ्गं परिहृत्य अहरहः साधुसङ्गं सेवेत। यत्सङ्गात् नीचकामना नीचभावश्चोत्पद्यते तत आत्मानं रक्षेत्। परं कमपि कदापि न द्वेषयेत्। साधुतात्मनिर्मलनद्याः प्रस्रवणस्वरूपेण तेन मङ्गलमय पुरुषेणावस्थित्य तच्छुभाभिप्रायान् साधयितुं सर्वत्र सञ्चरेत्॥ ४॥

६७

(मू०) यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते। सदीर्घसूत्रोहीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते॥ ५॥

(टी०) 'यः तु' नरः 'निःश्रेयसं' श्रेयोविधायकं 'वाक्यं' 'मोहात्' अविवेकवशात् 'न प्रतिपद्यते' न गृह्णाति। 'सः' 'दीर्घसूत्रः' कर्म्मजड़ः 'हीनार्थः' त्यक्तपुरुषार्थः सन् 'पश्चात्' 'तापेन' 'युज्यते' युक्तो भवति॥ ५॥

(ता०) यस्य कस्यचित् सुखतः कल्याणकरं वचः शृण्वन्नेव गृह्णीयात्, अभिमानवशान्न तद्ग्राह्यं कुर्यात्। यत्कर्त्तव्यम् तत् सत्वरमेव सम्पादयेत्, दीर्घसूत्रः सन् कालविलम्बं न कुर्यात्। हितवचने अवहेलनं, कर्त्तव्ये च कर्मणि दीर्घसूत्रता अनुताप मात्रस्य कारणम्॥ ५॥

६८

(मू०) सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्त्तते मते। शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो न चिरादिव॥ ६॥

(टी०) 'यः' 'सतां' 'मतं' अभिप्रेतं 'अतिक्रम्य' 'असतां' 'मते' 'वर्त्तते'। 'तस्य' 'व्यसने' विपदि 'सुहृदः' तन्मित्राणि 'न चिरादिव' अचिरेणैव कालेन 'शोचन्ते'॥ ६॥

(ता०) साधूनां वचनं गृह्णीयात्, असाधूनां वचः परित्यजेत्। येषां वाक्येऽपिच कार्येऽकपटधर्मनिष्ठा प्रतीयते तएव साधवः। साधूनामुपदेशमवमत्य विपन्नः सन् सुहृदः शोकाकुलान् न कुर्यात्। ये न केवलं दुःखदर्शनाद् दुःखी अपितु त्वां सुखिनं दृष्ट्वा सुखीनो भवन्ति तएव तव सुहृदः, तेषां शोकं तुच्छं न कुर्याः॥ ६॥

६९

(मू०) अविसंवादकोदक्षः कृतज्ञोमतिमानृजुः। कीर्त्तिञ्च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते॥ ७॥

(टी०) यस्तु 'अविसंवादकः' अविवादी 'दक्षः' कुशलः 'कृतज्ञः' कृतोपकारस्मरणधर्म्मवान् 'मतिमान्' ज्ञानवान्। 'ऋजुः' शाठ्यरहितः। सः 'लोके' 'कीर्त्तिं च लभते' 'न च' 'अनर्थेन' अकार्य्येण 'युज्यते'॥ ७॥

(ता०) केनापि सार्कं न विवदेत; ईश्वरस्य मङ्गलभाव मादर्शं प्रकृत्य क्रोधं सम्पूर्णयात्, मैत्री-

एवान्येन सह व्यवहारस्य नियामिकी भवति। यदा यत्र कार्य्ये प्रवृत्तः स्यात्, तदा तत् नैपुण्येन सम्पादयेत्; अपिच सर्व्वस्मादेव कार्य्यात् नैपुण्यं शिक्षेत; तथाच कार्य्यस्योत्कर्षः स्वकीयोन्नतिश्च भविष्यति। उपकारिणि कृतज्ञः स्यात्, केनचित् सामान्योपकारे कृतेऽपि न तद् विस्मरेत्; ईश्वरः कार्य्यस्य परिमाणं न करोति अपितु सदिच्छायाः परिमाणानुसारेण पुरस्कारं ददाति; अतस्तद्धितसाधनाय कस्यापीच्छामात्रे एव हृष्टे कृतज्ञः स्यात्। बुद्धिं मार्जयेत् वाक्यव्यवहारेऽपि सारल्यं विदध्यात्॥ ७॥

७०

(मू०) कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखं। अश्रद्धेयः कृतघ्नोहि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ ८॥

(टी०) कृतघ्नं कुत्सयन्नाह। 'कृतघ्नस्य' 'कुतः' 'कुत्र' 'यशः' तथा 'कुतः स्थानं कुतः सुखं'। 'कृतघ्नः' 'अश्रद्धेयः' श्रद्धानर्हः 'हि' प्रसिद्धौ 'कृतघ्ने नास्ति' 'निष्कृतिः'॥ ८॥

(ता०) कृतज्ञताया विपरीतः कृतघ्नता। योऽन्यकृतमुपकारं प्रगृह्यापि तदर्थं स्वहृदये कृतज्ञतां नानुभवति उपकृतोऽपितमुपकारं मनसा न मनुते, अन्यकृतं महोपकारमपि लघुमवगच्छति; अपिवा उपकारिणः समुदयभावं विस्मृत्य अपकारं कामयति, साधवस्तंनराधमं पामरमिति परिगणयति॥ ८

इति।

नवमोऽध्यायः।

७१

(मू०) संविभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान्नरः। भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते॥ १॥

(टी०) सर्व्वाणि संविभज्य भक्ष्यपेयानि द्रव्याणि यो भुंक्ते सः 'संविभक्ता' 'च' 'दाता च' देयानां वस्तूनां। 'भोगवान्' भोगी तथा 'सुखवान् नरः' 'अहिंसकः च एव' यः 'भवति' सः 'परं' 'आरोग्यं' अनामयं 'अश्नुते' भुंक्ते॥ १॥

(ता०) सर्व्वेषां प्रतिपालकः परमेश्वरः भक्ष्यपेयादिकं यत्किञ्चन भोग्यवस्तु प्रदास्यति, पितृमातृ-भ्रातृ-भगिनी-पुत्र-कलत्र-बन्धु-बान्धव-दासदासीत्येवमादिकं वञ्चनामकुर्व्वन्तत् यथायोग्यं सर्व्वैः सम्मील्य विभज्य भुञ्जीत, अशन-वसनादिके कस्मिन्नपि भोग्ये आत्मम्भरिर्न भवेत्। समस्तमेव स्वभोगार्थमागतमिति न विविच्यात्, प्रत्युतावश्यपोष्याणामाश्रितानाञ्चाभावं परिपूर्य्य, दुःखभाराक्रान्तेभ्यो दीनेभ्यो दानं कुर्य्यात्। आत्मानमपि भोगसुखतो न वञ्चयेत्, कृपणतां विलासिताञ्च परित्यज्य धर्म्मसाधनबुद्धिश्च स्वस्वशरीरं मनश्च धर्म्मानुमोदित भोगसुखादिभिः परिपोषयेत्। न कमपि विद्विषेत्॥ १॥

७२

(मू०) पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च। अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलं॥ २॥

(टी०) 'पात्रस्य हि' 'विशेषेण' तारतम्यमपेक्ष्य तथा दातुः 'श्रद्दधानतया' श्रद्धावत्तया 'एव च'। 'दानस्य' 'अल्पं वा बहु वा' 'फलं' 'प्रेत्य' लोकान्तरे 'अवाप्यते' प्राप्यते॥ २॥

(ता०) अल्पं वा भवतु अनल्पं वा भवतु यत्किञ्चन दातुं शक्येत तच्छ्रद्धया सत्पात्राय प्रय-

च्छेत्। दातुः श्रद्धां पात्रस्योपयुक्ततां चानुसृत्य दानजनित पुण्यस्य तारतम्यो भवति। याचका-त्त्यजन्तीतिधिया विरक्तो यत् किमपि ददाति तेन याचकात्युक्तित एव मुक्तिमाप्यते, न तद् धर्म्मः इति परिगण्यते। यस्मै दत्ते आलस्ये-ऽसत् कर्म्मणि वा उत्साहदानं सम्पद्येत, तस्मै दानमपि नहि धर्म्मानुमोदितम्। यस्तु सत्यमेव अभावनिपीड़ितः दातृणामनुग्रह एव यस्यैकं शरणम्, सएव दानस्योपयुक्तपात्रः; तादृशे सत्-पात्रे यथासाध्यं श्रद्धया दानं विधेयम् ॥ २ ॥

७३

(मू०) दानान्न दुष्करं तात पृथिव्या-मस्ति किञ्चन। अर्थे च महती तृष्णा सच दुःखेन लभ्यते ॥ ३ ॥

(टी०) तात इति स्नेहसम्बोधनं हे 'तात' 'दानात्' दानमपेक्ष्य 'दुष्करं' कर्म्म 'पृथिव्यां' 'न' 'अस्ति' 'किञ्चन' किञ्चिदपि। 'च' शब्दोहेत्वौ यस्मात् 'अर्थे' लोकानां 'महती' अतीव 'तृष्णा' 'सः च' अर्थस्य 'दुःखेन लभ्यते' ॥ ३ ॥

(ता०) अतहि पृथिव्याम् प्रायः सर्व्वएव जनाः धन-तृष्णया व्याकुलाः सञ्चरन्ति, धनमपि नानाया सलभ्यम्। बह्वायासेन बहुक्लेशेन च धनमुपा-र्जितम् भवति, तथाच यत न कथमपि बाध्यता नापि कश्चन स्वार्थः तत्रार्थदानं यो धर्म्ममात्समर्थयते, न तदतिरिक्तः कोऽपि शक्यते कर्त्तुम्; अतएव दानं दुष्करं कर्म्मेति कीर्त्यते। यः परमबन्धु-पर-मेश्वरस्य प्रियकार्यसाधनोद्देशेनार्थमुपार्जयति, यो न केवलमर्थार्थमेव अर्थे प्रणयं बध्नाति, सएव निःस्वार्थो दानधर्म्म मनुतिष्ठन् कृतपुण्यो भवति ॥ ३ ॥

७४

(मू०) अन्यायात् समुपात्तेन दानध-र्म्मोधनेन यः। क्रियते न सकर्त्तारं त्रायते महतोभयात् ॥ ४ ॥

(टी०) किन्तु 'अन्यायात्' 'अन्यायेन 'समुपात्तेन' 'संगृहीतेन 'धनेन' 'यः' 'दानधर्म्मः' दानलक्षणो धर्म्मः। 'क्रियते' । 'न' 'सः' दानधर्म्मः 'कर्त्तारं' दातारं 'महतः भयात्' पापलक्षणात् 'त्रायते' रक्षति ॥ ४ ॥

(ता०) दानार्थमन्यायेन धनं नोपार्जयेत्, तादृ-शदानेन पुण्यं न लभते, प्रत्युत तथाकृतेऽन्यायजनित पापौघे पतन् निरययन्त्रणामुपस्थास्यति। अतो यदि धनदाने सामर्थ्यं न स्यात् तर्ह्यन्यान्योपाय-शतैः दुःखिनां दुःखमोचने प्रवृत्त स्तिष्ठेत्, अन्यायेन न कदापि धनमाहरेत् ॥ ४ ॥

७५

(मू०) न्यायोपार्ज्जितवित्तेन कर्त्तव्यं ज्ञानरक्षणं। अन्यायेन तु योजीवेत् सर्व्व-धर्म्मवहिष्कृतः ॥ ५ ॥

(टी०) यतएवमतः 'न्यायोपार्ज्जितवित्तेन' न्या-यप्राप्तधनेन 'ज्ञानरक्षणं' 'कर्त्तव्यं' ज्ञानवता। अ-न्यायेन तु यः' 'जीवेत्' वर्त्तेत सः 'सर्व्वधर्म्मवहि-ष्कृतः' सर्व्वस्माद्धर्म्मान्निराकृतः ॥ ५ ॥

(ता०) स्वजीविकां निर्व्वाहयितुमवश्यपोष्य-परिवारवर्गं प्रतिपालयितुञ्चान्यायेन धनं नोपा-र्जयेत्। न्यायान्याय विवेकार्थमीश्वरो यत् किञ्चन धर्म्मज्ञानमददत्, तदीयादेश-प्रतिपालनमस्मात् क्षणभङ्गुर जीवनरक्षणादपिज्यायः। यद्यन्यायेन जीवनं निर्व्वाह्यं भवेत् तर्हि तद् जीवनं वस्तुतो-मृत्युः, किञ्च यदि न्यायपथरक्षणानुरोधेन मृत्युरे-वोपतिष्ठेत तर्हि समृत्यु रस्माकं जीवनम् ॥ ५ ॥

७६

(मू०) शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्म्मनित्यता। यथार्हं प्रतिपूजा च सर्व्वभूतेषु वै सदा॥ ६॥

(टी०) 'शक्त्या' आत्मनोयथाशक्तिस्तया 'अन्नदानं सततं' 'तितिक्षा' द्वन्द्वसहनं 'धर्म्मनित्यता' धर्म्मे नित्यानुष्ठानभाव:! 'यथार्हं' यथायोग्यं 'वै' एव 'सर्व्वभूतेषु' 'सदा' 'प्रतिपूजा च'। एतत् सर्व्वं कार्य्यमित्यर्थ:॥ ६॥

(ता०) क्षुत्क्लेशेन मानवस्तूर्णमेवासहिष्णुर्भवति। सांसारिकविविधज्वालां सहित्वापि मनुजो जीवति, परमन्नाभावेत्वविलम्बं मृत्युमुखे निपतति, अत: पुरस्तात् क्षुधार्त्तेभ्योऽन्नं दद्यात्। ईश्वरो यमुद्दिश्य परस्पर विरुद्धं शीतग्रीष्मादिकमसृजत्, तमेवोद्दिश्य सुख-दु:खादिकञ्च प्रैरिरत्; अतस्तितिक्षामभ्यस्येत; सहिष्णुताभ्यासे सति यत्सैव्यं यत् त्याज्यम् तत्पार्थक्येन निश्चितुं शक्येत; यत् प्रतिविधेयम् तत्प्रतिविधाने सामर्थ्यमुत्पत्स्यति, यदप्रतिविधेयं तत्रातिक्लेशश्च नोत्पत्स्यति। अहरह ईश्वर माराधयेत्, कल्याणकरं धर्मञ्च नित्यं सञ्चिनुयात्। गुरुजनेषु स्नेहविनिमयेन भक्तिं विदध्यात्, बन्धुजनेषु प्रीतिविनिमयेन प्रीतिं प्रदर्शयेत्, स्नेहास्पदेषु भक्तिविनिमयेन स्नेहं प्रयुञ्ज्यात्। उदासीनं वा आत्मीयं वा सर्वमेव यथायोग्यं प्रतिपूजयेत्॥ ६॥

७७

(मू०) देयमार्त्तस्य शयनं परिश्रान्तस्य चासनं। तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनं॥ ७॥

(टी०) दानविशेषमाह। 'आर्त्तस्य' पीड़ितस्य 'शयनं' शय्या 'देयं' तथा 'परिश्रान्तस्य च आसनं'। 'तृषितस्य च' 'पानीयं' जलं 'क्षुधितस्य च भोजनं'॥ ७॥

(ता०) यस्य यत्किञ्चन प्रयोजनीयम् तस्मै तदेव दद्यात्। तदेवं समयोचितदानेन प्रतिग्रहीता प्रकृतोपकारमाप्नोति दाताच द्विगुणं फलं लभते। अतो यस्य यदभाव: तस्मै तदेव दद्यात्, ईश्वरोऽस्मभ्यमेवमेवददाति॥ ७॥

७८

(मू०) अन्नद: सुखमाप्नोति सुतृप्त: सर्व्ववस्तुषु। भूमिदानात् परं नास्ति विद्यादानं ततोऽधिकं॥ ८॥

(टी०) 'सर्व्ववस्तुषु' मध्ये 'अन्नद:' अन्नस्य दाता 'सुतृप्त:' सन् 'सुखं' 'आप्नोति' प्राप्नोति। 'भूमिदानात् परं न अस्ति' 'विद्यादानं' तु 'तत: अधिकं'॥ ८॥

(ता०) अर्थएव दानस्य पदार्थ:—एवं न जानीयात्। अन्नदानं तत्क्षणमेव सुतृप्तं करोति; भूमिदानस्यातिमहत् यतस्तद्दानं चिरेण वयं भवति; विद्यादानं सर्व्वत: श्रेष्ठम् तथाहि ग्रहीतुरैहिकं पारत्रिकञ्च कल्याणं सम्पद्यते॥ ८॥

७९

(मू०) औषधं पथ्यमाहारं स्नेहाभ्यङ्गं प्रतिश्रयं। दानान्येतानि देयानि ह्यन्यानि च विशेषत:। दीनान्धकृपणादिभ्य: श्रेयस्कामेन धीमता॥९॥

(टी०) 'औषधं पथ्यं आहारं' 'स्नेहाभ्यङ्गं' तैलाभ्यङ्गं 'प्रतिश्रयं' आश्रयं। 'दानानि एतानि' 'हि अन्यानि च विशेषत:' 'श्रेयस्कामेन' श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणा 'धीमता' 'दीनान्धकृपणादिभ्य:' 'देयानि'॥ ९॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

ब्रह्माण्डकारङ्करणाद्यखिलप्रपञ्चाश्रयसिद्धं समशक्तिमन्तम् । बोधाब्धिवेद्यम्ननेन मान्यं वन्देहमोशञ्जगदेकबन्धुम् ॥
सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधबर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [June, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२४सङ्ख्या

NOTICE

Sanscrit Scholars are aware that several commentaries are in existence on the Vedanta aphorisms, totally differing from each other. Similarly, there are disvergent commentaries on the Nyaya, Bhakti, Yoga &c, I have resolved to publish the four principal commentaries (Bhashyas on the Sutras by monthly issue of 8 pages each of large paper and in clear types. Annual subscription in advance with postage, Rs. 12.

Gentlemen wishing to subscribe to this valuable Magazine are requested to send their subscriptions or notice of their intentions, for unless 100 subscribers are secured, it cannot be started.

Benares
February,
1870. *HARISCHUNDRA*

विज्ञापनम्

जानन्त्येतत्संस्कृतविद्यानुरागिन:—वेदान्तसूत्रस्य सन्ति बहूनि व्याख्यानानि तानि च परस्परं विभिन्नाभिप्रायसमर्पकाणि, तथैव न्याय-भक्तियोगादि सूत्राणामपि; परमनल्पक्षोभणीयएषः तानि सर्वाण्येवैतर्हि प्रायोलुप्तकल्पानि, अतस्तेषामाविष्कर्त्तुमुद्यतः सूत्रभाष्यचतुष्टयमयीं द्वात्रिंशत्पृष्ठात्मिकां मासिकपत्रिकां प्रचारयितुमीहेऽधुना अक्षरं शोधनादिकञ्च तस्या उत्कृष्टमेव भव्यम्. मूल्यं प्रेरणव्ययसमेतं (१२) द्वादशमुद्राऽग्रिमम् वार्षिकम् ।

ग्राहकशतमन्तरा नतदारम्भः सम्भाव्यते, अतोऽद्य येषामेषापूर्वपत्री ग्राह्या भवेत्, तेऽनुकम्पया निर्द्दिष्टमूल्यं सम्मतिपत्रं वा प्रेरयन्तु सत्वरम् ।

काशी-चौखाम्बा-निवासी. श्रीहरिश्चन्द्रः ।

वैदिकसमालोचना ।

(२३ संख्या या अनन्तरम् ।

इत्यञ्च सामवेदे गानानि चत्वारि, तदतिरिक्तानि सामानि त्रीणि, आर्च्चिकाश्चत्वारः, पदग्रन्थाश्चत्वारः, स्तोभएकः, इत्येते षोड़शग्रन्थाः मन्त्रभागीयाः । तदेतेषु ऋग्भेदाः पञ्चसामभक्तय पञ्च हिङ्कारप्रणवौ, वाक्यस्तोभो नवविधः, पदस्तोभो पञ्चदशेति षट्त्रिंशत् प्रकारा मन्त्रा आम्नाता: । तदेतत् समस्तं सोदाहरणं स्फुटं दर्शयाम: —

বৈদিকসমালোচনা ।

(৩৩ সংখ্যার পর)

এইরূপে সামবেদের মন্ত্রভাগে ৪ গান, ৩ সাম, ৪ আর্চ্চিক, ৪ পদ, ১ স্তোভ—এই ১৬ খানি গ্রন্থ গৃহীত হইয়া থাকে। ইহার মধ্যে ঋক্ পাঁচ প্রকার, সামের ভাগ পাঁচ প্রকার, হিঙ্কার, প্রণব, বাক্যস্তোভ ৯ প্রকার পদস্তোভ ১৫ প্রকার—এই ৩৬ প্রকার মন্ত্র শ্রুত হইয়া থাকে। তৎসমস্ত উদাহরণের সহিত দেখান যাইতেছে—

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी । कलिकातायां नूतन संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

तथाहि

१—प्रैषाः	अनुज्ञायकाः	ऋचः	" देव्याः सवितार आरभ्भ "	इत्येवमादयः
२—करणाः	स्वव्यापारभाषकाः	,,	" इदमहमावसोः सदने सीदामि "	इत्येवमादयः
३—क्रियमाणानुवादिनः	यथायथ कथनात्मिकाः	,,	" युवा सुवासाः परिवीत आगात् "	इत्येवमादयः
४—स्तुतय	स्तोत्रशस्त्र * गताः	,,	" ब्रह्मस्नानम् " " आत्मारणम् "	इत्येवमादयः
५—जपानुवचनगताः	ध्यान प्रार्थनाह्वानादयः	,,	" तदद्यवाचं प्रथमंमशीयं "	इत्येवमादयः।

इति पञ्चऋग्भेदाः।

१—प्रस्तावः	साम्नः प्रथमाभक्तिः †	प्रस्तोत्रागेया	" अग्न आयाहि वीतयोम्"
२—उद्गीथः	साम्नो द्वितीयाभक्तिः	उद्गात्रागेया	"ॐ गार्णानाहव्यदातायाऽयिनिहोतासत्सिवा १२१२
३—प्रतिहारः	साम्नस्तृतीयाभक्तिः	प्रतिहर्त्रागेया	"हुम् आ-२"
४—उपद्रवः	साम्नश्चतुर्थीभक्तिः	उद्गात्रा गेया	"हौयिषो"
५—निधनम्	साम्नः पञ्चमीभक्तिः ¶	सर्वैर्युगद्गेया	"आ३४५" (गायत्रं सामैतत् ‡)

इति पञ्चसामभक्तयः।

१—हिङ्कार	गानारम्भकाले सर्वैः ऋत्विग्भिः कार्य्यः	" हुम् "	इत्येवम्।
२—प्रणवः	हिङ्कारमारभ्य निधनपर्य्यन्तं यजमानेन सततं गेयम्	" ओऽम् "	इत्येवम्।

इति द्वौप्रयोगगतौ।

१—आशास्तिः	" अगन्मज्योतिरभूता अभूम "	५—परिदेवनम्	"यदिन्द्राहं यथात्वम् "
२—स्तुतिः	" नमोह्नाय नमोह्नपतये "इत्यादिः	६—प्रैषम्	"समत्रिणं दह "
३—संख्यानम्	" येदेवादेवाः दिविषदः अन्तरिक्षसदः पृथिवीषदः "-इत्यादि	७—अन्वेषणम्	"विश्वेषांदेवानां समिदजस्रंज्योतिराततम्"
		८—सृष्टि	"प्रजाभूतमजीजने"
४—प्रलय	" एतत् संख्यानं रिशास इन्द्र "	९—आख्यानम्	"द्यौरक्तानुभूमिराततनत्समुद्रमसचुक्रुपत"

इति वाक्यस्तोभगतानव।

१-हाउकारः	भूः	देवता	'हाउ" "आउ"	१०-स्वरः	प्राणः	देवः	"आ" 'औ' 'इ' 'उ'
२-हाइकारः	वायु	,,	'हाइ" "आइ"	११-या	अन्नम्	,,	"या" 'वा' 'हा'
३-अथकारः	चन्द्रमाः	,,	"अथ"	१२-वाक्	विराट्	,,	"वाक्"
४-इहाकारः	आत्मा	,,	"इहा"	१३	संस्तादः	०	"हुम्हुम्हुम्' 'य' 'हे' 'दे' धे' 'व' 'व"
५-ईकारः	अग्निः	,,	"ई"		निगारः	०	'"किट् किट् किट्" 'म' 'मा' 'हो' 'हि' 'है' 'हः' 'हो' 'हो' 'हौ' 'ह्यौ' [illegible]
६-ऊकारः	आदित्य	,,	"ऊ"				
७-एकारः	वसवः	,,	"ए"				
८-औहोइकारः	विश्वेदेवादेवताः		" औहोइ" "औहोइ' 'होइ' 'वोइ' 'मोइ' 'औहो"	१४-सस्वरः—	प्रजापतिः	,,	"हुप् हुप् हुप्' 'विविविवि' 'फाल् फल् फल्फल्' 'वाग्वहहह"
९-हिङ्कारः	प्रजापतिर्देवः		"हुम्" "हु०" "औम्"	१५-हुप्कारः	गत्यर्थः		—"हुप्' "उद्" §

---

* प्रगीतमन्त्रसाध्यास्तुतिः स्तोत्रम् गानैः स्तवनमिति यावत्, अप्रगीतमन्त्रसाध्यास्तुतिः शस्त्रम्, ऋग्भिः प्रशंसनमिति यावत्। ज्योतिष्टोमे द्वादशस्तोत्राणि द्वादशशस्त्राणि भवन्ति। 'आज्यम्' 'पृष्ठम्' इत्यादिकं स्तोत्रनाम, 'प्रउग' 'निष्केवल्यम्' इत्यादिकं शस्त्रनाम। तदत्र स्तोत्र शस्त्रयोर्या ऋच उपयुज्यन्ते ताः स्तुतय-इति व्यह्यन्ते।

† एकैकसाम्नः पञ्च पञ्चभक्तयो भवन्ति।

‡ तत्तत्साम्नादिकन्तु विधायकाद् ब्राह्मणादवगन्तव्यम्।

¶ 'अग्न' इत्यादि 'आ ३४५'-इत्यन्तमेकम्।

§ यावदनुसन्धानेन प्राप्तं, तत्रापि यावदत्र लेखनेन शाम्यत्, तावदेवात्र प्रदर्शितम्; किन्तु समस्त सामवेदमालोड्य उदाहरणानि सङ्कलितानि, पदस्तोभास्तु प्रायोनिःशेषेणोदाहृताः।

अष्टमी ऋक्।

भर्गऋषिः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र
उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं
२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
वचः। सत्रा च्या मघवान्त्सोम पीतये धिया
२र १ २
शविष्ठ आगमत्॥ ९७॥

'शविष्ठ' अतिशयबलवान् 'मघवान्' असीमैश्वर्य्यवान् 'इन्द्रः' 'सोमपीतये' सोमपानाय 'सत्रा' सर्वदा 'आगमत्' आगच्छत् आगच्छतु, एत्य च 'अर्वाक्' प्रथमं 'नः' अस्माकम् 'इदम्' 'उभयम्' स्तुत्यात्मकम् प्रार्थनात्मकञ्च 'वचः' 'धिया' प्रज्ञया 'शृणवत्' शृणोतु। च्येतीहानर्थकः॥९७॥

অতিশয় বলবান্, অসীমৈশ্বর্য্যশালী, ইন্দ্র সোমপানার্থ সর্ব্বদা আগমন করুন; অপিচ আগমনান্তে প্রথমেই আমাদিগের স্তুতি ও প্রার্থনা এই উভয় বাক্যই স্থিরচিত্তে শ্রবণ করুন॥ ৯৭॥

वैयश्वम्।

५ ५ १ २र
उभयं शृणुवच्चनाइए। आइन्द्रो २
१र १ २ २ १र
अर्वागिदं वचा २३ः। होवा३हाइ। सत्रा
२र १ र ऽ १ २ २ ३
चियामघवा२न्। सो। मापा३हाइ। ता २
५ २ ३र १ २ १
३४याइ। धियाशविष्ठ आ२३होइ। गमात्।
४ ५ ४
औ२३होवा। होऽ५इ। डा॥९७॥

नवमी ऋक्।

प्रगाथऋषिः।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मंहे च नत्वाद्रिवः परा शुल्काय दीय-
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३
से। न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न श-
१ २
ताय शतामघ॥९८॥

हे 'अद्रिवः' अद्रिर्वज्रम् तद् यस्यास्ति तस्य सम्बोधनम् वज्रवन्नित्यर्थः 'मंहे शुल्काय च' समधिकं शुल्कं प्राप्तमपि 'परा' परेभ्यः शत्रुभ्यः 'त्वा' त्वम् 'न' दीयसे। हे 'वज्रिवः' वज्रवन्! 'न सहस्राय' सहस्रं प्राप्तुं न, 'न अयुताय' दशसहस्रं प्राप्तुं न, हे 'शतामघ' शतमघ शतक्रतो! 'न शताय' शतशब्दोऽत्र बहुपर्य्यायः बहुप्राप्तुं न, त्वं दीयसे इति सर्व्वत्र सम्बन्धम्॥ ९८॥

হে বজ্রধারিন্! সমধিক শুল্ক লোভেও তুমি শত্রুহস্তে প্রদত্ত হইতে পার না, হে বজ্রিন্! সহস্র মুদ্রা পাইলেও তোমাকে শত্রুহস্তে দিবনা, দশসহস্র পাইলেও না; হে শতক্রতু! বহু প্রাপ্তি হইবার সম্ভাবনা থাকিলেও তুমি আমাদিগকর্ত্তৃক শত্রুহস্তে প্রদত্ত হইবা না॥ ৯৮॥

सहस्रायुतीयम्।

५ र ४ ५ २ ३ ५
मंहेचनोवा। त्वा अद्रा २३४ इवाः।
२ र र १ २ ४ ५ ३ २
पराशुल्का। या३दायासा३इ। नस। हस्रा
१ र २ र १ २ ४ ५ २र
३। यानायुता। यवाज्रा३इवो ३। नश। ता-
२ १ ४ २ ५
या ३। शा२३ ता३। मा २३४५ घो ई हाइ
॥ ९८॥

दशमी ऋक्।

प्रगाथ ऋषिः।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
वस्यां इन्द्रासि मे पितुरुतभ्रातुरभुं-

২ ১ ২ ৩ ১ ২
ভতঃ। মাতা চ মে ছদয়থঃ সমাবসো
২ ২ ২ ১
বসুত্বনায় রাধসে॥ ৫৫॥

হে 'ইন্দ্র!' ত্বম্ 'মে' মম 'পিতুঃ' মজ্জনকস্য 'উত' অপিচ 'ভ্রাতুঃ' মদীয়স্য 'বস্যান্' বসীয়ান্ অতিশয়বশঃ 'অসি'। কিঞ্চ 'অভুঞ্জতঃ' ভোগরহিতস্য দরিদ্রস্য 'মে চ' মমচ 'সমা মাতা' সতী 'ছদয়থঃ' ছদয়সি সর্বানবিশেষেণ পালয়সীতি যাবত্। হে 'বসো!' 'বসুত্বনায়' বস্বর্থম্ ধনলাভার্থম্ ত্বম্ 'রাধসে' রাধ্যসেঽস্মাভিরিতি শেষঃ ॥ ৫৫॥

হে ইন্দ্র! তুমি আমার এবং আমার পিতার ও ভ্রাতার অতিশয় বশ। অপরঞ্চ আমাকে অথচ ভোগশূন্য দরিদ্রকে উভয়কেই সমস্নেহে মাতৃভাবে পালন করিতেছ। হে ধনবন্ সম্প্রতি তুমি ধনের নিমিত্ত আমাদিগকর্তৃক আরাধিত হইতেছ॥ ৯৯॥

ঐন্দ্রাক্ষম্।

৪ ৫র র র ৪ ৫ ২
বস্যাঙ্ ইন্দ্রাসি মে। হাও পিতুঃ। উ-
২ ১ ৫ ২ ১ ২ ১
তাম্মা২৩৪তুঃ। অভুঞ্জাতৌ। বা ঔ ২৩৪
৫ ২র ১ ২ ২ ৫ ২
বা। মাতাচামৌ। বাঔ২৩৪বা। ছদয়ঃ।
২ ২ ২ ৫ ২ ১ ২
সা৩মাবাসৌ। বা ঔ২৩৪বা। বহুত্বানৌ।
২ ৫ ২ ১ ৫ ৪
বা ঔ২৩৪বা। যরৌ২৩৪বা। ধা ৫ সো ৬
৫
হাই॥ ৫৫॥

ইতি শ্রীমদ্ ভগবত্ কুথুমর্ষিপ্রাদুষ্কৃতসামবেদস্য ছন্দআর্চিকস্য

তৃতীয়ঃ প্রপাঠকঃ

শ্রীসত্যব্রতসামশ্রমিরচিত ঋষিচ্ছন্দো দৈবতান্বিতসসায়নিকটীকয়াটীকিতঃ সগানসামপুষ্পিতঃ সমাপ্তঃ।

अथ चतुर्थः प्रपाठकः।

इत आरभ्य ग्रन्थविस्तृतिभीतितो मन्त्रगतपदानां विशेषतः साधनिकोपेक्षिता, सुधीभिः स्वयमेवोहनीया पूर्ववत्।

प्रथम दशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

वसिष्ठ-ऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
इम इन्द्राय सुन्विरे सो मासो दध्या-
१र २र ३ २ ३
शिरः। ताउँआ मदाय वज्रहस्त पीतये
१ २ ३ २ ३ २
हरिभ्यां याह्योकआ॥ १॥

'इमे' 'दध्याशिरः' दधिमिश्रिताः 'सोमासः' सोमाः 'इन्द्राय' इन्द्रार्थम् 'सुन्विरे' अभिषुताः। अतएवं ब्रवीमि—हे 'वज्रहस्त!' कुलिशपाणे इन्द्र! 'तान्' इमान् सोमान् 'आ मदाय पीतये' आमदं पातुं मत्तभवनं यावत् पानकरणार्थम् 'ओकः' ओको यज्ञगृहः तत्र 'हरिभ्याम्' अश्वाभ्याम् करणाभ्याम् 'आ याहि' आगच्छ॥ १॥

এই দধিমিশ্রিত সোমরস সমূহ ইন্দ্রের নিমিত্ত সংস্কৃত হইয়াছে, অতএব হে কুলিশ-পাণি ইন্দ্র! (যাবৎ মত্ত না হও তাবৎ) এই সমস্ত পান করণার্থ এই যজ্ঞ মণ্ডপে অশ্বদ্বয় যুক্ত রথে আগমন কর॥ ১॥

सौभरम्।

२ २ ५र
इमा२४इ। इमइ। न्द्राय सुन्वा ई इ
५ १र र र र २र १र
राइ। सोमासोदध्याशिरा:। ताउँ आम-
र र १
दायवज्रहस्त पीतायाइ। हरा २३ हो।
र १ २ १ २ ३
भ्याया२३हो। हियो २३। का२आ २३४
५र र ३ ५
औहोवा। उ२३४पा॥१॥

द्वितीया ऋक्।

वामदेवऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ १ २ ३ १२ ३ १ २
इम इन्द्र मदाय ते सोमा श्चिकित्र
३ १ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २
उक्थिनः। मधोः पपान उप नो गिरः
३ १ २ ३ १ २
शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः॥ २॥

हे 'इन्द्र!' 'इमे' 'उक्थिनः' (उक्थाः स्तोत्रविशेषाः तैरभिषुतत्वात् तद्वत्वम्) उक्थवन्तः 'सोमाः' 'ते' तव 'मदाय' मोदार्थम् 'चिकित्रे' ज्ञाताः। अतः हे 'गिर्वणः' स्तुतिवाग्भिः सम्भजनीय। त्वम् 'मधोः' मधून् स्वादून् इमान् 'पपानः' पिबन् 'नः' अस्माकम् 'गिरः' स्तुतिवाक्यानि 'उपशृणु' उपगत्य शृणु। 'स्तोत्राय' स्तोत्रे मह्यम् 'रास्व' देहि यदिदं प्रार्थितं तदिति शेषः॥२॥

হে ইন্দ্র! উক্‌থ নামক স্তোত্রোচ্চারণ পূর্ব্বক শোধিত এই সোমরস তোমারই হর্ষের

নিমিত্ত করা হইয়াছে, অতএব হে স্তুত্য! মধুময় এই রস পান করত আমাদিগের স্তুতি বাক্যগুলি শ্রবণ কর—আমি তোমার স্তোতা, আমাকে এই প্রার্থিত দান কর ॥ ২ ॥

गार्त्समदम्।

४ र ४ १र र
इम इन्द्राय मदायताइ। सोमाश्चि-
२ १ १
किव उक्थिनाः। मा१घो२: पापा२। न
र २ र १ २
उपनोगिराः ग्रा१र्णु२। राख स्तो२३वा।
१ २ १
य गिर्वा२३णा३४३:। ओ२३४५इ। डा ॥२

तृतीया ऋक्।

सोमऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आत्वा५२द्य सवर्दुघा७ हुवे गायत्रवे-
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
पसम्। इन्द्रं धेनु७ सुदुघा मन्यामिष-
३ १ २ ३ १ २
मुरुधारामरं कृतम्॥३॥

'अद्य' 'त्वा' त्वाम् 'इन्द्रम्' 'धेनुम्' अचिरप्रसूतां गाम् 'आहुवे' याचे। कीदृशमिन्द्रम्? 'गायत्रवेपसम्' गायत्रं स्तोत्रं तस्य वेपसं कर्म्मभूतं स्तुत्यम् 'अरङ्कृतम्' अलङ्कृतम् अथवा पर्य्याप्तकर्म्माणम् कीदृशं धेनुम्? 'सवर्दुघाम्' सवरित्यमृतनाम अमृतस्रवाम् 'सुदुघाम्' सुदोहनाम् 'उरुधाराम्' बहुधाराम् ॥ ३ ॥

গায়ত্র স্তোত্রের প্রয়োগস্থান অর্থাৎ স্তবনীয়, পর্য্যাপ্তসৃজনকারী, ইন্দ্র! অদ্য তোমার নিকটে অমৃতস্রবা, সুদোহনা, বহুধারা, অভিনবপ্রসূতা, গো যাচনা করি ॥ ৩ ॥

वाचः सामः।

५र र ५ २ १ ५र
आत्वद्यासाई्वर्दुघाम्। हुवाइ गा२य
१ ५र १ २ २ १ २र
त्रवे२पसम्। आ इन्द्रा धे३नूम्। सुदुघा-
१ ७ ३ ५ २ १
म्। आ। निया२मा २३४इषाम्। उरुधा
२ १ २ १
२३राम्। अरं का२३त्तौ३४३म्। ओ२३४
५इ। डा ॥३॥

चतुर्थी ऋक्।

नोधा ऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
नत्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वी-
१ २ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ २
डवः। यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न
३ १र २र
किष्टदामिनाति ते ॥४॥

हे 'इन्द्र!' 'बृहन्तः' महान्तोऽपि 'वीडवः' दृढा अपि 'अद्रयः' पर्वताः 'त्वा' त्वाम् 'न' 'वरन्ते' (मुद्गोऽयं इवारणार्थः) आहयन्ति. प्रभूतत्वान्नावरीतुं शक्नुवन्तीत्यर्थः। अपि च 'मावते' माहशाय 'स्तुवते' स्तोत्रकारिणे 'यत्' किञ्चन 'वसु' धनं 'शिक्षसि' ददासि 'ते' तव 'तत्' दानम् 'न' 'किः' कोऽपि 'आमिनाति' परिमातुं शक्नोति ॥ ४ ॥

হে ইন্দ্র! তুমি বিভু অতএব অতিশয় দৃঢ় ও বৃহৎ, পর্ব্বতেরাও তোমাকে আবরণ করিতে পারে না। এবং আমার ন্যায় স্তাবকদিগকে যে কিছু ধন প্রদান করিতেছ, তোমার সেই দানও কেহই পরিমিত করিতে সক্ষম নহে ॥ ৪ ॥

बार्हदुक्थम्।

४ ५र ४ ४ १ २
नत्वा बृह। तो ५ इयाः। वरन्त इन्द्र

१र २ १ ७ १ ७
वीडा२३वाः। याच्छिच्चासी २। स्तूवता
१र २
इमा २। वतेव स्तू। न किष्टा२३दा। मि-
१र २ १
नाता२३इ ता ३४३ इ। श्रो २३४५ इ। डा
॥ ४ ॥

पञ्चमी ऋक्।

मेधातिथिर्ऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
कईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो
३ १र २र ३ १र २र
दधे। अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा म-
३ २ ३ १ २
न्दानः शिप्र्यन्धसः ॥५॥

'कः' मत्तोऽन्यो यजमानो 'सुते' सोमयागे 'सचा' मरुद्भिः सह 'पिबन्तम्' सोममिति यावत् 'ईम्' इमम् इन्द्रम् 'वेद' जानाति? न कोऽपि। किञ्च 'कत्' कः मत्तोऽन्यो यजमानः अस्मै इन्द्राय 'वयः' हविर्लक्षणमन्नं 'दधे' ददाति? न कोऽपि 'यः' 'अयम्' इन्द्रः 'पुरः' असुरपुरः असुरदुर्गाणि 'ओजसा' स्वेनबलेन विभिनत्ति अपिच 'शिप्र्यन्धसः' 'मन्दानः' शिप्रीनासिके हनूवातद्भिः शिप्रीभिः ऋत्विग्भिः सम्पादितस्य अन्धसः हविर्लक्षणस्यान्नस्य 'मन्दान' मोदयिता ॥५॥

যে এই ইন্দ্র স্ববলে অসুরদুর্গ-ভেদকারী ও ঋত্বিক্‌গণ কর্ত্তৃক সম্পাদিত হবিঃস্বরূপ অন্নের মোদয়িতা; সেই সোমযাগে মরুদ্গণের সহিত সোমপায়ী এই ইন্দ্রকে কে জানেন? অর্থাৎ সকলে জানেন না। এবং কেই বা এই ইন্দ্রকে হবির্লক্ষণ অন্ন প্রদান করেন? অর্থাৎ সকলের দান প্রকৃত হয় না ॥ ৫ ॥

वाम्रम्।

५ र ४ २ १ २ १
कईं वेदा। सुताइसा१चा २। पिबन्तं
२ १ र
कद्वायो१दाधा२इ। अयं यः पुरो विभिन-
२ १र २ १
त्त्यो१जासा २। मन्दाना २३: शी ३। प्रा
३ ५र र ३ ५
ऽ२ या २३४ औहोवा। धा२३४साः ॥ ५ ॥

षष्ठी ऋक्।

श्रौरश्रवा ऋषिः बृहतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदस-
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्परि। अस्माकमांशुं मघवन् पुरुस्पृहं
३ २ ३ १ २
वसव्ये अधि बर्हय ॥६॥

हे 'इन्द्र!' 'यत्' यस्मात् 'अव्रतम्' व्रतरहितम् नास्तिकम् 'शासः' शास्सि, अतो ब्रवीमि—तम् 'सदसस्परि' सदो नाम यज्ञमण्डपस्य सकाशात् 'च्यावय' पातय, किञ्च हे 'मघवन्! पुरुस्पृहम्' बहुस्पृहणीयम् 'अस्माकम्' ऋत्विजां स्वभूतं 'अंशुम्' अंशुम् 'वसव्ये' यज्ञानां वासयित्रे यजमानाय यजमानार्थम् 'अधि बर्हयः' अधिकृत्य 'बर्हय' यजमानस्योपकारायाल्प बहुमत्वा गृहाणेति भावः, इत्थं ते दुष्टनिग्रहः शिष्टानुग्रहस्य प्रभावः स्यादिति ॥६॥

হে ইন্দ্র! যেহেতু নাস্তিকদিগকে তুমি শাসন করিয়া থাক অতএব যে ব্যক্তি সান্তঃকরণে যজ্ঞে প্রবৃত্ত নহে তাহাকে সদো নামক মণ্ডপ হইতে দূর করিয়া দেও এবং হে মঘবন্! বহু স্পৃহণীয় আমাদিগের এই যৎ কিঞ্চিৎ সোম যজমানের উপকারার্থ বিস্তর জ্ঞানে স্বীকার কর ॥ ৬ ॥

तौरश्रवसम्।

६ १ ४र ३ ५ २र ३
यदिन्द्रा २३ शासो अव्रताम्। च्यावया

१ २ १ २
स। हाउसाम्नारौ। वा ३२। अस्माकामौ।
१ २ १ २
वा ३२। द्युम्नमघवन्। पुरूस्पृहौ। वा ३२।
१ २ २ १ ५ ४
वसाव्यायौ। वा ३२३। धिञो २३४वा। ह्या
५
५योई्हायि॥६॥

सप्तमी ऋक्।

त्वष्टा ऋषिः बृहतीच्छन्दः विश्वेदेवा देवताः।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मण-
१ २ ३ १र २र १ २ ३ १ २
स्पतिः। पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो
३ २ ३ १ २ ३ १ २
दुष्टरं त्रामणं वचः ॥७॥

'त्वष्टा' 'पर्जन्यः' 'ब्रह्मणस्पतिः' अपि च 'पुत्रैः भ्रातृभिः' सह 'अदितिः' 'नः' अस्माकम् 'दैव्यम्' यज्ञीयं 'वचः' किञ्च 'नः' अस्माकम् 'दुष्टरम्' दुःखेन तरणीयम् छलादिभ्य इति यावत् 'त्रामणम्' लौकिकम् 'वचः' 'नु' निश्चयम् 'पातु' रक्षतु सफलं करोतु ॥ ७ ॥

ত্বষ্টা, পর্য্যন্য, ব্রহ্মণস্পতি এবং পুত্রগণের সহিত ও ভ্রাতৃগণের সহিত অদিতি আমাদিগের দেবতা সম্বন্ধী বাক্য অর্থাৎ যাগাদিগত বচন এবং আমাদিগের দুস্তর* লৌকিক বচন অবশ্য রক্ষা করুন অর্থাৎ সফল করুন ॥৭॥

त्वाष्ट्रीसाम।

३ २ र र ५ ४ ५ २ १
त्वष्टा ३४। नोदै वियम्। वचाः। पर्ज
र २ १ २ १र र
न्यो ब्रह्मणस्पा२३तीः। पुत्रैर्भ्रातृभिरदिति

* লৌকিক বাক্যগত ছলাদি হইতে ত্রাণ পাওয়া অতি কঠিন, এই নিমিত্ত উহা দুস্তর বলিয়া নির্দ্দিষ্ট আছে।

२ १र २ १ २ १
नुपा तू२३नाः। दुष्टारा२३न्वा। मणं वा
२ १
२३चा३४३ः। ओ२३४५इ। डा ॥७॥

अष्टमी ऋक्।

वामदेवऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशु-
२ ३ १र २र ३ २ ३ २उ ३ १ २
षे। उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं
३ १ २
देवस्य पृच्यते ॥८॥

हे 'इन्द्र!' त्वम् 'कदाचन' कदाचिदपि 'न' 'स्तरीः' पराभूतः 'असि' भवसि किञ्च 'दाशुषे' यजमानाय 'सश्चसि' दानशीलोऽसि। हे 'मघवन्!' 'ते' तव कीदृशस्य? देवस्य 'दानम्' 'भूयः' बहुतरम् 'उपपृच्यते' नैव क्षीयत इति भावः। उपपदैकम् इत्पदद्वयम् नुपदद्वञ्च पादपूरणार्थकम् ॥८॥

হে ইন্দ্র! তুমি কদাপি পরাভূত হও না এবং যজমানদিগকে সর্ব্বদা অভিলষিত দান করিতেছ, হে মঘবন্! দেব! তোমার দান কখন ক্ষয় হয় না ॥ ৮ ॥

अदितेः साम।

५ र र ५र २ ३
कदाचनास्ताईरीरसाइ। नेन्द्रा सा २
५ २ ३ ५ ३ ४र २र ४
३४श्चा। साइदाशू२३४षाइ। उपोपेन्नुम-
५ ३र ४ ५ १ ३ ५ २
घवन्भूयइत्। न्वा२इनू २३४ ताइ। दानं
३ ५ २ १ ५ ४
दा२३४इवा। स्यपो२३४वा। च्या ५ तो ६
५
हाइ ॥ ८ ॥

नवमी ऋक्।

मेधातिथिऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ १र २र ३ १ २
युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परावतः। अर्वाचीनो मघवन् सोमपीतय
३ २ ३ २ ३ १ २
उग्र ऋष्वेभिरागहि ॥९॥

हे 'वृत्रहन्तम !' अतिशयेन शत्रूणां हन्तः 'इन्द्र !' 'परावतः' दूरात् स्वर्गाख्यात् स्थानात् 'अर्वाचीनः अस्मदभिमुखः 'हरी' स्वकीयावश्वौ 'हि' निश्चयं 'युंच्वा' नियुङ्क्ष्व स्वे रथे इति यावत्। नियुज्य च हे 'मघवन् !' 'सोमपीतये' सोमपानार्थम् 'उग्रः' व्यग्रः सन् 'ऋष्वेभिः' महद्भिः प्रयाणकैः 'आगहि' आगच्छ ॥ ९ ॥

হে শত্রুগণের নির্মূলকারী ইন্দ্র! দূর হইতে নিকটে আসিবার মানসে স্বীয় রথে অশ্বদ্বয় যোজনা কর। অনন্তর হে মঘবন্ সোম পানার্থ ব্যগ্র হইয়া বেগে আগমন কর ॥৯॥

आजीगर्त्तम्।

१ १ २ १ २ र
आइही२। आइहिहाइ। युंच्वा हि
४ २ ३ ४ १ र २ १ २
वा३र्त्ती३हन्तम। हारीइन्द्र। परावा १ ता
३ २ ३र २ १ २ १र
२३४ः। अर्वा३४चीनाः। माघवंत्सो। मपा
२ ३ २ ३ २ २ १
इता१या२३४इ। उग्रा३४ऋष्वा३इ। भिरो
५ ४ ५
२३४वा। गाधूहोईहाइ ॥९॥

दशमी ऋक्।

नृमेधा ऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

२ ३ १र २र ३ १
त्वामिदा ह्यो नरो पीप्यन् वज्रिन् भू-
२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
र्णयः। स इन्द्र स्तोमवाहसामिह श्रुध्युप
१ २ ३ १ २
स्वसरमागहि ॥१०॥

हे 'वज्रिन्' वज्रायुधवन् ! 'इदा' अद्य 'ह्यः' ह्यश्च सदेत्यर्थः 'भूर्णयः' भ्रमणशीलाः 'वेदिप्रदेशे परिभ्रमन्ति ये ते इत्यर्थः 'नरः' ऋत्विङ्मनुष्याः 'त्वा' त्वाम् 'अपीप्यन्' वर्द्धयन्ति स्तुतिभिरिति यावत्। 'स' तम् हे 'इन्द्र ! 'स्तोमवाहसाम्' स्तोम ऊहसाध्यः त्रिवृदादिकः स्तोत्रविशेषः तं ये वहन्ति प्रतिपादयन्ति उच्चारयन्तीत्यर्थः तेषाम् स्तोतॄणाम् 'इह' यज्ञे 'श्रुधि' शृणु सामर्थ्यात् स्तुतीः, अपिच 'उपस्वसरम्' स्वसरशब्देन पथ्योच्यते तत् समीपं 'आगहि' आगच्छ अत्रागमनोद्योगं कुरु इति भावः ॥१०॥

হে বজ্রিন্! অদ্য এবং কল্য অর্থাৎ সর্ব্বদাই বেদীপ্রদেশে ভ্রমণশীল মানবেরা অর্থাৎ ঋত্বিক্‌গণ যে তোমাকে স্তুতি দ্বারা বর্দ্ধিত করিতেছেন, হে ইন্দ্র! সেই তুমি এই যজ্ঞে স্তোমপাঠীদিগের পাঠ শ্রবণ কর এবং পথ সমীপে আগমন কর অর্থাৎ এখানে আসিবার উদ্যোগ কর ॥১০॥

साधुच्छन्दसम्।

२र ४ ५र २ ३ ४र ५ ५ २ १
त्वामिदा होइ। ह्यियोनराईए। अपी
२ १ २ ३ ५ १ २
इप्यन्वा। जाइभूर्णी २३४ याः। स इन्द्र-
१र २र १ २ ३र २ ३र
स्तोमवाहसः। इहाश्रुधी। औहो ३४ वा
२ १ २ ३र २ ३ २ १र
हाइ। उपास्वासा। औहो३४वाहा। रमा
२ १
गा२३हा३४३इ। ओ२३४५इ। डा ॥१०॥

इति प्रथमादशतिः।

द्वितीय दशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

वशिष्ठऋषिः वृहतीच्छन्दः उषा देवता।

१ २   ३ २ १ २   ३ २ ३
प्रत्यु अदर्श्यायत्युच्छन्ती दुहिता दि-
२   १ २ ३ १ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
वः। अपो मही वृणुते चक्षुषा तमोज्यो-
२   ३ १ २
तिष्कृणोति सूनरी ॥११॥

'दिवः दुहिता' द्युलोकस्य पुत्री (द्युलोके जायमानत्वात्) 'आयती' आगच्छन्ती अपिच 'उच्छन्ती' स्वेन ज्योतिषा विविधमाच्छादयन्ती 'प्रति' प्रतिदिनम् 'अदर्शि' दृश्यते या उषा, सा 'सूनरी' शोभना नरा यस्याः स्तावकत्वेन भवन्ति सा शोभनैः स्तावकैर्नरैः सम्बध्यत्यर्थः 'महीतमः' महदन्धकारम् 'अप' 'वृणुते' अपवारयति, किञ्च 'चक्षुषा' सर्वलोकस्य दर्शनाय 'ज्योतिष्कृणोति' प्रकाशं करोति 'प्रत्यु'-इत्यत्र 'अपो'-इत्यत्रच उश्रुतिः पादपूरणार्थिका ॥ ११ ॥

দ্যুলোক-তনয়া নিত্যা গমন স্বভাবা, দীপ্তিরূপা যে দেবতা প্রতিদিন দৃষ্ট হইয়া থাকেন, সেই সুস্তাবক-স্তুত্যা উষা মহান্ধকার দূর করেন এবং দর্শন ক্রিয়া নির্ব্বাহার্থ জ্যোতিঃ প্রকাশ করিয়া থাকেন ॥ ১১ ॥

उषसः साम।

२ १   ३ २   १   ३ २
प्रताइ। इहा। आइ। इहा। उवद्।
१   २ १   २   १   ३ २
शोइआयती। आयती। उच्छा। इहा।
१ ३ २   र   १ ७   १
आ इहा। तीदू। हीइता दिवा २ः। आ
७   १ ३ २   १ ३ २   १
दिवा२ः। अपो। इहा। ओ। इहा। मा-
र २ र   १ ७   १ ७
हीवृणुते च। क्षुषातमा २ः। आतमा २ः।
र १   ३ २   १   ३ २   र
ज्योताइ। इहा। आइ। इहा। कृणो।
१ ७   १ ७   १
तीइसूनरी२। ऊनरी २३४३। ओ२३४५
इ। डा ॥११॥

द्वितीया ऋक्।

वशिष्ठऋषिः वृहतीच्छन्दः अश्विनौ देवते।

३ १ २ ३   १ २   ३ १ २
इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते
३   ३ १   २ ३ १ २   ३
अश्विना। अयं वामह्वेवसे शचीवसू
१ २   ३   १र   २र
विशं विशंहि गच्छथ ॥१२॥

हे 'अश्विना' अश्विनौ। 'इमाः' 'दिविष्टयः' द्युवासादिफलसाधनाः इष्टयः इष्टिगताः जनाः ऋत्विज इति यावत् 'वाम्' युवाम् 'हवन्ते' आह्वयन्ति 'उस्राः' लुप्तोपममिदम् उस्राशब्दो गोपर्य्यायः तथा च यथा गावः स्वान् वत्सान् आह्वयन्ति तद्वदित्यर्थः। हे शचीवसू' कर्मधनकौ! 'अयम्' अयमपि मदीयोऽन्तरात्मापि 'अवसे' रक्षायै 'वाम्' युवाम् 'अह्वे' आह्वयति। कुतस्तदाह्वाने साहसः? इत्याह— 'हि' यतः 'विशं विशं मनुष्यं मनुष्यं' प्रति सर्वानविशेषेण 'गच्छथ' तत एवेत्यर्थः ॥१२॥

হে অশ্বী নামক দেবযুগল! যেরূপ গো সকল নিজ নিজ বৎসগণকে সান্তঃকরণে আহ্বান করে এই দ্যুলোকগামী ঋত্বিক্‌গণ তোমাদিগকে সেই রূপ আহ্বান করিতেছেন। অপিচ হে কর্ম্মধনক দেবদ্বয়! যেহেতু তোমরা সকল মনুষ্য ভবনেই গমন করিয়া থাক অতএব আমার অন্তরাত্মাও তোমাকে আহ্বান করিতেছে ॥ ১২ ॥

अश्विनोः साम।

२ र र ३ ५र २ र
इमा उवां दिविष्टया२३४ऐहो। उस्रा
र ३ ५र २ र र
हवन्ते अश्विना२३४ऐही। अयं वामह्वे-
र र ३ ५र २
वसे शचीवसू२३४ऐही। विशं विशꣳहि
३ ५र ४
गच्छथा२३४ऐही। होपूइ। डा ॥१२॥

तृतीया ऋक्।
ऋष्यादिकं पूर्व्ववत्।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३
कुष्ठः को वा मश्विना तपानो देवा
१२ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३
मर्त्यः। घ्नता वामश्नया क्षपमाणोꣳशुने
२ ३ २ ३ १ २
त्थमु आद्वन्यथा ॥१३॥

हे 'अश्विना' अश्विनौ 'देवा' देवौ! 'कुष्ठः' कुस्थः क्वस्थः 'कः वा' जनः 'वाम्' युवाम् 'तपानः' तापयमानः? न कोऽपीति भावः। प्रत्युत 'मर्त्यः' मानवः 'अश्नया' क्षुधया 'क्षपमाणः' क्षियमाणः सन् किं कर्त्तव्यतयेति यावत् 'अꣳशुना' सोमेन 'वाम्' युवाम् 'इत्थम्' अनेन प्रकारेण 'अन्यथा' च 'आत् घ्नत' आहन्ति आघातमिव सम्पादयति, न तु तापयतीति यावत् उ इत्यनर्थकः ॥१३॥

হে অশ্বী নামক দেবদ্বয়! পৃথ্বীস্থ কে তোমাদিগকে সন্তপ্ত করিতে পারে? কেহই না; মনুষ্যেরা ক্ষুধায় ক্ষিপ্তপ্রায় হইয়া অন্ন-লাভের নিমিত্ত কিংকর্ত্তব্যমূঢ় হওত সোমাদি দ্বারা এই রূপে এবং অন্য প্রকারে তোমাদি-গকে ক্লেশ দেয়, ফলে তাহা তোমাদিগকে সন্তপ্ত করিবার নিমিত্ত নহে ॥১৩॥

अश्विनोः संयोजनम्।

३ ५ ४र ५र र ४ १ र २र
कुष्ठः को वा मश्विना आ। तापानो
र १ ७ २ १ २ २ ३ २
दे। वामर्त्त्याया ३ः। होवा३हा३४इ। घ्नता
३र २ २ १ २ २
३४वामा१। श्नाया ३। होवा २ हा ३४ इ।
१ २ ३र २ १ २ १ २ २
क्षपा३४माणाः। आꣳशूना३। होवा२हा
१ २ ३ २ १ ३ २
३४इ। इत्था३४मुवा३त। उवा२न्। यथा
५र र ३ ५
३४औहोवा। ऊ२३४पा ॥१३॥

चतुर्थी ऋक्।
प्रस्कण्व ऋषिः बृहतीच्छन्दः अश्विनौ देवते।

३ २ ३ १२ ३२उ ३ १
अयं वा मधुमत्तमः सुतः सोमो दिवि-
१२ ३ १ २
ष्टिषु। तमश्विना पिबन्तं तिरो अह्न्य
३ १र २र ३ १ २
धत्तꣳ रत्नानि दाशुषे ॥१४॥

'अयम्' 'सोमः' 'वा' वाम् युवयोरर्थाय 'दिविष्टिषु' दिवं याभिर्गम्यते तासु स्वर्गफलज्योतिष्टोमादिषु 'सुतः' अभिषुतः। हे 'अश्विना' अश्विनौ! 'तिरो अह्न्यम्' तृतीयसवनिकम् 'तम्' सोमम् 'पिबन्तम्' पिबतम्, पीत्वा च 'दाशुषे' यजमानाय 'रत्नानि' 'धत्तम्' दत्तम् ॥ १४ ॥

হে অশ্বী নামক দেবতাদ্বয়! এই সোম স্বর্গফলক এই জ্যোতিষ্টোমাদিযাগে তোমা-দিগের নিমিত্ত অভিষুত হইয়াছে! তোমরা সেই তৃতীয়সবনিক সোমপান করিয়া যজ-মানকে রত্নচয় প্রদান কর ॥১৪॥

अश्विनोः साम।

३ २ ५र ४ ५ ५
अया३४म्। अयं वाम्म। धुमत्ता६माः।
२ १ र ५र १ २ ५ २ ३र
सुतः सोमो २ दिविष्टिषु। ओ३हा। ओ
२ ३र २ १ र र
३हा३४। ओहा। तामश्विना पिबतं तिरो

२ ऽ २ २ २ ३र २
अह्वियम्। ओ३हा। ओ३हा३४। ओहा।
१ २ ऽ २ ऽ २
धत्ताऽ२रा१ला २। ओ३हा। ओ३हा३४।
३र २ १ १ ३ ५र र
ओहा। निदा२३। सू२षा २३४औहोवा।
३ ५
ज२३४पा ॥१४॥

पञ्चमी ऋक्।

प्रगाथ ऋषिः वृहतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वा सोमस्य गल्हया सदा याच
३ १ २ १ २ ३ १र २र ३
न्नहं ज्या। भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं
१र २र ३ १ २
क ईशानं न याचिषत ॥१५॥

हे इन्द्र! 'अहम्' 'त्वा' त्वाम् 'सवनेषु' यज्ञेषु 'सोमस्य' 'गल्हया' गालनेन प्रक्षालनेन 'सदा' सर्वदा 'याचन्' 'भूर्णिम् मृगम्' भ्रमणशीलम् मृगम् व्याघ्रम् 'ज्या' ज्यया धनुर्गुणेन 'न' इव 'आ चुक्रुधम्' पुनः पुनः रोषयितवान्। एतदुक्तं भवति यथा कश्चिद् मृगयालुः कश्चिद् व्याघ्रं धनुषा संलक्ष्योद्विजन् कोपयति, सोमदानपूर्वकं विविधरत्नादिकं कामयन्नहमति तथैव त्वां पुनः पुनरुद्विजन् कोपयामि! अपि वा 'कः' एवमस्ति यः 'ईशानम्' ईश्वरं 'न याचिषत्' न याचते? एवञ्च मद्याचनेऽपि न दोष इति भावः ॥ १५ ॥

হে ইন্দ্র! যেরূপ কোন মৃগয়ালু কোন ভ্রমণশীল মৃগ অর্থাৎ ব্যাঘ্রকে ধনুর্গুণে লক্ষ্য করিয়া বারবার বিরক্ত করত কোপান্বিত করে, আমিহ সেই রূপ যজ্ঞমধ্যে সোমদান পুরঃসর সর্ব্বদা বিবিধ রত্নাদি যাচ্ঞা করিয়া তোমাকে ক্রুদ্ধ করিতেছি; অথবা কেই বা ঈশ্বর সন্নিধানে যাচনা না করে? ॥ ১৫ ॥

सोम साम।

५र र र २ १ ३
आत्वा सोमा। स्या गल्हा२या २३४
५र र १ ऽर १र २ १
औहोवा। सदा २ याचन्नहं जिया २३।
१ २^ ३ ५ २ १ २र
भूर्णी ओ२३४वा। मृगन्न सवनेषु चुक्रुधम्।
१र २ १ र २ १
क ईशा२३नाम्। ना याचिषत्। इडा २३
२ १
भा३४३। ओ२३४५इ। डा ॥१५॥

षष्ठी ऋक्।

अतिथि ऋषिः वृहतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
अध्वर्यो द्रावया त्वऽं सोममिन्द्रः पिपा
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
सति। उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ
२ ३ २
च जगाम वृत्रहा ॥१६॥

'वृत्रहा' 'वृषणा' वृषणौ रेतसः सेक्तारौ बलवन्तौ 'हरी' अश्वौ 'उपयुयुजे' उपयुंक्ते स्वे रथे इति यावत्, अतो जानामि—'नूनम्' निश्चयं 'आ जगाम' आगच्छति, ततश्च जानामि—सः 'इन्द्रः' 'सोमम्' पिपासति पातुमिच्छति, अतो ब्रवीमि-हे 'अध्वर्यो!' 'त्वम्' 'द्रावया' द्रावय प्रापय इन्द्र' सोममिति लभ्यमेव। उपो-इति उकारः आचेत्यत्र चकारश्च पादपूरणार्थः ॥ १६ ॥

বৃত্রহা, ইন্দ্র বলবান্ অশ্বদ্বয় নিজরথে যোজনা করিতেছেন, অতএব বোধহয় নিশ্চয়ই আসিলেন এবং সোমপান করিবার বাঞ্ছাও করিয়াছেন, অতএব হে অধ্বর্য্যু! তুমি সোম উপস্থিত কর ॥ ১৬ ॥

आजमायवम्।

४ र र ४ १र
अध्वर्यो द्रा५वया त्वाम्। सोममिन्द्रा
१ २ १ ऽर र १ २ र
२ः। पिपासा१ती२। उपो २ नूनं युयुजे वृ।

१ २ र १ २८ ३ २
माया१हारी२। आवाजा २३ गा। मंहच-
१ २ ४५ ४
हा। औ३होवा। होपू इ। डा ॥१६॥

सप्तमी ऋक्।

वशिष्ठऋषि बृहतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ २ ३क ३ २ ३ २ ३ १ २
अभी षतस्तदाभरेन्द्र ज्यायः कनी-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यसः। पुरूवसु र्हि मघवन् बभूविथ भरे
१ २ ३ १ २
भरे च हव्यः ॥१७॥

'अभीषतः' इत्यत्र दीर्घः षत्वं च वैदिकम् 'अभि सतः' इति पदद्वयम् तत्र अभीत्युपसर्ग आभरेत्याख्यातेन सम्बध्यः सत इति कनीयस इत्यस्य विशेषणम्। 'सतः' नित्यस्य 'कनीयसः' लघुतरस्य जगतः 'ज्यायः' श्रेष्ठतरः 'ईश्वरः यस्त्वं' हे 'इन्द्र!' 'तत्' यत् किञ्चन प्रार्थितम् 'अस्याभर' अस्मभ्यं देहि। हे 'मघवन्' 'हि' यतः त्वम् 'पुरूवसुः' बहुधनः 'च' अपिच 'भरे भरे' सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे 'हव्यः' आह्वातव्यः 'बभूविथ' द्यमार्थमिति यावत् ॥ १७ ॥

হে মঘবন্! যেহেতু তুমি বহুধন ও বিপৎ কালে আহূত হইয়া থাক অতএব হে ইন্দ্র! এই লঘুতর নিত্য জগতের শ্রেষ্ঠতর অর্থাৎ ঈশ্বর তুমি আমাদিগের প্রার্থিত আমাদিগকে প্রদান কর॥ ১৭॥

मैत्रसेधसम्।

५ र र १
अभीषत स्तदा हाउ। भरा। इन्द्र-
र २ १र २ र १
ज्यायः कनीया२३सा:। पुरूवसुर्हि मघ-
२ १र २ १ २ १
वन् बभूवा२३इथा। भराइभा२३रे। चह-

२ १ २ १
व्यः। इडा २३ भा ३४३। औ २३४५ इ।
डा ॥१७॥

अष्टमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ र २र
यदिन्द्रयावत स्त्वमेतावदह मीशीय।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय
रᳫसिषम्॥१८॥

हे 'इन्द्र!' 'यत्' यस्मात् 'त्वम्' 'यावतः' अपरिमितस्य धनस्य प्रभुरिति शेषः 'अहम्' 'एतावत्' परिमितमेव धनम् 'ईशीय' भुनज्मि अतः स्वल्पधनं 'स्तोतारम्' स्तुतीनामुच्चारयितारम् माम् 'दधिषे' धारयसि रक्षसि, हे 'रदावसो!' रदं दानं तदर्थं वसु धनं यस्य स रदावसुः तस्य सम्बोधनम् 'पापत्वाय' पापं कर्म कर्त्तुं 'न रᳫसिषम्' न याचे धनादिकमिति शेषः। इदिति पादपूरणे ॥ १८ ॥

হে ইন্দ্র! যে হেতু তুমি যাবৎ ধনের ঈশ্বর এবং আমি এই মাত্র ধনভোগ করিতেছি অতএব স্তুতিকারী আমাকে তুমি রক্ষা করিতেছ অর্থাৎ যে হেতু তুমি অপরিমিত শক্তিমান্ এবং আমি পরিমিত শক্তিমান্ অতএব তুমি রক্ষক ও আমি রক্ষণীয় হইয়াছি, হে রদাবসু!* আমি পাপকর্ম্ম নির্ব্বাহার্থ তোমার নিকট ধনাদি প্রার্থনা করি না॥ ১৮॥

वैरूपम्।

३ २र३ ४ ५ १ २
यदिन्द्र यावतस्त्वाम्। आइता ३।
१ २ ४ ५ १ २ २ १ २र १
वादा३हामी। माया ३१३। स्तोतारामी

* যাহার ধন দানার্থই হইয়াছে তাহাকে রদাবসু বলা যায়।

४ ५र १ २ १ २र
२३त। इधिषेरद्दा। वासा३ऽ१२३। नापा-
१ १ २ २ ५ ४
पात्वा२३। यारौ वाओ२३४वा। स:५इ
षोईहाइ ॥१८॥

नवमी ऋक्।

नृमेधा ऋषिः बृहतीच्छन्दो इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
त्वमिन्द्र प्रतूर्त्तिष्वभिविश्वा असिस्पृ-
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
धः। अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं
२ ३ २
तूर्य तरुष्यतः ॥१९॥

हे 'इन्द्र!' 'त्वम्' 'प्रतूर्त्तिषु' प्रकर्षेण तूर्य्यन्ते हिंस्यन्ते यासु वेलासु योद्धारः प्रतूर्त्तयो वेलाः तासु हिंसा वेलासु 'विश्वा' विश्वान् सर्वान् 'स्पृधः' स्पृध इति सङ्ग्राम नाम तत्कुर्वन्ति स्पृधन्ति ततः क्विप् स्पृधः ताः सेना इत्यर्थः 'अभि असि' अभिभवसि पराजयसि। 'त्वम्' 'अशस्तिहा' अशस्तीनां नास्तिकानां हन्ता 'जनिता' सर्वेषाम् 'वृत्रतूः' वृत्रस्य शत्रोः तूर्वितां हन्ता 'असि' किञ्च 'तरुष्यतः' तरुषितु हन्तुमिच्छन्ति तरुष्यन्ति तान् 'तूर्य' हिंस ॥ १९ ॥

হে ইন্দ্র! তুমি যুদ্ধসময়ে সমস্ত সেনাকে পরাজয় করিয়া থাক, তুমি নাস্তিকদিগের হন্তা, সমস্ত পদার্থের স্রষ্টা, শত্রুনাশকারী হইতেছ হিংসকদিগকে নষ্ট কর ॥১৯॥

वैश्वदेवम्।

४ ५ ४ ५र ४ ५ १
त्वमिन्द्रो हाइ। प्रतूर्त्तिष्वो वा। आ-
२ र १ २ १ २
भिविश्वाः। असाइस्पा१र्द्धो२ः। आशस्ति-
र र १ २ १ २
हाजनिताइ। वातूर१रा सा२इ। त्वां तू१र्या
३ २ १ २ ४ ५ ४
२। तरुष्यता। औ३होवा। होइइ। डा॥१९

दशमी ऋक्।

मेधा ऋषिः बृहतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१र २र ३ १र २र ३ १र २र ३
प्रयो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्य-
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
स्परि। न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिव-
२ ३ १ २
मतिविश्वं ववक्षिथ ॥२०॥

'यः' देवः 'दिवः' द्युलोकस्य 'सदोभ्यः' सभाजेभ्यः द्युलोकीयसमाजेषु स्थित्वैव 'ओजसा' बलेन बलेन 'प्ररिरिचे' प्रक्षिनक्षि शत्रूनिति यावत्, हे 'इन्द्र!' तं 'त्वा' त्वाम् 'पार्थिवं रजः' 'न विव्याच' व्याप्नु' न शक्नोति, त्वं 'विश्वम्' सर्वम् 'अति' अतीत्य 'ववक्षिथ' वक्षसि विभुस्वरूपोऽसि ॥२०॥

যে দেব দ্যুলোকীয় সভা হইতেই স্বপ্রভাবে শত্রুগণকে নষ্ট করিয়া থাকেন, হে ইন্দ্র! সেই তোমাকে পার্থিব লোক সীমাবদ্ধ করিতে পারে না, তুমি বিশ্ব ব্রহ্মাণ্ডের অতীত পদার্থ ॥২০॥

पुरीषम्।

५ र र ५ २ १ ५र
प्रयोरिरिक्ष ओजसाईए। दिवः सदो
१ ७ २र ३ २
२ भ्यस्परि। नत्वा विव्या। औहो ३ वा।
१ २र ३ २ १र
चा। रजः। औहो ३ वाइ। इपार्थिवाम्।
२ १ २ १
अति वा२३इश्वाम्। वावक्षिथ। इडा २३
२ १
भा३४३। ओ२३४५इ। डा ॥२०॥

इति द्वितीया दशतिः।

(ता०) असत्पात्रे दानं न कुर्यात्। येतु दानं प्रतिगृह्य असत्कर्म्माणि व्ययन्ते, तेभ्यो न किमपि दद्यात्। ये परिश्रमितुमसमर्थाः, यस्य दानग्रहणातिरिक्तोऽन्य उपायो नास्ति, ये च स्वशक्त्या विपत्त्य उद्धारमात्मानं न क्षमन्ते, तेभ्यो यथायोग्यं प्रदद्य दानस्य सार्थकतामापादयेत् ॥ ९ ॥

८०

(मू०) शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि। मध्वापातोविषास्वादः स धर्म्मप्रतिरूपकः ॥ १० ॥

(टी०) 'स्वजने' अवश्यपोष्यपितृमातादिजने 'दुःखजीविनि' दुःखेन जीवनधारिणि सत्यपि यः 'शक्तः' दानक्षमः 'परजने' इतरस्मिन् असम्बद्धे जने 'दाता' ददाति। तस्य 'सः' दानविशेषः 'धर्म्मप्रतिरूपकः' न तु धर्म्म एव यतः 'मध्वापातः' मधुरोपक्रमः प्रथमं यशस्करत्वात् 'विषास्वादः' विषोत्तरफलः तस्मादेतन्न कार्य्यं ॥ १० ॥

(ता०) वृद्धपितृमातृपुत्रकलत्राद्यवश्यपोष्याणामभावदुःखं चादौ दूरयेत्। यस्तु तान् क्लेशयित्वा ऽथवा क्लेशादमुक्त्वा अन्यस्मै दातुमुद्यतः, तस्य प्रकृतधर्म्मानुष्ठानं न भवति ॥१०॥

इति।

दशमोऽध्यायः।

८१

(मू०) प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्यात् शारीरमौषधैः। न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमाङ्गतिं ॥ १ ॥

(टी०)'प्रज्ञया' बुद्ध्या 'मानसं' मनोभवं 'दुःखं हन्यात' तथा 'शारीरं' औषधैः। 'कृतप्रज्ञाः' कृतबुद्धयः 'परमां गतिं' 'पश्यन्तः' अनुभवन्तः सन्तः 'न शोचन्ति' ॥ १ ॥

(ता०) यथा शारीरिकरोगे समुत्पन्ने औषधैस्तस्य प्रतीकारो युक्तः, तथैव मानसिकदुःखे समुपस्थिते परमगतिस्मरणेन तत्प्रतिविधानं कुर्यात्। सदैव सविवेको वस्तुविचारे प्रवृत्तस्तिष्ठेत्। परिवर्त्तनशीलायामस्यामवस्थायां सुखस्य दुःखस्य चाशा दृढ़ा न रक्षेत्। पृथिवीयमस्माकं शिक्षास्थानं, न तु नित्यसुखभोगस्यायतनम्। एकः परमेश्वरएव नित्यसुखस्य नित्यशान्तेश्चालयः, स एवास्माकं परमो लोकः स एवास्माकं परमा गतिः। सोऽस्मत्समीपे तिष्ठन्नस्माकं सर्वावस्थां पश्यति ; अस्माकं मङ्गलं भवतु इत्येवैकेच्छा तदीया, केनोपायेनास्माकं सद्गतिर्भविष्यति स तद् जानाति अस्मत्कल्याणाय स यद् विधास्यति, तदन्यथाकरणे न कोऽपिक्षमः ; पुत्रान् दुःखभाराक्रान्तान् प्रेक्ष्य पिता उदासीनोऽस्तिकिम्? एषा वर्त्तमानावस्थास्मानुपरि निपतिता स न जानाति तदीयापरिवर्त्तनीयमङ्गलकामनाः स्वच्छाः सन्ति किम्? नैवं नैवं कदापि, मोहाक्रान्ताः सन्तएव वयम् शोकाद्यभिभूता भवामः ; अतो वर्त्तमानावस्थायामेव समस्तां दृष्टिं न निक्षिपेत्, अपितु तम् परमगतिं पर्य्यालोच्य मानसिकं दुःखं विनाशयेत् ॥१॥

८२

(मू०) मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति। कामं हित्वाऽर्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥ २ ॥

(टी०) 'मानं' अभिमानं 'हित्वा' त्यक्त्वा 'प्रियः' सर्व्वेषां 'भवति'। 'क्रोधं हित्वा न शोचति'। 'कामं' वासनां 'हित्वा अर्थवान् भवति'। लोभं हित्वा सुखी भवेत्' ॥ २ ॥

(ता०)अहङ्कारं परित्यजेत्। धन-मान-सौन्दर्यादिजन्यं ज्ञानधर्मादिहेतुकं वा गर्वं लोके न प्रकाशयेत्, मनोऽपि न गर्वितं कुर्य्यात्। गर्वोपक्रमे भूते स्वपतनमतिनिकटमिति विज्ञाय ईश्वरशरणं प्रपद्येत। मङ्गलमय ईश्वरो गर्वितपुरुं विनीतं कर्त्तुमहङ्कारं परिचूर्णयति, मनुष्या अपि तं घृणीयन्ते।

क्रोधेनाधीरो भवन्नन्य-प्रतिहिंसायां प्रवृत्तः, पश्चादनुशोचनया दह्यते, अतः क्रोधं परित्यज्य शोचनाशून्यो भवेत्।

यथा यथा वासना वर्द्धते, तथा तथैवास्माकमभावो भासते। योऽर्थोपार्जनस्पृहां विस्मृत्य धनस्पृहामात्रं परितर्पितुं धनोपार्जने प्रवृत्तो भवति, सचिरं दुःखी, चिरमेव दरिद्रः। अतो यो वासनां दमितुं शक्यते स एव ऐश्वर्यवान्, यो लोभं परित्यक्तुं क्षमते स एव सुखी॥ २॥

८३

(मू०) क्रोधः सुदुर्ज्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः। सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्द्दयः स्मृतः ॥ ३॥

(टी०) 'क्रोधः' अतिकृच्छ्रेण जीयतेऽसाविति 'सुदुर्ज्जयः' 'शत्रुः'। 'लोभः' 'अनन्तकः' 'व्याधिः'। 'सर्व्वभूतहितः साधुः असाधुः निर्द्दयः स्मृतः' ॥३॥

(ता०) क्रोधसदृशोऽनिष्टकारी शत्रुर्न कोऽपि, लोभ इव यन्त्रणादायको व्याधिरपि न कश्चन। क्रोधादपि च लोभात् निष्ठुरता उत्पद्यते, सा च मनुष्यं साधुतातः परिभ्रष्टं करोति। क्रोधोहि अन्यस्मै यन्त्रणां दातुमुत्साहितं करोति, लोभस्त्वात्मम्भरितायाः समीपे मावन्तं साधुगुणं वलिं प्रदातुं कथयति, नरहत्यादिकं पापकर्मजातं क्रोधलोभाभ्यामेवानुष्ठितं भवति। अतः क्रोधं लोभं च परित्यजेत् किञ्च सर्वेषु दयावांस्तिष्ठेत्॥३॥

८४

(मू०) दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति। न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियं॥ ४॥

(टी०) योहि 'दान्तः' नियतेन्द्रियः 'शमपरः' संयतान्तःकरणः सः 'शश्वत्' वारम्वारं 'परिक्लेशं' न विन्दति' न लभते। 'न च' दान्तात्मा' वशीकृतात्मा 'परगतां' 'श्रियं' सम्पत्तिं 'दृष्ट्वा' 'तप्यति' परितप्तोभवति॥ ४॥

(ता०) अहरह आत्मानं शिक्षयेत्, आत्मानं शिष्यात्, आत्मानं धर्मपरायणं कुर्यात्। य आत्मन इन्द्रियान् अन्तःकरणं च वशीकर्त्तुं शक्यते, तस्य क्लेशकारणं न किमपि। य आत्मानं दमितुं न क्षमते, तस्य चतुर्दिक्ष्वेव यन्त्रणा। सहि न केवलं स्वविपदेनैवार्त्तो भवति,अपि तु अन्यदीयसौभाग्यमपि तदीयहृदयं व्यथयति॥४॥

८५

(मू०) यईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्य्ये कुलान्वये। सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः॥ ५॥

(टी०)'यः' ईर्षुः' मत्सरी 'परवित्तेषु' परधनेषु तथा 'रूपे वीर्य्ये' 'कुलान्वये' कुलसन्ततौ। 'सुखसौभाग्यसत्कारे' सुखे सौभाग्ये सत्कारे च 'तस्य व्याधिः' 'अनन्तकः' अनन्तः॥ ५॥

(ता०) परश्रीकातरतातुल्यो न विद्यतेऽपरो व्याधिः कश्चन अन्यमङ्गलं प्रति यस्य विद्वेषो भवति तन्मनसि स्वच्छन्दो न तिष्ठति— तस्य शान्तेः का कथा। इह हि संसारे यो यादृगुन्नतः सन् शुभफलं भुंक्ते, सोऽज्ञानत ईर्ष्याकारिणा हृदयमन्दिरे तावदेवाघातं समर्पयति। यावद्विधोन्नतमानवान्

शत्रु कश्चान् भासते। अतो विशुद्धप्रीत्या महान्-भावतां परिवर्ज्य ईर्ष्यां जयति। सर्वेषां मङ्गलेषु स्वमङ्गलं सन्निविष्टम्-इति विज्ञाय क्षुद्रतां परित्यजेत् ॥ ५ ॥

८६

(मू०) मित्रधुक् दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथान्जुः शठः। गुणवन्तञ्च योद्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमं ॥ ६ ॥

(टी०) 'मित्रध्रुक्' मित्रं द्रुह्यतीति 'दुष्टभावः च' 'नास्तिकः' नास्तिजगतोमूलमात्मा नास्ति परलोकइत्येवम्वादी 'अथ' 'अन्जुः' अशरलः 'शठः'। 'गुणवन्तं च यः द्वेष्टि' 'तं' पण्डिताः 'पुरुषाधमं' 'आहुः' कथयन्ति ॥ ६ ॥

(ता०) मित्रस्य मुक्तहृदये प्रविश्य स्वदुरभिसन्धिं साधनं, साक्षात् परम्परया वा तदनिष्टचेष्टनं मित्रद्रोह उच्यते, मित्रद्रोहरूपमहापातकात् सर्वदा दूरेऽवतिष्ठेत।

यद्यसदभिसन्धिः स्वगतं स्यात्, तर्हि स एव दुष्टभावः, दुष्टभावादसदिच्छातस्य न कदापि सदनुष्ठानं जायते।

ईश्वरं प्रति न कदापि श्रद्धाशून्यो भवेत्, तत्राविश्वासः संशयश्च पापतोऽपि भयानकः। यः पापपुण्यानुसारतो दण्डपुरस्कारौ विदधन् मुक्तिमार्गे आत्मानं नयति, तं प्रति संशयोऽश्रद्धा च सांसारिको रोगः किन्तु विनीतः सन् गुरूणां साधूनाञ्च साहाय्येनास्माद्रोगनिष्कृतिमाशु यतेत।

सदा सरलोऽवतिष्ठेत, सरलतैवासामान्यसाधुता। बहवः साधुगुणाः सरलताया नित्यसहचराः, सरलतायां सुरक्षितायां ते सर्वएव सुरक्षिता भवन्ति विनष्टायान्तु तस्यां ते सर्व एव विनश्यन्ति।

यः समक्षे प्रियं व्यवहरति परं गूढरूपेणानिष्टाचरणे प्रवृत्तः, स शठ उच्यते। सर्वतः शठतां परित्यज्य सर्वदा सर्वेषां हितानुष्ठानं शुभानुष्ठानं च कुर्यात्।

ईश्वरस्य परिपूर्णमङ्गलभावात् सद्गुणाः समस्ताः समुत्पन्नाः। सद्गुणेषु विद्वेषे कृते ईश्वर-द्वेषं कृतं भवति। ये हि सद्गुणसम्पन्नाः सन्तो जगदुपकारं कुर्व्वन्ति, तान् समादरेत्, अपि च निर्गुणमपि मनुजं न विद्विषेत् ॥६॥

८७

(मू०) अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थञ्चैवाप्यनर्थतः। इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखं ॥ ७ ॥

(टी०) 'अनर्थं' अकार्य्यं 'अर्थतः' पश्यन् 'अर्थं च एव अपि अनर्थतः'। 'इन्द्रियैः अजितैः' 'बालः' अल्पप्रज्ञः 'सुदुःखं मन्यते सुखं' ॥७॥

(ता०) यथा शिशवोऽतिविषमपि कालसर्पं धर्त्तुमुद्यता भवन्ति, तथैवाजितेन्द्रियाल्पप्राज्ञजनाः विपदं सम्पदमिति बुध्यन्ति, न ते परिणाममवेक्षन्ते, यत् किञ्चन तेषां सद्यस्तृप्तिकरं तत्रैव सर्वान्तःकरणेनासक्ता भवन्ति, अतः सर्वदा जितेन्द्रियाः कृतप्रज्ञाश्च सन्तः परिणाममवलोकयेत्। अस्माकं जीवनस्य न चास्ति शेषः, अनन्तकालमीश्वरेणास्य योगः स्थेयः, तदिमं चिरस्थायिनं जीवनं सर्वदा संलक्ष्य समाचरेत् ॥ ७ ॥

इति।

एकादशोऽध्यायः।

८८

(मू०) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकं धर्म्मलक्षणं ॥ १ ॥

(टी०) 'धृतिः' धैर्य्यं। परेणापकारे कृतेऽपि तस्य प्रत्युपकारानाचरणं 'क्षमा'। विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसः 'दमः'। अन्यायेन परधनादेरग्रहणं 'अस्तेयं'। 'शौचं' द्विविधं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं ज्ञानतपोभ्यां अन्तःशोधनञ्च। 'इन्द्रियनिग्रहः' इन्द्रियसंयमः। शास्त्रादितत्त्वज्ञानं 'धीः'। परमात्मज्ञानं 'विद्या'। यथार्थाभिधानं 'सत्यं'। क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिः 'अक्रोधः'। एतत् 'दशकं' दशविधं 'धर्म्मलक्षणं' ॥ १ ॥

(ता०) सम्पदि विपदि च धैर्य्यमवलम्बेत। यो मनसा क्षमां प्रार्थयते बहुपराधिनमपि तं क्षमेत। विकारजनकप्रलोभनैः परिवेष्टितेऽप्यन्तःकरणे, यथा च विकारप्राप्तं न भवेत् तथा तं वशी कुर्य्यात् द्रव्यस्वामिनमविज्ञाप्य प्रतारणया बलेन वा अन्यद्रव्यं न गृह्णीयात्। कायिकान् मानसिकांश्च दोषान् प्रक्षाल्य सर्व्वतः शुचिर्भवेत्। इन्द्रियान् शिष्यात्। बुद्धिं मार्जयेत्। ज्ञानमभ्यस्येत। सत्यं भाषयेत्। क्रोधं सम्वृणुयात् ॥ १ ॥

८९

(मू०) ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्द्धते। ह्रीहता बाधते धर्म्मं धर्म्मोहन्ति हतः श्रियं ॥ २ ॥

(टी०) 'ह्रीमान्' लज्जावान् 'हि पापं प्रद्वेष्टि' 'तस्य' ह्रीमतः 'श्रीः अभिवर्द्धते'। 'ह्रीः हता' 'धर्म्मं' 'बाधते' पीड़यति 'धर्म्मः' 'हतः' सन् 'श्रियं' 'हन्ति' ॥२॥

(ता०) अन्यदीयापि सुखादेकस्मिन्नश्लीलवचने श्रुते यस्य लज्जा भवति, स एव ह्रीमान्। ह्रीमान् पापादतिजुगुप्सते, स्वभावत एव ततो दूरं तिष्ठासति—तस्य श्रीःपरिवर्द्धिता भवेदेव। यस्य ह्रीरपगता तस्य दृष्टितो पापपथः सुगमः—अपिच कल्याणकरधर्म्मपथे तस्य बाधा जायते—किञ्चाधर्म्मे पतन् श्रीहीनो मलिनश्च भवेत। अतो वाक्ये भावे वेशविन्यासे चातियत्नेन ह्रीरक्षणं विधेयम् ॥२॥

९०

(मू०) अनसूयः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते। सुखानि धर्म्ममर्थञ्च स्वर्गञ्च लभते नरः ॥ ३ ॥

(टी०) गुणेऽपि दोषाविष्कारवान् असूयुः न असूयुः 'अनसूयः' 'कृतज्ञः' कृतोपकारस्मरणधर्म्मा 'च' 'कल्याणानि च' श्रेयस्कराणि च कर्म्माणि 'यः' 'सेवते' करोति। सः 'नरः' 'सुखानि धर्म्मं अर्थं च स्वर्गं च लभते' ॥ ३ ॥

(ता०) कस्यापि गुणेषु दोषं नारोपयेत्, उपकारेणोन्तिके आन्तरिककृतज्ञः स्यात्। शुभकर्म्मानुष्ठाने सततमुद्यतस्तिष्ठेत्। अन्यथा धर्म्मभावो न वर्द्धेत, हृदयं पवित्रं न स्यात्, ईश्वरमपि लब्धुं न क्षमेत। मनःसुखं संसारोन्नतिः आत्मनो धर्म्मोऽनन्तकालस्थेय-सद्गतिश्चैतच्चतुर्वर्गो मनुजप्रार्थनीयः पुरुषार्थः ॥ ३ ॥

९१

(मू०) सर्व्वोदण्डजितोलोकोदुर्लभो हि शुचिर्नरः। दण्डस्य हि भयात् सर्व्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ ४ ॥

(टी०) 'सर्व्वः' 'लोकः' 'दण्डजितः' दण्डेन नियमितः सन् सद्वर्त्मनि वर्त्तते। 'शुचिः' स्वभावविशुद्धः 'हि, 'नरः' 'दुर्लभः'। 'हि' अवधारणे 'दण्डस्य' एव 'भयात् सर्व्वं जगत्' 'भोगाय' भोगार्थं 'कल्पते' समर्थोभवति ॥ ४ ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

ब्रह्माण्डकाण्डकरणाद्यखिलप्रकारण्यसिन्धुं समशक्तिमन्तम् । बोधाब्धिवेदमननेन मान्यं वन्देहमीशं जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।

राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरम्बराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [July, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [२५ संख्या

বৈদিকসমালোচনা।

(৩৪ সংখ্যার পর)

সামবেদীয় মন্ত্রভাগের সমালোচনা কথঞ্চিৎ করা হইল, অধুনা ব্রাহ্মণভাগের বিবরণ বক্তব্য হইয়াছে।

০ সামবেদের ব্রাহ্মণ গ্রন্থ আটখানি। তন্মধ্যে আদ্য ব্রাহ্মণ—"তাণ্ড্য"। এই খানি ৫ পঞ্চিকা, ২৫ প্রপাঠকে, ৩৩৭ খণ্ডে বিভক্ত। তাণ্ড্য নামে এক জন সামগাচার্য্য ছিলেন, বোধ হয় তন্নামানুসারেই ইহাকে তাণ্ড্য বলা যায় অপিচ যেহেতু ইহা পঞ্চবিংশতি প্রপাঠকাত্মক অতএব "পঞ্চবিংশ" নামেও বিশ্রুত এবং সামবেদীয় ব্রাহ্মণ গ্রন্থের মধ্যে ইহা অতি বিস্তৃত অতএব "মহাব্রাহ্মণ" নামেও কীর্ত্তিত ও কাঠীন্যাদি হেতুক "প্রৌঢ় ব্রাহ্মণ" নামেও ব্যবহৃত হইয়া থাকে। ইহার প্রথম পঞ্চিকার প্রথম প্রপাঠকে সকল ক্রত্বাদির উপযোগী "মহন্মেবোচো ভর্গো মে বোচো যশো মে বোচঃ" ইত্যাদি মন্ত্র আছে, দ্বিতীয়-তৃতীয়াধ্যায়ে "তিসৃভ্যো হিংকরোতি"-ইত্যাদি ত্রিবৃৎ প্রভৃতি স্তোমের ব্যবস্থা অভিহিত হইয়াছে, চতুর্থ পঞ্চমে "গাবো বা এতৎ সত্র মাসত তাসাং দশসু মাঃসু শৃঙ্গাণ্যজায়ন্ত"-ইত্যাদি অষ্টাদশ খণ্ডে সংবৎসর-সম্পাদ্য গবাময়ন সত্র বিহিত হইয়াছে, উনবিংশ খণ্ডে অর্থবাদের সহিৎ যজ্ঞদীক্ষা-কাল, বিংশতি তম খণ্ডে সত্রবিষয়ক বিকল্প ব্যবস্থাপিত হইয়াছে; এই রূপে প্রথম পঞ্চিকা নিঃশেষিত হইলে দ্বিতীয় তৃতীয়াদিও ক্রমে শ্রুত হইয়াছে। সামবেদীয় যাবৎ ক্রতু প্রকরণ সোমসাধ্য (সত্রাদি) তৎসমস্তই এই ব্রাহ্মণে-আম্নাত রহিয়াছে, দশরাত্র সংবৎসর-সত্র একাহ-অহীন-পর্ব্বগত সকল মন্ত্র এবং প্রায়শ্চিত্তাদি-পর্ব্বশ্রুত বহুমন্ত্র ইহাতে বিনিযুক্ত হয়; সুতরাং প্রায় সমস্ত মন্ত্রভাগই ইহার উপযোগী॥

वैदिकसमालोचना ।

(३४ संख्याया अनन्तरम् ।

वृत्तं सामवेदीयमन्त्रभागालोचनम् एतर्हि ब्राह्मणभागमधिकृत्य किञ्चिद् ब्रूमः ।

अथ सामवेदस्य अष्टौ ब्राह्मणानि । तत्राद्यं ताण्ड्यब्राह्मणम्—पञ्चपञ्चिकाभिः, पञ्चविंशति प्रपाठकैः, सप्तत्रिंशदधिकत्रिशतखण्डैर्विभक्तम् । ताण्ड्यनामकः बभूवैकः सामगाचार्यः तन्नामानुसारेणेदं ताण्ड्यमुच्यते, पञ्चविंशप्रपाठकात्मकत्वात् पञ्चविंशमप्याख्यायते, अतिविस्तृतत्वाद् दुर्गमत्वाच्च 'महाब्राह्मणं' 'प्रौढब्राह्मणम्' इति च कीर्त्त्यते । अत्र प्रथमपञ्चिकायाः प्रथमे प्रपाठके सर्वक्रत्वाद्युपयोगिनः 'महन्मेवोचो भर्गो मेवोचो यशोमेवोचः' इत्येवमाद्यो मन्त्राः श्रुताः, द्वितीयतृतीययोः 'तिसृभ्यो हिंकरोति'—इत्यादि त्रिवृदादिस्तोमप्रकारा व्यवस्थापिताः, चतुर्थपञ्चमयोः 'गावो वा एतत् सत्रमासत तासां दशसु माःसु शृङ्गाण्यजायन्त' इत्येवमादिभिरष्टादशखण्डैः सम्वत्सरसाध्यं गवामयनं सत्रमाम्नातम्, तत्रैवैकोनविंशतितमे खण्डे यज्ञदीक्षाकालः सार्थवादो निरूपितः, विंशतितमे तु सत्रविषयकः कश्चिद् विकल्पः, इति प्रथमा पञ्चिका, एवमुत्तरत्र । सामवेदीयानि यावन्ति क्रतुप्रकरणानि सोमसाध्यानि (सत्रादीनि) निःशेषेण तानीहैव श्रुतानि ; दशरात्रसम्वत्सरसत्रैकाहाहीन-पर्व-गताः समस्ता एव प्रायश्चित्तादि-पर्व गताश्च बहवो मन्त्रा एषु विनियुज्यन्ते , एवञ्चेह प्रायः कृत्स्न एव मन्त्रभाग उपयोगितामेति ।

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी । कलिकातायां नूतन संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

अथैतत् स्वरूपप्रदर्शनाय द्वितीयपञ्चिकाया आद्यखण्डः प्रदर्श्यते—

তৎস্বরূপপ্রদর্শনার্থ দ্বিতীয়পঞ্চিকার প্রথমখণ্ড দেখান যাইতেছে—

(१) प्रजापतिरकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति, स एतमग्निष्टोममपश्यत्, तमाहरत्, तेनेमाः प्रजा असृजत(२)काद्शेन च वै स ताः (३) स्तोत्रेणाग्निष्टोमस्यासृजतैकाद्शेन च मासा सम्वत्सरस्य, (४) ता द्वाद्शेन च स्तोत्रेणाग्निष्टोमस्य पर्य्यगृह्णाद् द्वाद्शेन च मासा संवत्सरस्य, तस्मात् प्रजा दशमासो गर्भं भृत्वैकादशमनुप्रजायन्ते, तस्माद् द्वादशं नाभ्यतिरोहन्ति (५), द्वादशेन हि परिगृहीता स्तद्दू य एवं वेद परिजाताः प्रजा गृह्णाति, अजाता जनयति ; (६) तासां परिगृहीताना(७)मश्वतरयत्याक्रामत्, तस्या अनुहाय रेत आदत्त, तद्वडवायां न्यमार्ट्(८) तस्माद् वडवाद्विरेता (९) तस्मा(१०)द् श्वतरप्रजा आत्तरेता हि ; तस्मा(११)द्दच्चिणीया-(१२)ति हि सा यज्ञमतिरिच्यतां, तिरिक्तस्य दक्षिणा स्यात् सलोमत्वाय (१३) षोड़शिनः स्तोत्रे देयातिरिक्तो वै षोड़श्यतिरिक्त एवातिरिक्तां ददाति ; (१४) सो कामयत यज्ञं सृजेयेति, सतु मुखत एव त्रिवृतमसृजत तं (१५) गायत्री छन्दो न्वसृज्यताग्निर्देवता ब्राह्मणो मनुष्यो वसन्तऋतु, तस्मात् त्रिवृत् स्तोमानां मुखं गायत्री छन्दसामग्निर्देवतानां ब्राह्मणो मनुष्याणां वसन्तऋतूनां, तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति मुखतो हि सृष्टः, (१६) करोति मुखेन वीर्यं य एवं वेद ; स उरस्त एव (१७) बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत तं त्रिष्टुप्छन्दोन्वसृज्यतेन्द्रो देवता राजन्योमनुष्यो ग्रीष्मऋतु, तस्माद् राजन्यस्य पञ्चदशस्तोमस्त्रिष्टुप्छन्द इन्द्रो देवता ग्रीष्मऋतु, तस्मादुबाहुवीर्यो बाहुभ्याः हि सृष्टः ; करोति बाहुभ्यां वीर्यं य एवं वेद, स मध्यत एव(१८) प्रजननात् सप्तदशमसृजत तं जगतीच्छन्दोन्वसृज्यत विश्वेदेवा देवता वैश्यो मनुष्यो वर्षा ऋतु, तस्माद् वैश्योद्यमानो न चीयते प्रजननाद् विसृष्ट, तस्मादु(१९)बहु पशुर्वैश्वदेवो हि जागतो वर्षा ह्यस्यर्तु, तस्माद् ब्राह्मणस्य च राजन्यस्य चाद्यो धरो हि सृष्टः, स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत तमनुष्टुप्छन्दोन्वसृज्यत न काचन देवता शूद्रो मनुष्य, तस्मा(२०)च्छूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो हि न हि तं काचन देवतान्वसृज्यत ; तस्मात् (२१) पादावनेज्यन्नाति वर्द्धते पत्तो हि सृष्ट ; तस्मा(२२) देकविंशः स्तोमानां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाया हि सृष्टः, तस्मा (२३) दनुष्टुप्छन्दांसि नानुव्यूहन्ति पापवसीयसो विधृत्यै, (२४) विधृतिः पापवसीयसो भवति य एवं वेद ॥ २प०६अ०१ख० ॥

(१) अग्निष्टोमं विधित्सुराह।

(२) यस्मात् प्रजाकामः प्रजापतिः तमग्निष्टोममाहरत् अन्वतिष्ठत् तस्मात् प्रजाकामेन सोऽनुष्ठातव्य इति विधिः 'यत्स्तूयते तद्विधीयते'-इति न्यायात्। अथाग्निष्टोमस्य गवामयन-सत्रस्य च द्वादशैकादशस्तोत्रे स्तौति-एकादशेनेत्यादिना।

(३) प्रजाः। (४)—गवामयन-सत्रस्य।

(५)—द्वादशमासम् अभिवर्ध्यौल्लंघ्य नातिरोहन्ति गर्भं न धारयन्ति।

(६)—सृष्टिप्रसङ्गेन किञ्चिदर्थमाह—तासामित्यादि।

(७) प्रजानाम् मध्ये। (८) निमार्जनं स्थापनमकरोत्।

(९) स्वकीयरेतसा सह। (१०) रेतोविहीनत्वात्।

(११) इदानीमश्वतर्य्याः अग्निष्टोमेऽदक्षिणीयतां विषयविशेषे दक्षिणीयतां च विधत्ते— तस्मादित्यादि।

(१२) दक्षिणायामनर्हा ; उ अदक्षणीयेति च्छेदः।

(१३) साहश्याय यथा यज्ञः तथा दक्षिणेति भावः। ततः यत्राश्वतरीदक्षिणीया भवेत् सोऽतिरिक्तप्रदेशः प्रदर्श्यते षोड़शिन इत्यादि।

(१४) योऽग्निष्टोम उक्थः तस्य त्रिवृदादिभिः स्तोमैः, गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः, अग्न्यादिभिर्देवैः अन्यैर्ब्राह्मणादिभिश्च साध्यत्वात् तेषां सृष्टिमाह—सोकामयतेति।

(१५) तम् अनु इति सम्बन्धम्।

(१६) उक्तार्थविदुषः फलमाह करोतीत्यादि मुखसाध्येन स्वाध्यायप्रवचनादिनेवाभीष्टं साधयतीत्यर्थः।

(१७) उरस्त इत्यस्यैव व्याख्यानं बाहुभ्यामिति।

(१८) मध्यत इत्यस्यैव व्याख्यानं प्रजननात्।

(१९) हि यतः वैश्वदेवः विश्वैर्देवैः सह सृष्टः, जागतः, जगत्या च्छन्दसा सहोत्पन्नः, अस्य वर्षा एव ऋतुः, तस्मात् बहुपशुरित्यर्थः।

(२०) हि यस्मात् विदेवः न हि तम् अनु काचन देवता असृज्यत तस्मात् विदेवत्वात् शूद्रः उतबहुपशुः पशुबहुत्वोपेतोऽपि अयज्ञियः यज्ञानर्होऽभूत्।

(२१) ब्राह्मण-राजन्य-वैश्येति-त्रिवर्ण-शुश्रूषातिरिक्तं किञ्चिदपि धर्मं नानुतिष्ठेदित्यर्थः।

(२२) हि यस्मात् प्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठारूपात् पत्तः सृष्टः एकविंशः यज्ञायज्ञीयादिमन्त्रसाध्यः स्तोमविशेषः तस्मात् स्तोमानां त्रिवृदादीनां प्रतिष्ठा पादस्थरूपः एकविंशस्तोमेनैवाग्निष्टोमसमाप्तेरिति बीजम्।

(२३) पापम् अवरस्थानादुत्पन्नमनुष्टुप् वशीयः पुण्यम् पुण्यस्थानादुत्पन्नं गायत्र्यादिकं अनयोः विधृत्यै विधरणाय भवेत्, तस्मादेवहेतोः अनुष्टुप्छन्दांसि अनुसवनं प्रयुक्तैः गायत्र्यादिछन्दोभिः सह न व्यूहन्ति।

(२४) सम्प्रति आद्यन्तस्य खण्डस्यैतस्य वेदितुः फलमाह विधृतिरिति य उक्तमर्थं जानाति स पापवसीयसोः पापपुण्ययोः विधृतिः विवेचको भवति, तस्मिन्नुभे समानाश्रये नस्त इत्यर्थः।

तृतीयदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

वशिष्ठऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १र२र ३ २ क २र ३
असावि देवं गोऋजीकमन्धोन्यस्मि-
१ २ ३ १ २ १ २
न्निन्द्रो जनुषे मुवोच। बोधामसि त्वा
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हर्यश्व यज्ञै र्बोधानः स्तोममन्धसो मदेषु
॥२१॥

'अन्धः' सोमलक्षणमन्नम् 'असावि' अभिषुतवान् कीदृशं तदित्याह 'गो ऋजीकम्' गोशब्देनात्र गोविकार पय आदि तेन ऋजीकं मिश्रितम् किञ्च 'देवम्' द्युतिमन्तम्। 'अस्मिन्' यज्ञे 'इन्द्रः' देवः 'जनुषा' जन्मनः प्रभृति 'ईम्' वरं 'मुवोच' मुवाच निःशेषेण वक्ति। हे 'हर्यश्व' हरिद्वर्णाश्ववन्! 'त्वा' त्वाम् 'यज्ञैः' एतैः 'बोधामसि' बोधयामः। 'अन्धसः' सोमलक्षणस्यान्नस्य 'मदेषु' सत्स्वपि सोमपानेन मत्तो भवन्नपि 'नः' अस्माकम् उच्चारितम् 'स्तोमम्' स्तोमलक्षणं स्तोत्रविशेषं त्रिवृदादिकम् 'बोधा' बोध॥ २१॥

দুগ্ধ দধি মিশ্রিত, দ্যুতিমৎ, সোমরস সংস্কৃত করিয়াছি। ইন্দ্র এই যজ্ঞে আজন্ম বর প্রদান করিতেছেন। হে হরিদ্বর্ণ-অশ্ব-স্বামিন্! তোমাকে যজ্ঞ দ্বারা জানাইতেছি; তুমি সোমপান করিয়া মত্ত হইয়াও আমাদিগের উচ্চারিত (স্তোত্রবিশেষ) ত্রিবৃদাদি স্তোম বিদিত হও॥ ২১॥

प्राकर्षम्।

२ र र २ ३ ५ १र
असौ होवाइहाइ। वी२३४दे। वांगो
२ ३ ४ ५ २र र ३
ऋ। जीकमन्धाः। न्यौ होवाइहा। स्मी २
५ १ २ ३ ४ ५ २र र र
३४नी। इन्द्रोजनु। षेमुवोचा। बोधौ होवा
२ ५ १ २ ३ ४ ५
इहाइ। मा२३४सी। त्वाहरि। अश्वयज्ञैः।
२र र र २ ५ २ १
बोधौ होवाइहाइ। ना२३४स्तो। ममन्ध।
२ २ ४
सो३४३। मा३दा५इषु६५६॥२१॥

द्वितीया ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमानृभिः
३ १ २ ३ १ २ ३ २
पुरूहूत प्रयाहि। असो यथा नो विता
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृधश्चिद्दो वसूनि ममदश्च सोमैः॥२२॥

हे 'इन्द्र!' 'ते' तव 'सदने' 'योनिः' वेद्याख्यं स्थानम् 'नृभिः' अस्मदीयै ऋत्विग्भिः 'अकारि' कृतम्, हे 'पुरूहूत' बहुभिराहूत! 'तं' यज्ञयोनिम् 'प्रयायाहि' प्रकर्षेणागच्छ। अपि च तथा आगच्छ 'यथा' येन प्रकारेण 'नः' अस्माकं 'अविता' पालयिता 'वृधश्चित्' वृधस्य वर्द्धयिता च 'असः' सन् 'वसूनि' धनानि 'ददः' दास्यति 'च' अपि च 'सोमैः' 'मदः' तृप्यस्व॥ २२॥

হে ইন্দ্র! অস্মৎ ঋত্বিক্‌গণ কর্ত্তৃক ত্বদীয় মণ্ডপে যজ্ঞযোনি অর্থাৎ বেদী প্রস্তুতীকৃত হইয়াছে, তুমি সেই স্থলে দ্রুত আগমন কর —এবং তথা আগমন কর-যথা আমাদিগের রক্ষণকারী ও বর্দ্ধয়িতা হওত বিবিধ রত্ন প্রদান করিবা ও সোমপান করত তৃপ্ত হইবা॥২২

४ ५ १ २ १ २ ३ ४
योनीः। तआइ। द्रा३सद। नाअका-
५ ४ ५ १ २ २ ३ ४
री। तामा। नृभाइः। पुरुहू३। तांप्रया-

५ ४ ५ १ २ १ २ २ ४

ही। आसाः। यथा। नो३ अवि। ताद्दथ-

५ ४ ५ १ २ १ २

सीत्। दादाः। वस्व। नी३मम। दा३४३ः।

२ ४

चा३सो५मा६५६इः ॥२२॥

तृतीया ऋक्।

गृत्समद ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्ण-

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

वान् बद्बधानाꣳ अरम्णाः। महान्तमिन्द्र

१ २ ३ २उ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २

पर्वतं वियद्वः सृजद्धारा अव यद्दानवान्

हन् ॥ २३ ॥

हे 'इन्द्र!' 'अर्णवान्' उदकस्वामी 'यत्' यः 'त्वम्' 'उत्सम्' मेघम् 'अदर्दः' विदारयसि, 'खानि' गगनबिलानि 'व्यसृजः' विसृजसि उद्घाटयसि, 'बद्बधानान्' वर्षणबाधकान् 'अरम्णाः' रमणानि संयमनकर्माणि इह तु विसर्जनकर्मा विसृजसि दूरीकरोषीत्यर्थः 'महान्तम्' 'प्रर्वतम्' मेघम् 'वियत्' वियति 'वः' विवृतं करोषि, 'धाराः' वृष्ट्यात्मिका 'सृजत्' सृजसि, स त्वम् 'दानवान्' 'अवहन्' अवजहि ॥ २३ ॥

হে উদকাধিপতি, ইন্দ্র! যে তুমি মেঘ-সংঘ বিদারণ করিতেছ; গগন ছিদ্র সকল উদ্ঘাটন করিতেছ; বৃষ্টি-বাধক সমস্ত দূর করিতেছ, বৃহৎ বৃহৎ মেঘ সকল আকাশে বিবৃত করিতেছ; বৃষ্টিময় ধারা সৃজন করিতেছ, সেই তুমি দানবদিগকে নাশ কর ॥২৩॥

औहत्वयम्।

४ ५ ४ २ र १ २ १

अदर्दरुत्। समसृजो विखानि। त्वम-

५ २ र र १ २

र्णा २३४ वान्। बद्बधानाꣳ अराम्णाः।

१र ५ २ १ २ १

महान्ता२३४मी। द्रपर्वतं वियाद्वः। सृजा-

५ १ २ १२र १ २

द्धा२३४राः। अवयद्दान। वा२३न्हा३४३न्।

१

ओ२३४५इ। डा ॥२३॥

चतुर्थी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

३ १ २ ३ १ २ ३ १

सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यं-

२ ३ १ २ १ २

तश्चित् तुविनृम्ण वाजम्। आ नो भर

३१र २र ३ २उ ३ १ २ ३

सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्यामा

१ २

त्वोताः ॥२४॥

हे 'इन्द्र!' सुष्वाणासः' सुष्वाणः सोममभिषुखन्तः 'चित्' अपि च 'सनिष्यन्तः' भजिष्यन्तः वयम् 'त्वा' त्वाम् 'स्तुमसि' स्तुमः। हे 'तुविनृम्ण!' बहुधन! 'नः' अस्मभ्यम् 'सुवितम्' सुतम् 'वाजम्' अन्नम् 'आ भर' आहर आनय देहीत्यर्थः, कीदृशमन्नमित्याह 'त्वोताः' त्वया उताः रक्षिताः वयम् 'यस्य' अन्नस्य 'कोना' कोनम् एकदेशम् 'तना' 'तनम् विस्तृतं च 'त्मना' आत्मना स्वयम् 'सह्याम' सोढुं शक्येम। असह्यमन्नं कदन्नं मा प्रयच्छेति भावः ॥ २४ ॥

হে ইন্দ্র! সোমাভিষবকারী এবং ভজনকারী আমরা তোমাকে স্তব করিতেছি; হে বহুধন! আমাদিগকে উত্তম অন্ন প্রদান কর, ত্বদ্রক্ষিত আমরা যে অন্নের অল্পই অথবা বিস্তর স্বয়ং সহ্য করিতে পারি!! অর্থাৎ যাহার পরিপাকের নিমিত্ত ঔষধাদির অপেক্ষা না থাকে ॥ ২৪ ॥

पार्थम्।

४ ५ ४ ५ ३ ५ ३ २ ३ ५ ४
सुष्वाणासः। इन्द्रस्तु। मसित्वा। स-
३ ४ ५ ३ ५ र
निष्यन्तश्चित्तुविनृम्णवा२३४जाम्। आनः।
२ ३ ५ ४ ५ र ४
भराओ २३४ वा। सुवितं यस्य को। ना।
५ ४ ५ २ र २ २ ४
तानात्माना। सह्रिया। मा३४३। तू ३ वो
५ताई५ई:॥२४॥

पञ्चमी ऋक्।

भरद्वाजऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्रहस्तं वसूय
२ ३ १ २ ३ २उ ३ १
वो वसुपते वसूनाम्। विद्मा हि त्वा गो-
२ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र
पतिं शूर गोना मस्मभ्यं चित्रं वृषणं
३ १ २
रयिं दाः॥२५॥

हे 'वसुपते' धनस्वामिन् 'इन्द्र!' 'वसूयवः' धनमिच्छन्तो वयं 'वसूनाम् धनानां निमित्तम् 'ते' तव 'दक्षिणं हस्तम्' 'जगृह्मा पुनः पुनर्गृह्णामः हे 'शूर!' विक्रान्त! 'हि' यतः 'त्वा' त्वाम् 'गोपतिम्' विद्म' अतः 'अस्मभ्यम्' 'गोनाम्' गवां मध्ये-यत् 'चित्रम्' पूज्यम् 'वृषणम्' वर्षितृ क्षीराणाम् तत् 'रयिम्' गोलक्षणं धनम् 'दाः' देहि॥ २५॥

হে ধনস্বামিন্, ইন্দ্র! ধনলিপ্সু আমরা ধনের নিমিত্ত তোমার দক্ষিণ হস্ত পুনঃ পুনঃ গ্রহণ করিতেছি। হে বিক্রান্ত! যেহেতু তোমাকে গোপতি বলিয়া জানি অতএব আমাদিগকে সমস্ত গোধনের মধ্যে যাহা পূজনীয় ও বহু দুগ্ধবতী সেই গোধন প্রদান কর॥২৫॥

सौपर्णम्।

५ र र र र र ५
जगृह्माते दक्षिणमोहा ओहाईए।
१ २ र १ २ २
इन्द्रहा२३स्ताम्। वसूयवो। वसूपा३। ता-
३ ५ २ २ २
इवसू। नाम्। ओ३। हा। ओ३। हा ३
२ १र र २ २ ३ ५
ए। विद्माहित्वा। गोपतो३म्। शूरगो।
२ २ २ २ १
नाम्। ओ ३। हा। ओ३। हा३ए। अस्म-
२ १ २ ३ ५ २
भ्यं चाइ। त्रा३ꣳवृष। णा॒ꣳरयिम्। दाः।
२ २ २ १ ऽ
ओ३। हा। ओ३। हा३ए। रयाइन्दा३उ-
२ २ ५ २र १र २र १ १ १ १ १
वा३। ऊ३४पा। औहो औहोवा २३४५
३ १ १ १ १
उ। वा। ई२३४५॥२५॥

षष्ठी ऋक्।

वशिष्ठऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्रन्नरो नेमधिता हवन्ते यत् पार्या
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
युनजते धियस्ताः। शूरो नृषाता अवस
३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
श्च काम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः॥२६

'नरः' मनुष्याः योद्धारः 'नेमधिता' नेमधितौ सङ्ग्रामे 'यत्' यस्मात् 'इन्द्रम्' 'हवन्ते' आह्वयन्ति तस्मात् ते 'ताः' 'पार्याः' पारयितव्याः रणकुशलाः 'धियः' 'युनजते' प्राप्नुवन्ति अथवा युनजते युंक्ते इन्द्र इति यावत्। 'शूरः' विक्रान्तः वीरभावान्वित हृदयः 'नृषाता' नॄन् शत्रून् स्यतीति नृषाता शत्रु मनुजहननशीलः भवितु 'अवसः' 'चकासे' कामयति। हे इन्द्र! 'त्वम्' 'नः' अस्मान् 'गोमति' 'व्रजे गोष्ठे 'आभज' गोमद्गोष्ठं देहीति भावः॥ २६॥

যেহেতু যোদ্ধারা রণস্থলে ইন্দ্রকে আহ্বান করে, সেই হেতু তাহারা শত্রু-পরাভবোপযোগী বুদ্ধি প্রাপ্ত হয়। বীর হৃদয় পুরুষেরা শত্রু নাশ করণার্থ এবং কামনা করেন। হে ইন্দ্র! তুমি আমাদিগকে গোমান্ গোষ্ঠ প্রদান কর ॥ ২৬ ॥

गौरीवितम्।

२ ३ ५ २ ३ ५
इन्द्रन्ना२३४रो। नेमाधा २३४ इता।
२ १ २ ३ ५ २ ३
ह्वन्ता२३इ। यत्पारा२३४याः। यूनाजा
५ २ १ २ ३
२३४इताइ। धियास्ता२३ः। शूरो ना२३४
५ २ ३ ५ २ १
र्षा। ताश्रावा२३४सः। चकामा २३ इ।
२ ३ ५ २ ३ ५ १
आगोमा२३४ती। व्रजाइ भा२३४जा। त्व-
ऽ २ २ १ ३ १ १ १ १
न्ना३उवा३। ए३। उपा२३४५ ॥२६॥

सप्तमी ऋक्।

गोरिवीतऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १र २ र ३ १ २ ३ १ २ ३
वयः सुपर्णा उप सेदु रिन्द्रं प्रियमेधा
१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २
ऋषयो नाधमानाः। अप ध्वान्त मूर्णुहि
३ १र २र ३ २ २ ३ १ २ ३ २
पूर्द्धि चक्षु र्मुमुग्धा ऽ३स्मान्निधयेव बद्धान्
॥ २७ ॥

'ऋषयः' योगिनः 'नाधमानाः' याचमानाः सन्तः 'इन्द्रम्' ईश्वरम् 'उपसेदुः' उपसंगच्छन्ति। किं याचमानाः इति प्रार्थनात्रयमुच्यते—'ध्वान्तम्' जगतोऽन्धकारम् 'अपोर्णुहि' आच्छादय तिरस्कुरु इत्यर्थः, किञ्च 'चक्षुः' अस्मदादीनाम् 'पूर्द्धि' पूरय ज्ञानेनेति यावत्, अपि च 'निधया' पाशसमूहेन 'बद्धान्' 'इव' 'अस्मान्' 'मुमुग्धि' मोचयेति। कीदृशाः ते ऋषयः इत्याह 'वयः' पक्षिणः' ऊर्द्ध गमनसामर्थ्यात् तत् सदृशाः 'सुपर्णाः' सुपतनाः सुगमनाः यथेच्छगामित्वात् 'प्रियमेधाः' प्रिया आदरणीयाः मेधाः 'प्रज्ञाः येषां ते ॥ २७ ॥

পক্ষিগণের ন্যায় ঊর্দ্ধগমন সামর্থ্যবান্, যথেচ্ছগামী, যোগিরা ঈশ্বরের সমীপে এই প্রার্থনাত্রয় করত উপস্থিত হন্ প্রথম অন্ধকার নাশ কর, দ্বিতীয় চক্ষু জ্ঞানে পরিপূর্ণ কর, তৃতীয় পাশ সমূহে বদ্ধপ্রায় আমাদিগকে মুক্ত কর ॥ ২৭ ॥

वैदन्वतम्।

५ र र १ र र
वयो हाहाउ। सुपर्णा उपसेदुराइ-
२ १ र र र ७ २
न्द्रम्। प्रियमेधा ऋषयो नाधमा२३नाः।
१ र र र २ २
अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चा२३क्षुः। मुमु-
१ ऽ २ — २ १
ग्धि। औ३हो३इ। आ२१। स्मा ३ न्निध।
२ २ ४
ये ३४३। वा३बा५द्धाई५ईन् ॥२७॥

अष्टमी ऋक्।

वेतनऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः आदित्यो देवता।

१ २ ३ २उ ३ १र २र ३ १र
नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा
२र ३ १ २ १ २ ३ १ २
वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा। हिरण्यपक्षं वरु-
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
णस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्
॥ २८ ॥

ऋषयः 'नाके' अन्तरिक्षलोके 'यमस्य योनौ' आदित्यमण्डले 'त्वा' त्वाम् ईश्वरम् आदित्यपुरुषम 'हृदा' हृदयेन 'वेनन्तः' कामयमानाः 'अभ्यचक्षत'

परिपश्यन्ति। कीदृशं त्वामित्याह 'सुपर्णम्' सुगमनम् 'उप' उपगम्य 'पतन्तम्' व्रजन्तम् 'हिरण्यपक्षम्' सर्वस्य लोकस्य हितत्वात् रमणीयत्वाच्च हिरण्यशब्देनात्र रश्मय उच्यन्ते ते पक्षस्थानीयाः यस्य तम् हितरमणीयैरश्मिभिर्युक्तमित्यर्थः 'वरुणस्य दूतम्' वरुणोजलाधिपदेवः अयं ह्यादित्यः रश्मिभिः पृथ्वीत उदकान्यादत्ते तदेव तद्दौत्यम् 'शकुनम्' शक्तम् समर्थम् सृष्ट्यादौ 'भुरण्यम्' भ्रमणशीलम्॥ २८॥

যে দেব সুগমন ক্রমে বিচরণ করেন, যিনি সকলের হিতকর ও রমণীয় রশ্মি সংযুক্ত,যিনি পৃথিবী হইতে প্রতিক্ষণ উদক আকর্ষণ করত জলাধিপ বরুণের দূত স্বরূপ হইয়াছেন, যিনি সৃষ্টী-স্থিতি-সংহারে সমর্থ, যিনি সর্ব্বদা ভ্রমণ করিতেছেন; সেই তোমাকে ঋষিরা অন্তরিক্ষ লোকে আদিত্যমণ্ডল মধ্যে হৃদয়ের সহিত কামনা করত দেখিতে পান॥২৮॥

यामम्।

आ२याम्। अयायम्। औ३हो३इ। आ २इ। उ२। नाके सुपर्ण मुपयत्पतन्तम्। पतन्तम्। औ३हो३इ। आ २ इ। उ२। आ२याम्।०। हृदा वेनान्तो अभ्यचाक्षतत्वा। क्षतत्वौ३। हो३इ। आ२इ। उ२। आ२याम्।०। हिरण्यपाक्षं वरुणस्य दूताम्। स्यदूतम्। औ२हो३इ।०। यमस्ययेनौ शकुनाम्भुरण्यूम्। भुरण्युम्। औ३हो३इ।०। आ२इ। उ२। वाहा३

१उ वा२३। ए३। दिवम्। ए३। दिवम्। ए३। दिवा२३४५म्॥२८॥

नवमी ऋक्।

कुलऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः आदित्यो देवता।

ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः। स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनि मसतश्च विवः॥ २९॥

यद् 'ब्रह्म' आदित्याख्यं अहन्यहनि 'पुरस्तात्' पूर्वस्यां दिशि 'प्रथमम्' सर्वस्मात् जगतः 'जज्ञानम्' जायमानम् उद्यत् 'सीमतः' आसीमतः 'सुरुचः' सुदीप्तान् 'वेनः' वेनान् रश्मीन् 'विआवः' विस्तारं कृतवान् 'सः' आदित्यपुरुषः 'बुध्न्याः' ऊर्द्धं विदिताः दिशः 'उपमाः' जगन्मण्डलस्य मानरूपाः 'अस्य' जगतः 'विष्ठाः' विष्टभ्यः स्थानीः 'सतः' पदार्थस्य 'असतश्च' पदार्थस्य 'योनिम्' योनीः 'विवः' वि आवः विस्तारं कृतवान्। एतच्च प्रसिद्धम्—यस्यां दिशि आदित्यः उदेति सा पूर्वा ततोऽन्याऽपरा ततोऽन्या उत्तरेति व्यवहारस्य दृष्टत्वात्॥ २९॥

যে আদিত্য প্রতিদিন পূর্ব্বদিকে সর্ব্বপ্রথমে উদিত হওত সুদীপ্ত রশ্মী সমূহ সীমান্ত বিস্তার করেন, সেই আদিত্য পুরুষ ঊর্দ্ধ প্রায়, জগন্মণ্ডলের মান স্বরূপ, এই জগতের বেষ্টয়িতৃ এবং নিত্যানিত্য পদার্থের কারণ দিক্ সকল বিস্তার করিয়া থাকেন॥ ২৯॥

ऋतसाम।

ब्रह्मा। ब्रा२३ह्मा। जज्ञानं प्रथमं

१ २ १ २
पुरास्तात्। विषाइ। वा२३इसो। मतः
र र १ २ १ २ र
सुरुचोवेनआवः। सबू। सा२३बू। भिया
र र ५ १
उपमा अस्य वायिष्ठाः। सताः। सा२३
५ र १ २ १
ताः। चयोनिमसतश्चवाइवा३४३ः। ओ२३
४५इ। डा॥ २९॥

दशमी ऋक्।

सुहोत्रऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१२ ३१२ ३ २ ३१२
अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय
३१२ ३१२ ३ १२ ३ २३ १२
तवसे तुराय। विरप्शिने वज्रिणे शन्त-
३ २ ३ १
मानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः॥ ३०॥

'अस्मै' प्रकृताय इन्द्राय 'अपूर्व्या' अपूर्वाणि नानुभूतपूर्वाणि 'पुरुतमानि' अतिशयेन बहूनि 'शन्तमानि' अतिकल्याणकराणि 'वचांसि' स्तुतिवचनानि 'अस्मै' एतदर्थं बुद्धिस्थप्रयोजनसिद्ध्यर्थं 'तक्षुः' ततक्षुः तक्षाम आच्छादयाम प्रेरयामः वयमिति शेषः। अस्मै इन्द्राय कीदृशाय? 'महे वीराय' महेश्वराय 'तवसे' बलवते 'तुराय' चतुराय 'विरप्शिने' महते 'वज्रिणे' वज्रधारिणे स्थविराय वृद्धाय॥ ३०॥

মহাবীর, বলবান, চতুর, মহান্, বজ্রধারী, স্থবির, এই ইন্দ্রোদ্দেশে—এই অভীষ্ট সিদ্ধির নিমিত্ত—অভিনব, কল্যাণকর, বহুতর, স্তুতি-বাক্য প্রযুক্ত হইতেছে॥ ৩০॥

वारवन्तीयम्।

५ र र र ४ ५ २ ३ २ ५
अपूर्व्या औहोहो हाइ। पूरुत। मा
३ ४ ५ २ १ र र २ १ ५ ३ ४
नियस्मै। महेवीरा। या३तव। साइतुरा-
५ २ ३ ४ ५र २ २
या। विरप्शि। नाइवज्रिणे। शा३४३न्त-
३र ५ २ १र २ १
मानि। वचांसि या। स्मा इइस्थवि।
२ ३ ४ ५ २ ४ ५र २
राय तक्षुः। स्थविरायतक्षुः। स्थवि। रा
२ ४ १ २ र ३
३४३। या३ताघूक्षूइ५इः। स्थविराय तक्षू
१ १ १
२३४५ः॥ ३०॥

इति तृतीया दशतिः।

चतुर्थदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

द्युतान ऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः इन्द्रो देवता।

१२ ३ १ २ ३१ २ ३ २
अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदीयानः
३ २ २१ २ ३१ ५ ३ २उ ३
कृष्णो दशभिः सहस्रैः। आवत्तमिन्द्रः
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अध-
३
द्राः॥ ३१॥

'कृष्णः' कृष्णनामतः प्रसिद्धः कश्चनासुरः 'दशभिः सहस्रैः' स्वानुचरैः सह 'द्रप्सः' द्रुतं गच्छन् 'इयानः' अयमानः पलायमानः 'अंशुमतीम्' नाम नदीम् 'अवातिष्ठत्' 'शच्या' स्वकर्म्मणा 'धमन्तम्' गर्जयन्तं 'तम्' असुरम् 'नृमणाः' नृषु मनो यस्य सः 'इन्द्रः' 'आवत्' रक्षितवान् (रणात् पलायमानं न हन्तीति वीरधर्म्मः) 'अध' अथ अनन्तरमिति यावत् 'स्नेहितिम्' सेनां दशसहस्रसंख्यकाम् 'अप द्राः' अपागमत् अवधीदित्यर्थः॥ ३१॥

কৃষ্ণ নামাসুর দশ সহস্র সৈন্য সমভিব্যারে দ্রুত পলায়ন করত অংশুমতী নদী আশ্রয়ণ করে, ইন্দ্র তথায় উপস্থিত হইয়া সেই গর্জন কারী অসুরকে (পলায়মান বিবেচনায়) রক্ষা পূর্ব্বক সৈন্যগুলি সংহার করিলেন ॥ ৩১ ॥

सुरूपवि।

अवद्रा २३४प्साः। आंशुमा२३४
तीम्। आता३। ष्ठा२३४५त्। ईयाना२३
४:कृ। ष्णा दोशा२३४ भीः। सा हा ३। सा
२३४५ इः। आवत्ता२३४मी। इः याचो
२३४ या। मामा ३। ता २३४५ म्। आ-
पःस्ती२३४ ही। तिन्मार३४णाः। अघा
२द्रा२३४औ हो वा। अघा३द्रा २३४५ः॥३१

द्वितीया ऋक्।
ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

वृत्रस्य त्वा श्वसथा दीषमाणा विश्वे
देवा अजहुर्ये सखायः। मरुद्भिरिन्द्र
सख्यन्ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि
॥ ३२ ॥

हे 'इन्द्र!' 'ये सखायः' आसन् 'विश्वेदेवाः' ते तु 'वृत्रस्य' वृत्रासुरस्य 'श्वसथात्' श्वासात् 'ईषमाणाः' पलायमानाः सन्तः 'त्वा' त्वाम् 'अजहुः' त्यक्तवन्तः, अतोऽद्य 'मरुद्भिः' सह 'ते' 'सख्यम्' 'अस्तु' 'अथ' अनन्तरम् 'इमाः' 'विश्वाः' सर्वाः 'पृतनाः' सेनाः 'जयासि' जयसि अभिभवसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

হে ইন্দ্র! বিশ্বেদেবা দেবতারা তোমার সখা ছিলেন, অধুনা তাঁহারা বৃত্রাসুরের শ্বাস-শব্দ শ্রবণ মাত্রেই এই রণস্থলে তোমায় ত্যাগ করত পলায়ন করিলেন, অতএব সম্প্রতি মরুদ্‌গণের সহিত তোমার সখ্য হউক, তাহা হইলে অনায়াসেই এই সমস্ত সেনাসমুদ্র জয় করিতেছ ॥ ৩২ ॥

धृषन्माहतम्।

हाउ। ओ३हाउ। ओ३हाउ। हाइ।
वृत्रस्य त्वा। श्वसथात्। ईषमाणाः। विश्वे
देवाः। अजहुः। ये सखायाः। मरुद्भि-
राइ। द्राउसखि। यते अस्तु। अथेमाश्राइ।
श्वा ३ः पृत। नाजयासी। हा ३। ओ३
हाउ। ओ३हाउ। हाउ४। औहोवा। आ
औ३हो२३४५ ॥ ३२ ॥

तृतीया ऋक्।
वृहदुक्थ ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं
सन्तं पलितो जगार। देवस्य पश्य काव्यं
महित्वा द्या ममार स ह्यः समान ॥ ३३ ॥

हे अन्तरात्मन्! 'देवस्य' इन्द्रस्य 'महित्वा' महत्त्वेनोपेतं 'काव्यम्' सामर्थ्यम् रहस्यं वा 'पश्य'

क्रिन्तदित्याह—'विधुम्' विधातारं पुत्रादीनाम् अपिच 'समने' संग्रामे 'बहूनाम्' शत्रूणाम् 'दद्राणम्' दारयितारम् 'युवानम्' 'सन्तम्' विद्यन्तमेव 'पलितः' जरा जगार निगिरति, किञ्च 'यः' 'अद्य' 'ममार' म्रियते 'सः' 'ह्यः' परदिने 'समार' जीवति-इति ॥ ३३ ॥

দেখ !! ইন্দ্রের মাহাত্ম্য প্রসূত কি আশ্চর্য্য রহস্য !! প্রজননক্ষম ও সংগ্রামে শত্রুকুল দারয়িতা এরূপ যুবাদিগকেও দেখিতে দেখিতে জরা গ্রাস করিতেছে এবং যে অদ্য মৃত হইল সে কল্য জীবিত হইতেছে ॥ ৩৩ ॥

सोमसाम।

४ ५ १ ७ २ १ २
वीधूम्। दद्रा दद्रा। णा३ॐसम। नौ
२ ४ ५ ४ ५ १ ७ २
इबह्ननाम्। यूवा। नॐसानॐसा। ता३
१ २ ३ ४ ५ ४ ५ १ ७
म्पलि। तोजगारा। देवा। म्रपाम्रपा।
२ १र २ ३ ४ ५ ४ ५ १
ह्या३कावि। यम्म हित्वा। आद्या। ममा
७ २ १ २ २ ४
ममा। रा३सहि। या ३४३ः। सा३मापू
नाईपूई ॥ ३३ ॥

चतुर्थी ऋक्।

तिरश्च ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
त्वॐहत्यत् सप्तभ्यो जायमानो शत्रु-
२ ३ २ २ ३ १र २र ३ १र
भ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र। गूढे द्यावा पृथिवी
२र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः
॥ ३४ ॥

हे 'इन्द्र!' 'त्वं' 'ह' खलु 'त्यत्' तत् कर्म्म क्रतवान्, तदेवाह—'जायमानः' प्रादुर्भवन्नेव 'सप्तभ्यः' 'अशत्रुभ्यः' शत्रुभावाताक्रान्तहृदयेभ्यः कृष्ण-वृत्र-नमुचि-शराद्यादिभ्यः असुरेभ्य (एतेषां बधार्थमिति यावत्) 'शत्रुः' 'अभवः' तथाच 'गूढे' असुरतेजसा आच्छन्ने 'द्यावा पृथिवी' द्यावा पृथिव्यौ 'अनु' अनुक्रमेण 'अविन्दः' अलभथाः अपि च 'विभुमद्भ्यः' महत्वयुक्तेभ्य 'भुवनेभ्यः' भूरादिलोकेभ्यः 'रणं' रमणं 'धाः' विदधासि ॥ ३४ ॥

হে ইন্দ্র! তুমি কি কর্ম্মই করিয়াছ !! জন্মিবা মাত্র কৃষ্ণ বৃত্র নমুচি প্রভৃতি সপ্তাসুরের শত্রু হইয়াছ এবং অসুরতেজে আচ্ছাদিত দ্যাবা পৃথিবী জয় ক্রমে লাভ করিয়াছ অপিচ এই বৃহৎ বৃহৎ ভূরাদি লোকে নির্ব্বিশেষে আনন্দ প্রদান করিতেছ ॥ ৩৪ ॥

इन्द्रवज्जम्।

५र र ४ २ १ २ १ २र १र
औहो इतुवाम्। हत्यत् सप्तभ्यो जाय-
२र ३ ५र र ४ १ २र
माना२३४ः। औहो अशा। त्रुभ्यो अभवः
१ २ ३ ५र र र ४ १र र
शत्रुरिन्द्रा२३४। औ होइ गढे। द्यावा
२ १र २ ३ ५र र ४
पृथिवी अन्वविन्दा२३४ः। औहोइविभू।
१ २र १ २र र १ ३ १ १ १ १
मद्भ्यो भुवनेभ्योरणां धा २३४५ः ॥ ३४ ॥

पञ्चमी ऋक्।

वामदेवऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरु-
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३
घस्मानं वृषभॐ स्थिरप्स्नुम्। करोष्यर्य-
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
स्तरुषीं र्दुवस्यु रिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृ-
णीषे ॥ ३५ ॥

हे 'इन्द्र!' 'दुवस्युः' परिचरणादीच्छुः त्वम् 'अर्य्यः' अरीन् 'तरुषीः' चीणान् 'करोषि' 'त्वा' त्वाम् 'मेडिम्' मेडिमन्तं वाग्मिनम् 'न' इव 'गृणीषे' स्तौमि, कीदृशं त्वामित्याह—'वज्रिणम्' वज्रधारिणम् 'भृष्टिमन्तम्' शिखरिणम् 'पुरुधस्मानम्' पुरूणां बहूनां शत्रूणां ध्वंसितारम् 'वृषभम्' अभिलषितानां वर्षितारम् 'स्थिरप्स्नुम्' स्थिररूपम् 'द्युक्षम्' द्युलोके वर्त्तमानं 'वृत्रहनम्' वृत्रासुरस्य हन्तारम्॥ ३५॥

হে ইন্দ্র! তুমি বজ্রধারী, শিখরী, শত্রু-কুল-ধ্বস্তা, অভিলষিত-প্রদাতা, ভ্রমণেচ্ছু, দ্যু-লোকবাসী, বৃত্রহা, চিরস্থায়ী, শত্রুগণকে ক্ষীণ করিতেছ, তোমাকে বাগ্মীর ন্যায় স্তব করি॥ ৩৫॥

सौर्ध्ववर्चसम्।

४ ५ १ र २ १
मेडीम्। नत्वा वज्रिणं भृष्टिमा २३
२ १र २ १
न्ताम्। पुरुधस्मानं वृषभꣳ स्थिरा २३
२ १र ७ २
प्स्नूम्। करोष्यर्य्यस्तरुषाइर्दुवा २३ स्यूः।
१ २ १ १ ३
आइन्द्रद्युक्षम्। वृत्रा २३। हा२णा २३४
५र र २ १ ११११
औहोवा। गृणी३षे २३४५॥३५॥

षष्ठी ऋक्।

वशिष्ठऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३१ २३ १२ ३ १२ ३
प्र वो महे महे वृधे भरध्वं प्रचेतसे
१२३ १ २ १२ ३१र २र
प्रसुमतिं कृणुध्वम्। विशः पूर्वीः प्रचर
३ २
चर्षणिप्राः॥३६॥

हे अस्मदीया ऋत्विजः! 'वः' यूयम् 'महे वृधे' महद्वर्द्धनाय 'महे' महते देवाय 'प्र भरध्वम्' प्रणयत सोमानिति यावत्, किञ्च 'प्रचेतसे' प्रवृद्ध-ज्ञानाय तस्मै 'सुमतिम्' सुष्टुमतिम् 'प्रकृणुध्वम्'। अथ प्रत्यक्षस्तुतिः—हे इन्द्र! 'चर्षणिप्राः' कामैः प्रजानां पूरयिता त्वम् 'पूर्वीः' हविषां पूरयित्रीः 'विशः' प्रजाः 'प्रचर' प्रचारान् कुरु कीर्त्तयेति यावत्॥ ३६॥

হে অস্মদীয় ঋত্বিক্‌গণ! তোমরা আত্মোন্নত্যর্থ দেব-শ্রেষ্ঠ ইন্দ্রের নিমিত্ত সোম প্রস্তুত কর এবং সেই প্রবৃদ্ধজ্ঞানার্থ সুন্দর স্তুতি প্রণয়ন কর। হে ইন্দ্র! সকলের কামনা পূরয়িতা তুমি হবিঃ-প্রদাতৃ প্রজাদিগকে প্রচার কর॥৩৬॥

अङ्कुशम्।

५ ४ १ र २ र र १ २ २
प्रवाः। माहे महे वृधे। भराधू३वाम्।
१ २ १ २ र ५ १
प्रचाइतसाइ। प्रास्त्रमा २३४ तीम्। कृणु-
३ ५ १ २ १
ध्वम्। इहा२वा२३४इशाः।पू२३र्वीः।प्रचा।
२ १ २ ४ ५ ४
रा२३चा। षणाइ। प्रा। औ३होवा। हो
पूइ। डा॥३६॥

सप्तमी ऋक्।

विश्वामित्र ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ १ २ ३ १२ ३ १ १ ३ २उ
शुनꣳ हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्
३ १२३ १ २ ३ १ २३२३१२
भरे नृतमं वाजसातौ। शृण्वन्तमुग्रमूतये
३२ ३१२ ३१ २ ३ २ ३ १२
समत्सुघ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि॥३७

'अस्मिन्' 'वाजसातौ' वाजस्य अन्नस्य लाभो यत्र तस्मिन् 'भरे' यज्ञे 'इन्द्रम्' 'ऊतये' रक्षणाय 'हुवेम' आह्वयामहे वयमिति शेषः, कीदृशं तमित्याह— 'शुनम्' उत्साहिनम् 'मघवानम्' धन-

वन्तम् 'नृतमम्' सर्वस्य जगतोऽतिशयेन नेतारम् 'शृण्वन्तम्' श्रोतृप्रशस्त 'उग्रम्' शत्रुषु 'समत्सु' सङ्ग्रामेषु 'वृत्राणि' शत्रून् 'घ्नन्तम्' हिंसन्तम् 'धनानि संजितम्' शात्रवधनानां सम्यग् जेतारम् ॥ ३७ ॥

আমরা সেই উৎসাহী, প্রশস্তনেতা, শ্রোতৃপ্রধান, উগ্র, বৃত্রহা, ধনঞ্জয়, মঘবা, ইন্দ্রকে এই অন্ন-লাভ-বীজ-স্বরূপ যজ্ঞে স্ব-প্রতিপালনার্থ আহ্বান করিতেছি ॥ ৩৭ ॥

भारद्वाजम्।

५ ४ ५ र ४ ५र ४ २
शुनꣳ हुवेम मघवानमिन्द्राम। अ-
१ र र २ १ २ १
स्मिन् भरे नृतमं वाजसा२३ताउ। शृण्व-
र र २१ २ १
न्तमुग्रमूतये समा२३त्सू। म। तं वा २३
२ १ २ २ १ २ १
त्री ३। हो वा ३ हा। णिसंजितम्। धना
२ १ २ २ १
२३नो३। हो वा ३ हा ३४३इ। औ २३४
५ इ। डा ॥ ३७ ॥

अष्टमी ऋक्।

वशिष्ठऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

२ १ २ २ १ २ २ १
उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रꣳ समर्ये
२ १र २र २ १ २
महया वसिष्ठ। आ यो विश्वानि श्रवसा
२ १ २ २ २ २१२ २ १ २
ततानो पश्रोता मईवतो वचाꣳसि ॥३८॥

'श्रवस्या' अन्नेच्छया 'ब्रह्माणि' स्तुतिमन्त्राः हवींषि च 'उदैरयत' इन्द्रार्थम् सर्वैः ऋत्विग्भिरिति शेषः, हे 'वसिष्ठ !' त्वमपि 'समर्ये' यज्ञे 'इन्द्रम्' 'महय' पूजय। अपि च 'यः' इन्द्रः 'विश्वानि भुवनानि' 'श्रवसा' कीर्त्या 'आततान' सः 'ईवतः' उपगमनवतः 'मे' मम 'वचांसि' 'उपश्रोता' भवतु उ पादपूरणार्थः ॥ ३८ ॥

ঋত্বিকগণ অন্নকামনায় স্তুতিমন্ত্র সকল ও হবি ইন্দ্রের নিকটে প্রেরণ করিতেছেন। হে বসিষ্ঠ ! এই যজ্ঞে ইন্দ্রকে পূজন কর। অপরঞ্চ যে ইন্দ্র ভূবন সকল কীর্ত্তিপূর্ণ করিয়াছেন, তিনি পশ্চাৎ পশ্চাৎগামী আমার বাক্যসকল শ্রবণ করুন ॥ ৩৮ ॥

वैश्वदेवम्।

१ २र १ २ ऽ २ २
दिवया। औ वा। औ३हो ३ वा। उ-
१ २ १र २ ३ ४ ५ २ १
दु ब्रह्मा। णी ३ ऐर। तश्रवस्या। इन्द्रꣳ
२ १ २ ३ ४ ५ २र १र
समा। यैं ३ मह। या वसिष्ठा। आयो वि
२ १ २ ३४ ५ १ २र
श्वा। नी३अव। सातताना। दिवया।
१ २ ऽ २ २ १ र २१र
औवा। औ ३ हो ३ वा। उपश्रोता। मई
२ २ ४
व। तो३४३। वा ३ चा ५ꣳ सा ६ ५६इ ॥
३८ ॥

नवमी ऋक्।

गौरीवीत ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ १र २र ३ १र २ ३ १र २र ३
चक्रं यदस्याप्स्वा निषत मुतोत दस्मै
१र २र ३ १र २र ३उ ३
मध्विच्चच्छद्यात्। पृथिव्यामतिषितं यदूधः
२ ३ १र २र ३ १ २
पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥ ३९ ॥

'अस्य' इन्द्रस्य 'यत्' 'चक्रम्' आयुधम् 'अप्सु' अन्तरिक्षे 'आ' सर्वतः 'निषत्तः' निषण्णः अस्ति 'तत्' तदेव 'अस्मै' इन्द्राय 'मध्वित्' उदकं 'चच्छ

য্যাৎ বশং নয়তি। কিঞ্চ 'যৎ' 'ভধঃ' উদকম্ 'পৃথিব্যাম্' 'অতিষিতম্' বিমুক্তম্ তৎ 'গোষু' 'ওষধিষু' চ 'পয়ঃ' 'অদধাঃ' আদধাতি পয়োরূপেণ বিপরিণমতে ইতি যাবৎ। উতো-ইত্যনর্থকঃ॥ ৩৯॥

এই ইন্দ্রের যে চক্র অন্তরীক্ষে ব্যাপ্ত আছে তাহাই উদক সমস্তকে ইঁহার বশে আনয়ন করে এবং যে উদক পৃথিবীতে বিমুক্ত হয়, তাহাই ওষধি মধ্যে ও গোস্তনে দুগ্ধরূপে পরিণত হয়॥ ৩৯॥

পুরীষম্।

৫ ৪ ৫ র ৪ র ৫ ৪ ২ ১র
চক্রং যদস্যাপস্বা নিষত্তাম্। উতো
র ২ ১ ২ ১র
তদস্মৈ মধ্বিচ্চচ্ছা২৩দ্যাৎ। পৃথিব্যামতি
২ ১ ২ ১র ২ ১
ষিতং যদূ২৩ধাঃ। পয়ো গো ২৩ ষু। আদ
২র ১র ২র ১ ২ ১
ধা ঔষধীষু। ইডা ২৩ ভা ৩৪৩। ঔ ২
৩৪৫ ই। ডা॥ ৩৯॥

ইতি চতুর্থী দশতিঃ।

পঞ্চমদশত্যাম্।

প্রথমা ঋক্।

তার্ক্ষ্য ঋষিঃ ত্রিষ্টুপ্‌ছন্দঃ ইন্দ্রো দেবতা।

২ ৩ ২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২
ত্যমূষু বাজিনং দেবজূতং সহোবানং
২ ২ ৩ ১ ২ ১ ২ ২ ১ ২
তরুতারং রথানাম্। অরিষ্টনেমিং পৃতনাজ
৩ ২ ২ ২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২
মাশুং স্বস্তয়ে তার্ক্ষ্যমিহা হুবেম॥ ৪০॥

'ত্যম্' তম্ 'তার্ক্ষ্যম্' তৃক্ষপুত্রং সুপর্ণম্ 'স্বস্তয়ে' কল্যাণায় 'ইহ' যজ্ঞে 'আহুবেম' আহ্বয়ামহে, কীদৃশং তমিত্যাহ—'বাজিনম্' অন্নবন্তম্ 'দেবজূতম্' দেবৈঃ ঋত্বিগ্ভিঃ সোমহরণায় প্রেরিতম্ 'সহোবানম্' বলবন্তম্ 'রথানাং' রংহনশীলানাং যজ্ঞগতানাং লোকানাং 'তরুতারম্' তরীতারম্ 'অরিষ্টনেমিং' অহিংসিতায়ুধম্ 'পৃতনাজম্' পৃতনানাং শত্রুসেনানাম্ আজিতারং ক্ষেপ্তারম্ মন্ত্রৈরিতি যাবৎ 'আশুম্' দ্রুতগামিনম্। ভষু ইতি পাদপূরণে॥ ৪০॥

আমরা অন্নবান্, বলবান্, যজ্ঞস্থলোকদিগের উদ্ধারয়িতা অহিংসিতায়ুধ, মন্ত্রবলে শত্রুসৈন্যজেতা, সোমাহরণার্থ ঋত্বিকগণ কর্তৃক প্রেরিত, দ্রুতগামী, তৃক্ষ-তনয় সুপর্ণকে কল্যাণার্থ এই যজ্ঞে আহ্বান করিতেছি॥ ৪০॥

তার্ক্ষ্যম্।

৫ র ২র ১ ১ ১ ২র
ত্যমূষূ। বাজি। না ৩৪৫ ম্। দেব-
র ২ ৫ র ২র ২ ১ ১ ২
জূতা২৩৪ম্। সহোবানন্তা। রুতা ২। রং
২ ৪ ৫ ২ ২ ৫ ২
রথানাম্। অরিষ্টনা২৩৪ইমীম্। পৃতনা
২ ২র র ২ ১ র ২ ২ ২
৩৪২জমাশুম্। স্বস্ত। যাই। তার্ক্ষ্যমিহা
২ ৪
৩৪২ হু২বা৫ইমাই৫ই॥ ৪০॥

द्वितीया ऋक्।

गर्ग ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवेहवे
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
सुहवꣳशूरमिन्द्रम्। हुवे नु शक्रं पुरु-
३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हूतमिन्द्रमिदꣳहविर्मघवा वेत्विन्द्रः॥४१॥

'त्रातारम्' शत्रुभ्यः त्राणकारिणम् 'इन्द्रम्' 'हुवे' आह्वये, 'अवितारम्' पालयितारम् 'इन्द्रम्' आह्वये, 'हवे हवे 'सुहवम्' सर्वेष्वाह्वनेषु सुहवं सुखेनाह्वातुं शक्यं 'शूरम्' शौर्यवन्तम् 'इन्द्रम्' आह्वये, 'शक्रम्' सर्वकार्य्येषु शक्तम् 'पुरुहूतम्' पुरुभिर्बहुभिः हूतम् 'इन्द्रम्' आह्वये, एवमाहूतो 'मघवा' धनवान् 'इन्द्रः' 'इदम्' 'हविः' 'नु' क्षिप्रं 'वेतु' भक्षयतु॥ ४१॥

আমরা ত্রাতা, পালয়িতা, শূর, শক্র, পুরুহূত, ইন্দ্রকে আহ্বান করিতেছি, মঘবা, ইন্দ্র অবশ্যই হবি ভক্ষণ করুন্॥ ৪১॥

इन्द्रत्रातम्।

२र १र ७ २
त्रातारमिन्द्रमविता। रमी २३न्द्राम्।
१र र ७ २ १
हवे हवे सुहवꣳशू। रमो२३न्द्राम्। हुवा
७ २ १
इनु शक्रं पुरुहू। तमी २३न्द्राम्। इदꣳ
२ १ २ १र २ २ ४
ह। वाइः। मघवा। वा ३४३ इ। तू ३ वा
५ इन्द्रा ई५ईः॥ ४१॥

तृतीया ऋक्।

विमद ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणꣳ हरीणाꣳ
३ १ ऽ १ २ १र २र २ १ २
रथ्या३ꣳवि व्रतानाम्। प्रश्मश्रुभिर्दोधुव
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र
दूर्द्ध्वा भुवद् वि सेनाभिर्भयमानो वि
२र
राधसा॥ ४२॥

'इन्द्रम्' 'यजामहे' सोमलक्षणै र्हविर्भिः पूजयामः वयमिति शेषः। कीदृशमिन्द्रमित्याह— 'वज्रदक्षिणम्' सन्ततमेव वज्रं दक्षिणे करे यस्य तम् 'विव्रतानाम्' रथवहनादिविविधकर्म्मणाम् 'हरीणाम्' एतदाख्यानामश्वानां 'रथ्यम्' नेतारम् अपिच सः 'श्मश्रुभिः' स्वकीयैः 'प्रदोधुवत्' पुनः प्रकृष्टं धून्वानः सन् 'ऊर्द्ध्वाः' 'भुवत्' विशेषेण प्रादुर्भवति, किञ्च 'सेनाभिः' स्वकीयाभिः 'भयमानः' शत्रून् कम्पयन् 'राधसा' राधः धनम् 'वि' विशेषेण ददाति स्तोतृभ्य इति॥ ४२॥

আমরা দক্ষিণকরে সদা বজ্রধারী, বিবিধ-কর্ম্মকৃৎ হরিনামক অশ্বযুক্ত রথচারী, ইন্দ্রকে সোমদ্বারা পূজন করিতেছি; তিনি স্বীয় শ্মশ্রু উন্মর্দন করত (গোঁফে তা দিয়া) ফুলিয়া উঠিলেন এবং স্ব-সেনা দ্বারা বিপক্ষদল কম্পাইয়া ধন হরণ করত স্তোতৃগণকে প্রদান করিতেছেন॥ ৪২॥

वातातुरम्।

५ र ४ ५ १ २ १
यजामहो वा। आइन्द्रं वज्। दक्षा
२ १ र२र १
२३इणाम्। हरीणाꣳरथ्यं वि। व्रता२३
२ १ २ १र२ १ २ ३
नाम्। प्रश्मश्रुभिर्दोधुवत्। ऊ ध्वा धा भू
५ १ २ १
२३४ वात्। विसाइ। ना। भिर्भयमाना२
१ ४ ५
३ः। वा २३ इरा ३। धा ३४५ सो ई हाइ
॥ ४२॥

(ता०) यदा हि सर्व्वे न दण्डभयेन अपि तु आन्तरिकप्रेम्णा साधुभावेन धर्मस्यादेशात् ईश्वर-प्रीत्युद्देशेन तावन्ति सांसारिककार्य्याणि करिष्यन्ति, तदात्र पृथिव्यां मानव समुन्नतिः परा काष्ठां यास्यति। तादृशदिनागमनस्याद्यापि बहु-विलम्बं भासते, अद्यापि साध्वपेक्षया असाधु-संख्या समधिका दृश्यते, असाधुव्यवहारएव विस्तरः, अतोऽद्यापि प्रजाः समस्ताः राजदण्डशासनेनैवात्र पृथिव्यां कथञ्चित् धर्मार्थसुखं भोगे समर्थाः भवन्ति ॥ ४ ॥

८२

(मू०) अधर्म्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनं। अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्ज्जयेत् ॥ ५ ॥

(टी०) यस्मात् 'लोके' 'अधर्म्मदण्डनं' 'यशोघ्नं' यशोहन्तृ 'कीर्त्तिनाशनं' च जीवतः ख्यातिर्यशः मृतस्य ख्यातिः कीर्त्तिरित्येतयोः पृथङ्निर्देशः। 'परत्र अपि' परलोकेऽपि 'अस्वर्ग्यं' च' स्वर्गप्रतिबन्धकञ्च 'तस्मात् तत् परिवर्ज्जयेत्' ॥ ५ ॥

(ता०) अन्यायं न दण्डयेत्। मङ्गलस्वरूपेश्वर इव राज्य-विस्तृति-करणमेव दण्डधारणस्योद्देश्यः, क्रोधवशात् तदन्यथा नाचरेत् ॥ ५ ॥

८३

(मू०) क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमा हि परमं धनं। क्षमा गुणोह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ६ ॥

(टी०) 'लोके' भुवने 'क्षमा' 'वशीकृतिः' वशीकरणं अवशं वशं करोत्यनया। 'क्षमा हि परमं धनं'। 'क्षमा' 'हि' 'अशक्तानां' 'गुणः' 'शक्तानां भूषणं क्षमा' ॥ ६ ॥

(ता०) सर्व्वदा क्षमान्वितः स्यात्, वैर-निर्यातन-सङ्कल्पं त्वेकदैव परित्यजेत्। सत्यपि प्रत्यपकार-करण-सामर्थ्ये अन्यकृतापकारे सहिष्णुतावलम्बनमेव प्रकृतं क्षमा-कार्य्यम्। मदपकारी भवेद् भवतुनाम, परं मद्द्वाराऽन्यस्यापकारो यथा माभूदित्येषा कामना स्वर्गीयक्षमागुणत उत्पन्ना भवति ॥ ६ ॥

८४

(मू०) यथैवात्मा परस्तद्वत् द्रष्टव्यः शुभमिच्छता। सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे ॥ ७ ॥

(टी०) 'शुभं इच्छता' जनेन 'यथा एव आत्मा' 'परः' 'तद्वत्' तथा 'द्रष्टव्यः'। यस्मात् आत्मनः परस्य च 'सुखदुःखानि' सुखानि दुःखानि च 'तुल्यानि' 'यथा आत्मनि तथा परे' ॥ ७ ॥

(ता०) सुखं दुःखं च यथा अनुकूलतया प्रतिकूलतया च स्वस्मिन्ननुभूयते, तथैव परात्मनि; अतः स्वयं यत् प्रार्थ्यते, न तदन्यस्मादपहर, किञ्च यत् स्वस्माद् दूरीकर्त्तुमिच्छसि, तदन्योपरि न निक्षिप यथात्मानमन्यप्रीतिभाजं प्रेक्ष्य सुखी भवसि, तथैवान्यं प्रीत्या सुखी कुरु। यथा त्वमन्यकृतविद्वेषेण क्लिष्टो भवसि, तथैवान्योऽपि भव्य इति विज्ञाय न कञ्चित् विद्विष। एवमेव सर्व्वत्र आत्मना अन्यस्य तुलनां विधाय व्यवहरेत्; यतो हि सुखदुःखे यथात्मन्यनुकूलप्रतिकूलवेदनीये तथैवान्यत्रापीत्युक्तम्। एवमेवाचरणं कल्याणस्य उपायः ॥ ७ ॥

८५

(मू०) मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्। आत्मवत् सर्व्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥ ८॥

(टी०) 'परदारान्' परकलत्राणि 'मातृवत्' मातेव 'परद्रव्याणि' 'च' 'लोष्टवत' मृत्पिण्डसमानि। 'आत्मवत्' स्वोपमानि 'सर्व्वभूतानि' सर्व्वप्राणिनः 'यः पश्यति;' 'सः' एव 'पश्यति' याथातथ्येनेति यावत्॥ ८॥

(ता०) पर-भार्यासु मातरमिव पश्येत्; किञ्च मूल्यहीन-मृत्पिण्डेषु यथा चित्तं लोभशून्यं तिष्ठति, तथैव पर-द्रव्ये तिष्ठेत्; अपि च आत्मानं यथा प्रीतिनेत्रतः पश्यति, तथैव सर्वमवलोकयेत्॥ ८॥

इति।

द्वादशोऽध्यायः।

८६

(मू०) अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते। तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्ज्जनः॥ १॥

(टी०) 'यथा हि' 'अन्यान्' 'परिवदन्' परीवादेन अधिक्षिपन् 'साधुः' 'परितप्यते' परितापान्वितो भवति। 'तथा परिवदन अन्यान् तुष्टः भवति दुर्ज्जनः'॥ १

(ता०) यः ईश्वरे भक्तिं मनुष्येषु च प्रीतिं कुरुते, स एव साधुः। नस कदाचिदपि मनुष्यापवादं प्रकीर्त्य आनन्दितो भवति, यतो मनुष्य स्तस्य प्रियः। अपि तु स कस्यचित् दोषं दृष्ट्वा दुःखितो भवति, चेष्टते च तत् संशोधयितुं प्रीत्या सह। स मनुष्यं मनुष्यमित्येव प्रीणयति, अतएव कस्यचित् सद्गुणे दृष्टे तुष्टो भवति, विपरीतेतु विपरीतः; तदीयं सुखं दुःखं चोभे प्रीतित एवोत्पद्येते, सुतरां न स कस्यापि दोषमाह्लादेनोद्घाटयितुं शक्यते! यथा पिता माता च पुत्रं पुत्रमित्येव प्रीत्याप्यदं करोति, अस्मादेवहेतोः पुत्रस्य गुणे दृष्टे सुखमनुभवति दोषदर्शनेन हृदयाघातमाप्नोति; तथैव मनुष्यं मनुष्यमित्येव प्रीत्याप्यदयितुं शिक्षेत; सत्येवमपरापवादेन न पुनर्हृदयानन्दः सम्पत्स्यते। यो हि अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा किञ्च अन्यस्य दोषं घोषयित्वा हृदयमानन्दास्रुतं करोति, तदीयं हि हृदयमतिशय-क्षुद्रम्; तादृश-क्षुद्रतां संशोधयितुं सततं यतेत॥ १॥

८७

(मू०) विपत्तिष्वव्यथोदक्षोनित्यमुत्थानवान्नरः। अप्रमत्तोविनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति॥ २॥

(टी०) यः 'विपत्तिषु' 'अव्यथः' व्यथारहितः 'दक्षः' कुशलः 'नित्यं' सदा 'उत्थानवान्' उद्योगी 'नरः'। 'अप्रमत्तः' प्रमादरहितः 'विनीतात्मा' विनीतस्वभावः सः 'नित्यं' 'भद्राणि' कुशलानि 'पश्यति'॥ २॥

(ता०) यस्य धैर्य्यं सहिष्णुतां चनास्ति, स एव विपदि अतिव्यथितो भवति। अतो यथा सङ्कटसङ्कुल-रणक्षेत्रेऽव्याकुल-मानसैर्दण्डायमानाः स्थातुं योद्धारः प्रथमत एव शिक्षन्ते, तथाविधमेव धैर्य्यं सहिष्णुतां चाभ्यस्येत; तथा सति यावदेव विपदुपस्थितोऽस्तु एकदैव हतधीर्न भविष्यति। ईश्वरेण या क्षमता प्रदत्ता, दिने दिने तां परिवर्द्ध दक्षताधिक्यमुपार्जयेत्। आलस्यं परित्यज्य नियतमुद्यमशीलः स्यात्। सततमनन्यमनस्कतां च

परित्यज्य अभिनिविष्टचेतसा लक्ष्यसाधने प्रवृत्तस्तिष्ठेत् इदं सदा स्मरेत्---यदीश्वरानुग्रहमन्तरापदैकमपि विचेष्ट् न कोऽप्यस्ति सक्षमः, शरीरं मनः आत्मा बलं बुद्धिः समस्तमेव तदीयानुग्रहं निर्भरयति, अतः सकल-मूलमिति ज्ञात्वा अहङ्कारमौद्धत्यं च परित्यजन विनीतो भवेत्॥ २॥

९८

(मू०) बहवोऽविनयान्नष्टाराजानः सपरिच्छदाः। वनस्थाअपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे॥ ३॥

(टी०) 'बहवः' 'राजानः' 'अविनयात्' अविनयवशात् 'सपरिच्छदाः' हस्त्यश्वरथपादातकोषादिपरिच्छदयुक्ताअपि 'नष्टाः' प्राणेभ्योवियुक्ताः। किन्तु 'वनस्थाः अपि' सहायमात्रहीनाअपि बहवः 'विनयात्' 'राज्यानि' साङ्गानि 'प्रतिपेदिरे' प्राप्तवन्तः। तस्मात् सर्व्वेण विनयिना भाव्यमित्युपदेशरहस्यम्॥ ३॥

(ता०) विनयी जन एव धर्म-लाभे समर्थो भवति किञ्च स एव सांसारिकमुन्नतिमवाप्तुं शक्यते विनय-हीनस्तु सर्वैर्विद्विष्टो भवति। यदि सम्पत्ति विद्येत, विनयिनि भूते तच्छोभा वर्द्धेत् यदि विपत्तिः सद्पतिष्ठेत, विनय-गुणेन ततो मुच्येत। अतः ईश्वरो यत् समस्तं सद्गुणमन्तरे दास्यति, वह्निस्तु यावत् सौभाग्यं विधास्यति दिनैकमपि न तन्निमित्तकमहं कुर्यात्॥ ३॥

९९

(मू०) यत् कर्म्म कुर्व्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः। तत् प्रयत्नेन कुर्व्वीत विपरीतन्तु वर्ज्जयेत्॥ ४॥

(टी०) 'यत् कर्म्म कुर्व्वतः' 'अस्य' कर्म्मानुष्ठातुः 'अन्तरात्मनः' चेतनस्य 'परितोषः' 'स्यात्'। 'तत्' कर्म्म 'प्रयत्नेन' यत्नातिशयेन 'कुर्व्वीत' कुर्य्यात्। 'विपरीतं तु' एतस्य 'वर्जयेत्' श्रेयोऽर्थी चेत्॥ ४॥

(ता०) अन्तरात्मनः परितोषः—आत्म-प्रसादः धर्मानुष्ठानस्याव्यर्थं फलम्; आत्म-प्रसादेनैव ईश्वर प्रसादोऽनुभूतो भवति, आत्मनि प्रसन्ने सर्वं दुःखं विलयमाप्नोति। धर्मानुष्ठानमन्तरेण आत्मा परितुष्टो न भवति। विषय-सुखं मनो मडयितुं शक्यते परं यद्यात्मनि ग्लानिस्तिष्ठेत्, तर्हि राशीकृतमपि विषय-सुखं व्यर्थीभवेत्। अतो धर्मानुष्ठानेन आत्मानं परितोषयेत किञ्च येन चात्म-प्रसादस्य हानि भवेत्, तत् परित्यजेत्॥ ४॥

१००

(मू०) धर्म्मकार्य्यं यतन् शक्त्या नोचेत् प्राप्नोति मानवः। प्राप्तोभवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥ ५॥

(टी०) अपि च 'धर्मकार्य्यं' सम्पादयितुं 'शक्त्या' 'यतन्' प्रयत्नं कुर्व्वन् 'चेत्' यदि 'मानवः' 'नो' न 'प्राप्नोति'। तदा 'तत् पुण्यं' तस्य धर्मस्य फलं 'प्राप्तः भवति'। 'अत्र' 'मे' मम 'संशयः' 'न अस्ति'॥ ५॥

(ता०) धर्मकार्यस्यानुष्ठानाय यथासाध्यं यतेत। समस्तशक्ति-नियोगेऽपि कृतकार्यो नो चेत् पुण्यलाभस्तु केन वार्येत? ईश्वरस्य अभीप्सास्ति कार्येऽस्मि, कः कीयन्तं समपद्यत, ईश्वरो न तद् गणयति प्रभु र्यस्मै यां शक्तिमदात्, स तामकपटेन नियुञ्ज्यात् एष एवतदीयाभिप्रायः। एवं सति स तं कृतकृत्यं करोति॥ ५॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

१०१

(मू०) इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमातिष्ठेत् विद्वान् यन्तेव वाजिनां॥ १॥

(टी०) 'इन्द्रियाणां' 'विषयेषु' 'अपहारिषु' अपहरणशीलेषु 'विचरतां' वर्त्तमानानां 'संयमे' 'विद्वान्' 'यत्नं' 'आतिष्ठेत्' कुर्य्यात् 'यन्ता इव' सारथिरिव 'वाजिनां' रथनियुक्तानामश्वानाम्॥ १

(तां०) ये विषयाः खलु इन्द्रिय-सन्निकर्षाः सन्तः अन्तःकरणे असद्भावमुदयन्ति, तादृशेष्वपवित्र-विषयेषु इन्द्रियान् न विनियुञ्ज्यात्। पवित्र-विषयोपभोगेन इन्द्रियान् परितृप्य अहरहः जीवनोद्देश्यसाधने प्रवृत्तः स्यात्॥ १॥

१०२

(मू०) इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ २॥

(टी०) यस्मात् 'इन्द्रियाणां' अवशीकृतानां 'हि' 'चरतां' स्वच्छन्दं विषयेषु गच्छतां 'यत्' यदि 'मनः' 'अनुविधीयते' अनुकूलं भवति तदा 'तत्' मनः 'अस्य' पुरुषस्य 'प्रज्ञां' ज्ञानं 'हरति'। कथमिव 'अम्भसि' समुद्रादिजले प्रमत्तस्य कर्णधारस्य 'नावं' नौकां 'वायुः' 'इव'॥२॥

(ता०) यदा या प्रवृत्तिरुत्तिष्ठेत, तस्यामेव इन्द्रियान् विचरयितुं न दद्यात् अपि तु आध्यात्मिक-धर्मस्यादेशेन मनः सुशिक्षितं वशीभूतं च कृत्वेन्द्रियग्रामं दमयेत्। यदि मनः वशीभूत स्यात् तर्हि इन्द्रिय-पथे उपस्थिता अपि विषयाः मनुष्यं पवित्रतातः पातयितुं न क्षमन्ते। किल प्रलोभन-सङ्कुल-संसारे तिष्ठतैव धर्मः साधनीयः- इति चेत् तर्हि मनो दमयितुमशक्तस्य प्रतिपदमेवापदुत्तिष्ठते। इन्द्रियगणानुकूले तु मनसि मनुष्यो हतचेतनः सन् पापमोहेषु निमज्जेत॥ २॥

१०३

(मू०) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्द्धते॥ ३॥

(टी०) किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेव लब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह। 'जातु' कदाचिदपि 'कामानां' विषयाणां 'उपभोगेन' 'कामः' अभिलाषः 'न शाम्यति' शमं नोपैति' किन्तु 'भूयएव' अधिकाधिकमेव 'अभिवर्द्धते' वृद्धिमेति 'हविषा' घृतेन कृष्ण-'वर्त्मा' अग्निः 'इव'। प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात्॥ ३॥

(ता०) विषय-भोगेन परितृप्तानि इन्द्रियाणि स्वयमेव संयतानि भविष्यन्ति, अतो यत्नेन तान् संयमयितुं प्रयोजनाभावः-नत्वेवं मनसि विचारयेत्; यथा यथा विषयान् भुञ्ज्येत, तथातथैव तद्भोगकामना परिवर्द्धेत, तथा तथैवान्तःकरणं दुर्दम्यं भवेत्। अतः इन्द्रिय-दमने मनःसंयमे च न कदापि शैथिल्यं विदध्यात्॥ ३॥

१०४

(मू०) इन्द्रियाणान्तु सर्व्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियं। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकं॥ ४॥

(टी०) एकेन्द्रियासंयमोऽपि महान् व्यतिकर इत्याह 'सर्व्वेषां' 'इन्द्रियाणां तु' मध्ये 'यदि एकं' 'इन्द्रियं' 'क्षरति' विषयप्रवणं भवति। 'तेन' द्वारभूतेन 'अस्य' विषयपरस्य मानवस्य 'प्रज्ञा' बुद्धिः 'क्षरति' इन्द्रियान्तरै र्नावतिष्ठते। अत्र दृष्टान्तः 'दृतेः पादात्' चर्म्मनिर्म्मितोदकभाजनात् 'उदकं' 'इव'। तत् यथैकदेशस्थितेनच्छिद्रेण सर्व्वस्थमेव स्रवति एवमेकेन्द्रियासंयमविवरेण समस्तमेव हृज्ज्ञानमस्य ज्ञानान्तरं क्षरतीति साम्यं॥ ४॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

ब्रह्माण्डकाण्डकरणाद्यलिपुङ्गाण्डयसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देऽहमीशञ्जगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधबर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्प्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०) • [August, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १) [२६सङ्ख्या

सम्पादकीयविज्ञापनम्।

एकत्रिंशत्संख्या-प्रकाश-कालादारभ्य्चास्य सम्पादक ऐकाह्निक-ज्वर-जूर्णः, ततो द्वाविंशति-दिनं विषमज्वर-पतितः शय्या-सहायः स्थितः। अत एवैतस्य (तृतीयस्य) भागस्य कतिपयखण्डम-यथाकालं प्रकाशमाप्तम्, उन्नतिश्चालब्धावकाशा-भवत्। सम्प्रत्यनामयत्वेऽपि तस्य दौर्बल्यहेतुकाति-श्रम-पराङ्मुखतया सप्तत्रिंशत्-संख्या-काशनेऽपि किञ्चिद् वैलम्ब्य-सम्भावना। अथ भवत्वेषा संख्या तृतीयवर्षस्यान्तमासिका, परं नेयं तृतीयभागस्या-न्तिमा; चत्वारिंशत् संख्यक-पत्रे सामवेदीयैन्द्र-पर्वस्य ब्राह्मधर्म-द्वितीयखण्डस्य च समाप्ति-सम्भ-वात्, न हि वर्षसमाप्तेऽपि सन्दर्भ-समापनात् पूर्वं भाग-समाप्तिरेतादृशस्य पत्रस्य स्वीकरणीयेति धीः सम्प्रति। एवञ्च पर-संख्या-चतुष्टयमप्येतद्भागे एव गणनीयमिति।

वैदिकसमालोचना।

(३५ संख्य या अनन्तरम्)

द्वितीयं षड्विंशब्राह्मणम्। इदं हि पञ्चविं-शतिप्रपाटकात्मस्य ताण्डस्य परिशिष्टमिवेत्यतएव षड्विंशेत्युच्यते, अत्र प्रथमे एव सुब्रह्मण्याह्वानं सेतिकर्त्तव्यमभिहितम्, ततः औदुम्बरोव्यवस्थादी-न्यपि बहून्युक्तानि; अपिच 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' 'सन्दंशोभिचरन् यजेत' 'वज्रोऽभिचरन् यजेत'— इत्यादिकतिपयाभिचारयागान्यपि विहितानि। एतद्धि पञ्चप्रपाठकैरष्टचत्वारिंशत् खण्डैर्विभक्तम्। यथाद्ये ब्राह्मणे श्रौतान्येव कर्माणि श्रुतानि, नात्र तथा; इहतु सन्ध्योपासनादीन्यपि श्रूयन्ते। तथाहि—

(१) 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन्(२)? काच सन्ध्या? कश्च सन्ध्यायाः कालः? किञ्च सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम्? (३) देवाश्च वा असुरा अस्पर्द्धन्त, तेऽसुरा आदित्यमभिद्रवंत (४), स आदित्योऽबिभेत्, तस्य हृदयं कूर्मरूपेणातिष्ठन्(५) स प्रजापतिमुपाधावत्, तस्य (६) प्रजापतिरेतद्-भेषजमपश्य, (७) ऋतञ्च सत्यञ्च ब्रह्म चोङ्कारञ्च त्रिपदाञ्च गायत्रीं ब्रह्मणोमुखमपश्यत्, तस्माद्

(१) प्रश्नोत्तरव्याजेन प्रात्यहितोपासनां विधातुमुपक्रमते। ब्रह्मवादिन इति। (२) अत्र कथमुपास्ते? इत्येकएव प्रश्नः, सायमासीनः प्रातस्तिष्ठन् कथम्? इत्येवं प्रश्नान्तरो नोह्यः।(३) उत्तरं वक्तुं प्ररोचनमाह— देवाश्चेत्यादि। (४) अभिद्रवत् सति नश्येति धुडागमे रूपम्, अभिद्रवन् उपद्रवन् इत्यर्थः। (५) सङ्कोचव्याकोचसाम्यात्, तथाच असुरोपद्रवभयात् सङ्कोचः प्रजापति-समोप-गमन-रूपोपाय-स्मरणाद् व्याकोचः। (६) तस्य उपद्रवस्य शान्तये एतत्-अनुपदवक्ष्यमाणम् मन्त्रद्वयम् भेषजम् भेषजमिवेत्यर्थः। (७) तदेव भेषजं किमित्याह—ऋतञ्चेत्यादि ॐकारस्य ब्रह्मत्वं तत्प्रतीकत्वात् छान्दोग्यादौ स्फुटम्, गायत्र्य

(८) ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते (९), स ज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः(१०) सा (११) सन्ध्या, (१२) तत्सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम् (१३) यत् सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते तया वीरस्थानं जयत्यऽथ (१४) यदपः प्रयुङ्क्ते ताविप्रुषो वज्री-भवन्ति, ता विप्रुषो वज्रीभूत्वा सरानपाघ्नन्ति, ततो देवा अभवन् (१५) परा सुरा भवन्त्यात्मना (१६ परास्य भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ; (१७) यत् सायं (१८) च प्रातश्च (१९) सन्ध्यामुपास्ते तया वीरस्थानं, (२०) स्थानं च सन्ततमविच्छिन्नं भवति य एवं वेद (२१)॥४प्र०५प्र०॥'

अस्य शेषभागे अद्भुतानामाश्चर्य्याणामनिष्ट-सूचकानां शान्तिकर्माणि सविस्तृतानि विहितानि। तथा च पञ्चमप्रपाठकीयदशमखण्डाद्यभागं दर्श-यामः—

'स परं दिवमन्वावर्त्तते(२२)ऽथ यदास्य यु-क्तानि यानानि प्रवर्त्तन्ते, देवतायतनानि कम्पन्ते (२३), दैवत-प्रतिमा हसन्ति (२४) रुदन्ति गायन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मिलन्ति निमीलन्ति, प्रतिप्रयान्ति नद्यः, कबन्धमादित्ये दृश्यते, विजले च परिविष्यते, केतु-पताक-छत्र-वज्र-दृषणानि प्रज्वलन्त्यश्वानां च बालधीष्वङ्गाराः चरन्त्यहतानि मर्माणि कनिक्रन्त, इत्येवमादीनि ; तान्येतानि सर्वाणि विष्णुदेवतान्यद्भुतानि प्रायश्चित्तानि (२५) भवन्तीदं विष्णुर्विचक्रम-इति स्थालीपाकं हुत्वा पञ्चभिराज्याहुतिभिरभिजुहोति—विष्णवे स्वाहा—सर्वभूताधिपतये स्वाहा-चक्रपाणये स्वाहे—श्वराय स्वाहा—सर्वपापशमनाय स्वाहेति व्याहृतिभि-र्हुत्वा,ऽथ साम (२६) गायेत् (२७),

अतएवेदमद्भुतब्राह्मणमित्यपि कीर्त्यते ॥

अह्मसुखत्वं सर्वस्टष्टेर्वीजत्वात् ताण्ड्यादौ स्फुटम् । (८) तस्मात् उपद्रवशान्तौ भेषजरूपत्वात्—इति जातं प्रथमप्रश्नोत्तरम् । (९) इति सन्ध्याविधिः । (१०) इति सन्ध्याकालस्वरूपः—जातं द्वितीय-प्रश्नोत्तरम् । (११) सासप्रणवगायत्री-इति सन्ध्या स्वरूपः-जातं तृतीय-प्रश्नोत्तरम् । (१२) शेषप्रश्नोत्तरमाह—तदिति । (१३) तत् किमित्याह यदित्यादि । (१४) सन्ध्याङ्ग-जलदानं विधत्तं स्तौति अथेति गायत्री-स्तुति-प्रकरणे विहित-त्वात् गायत्र्या जलदानं बोध्यम् अतएवोक्तं गोभिलाचार्य्येण 'त्रीनुदकाञ्जलीनादित्यं क्षिपेत् सावित्र्या' इति । विप्रुषो अम्बु-विन्दवः । (१५) परेति भवतीत्याख्यातेन सम्बन्धयितव्यः 'व्यवहिताश्च' इति वचनात्, तथाच असुरा एकैकः आत्मना स्वय मेव पराभवतीति वाक्यार्थः । (१६) विदुषः फलमाह परेति, यः जनः एवं वेद अस्य भ्रातृव्यः शत्रुः पराभवतीति वाक्यार्थः । (१७) पूर्व्वं सायं सन्ध्याया सन्ध्यात्वं भाषितम् इदानीम् प्रातः सन्ध्यायामाह —यदित्यादि । (१८) सायं प्रातर्वा इत्येव विकल्पवारणाय पुनरत्र सायं पदग्रहणम् । (१९) पूर्व्वत्रासीन इति श्रुतत्वात् आसीन एव सायमुपासीत, इह वाक्येतु तद-भावात् प्रातस्तिष्ठन्नेवोपासीतेति विधिः । (२०) विदुषः फल-माह स्थानं चेति । (२१) एषएव खण्डः सामवेदिनां सन्ध्यो-पासने वीजम्, अत्र तु मध्याह्नसन्ध्या न श्रुतेति तन्मूलं मृग्यम् । स-प्रणव-गायत्रीजपमात्रं सन्ध्यागायत्र्या जलदानञ्च तदङ्गमत्र श्रूयते, प्राणायामादिकन्तु मनःस्थिराद्यर्थमुपासना-प्रकारस्तत्रकारादिभिर्व्यवस्थापितः इत्यप्याकलनीयम् ।

(२२) 'सः' वक्ष्यमाण-वाहाद्ययुक्त-यान-गमनादि-सूचि-तानिष्ट-शान्ति-कामः 'परं दिवं' उत्कृष्टतरं द्युलोकं (वैष्णवं धाम) 'अनु' लक्षीकृत्य 'आवर्त्तते' आवर्त्तेत वक्ष्यमाणेदं विष्णु-रिति मन्त्रेण स्थालीपाक-हवनादिरूप-प्रायश्चित-करणे आभि-मुख्येन वर्त्तेत । (२३) अत्र देवायतन-शब्देन यज्ञमण्डपो ग्राह्यः तथैव वैदिकप्रसिद्धेः ; श्रुतञ्चैवमनेकत्र—तथाहि 'ओको वै देवानां द्वादशाहो यथा वै मनुष्या इमं लोकमाविष्टा एवं देवता द्वादशाहमाविष्टा' इति ताण्ड्यब्राह्मण-दशमप्रपाठकीय-पञ्चम-खण्डे । द्वादशाह इति द्वादशदिन-निष्पाद्य-क्रतु-नाम, तेन तन्मण्डपो लक्ष्यते । (२४) यथा छान्दोग्यादौ भगवच्छङ्करा-चार्य्यादिभिः पुराणादिशब्दानां 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' त्यादि-लक्षण-लक्षितं प्रसिद्धार्थं परित्यज्य वेदभागपरत्वं स्वीकृतम्, तथैवात्र दैवत-प्रतिमा-शब्देन 'आदित्यो वै यूप'-इत्याद्यर्थवाद-ध्वनिता यूपादय एव ग्राह्याः उभयत्र प्रसिद्धार्थत्यागेऽसम्भव-रूप-हेतो-रैक्यात् । (२५) सर्व्वाण्यद्भुतानि विष्णुदेवत्यानि प्रायश्चित्तानि भवन्तीति योजना, एतेन यागस्यास्य देवताप्युक्तः । (२६) स्वस्त्ययनम् । (२७) अष्टाविंशति संख्यक-पत्रिकायां प्रकाशिते प्रतिमा-पूजन विचारे एष खण्डांशोऽस्ति विचाराङ्गत्वेनोपात्तः अर्थोऽप्यस्यांशिकस्तत्र ध्वनितः, परं स वादैकदृक्-कृतौ न प्रकृत इति स्फुटं कोविदेषु ।

বৈদিকসমালোচনা।

(৩৫ সংখ্যার পর)

২য়—ষড়্বিংশ ব্রাহ্মণ। ইহা পঞ্চবিংশতি প্রপাঠকা-ত্মক তাণ্ড্যব্রাহ্মণের পরিশিষ্টস্বরূপ এই নিমিত্ত ইহাকে 'ষড়্বিংশ' বলা যায়। ইহার আরম্ভে ইতিকর্ত্তব্যতার সহিৎ সুব্রাহ্মণ্যাহ্বান উক্ত হইয়াছে ; পরে ঔদুম্বরীব্যব-স্থাদি ও 'শ্যেনেনাভিচরন্ যজেত''সন্দংশোভিচরন্ যজেত' 'বজ্রোভিচরন্ যজেত' ইত্যাদি কতিপয় অভিচার যাগ বিহিত হইয়াছে। ইহা পঞ্চপ্রপাঠকে ও অষ্টচত্বারিংশৎ খণ্ডে বিভক্ত। যে রূপ আত্যব্রাহ্মণে শ্রৌতকর্ম্মমাত্রই শ্রুত আছে, ইহাতে সেরূপ নহে ; এই ব্রাহ্মণে সন্ধ্যোপাসনাদি-কর্ম্মেরও বিধি দেখা যায়। ইহার শেষভাগে অনিষ্ট-সূচক উল্কাপাতাদি অদ্ভুতঘটনার শান্তি সবিস্তার ব্যবস্থাপিত আছে অতএব ইহা 'অদ্ভুদ্ ব্রাহ্মণ' নামেও কীর্ত্তিত হইয়া থাকে।

कविकल्पलता।

नत्वा शिवं सुकृतिवाभटसूनुना या
देवेश्वरेण कविकल्पलताभिधाना ।
संनिर्म्मिता बुधसमूहहिताय सेयम्
व्याख्यायतेति सरलन्तु मया प्रयत्नात् ॥ १ ॥

ग्रन्थारम्भे सकलधीरजनगणसम्मतिपरिप्राप्त निखिलविघ्नहन्तोत्सारणकारणशिवस्तुतिपुरःसरं ग्रन्थमारभमाणस्तन्निबन्धनं शिष्यान् शिक्षयिष्यन् ग्रन्थादौ धूर्जटिजटास्तुतिव्याजेन तं स्तौति ॥

गङ्गा-वारिभिरुच्चिताः फणि-फणैरुत्पल्लवास्तच्छिखा-
रत्नैः कोरकिताः शितांशुकलया स्मेरैक-पुष्प-श्रियः ।
आनन्दाश्रु-परिप्लुताक्षिहुतभुग्धूमैर्मिलद्दोहदा'
नाल्पंकल्पलताः फलं ददतु वोऽभीष्टं जटा धूर्जटेः ॥१

धूर्जटेः शिवस्य जटाः कल्पलता तत्तुल्या नाल्पं प्रभूतं अभीष्टं काव्य-कृति-प्र.प्ति-रूप-परम-मङ्गलं फलं वो युष्माकं ददतु धारयतु । उपमेयजटासु उपमानीभूतलताधर्मानारोपयन्नाह । गङ्गेत्या.दि । उच्चिताः सेविताः, उत्पल्लवा उत्कृष्टपल्लवयुक्ताः, तच्छिखारत्नैः फणिशिखारत्नैः, कोरकिताः कोरकाः कलिकाः उत्पन्ना आसां ताः तारकादित्वादितच् प्रत्ययः, अत्र यद्यपि तत्पदेन विशेष्यीभूतफणिफणायाः परामर्शो भवितुं युज्यते तथापि विशेषणीभुतफणिनएव परामर्शः दृश्यते राजमतङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमा इत्यत्र राजपदार्थ परामर्शवत् शिखायाः फणिसम्बन्धित्वमेव युक्तम् । स्मेरेत्यादि । विकशिता साधारणपुष्पशोभायुक्ता इत्यर्थः । आनन्देत्यादि । पुष्पफलोपचयार्थं लतादिषु धूमदानरूपव्यापारो दोहदं तदेव सम्भाव्यते । आनन्दाश्रुभिः परिपूर्णा यदक्षि तत्र योहुतभुक् तस्य ये धूमास्तैर्मिलद्दोहदाः, प्रापितदोहदा इत्यर्थः, अग्निजलोपादानकत्वाद्रुमस्य शिवचक्षुषि तद्द्वयमेव सम्भावितम् । उक्षणं सेचनेमतमिति शब्दाम्बुधिः । कलिका कोरकः पुमानित्यमरः । स्मेरः प्रकाशे तद्युक्ते इति शब्दाम्बुधिः । दोहदन्तु स्पृहायां स्याद् गर्भे चिह्नेऽपि न स्त्रियाम् इति शब्दाम्बुधिः ॥ १ ॥

मालवेन्द्र-महामात्यः श्रीमहाभट-नन्दनः ।
देवेश्वरः प्रतनुते कविकल्पलतामिमाम् ॥ २ ॥

इदानीमुत्कृष्टकवीनां विरलत्वप्रदर्शनपुरःसरं स्वरचितग्रन्थस्यास्य श्रेष्ठत्वं सूचयति ।

प्रतिभा-भावितात्मानः कवित्वं केन कुर्व्वते ।
अन्ये तु कविताधान-कुशला विरलाः पुनः ॥ ३ ॥

प्रत्युत्पन्नमतिता प्रतिभा कविता-रचनाशक्तिरिति यावत्, तया भाविता अधिवासिता आत्मा बुद्धिर्येषां, कविता-रचनाक्षमा इति यावत् ; कविताधानकुशलाः कवितारचनाक्षमा इत्यर्थः ; विरलाः स्वल्पाः ॥ ३ ॥

इदानीं स्वरचितग्रन्थप्रतिपादितार्थानामभूतपूर्व्वत्वेनोत्कृष्टत्वं सूचयन् पण्डितान् परिहरति ।

यदन्यै र्व्वन्यै र्नक्षुणं तत्र सञ्चरतो मम ।
पदे पदे प्रस्खलतः सन्तः सन्त्ववलम्बनम् ॥ ४ ॥

कविता पक्षे न क्षुण्णमित्यस्य न प्रकाशित-मित्यर्थः, वन्यैरित्यस्य कवितारूपवनविहारिभिः पण्डितैरित्यर्थः, पदे पदे इत्यस्य सुप्तिङन्ते इत्यर्थः, प्रस्खलतो भ्राम्यतेत्यर्थः । वनपक्षे सुगमम् । उभयपक्षे अवलम्बनमित्यस्य अनुकूलमित्यर्थः अत्र "प्रकृति-विकृत्योः प्रकृतिरत्र कारक"मिति सन्त्विति बहुवचनम् ॥ ४ ॥

इदानीम् पूर्व्वानुद्भावितार्थोद् भावनेन प्राचीनकविसम्प्रदायविरुद्धत्वशङ्कां निराकुर्व्वन्नाह ॥

कवि-शिक्षा-शतं वीक्ष्य कवीन्द्रानुपजीव्य च ।
निबद्धेयम् मया धीरा त्वरित-श्लोक-सिद्धये । ५ ।

शिक्षेति कर्मणि अप्प्रत्ययः काव्यानीत्यर्थः तासां शतम् । उपजीव्य अनुसृत्येत्यर्थः । त्वरितश्लोक-सिद्धिर्ग्रन्थस्य प्रयोजनम् ॥ ५ ॥

सुवृत्त-रम्य-स्तवका सदालि-परिशीलिता: ।
कविकल्पलताख्येयं कविशिक्षा निषेव्यताम् ॥ ६ ॥

लतापक्षे सुवृत्ता अतिगोलाकृतयो रम्या मनोहरा स्तवका गुच्छा यस्यां । ग्रन्थपक्षे वृत्तपद्यरचना विशेषः । लतापक्षे सदा अलिभिर्भ्रमरैः परिशीलिता सेविता । ग्रन्थपक्षे सतां पण्डितानाम् आलिः श्रेणिः तया परि शीलिताः सेविता । अथवा सन्तश्च आलयो निर्मलताशयाश्चेति परिशीलिता सम्यगालोचितेत्यर्थः । आलिश्च सन्ततौ निर्मलाशये त्रिषु चेति शब्दाम्बुधिः कविशिक्षेति कवीनां शिक्षा-विषयी भूता भवन्त्वित्यर्थः ॥६

शब्द-श्लेष-कथार्थाख्यास्त्वार स्तवका इह ।
ते चतुः-पञ्च-षट्-सप्त-कुसुमैरन्विताः क्रमात् ॥७॥

शब्दस्तवके चत्वारि कुसुमानि। श्लेषस्तवके पञ्च। कथास्तवके षट्। अर्थस्तवके सप्त ॥ ७ ॥

शाब्दीय-स्तवके छन्दोऽभ्यासः सामान्य-शब्दकाः।
वर्णस्थितिरनुप्रासः कुसुमानि यथाक्रमात् ॥ ८ ॥

छन्दोऽभ्यासः श्लोकरचनोपयोगि-शब्द-प्रयोगः श्लोकरचनाप्रणाली च ॥ सामान्य-शब्दादीनां लक्षणन्तु तत्तत्कुसुमेषुव्यक्तीकरिष्यति ॥ ८ ॥

इत्युपक्रमः।

छन्दोभ्यास-प्रसूनेऽत्र नेत्रभूता विपश्चिताम्।
कथ्यन्ते केऽपि शब्दा यै श्छन्दो मन्दोऽपि विन्दति ॥१

अस्मिन् प्रसूने छन्दोरचनानुकूलाः शब्दाः प्रदर्शितव्याः। यैः शब्दैरल्पज्ञोऽपि छन्दोरचनाशक्तिम् प्राप्नोति ॥ १ ॥

तथाचेदानीं श्रीवाचकाः शब्दा एकाक्षरादिक्रमेण दर्श्यन्ते।

श्रीर्लक्ष्मीः कमला पद्मालया च हरिवल्लभा।
दुग्धाब्धि-नन्दना क्षीर-सागरापत्यमित्यपि ॥२॥
क्षीर-पाथोधि-तनयेत्येवमेकाक्षरादिकम्।

एषां शब्दानाम् मध्ये यस्मिन् पद्ये याद्दश शब्दोपयोग स्तत्र तएव शब्दाः प्रयोक्तव्याः। यथा माघे-श्रीमति शासितुमित्यत्र श्री-शब्दस्य प्रयोगः, परस्परं विस्मयवन्ति लक्ष्मीमालोकयाञ्चक्रिरेवादरेणेत्यादौ लक्ष्मी शब्दप्रयोगः। एव मन्येप्यूहनीयाः ॥ २ ॥

कवितारचनाप्रकारमाह।

आदौ साध्यपदं स्थाप्यं शेषं कुर्य्याद् विशेषणैः ॥३

आद्यपदं विशेष्यपदं स्थाप्यं सन्निवेशनीयं शेषम् पश्चाद् विशेषणैरुपलक्षितं कुर्य्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेव प्रपञ्चयति।

विशेष्यार्थौ वर्णाकारा धाराधेयक्रियागुणैः।
साद्दश्यपरिवाराद्यैः क्रियेत सविशेषणः ॥ ४ ॥

वर्णाः शुक्लादयः। आकारावर्त्तुल-चतुष्कोणदीर्घत्व-खर्वत्वादयः। आधारा विशेष्याधिकरणानि। आधेया विशेष्यनिष्ठाः। गुणा महत्वादयः। परि सर्वतोभावेन वृणन्तीति परिवारास्तदाश्रिताः सन्तः तच्छोभातिशयजनकाः। आदिपदेन जात्यादयो ग्राह्याः। एतैर्विशेष्यार्थो विशेषणसम्बन्धी कर्त्तव्यः ॥ ४ ॥

सर्वेषामेकत्रोदाहरणं दर्शयन्नाह।

यथा सुधांशुर्धवलोऽति-वृत्तः
क्रान्तान्तरीक्षो हरिणन्दधानः।
महत्तमोघ्नन् जनतापहारी
मृगेन्द्रवद्राजति ऋक्ष-मध्ये ॥ ५ ॥

सुधांशुश्चन्द्रः, ऋक्षमध्ये नक्षत्रमध्ये, मृगेन्द्रवत् सिंहवत्, राजति शोभते, सिंहोऽपि ऋक्षाणाम् भल्लुकानाम् मध्ये शोभते; उभयोर्विशेषणमाह-धवलः शुक्लः अतिवृत्तः अतिगोलाकृतिः, पक्षे अत्युत्कटचरित्रः, क्रान्तमन्तरीक्षं येनेति क्रान्तान्तरीक्षो गगणविहारीत्यर्थः, हरिणं लाञ्छनरूपमृगं दधानः, सिंहोपि हरिणं दधानः तस्य धारणार्थमुल्लम्फनेन क्रान्तान्तरीक्षो भवति। अत्र लक्षणहेत्वोः क्रियाया इति शानच्। महत्तमोघ्नन् महदन्धकारं नाशयन्। पक्षे घ्नन् हिंस्रः अतीव हिंस्र इत्यर्थः। जनतापहारी लोकानां क्लान्तिनिवारकः। पक्षे जनानां समूहो जनता तस्या अपहारी नाशकः। अत्र धवलादि-पदैर्वर्णाद्युदाहरणमुक्तम् ॥५॥

साद्दश्य प्रसङ्गेन तदभिधायकान् शब्दानाह।

बन्धुश्चौरः सुहृद् वादी कल्पः प्रख्यः प्रभः समः।
देशीय-देश्य-विप्राभः सोदराद्या इवार्थकाः ॥ ६ ॥

अत्र बन्ध्वादयस्त्रयोदशशब्दादर्शिताः आद्य शब्दाच्छेद-निन्दक-विडम्बक—प्रतिनिधि—नीकाश—सहाध्यायि-प्रभृतयोऽपि बोध्या; एतेषां प्रर्य्याय शब्दा अपि साद्दश्य प्रतिपादकाः। अत्र केचिच्छब्दाः शक्त्या साद्दश्य-प्रतिपादकाः, यथा-सम-प्रख्य-निभादयः। केचन लक्षणया, यथा-चौर-बन्धु-सुहृद् विप्रादयः। कल्प-देश्य-देशीयाः प्रत्ययाः। इव-वा-वत्-प्रभृतयो निपाताः ॥ ६ ॥

एतानुदाहरति।

यथेन्दु-बन्धु मुक्ता-श्री-चौरो हार-श्रियः सुहृत्।
कुन्द-वादी हंस-कल्पः क्षीर-प्रख्यो हिम-प्रभः ॥७
गङ्गा-समोऽब्ज-देशीयः शेष-देश्यः सुधा-रिपुः।
विषाभस्तेयशोराशिः कैलाशोदर-सोदरः ॥ ८ ॥

एवं विडम्बयन्तंशितिवाससस्तनुमिति माघे, इन्दीवरोदर-सहोदर-नेत्र-शोभेति शारदायाम्। विषम् मृणालं, तदाभस्तत्समः। इदमत्रावधेयम्। रिपु-निन्दकादयः शब्दाः चेत्र-नार्थ-वाचकान्विताः न साद्दश्यार्थबोधकाः। यथा अयं चैत्र-शत्रुर्गुरु-निन्दको वा ?-इत्युक्ते चैत्र-तुल्यो गुरु-तुल्यो वार्थः प्रतीयते, शक्यार्थस्यैव शीघ्र प्रतीतेः, वस्तुतो यत्र मुख्यार्थोन्वय-योग्यतायाः सम्भवः तत्र लक्षितसाद्दश्यार्थकानां मुख्यार्थस्यैव बोधः, यथा स्वर्णस्तेयः धनापहारकः इत्यादयः ॥ ७ ॥ ८ ॥

छन्दोऽभ्यास-प्रसूने वक्तव्यविषयानाह।

कथा-नगर-सर्वार्थनित्यकृत्यादिवर्णनैः ।
लोकानां दृष्टचेष्टाभिश्छन्दोऽभ्यासः क्रमो यथा ॥९

कथा आख्यायिका, सर्वार्थः सर्वे सम्पूर्णा अर्थाः पदार्था यस्मिन् सः ; एवञ्च स्वोत्कृष्ट-सूचक-विशेषण-वैशिष्ट्येन पदार्थो वर्णनीयत्वेनोदाहरणीय इतिभावः ॥ ९ ॥

क्रमेणोदाजिहीर्षरादौ कथां वर्णयति ।

आसीद्दशरथो राजा चत्वारस्तस्य सूनवः ।
राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्ना इति विश्रुताः ॥ १० ॥

अत्र यद्यपि षष्ठाक्षरस्य लघुत्वाच्छन्दः पतति तथापि यथाक्रमं नाम-चतुष्टय-सन्निवेशानुरोधेन न दोषजनकम् यथा 'उपमाने वति, तत्वौ भावे, यथाच प्रकीर्त्तितः'-इति कातन्त्र-सूत्रे सूत्रत्रय-सन्निवेशानुरोधेन ॥ १० ॥

नगरवर्णनमाह ।

ध्वस्त-ध्वान्त-भरं रत्न-श्रेर-विश्रेर-रश्मिभिः ।
राजधानी दिनस्येव तत्पुरं द्योतते सदा ॥ ११ ॥

अत्र दिनस्येति षष्ठ्याः सम्बन्धत्व-रूपेणाधिकरणत्वमर्थः, 'आमं शूद्रस्य पक्वान्नं पक्वमुच्छिष्टमुच्यते'-इत्यत्र पक्वमिति पदान्वये शूद्रस्येति षष्ठ्याः सम्बन्धत्वरूपेण कर्त्तृत्वार्थवत्, तथाच दिनवृत्ति-द्युतिसदृश-द्युतिमदित्यर्थः ; अर्थाद्राज्ञावमियत्पुरं राजधानीत्यभेद-सम्बन्धेनान्वयः । अथवा दिनस्य राजधानीव तत्पुरं द्योतते, अर्थाज्जगति दिनरूपस्य राज्ञो यदाश्रिकार-स्तदा सूर्य्यकिरणैर्यथा जगत् प्रकाशते तद्वद्राज्ञावपोत्यर्थः ॥११॥

सर्वार्थवर्णनमाह ।

स्थाली भात्यन्नपूर्णैयमर्णोभिः शोभते घटः ।
पटः संलक्ष्यते सूक्ष्मः साक्षाल्लक्ष्मीरियं वधूः ॥१२॥

नित्यकृत्यवर्णनमाह ।

प्रातःकृतश्रमः स्नातोऽर्च्चितदेवो हुतानलः ।
भुक्तान्नः श्रुतसच्छास्त्रः सायं शय्यागृहं ययौ ॥१३

लोकानां दृष्टचेष्टामाह ।

पुष्पाणि पाणिदेशेऽसौ कृत्वा क्रीड़ति कामुकः ।
ताम्बूलिकोऽत्र ताम्बूलमस्य पश्यार्पयत्यसौ ॥ १४ ॥

छन्दोऽभ्यासस्वरूपमाह ।

तदर्थान्यपदैः स्वान्य स्लोकस्य परिवर्त्तनात् ।
तत्रैव छन्दस्यभ्यस्येदथ छन्दोऽन्तरे यथा ॥ १५ ॥

स्वान्यश्लोकस्येति स्वश्चान्यश्चेतिद्वन्द्वः, तयोः श्लोकस्यैकत्व-मविवक्षितम् ; परिवर्त्तनाद् विनिमयात् तत् प्रकारमुक्तम् तदर्थेति ; परिवर्त्तनप्रकारान्तरमुक्तमथेति ॥ १५ ॥

उदाहरणमाह ।

प्रत्यर्थिपृथिवीपालतमोजालदिवाकरः ।
नीतिव्रततिपर्य्यन्यो राजते जगतीपतिः ॥ १६ ॥

प्रथमपरिवर्त्तनमाह ।

प्रत्यनीकावनीकान्तध्वान्तविध्वंसनांशुमान् ।
नयवल्लीनवाम्भोदः शोभते भूमिवल्लभः ॥ १७ ॥

द्वितीयपरिवर्त्तनमाहेन्द्रवज्राख्यकेन च्छन्दसा ।

प्रत्यर्थिपृथ्वीहृदयाधिनाथ-
ध्वान्तौघविध्वंसनवासरेशः ।
सन्नीतिवल्लीनववारिवाहो
विश्वम्भरायादयितोविभाति ॥ १८ ॥
दुर्द्धरारिधरणीधरोद्धत-
ध्वान्तमण्डलविड़म्बनांशुमान् ।
नीतिवल्लीनवनूतनाम्बुदो-
मेदिनीपरिदृढोविराजते ॥ १९ ॥

अन्यदपि ग्रन्थान्तरोक्तं, यथा—'मा कान्ते पक्षस्यान्ते पर्य्याकाशे देशे स्वाप्सीः कान्तं वृत्तं वक्त्रं पूर्णं चन्द्रं मत्वा रात्रौ चेत् । भुतृचामः प्राटंस्तेतस्तो राहुः क्रूरः प्राद्यात्तस्मात्कान्ते हर्म्यस्यान्ते शय्यैकान्ते कर्त्तव्या' इति एतस्यैव छन्दोन्तरेण शब्दान्तरेण च परिवर्त्तनं यथा— 'झटिति प्रविश गेहम् मा बहिस्तिष्ठ कान्ते ग्रहणसमयवेला वर्त्तते शीतरश्मेः। तदिह विमलकान्तिं वीक्ष्य नूनं स राहुर्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहायेति ॥ १८ ॥ १९ ॥

इदानीं यतिभङ्गदोषमाह ।

यतिभङ्गो नाम-धातु-भाग-भेदे भवेद्यथा ।
पुनातु नरकारि स्वक्र-भूषित-कराम्बुजः ॥ २० ॥

नामानि प्रातिपदिकानि वृक्षघटपटादीनि, धातवः क्रिया-वाचकाः भवतिपचत्यादयः भागो विभजनं, तेन भेदे विच्छित्तौ सत्यामित्यर्थः । अत्रेदमवधेयम् । यद्यपि कृत्तद्धितसमासाश्चेति सूत्रेण समस्तस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञा तथाप्यत्र नाम शब्देन न तस्य ग्रहणम्, तद् भागभेदेऽपि यतिभङ्गस्यादृष्टत्वात् तथाहि माघे-अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नाया-इत्यत्र प्रत्यर्थि पृथिवीपालेत्यादि ग्रन्थकारस्योदाहरणे च दृश्यते ॥२० ॥

स्वरसन्धावपि यतिभङ्गमाह ।

स्वरसन्धौ तु न श्रीशोऽस्तुभूत्यै भवतो यथा ॥ २१॥

अत्र श्रुतिकटुत्वं हेतुः ॥ २१ ॥

एतस्यापवादमाह ।

न स्याद्विभक्ति-भेदे भात्येषराजेति कुत्रचित् ।

अत्र विभक्तिविच्छित्तिसत्वेऽपि न यतिभङ्गः ॥

एतस्याप्यपवादमाह ।

क्वचित्तु स्याद् यथा देवाय नम श्चन्द्रमौलये ॥२२॥

अन्यान्यपि यतिभङ्गकारणान्याह।

चादयो न प्रयोक्तव्या विच्छेदात्परतो यथा।
नमः शिवाय कृष्णाय च दानव-विनाशिने ॥२३॥
एकस्वरोपसर्गेण विच्छेदः श्रुति-सौख्य-हृत्।
यथा पिनाकपाणिं प्रणमामि स्मरशासनम् ॥२४॥

विशेषकारणान्युक्त्वा सामान्यकारणमाह।

एवं यथायथोद्वेगः सुधियां नोपजायते।
तथा तथा मधुरता-निमित्तं यतिरिष्यते ॥ २५ ॥
अवश्यथापि मधुरा मनो हरति भारती ॥ २६ ॥

इति कविकल्पलतायां छन्दःस्तवके छन्दोऽभ्यासाख्यं प्रथमं कुसुमं।

अथात्र द्वितीयकुसुमे सामान्यशब्दाः प्रदर्शनीयाः। यद्यपि सामान्य-शब्दा अग्निपुराणामरसिंहाद्युक्ता विशेष्यनिघ्नादय एव, तथापस्य यस्य काव्यरचनानुकूलतादिह वर्णनीयवस्तूनां लोकोत्तरचमत्कृतिजनक वर्णनोपयोगिनो गुणालङ्कार-रसाभिव्यञ्जकाः शब्दा अपि सामान्यशब्देन लक्ष्यन्ते। तथाहि विशेष्यनिघ्नादयः क्रोडीकृता स्तदतिरिक्ता अपि भाषा-प्राकृत समानिरोष्ठ्यक्रियागुप्ति-प्रभृतयोऽपि शब्दाः संग्रहीतव्याः॥

तथाहि।

सामान्यशब्दाः कथ्यन्ते क्रमादेकाक्षरादयः।
श्री भो हे हि नु निः सं नि प्र वि द्राक् आ सु सद्यथा ॥१॥

श्रीकृष्ण ! भो केशव ! हे हरे !
दुराश्रिपीड़िताः ! सुमतिं प्रयच्छ।
निकाममासेव्य विभासि नु त्वं
सद्योगिनां चेतसि सङ्गतो हि ॥ २ ॥

श्री शब्दो लक्ष्मी-सरस्वती-विभूत्यादिनां वाचकस्तथा देवादिनाम्नः पूर्वं प्रयोक्तव्यः। उक्तञ्च राघवभट्टकृतप्रयोगसारे "देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताम्। सिद्धं सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेदिति।" भो, हे, सम्बोधनस्य द्योतकः। हि, निश्चय-हेतुत्वयोः। नु, जिज्ञासा विकल्पयोः। निर्, निस् वा निश्चय निषेध बहिष्करणादीनाम्। सम्, प्रकर्ष सम्यग्भावश्लेषाभिमुख्यनैरन्तर्यादीनाम्। नि, निश्चय निषेधादीनाम्। वि, विशेष निषेध गत्यादीनाम्। द्राक्, शीघ्रत्वस्य। आ, ईषदर्थसीमाप्रत्यादत्तिपदग्रहणप्रकर्षादीनाम्। सु, उत्कर्षातिशयानायासादीनाम्। सत्, उत्तमत्वादीनाम्॥ यथेत्युक्तोदाहृतं श्रीकृष्णेत्यादिकम्। अत्र यथायथमर्था अवगन्तव्याः॥ १ ॥ २ ॥

द्व्येकाक्षरम्।

स्फुटं स्फूर्जत् स्फुरत् स्फारं सारं तारं परं वरम्।
प्राग्र्यं प्राज्यं प्रियं प्रेष्ठं ज्येष्ठं श्रेष्ठं मुहुर्बहु ॥ ३ ॥
कीर्त्यं काम्यं कम्रं कान्तं मञ्जु मंक्षु महन् मिलत्।
गाढं वाढं दृढं प्रौढं वल्गु वल्गत् ललत् लसत् ॥ ४
स्वैरं सम्यक् सदा शश्वत् सत्यं नित्यं ध्रुवं द्रुतम्।
धुर्य्यं वर्य्यं पुनः प्रायः सुष्ठु सद्यो भृशं लसत् ॥ ५ ॥
ननु नाम किल क्रीड़च्चञ्चच्चारु जवात् खलु।
श्रीमदुच्चैः शनैर्माद्यद्दिङ्गद्रिङ्गच्चिरम्परि ॥ ६ ॥

सामान्ये नपुंसकमिति शासनादिह विशेषणशब्दा नपुंसकलिङ्गत्वेन निर्द्दिष्टाः वर्णनीयवस्तुवाचकस्त्रीपुंलिङ्गशब्दानां विशेषणताचित्ते तु यथायथं लिङ्गोल्लेखेन प्रयोक्तव्याः। यथा स्फुटं पुष्पं स्फुटः शब्दः स्फुटा वाणीत्यादयः॥ स्फुटम्, स्पष्टं विकशितं व्याप्तं स्फुटितं शुक्लञ्च। स्फूर्जत्, शब्दायमानं। स्फुरत् स्पन्दायमानं स्फूर्तिमच्च। परम्, उत्कृष्टं वाच्यं प्रधानञ्च। वरम्, मनाक प्रियं श्रेष्ठं सावृतञ्च। प्राग्र्यम् श्रेष्ठं। प्राज्यम् प्रचुरम्। कम्रम्, कामुकं कमनीयञ्च। मंक्षु, शीघ्रमतिशयञ्च। प्रौढम्, निपुणं वयोविशेषवच्च। वल्गु, सुन्दरम्। वल्गत् प्लुतं गच्छद् बहुजल्पञ्च। ललत् विलासयुक्तम् लड विलासे इत्यस्य रूपम्। लसत् श्लिष्यत् क्रीडत् कान्तियुक्तञ्च। जवात्, शीघ्रम्। माद्यत्, हृष्यत्। दिङ्गत्, स्पन्दायमानम्। रिङ्गत्, औचित्ये पिच्छिलादेवेति साधु अन्ये स्पष्टाः ॥३॥४॥५॥६॥

इति द्व्यक्षरम्।

झटिति प्रकटं सपदि प्रसभं
निविडं रुचिरं सुभगं प्रवरम्।
विकसद् विहसद् विचरद् विलसद्
विमलं समलं बहुलं प्रवसम् ॥ ७ ॥
सर्व्वदा सर्व्वथा सर्वतः शीघ्रतः
सत्वरं सन्ततं निश्चितं वेगतः।
उच्चकैरञ्जसा नित्यशः सुन्दरं
पेशलं मञ्जुलं प्रोल्लसद् विस्फुरत् ॥८॥
प्रोद्दामदिग्भ्राजदुत्तुङ्ग विस्फूर्ज-
दुत्तान शोभाढ्य विस्फार विक्रीड़त्।
सच्छाय सत्क्षोभ निःशङ्क निःशेष-
मित्यम् वधैस्त्र्यक्षराणि प्रयोज्यानि ॥९॥

उच्चकैः, उच्चाधिकरणमतिशयञ्च। अञ्जसा शीघ्रं तत्त्वेन च। उत्तुङ्गम्, उच्चैः। उत्तानम्, गभीरम् ऊर्द्ध्वशायितञ्च। नित्यशः, निरन्तरम्। प्रसभम्, बलात्कारम्। पेसलम् चतुरं रुचिरञ्च। प्रोद्दाम, प्रचण्डं दुर्द्धर्षञ्च। सपदि, तत्क्षणे। सच्छायम्, सती उत्तमा छाया कान्तिर्यस्य तत् उत्तमकान्ति इत्यर्थः। स्पष्टा अन्ये॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

इति त्र्यक्षरम्।

चतुर्थी ऋक् ।

वामदेवऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता ।

२　२३　१२३　२३१　२　३१
सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महा
२३१२३२　३१२　　२　२　३१र
मपारं वृषभꣳ सुवज्रम् । हन्ता यो वृत्रꣳ
२र३२उ　३　१२　३१२　३१२
सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा
३१२
सुराधाः ॥ ४३ ॥

'य' इन्द्रः 'सुराधाः' सुशोभनधनयुक्तः 'मघवा' 'वृत्रं' वृत्रासुरं 'हन्ता' 'उत' अपिच 'वाजम्' अन्नं 'सनिता' 'मघानि' धनानि 'दाता' तम् 'सत्राहणम्' शत्रूणां हन्तारम् 'दाधृषिम्' धर्षकम् 'तुम्रम्' प्रेरकम् 'महाम्' महान्तम् 'अपारम्' अनन्तम् 'वृषभम्' कामानां वर्षितारम् 'सुवज्रम्' शोभनेन वज्रेणोपेतम् 'इन्द्रम्' वयं स्तुमः इति शेषः ॥ ४३ ॥

যে ইন্দ্র উৎকৃষ্টধনান্বিত, ঐশ্বর্য্যবান্, বৃত্রহা এবং অন্নপ্রদাতা, ঐশ্বর্য্য-দাতা, শত্রু-হন্তা, ধর্ষক, প্রেরক, মহান্, অনন্ত, বজ্রী, অভিলষিতার্থবর্ষক; তাঁহাকে আমরা স্তব করি ॥৪৩

मारुतम् ।

५र　३२　३र र ५　१२
सत्रा । हणा ३४ औहो वा । दाधृषिं
१　२३　५　२१र　२र१
तू । म्रमिन्द्रा ओ २३४ वा । महामपारं
२१　२१　१　३
वृषभꣳ सुवज्रा २३ म् । हन्ता २ यो २३४
५　१　२　२　४
वृ । त्राꣳ सनि । तो ३४३ । ता ३ वा ५
१र २र　१र　२१ ऽर
जा ६५६ म् । दाता मघानि मघवा २
१र३ १ १ १ १
सुराधा २३४५ः ॥ ४३ ॥

पञ्चमी ऋक् ।

ऋष्यादिकं पूर्ववत् ।

१　२　३१　२३२　३२३　१२
यो नो वनुष्य न्नभिदाति मर्त्त । उगणा
३१२　३१ २　३२३१र　२र
वा मन्यमान स्तुरो वा । क्षिधीयुधा शवसा
३　१　२३　१　२　३　१　२
वा त मिन्द्रा भीष्याम वृषमण स्त्वोताः ॥४४॥

हे 'इन्द्र !' 'य' 'मर्त्तः' मानवः 'नः' अस्मान् 'वनुष्यन्' हन्तुमिच्छन् 'अभिदाति' आगच्छति 'वा' योवा 'मन्यमानः' आत्मानं बहु मन्यमानः 'उगणाः' उत्कृष्टगणाः अस्मदीयाः प्रजाः 'तुरः' हिंसिता अस्ति, 'त्वोताः' त्वया ऊताः रक्षिताः 'वृषमणः' वृषाइव आचरन्तः वयम् 'तम्' पूर्वोक्तं शत्रुं 'क्षिधीयुधा' क्षयकरणेन आयुधेन 'शवसा वा' अथवा बलमात्रेण मल्लयुद्धेनेति यावत् 'भीष्याम' भीतिं प्रापयिष्यामः इति अत्रैको वानर्थकः ॥ ४४ ॥

ইন্দ্র ! যে জন আমাদিগকে নষ্ট করিতে আইসে, যে বা আত্ম অভিমানে আমাদিগের পরিবারবর্গের বধ ইচ্ছা করে; তোমাকর্ত্তৃক রক্ষিত আমরা বৃষের আচরণ করত সেই শত্রুকে অস্ত্র দ্বারা অথবা মল্লযুদ্ধে ভীত করিয়া দিব ॥ ৪৪ ॥

आलम् ।

३र ४र　३४५र　३२
यो नो वनुष्यन्नभिदा । तिमा ३२३४
५　१र र　र २१　२
र्त्ताः । उगणावामन्यमानस्तुरो २३ वा ।
१र र　र र२१　२ १
क्षिधीयुधा शवसा वातमा२३ इन्द्रा । अभा
२ २ १ २ २　१ २
इष्या३मा । वृषामा३णा३ः । त्वो२३ता ३४
१
३ः । ओ २३४५ इ । डा ॥ ४४ ॥

षष्ठी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यं वृत्रेषु क्षितय स्पर्द्धमाना यं युक्तेषु
३ १ २ ३ १ २ १र र ३ २ ३ १र २र
तुरयन्तो हवन्ते। यꣳ शूरसातौ य मपामुप
३ १र २र ३ १ २ ३ १र २१
ज्मन् यं विप्रासो वा जयन्ते स इन्द्रः॥४५॥

'क्षितयः' मनुष्याः 'यं' देवं स्मरन् 'वृत्रेषु'शत्रुषु 'स्पर्द्धमानाः' स्पर्द्धन्ते, 'युक्तेषु' आयुधैः सन्नद्धेषु संग्रामेषु 'तुरयन्तः' परस्परं हिंसन्तः जनाः 'यं' 'हवन्ते' आह्वयन्ति 'शूरसातौ' शूरगणमध्ये 'यं' आश्रयन्ते, 'अपाम्' उदकानां निमित्तं 'यम्' उपज्मन्' उपगच्छन्ति उपासते, 'विप्रासः' विप्राः 'यं' 'वाजयन्ते' हविभिर्बलिभिश्च वाजिनमन्नवन्तं कुर्वन्ति 'स' 'इन्द्रः' ॥ ४५ ॥

মনুষ্যেরা যে দেবকে স্মরণ করত শত্রু-মধ্যে স্পর্দ্ধা করে, আয়ুধ-সংযুক্ত সংগ্রামে পরস্পর হিংসা কালে যাঁহাকে আহ্বান করে, শূরগণের মধ্যে যাঁহাকে আশ্রয় করে, বৃষ্টির নিমিত্ত যাঁহার উপাসনা করে, বিপ্রগণ বলি-প্রদান পুরঃসর যাঁহাকে অন্নবান্ করে ; তিনি ইন্দ্র ॥৪৫॥

गार्त्समदम्।

५र र २ २ ३
हाउयं वृत्रेषु। क्षितया ३:। स्पर्द्धि-
४ ५ १ र २ १ र
माना:। षमाना ३:। ई २३४ य इया।
५र र २ २ ३ ४ ५
हाउयं युक्तेषु। तुरया ३। तो हवन्ताइ।
१ २ १ र ५र
हवन्ता ३ इ। ई २३४ य इया। हाउ
र ४ २ ३ २ ३ ४ ५
यꣳ शूरसा। ता३उयम। पामुपज्मान्।
१ र ५र र ४ २
ई २३४ यइया। हाउयं विप्रासा:। वा ३ज
३ २ ३ ४ ५ १ २ १
य। ता इस इन्द्राः। स इन्द्रा ३:। ई २३४
६ ५ ५ ३ ११११
य। इया ६। हाउवा। ई२३४५ ॥ ४५ ॥

सप्तमी ऋक्।

विश्वामित्रऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १र २र ३ २उ ३
इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामी रिष
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आवहतꣳ सुवीराः। वीतꣳ हव्यान्यध्वरेषु
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
देवावर्द्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥४६॥

हे 'इन्द्रापर्वता' इन्द्रश्च पर्वतश्च तौ युवां 'बृहता रथेन' आगत्य 'वामीः' वननीयाः 'सुवीराः' शोभनपुत्रोपेताः 'इषः' अन्नानि 'आवहताम्' आनयताम् किञ्च हे 'देवा' देवौ! 'अध्वरेषु' यज्ञेषु 'हव्यानि' 'वीतम्' भक्षयतम्, अपिच 'गीर्भिः' तथा 'इडया' अस्मद्दत्तेनान्नेन 'मदन्ता' मदन्तौ हृष्यन्तौ युवाम् स्तुतिलक्षणाभि र्वाग्भिः 'वर्द्धेयाम्' प्रवृद्धौ भवतम् ॥ ४६ ॥

হে ইন্দ্র-পর্ব্বত, দেবদ্বয়! তোমরা বৃহৎ রথে আগমন করত প্রজননশক্তিপ্রদ অন্ন-সকল আনয়ন কর। হে দেবদ্বয়! যজ্ঞেপ্রদত্ত হব্যসকল ভক্ষণ কর এবং ঐ অন্নভক্ষণে হৃষ্ট হওত স্তুতিবাক্য দ্বারা প্রবৃদ্ধ হও ॥ ৪৬ ॥

वैश्वामित्रम्।

४ ५ २र १ र र
इन्द्राहाउ। हा हो इ। पर्वताबृहता
३ २ ५ ४र
रथा २ इ ना उवा ३। उ३४ पा। वामी
५ २र १ र
हीउ। हा हो इ। इष आवहतꣳसुवा२
३ २ २ ५ ४र ५
इरा उवा ३। उ ३४ पा। वीतꣳ हाउ।

२र　१　२　र　१　२
ह्वा हो इ। इव्यान्यध्वरेषुदा२इ वा उवा
२　५　४　५　२र१
३। ऊ २४ पा। वर्द्धाहाउ। हाहो।
र　र　र　१　२　२
यां गीर्भिरिडयामर्दा२न्ताउ वा३ ऊ ३२
५
३४पा॥ ४६॥

अष्टमी ऋक्।

रेणु ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३　२ ३　१ २　३ १र
इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः
२र　१ २　३ १ २　१र　२र
प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात्। यो अक्षेणेव
२ ३ १ २ ३　१ २ ३ १ २　३ २
चक्रियौ शचीभि र्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवी
३ २
मुत द्याम्॥ ४७॥

'इन्द्राय' इन्द्रार्थम् 'अनिशितसर्गा' सर्गो विरामः तच्छून्या उपर्युपरियमाणाः 'गिरः' स्तुतिलक्षणवाचः स्वार्यन्ते अतएव सः 'सगरस्य' अनरिक्षस्य 'बुध्नात्' प्रदेशात् 'अपः' उदकानि 'प्रैरयत्' प्रेरयति। 'य' इन्द्रः 'पृथिवी' पृथिवीम् 'उत' अपि 'द्याम्' दिवं च 'शचीभिः' व्यवहारैः 'अक्षेण इव' रथाक्षवत् 'चक्रियौ' अपिच 'विष्वक्' सर्वत 'तस्तम्भ' अस्तम्भात्॥ ४७॥

যে ইন্দ্র পৃথিবী ও দ্যুলোক স্ব-ব্যবহারে রথাক্ষবৎ করিয়া সর্ব্বত স্তম্ভন করিয়াছেন, তাঁহার তুষ্ট্যর্থ বিরামশূন্য স্তুতি উচ্চরিত হয়, অতএব তিনি অন্তরীক্ষ হইতে উদক প্রেরণ করেন॥ ৪৭॥

গাবিতম্

२　२　१र　२
हा ३। हायि। इन्द्राय गाइ। रा३

१　२ ^३ ४ ५　२
अनि। शीत सर्गाः। असाउ। असाउ।
१र　२　१　२ ^३ ४ ५
इन्द्राय गाइ। रा ३ अनि। शीतसर्गाः।
२　१र　२　१
कुवा। कुवा। इन्द्राय गाइ। रा ३ अनि।
२ ३ ४ ५　२　१　र
शीतसर्गाः। अयाम्। अयाम्। अपः प्ररा।
२　१　२ ३ ४ ५　१　२　१
या ३ त्सगारस्य बुध्नात्। अविदा३त्। अ-
२　र १ र　२　१　२
विदत्। यो अक्षेणाइ। वा ३ चक्रि। यौ
^३ ४ ५　२ १　२　५　२ १
शचीभोः। ईहा २३। ई ३४ हा। विश्वक्
२　१　२　२　४
तस्ता। भा ३ पृथि। वी ३४३म्। ऊ ३ ता
५ द्याइ५ईम्॥ ४७॥

नवमी ऋक्।

वामदेवऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३　१ २　३ १　२　३ २
आत्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः
३ १ २　३ १　२　३ १र २र ३ १
पुरूचि दर्णवाञ्जगम्याः। पितुर्नपात मा
२　३ २ ३ १र　२र ३ १र　२र
दधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः
॥ ४८॥

हे इन्द्र! 'चित्' यतः त्वम् 'तिरः' प्रच्छन्नं भवितु 'पुरु' निस्तीर्णम् 'अर्णवाम्' अर्णवम् अन्तरिक्षं 'जगम्या' अगच्छाः अतः 'सखायः' स्तोतारः 'सख्या' सख्येन भावेन 'त्वा' त्वाम् 'आववृत्युः' आवरणं निरोधनं कुर्वन्ति 'अस्मिन्' 'क्षये' यज्ञे 'प्रतरां' प्रकृष्टं 'दीद्यानः' दीप्यमानः 'वेधाः' विधात सर्वफलानां त्वम् 'पितुः नपातम्' मज्जनकस्य पौत्रं मत्पुत्रमिति यावत् 'आदधीत' प्रयच्छ॥ ४८॥

হে ইন্দ্র! যেহেতু তুমি অন্তর্হিত হইবার জন্যে বিস্তীর্ণ অন্তরীক্ষে গমন করিতেছ,

অতএব স্তোতারা সখ্যভাবে তোমায় অবরোধ করিতেছেন। তুমি এই যজ্ঞে প্রকৃষ্ট দীপ্যমান ও সর্ব্বফল-বিধাতা, মৎপিতার পৌত্র অর্থাৎ পুত্র প্রদান কর ॥ ৪৮ ॥

वैरूपम्।

४र ५र ४ ५र ४र ५ ४ २ १
आत्वा सखायः सख्यावहत्यूः। तिरः
र र र र र २
पुरूचि दर्णवाज्जगा२ म्यौ। हौ हो ३ वा।
१ र र र र र र
पितुर्न पातमादधीतवा२इधौ। हौ हो ३
२ १ र र र र
वा। अस्मिन् क्षये प्रतरां दीदिया२नौ।
र २ र १ ३ १ १ १ १
हौहो३वा। औ हो २। इहा२३४५ ॥४८॥

दशमी ऋक्।

गोतमऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः प्रजापतिर्देवता।

२ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
को अद्य युंक्ते धुरि गा ऋतस्य शिमी-
३ १ २ ३ २ ३ १ २
वतो भामिनो दुर्हृणायून्। आसन्नेषा
३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २
मप्सुवाहो मयोभून् य एषां भृत्या मृण-
३ १ २
धत् स जीवात् ॥ ४९ ॥

'कः' प्रजापतिः 'ऋतस्य' यज्ञस्य 'धुरि' निर्वाहे 'गाः' वेदात्मवाचः 'अद्य' 'युंक्ते' संयोजयति। 'यः' 'एषां' शब्दानां 'भृत्यां' भरणक्रियाम् 'ऋणधत्' ऋद्धिमतीं करोति 'सः' 'जीवात्' जीवेत्। अन्यानि पदानि गाइत्यस्यैव विशेषणम्, तथाहि —कीदृशान्गाः? 'शिमीवतः' कर्मवतः क्रियार्थाइति यावत्, 'भामिनः' उज्ज्वलान्, 'दुर्हृणायून्' हातुमशक्यान् नित्यान् 'आसन्, आस्यविदितान्, 'अप्सु-वाहः' अप्सु अन्तरिक्षे तदुपलक्षिते स्वर्गे वहन्ति यजमानं प्रापयन्ति तान्, 'मयोभून्' मयसः सुखस्य भावयितॄन् ॥ ४९ ॥

অদ্য প্রজাপতি যজ্ঞ-নির্ব্বাহার্থ ক্রিয়া-রোধক, প্রাদীপ্ত, নিত্য, আস-প্রকাশ্য, স্বর্গ-নেতা, সুখ-ভাবয়িতা, বেদবাক্য প্রয়োগ করিয়াছেন; যিনি এই সমস্ত শব্দের রক্ষণক্রিয়া ঋদ্ধিমতী করিবেন অর্থাৎ যিনি অহরহ বেদ পাঠ করিবেন তিনি দীর্ঘজীবী হইবেন ॥ ৪৯ ॥

आमहीयवम्।

५र र र ५
को अद्य युंक्ते धुरिगा ऋतस्या ई ए।
१ र र र र २ २ र
शिमीवतो भामिनो दुर्हृणा २३ यून्। आ
१ रर र र २ १ २ १ रर
सन्नेषामप्सुवा ह्योमयो२३भूत्। य एषा
र ५ २ २
भृत्यामृणधत्सजा इवा३ उवा३। ऊ३४
५
पा ॥ ४९ ॥

इति पञ्चमी दशतिः॥

अथ षष्ठदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

मधुच्छन्दऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्कि-
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
णः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव
येमिरे ॥ ५० ॥

हे 'शतक्रतो बहुकर्मन् इन्द्र! 'गायत्रिणः' उद्गातारः 'त्वा' त्वाम् 'गायन्ति' 'आर्किणः' अर्चनमन्त्रयुक्ता होतारः 'अर्कम्' अर्चनीयं त्वाम् अर्चन्ति' 'ब्रह्माणः' ब्रह्मप्रभृतयइतरे ब्राह्मणाः 'त्वा' त्वाम् 'वंशम् इव' पुत्रमिव उद् येमिरे' उन्नतं कुर्व्वन्ति॥ ५० ॥

হে শতক্রতু, ইন্দ্র! উদ্গাতারা তোমাকে গান করিয়াথাকেন, হোতারা অর্চ্চনীয় তোমাকে অর্চ্চনা করেন, ব্রহ্মাপ্রভৃতি ঋত্বিকেরা তোমাকে পুত্রের ন্যায় উন্নত করেন ॥ ৫০ ॥

गौखण्डिनम्।

गाया ३१। तित्वा ३१२३४। गाय।
त्रा ३ इणाः। अर्च्चो ३१। तिया ३१२३४।
कम। का ३ इणाः। ब्रह्मा ३१। णस्त्वा
३१२३४। शत। क्रा३ताउ। उद्वा ३१।
यमा ३१२३४इ। वया ५इमिराइ। हो ५
इ। डा ॥ ५० ॥

द्वितीया ऋक्।

जेतामाधुच्छन्दऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

इन्द्रं विश्वा अवीवृधं त्समुद्रव्यचसं
गिरः। रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ
सत्पतिम् पतिम् ॥ ५१ ॥

'समुद्रव्यचसम्' समुद्रमिव व्याप्तवन्तं 'रथीनां' मध्ये 'रथीतमम्' 'वाजानाम्' अन्नानाम् 'पतिम्' स्वामिनम् 'सत्पतिम्' सतां पालकम् 'इन्द्रम्' 'विश्वाः' सर्वाः 'गिरः' स्तुतयः 'अवीवृधम्' वर्द्धितवत्यः ॥५१॥

সমুদ্রের ন্যায় বিশ্বব্যাপী, প্রশস্ত রথী, অন্নস্বামী, সাধুগণ-প্রতিপালক, ইন্দ্রকে বাণীসকল বর্দ্ধিত করিয়াছে ॥ ৫১ ॥

यौखण्डिनम्।

इन्द्रं विश्वाः। आवी२वृधान्। सामुद्रव्या। चासं गिराः। राथीतमा ३१ उवा
२। रथा इना २ म्। वाजाना २३ꣳ सात्।
पातिम्पतिम्। इडा २३भा३४३। ओ २३
४५ इ। डा ॥ ५१ ॥

तृतीया ऋक्।

गौतमऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

इममिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठ ममर्त्यं मदम्।
शुक्रस्य त्वा भ्यक्षरं धारा ऋतस्य सदने ॥५२

हे 'इन्द्र!' 'इमम्' 'सुतम्' अभिषुतं 'ज्येष्ठम्' अतिशयेन प्रशस्यम् 'अमर्त्यम्' अमारकम्* 'मदम्' मदकरं सोमम् 'पिब'। अपिच 'ऋतस्य' यज्ञस्य 'सदने' गृहे वर्त्तमानस्य 'शुक्रस्य' दीप्तस्य सोमस्य 'धारा' 'त्वा' त्वाम् 'अभ्यक्षरन्' अभिगच्छन्ति ॥५२

হে ইন্দ্র! যজ্ঞ-মণ্ডপে বর্ত্তমান প্রদীপ্ত সোম ধারা তোমাতে উপনীত হইতেছে; তুমি এই অতিশয় প্রশস্য, অভিযুত, সোম পান কর; ইহা মাদক বটে কিন্তু প্রাণ-নাশক নহে॥ ৫২ ॥

वसिष्ठप्रियम्।

इममा२३४ इन्द्रा। सुतम्। पा२इबा
२३४ औहोवा। ज्ये ष्ठममा२र्त्यम्मदम्।

* सोममदो मदान्तरवत् न प्राणघातकइतिभावः।

र १ १ २
धुक्रा। स्यत्वा भी३या२३। चा२ रा २३४
५र र १रर२ १ २ १र ३ १ १ १ १
औहोवा। धारा२ ऋतस्य सादने २३४५
॥ ५२ ॥

चतुर्थी ऋक्।

अत्रि ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ २२उ २ १ २
यदिन्द्र चित्र मइह नास्ति त्वादात
२ १ २ २ १
मद्रिवः। राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्या
२
भर ॥ ५३ ॥

हे 'अद्रिवः' वज्रवन्! 'चित्र' पूज्य! 'विदद्वसो' ज्ञातधन! इन्द्र! 'मे' मम 'यत्' 'राधः' धनम् 'इह' नास्ति अपि च 'त्वादातम्' त्वया दातव्यम् 'तत्' 'नः' अस्मभ्यम् 'उभया हस्त्या' उभाभ्यां हस्ताभ्यां 'आ भर' आहर देहि ॥५३॥

হে বজ্রিন্, পূজনীয়, বিদদ্বসো, ইন্দ্র! সম্প্রতি আমার ইহলোকে যে ধনের অভাব আছে, তাহা যদি তোমার দেয় হয়, তবে উভয় হস্তে আনয়ন পূর্ব্বক প্রদান কর ॥ ৫৩ ॥

वीङ्कम्।

४ ५ ४ २ १
यदिन्द्रो हाइ। चित्रमइहना २३।
१ र ५र २ १
आ २३४। स्ति त्वादा। हा ३ इ। तमद्रा
१ २ ४र ५ २
इवाः २३ः। रा २३४। धस्तन्नोविंदा। हा
१ र २
३। वा। साउ। उभया हा २३। स्तिया
२ ५
उवा ३४३। भा ३४५ रो ई हाइ ॥ ५३ ॥

पञ्चमी ऋक्।

तिरश्ची ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

२ १र २र २ २उ २ १ २ २
श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सप-
१ २ २ १ २ २ १ २ २ १ २ २ १
र्यति। सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्द्धि महाᳯ
२
असि ॥ ५४ ॥

हे इन्द्र! त्वं 'महान्' 'असि' 'यः' तिरश्चीनाम 'त्वा' त्वां 'सपर्यति' परिचरति तस्य तिरश्च्याः 'हवम्' आह्वानं 'श्रुधी' शृणु, तथा च 'सुवीर्यस्य' 'गोमतः' गवादिपशुमतः 'रायः' धनस्य दानेन 'पूर्द्धि' अस्मान् पूरय ॥५४॥

হে ইন্দ্র! তুমি বড়লোক; যে তোমার পরিচর্য্যা করে সে তিরশ্চীর* আহ্বান শ্রবণ কর; সুবীর্য্য গোপ্রভৃতি পশ্বাদি সমন্বিত ধন দানে তিরশ্চীর মনোরথ পূর্ণ কর ॥ ৫৪ ॥

तैरश्चम्।

५ ४ १ १ १
श्रुधी। हावा २ᳯ हावा२म्। तिरश्चि
२ १ २ ५ २ १
याः। इन्द्रया २३ स्त्वा। स पौ ३ हो। यं-
२ २ १र र २र १
ती३या। सुवीर्यस्य गोमताः। रायास्पू २३
२ १ २ ३ २ १
र्द्धी। महाᳯ२३। असिया ३४३। औ२३४
५ इडा ॥ ५४ ॥

* তিরশ্চ নামক জনৈক ঋষি।

षष्ठी ऋक्।

गौतमऋषिः अनुष्टप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा
२ १ २ ३ २उ ३
गहि। आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियꣳ रजः
२ ३ २ ३ ३ २
सूर्य्यो न रश्मिभिः॥ ५५॥

हे 'शविष्ठ' अतिशयबलशालिन्! 'धृष्णो' शत्रूणां धर्षयितः! 'इन्द्र!' 'ते' त्वदर्थं 'सोमः' 'असावि' अभिषुतः, अतः, 'आगहि' आगच्छ। आगतं च 'त्वा' त्वाम् 'इन्द्रियं' इन्द्रियवन्तं प्रबलेन्द्रियमिति यावत् स सोमः 'आ पृणक्तु' आपूरयतु, ते अशेषतृप्तिं सम्पादयत्विति भावः। अत्र दृष्टान्तमुच्यते—'रजः' अन्तरीक्षं 'रश्मिभिः' 'सूर्य्यः' 'न' यथा पूरयति तद्वत्॥५५॥

হে অতিশয় বল শালিন্, শক্র-ধর্ষক, ইন্দ্র! তোমার নিমিত্ত সোম সংস্কৃত হইয়াছে, আগমন কর; অপিচ যেরূপ সূর্য্য রশ্মীদ্বারা অন্তরীক্ষ পূর্ণ করেন সেই রূপ ঐ সোম প্রবলেন্দ্রিয়, তোমাকে পরিপূর্ণ করুক॥ ৫৫॥

महा वैश्वामित्रम्।

३ ४र ३र ४ ५ र २ ३
असाव्रि सोम इन्द्रते। शाविष्ठा २३४
५ २ १ २ २ १ २र १
धृ। ष्णो ३ आगा ३ हो। आत्वा पृणा २३
२ १ ३ ५ १
हा ३। क्तु इ २ न्द्रा २३४ याम्। रजाः।
२ᐱ ३ ५ ४
सूर्य्यौवा ओ २३४वा। नरा ५ श्मिभोः।
४
हो ५ इडा॥ ५५॥

सप्तमी ऋक्।

कण्वऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
एन्द्र याहि हरिभि रुपकण्वस्य सुष्टु-
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
तिम्। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय
२
दिवावसो॥५६॥

हे 'इन्द्र!' 'हरिभिः' अश्वैः सहायैः 'कण्वस्य' मम 'सुष्टुतिं' शोभनां स्तुतिम् 'उप' उपगम्य 'आ गहि' आगच्छ। हे 'दिवावसो' दीप्तधन! 'दिवः' 'द्युलोकात्' आगत्य 'अमुष्य' अमुं लोकं 'शासतः' शासन् शासनं कुर्वन् 'दिव' द्युलोकं 'यय' गच्छ॥५६॥

হে ইন্দ্র! কণ্ব ঋষির উৎকৃষ্ট স্তুতি শ্রবণ করিয়া অশ্বযানে আগমন কর। হে দিবাবসো! দ্যুলোক হইতে আগমন করত এই লোক শাসন করিয়া পুন দ্যুলোকে গমন কর॥ ৫৬॥

काण्वम्।

५र २ ४र ५ ४ ५ २
एन्द्रा३याहि हरिभाइः। उपाकण्वा
१ २ ३ ५ २ र
३। स्यासुष्टू २३४ तीम्। दिवो अमू ३।
१ २ ᐱ ३ ५ १ २
ष्याशासा ३३४ ताः। दा इवं यया ३१
१ ४
उवा २३। दा २३ इ वा ३। वा ३४५ सो
५
ई हाइ॥ ५६॥

अष्टमी ऋक्।

तिरश्ची ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

आ त्वा गिरो रथी रिवा स्थुः सुतेषु गिर्वणः। अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः॥ ५७॥

हे इन्द्र! 'सुतेषु' अभिषुतेषु सत्सु 'गिर्वणः' गिर्वणस्य गीर्भिर्वनयति भजते यः तस्य 'गिरः' स्तुतिलक्षणावाचः 'त्वा' त्वाम् 'आस्थुः' आतिष्ठन्तु अत्र दृष्टान्तेन शैघ्र्यं द्योत्यते 'रथीः इव' रथेन गच्छन् वीरः यथा चिप्रं गच्छति तथा तद्वत्। अपि च 'धेनवः गावः वत्सम्' 'न' इव ताः गिरः 'त्वा' त्वाम् 'अभि' अभिगम्य 'समनूषत' सम्यक् शब्दायन्ते ॥५७॥

হে ইন্দ্র! বীরেরা যেরূপ রথগমনে রণ স্থল আশু প্রাপ্ত হয়, সেই রূপ অভিষবানন্তর স্তোতৃগণের স্তুতিবাণীসকল তোমাতে সত্বর উপস্থিত হউক এবং ধেনু গোসকল যেরূপ সান্তঃকরণে স্ব স্ব বৎসোদ্দেশে শব্দ করে, সেই সমস্ত স্তুতিবাক্যগুলিও সেই রূপ ভাবে তোমার উদ্দেশে শব্দিত হইতেছে॥ ৫৭॥

वैश्वामित्रम्।

आत्वागा३इरो रथीरिवा। अस्थुः सुते ३ षुगिर्वाणा ३ः। ओ ३४ वा। ओर ३४ वा। अभित्वा सा ३ मानूश्माता ३। ओ ३४ वा। ओ २३४ वा। गावो वा ३ त्सा३म्। नधो २३४ वा। नाधू वो ई हाइ॥ ५७॥

नवमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

एतोन्विन्द्रꣳ स्तवाम शुद्धꣳ शुद्धेन साम्ना। शुद्धैरुक्थै र्वावृध्वाꣳसꣳ शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु॥ ५८॥

हे ऋत्विजः! 'एत नु' आगच्छतैव, 'शुद्धम्' 'इन्द्रं' 'शुद्धेन साम्ना' 'स्तवाम' स्तुयाम 'वा' अपि वा 'वृध्वांसं' वर्द्धमानं तमिन्द्रं 'शुद्धैः उक्थैः' स्तुयाम; 'आशीर्वान्' स इन्द्रः 'शुद्धैः' सोमैः 'ममत्तु' मत्तो भवतु ॥५८॥

হে ঋত্বিক্গণ! আইস একত্রিত হই, শুদ্ধ ইন্দ্রকে শুদ্ধ সামদ্বারা স্তব করি; অপিচ বর্দ্ধমান সেই ইন্দ্রকে শুদ্ধ উকথ মন্ত্র দ্বারা স্তব করি, সেই আশীর্ব্বান্ ইন্দ্র শুদ্ধ সোমপানে মত্ত হউন॥ ৫৮॥

शुद्धाशुद्धीयम्।

एतोन्विन्द्रꣳस्तवामा। शुद्धꣳ शुद्धेन सा२३म्ना। शुद्धै रुक्थै र्वावृध्वा २३ꣳसाम्। शुद्धै रा२३शीः। र्वा२न्। ममा२४औहो वा तू २३४५॥५८॥

१०५

(मू०) न तथा तानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया। विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥ ५॥

(टी०) इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह। 'एतानि' इन्द्रियाणि 'विषयेषु' 'प्रजुष्टानि' प्रसक्तानि 'असेवया' नितान्तविषयासेवनेन 'नित्यशः' सर्व्वदा 'संनियन्तुं' 'तथा' 'न' 'शक्यन्ते' 'यथा' 'ज्ञानेन'। तस्मादुक्तोपायेन विवेकिभिरिन्द्रियमनसां संयमः कर्त्तव्यः इति वाक्यार्थः॥ ५॥

(ता०) विषय-सुखास्वादने एकदैव परित्यक्ते नहीन्द्रियाणि वशीभवन्ति। विवेक-सहायः सन् हेयोपादेयौ पृथक् प्रकृत्य हेयविषयं परित्यज्य उपादेयविषयं च परिरक्ष्य क्रमेण सिद्धिमयेत॥५॥

१०६

(मू०) अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगं॥ ६॥

(टी०) प्रमदयन्ति पुरुषान् इति 'प्रमदाः' स्त्रियस्ताः 'लोके' 'अविद्वांसं' 'पुनः' 'विद्वांसं अपि वा' 'कामक्रोधवशानुगं' कामक्रोधवशानुयायिनं पुरुषं 'उत्पथं' उच्छृङ्खलतां 'नेतुं' प्रापयितुं 'अलं' समर्थाः॥ ६॥

(ता०) विद्यायां सत्यामेव जितेन्द्रियो न भवति। यः काम-क्रोधादीनां रिपूणामधीनः; स विद्वान् भवतु, मूर्खो वा भवतु, धर्मपथात् परिभ्रष्टो भवेदेव। अतः आन्तरिक-रिपून् स्ववशमानेतुं सर्वथा यतेत॥ ६॥

१०७

(मू०) वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा। सर्व्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुं॥ ७॥

(टी०) अतएव 'इन्द्रियग्रामं' बहिरिन्द्रियगणं 'वशे कृत्वा' 'तथा' 'मनः' 'च' 'संयम्य'। 'सर्व्वान्' 'अर्थान्' पुरुषार्थान् 'संसाधयेत्' 'योगतः' उपायेन 'तनुं' स्वदेहञ्च 'अक्षिण्वन्' अपीड़यन् सन्॥ ७॥

(ता०) उपवासादिना शरीरस्य क्षीणतापादनं न पुरुषार्थ-साधनस्य प्रकृतोपायः, सति तत्र यथा मनुष्यो निस्तेजः सन् पापाचरणतो निवर्त्तते, तथैव पुण्याचरणेऽपि असमर्थो भवति। अतो मनःइन्द्रियजातं च अपवित्र-विषय-भोगोन्मुखं न भवेत्, एवमेव वशीकुर्व्वन् यथोचितोपायेन पुरुषार्थसाधने प्रवृत्तः स्यात्। चक्षु-कर्णेत्यादि-ज्ञानेन्द्रियेण ज्ञानमुपार्ज्य किञ्च हस्त-पदेत्यादि-कर्मेन्द्रियेण कर्मानुष्ठानं प्रकृत्य लोकाल्लोकान्तरगामी आत्मा ज्ञानेन धर्म्मेण चोन्नतो भवेत्, अतएव परमेश्वरो द्विविधेन्द्रियमदात्; तस्येदृशी करुणा यत् ज्ञानोपार्जनेन कर्मानुष्ठानेन च साकं विषय-सुखमास्वाद्य तृप्तिमवाप्नुमन्वमंस्त; परं यो वै इन्द्रियलाभस्य प्रधानोद्देश्यं विस्मृत्य तदानुषङ्गिक-फल-विषयसुखभोगे एवनिमग्नः स्यात्, स एवावनतिभाजनः॥ ७॥

इति।

—०()०—

चतुर्द्दशोऽध्यायः।

१०८

(मू०) यदा न कुरुते पापं सर्व्वभूतेषु कर्हिचित्। कर्म्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १॥

(टी०) 'यदा' यस्मिन् काले मनुष्यः 'कर्म्मणा मनसा वाचा' 'सर्व्वभूतेषु' 'कर्हिचित्' कदापि 'पापं' 'न कुरुते' 'तदा' 'ब्रह्म' 'सम्पद्यते' प्राप्नोति ॥ १ ॥

(ता०) कस्याप्यनिष्टं न साधयेत्; कस्याप्यनिष्टं न चिन्तयेत्; अन्यदीयानिष्टाचरण-वागपि विसृज्यात्। अन्यं प्रति पापेऽन्वाचरिते आत्मानमेव पापपङ्के निमग्नं कृतं भवेत्। अतः कायमनोवाग्भिः परिशुद्धः सन् सर्व्वान् प्रति साधुभावं प्रकाशयेत् तथाच सुकृतीभवन् पवित्रस्वरूपमीश्वरं लब्धुं समर्थो भवेत् ॥ १ ॥

१०९

(मू०) पुण्यं कुर्व्वन् पुण्यकीर्त्तिः पुण्यस्थानं स्म गच्छति। पुण्यं प्राणान् धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते ॥ २ ॥

(टी०) 'पुण्यं कुर्व्वन्' 'पुण्यकीर्त्तिः' सन् सः 'पुण्यस्थानं' 'गच्छति' 'स्म'। यतः 'पुण्यं प्राणान् धारयति' लोकानां अतः 'पुण्यं' 'प्राणदं' प्राणस्य दातृ 'उच्यते' ॥ २ ॥

(ता०) अशनं पानं च यथा दैहिक-जीवनं पुष्णाति, तथैव पुण्येनात्म-जीवनं रक्षितं भवति। अतो येन कर्मणा पुण्यं लभ्येत तमनुष्ठातुमनवरतं यतेत। यथा निषिद्ध-कर्म-त्यागेन निष्पापो भवेत् तथैव विहितकर्मानुष्ठाय पुण्यमुपार्जयेत्। पुण्यवान् इह पवित्रकीर्त्तिं लभते परकालेऽपि उन्नतलोकं चरति ॥ २ ॥

११०

(मू०) पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च। तस्याधर्म्मे प्रविष्टस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ॥ ३ ॥

(टी०) योहि 'पापं' 'च एव' 'चिन्तयते' सङ्कल्पयति 'ब्रवीति च करोति च' 'तस्य अधर्म्मे प्रविष्टस्य' साधवः' 'गुणाः' 'नश्यन्ति' ॥ ३ ॥

(ता०) चिन्तास्रोतस्तु कस्मिन्नपि विषये अप्रवाहितः सन् निरवलम्बो न तिष्ठति। मनुजो यदा सद्विषय-चिन्तायां प्रवर्त्तते, तदा तदीयसद्भावाः समस्ताः स्फूर्त्तिमन्तः सन्तः सत्कर्मसाधने तस्य प्रवृत्तिमुत्पादयन्ति; यदा तु सः असाधुविषयान् चिन्तयति, तदा तदीयासद्भावाः समस्ताः समुद्दीप्ता भवन्त एवं पापालापे पापकर्मणि च समुत्पादयन्ति। अतः पापचिन्तायां समुदितायामेव तदुन्मूलनं कर्त्तव्यम्। पापचिन्तायाः प्राबल्ये जाते मानवो धैर्यावलम्बनेऽसमर्थः सन् पापमाचरितुं प्रवर्त्तते। एवं क्रमात् पापनिमग्नोभवति। योहि चिरात् पापाचरणं कृत्वा पापे प्रविष्टो भवति, तस्यापरसाधुगुणजातं तिरोभवति। अतः सदा साधुविषये एव चिन्तां नियुञ्ज्यात् किञ्च पापालापं पापकर्म्म च सर्वथा परित्यजेत् ॥ ३ ॥

१११

(मू०) ये पापानि न कुर्व्वन्ति मनोवाक्कर्म्मबुद्धिभिः। ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणं ॥ ४ ॥

(टी०) 'ये' 'महात्मानः' अक्षुद्रबुद्धयः 'मनोवाक्कर्म्मबुद्धिभिः' करणभूतैः 'पापानि न कुर्व्वन्ति'। 'ते' एव 'तपन्ति' तपः कुर्व्वन्ति। अपि तु ये 'शरीरस्य शोषणं' साधयन्ति ते 'न' तपन्ति ॥ ४ ॥

(ता०) पाप-कामनां पाप-धीषणां पाप-जनकं वचनं कर्म च परित्यजेत्। सर्वथा निष्पापः स्यात् यत्नं चेष्टनं च तपः। उपवासादिना शरीर-शुष्कतायां साधितायामेव तपश्चर्या न भवति ॥ ४ ॥

११२

(मू०) प्राज्ञो धर्म्मेण रमते धर्म्मञ्चैवोपजीवति। धर्म्मात्मा भवति ह्येवं चित्तञ्चास्य प्रसीदति ॥ ५ ॥

(टी०) 'प्राज्ञः' विवेकी 'धर्म्मेण' सह 'रमते' विहरति 'धर्म्मं च एव उपजीवति' धर्म्मेणैव कृतेन जीवनोपायरूपेण प्राणान् धारयति नत्वधर्म्मेण। 'एवं' 'हि' ईदृशेनैव प्रकारेण 'धर्म्मात्मा' धर्म्मस्वभावः 'भवति'। 'चित्तं च' 'अस्य' धर्म्मपरस्य 'प्रसीदति' प्रसन्नः भवति ॥ ५ ॥

(ता०) प्रज्ञावान् जनो विवेक-साहाय्येन पापस्य मालिन्यं धर्म्मस्य सौन्दर्य्यं च दृष्ट्वा पापं परित्यजन् धर्म्ममाचरितुं प्रवर्त्तते किञ्च धर्मपथे एव तिष्ठन् स्व-जीविकां निर्वाहयति। स हि पापाचार-जनितं परिणाम-क्लेश-जनकं क्षणभङ्गुरं सुखं परित्यज्य अमूल्यमात्म-प्रसादमुपभुंक्ते। अतो धर्मानुष्ठाने यद्यापाततः कथमपि कष्टमुपतिष्ठेत, तथापि निर्भयः सन् ततो न पराङ्मुखो भवेत्; अपि चापाततः पापाचारे सुख लाभ-सम्भावनामपि प्रहृष्य लुब्धः सन् न तत्र प्रवर्त्तेत; प्रत्युत प्रज्ञा-साहाय्येन पापस्य पुण्यस्य च भविष्यत् फलाफलमालोचयेत् ॥ ५ ॥

११३

(मू०) यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः। तेन सर्व्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ६ ॥

(टी०)तथा हि 'यस्य आत्मा' 'पापात्' 'विरतः' निवृत्तः 'कल्याणे' शुभे 'च' 'निवेशितः' प्रवेशितः। 'तेन' विवेकिना 'सर्व्वं' विश्वं 'इदं' 'बुद्धं' ज्ञातं। तत् बोधनमाह 'या' 'प्रकृतिः' यथात्मस्वरूपा या 'च' 'विकृतिः' विपरीता ॥ ६॥

(ता०) यावदात्मा पापे प्रवृत्तस्तिष्ठति, तावत् तद्बुद्धिर्विपरीतं पश्यति। तदा पापाचरणमेव सुख-लाभ हेतुरिति बुध्यते, धर्मस्य सुमधुर आस्वादः तिक्तोऽनुभूयते पापाचार-प्रतिपोषका असाधवएव प्रणय-भाजना भवन्ति, साधु-संसर्गे विरक्तिरुत्पाद्यते; ईश्वरश्छायेव, धर्मः शून्यमिव प्रतीयते; वर्त्तमान-सुखमेव पर्य्याप्तं ज्ञायते; अनन्त-जीवनं प्रति स्वल्पदृष्टि र्जायते। एवमात्मनि विकारग्रस्ते किं स्वभावसिद्धं किं वा स्वभाव-विरुद्धं हृदयङ्गमयितुमसमर्थः सन् शोचनीयावस्था प्राप्यते। अतः पापात् निवृत्तो भवन् आत्मानं कल्याणे नियोजयेत्, तथाच प्रज्ञा स्फूर्त्तिमवाप्य सत्यमसत्यं चानायासं प्रदर्शयेत् ॥ ६ ॥

११४

(मू०) प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषान्नैवानुरुध्यते। विरज्यते यथाकामं न च धर्म्मं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

(टी०) 'प्रज्ञाचक्षुः' ज्ञाननेत्रः 'नर' 'इह' लोके 'दोषान् न एव अनुरुध्यते' दोषानुरक्तोन भवतीत्यर्थः। 'यथाकामं' तथा 'विरज्यते' वीतरागोभवति 'न च धर्म्मं' 'विमुञ्चति' त्यजति ॥ ७॥

(ता०) अधर्मे वैराग्यं धर्मेऽनुरागं कल्याण-लाभस्योपायः। योज्ञानचक्षुरलभत् सएव धर्मस्याधर्मस्य च प्रकृति-परिणामं च यथायथमुपलभ्य धर्मे जातरागः, अधर्मे वीतरागश्च भवति; सुतरां स कस्मिन्नपि दोषे आवद्धो न भवति। अतो ज्ञानेन पाप-विरागं धर्मानुरागं च परिवर्द्धयेत्। धर्माधर्मौ विचारयन् ज्ञानी जनो धर्मस्याननुमोदितं विषयरागं तथाविषयसेवनं च सेच्छयैव परित्यजति

परं धर्मेऽनुरागं धर्मानुष्ठानं च कदापि न त्यजति ॥ ७ ॥

११५

(मू०) वार्य्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति। चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥ ८ ॥

(टी०) योवै 'पापात्मा' पापाचरणशील: सः 'पापेभ्यः' 'वार्य्यमाणः' निषिध्यमान: 'अपि' बहुभिः 'पापं' एव 'इच्छति' कर्त्तुमित्यर्थः । यश्च 'शुभात्मा' धर्म्मानुष्ठानशीलः सः 'पापेन' 'चोद्यमानः' प्रेर्य्यमाण: 'अपि' लोकै: 'शुभं इच्छति' ॥ ८ ॥

(ता०) अभ्यस्ते पापाचरणे ततो निवर्त्तनं नानायास-साध्यम्, अपि यस्य पुण्याभ्यासो जातः तस्य सहसा पापे प्रवृत्तिर्नोत्पद्यते ; अतः प्रतिक्षणं धर्मानुष्ठानाभ्यसनमेव धर्ममार्गेऽग्रसर-भवनस्य प्रकृष्टोपायः। प्रथमं यदि कष्टं भवेत् तदपि सहित्वा धर्माचरणमभ्यस्येत, क्रमात् तदेवातिसरलायिष्यते ॥ ८ ॥

११६

(मू०) धर्मएव हतोहन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मोहतोवधीत् ॥ ९ ॥

(टी०) 'धर्म्मः' 'हतः' अतिक्रान्तः सन् 'हन्ति' 'एव' अतिक्रान्तारं। 'धर्म्मः' 'रक्षितः' सन् 'रक्षति'। 'तस्मात् धर्मः' 'न हन्तव्यः' नातिक्रमणीयः सर्व्वैः। 'धर्मः' 'हतः' सन् 'नः' अस्मान् 'मा-बधीत्' न हन्त्वित्यर्थः ॥ ९ ॥

(ता०) यः कश्चन धर्मसुल्लङ्घयति स दुर्गतिमाप्यते किन्तु यो धर्मं पालयति तेनैवोन्नतिर्लभ्यते ; अस्माकं कल्याणायेश्वर एतादृशं नियमस्थापयत्। अतस्तस्य शुभाभिप्रायेऽपरिहार्यनियमे च श्रद्धां प्रकुर्व्वन् प्राणान्तमपि धर्ममापालयन् तस्याभिप्रेत-कल्याण-वर्त्मन्यग्रसरो भवेत्। अधः पतितुं धर्मोल्लङ्घनं न कुर्य्यात् ॥ ९ ॥

११७

(मू०) एकएव सुहृद्धर्मोनिधनेप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्व्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १० ॥

'एकः' केवलः 'धर्मः' 'एव' 'सुहृत्' मित्रं 'यः' 'निधने अपि' मरणे च सति 'अनुयाति' अभीष्टफलदानार्थमनुगच्छति। 'हि' प्रसिद्धौ 'अन्यत्' 'सर्व्वं' भार्य्यापुत्रधनादि 'शरीरेण समं' शरीरेण सह 'नाशं' 'गच्छति' अतः पुत्रादिस्नेहापेक्षया धर्मो न हन्तव्यः ॥ १० ॥

(ता०) मृत्योरनन्तरं वैर्विषयसङ्गैः विनश्यति, तत्र बद्धासक्तो न भवेत् अपिच धर्मानुरोधात् तत् समस्तं परित्यक्तमपि कुण्ठितो न स्यात्। न किमपीहजातं सहगमनं करिष्यति, पुण्य-पापे एवास्माभिः सह गमिष्यतः। पुण्यं सुहृदिव सहायो भवन्नुन्नतिं नयति, पापममित्रमिव भयङ्करो भवन् दुःखानले दाहयति। अतश्चिरजीवनं धर्ममाश्रयेत किन्तु सर्व्वतः सर्वथा धर्मेऽधिकतरोऽनुरक्तः स्यात् ॥ १० ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

प्रत्नाख्यकाव्यकरणाद्यखिलप्रबन्धाहरणसिन्धुं समभक्तिमन्तम्। बोधाब्धिवेद्यमननेन मान्यं वन्देऽहमीशमजगदेकबन्धुम्॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्तराविहारिणी॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ [September, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १/ [३७ संख्या

वैदिकसमालोचना।

(३६ संख्याया अनन्तरम्)

तृतीयं सामविधानब्राह्मणम्। प्रपाठकत्रयात्मकम्, पञ्चविंशतिखण्डैर्विभक्तम्। आद्ययोर्ब्राह्मणयोः त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदशेत्यादि-स्तोमानाम् आज्य-पृष्ठादि-स्तोत्राणाम्—प्रउग-निष्कैवल्यादि-शस्त्राणाम्—गायत्री-रेवत्यादीनामृचाम्—मारुत-वैश्वदेवादि-सूक्तानामेवास्ति प्रयोग-बाहुल्यम्; आग्नेयैन्द्र-पावमान-व्रत-द्वन्द्वार्क-पर्वगतानां साममात्र नामधारकाणां मन्त्राणां विनियोगस्तु क्वाचित्केन; इह तद्विपरीतमेव लक्ष्यते। अत्रार्षेय-ब्राह्मण-विहित-वामदेव्यादि-साम्नामेव विनियोगः प्रायः, कर्माण्यपि श्रुतानीह प्रायः साम-साध्यान्येव सर्वाणि। साम्नां संहिता-नियमादिकमभ्युक्तमप्यनेनैव; तथाहि, प्रथमप्रपाठकीय-चतुर्थे खण्डे—"आवो राजा, तद्वोवर्ग, आज्यदोहानि, देवव्रतानि चैषा* रौद्री नामसंहिता, एतां प्रयुंजन् रुद्रं प्रीणाति; इदं विष्णुः, प्रचस्य वृष्णः प्रकाव्यमुशनेवब्रुवाण इति वाराहमन्त्यं† पुरुषव्रते‡ चैषा¶ वैष्णवी नाम

* आवोराजा-इत्येकम्, तद्वोवर्गश्चतुःसामात्मकः, आज्यदोहानि त्रीणि, देवव्रतानि त्रीणि, सकलमया एकादशसामात्मिका। †प्रकाव्यमुशनेव-इत्येतस्यामृचि त्रीणिसामानि गीतानि; तत्राद्ये वाजसनीनामके, अन्त्यं वाराहनामकम्, तदेवेह गृह्यते। ‡ पुरुषव्रतं हि एकं पञ्चसामात्मकम्, अपरमेकसामात्मकम्, ते द्वे एवेह गृह्येते। ¶ इदंविष्णुरिति ऋचिगीतमेकम्, प्रचस्येत्येतस्यां गीतमेकम्, प्रकाव्येत्येकम्, पुरुषव्रतानिचषट्, सकलमया नवसामात्मिका।

বৈদিকসমালোচনা।

(৩৬সংখ্যার পর)

৩য়—সামবিধান ব্রাহ্মণ। ইহা প্রপাঠকত্রয়াত্মক, পঞ্চবিংশতিখণ্ডে বিভক্ত। আদ্য ব্রাহ্মণদ্বয়ে ত্রিবৃৎ পঞ্চদশ, সপ্তদশ প্রভৃতি—স্তোম আজ্য, পৃষ্ঠ্য প্রভৃতি স্তোত্র—প্রউগ, নিষ্কেবল্য প্রভৃতি শস্ত্র—গায়ত্রী, রেবতী প্রভৃতি ঋক্—মারুত, বৈশ্বদেব প্রভৃতি সূক্ত—এই সমস্তের প্রয়োগই বহুল দৃষ্ট হয়; আগ্নেয়, ঐন্দ্র, পাবমান, ব্রত, দ্বন্দ্ব, অর্ক প্রভৃতি পর্ব্ব গত, সামমাত্র নামধৃৎ, মন্ত্রগুলির বিনিয়োগ অত্যল্প। ইহাতে তদ্‌বিপরীত জানিতে হইবে। এই ব্রাহ্মণে আর্ষেয়ব্রাহ্মণ বিহিত বামদেব্যাদি নামক সামের বিনিয়োগই অধিকাংশ এতদ্বিহিত কর্ম্মগুলিও প্রায় সমস্তই সাম-সাধ্য। সামগুলির সংহিতানিয়মাদি, ইহাতেই ব্যবস্থাপিত হইয়াছে। যথা—

'আ বো রাজা১, তদ্বোবর্গ৪, আজ্যদোহানি৩, দেবব্রতানি৩ চৈষা রৌদ্রী নাম সংহিতা; এতাং প্রযুঞ্জন্ রুদ্রং প্রীণাতি'। এই ১১ টি সাম রুদ্রসংহিতা ইহা প্রয়োগ করত রুদ্রকে প্রীত করিবে। 'ইদং

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी। कलिकातायां नूतन संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम्॥ ० ॥

सहिता, एतां प्रयुंजन् विष्णुं प्रीणाति'— इत्येवमादि। अतएवैतत् सामविधानमित्युच्यते। वेदविदां प्रायश्चित्तानि कर्माण्यपि निगदितानि इहैव; तदत्र कानिचिन्मध्यतो निदर्शयामः "ब्राह्मण-स्वं हृत्वा मासमुदकेवासश्चतुर्थे काले भोजनं दिवा वहिरासीद् व्रतान्ते 'शुक्रन्ते अन्यद् यजन्त ते अन्य (१) दित्येतद् गायेत्, अन्यस्य हृत्वा कृच्छ्रं चरन्नयं सहस्रमानव इति द्वितीयम् (२), गुरुदारान् गत्वा सुरापकल्पेनाक्रानित्येतद्गायेद्(३) ब्राह्मणदारान् गत्वा त्रीन् कृच्छ्रांश्चरन् ब्रह्मयज्ञानमिति पूर्वम्, (४) अन्यस्यगत्वा कृच्छ्रं चरन्नरण्यो (५) रित्येतत्, शुद्रां गत्वा त्रिरात्रमुपवसन्निडामग्न (६) इत्येतत्, अकाले दारानुपेत्य त्रीन् प्राणायामानायम्य कयानाया (७) द्वितीयमावर्त्तयेत्' इत्यादि १प्र० ६ख० ॥

आमुष्मिकफलप्रदानि काम्यान्यपि कर्माणि सेतिकर्त्तव्यताकानि कानिचिच्छ्रुतानि तेभ्योऽप्येकं क्षुद्रतरं दर्शयामः—'त्रीन् वोदकाञ्जलींस्तदाचामेत् 'पिवासोममिन्द्रमन्दतुत्वेत्येताभ्यां * दीर्घायुर्भवति दीर्घायुर्भवति (२प्र०प्रथमखण्डशेषे)। इह मृतवत्सादीनाम् औषधादीनि किञ्च सर्पभय-रक्षोभय-शस्त्रभयाग्निभयादि-वारकान्यपि सामानि औषधसहप्रयोज्यानिकेवलगेयानि बहूनि च पृथक् पृथक् व्यवस्थापितानि मारण-जृम्भणोच्चाटन-वशीकरण-शान्ति-पौष्टिकादीनि दृष्टफलानि यावन्ति काम्यानि विविधद्रव्यसहाय-मन्त्रसाध्यानि सर्वाण्येवेह तानि समाम्नातानि। सर्वान्ते च सिद्धभवनप्रकाराः स्तुताः ॥

বিষ্ণুঃ ১, প্রক্ষস্যবৃষ্ণঃ ১, প্রকাব্যমুশনেবব্রুবাণ ইতি বারাহমস্ত্যম্ ১, পুরুষব্রতে' ৬, চৈষা বৈষ্ণবী নাম সংহিতা; এতাংপ্রযুঞ্জন্ বিষ্ণুং প্রীণাতি এই ৯টি সাম বিষ্ণুসংহিতা, ইহা প্রয়োগ করত বিষ্ণুকে প্রীত করিবে। ইত্যাদি (প্রথমপ্রপাঠকের চতুর্থখণ্ডে)। এই নিমিত্ত ইহাকে সামবিধান বলা যায়। বেদবিদ্গণের প্রায়শ্চিত্ত বিধি গুলি ইহাতেই শ্রুত হইয়াছে; যথা—ব্রহ্মস্বহরণকারী এক মাস নদীতটে বাস, চতুর্থ কালে ভোজন, দিবাতে বহিঃ ভ্রমণ করত 'শুক্রন্তে' এই ঋঙ্মূলক গান (গেয়গানের ২প্র৫২সাম) গীত করিবে। বিপ্রাতিরিক্তের ধনহারী কৃচ্ছ্রব্রত করত 'অয়ংসহস্র' এই ঋঙ্মূলক দ্বিতীয় সাম (গে০১২-প্র০২৯ সাম) গান করিবে। গুরুদার-গামী সুরাপীর ন্যায় 'অক্রান্' এই ঋঙ্মূলক সাম (গে০ ১৫প্র০ ৪৭ সাম) গান করিবে। বিপ্রদার-গামী কৃচ্ছ্রত্রয় করিয়া 'ব্রহ্মযজ্ঞানম্' এই ঋঙ্মূলক প্রথম সাম (গে০ ৮প্র০ ৫০সাম) গান করিবে। সামান্যতঃ পরদার-গামী একটি কৃচ্ছ্র-করিয়া 'অরণ্যোঃ' এই ঋঙ্মূলক সাম (গে০ ২প্র০ ৫৭সাম) গান করিবে। শুদ্রা গমন করিলে ত্রিরাত্র উপবাস করিয়া 'ইড়ামগ্নে' এই ঋঙ্মূলক সাম (গে০ ২প্র০ ৫২সাম) গান করিবে। অসময়ে স্ত্রীগমন করিলে প্রাণায়ামত্রয় করিয়া 'কয়ানঃ' এই ঋঙ্মূলক দ্বিতীয় সাম (গে০ ৫প্র০ ২৪সাম) গান করিবে। ইত্যাদি (প্রথমপ্রপাঠকের ষষ্ঠখণ্ডে)। এই ব্রাহ্মণে ইহ ফলপ্রদ কাম্যকর্মও বিস্তর আছে, তাহার ক্ষুদ্র একটি এই—'পিবাসোম' এই ঋঙ্মূলক সামদ্বয় (গে০ ১০প্র০৬৫। ৬৬ সাম) পাঠ করত প্রতিদিন অঞ্জলিত্রয় জল পান করিলে দীর্ঘায়ু হইবে (২প্র০ ১খ০) ইহাতে মৃতবৎসাদির ঔষধ—সর্প, রাক্ষস, শস্ত্র, অগ্নি, প্রভৃতির ভয়নিবারক—পৃথক্ পৃথক্ ঔষধ সহকৃত বিবিধ সাম—মারণ, জৃম্ভণ, উচ্চাটন, বশীকরণ, শান্তি, পৌষ্টিক (ইহাই ষট্কর্ম) প্রভৃতি নানাপ্রকার কর্মের ব্যবস্থা প্রাপ্ত হওয়া যায়; সর্ব্বশেষে সিদ্ধ হইবার নিয়মাদিও শ্রুত হইয়াছে ॥

---

(१) शुक्रन्ते इत्यस्यामृचि गीतं गेयगानस्य द्वितीयप्रपाठकीयद्विपञ्चाशत्तमं साम। (२) अयं सहस्रमानवेत्यस्यामृचि गेये द्वे गीते, तद्द्वितीयमिह नीतम्, तच्च द्वादशप्रपाठकीयोनत्रिंशत्तमं साम। (३) अक्रान् समुद्रेत्यस्यामृचि गीतं गेयपञ्चदशप्रपाठकीयसप्तचत्वारिंशत्तमं साम। (४) ब्रह्मयज्ञानं प्रथमं पुरस्तादित्येतस्यामृचि गेये द्वे गीते, तत्प्रथममिह नीतम्, तच्च अष्टमप्रपाठकीयैकपञ्चाशत्तमं साम। (५) अरण्योर्निहितो इत्येतस्यामृचि गीतं गेयद्वितीयप्रपाठकीयसप्तपञ्चाशत्तमं साम। (६) इडामग्ने पुरुदंसमित्यस्यामृचि गीतं गेय-द्वितीयप्रपाठकीयत्रिपञ्चाशत्तमं साम। (७) कयानश्चित्रेत्यस्यामृचि गेये त्रीणि सामानि, तद्द्वितीयमिह नीतम्, तच्च पञ्चमप्रपाठकीयचतुर्विंशतितमं साम।

* 'पिवा सोम मिन्द्र मन्दतु त्वा य न्ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः सोतु र्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा'-इत्येतस्यां छन्दस्यार्चिकपञ्चमप्रपाठकीयाष्टम्यामृचि गीताभ्यां द्वाभ्यामित्यर्थः। ते च गेयगानस्य दशमप्रपाठकीये पञ्च-षट्-षष्टितमे सामनी।

अष्टमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
त्वꣳ सुमेषं महया स्वर्विदꣳ शतं
२र ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
यस्य सुभुवः साकमीरते अत्यं न वाजꣳ
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
हवनस्यदꣳ रथमेन्द्रं वहृत्या मवसे सुवृ-
१ २
क्तिभिः॥ ८५॥

'यस्य' 'सुभुवः' सम्यग्-विद्यमानस्य सनातनस्य 'साकम्' सह 'शतं' 'हवनस्यदम्' हवनमाह्वानं प्रतिवेगेन गच्छन्तम् 'रथम्' 'अत्यं न वाजम्' सातत्यगमने हितम् अश्वमिव 'ईरते' गच्छति। 'त्वम्' तम् 'स्वर्विदम्' स्वर्वेदितारं 'मेषम्' मेषरूपधारिणम् 'इन्द्रम्' 'अवसे' रक्षणाय 'सुवृक्तिभिः' सुवर्त्तनैः स्तोत्रैः 'आवहृत्याम्' आवर्त्तयामि हे होतः! त्वम् 'सु महय' सम्यक् पूजय॥ ८५॥

যে নিত্যপুরুষের সহিৎ সাতত্যগমনে উপযুক্ত অশ্বের ন্যায়, যাগপ্রতি বেগে গমনকারী, শতসংখ্যক, রথ গমন করিয়াথাকে; সেই স্বর্গবেত্তা, মেষরূপী, ইন্দ্রকে আত্মরক্ষার্থ উৎকৃষ্ট স্তোত্রদ্বারা আবর্ত্তন করিতেছি;হে হোতঃ! তুমি তাঁহাকে ভালরূপে পূজা কর॥ ৮৫।

सौभरम्।

५ २ ४र५ ४ ५ २ १
त्वꣳ स्व३ मेषम्महया। सुवर्वीदा२म्।
र १ २
शतं यस्य सुभुवः साका३माइरा १ ता २
र १ २
इ। अत्यन्नवाजꣳ हवनस्या३दाꣳरा१या२
१ २ १ २र १ २ ३
म्। आइन्द्रं वहृत्याम। वसाये३। स्व२वृ
५र र ३ ५
२३४ औहोवा। क्ती २३४ भीः॥ ८५॥

नवमी ऋक्।

भरद्वाजऋषिः जगतीच्छन्दः द्यावापृथिव्यौ देवते।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
घृतवती भुवनानाम भिश्रियोर्वी
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १र
पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा। द्यावापृथिवी
२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
वरुणस्य धर्म्मणा विष्कभिते अजरे भूरि-
रेतसा॥ ८६॥

इमे 'द्यावापृथिवी' द्यावापृथिव्यौ 'वरुणस्य' सर्वनियामकस्य देवस्य 'धर्मणा' कर्मणा क्रियया 'घृतवती' तेजस्वत्यौ 'भुवनानाम्' भूतानाम् 'अभिश्रिया' अभिश्रयणीये 'ऊर्वी' विस्तीर्णे 'पृथ्वी' प्रथिते 'मधुदुघे' उदकदोग्ध्र्यौ 'सुपेशसा' सुरूपे 'अजरे' जरारहिते ध्रुवे 'भूरिरेतसा' बहुरेतस्के 'विष्कभिते' पृथक् धारिते च भवतः। इति वरुणस्तुतिः॥ ८६॥

এই দ্যাবা পৃথিবী (দ্যুলোক ও পৃথ্বীলোক) সর্ব্বনিয়ামক বরুণ দেবের ইচ্ছায—তেজস্বতী, সমস্তভূতের আশ্রয় স্বরূপা, বিস্তীর্ণা, প্রথিতা, জল- (মধু) -দোগ্ধ্রী, সুরূপা, ধ্রুবা, ভূরিরেতস্কা পৃথক্‌ভাবে স্থিতা রহিয়াছে॥ ৮৬॥

वारुणम्।

४ ३ ५ ४ २ ३ ४र ५र
घृतव। ता ३इ भुवनानाम्। अभि
२ १र र र र
श्रिया। उर्व्वीपृथ्वीमधुदुघेसुपेशसा २ ३
१ र र र २र १
होइ। द्यावा पृथिवीवरुणा। स्याधर्मणा
१ २ १ २ १ २र
२३। हो इ। विष्काभा२३ इते। आजरे।
१र २ २ २ १
भूरि। राये ३। तसाउवा ३। ए ३। इन्दुः
२ १र २र ३ १ १ १ १
समुद्रमुर्वियोवि भाती २३४५॥ ८६॥

दशमी ऋक्।

मेधातिथि ऋषिः महापङ्क्तिच्छन्दः* इन्द्रोदेवता।

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १
उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इव। महान्त त्वा महीनां संम्राजं चर्षणी
२ ३ १र २र ३ १र २र
नाम्। देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्य
जीजनत्॥ ८७॥

हे 'इन्द्र!' 'यस्त्वम्' 'उभे रोदसी उषाः इव आपप्राथ' यथा उषाः स्व-भासा सर्वं जगदेतत् पूरयति तद्वत् इमे द्यावापृथिव्यौ स्व-तेजसा आप्रासि आपूरयसि, तं 'त्वा' त्वाम् 'महीनाम्' महतां देवानाम् 'महान्तम्' नायकम् 'चर्षणीनाम्' मनुष्याणाम् 'संम्राजम्' ईश्वरम् 'देवी' देवनशीला 'जनित्री' साधु जनयित्री अदितिः 'अजीजनत्' अजनयत् 'भद्रा' कल्याणी 'जनित्री' साधुजनयित्री अदितिः 'अजीजनत्' अजनयत्। जनित्रीति णिजन्तात् साधुकारिणि तृनि 'जनितामन्त्रे, ६।४।५३'।-इति सिद्धम्। भद्रेतिविशेषणभेदात् जनित्रीति विशेष्यस्य सकृियस्यावर्त्तनमादरार्थम्॥ ८७॥

হে ইন্দ্র! যেরূপ উষা সমস্ত জগৎ স্বপ্রকাশে পূর্ণ করিতেছেন, তুমি সেইরূপ স্ব-তেজে এই দ্যুলোক ও পৃথ্বীলোক পরিপূর্ণ করিয়া রাখিয়াছ। দীপ্তিশীলা, সাধু-জননী দেবগণের নায়ক, মনুষ্যগণের ঈশ্বর, তোমাকে প্রাদুর্ভূত করিয়াছেন॥ ৮৭॥

श्येनम्।

५ ४र ५ ४र ५ ४ १ २ १
उभेयदिन्द्ररोदसाइ। आ २३पा। प्रा-
२ २ ३ २ १
थ उषा ३ १ उवा २३। इवआ। महान्त-
२ २ १ २ २ १ २
न्त्वामहाइनाम्। सम्रौ ३ हो। जं चर्षणा
२ २ २ र १र
३१उवा ये ३। ना३मौ। देवी जनित्रिया
२ १ ऽ २ १ २
जी१जाना२त्। भद्रौ ३हो। जानित्रियजा
२ २
३१ उवा २३। ए ३। जनदा ३२॥ ८७॥

एकादशी ऋक्*।

मेधातिथिर्ऋषिः जगतीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
प्र मन्दिने पितुम दर्चता वचो यः कृष्ण
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ४
गर्भं निरहन्नृजिश्वना। अवस्यवो वृषणं
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि
॥८८॥

'यः' इन्द्रः 'कृष्णगर्भाः कृष्णनामासुरेण निषिक्तगर्भाम् कृष्णस्य गुर्विणीं भार्याम् 'ऋजिश्वना' एतन्नामकेन राजर्षिणा सहितः सन् 'निरहन्', 'अवस्यवः' आत्म-रक्षण-कामा वयं तम् 'वृषणम्' कामानां वर्षितारम् 'वज्रदक्षिणम्' वज्रयुक्तेन दक्षिणहस्तेनोपेतम् 'मरुत्वन्तम्' वेगवदश्ववन्तम् देवं 'सख्याय' सख्युः कर्मणे 'हुवेमहि' आह्वयामः हे ऋत्विजः! यूयमपि तस्मै 'मन्दिने' स्तोतव्याय इन्द्राय इन्द्रार्थम् 'पितुमत्' हविर्लक्षणेनान्नेनोपेतं 'वचः' 'प्रार्च्चत'॥ ८८॥

হে ঋত্বিক্‌গণ! স্তোতব্য ইন্দ্রের জন্য হবিঃপ্রদান সহোচ্চরিত মন্ত্রের অর্চ্চনা কর। যে ইন্দ্র ঋজিশ্বীনামক রাজর্ষির সহায়ে কৃষ্ণাসুরের গর্ভবতী ভার্য্যাকে বধ করিয়াছেন, আত্মরক্ষণাভিলাষী আমরা সেই সর্ব্ব-কাম-বর্ষিতা, দক্ষিণকরে বজ্রধারী, বেগবদশ্ববান্ দেবকে সখ্যের নিমিত্ত আহ্বান করিতেছি॥ ৮৮॥

* अत्र अर्द्धर्चौ द्वौ, अष्टाक्षराः पादाः षट्। (দেড়শ্লোক)

* एषा गर्भस्राविणी उपनिषत्।

वैरूपम्।

२ ३क ५ २ ४ २र
प्रमन्दा२३४ इने। पितुमदा२र्चा ३ ता-
३ ५ १ २ १ ५ १ २र १ २
वचः। यःका२औ२३४वा। व्यागर्भानिरह-
१ २ २ ३ ५ १ २
न्नजिघ्नुना ३। अवस्या २३४ वाः। इष
१ २ ३ ५ १ २ ३क
यांवा। जादचा १३४ इणाम्। मारौवा औ
५ ४ र
२३४वा। त्वंतऽसख्यायत्त्ववायु इमह्लाउ। वा
॥ ८८ ॥

इति नवमी दशतिः।

दशम दशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

नारदऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३र २र
इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्।
२ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
विदेवृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥८८॥

हे 'इन्द्र!' अस्माकम् 'वृधस्य दक्षस्य' वर्द्धनशीलस्य बलस्य 'विदे' लाभाय 'सोमेषु' 'सुतेषु' अभिषुतेषु सत्सु 'उक्थ्यं क्रतुम्' उक्थाय हितं कर्म उच्चारणमिति यावत् 'पुनीषे' शोधयसि 'सः' एतादृशः त्वम् 'महान् हि' महानेव ॥ ८८ ॥

হে ইন্দ্র! আমাদিগের বর্দ্ধনশীল বলের লাভার্থ সোম অভিষুত হইলে উক্‌থনামক স্তোত্রের উপযোগী কর্ম্ম অর্থাৎ উচ্চারণ পরিশুদ্ধ করিতেছ, এতাদৃশ তুমি অবশ্য মহান্ ॥ ৮৯ ॥

क्रौञ्चम्।

५ ४ २ र २ र १ १
इन्द्रा। सुतेषु सोमेषु। ह्वोइ २।
१ २र १ र
ह्वो। वाह्वोइ। क्रतुं पुनीष उक्थियाम्।
२ १ २ २ १ २ २
विदाइवा १ वृ २३। धा३ दाक्षा ३स्या।
१ २ १
महाँ२३ हिषा ३४३ः। औ २३४५ इ।
डा ॥ ८९ ॥

द्वितीया ऋक्।

गोषूक्त्यश्वसूक्तिनावृषी उष्णिक्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
त मु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ९० ॥

हे स्तोतारः! 'पुरुहूतम्' बहुभिराहूतम् 'पुरुष्टुतम्' बहुभिः स्तुतम् 'तविषम्' महान्तम् 'तम् इन्द्रम्' 'उ' एव 'गीर्भिः' वाग्भिः 'अभिप्रगायत' किञ्च 'आविवासत' परिचरत ॥ ९० ॥

হে স্তোতৃগণ! বহু আহুত ও বহুস্তুত, মহান্ সেই ইন্দ্রকেই বাক্যদ্বারা ভালরূপে গান কর এবং সেবাকর ॥ ৯০ ॥

दैवोदासम्।

५र र २ र १ ५र
हाउतमुवभी। प्रगायता। हाउ।
२ ३क ५ २ १ ५र
पुरूहू २३४ ताम्। पुरुष्टुताम्। हाउ।
२ ५ २ १ २
इन्द्रङ्गा २३४ इर्भीः। तवाइषा २३ मा
५र ३ २ ४ ३
३४। हाउ। विवा ३ सा ५ताई५ई। दौ
५
२३४वौ ॥ ९० ॥

तृतीया ऋक्।

गोषूक्त्यश्व सूक्तिनावृषी उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तन्ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सा

२ २ २ १ २ २ १ २
सहिम्। उ लोककृत्नुम द्रिवो हरिश्रियम्
॥ ९१ ॥

हे 'अद्रिवः!' वज्रवन्निन्द्र! 'ते' तव 'तम् मदम्' 'गृणीमसि' गृणीमः प्रशंसयामः। तं कमित्याह-'वृषणम्' 'वर्षितारम्' कामानां'पृत्सु' संग्रामेषु 'सासहिम्' शत्रूणामभिभवितारम् 'लोककृत्नुम्' लोकस्य स्थानस्य कर्त्तारम् 'हरिश्रियम्' हरिभ्यामश्वाभ्यां श्रयणीयम् आश्रयणीयं सेव्यम् 'उ' समुच्चये॥ ९१॥

হে বজ্রধারিন্ ইন্দ্র! তোমার সেই মত্ততার প্রশংসা করি, যাহা অভিলষিত ফলবর্ষণ করে ও রণস্থলে শত্রুগণের পরাভবকারী, ভক্তগণের ভোগ্য-স্থান-স্রষ্টা এবং হরিনামক অশ্বদ্বয়ের সেব্য॥ ৯১॥

हारिवर्णम्।

४ ४
तन्ते ५ मदम्। गृणी ५ मसि।
२ १ र _ १ २
वृषा। सासृत्सुसा। सा २ हाइम्। उ
१र र २
लोका। कृत्नु महाइ। वोहा २३ रोइ।
१ २ १
श्रा २३ या ३४३म्। ओ२३४५ इ। डा
॥ ९१॥

चतुर्थी ऋक्।
पर्वत ऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१र २र ३ १ २ ३ १ २
यत् सोम मिन्द्र विष्णवि यद् वा घ
१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
त्रित आप्त्ये। यद् वा मरुत्सु मन्दसे समि-
२र
न्दुभिः॥ ९२॥

हे 'इन्द्र!' 'यद्' यम् 'विष्णवि' विष्णौ विष्णुदेवतोद्देशे अर्पयति, 'यद् वा' 'त्रिते आप्त्ये' त्रितनामके अपांपते 'यद् वा मरुत्सु' तैः सर्वैरेव 'इन्दुभिः' सोमैः त्वं 'समुमन्दसे' संमोदसे। 'घ' इत्यनर्थकः॥ ९२॥

হে ইন্দ্র! যে সোম বিষ্ণুতে অর্পন করা যায় এবং যাহা ত্রিতনামক উদকাত্মজে অর্পণ করা যায় ও যাহা মরুদ্গণে অর্পণ করা যায়, সে সমস্ত সোমদ্বারাই তুমি সন্তুষ্ট হইয়া থাক॥ ৯২॥

त्रैतम्।

५ र ४ ५ १र
यत्सोम मिन्द्र विष्णावी। यद्वाघत्रि
र २र १
तआप्तियाइ। यद्वामरुत्सुमा ३ न्दा सो
५ १ ३ ५र
२३४ हाइ। सा २ मा २३४ औ होवा।
२ १ ३ १ १ ११
ए३। दूभी २३४५॥ ९२॥

पञ्चमी ऋक्।
विश्वमनावैयश्वऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
एदु मधो मदिन्तरं सिञ्चा ध्वर्यो
१ २ ३ २उ ३ १र २र ३ १ २
अन्धसः। एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः
॥ ९३॥

हे 'अध्वर्यो!' 'मधोः अन्धसः' स्वादन्नस्य सोमस्य 'मदिन्तरम्' अतिशयेन मदकरम् रसम् 'आसिञ्च इदु' अभिक्षरैव। 'हि' यतः 'सदावृधः' सर्वदा वर्द्धनशीलः 'वीरः' विक्रान्तो जनः 'स्तवते' स्तुते 'एव' तमिति शेषः। एद-इत्यत्र आइत् उ इति छेदः; आ-इति सिञ्चेत्याख्यातेन सम्बन्धयितव्यः, इत्-इति उ-इतिच निश्चयार्थः, निश्चयं निश्चयमिति वारद्वय-कथनादतिनिश्चयमितिगम्यते॥ ९३॥

হে অধ্বর্য্যো! ইন্দ্রের জন্য স্বাদু অন্নের অর্থাৎ সোমের মদকররস অবশ্যই ক্ষরণ কর, যেহেতু বর্দ্ধনশীল বীরপুরুষ তাঁহাকে স্তব করিয়াই থাকেন ॥ ৯৩ ॥

सुराधसम्।

२र४ ५र २ २ ३
एदुमधोः। मदा ३२ इन्ता २३४
५ २ १र र ३
राम्। सिञ्चा ध्वर्य्यो अन्धसा २ः। धा
५ २र १र र
२३४ सा:। एवा हि वीरस्तवता २ इ।
३ ५ २ २ ४
वा २३४ ताइ। सदा ३ वा ५ द्धाई५ई:
॥ ९३ ॥

षष्ठी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
एन्दु मिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्य
२र १र २र ३ २
म्मधु। प्र राधाᳬसि चोदयते महित्वना
॥ ९४ ॥

हे ऋत्विजः! 'इन्द्राय' इन्द्रार्थम् 'इन्दुम्' सोमम् 'आसिञ्चत' अभिषवत। इन्द्रः 'सोम्यम् मधु' 'पिबाति' पिबतु, पीत्वा च 'महित्वना' स्व-महत्वेन 'राधांसि' अन्नानि 'प्रचोदयते' प्रचोदयतु प्रेरयतु प्रयच्छतु स्तोतृभ्य इति शेषः ॥ ९४ ॥

হে ঋত্বিক্‌গণ! ইন্দ্রের নিমিত্ত সোম ক্ষরণ কর, তিনি সোমসম্বন্ধি-মধু পান করুন এবং নিজ মহিমাগুণে স্তোতৃদিগকে অন্ন প্রদান করুন ॥ ৯৪ ॥

मारुतम्।

३ ४ २ ४ ५
एऽ५ न्दुमि। द्रा ३ या ३ सिञ्चता।
१ र २ र १ ३ १र
पिबा २ ति सोम्यम्मधु। प्रराधा २३ᳬ
२ १र २ २ १ २
सो। चोदयताइ मा ३ हो। त्वना औ
४ ५ ४
३ होवा। हो ५ इ। डा ॥ ९४ ॥

सप्तमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
एतो न्विन्द्रᳬ स्तवाम सखायः स्तोम्य
१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ २
न्नरम्। कृष्टी र्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्
॥ ९५ ॥

हे 'सखायः!' मित्राः! 'नु' क्षिप्रम् 'एत उ' आगच्छतैव। 'यः' 'एक इत्' एकएव 'विश्वाः कृष्टीः' समस्ताः शत्रुसेनाः 'अभ्यस्ति' अभिभवति, तम् 'स्तोम्यम्' स्तोमार्हं स्तुत्यर्हम् 'नरम्' नेतारं सर्वस्य इन्द्रम् 'स्तवाम' स्तुमः ॥ ९५ ॥

হে বন্ধুগণ! অবশ্য শীঘ্র আগমন কর। যিনি একাকী সমস্ত শত্রুসেনা পরাভূত করিয়া থাকেন, আমরা সেই স্তুতিযোগ্য সর্ব্বনেতা ইন্দ্রকে স্তব করি ॥ ৯৫ ॥

वैश्वमनसम्।

५र र ५ १ २र
एतोन्विन्द्राᳬस्तवा ई मा। साखाय-
१ ३ २ १ २ १र
स्तो २। मिया ३४५म्। नरमाकृष्टो-
र २र १ २ १ २ १
र्यौविश्वा अभि। आ। स्तियाये। काइ
२ ५र र ३ १ १ १ १
२ दार३४ औ होवा। ज२३४५ ॥९५ ॥

अष्टमी ऋक्।

नृमेध ऋषि: उष्णिक्छन्द: इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृ-
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
हत्। ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥९६॥

हे उद्गातारः! 'विप्राय' मेधाविने 'बृहते' महते 'ब्रह्मकृते' ब्रह्मणः अन्नस्य कर्त्रे 'विपश्चिते' विदुषे 'पनस्यवे' स्तुतिमिच्छते 'इन्द्राय' 'बृहत्' बृहन्नामकं 'साम' 'गायत' गानं कुरुत ॥ ९६ ॥

হে উদ্গাতৃগণ! মেধাবী, মহান্, অন্ন-স্রষ্টা, বিদ্বান্, স্তুতি-কাম ইন্দ্রের উদ্দেশে বৃহৎ সাম গান কর ॥ ৯৬ ॥

सौमित्रम्।

५ र १ र २ १ २
इन्द्रायसा। मागायत। वाइमा१या
१ र २ १ ७ १
बृ २। हाते बृहत्। ब्राह्मकृ २। विपा
१ ३ ५ र र २
२३:। चा २ इ ता२३४ औ होवा। पन-
१ १ १ १ १
स्यवे २३४५ ॥ ९६ ॥

नवमी ऋक्।

गौतम ऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
य एकइद् विदयते वसु मर्त्ताय दाशुषे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ९७॥

'अङ्ग' भो मनः! 'यः' एकइत् एकएव 'दाशुषे' हविर्दत्तवते 'मर्त्ताय' यजमान-मनुष्याय 'वसु' धनम् 'विदयते' विशेषेण ददाति, सः 'इन्द्रः' 'अप्रतिष्कुतः' परैरप्रतिशब्दितः प्रतिकूलशब्दरहितः 'ईशानः' सर्वस्य जगतः स्वामी ॥ ९७ ॥

হে মানস! যিনি একই, হবিঃপ্রদানকারী মনুষ্যগণকে ধন প্রদান করিতেছেন, সেই ইন্দ্র, প্রতিকূল-শব্দ-রহিত, সমস্ত জগতের অধিপতি ॥ ৯৭ ॥

त्रैककुभम्।

५ र र २ १
यएका इदि हाहाउ। विदयताइ।
२ ५ र र र
वसुमा २३ र्त्ता। यदाशुषाइ। ईशानो
२ र १ २
२३ हा। प्रातिष्कुता ३१ उवा २३। ई
५ २ १ २ ४ ५ ४
२३४न्द्राः। अङ्गा। औ ३ होवा। हो
५ इ। डा ॥ ९७ ॥

दशमी ऋक्।

विश्वमनाऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
सखाय आ शिषामहे ब्रह्मे न्द्राय व-
१ २ ३२ ३ २ ३ १ २ २ १
ज्रिणे। स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे
॥ ९८ ॥

'सखायः' मिथः सख्यबद्धाः वयम् 'वज्रिणे इन्द्राय' वज्रधृदिन्द्रार्थम् 'ब्रह्म' स्तुतिमन्त्रम् 'आशिषामहे' आभिमुख्येन शास्मः प्रकर्षेण गायाम इति यावत्। किञ्च 'वः' युष्माकं सर्वेषां हिताय 'नृतमाय' नेतृतमाय 'धृष्णवे' शत्रूणां धर्षणशीलाय तस्मै इन्द्राय तमिन्द्र मनुकूलयितुं 'स्तुषे' सुष्ठु स्तौमि। 'ऊ'-इति पादपूरणे ॥ ९८ ॥

পরস্পর সখ্যবদ্ধ, আমরা-বজ্রধারী ইন্দ্রকে

অনুকূল করণার্থ স্তুতিমন্ত্র শাসন করিতেছি; অপিচ, তোমাদের সকলের হিত কামনায় সেই সর্ব্বনিয়ন্তা, ধৃষ্ণু, ইন্দ্রকে অনুকূল করিতে সুন্দর স্তব করিতেছি ॥ ৯৮ ॥

औक्ष्णोनिधनम् ।

५ र   र   ३ २ ४ ५
सखाय आहा उ । शिषा ३ अहिहाउ ।

१ २   ४   ५   २ १
ब्रह्मा ३ इन्द्रा हाउ । यवज्रिणाइ । स्तुष

३   २   १ ७   २   १
ऊषू ३ हाइ । वोनृतमा २३ हा । यथा

१ ^ ३   ५र र   ३
२३ । आ २ वा २३४ औ होवा । ऊ २३

५
४ पा ॥ ९८ ॥

इति दशमी दशतिः ।

इति श्रीमद्-भगवत्-कुथुमर्षि-प्रादुष्कृतस्य सामवेदीय-छन्दस्यार्च्चिकस्य

तृतीयः प्रपाठकः

श्रीसत्यव्रतसामश्रमि-रचितर्षिच्छन्दोदेवतान्वित-टीकया टीकितः सनामसामपुष्पितः

समाप्तः ।

अथ पञ्चमः प्रपाठकः।

एतत्प्रपाठकस्याष्टदशतिं यावदैन्द्रं पर्व, ततः पावमानम् ; विशेष-दैवत-कथनं तत्र तत्रैव।

प्रथमदशत्याम्

प्रथमा ऋक्।

प्रगाथऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवता-
१र २र ३ १र २र
तये। य द्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥

ऋत्विजः कथयन्ति। हे 'शचीपते!' 'इन्द्र!' 'यत्' यस्मात् त्वम् 'ओजसा' स्व-बलेन 'वृत्रम्' शत्रु-कुलम् 'हंसि', 'तत्' तस्मात् 'देवतातये' यजमानाय 'ते' तव 'शवः' बलम् 'उपमाम्' अन्तिकम् च 'गृणे' स्तौमि ॥ १ ॥

ঋত্বিক্‌গণ বলিতেছেন— হে শচীপতে, ইন্দ্র! যেহেতু তুমি স্ববলে শত্রুকুল নষ্ট করিতেছ, অতএব যজমানদিগের অভীষ্ট সিদ্ধ্যর্থ তোমার বল ও আশ্রয়কে স্তব করি ॥ ১ ॥

शायस्तम्।

४ ५ ३ २ ४ ५
हाउ गृणाइ। तदा ३ इन्द्रा ताइ।
१ २ ४ ५ २ १र
शवा २३१२३ः। उपा ३ मान्दे। वतातया
२A ३ २ ४ ५
इ। यद्धाᳰंसा२३इ वा। वमो ३ जासा।
४ ५ १ २र १ र २ ५र र
शाची। पते। औ २३ होवा ३४। औहो
३ ५
वा। दू २३४ भोः ॥ १ ॥

द्वितीया ऋक्।

भरद्वाज ऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
यस्य त्य च्छम्बरं मदे दिवोदासाय
३ १ २ ३ १र २र ३ १र
रन्धयन्। अयᳰं स सोम इन्द्र ते सुतः
२र
पिब ॥ २ ॥

हे 'इन्द्र!' 'यस्य' सोमस्य 'मदे' मत्ततायां 'दिवोदासाय' राज्ञे तन्नामक-राज-निमित्तं 'शम्बरम्' एतन्नामकमसुरम् 'रन्धयन्' रन्धनं हिंसनं कृतवान् 'अयं सः सोमः' 'ते' त्वदर्थं 'सुतः' अभिषुतः 'त्यत्' त्वम् तम् 'पिब' ॥ २ ॥

হে ইন্দ্র! যে সোমরসের পানে মত্ত হইয়া দিবোদাস নামক রাজার অভীষ্ট সিদ্ধির জন্য শম্বর নামক অসুরকে নষ্ট করিয়াছ, সেই এই সোম তোমার নিমিত্ত অভিষুত হইয়াছে, তাহা পান কর ॥ ২ ॥

दैवोदासम्।

३ २ ३ २ ५
यस्या ३१। त्यच्छा ३१२३४ म्। बरम्

२ २ ३ २ २ ८ २
मा ३ दा इ। दिवो ३१। दासा ३१२३
५ २ २ ३ २ ३ २
४। यर। धा३यान्। अया ३१ म। ससो
५ २ २ ३ २
३१२३४। मइ। द्रा ३ ता इ। सुता ३१ः।
३ २ १ ५ ३ ५
पिबा ३। औ २३४ वा। ऊ २३४ पा ॥२॥

तृतीया ऋक्।

नृमेधऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रो देवता।

२ ३ १ २
ऐन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजि दगोह्य।
३ २ उ ३ १ २ ३ १ ८ २ ८ ३ २
गिरि र्न विश्वतः पृथुः पति र्द्दिवः ॥३॥

हे 'प्रिय!' 'सत्राजित्!' सत्राणां महतां शत्रूणां जेतः! 'अगोह्य' तिरस्कर्त्तुमशक्य! 'इन्द्र!' 'विश्वतः' सर्वतः 'गिरिर्न' आकाशइव 'पृथुः' प्रथितः व्यापकः 'दिवः' द्युलोकस्य 'पतिः' अधीश्वरः त्वं 'नः' अस्माकं यज्ञं प्रति 'आ गधि' आगच्छ ॥ ३ ॥

হে প্রিয়! শত্রু-জেতঃ! অগোহ্য!* ইন্দ্র! আকাশের ন্যায় বিশ্ব-ব্যাপক, দ্যুলোকের অধিপতি, তুমি আমাদিগের যজ্ঞে আগমন কর ॥ ৩ ॥

साम्वर्त्तम्।

४ ८ ५ ४ २ १ २ १ ८ २
एन्द्रनाः। गधिप्रा २३ या। सात्राजित्
१ ८ ३ ३ २ ३ २
अगोहा २३ या ३४। गिरा ३४ इर्न वाइ।

* যে বস্তু লুক্কায়িত হইবার নহে তাহাকে অগোহ্য বলা যায়।

१ १ ३ १ ८ ३ ५ ८ ८
श्वताः पाथूः ३ः। पा २ ता २३४ औहो
३ ५
वा। दो २३४ वाः ॥ ३ ॥

चतुर्थी ऋक्।

पर्वतऋषिः उष्णिक्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २
य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ
१ २ ३ २ ३ २ ८ २ २ १ २
चेतति। येना हंसि न्यत्रिणं तमी-
महे ॥ ४ ॥

हे 'शविष्ठ!' बलवत्तम! 'इन्द्र!' 'यः' 'मदः' त्वदीयः 'चेतति' चेतयति त्वाम् शत्रुबधकर्मणि संज्ञां प्रापयति, 'सोमपातमः' सोमस्य पातृतमः त्वम् 'येन' सहायः 'अत्रिणम्' यज्ञीयान्नस्य बलात् अत्तारं दैत्यादिकं 'निहंसि' निःशेषेण नष्टं करोषि, 'तम्' मदम् 'ईमहे' सम्भजामहे ॥ ४ ॥

হে অতিশয়-বলশালিন্! ইন্দ্র! যে ত্বদীয় মদ, শত্রুবধাদি কার্য্যে তোমাকে চেতন করে, বলপূর্ব্বক যজ্ঞীয়ান্ন ভোজন করিতে উদ্যত দৈত্যদিগকে যাহার সহায়ে নিঃশেষে নষ্ট করিয়াথাক, সেই মদকে ভজন করি ॥ ৪ ॥

आश्वारम् ॥

४ ५ १ २ ४ ५ २ ८ १
य इन्द्र सो। मापा३तामाः। मदाः
२ १ २ ८ १ ३ ४ ५
शवाइ। ष्ठचेतताइ। याइ ना३ हाऽंसो।
३ १ २ ४ ८ ३ १ १ १ १
नियत्रिणाम्। ता ३ सोम। हा२३४५
इ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ऋक्।

इरिमिठऋषिः उष्णिक्छन्दः आदित्यादेवताः।

३ १ ८ २ ८ ३ २ उ ३ १ २ ३ १ २ ३
तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जी-

१ २ १ २ ३ १
वसे। आदित्यासः सु महसः कृणो-
२
तन ॥ ५ ॥

हे 'सुमहसः!' शोभनतेजस्काः! हे 'आदित्यासः!' अदितेः पुत्राः! यूयम् 'तुचे' पुत्राय 'तुनाय' तनाय पौत्राद्यात्मक-वंश-विस्तृतये 'जीवसे' जीवनाय 'नः' अस्माकम् 'तत्' प्रसिद्धम् 'आयुः' 'द्राघीयः' दीर्घतमम् 'सु कृणोतन' सुष्ठु कुरुत ॥ ५ ॥

হে সুতেজস্ক! অদিতি-পুত্রগণ! পুত্রের নিমিত্ত ও পৌত্রাদিরূপ-বংশ-বৃদ্ধ্যর্থ, জীবন প্রয়োজনীয়, তন্নিমিত্ত আমাদিগের সেই আয়ুঃ সুদীর্ঘ কর ॥ ৫ ॥

दीर्घायुष्यम्।

४३र४५र ३ २ ^ ३ ५
तुचेतुना। यता ३ २ त्सू २३४ नाः।
२ ^ ३ ५ २र १ — १
द्राघी या२३४यूः। जीवासा२इ। आदी-
— १ — १ २ १ ^ ३ २ ४
२त्या सा२ः। समहसा२ः। कृणो३ता
३ १ १ १ १
५।. ना२३४५ ॥ ५ ॥

षष्ठीऋक्।

विश्वमनाऋषिः उष्णिक्छन्दः आदित्याः देवताः।

३ १र २र ३ १ २ ३
वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परि-
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृजं। अहरहः शुंध्युः परिपदा मिव ॥६॥

हे आदित्यासः! 'शुन्ध्युः' शुद्धः 'वज्रहस्त' वज्रहस्तः इन्द्रः 'परिपदाम् इव' पतङ्गानामिव तुच्छानां 'निर्ऋतीनां' उपद्रवकारिणाम् 'अहरहः' नित्यम् 'परिवृजम्' सर्वतोवर्जनं करोति, तम् यूयम् 'वेत्था हि' जानीथ ॥ ६ ॥

হে অদিতি-পুত্রগণ! শুদ্ধ, বজ্রহস্ত, ইন্দ্র প্রতিদিন পতঙ্গতুল্য অর্থাৎ অতিতুচ্ছ, উপদ্রবকারীদের সর্ব্বদিক্ হইতে বর্জন করিয়া থাকেন; ইহা তোমরা অবশ্য জানিতেছ ॥ ৬॥

शौन्ध्यवम् ॥

४र ५र ४ ५ र ४ १ २
वेत्था हिनिर्ऋतीनाम्। वाजूहस्त
१ २ १ २ १ २
परिवृ। जाम्। अहराहाः। शुन्ध्युः परि।
१ २ ४
पदा३ मा५इ वा ६५६ ॥ ६ ॥

सप्तमीऋक्।

इरिमिठऋषिः उष्णिक्छन्दः आदित्याः देवताः।

१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अपामीवा मप स्रिध मप सेधत दुर्म्मतिं।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥ ७॥

हे 'आदित्यासः' आदित्याः! यूयम् 'अमीवाम्' रोगम् 'अप सेधत' अस्मत्तः अपगमय, 'स्रिधम्' बाधकम् 'अप' सेधत, 'दुर्म्मतिम्' 'अप' सेधत। किञ्च 'नः' अस्मान् 'अंहसः' पापात् 'युयोतन' पृथक् कुरुत ॥ ७ ॥

হে অদিতি-পুত্রগণ! তোমরা আমাদিগের রোগ দূর কর, বাধক দূর কর, দুর্ম্মতি দূর কর এবং আমাদিগকে পাপ হইতে পৃথক্ রক্ষা কর ॥ ৭ ॥

आपामीवम् ॥

४ र ५र र ४ १ र २ १
अपामीवामपा। स्त्रिधाम्। अपसेध तदु-
२ १ १ १र र
र्म्मा२३तीम्। आदी [illegible]

२ १ ५ ४ ५
न ओवा३ओ२३४वा। हाँ५सोईहाइ ॥७॥

अष्टमीऋक्।

वसिष्ठऋषिः ककुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पिवा सोम मिन्द्र मन्दतु त्वा यन्ते
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
सुषाव हर्य्यश्वाद्रिः। सोतु र्वाहुभ्याꣳ
१ २ ३ १ २
सुयतो नार्वा ॥ ८॥

हे 'इन्द्र!' सोमम्' 'पिबा' 'पिब'। हे 'हर्यश्व'! 'ते' त्वदर्थम् 'सोतुः' अभिषवकर्त्तुः 'वाहुभ्यां' 'अर्वा न' अश्वइव 'सुयतः' सुष्ठु परिगृहीतः 'अद्रिः' पर्वतः'यं' 'सुषाव' सोऽयं सोमः 'त्वा' त्वाम् 'मन्दतु' मादयतु ॥ ८॥

হে ইন্দ্র! সোম পান কর। হে হর্য্যশ্ব! তোমার নিমিত্ত, অভিষবকারীর বাহুদ্বয়দ্বারা অশ্বের ন্যায় সংযত, পর্ব্বত, যে সোম প্রসব করিয়াছে, সেই সোম তোমাকে মত্ত করুক ॥ ৮ ॥

वैराजम्॥

५ ४ १र १र
पिबा। सोममिन्द्र मन्दतुत्वा२। यन्तेसु
र २ १ २
षावहरिया। श्वा २३द्रीः। सो२३तुः।
१र २ २ १ ३ ५र र
वाहूभी३या३म्। सुया२ता २३४ औहो-
२ १र ११ ११
वा। ए३। नार्वा२३४५ ॥ ८॥

इति प्रथमा दशतिः।

द्वितीय दशत्याम्

प्रथमा ऋक्।

सोभरिऋषिः ककुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ २ ३ १र २र
अभ्रातव्यो अना त्व मनापि रिन्द्र
३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १
जनुषो सना दसि। युधे दापित्व-
२
मिच्छसे ॥ ९॥

हे 'इन्द्र!' 'सनात्' सनातनः 'त्वम्' 'जनुषा' प्रादुर्भवमात्रेणैव 'अभ्रातव्यः' सपत्नरहितः 'अ-ना' अन्तकः अनियन्तृकः 'अनापिः' अवन्धुकः 'असि' 'युधा' युद्धेनैव 'आपित्वम्' सख्यम् 'इच्छसे' इच्छसि ॥ ९॥

হে সনাতন, ইন্দ্র! তুমি আবির্ভাব-কালাবধি প্রতিদ্বন্দি-শূন্য,নিয়ন্তৃ-বর্জ্জিত, নির্ব্বান্ধব, রহিয়াছ; অপিচ কেবল যুদ্ধের সহিতেই সখ্য বাঞ্ছা করিয়া থাক ॥ ৯ ॥

आभ्रातवम्।

४ र र ४ २ १र
अभ्रातव्यो ५ अनात्वाम्। अना-
२ १ १ ३ २
पिराइन्द्रा२। ज। नुषा२। सना३४५त्।
३ ५ २ १र ५र १ २ र
आ२३४सी। युधे दा २ पित्वमिच्छसे।
३ २
युधा १॥ ९॥

(ता०) अधर्मेण ऐहिक-सुख-स्वच्छन्दतामपि लब्धुं न कामयेत्। अधर्ममाचरन्निहापि न कोऽपि चिरसुखी भवति; एषोऽपि लोकः ईश्वरस्य राज्यः, तस्य न्यायो दण्डश्च इहापि सञ्चरते ॥ १ ॥

१३१

(मू०) न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्। अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्य्ययं ॥ २ ॥

(टी०) 'धर्म्मेण' 'सीदन् अपि' अवसन्नोऽपि सन् 'मनः' कदापि 'अधर्म्मे' 'न' 'निवेशयेत्' न संयोजयेत्। 'अधार्म्मिकानां' 'पापानां' पापिनां 'आशु' शीघ्रं 'विपर्य्ययं' 'पश्यन्' ॥ २ ॥

(ता०) धर्म-मार्गे संस्थिते कृच्छ्रेण कालयापनं भवति, शरीरं मनश्च अवसीदति किञ्च पापकारी जनः सहसा सुख-सम्पद्भ्यां स्फीतो भवति; एतत् प्रेक्ष्य कदापि धर्मं निष्फलं न विविच्यात्, नचाधर्माचरणे प्रवृत्तः स्यात्। धार्मिकस्य दीनावस्थान्तरेऽमृतफलं, पापकारिणः स्फीततान्तरे साङ्घातिकोऽग्निश्च प्रच्छन्नं तिष्ठति; कालप्राप्तौ धर्मपरायण आनन्दनीरेऽभिषिक्तो भविष्यति, पापी हाहारवं करिष्यति। अतः प्राणान्तमपि पणं प्रकृत्य धर्म-पथे दण्डायमानस्तिष्ठेत्, नत्वेकपदमपि अधर्मेण पथा निम्नगामी भवेत् ॥ २ ॥

१३२

(मू०)अधर्मेणैधते तावत् ततोभद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ३ ॥

(टी०) तदेव वाक्यान्तरेण दृढयति। 'अधर्म्मेण' परद्रोहादिना 'तावत्' आपाततो ग्रामधनादिना 'एधते' वर्द्धते 'ततः' तेनैव 'भद्राणि' बहुभृत्यगवाश्वादीनि 'पश्यति' लभते। 'ततः' तदनन्तरं 'सपत्नान्' शत्रून् 'जयति'। पश्चात् कियता कालेनाधर्म्मपरिपाकवशात् 'समूलः तु' मूलेन सह धनादिसहितः 'विनश्यति' ॥ ३ ॥

(ता०) पापिनामवश्यमेकदिनं पापफलं भोग्यं भविष्यति। पापेन यावदुन्नति मनिर्वेक्ष्यते, तावत्येव दुर्गतिश्च भोक्ष्यते। ते यावदुच्चैरुत्तिष्ठंति तावन्तमेवाघातं प्राप्स्यन्ति। यथा यदा स्थानविशेषस्य वायुः सूर्य्योत्ताप-तप्तः ऊर्द्ध्वं चलति तदा चतुर्द्दिक्स्थाः वायवः आन्दोलिताः सन्तः तत् स्थानं पूरयितुमागच्छन्ति; तथैवेदमीश्वरधर्मराज्यम् एवं शृङ्खलाबद्धमस्ति, यत् केनापि कुत्रचित् कस्मिंश्चिद् किञ्चिदपि व्यतिक्रमे कृते चतस्रोदिश आन्दोलिताः सत्यः तत्प्रतिविधाने प्रवर्त्तन्ते। अतः पापी पापमाचरन् चिराजयं लब्धुं न शक्यते, आपाततः तस्य यावती श्रीवर्द्धेतु, एकस्मिन्नवसरे तावत्येव सा समूलनाशमाप्स्यति अपि तदैश्वर्यमेव कालव्यालो भवत् तं दंक्ष्यति। अतः कदापि सांसारिक-सुख लोभात् पापपथं नाश्रयेत्; परिपूर्णं न्यायस्वरूपमीश्वरं प्रति निर्भरं कृत्वा तत्प्रतिष्ठितं धर्मं प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥

१३३

(मू०) धर्म्मं शनैः सञ्चिनुयात् वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्व्वभूतान्यपीड़यन् ॥ ४ ॥

(टी०) 'धर्म्मं' 'शनै' अल्पेनाल्पेन 'सञ्चिनुयात्' सञ्चितं कुर्य्यात्। तत्र दृष्टान्तः। 'पुत्तिकाः' पिपीलिकाप्रभेदाः 'बल्मीकं इव' महान्तं मृत्कूटमिव। किमर्थं 'परलोकसाहाय्यनिमित्तं। कीदृशेनोपायेन 'सर्व्वभूतानि अपीड़यन्' सर्व्वप्राणिनां पीड़ां परिहरन्॥ ४॥

(ता०) पुत्तिकाष्टन्दमिव क्रमाद् धर्मं सञ्चिनुयात्। पुत्तिकाहि क्षुद्र-जीवा अपि शनैः शनैः कीदृगाश्चर्य्यं बल्मीकं निर्म्मिमीते, तथैव अल्पमल्पं धर्ममनुष्ठाय पुण्यमुपार्ज्य परलोक-सम्बलमाहरेत्॥ ४॥

१३४

(मू०) नामत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्म्मस्तिष्ठति केवलः॥ ५॥

(टी०) 'हि' यस्मात् 'अमुत्र' परलोके 'सहायार्थं' साहाय्यकार्य्यसिद्ध्यर्थं 'पिता माता च' तौ 'न' 'तिष्ठतः'। तथा 'पुत्रदारं' पुत्राश्च दाराश्च तत् 'न' तिष्ठति 'न ज्ञातिः'। 'धर्म्मं' तु 'केवलः' एकः 'तिष्ठति'। अतस्तत्सञ्चयने महान् यत्नः कर्त्तव्यः॥ ५॥

(ता०) यदा मृत्युरेत्य आत्मानं शरीरतः पृथक् करिष्यति, तदा पार्थिवः कोऽपि बान्धवः काञ्चिदपि सहायतां कर्त्तुं न क्षमिष्यति, तदा धर्मएव सान्त्वनायाः आरामस्य च पन्थानमीक्षयिष्यति। अतः पितादिभ्यस्तस्मात्मीयतो धर्मएवाधिक इति जानीयात्॥ ५॥

१३५

(मू०) एकः प्रजायते जन्तुरेकएव प्रलीयते। एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव तु दुष्कृतं॥ ६॥

(टी०) अपि च 'जन्तुः' प्राणी 'एकः' एव 'प्रजायते' उत्पद्यते। न बान्धवैः सह। 'एकः एव तु' भुंक्ते। न केनापि सह। तस्मात् धर्म्मार्थेन तु केनापि हेतुना धर्म्मो न हातव्यः॥ ६॥

(ता०) कस्याप्यनुरोधेन धर्मं न त्यजेत्। कस्मादपि कारणात् पापं नाचरेत्। यदि सर्वान् परित्यज्य धर्मं रक्षणीयं स्यात्, तर्हि तदपि श्रेयः; यतो धर्महीने मृते या नरक-यन्त्रणा भोग्या भविष्यति तत्र उद्धर्त्तुं न कोऽपि स्थास्यति, अपि तत्सहभोगी च न कश्चनो भविष्यति। पाप-पुण्ययोः फलं मनुष्य एकाकी एव भोक्ष्यति॥ ६॥

१३६

(मू०) मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखाबान्धवायान्ति धर्म्मस्तमनुगच्छति॥ ७॥

(टी०) यतस्य 'मृतं' मनःप्राणादिरहितं 'शरीरं' 'काष्ठलोष्टसमं' काष्ठलोष्टवत् 'क्षितौ' भूमौ 'उत्सृज्य' त्यक्त्वा 'विमुखाः' पराङ्मुखाः सन्तः 'बान्धवाः' यान्ति' गृहान् प्रतिगच्छन्ति। 'धर्म्मः' 'तु' 'तं' 'अनु' अन्वेष्य 'गच्छति'॥ ७॥

(ता०) धर्म-सदृशोऽन्यः कश्चनो बन्धु र्न विद्यते

मृत्योरनन्तरं सर्वएव बान्धवाः मृतशरीरं श्मशाने परित्यज्य निवर्त्तन्ते, आत्माएकाक्येव लोकान्तरमुपनीतो भवन् सञ्चित-धर्मबलेन सद्गतिं लभते, ईदृशं बान्धवं न त्यजेत् ॥ ७ ॥

१३७

(मू०) तस्माद्धर्म्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयात् शनैः। धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरं ॥ ८ ॥

(टी०) 'तस्मात्' आत्मनः 'सहायार्थं' 'धर्मं' 'नित्यं' 'शनैः' 'संचिनुयात्'। 'हि' अवधारणे 'धर्मेण' एव 'सहायेन' 'दुस्तरं' 'तमः' संसाररूपमज्ञानं 'तरति' अतिक्रामति। अतिक्रम्य च तद्भयमसृतमशोकमनाद्यनन्तं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपं परमानन्दं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

(ता०) इह लोके धर्ममन्तरा कः सुखी भवितुं शक्यते ? परलोके च जीवः धर्मेण विना कथं सान्त्वनां लभते ? धर्ममन्तरेण मनुष्याणां मनुष्यत्वं कथमुपार्जितम् भव्यम् ? कथं वा देवानां देवत्वं रक्षितं स्यात् ? धर्मएव धार्मिकाणां बलम्। धर्मएव पुरुषाणां पौरुषम्। धर्मएव नारीणामलङ्कारः। धर्मएव प्रकृतसुख-लाभस्योपायः। धर्मएव आत्म-प्रसादानामाकरः। धर्मएव ब्रह्मानन्द-लाभ-हेतुः। मनुष्य एकमात्रस्य धर्मस्य साहाय्येन दुस्तर-तिमिर-राशि मुत्तीर्णो भवन् शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव-परमानन्दरूप-परब्रह्मणः सामीप्यमेति ॥ ८ ॥

१३८

(मू०) एषआदेशएषउपदेशएतदनुशासनं एवमुपासितव्यमेवमुपासितव्यं ॥९॥

(टी०) 'एषः' 'आदेशः' कर्त्तव्यविधिः 'एषउपदेशः' मनुष्येभ्यः 'एतत्' 'अनुशासनं' प्रमाणवचनं। 'एवं' यथोक्तं 'उपासितव्यं' 'एवं उपासितव्यं' पुनर्वचनं समाप्त्यर्थं ॥ ९ ॥

(ता०) परमेश्वरे मनसा प्रीतिं कुर्यात् किञ्च संसारे तिष्ठन् तस्य प्रियं साध्नुयात्। एतदेवतस्यार्च्चना। एतदेव मनुष्याणां कृतार्थ-भवनोपायः। एतयैव पारत्रिकमैहिकञ्च मङ्गलमाप्स्यति। एतदेव ब्राह्मधर्मानुज्ञा, एतदेव ब्राह्मधर्मस्य शिक्षणम्, एतदेव ब्राह्मधर्मे प्रमाणम्। तस्मिन् प्रीति स्तत्प्रियकार्य-साधनञ्चान्तरा जीवस्य गत्यन्तरं नास्ति ॥ ९ ॥

ओँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। हरिः ओँ।

द्वितीयखण्डं समाप्तम्।

समाप्तश्चायं ब्राह्मधर्म्मः।

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका ।

प्रत्नाख्यकाम्रत्वयोर्लिप्सुस्त्वायविन्दुं समशक्तिमन्तम् । बोधाच्चिवेद्यममनेन मान्यं वन्देऽहमीशं जगदेकबन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी ।

राजतादसौ सुचित्तचित्तप्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

२भागः] प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०) [October, 1870.] प्रेरण-व्ययेन सह प्रतिसंख्यायाः १) [२८ संख्या

वैदिकसमालोचना ।

(२६ संख्याया अनन्तरम्)

चतुर्थम् आर्षेयब्राह्मणम् । त्रिप्रपाठकात्मकम् द्व्यशीतिखण्डैर्विभक्तम् । अत्राद्यखण्डे ग्रन्थप्रस्तावः, द्वितीयाद्यूनषष्टिखण्डैर्गेयगानसाम्नां प्रत्येकस्य, शेषविंशतिखण्डैररण्य गान साम्नां महानाम्नीनाञ्च प्रत्येकस्य ऋषिर्निरूपितः; तत एवार्षेयेत्याख्यायते । अपिच तेषां साम्नां प्रत्येकस्य परिचयार्थं नामान्यपीहैवाम्नातानि, परं कस्य साम्नः कः ऋषिः ? किंवा नामधेयमिति स्थिरधिया प्रविश्य लभ्यते । तथाहि, द्वितीय खण्डः—

'गोतमस्य पर्क्कावभितः कश्यपस्य बर्हिष्यम्'—इत्यादि अस्ति छन्दस्यार्चिकस्य प्रथमा ऋक् 'अग्न-आयाहि वीतय'-इति तस्यामृचि त्रीणि गीतानि, तानि गेयगानप्रथमसामानि ; तत्र प्रथम—तृतीय साम्नोः पर्क्क इति नाम गोतमश्च ऋषिः, द्वितीय साम्नस्तु बर्हिष्यमिति नाम कश्यपश्च ऋषिः-इति निष्पन्नोऽर्थः । ऊहादिसाम्नामृषिर्नामच एतन्नत्वमस्यायमृषिरिदं नामेति ताण्ड्यादि शासनाद्द किञ्चिद्द ज्ञायते, तच्च कठिनतरम् ।

अस्यैक उपग्रन्थो विद्यते, तत्रार्चिकान्तर्गतानां समस्तानामृचामृषयो निर्दिष्टाः नामानिच, स 'ऋषिनैगेय'-इति कीर्त्यते ।

पञ्चमं दैवत ब्राह्मणम् । चतुःखण्डात्मकम् ।

দৈবদিকসমালোচনা ।

(৩৬সংখ্যার পর)

৪র্থ আর্ষেয়ব্রাহ্মণ । ইহা প্রপাঠকত্রয়ে দ্ব্যশীতি-খণ্ডে বিভক্ত । ইহার প্রথমখণ্ডে গ্রন্থপ্রস্তাব, দ্বিতীয় আরভ্য উনষষ্টি খণ্ডে গেয়গানে শ্রুত সামগুলির প্রত্যেকের এবং শেষ বিংশতি খণ্ডে অরণ্যগানের সমস্ত সামের ও মহানাম্নীর প্রত্যেকের প্রকাশক ঋষিদিগের নাম নিরূপিত আছে অপিচ সেই সমস্ত সামের প্রত্যেকের পরিচয়ার্থ ভিন্ন ভিন্ন আখ্যা নির্দ্দিষ্ট রহিয়াছে । পরং এই নিমিত্ত ইহা 'আর্ষেয় ব্রাহ্মণ' নামে প্রথিত হইয়াছে । কোন সামের কোন ঋষি ? কিবা নাম? ইহা স্থিরধী হইয়া প্রবেশপূর্ব্বক লাভ করিতে হয় । যথা 'গোতমস্য পর্ক্কাবভিতঃ কশ্যপস্য বর্হিষ্যম্ ইত্যাদি' (২খ০) । ইহার নিষ্পন্ন অর্থ ছন্দস্যার্চ্চিকের প্রথমঋক্ 'অগ্ন-আয়াহি বীতয়ে, সেই ঋক্‌টি তিন প্রকার গীত হইয়াছে, তাহাই গেয়গানের প্রথম তিন সাম, তন্মধ্যে প্রথম ও তৃতীয়টির ঋষি গোতম নাম—পর্ক্ক, এবং মধ্যমটির ঋষি-কশ্যপ, নাম-বর্হিষ্য । উহাদিগানের প্রত্যেকের ঋষি ও নাম তাণ্ড্যাদি-শাসনে কিঞ্চিৎ জানা যায় তাহাও সুকঠিন ॥

এইগ্রন্থের এক খানি উপগ্রন্থ আছে, তাহাতে আর্চ্চিকত্রয়ের অন্তর্গত ঋক্‌গুলির ঋষিও নাম নির্দ্দিষ্ট রহিয়াছে, তাহাকে 'ঋষিনৈগেয়, বলা যায় ॥

৫ম-দৈবতব্রাহ্মণ । ইহা চারিখণ্ডে বিভক্ত ।

॥ ० ॥ अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी । कलिकातायां नूतन संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥ ० ॥

अत्र यावत्-साम्नां देवताः, निगदिता अतएतद् दैवतमित्युच्यते। परमिहातिसंङ्केतः ; ततस्तु तावतामेव साम्नां पर्याप्तेन देवताज्ञानं दुर्घटम्। तथाहि, प्रथमखण्डः—

'अग्निरिन्द्रः प्रजापतिः सोमो वरुणस्त्वष्टांगिरसः सरस्वतीन्द्राग्नी, इडानिधनानि पदनिधनानि इकारनिधनानि—इत्याग्नेयानि' इत्यादिः अग्निरित्यादिना देवता नामस्वरूपा निर्णीताः, उदाहर्त्तुं प्रवृत्तेन प्रथममग्निर्दैवता कीदृशानां साम्नामिति प्रदर्श्यते-इडेत्यादि ; येषां साम्नाम् इडाइति निधनं *पञ्चमी भक्तिः येषां च अथेत्यादि पदं पञ्चमी भक्तिः येषां च इकारः पञ्चमी भक्तिः तानि अग्निदैवतानीत्यर्थः।

अस्याप्येक उपग्रन्थो विद्यते तत्रार्च्चिकान्तर्गतानां समस्तानामृचां विशेषेण देवाः प्रकीर्त्तितास्ततः स 'दैवतनैगेय'-इति कथ्यते।

षष्ठम् मन्त्रब्राह्मणम्। द्विभागैर्विभक्तमेतत्। तत्राद्यं दलम्-प्रपाठकद्वयात्मकम्, सुदीर्घपञ्चदशखण्डान्वितम्, येषां मन्त्राणां गानग्रन्थे गीतिर्नास्ति अपिच विवाहादिसंस्कारकर्मसु विनियोगो दृश्यते, ते समस्ता इहैव श्रूयन्ते ; अपिच यथान्यत्रान्यत्र ब्राह्मणे अर्थवादादयो विनियोगादयश्च, नात्र तथा। अस्य प्रथमप्रपाठके 'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय, दिव्यो-गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु'—इत्यादयः—द्वितीयप्रपाठके 'यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एषते बलिः, योदक्षिणस्यां दिशि सर्पराज एषते बलिः' इत्यादयो मन्त्रा विद्यन्ते, अत एतन्मन्त्रब्राह्मणमिति कथ्यते। तदेतत् प्रपाठकद्वयम् मन्त्रभागे एव गणनीयम् भवेत् यद्येषामृक्त्वं स्यात्, नास्ति चर्कत्वम् तस्मात् सामशून्यत्वम्, सामसम्पर्काभावश्च नेह सामप्रधाने सामवेदे मन्त्रभागत्वेन गृह्यते ; एषां विनियोजकमपि न किञ्चित् ब्राह्मणवाक्यम्, अपितु गृह्यसूत्राण्येव विनियोजकानि एतद्ब्राह्मण-शेषदलमष्टप्रपाठकात्मकं छान्दोग्योपनिषदिति प्रसिद्धम्।

*एतदुदाहरणं चतुस्त्रिंशत्-संख्यक-पत्रिकायां प्रदर्शितम्।

ইহাতে যাবৎ সামের দেবতা নিগদিত হইয়াছে, অতএব ইহাকে 'দৈবত' বলা যায় ; পরং তাহা অতি সঙ্কেতে সুতরাং এই গ্রন্থ মাত্র দর্শনে তাবৎ সামের দেবতাজ্ঞান পর্য্যাপ্ত রূপে হওয়া সুকঠিন যথা—

'অগ্নিরিন্দ্রঃ প্রজাপতিঃ সোমো বরুণ স্ত্বষ্টাঙ্গিরসঃ সরস্বতীন্দ্রাগ্নী ; ইডানিধনানি, পদনিধনানি, ইকারনিধনানি ইত্যাগ্নেয়ানি'-ইত্যাদি (১মখণ্ডে)। অর্থ—অগ্নিপ্রভৃতি নয়টির কোন একটি কোন এক সামের দেবতা হইবে, তন্মধ্যে যে সামসমস্তের নিধন *অর্থাৎ পঞ্চমভাগ ইডা অথবা অথপ্রভৃতি পদাত্মক বা ইকার হইবে সেইগুলির অগ্নি দেবতা জানিতে হইবে।

এই গ্রন্থের এক খানি উপগ্রন্থ আছে তাহাতে আর্চ্চি-কান্তর্গত ঋক্‌গুলির প্রত্যেকের দেবতা নির্দ্দিষ্ট আছে, তাহার নাম 'দৈবতনৈগেয়'॥

৬ষ্ঠ—মন্ত্রব্রাহ্মণ। ইহা ভাগদ্বয়ে বিভক্ত। আদ্য ভাগ প্রপাঠকদ্বয়াত্মক তাহা সুদীর্ঘ পঞ্চদশখণ্ডে বিভক্ত। যেসকল মন্ত্রের গানগ্রন্থে গীতি নাই, অথচ বিবাহাদি সংস্কার কর্ম্মে বিনিয়োগ দেখা যায়, সেইগুলি এই গ্রন্থে আম্নাত রহিয়াছে ; অপরঞ্চ যেরূপ অন্যান্য ব্রাহ্মণগ্রন্থে অর্থবাদাদিও বিনিয়োগাদি লক্ষিত হয়, ইহাতে সেরূপ নহে। ইহার প্রথম প্রপাঠকে 'দেবসবিতঃপ্রসুব যজ্ঞং প্রসুব যজ্ঞপতিং ভগায়, দিব্যোগন্ধর্ব্বঃ কেতপূঃ কেতন্নঃ পুনাত্ত বাচস্পতির্বাচন্নঃ স্বদত্ত'-ইত্যাদি—দ্বিতীয়প্রপাঠকে 'যঃ প্রাচ্যাংদিশি সর্পরাজ এষতে বলিঃ, যো দক্ষিণস্যাং দিশি সর্পরাজ এষতে বলিঃ' ইত্যাদি মন্ত্রগুলি রহিয়াছে। অতএব ইহা মন্ত্রব্রাহ্মণ নামে প্রথিত হইয়াছে। এই প্রপাঠকদ্বয় যদি ঋক্ হইত তবে মন্ত্রভাগে গৃহীত হইতে পারিত, ইহা ঋক্ নহে, সেইহেতু সামশূন্য, এবংসামসম্পর্ক্কে নাথাকা প্রযুক্ত সাম-প্রধান সামবেদের মন্ত্রভাগরূপে গৃহীত হইতেছে না। এই মন্ত্রগুলির বিনিয়োজক কোন ব্রাহ্মণবাক্য নাই, ইহা গৃহ্যসূত্রের বিনিয়োজ্য॥ ইহার শেষভাগ অষ্টপ্রপাঠক 'ছান্দোগ্য উপনিষৎ' নামে প্রসিদ্ধ॥

*৩৪ সংখ্যক পত্রিকায় ইহার উদাহরণ দেখান হইয়াছে।

दशमी ऋक्।

संयुर्वार्हस्पत्य ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नै द्युम्न-
२ १ २ ३ १र २र ३ १ २
वत्तमः। सोमः सुतः स इन्द्र ते स्ति स्वधा-
३ १ २
पते मदः॥ ५९॥

'यः' 'रयिन्तमः' रयिवत्तमः अतिशयेन रयिवान् धनवान् 'रयिम्' धनं किञ्च 'यः' 'द्युम्नवत्तमः' अतिशयेन द्युम्नवान् यशस्वी 'द्युम्नैः' द्युम्नम् यशश्च 'वः' ते तव परिचारकेभ्यः प्रयच्छतीति योग्य-क्रियाध्याहारः 'सः' 'सुतः' अभिषुतः 'सोमः' हे 'स्वधापते!' अन्नपते! 'इन्द्र!' 'ते' तव 'मदः' मदकरः 'अस्ति' अस्तु॥ ५९॥

হে স্বধাপতে! ইন্দ্র! যে অতিশয় ধনবান্, অতিশয় যশস্বান্, অভিষুত, সোমরস তোমার পরিচারকদিগকে ধন ও যশ প্রদান করে, তাহা তোমার মদকর হউক॥ ৫৯॥

रयिष्ठम्।

५र र र ३ ५
यो रयिं वोरया हाउ। ता २३४ माः।
१र र २ १र
यो द्युम्नै द्युम्नवत्तमः। सोमः सुतः सआ
१ ७ १ र
२३ होइ। इता ३इ। अस्तिस्वधापता२३
१ २
हो ये ३। मदो३३४५ इ। डा॥ ५९॥

इति षष्ठी दशतिः।

सप्तमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

भरद्वाजऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भर। अरङ्गमाय जग्मये पश्चा दध्वने नरः
॥ ६०॥

हे अध्वर्यो! 'विश्वानि विदुषे' सर्वाणि वेद्यानि जानते 'अरङ्गमाय' पर्याप्तगमनाय 'जग्मये' यज्ञेषु गतिशीलाय 'अपश्चाद्ध्वने' अपराङ्मुखाय (अत्र पश्चा शब्दो पश्चादर्थकः दधिर्गत्यर्थः) 'नरः' नृ कर्मणां नेत्रे 'पिपीषते अस्मै' सोमं पातुमिच्छते एतस्मै इन्द्राय 'प्रतिभर' प्रतिहर प्रयच्छ सोममिति शेषः॥ ६०॥

হে অধ্বর্য্যো! এই দেব সমস্ত বেদ্য বস্তু বিদিত আছেন, ইঁহার গতি পর্য্যাপ্তই রহিয়াছে, ইনি যজ্ঞে গমন করিয়া থাকেন, ইনি পশ্চাদ্গামী নহেন ইনি নিয়ন্তা, অধুনা সোম পান করিতে ইচ্ছা করিয়াছেন; ইহাঁকে সোম প্রদান কর॥ ৬০॥

कौल्मल बर्हिषम्।

५ र र १ २ ३
प्रत्यस्मै पिपाहाउ। आइषा३ताइ।
१ २र १ २ २ २
वाइ श्वानि वाइ। दुषे ३ हा ३ इ। भा३
२ १ ऽर ० १ २ २ २
रा। आरा२गमा। याजा ३ हा ३। ग्मा
२ १ १ ३ र
३ याइ। अपा २३। श्चा २ दा २३४ औ
र १ २र ऽ १ ३ १ १ १ १
हो वा। ध्वने २ नरा २३४५ः॥ ६०॥

द्वितीया ऋक्।

वामदेवः शाकपूतो वा ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
आ नो वयोवयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठां
३ १ २ ३ २ ३ २७ ३ १ २
महान्तं पूर्विनेष्ठाम्। उग्रं वचो अपावधीः
॥ ६१॥

हे इन्द्र! 'नः' अस्माकम् 'वयोवयः प्रयम्' वयस: वयोऽन्तरे प्रयनं वारंवारजननं 'आ' आभिमुखेन आत्यन्तिकम् 'अपावधीः' अपजहि। कीदृशं तत्? 'गह्वरेष्ठाम्' गह्वरे गुहायां बुद्धौ चिरं वर्त्तमानम् अतएव 'महान्तम्' महत्प्रभूतम् अतियत्नेन शक्यसमुच्छेद्यत्वात्। किञ्च अस्माकम् उग्रं वच:' क्षुत्पिपासाभिभित्तेन भयङ्करं वचनं आ अपावधीः, तत्र 'पूर्विनेष्ठाम्' पूर्वमादौ संसारे प्रवर्त्तमानम् अतएव 'महान्तम्' महत्प्रभूतम्। एवञ्चास्मानस्तलं प्रापयेति प्रार्थना। अत्र सायणभाष्ये वयइति पृथक्पदं व्याख्यातं तत् पदग्रन्थविरोधादुपेक्षितम् ॥ ६१ ॥

হে ইন্দ্র! আমাদিগের ধী-গহ্বরে চিরপতিত, সুতরাং মহৎপ্রবল, বার বার জঠর-যাতনা এবং প্রথমে সংসারে প্রবর্ত্তমান, সুতরাং মহৎপ্রভূত, ক্ষুৎপিপাসাযুক্ত বাণী এককালে তিরোহিত কর॥৬১

शाकपूतम्।

५ १ २ १ ४ ५ १ १ २ ३ २
आनोवयोवय:शा ई याम्। महान्तं
२ ५ २ १ १ २
गह्वरा २३४ इष्ठाम्। महान्तं पूर्विना२३४
५ २ १ २ १ २ १ १
इष्ठाम्। उग्रं वा २३चा:। अपा३वा५ धा
६५६इ: ॥ ६१ ॥

तृतीया ऋक्।

प्रियमेध ऋषि: अनुष्टुप्छन्द: इन्द्रोदेवता।

२ २ २ २ २ २ १ २ २ १ २
आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्त्तया
२ १ २ २ २ २ १ २ २
मसि। तुविकूर्मिं ऋतीषह मिन्द्रं ग्ं शविष्ठ
१ २
सत्पतिम् ॥ ६२ ॥

हे 'शविष्ठ' बलवत्तम! 'त्वा' त्वाम् 'इन्द्रम्' इन्द्रनामानं देवम् 'ऊतये' रक्षणाय 'सुम्नाय' सुखाय च 'रथं यथा' रथमिव 'आवर्त्तयामसि' आवर्त्तयामः। कीदृशं त्वाम्? 'तुविकूर्मिम्' बहुकर्माणम् 'ऋतीषहम्' शत्रूणामभिभवितारम् 'सत्पतिम्' साधु-पालकम् ॥ ६२ ॥

হে অতিশয় বলবৎ দেব! বহুকর্ম্মা, শত্রুবলক্ষয়কারী, সাধু-পালক, ইন্দ্র নামক তোমাকে রক্ষণার্থ ও সুখার্থ রথের ন্যায় আবর্ত্তন করিতেছি॥৬২॥

कौल्मलबर्हिषम्।

५ १ २ २ ४ ५ १ २ २ २
आत्वा रथं यथो ह्वोवा। ताया इ सु
५ ५ २ २
२३४ म्ना। यवर्त्तयामसितुविकर्म्मीम्।
२ ५ १ २ १ २ ४ ५
आ२३४र्त्तीं। षहम्। आइन्द्रा ३ ग्ं शावी।
२ १ २ १
ष्ठसत्पा २३ तो ३४३ म्। ओ २३४५ इ।
डा ॥ ६२ ॥

चतुर्थी ऋक्।

प्रगाथ ऋषि: अनुष्टुप्छन्द: इन्द्रोदेवता।

१ २ २ १ २ ३ १ २ २ २
स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे।
२ २ २ १ २ २ २ २ २ १ २ २
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिया आन-
२
जे ॥ ६३ ॥

'यस्य द्वारा' यदिच्छया 'पिता' मनुष्याणामस्माकं पूर्वपुरुषः 'मनुः' एतदभिधेयः प्रजापतिः 'देवेषु' इन्द्रादिलयस्थि शस्तु 'धियः' अस्माकम् आस्तिकादि-बुद्धीः 'आनजे' प्रापयति, 'सः' 'पूर्व्यः' आद्य 'महोनाम्' यजमानानामस्माकं 'क्रतुभिः' यज्ञै र्निमित्तभूतैः 'वेनः' कान्तः 'आनजे' आगच्छति ॥ ६३ ॥

যাঁহার ইচ্ছায় মনুষ্য জাতির প্রথম পুরুষ সুতরাং আমাদিগের পরম পিতা মনু, ইন্দ্রাদি ত্রয়স্ত্রিংশৎ দেব বিষয়ে আমাদিগের আস্তিক্যাদি বুদ্ধি দিতেছেন; সেই সমস্ত জগতের আদি, মহাপুরুষ, যজমানগণের যজ্ঞানুষ্ঠান দ্বারা সন্তুষ্ট হইয়া সুমনোহর বেশে আগমন করিতেছেন ॥ ৬৩ ॥

मधुश्चुन्निधनम्।

५ र र र ५ २र
स पूर्व्वो महो ना ६ मे। वेनः क्रतू ३
१ र २ २ २ ऽ २
भाइ रानजे ३। हा ३ हा। औ ३ हो ३
२ १ – र ३र १ २
वा। आइहो २। यस्य द्वारा ३ मानुः पिता
२ २ ३ २ २ २ १
३। हा ३ हा। औ ३ हो ३ वा। आ
– १ र २ २ २
इही २। दाइ वेषु धा ३। हा ३ हाइ।
ऽ २ २ १ – १
औ ३ हो ३ वा। आ इही २। य आ२३।
१ २ ५र र २ १ २ ११
ना २ जा २३४ औहोवा। मधुश्चुता २३
११
४५ः ॥ ६३ ॥

पञ्चमी ऋक्।

श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः मरुतोदेवताः।

२ १२ ३ २३ १ २ २ २३२
यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा।
१२ ३२उ १२ ३ १२
पिबन्तो मदिरम्मधु तत्र श्रवांसि कृण्व-
ते ॥ ६४ ॥

हे इन्द्र! त्वदीयेषु 'रथेषु' 'भ्राजमानाः' दीप्यमानाः 'आशवः' वेगगामिनः मरुतः वेगगामिनःयज्ञानुरोधात् त्वाम् 'यदी' यदि यत्र गृहे 'आ वहन्ति', 'तत्र' 'मदिरं' मदकरं 'मधु' सोमलक्षणम् 'पिबन्तः' 'श्रवांसि' अन्नानि 'कृण्वते' कुर्वन्ति ॥ ६४ ॥

হে ইন্দ্র! ত্বদীয় রথে দীপ্যমান, বেগগামী, অশ্বগুলি তোমাকে যে গৃহে (যজ্ঞানুরোধে) বহন করিতেছে সেই গৃহে সোমরূপ মাদক মধু পান করত বহুতর অন্ন প্রদান করিতেছে ॥ ৬৪ ॥

औषसम्।

४ ५र ४ ५ र ४५ ४ ५ १
यदो वहंत्याशवः। य। द्दो यादो। ओ
२ – १ र र
इ वहंता आ१शावा २ः। ओइ भ्राजमा-
र २ – १ र
नार्थाइषू १ वा २। ओइ पिबन्तो
२ – १ र
मदिरम्मा१धू२। ओइ तत्र श्रवांसिको
२ १ ५ ४ ५
वा ३ ओ २३४ वा। ख्वा ५ तो ६ हाइ
॥ ६४ ॥

षष्ठी ऋक्।

शंयुर्ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
त्यमुवो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्।
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं विश्वा साहं नरंशचिष्ठं विश्ववेद-
सम् ॥ ६५ ॥

हे ऋत्विजः! 'वः' यूयम् 'अप्रहणम्' अप्रहर्त्तारम् भक्तानाम् 'शवसस्पतिम्' बलाधिपम् 'विश्वासाहम्' सर्व्वशत्रूणामभिभवितारम् 'शचिष्ठम्' यज्ञे स्थितम् 'विश्ववेदसम्' सर्व्वज्ञम् 'त्यम् उ' तमेव 'इन्द्रम्' 'गृणीषे' गृणीत स्तुत ॥ ६५ ॥

হে ঋত্বিক্‌গণ! তোমরা ভক্তানুগ্রাহক, বলাধিপতি, সকল শত্রুর পরাভবকারী, যজ্ঞে স্থিত, সর্ব্বজ্ঞ সেই ইন্দ্রকেই স্তব কর ॥ ৬৫ ॥

ভারদ্বাজম্ ।

৩ ৪ ৫র ৩ ২ ৩ ৫
ত্বমবোগ্ন । গ্রহা । ছা ২৩৪ ণাম্ ।
২ র ১র ২ ১ ২ ০ ৪
গৃণীষে শবসঃ । পতাইম্ । আ ইন্দ্রা ৩ বা
৫ ১ ২ ১ ২ ৫ ২ ২
ইম্বা । সহা৩ঙ্হোয়ে৩৪ । নারমো ৩ই ।
২ ১ ০ ৫ ১ ২ ১
শচিষ্ঠা ২৩৪ বী । শ্ববা ৩ হো ২৩৪ ।
৫ ৪ ৫
বা । ঢা ৫ সো ৬ হাই ॥ ৬৫ ॥

সপ্তমী ঋক্ ।

বামদেব ঋষিঃ অনুষ্টুপ্ছন্দঃ দধিক্রাবা দেবতা ।

৩ ১ ২ ৩ ১র ২র
দধিক্রাব্ণো অকারিষং জিষ্ণো রশ্বস্য
৩ ১ ২ ৩ ২ ৩ ১ ২ ৩ ২ ৩
বাজিনঃ । সুরভি নো মুখা করত্ প্রন
১ ২
আয়ুঙ্ষি তারিষত্ ॥ ৬৬ ॥

'বাজিনঃ' অন্নবন্তোযম্ 'জিষ্ণোঃ' জয়শীলস্য 'অশ্বস্য' অশ্বরূপস্য 'দধিক্রাব্ণঃ' দেবস্য 'অকারিষম্' অকারিষ্ম কুর্মহে স্তুতিমিতি শেষঃ । সঃ দেবঃ 'নঃ' অস্মাকম্ 'মুখা' মুখং 'সুরভি' 'করত্' করোতু কিঞ্চ 'নঃ' অস্মান্ 'আয়ূংষি' 'শতবর্ষাণি' 'প্র' প্রকর্ষেণ 'তারিষত্' তারযতু দুঃখহীন-পূর্ণজীবিনঃ করোত্বিত্যর্থঃ ॥ ৬৬ ॥

অন্নশালী, আমরা—সতত জয়শীল, অশ্বরূপী, দধিক্রাবা নামক দেবতার স্তুতি করিতেছি; তিনি আমাদিগের মুখ সুরভি করুন (অর্থাৎ আমাদিগকে সত্যনিষ্ঠ করুন) এবং আমাদিগকে উত্তম রূপে সমস্ত আয়ু তারণ করুন (অর্থাৎ নীরোগ শত বর্ষ জীবন প্রদান করুন) ॥ ৬৬ ॥

দাধিক্রাব্ণবম্ ।

৪ ৫ ৪র ৫র র
ঔহোই । দধিক্রাব্ণো অকারিষম্ ।
৪ ১ র র
ঔহোই । ঔহোই । জিষ্ণো রশ্বস্য বাজি
১ ২ ১ র ২ ১র ২
না ২৩ হো ই । সুরভিনো মুখাকা ২৩ রা
১ ১ র ১ ২
ত্ । প্রনা ২৩ হোই । আয়ূ ২৩ হো । ষি
১র ২ ১
তারা ২৩৩ । ষা ৩৪ ৩ ত্ । ঔ ২৩৪৫
ই । ডা ॥ ৬৬ ॥

অষ্টমী ঋক্ ।

জেতামাধুচ্ছন্দস ঋষি অনুষ্টুপ্ছন্দঃ ইন্দ্রো দেবতা ।

৩ ২ ৩ ১র ২র ৩ ১র ২র
পুরাং ভিন্দু র্যুবা কবি রমিতৌজা অ-
২ ৩ ১ ২ ৩ ১ ২ ৩ ২
জায়ত । ইন্দ্রো বিশ্বস্য কর্ম্মণো ধর্ত্তা
৩ ১ ২ ৩ ২
বজ্রী পুরুষ্টুতঃ ॥ ৬৭ ॥

'ইন্দ্রঃ' 'পুরাংভিন্দুঃ' শত্রুপুরীণাং ভেত্তা 'যুবা' অজরঃ 'কবিঃ' মেধাবী 'অমিতৌজাঃ' অপরিমিতবিক্রমশালী 'বিশ্বস্য' সর্ব্বস্য কর্ম্মণঃ অগ্নিষ্টোমাদেঃ 'ধর্ত্তা' পোষকঃ 'বজ্রী' বজ্রায়ুধঃ 'পুরুষ্টুতঃ' বহুভিঃ স্তুতঃ 'অজায়ত' অভবত্ সম্পন্ন ইতি যাবত্ । ৬৭ ॥

ইন্দ্র, শত্রুপুরীর ভেদক ও চিরযুবা, মেধাবী, অপরিমিত বিক্রমশালী, অগ্নিষ্টোমাদি সমস্ত কর্ম্মের পোষক, বজ্রধারী ও বহু-জন-কর্তৃক স্তুত হইয়াছেন ॥ ৬৭ ॥

মারুতম্ ।

৫র ৩ ২ ৩ ৪র ৫ ১ র র
পুরাং ভিন্দুর্যুবা কবিঃ । অমিতৌজা
২ ১র ২ ১ র
অজায়া ২৩ তা । আ ইন্দ্রো বিশ্বা ৩ ।
১ ২ ৩ ৫ ১ ২ ৩
স্যাকর্মা ২৩৪ণাঃ । ধর্ত্তা । বাজ্রী বা ঔ
৫ ৪ ৪
২৩৪ বা । পুরু ৫ ষ্টুতাঃ । হো ৫ ই । ডা
॥ ৬৭ ॥

अष्टमदशत्याम्

प्रथमा ऋक्।

प्रियमेधा ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २   ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र प्र व स्त्रिष्टुभमिषं वंदद्वीरायेन्दवे।
३ १ २ ३ १ २   ३ २३ १   २
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥६८

हे ऋत्विजः! 'वः' यूयम् 'वन्दद्वीराय' वीरवन्दकाय 'इन्दवे' ऐश्वर्यमते इन्द्राय 'त्रिष्टुभम् इषम्' स्तोभत्रयोपेतमन्नं सोमम् 'प्र' यच्छतेति शेषः। सः'वः' युष्मान् 'मेधसातये' मेधस्य यज्ञीयपशुबधस्य लाभाय सिद्धये 'पुरन्ध्या धिया' बह्व्या प्रजया 'आ विवासति' परिचरति' यथा मेधः सुसिद्धो भवेत् तथा धियं ददन् स तोषयतीति भावः। अत्रैकः प्रोद्विर्वचनेनलभ्यो बोध्यः॥ ६८॥

হে ঋত্বিকগণ! তোমরা বীর-বন্দক, ঐশ্বর্য্যমান্ ইন্দ্রকে তিনটি স্তোভ মন্ত্রদ্বারা শোধিত, সোমরূপ অন্ন প্রদান কর; তিনি যাহাতে তোমাদিগের যজ্ঞীয়-পশু-মেধে কোন ব্যাঘাৎ না হয় তাহা করিয়া তোমাদিগকে সন্তুষ্ট করিবেন॥ ৬৮॥

वामदेव्यम्।

५   र र र   ५
प्र प्रवस्त्रिष्टुमिषमोहा ओहा ई ए।
२ १ २   १ ७ —   ऽ २
वंदद्वीरा। य आइन्दवे २। ओं ३ हा।
ऽ २   २ १ र र र २ २
ओ ३ हा ३ ए। धि या वो मेधसा१ ता ३
२ ऽ २   ऽ २ २ १ ‿
याइ। ओ३हा। ओ३हा३ए। पुरा न्धो३
२   २ १   ४   ५
या ३। विवो २३४ वा। सा ५ तो ई हा
इ॥ ६८॥

द्वितीया ऋक्।

वामदेव ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १ २   ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
कश्यपस्य स्वर्विदो या वाङ्कः सयुजाविति। ययोर्विश्व मपि व्रतं यज्ञं धीरानि
१ २
चाय्य॥ ६९॥

'स्वर्विदः' स्वर्वेत्तारोजनाः 'कश्यपस्य' द्रष्टुः परमेशस्य 'यौ' 'सयुजौ इति' सहचरौ इति 'आङ्कः' 'धीरा' 'ययोः' 'विश्वम्' सर्वम् 'व्रतम्' 'यज्ञम्' 'अपि' 'निचाय्य' निश्चित्य मोदन्ते। हे ऋत्विजः! तौ स्तुतेति शेषः। तौच अहर्निशात्मकौ मित्रावरुणनामकौ देवौ, 'अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः'-इति ऐतरेयब्राह्मणम्; अहर्निशौ हि सहचरौ, तयोश्च सर्वनिर्वाहकत्वं प्रसिद्धम्। 'कश्यपः पश्यको भवति'-इति श्रुत्यन्तरम्॥ ६९॥

স্বর্গ-বেত্তা ধীমান্‌গণ কশ্যপের* অর্থাৎ দ্রষ্টৃস্বরূপ জগদীশ্বরের যে দুইপদার্থকে সহচর বলেন, এবং ধীরেরা যে দুই পদার্থেই সমস্ত কর্ম নির্ব্বাহ হইতেছে নিশ্চয় করিয়াছেন; হে মদীয় ঋত্বিকগণ! সেই মিত্রাবরুণ নামক অহর্নিশাত্মক দেবদ্বয়কে স্তবন কর॥ ৬৯॥

काश्यपम्।

५   ५ १ र २
कश्यपस्य सुवर्विदाईए। यावाङ्कः स।
१ २   ३ ५र ३ ४ ५
युजा वा १ इती २३४। ययोर्विश्वमपि।
३ २   १   २   २   १
व्रता३म्। यज्ञां धो ३ राः। निचा २३।
१ ३   ५र र   ३   ५
आ २ या २३४ औहोवा। ऊ २३४ पा॥
६९॥

तृतीया ऋक्।

प्रियमेध ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २   ३ १ २   ३ १
अर्च्चत प्रार्च्चता नरः प्रियमेधासो अ-

* কশ্যপ শব্দ, দৃশধাতু হইতে নিষ্পন্ন হইয়াছে।

२ १ २ २ २ २ २उ २ २ क २र
र्च्चत। अर्च्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद्धृष्ण्व-
र्च्चत ॥ ७० ॥

हे 'प्रियमेधासः' प्रियाः मेधाः येषां ते मदीया ऋत्विजः! 'नरः' नृरूपाः! यूयम् 'पुरम् इत्' शत्रूणाम् पुरमेव 'धृष्णु' धृष्णुम् धर्षणशीलं देवम् इन्द्रम् 'प्र' प्रकर्षेण 'अर्च्चत' पूजयत। 'पुत्रकाः उत' पुत्रा अपि 'अर्च्चन्तु'। अत्र अर्च्चतेति बहुकथनमातिशय्यार्थम् ॥ ७० ॥

হে প্রিয়মেধ * মনুষ্যগণ! তোমরা অর্চ্চনা কর, ভালরূপে অর্চ্চনা কর, পুত্রেরাও অর্চ্চনা করুন, শত্রু-পুর-ধর্ষক দেবের অর্চ্চনা কর ॥ ৭০ ॥

प्रैयमेधम्।

२ र ^ २ ५ २
अर्च्चत प्रार्चताना २३४ राः। प्रिय-
र ४ २ २ ५ २ १ ४
मेधा ३ सो३अर्च्चत। अर्च्चंतुपू २३त्रा ३
२र २ ५ १ २ ४
काउत। पुरमिद्धा २३। ष्णुवा३र्चा ५ता
ई५ई ॥ ७० ॥

चतुर्थी ऋक्।

मधुच्छन्दऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ १र २र २ २ २ १ २ २
उक्थ मिन्द्राय शंस्यं वर्द्धनं पुरुनि-
१ २ २ १र २र २ १ २ २ १ २
ष्षिधे। शक्रो यथा सुतेषु नो रारणत्
२ १ २
सख्येषु च ॥ ७१ ॥

'पुरुनिष्षिधे' पुरूणां बहूनां शत्रूणां निषेधकारिणे 'इन्द्राय' इन्द्रार्थम् 'वर्द्धनम्' वृद्धिसाधनम् 'उक्थम्' स्तुतिविशेषम् तेन प्रकारेण 'शंस्यम्' शंसनीयम् (अस्माभिरिति शेषः) 'यथा' येन प्रकारेण 'शक्रः' सः 'नः' अस्माकं 'सुतेसु' पुत्रेषु 'सख्येषु' सखित्वेषु 'च' 'रारणात्' अतिशयेन शब्दं कुर्यात्। अस्मदीयेन उक्थेन तुष्टः इन्द्रः अस्मत्पुत्रान् अस्मत्सख्यानिच बहुधा प्रशंसत्वित्याशयः ॥ ७१ ॥

শত্রুসমূহের নিষেধকারী ইন্দ্রের নিমিত্ত, বৃদ্ধিসাধন উক্‌থ নামক স্তোত্র সেই প্রকারে কথনীয়; যাহাতে ইন্দ্র আমাদের পুত্রের ও সখ্যতার বহু প্রশংসা করেন ॥ ৭১ ॥

बार्हदुक्थम् ॥

५ २ १ २
उक्थमिन्द्रा। यशंसा २३ याम्।
१ २ १ २ १ २
वार्द्धनंपु। रु निःषा२३ इधाइ। शक्रोया३
२ १ २ ^ २ ५ २र १ २
या३। सुतेषू २३४नाः। रारणा २३त्सा।
१ २ १
खि याइषू २३ चा ३४३। ओ२३४५ इ। डा
॥ ७१ ॥

पञ्चमी ऋक्।

प्रियमेधऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ १ २ २ २ २ १ २ २ १ २
विश्वानरस्य व स्पति मनानतस्य शव-
१ २ २ २ २ १ २ २ १ २
सः। एवैश्च चर्षणीना मूती हुवे रथानाम्
॥ ७२ ॥

हे मरुतः! 'वः' युष्माकं चर्षणीनाम्' सैनिकानाम् 'रथानांच' 'एवैः' गमनैः सह 'विश्वानरस्य अनानतस्य शवसः पतिम्' इन्द्रम् 'ऊती' ऊतये रक्षणाय 'हुवे' आह्वयामि। विश्वानरं विश्वेषां शत्रूणान्नेट, अनानतम् अनतम् उद्धतम्, शवो बलम् ॥ ७२ ॥

*যাঁহাদিগের মেধা প্রিয় তাঁহাদিগকে প্রিয়মেধ বলা যায়।

হে মরুদ্গণ! সমস্ত-শত্রুদমনসাধন অনমু বলের অধিপতি ইন্দ্রকে— তোমাদিগের সৈনিকগণের ও রথবৃন্দের সহিত আত্ম-রক্ষণার্থ আহ্বান করিতেছি ॥ ৭২ ॥

वैश्वानरम् ॥

५ र २ _ १ _ १ र
विश्वानरा। स्यवा२स्तातीरम्। आना
२ १ २ _ १ र २ र १ _
नत। सखावा१ सा२ः। एवैश्वा। चर्षणा२
१ _ १ २ १ २ १ ५
इनाम्। ऊ२ती। ह्वावाइर। या२३४नो
५
ई हाइ ॥ ७२ ॥

षष्ठीऋक्।
भरद्वाज ऋषिः अनुष्टुपछन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३
सखाय स्ते दिवोनरो धिया मर्त्तस्य
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २उ
शमतः। ऊती स बृहतोदिवो द्विषो अं
३ १ २
हो न तरति ॥ ७३ ॥

हे इन्द्र! 'यः' 'नरः' 'धिया' स्वकर्मणा 'शमतः' शान्तस्य निहन्तलक्षणस्य 'मर्त्तस्य' 'सखा' भवति, 'सः' 'दिवः' दीप्तस्य 'ते' तव 'ऊती' ऊत्या रक्षया 'बृहतः' 'दिवः' दीप्तान् अपि 'द्विषः' द्वेष्टॄन् 'अंहः न' आहननशीलं पापम् इव 'तरति' ॥ ७३ ॥

হে ইন্দ্র! যে মানব স্ব-চরিত্র-ফলে শান্তচিত্ত সাধুজনের সখা হয়, সে প্রদীপ্ত তোমার রক্ষা-প্রভাবে সুদীপ্ত, বৃহৎ, শত্রুকুলও হননশীল পাপের ন্যায় উত্তীর্ণ হয় ॥ ৭৩ ॥

शाकपूतम् ॥

२ १र २ २ १र २ २
सखायस्ताइइ। एदिवोनरा३ः। ए।
१र २ २ १ २ २ र
धियामर्त्ता३। ए। स्य शमता३ः। ए। ऊ
१ २ २ १र २ २ १र
ताइ सबृ३। ए। ह्वतोदिवा३ः। ए। द्विषो
२ २ २ १ २
अंहा३ः। ए। नातरति। इडा२३आ
१
३४३। ओ२३४५इ। डा ॥ ७३ ॥

सप्तमी ऋक्।
अत्रिऋषिः अनुष्टुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वीरातिः शत-
१ २ ३ १ २
क्रतो। अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र
मंहय ॥ ७४ ॥

हे 'इन्द्र!' 'ते' तव 'विभोः' प्रभूतस्य 'राधसः' धनस्य 'रातिः' दानं 'विभ्वी' महती। 'अथा' अथ अतः 'शतक्रतो' हे बहुकर्मन्! 'विश्वचर्षणे' सर्वस्य द्रष्टः! 'सुदत्र!' कल्याण-प्रद! 'नः' अस्मभ्यम् 'द्युम्नम्' यशोधनम् 'मंहय' प्रयच्छ ॥ ७४ ॥

হে ইন্দ্র! তোমার প্রচুর ধন, তাহার দানও প্রচুর; অতএব হে শতক্রতো! সর্ব্বদর্শিন্! কল্যাণ প্রদ! আমাদিগকে যশোধন প্রদান কর ॥ ৭৪ ॥

वारुणान्यम्।

५ र र ५ २ १र ३र
विभोष्ट इन्द्र राधाइसाः। विभ्वीरा२
१ २ र _ १ १ र२र
तिः शतक्रतो। शता२ क्रातो३। आथानो

र १ २ १
विश्वचर्षणे। म्वचा२र्षाणाइ। द्युम्न७
२ ^ २ २ ४
सुदवम७ हय। वमा३७ हा ५ या ई५ई
॥ ७४ ॥

अष्टमी ऋक् ।

प्रस्कण्वऋषिः अनुष्टुपछन्दः उषोदेवता ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
वयश्चि त्ते पतत्त्रिणे द्विपाच्चतुष्पाद
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३
र्ज्जुनि । उषः प्रार न्नृतू७रनु दिवो अन्तेभ्य
१ २
स्परि ॥ ७५ ॥

हे 'अर्जुनि !' शुभ्रवर्णे ! 'उषः !' देवते ! 'ते' तव 'ऋतून्' गमनानि 'अनु' लक्षीकृत्य त्वदुदयात् परस्मिन्नेव क्षणे 'पतत्रिणः' पतनशीलाः 'वयः' पक्षिणः 'दिवः अन्तेभ्यः परि' द्युलोकारम्भ-सीमा-पर्यन्तं 'प्रआरन्' प्राच्छन्ति प्रकृष्टं गच्छन्तीत्यर्थः । 'द्विपात्' मनुष्यादि 'चतुष्पात्' गवादिकं 'चित्' अपि प्राच्छतीति यावत् । निशावसाने त्वदुदयेन तमस्तिरोभूते सर्वएव प्राणिनः प्रकाशसाहाय्येन देशान्तरं गन्तुं समर्था भवन्तीत्याशयः ॥७५॥

হে শুভ্রবর্ণে উষোদেবতে! তোমার উদয়ানন্তরই পতনশীল পক্ষীরা অন্তরীক্ষের শেষ, দ্যুলোকের আরম্ভ সীমা পর্যন্ত গমন করিতে সক্ষম হয় এবং দ্বিপাদ্ মনুষ্যাদি, চতুষ্পাদ্ গোপ্রভৃতি প্রাণিরাও বিচরণক্ষম হইতেছে ॥ ৭৫ ॥

औषसम् ।

५ २ ४र ५ २ १र
वयस्था ३ इत्तेपतत्त्रिणाः । द्विपाच्चतु-
र २ ४ ५ ४ ५ २ र
ष्पादर्ज्जुये ३ । उषः प्रारान् । ऋतू७
१ २ र १ १ ४ २
रनू । दिवो आन्ते२३ । भा२३या३ः । पा
५
३४५रोईहाइ ॥ ७५ ॥

नवमी ऋक् ।

आप्यस्वित ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः विश्वेदेवा देवताः ।

३ १र २र३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अमी ये देवा स्थ न मध्य आरोचने
३ २ १ २ ३ २उ २ ३ २ ३
दिवः । कद्वऋतं क दमृतं का प्रत्ना व
१ २
आहुतिः ॥ ७६ ॥

'अमी' 'ये देवाः' 'दिवः' दीप्तस्य सूर्यस्य 'आरोचने' स्थाने 'मध्ये' अन्तरीक्षलोके 'स्थ' भवथ तेषां 'वः' युष्माकम् 'ऋतं' सत्यं 'कत्' क्व ? 'अनृतं' अनृतं मिथ्या 'कत्' क्व ? अपिच 'वः' युष्माकं 'प्रत्ना' पुराणी 'आहुतिः' 'का' ? । न-शब्दोऽत्रानर्थकः ॥ ७६ ॥

এই যে দেবতারা সূর্য্য-প্রকাশ্যস্থানে মধ্য প্রদেশে অর্থাৎ অন্তরীক্ষলোকে আছ, সেই তোমাদের সত্য কোথায়? মিথ্যাই বা কোথায়? প্রথমা আহুতি বা কি? ॥ ৭৬ ॥

दैवहवम् ।

५ र र र र ४ ५ १ र र र
अमीये देवास्थाना। मध्यआरोचने
२ १
दिवाः। कद्वऋताम्। कदमार्त्ता२म्।
२र र २ २र २ २
कामत्नाव आहू२३ती३४३ः। ओ२३४५
इ । डा॥ ७६॥

दशमी ऋक्।

वामदेवऋषिः अनुष्टुप्छन्दः ऋक्सामनीदेवते।

३ १ २ ३ २ ३ १ २
ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्म्माणि
३ १ २ १र २र ३२ ३ १ २
कृण्वते। वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु
वक्षतः ॥ ७७ ॥

'याभ्याम्' ऋक्सामाभ्यां 'कर्माणि' शस्त्रस्तोत्रादीनि 'कृण्वते' कुर्वन्ति ऋत्विज इतिशेषः, 'ते' ऋक्सामे 'सदसि' सदोमण्डपे इदानीम् 'विराजतः' यथा समयं 'देवेषु' इन्द्रादिषु 'यज्ञं' 'वक्षतः' प्रापयतः। अतः 'ऋचम्' अपिच 'साम' 'यजामहे' पूजयामः वयमिति शेषः ॥ ७७ ॥

আমরা ঋক্ও সামকে পূজন করি। ঋত্বিক্গণ যে সমস্ত ঋক্ও সাম দ্বারা শস্ত্রস্তোত্রাদি করিয়া থাকেন, তাহা অধুনা এই সদোমণ্ডপে বিরাজিত আছে, ইহারাই যথা সময়ে দেবগণ মধ্যে যজ্ঞ উপস্থিত করিবে ॥ ৭৭ ॥

आर्कसामम्।

५ २ ४ ३ ५ ४र ५ १ र
ऋच३ंसा३मायजामहाइ। याभ्यां
२र १ २ १
कर्मा। णिकाखा १ता२इ। ख्वाता २इ।
१ र २ १ २ १
वाइते सद। सिराजा १ता२ः। ज्ञाता२ः।
१ २ १ २ १ २
यज्ञां दा १इवे२। षुवक्षतः। इडा२३भा
१
३४३। ओ२३४५इ। डा ॥ ७७ ॥

इत्यष्टमी दशतिः।

नवम दशत्याम्।

प्रथमाऋक्।

रेभऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजू
२ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २
स्ततक्षु रिन्द्रं जजनुश्च राजसे। क्रत्वे वरे
३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
स्थेमन्यामुरि मुतोग्र मोजिष्ठं तरसं तर-
१ २
स्विनम् ॥ ७८ ॥

'विश्वाः' सर्वाः 'नरः' नेत्र्यः 'पृतनाः' सेनाः 'वरे स्थेमनि' उत्कृष्टे स्थैर्ययुक्ते रणभूमौ 'सजूः' परस्परं संगताः सत्यः 'राजसे' राजितुम् आत्मनो राजनार्थम् 'इन्द्रम्' 'जजनुः' प्रादुरभावयन् 'क्रत्वे' क्रतवे वृत्रवधादि-कर्मणे 'ततक्षुः च' अधिपतिरिति' परिजगृहुश्च। कीदृशमिन्द्रमित्याह- 'अभिभूतरम्' शत्रूणामभिभवितारम्,'आमुरिम्' शत्रूणाम् मारयितारम्, 'उग्रम्' उद्गूर्णवलम्, 'ओजिष्ठम्' ओजस्वितमम्, 'तरसम्' वृद्धम्, 'तरस्विनम्' वेगवन्तम् ॥ ७८ ॥

সমস্ত নেতৃ-সেনাগণ অর্থাৎ সেনাপতিরা উৎকৃষ্ট স্থৈর্য্যযুক্ত রণস্থলে একতাবদ্ধ হইয়া আপনাদের রাজ্যের নিমিত্ত—শত্রুদিগের অভিভবকারী ও মারয়িতা, উগ্র, অতিশয় বলবান্, বৃদ্ধ, বেগবান্ ইন্দ্রকে প্রাদুর্ভূত করিলেন এবং সর্ব্ব নায়করূপে গ্রহণ করিলেন ॥ ৭৮ ॥

त्रैशोकम् ॥

५ ४ १ २र १र २ ३ २
विश्वोहाइ। पृतना अभिभू। तरन्त-
१ २१र २ १ २ १ २ र
राः। सजू स्ततक्षुरा इन्द्रं जजनुः। चरा-
१ ५ २१र १ १र
जासे २३४ हाइ। क्रत्वौ होइ। वरौ-
र ३ ५ ४
होइ। स्थेमन्या२मू२३४रीम्। उतो-
२ १ ५ २ २
हाइ। उग्रमो२३४जी। ष्ठन्तारा२३४
५ २ ३२ ५
साम्। होइ। तरा ३४। स्विनम्। ओई
५ २४ २ ५
वा। ओ इडी २३४वा ॥ ७८ ॥

द्वितीया ऋक्।

सुवेदःशैलुषिऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २उ
अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवे ऽहन्य-
३ १ २ ३ २ ३२ ३ २उ ३ १ २ ३
द्दस्युन्नर्यं विवेरपः। उभे यत्त्वारोदसी
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धावता मनुभ्यसात्ते शुष्मात् पृथिवी चिद-
द्रिवः॥ ७९॥

हे 'अद्रिवः' वज्रवन्! 'प्रथमाय मन्यवे' पूर्व-क्रतु-सिद्ध्यर्थम् 'यत्' 'दस्युम्' 'अहन्'—यच्च 'अपः' उदकानि 'विवेः' इमं लोकं प्रत्यगमयः—तद्दिदं 'ते' तव 'नर्य्यम्' नर-हितं कर्म 'अद्दधामि'। अपरञ्च 'ते' तव 'शुष्मात्' बलात् 'पृथिवी चित्' अन्तरीक्ष मपि 'यत्' यदा 'भ्यसात्' भ्यसते बिभेति कम्पत-इतियावत् तदा 'उभे' 'रोदसी' द्यावापृथिव्यौ 'त्वा' त्वाम् 'अनुधावताम्' त्वदधीने भवत एव॥ ७९॥

হে বজ্রায়ুধ! পূর্ব্ব-যাগ-সিদ্ধার্থ তুমি দস্যুদিগকে বধ করিয়াছ এবং জল বর্ষণ করিয়াছ—আমি তোমার এই নরোপকার কার্য্যকে শ্রদ্ধা করি। যখন তোমার বীর্য্য-প্রভাবে অন্তরীক্ষও কম্পমান রহিয়াছে, তখন এই দ্যাবাপৃথিবী তোমারই অধীন আছে॥ ৭৯॥

शैखण्डिनम्॥

३ २ १ ३ २ १ ५
अत्ते३ होइ। दधा३हो२३४। मिप्र-
४र ५ ४ ५ ४ ५ ३ २ १
थमायम। न्यवाइन्यवाइ। अहा३न्हो
३ २ १ ५ ४र ५
इ। यहा३हो२३४। स्युन्नर्य्यं विवेः। अपा
४ ५ ३ २ १ ३ २ १ र ५
अपाः। उभे३होइ। यत्वा३हो२३४। रोद
र ४र५र ४ ५ ४ ५ ३ २ १
सीधावताम्। अनू अनू। भ्यसा३ह्रोइ।
३र २ १ र ५ ४र ५ ४ ५
तेशु३हो२३४। ष्मात्पृथिवी चिद। द्रिवो-
४ ५ ४ ५ ४ ५र र ५
द्रिवाः। द्रिव आ। औहोवाई। हाउवा।
३ १ १ १ १
ई२३४५॥ ७९॥

तृतीयाऋक।

वामदेवऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ
समेतविश्वा। ओजसा पतिं दिवो य
३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
एक इद्भूरतिथिर्ज्जनानाम्। सपूर्व्यो नूतन
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २
माजिगीषन्तं वर्त्तनीरनु वावृत एक इत्॥ ८०

हे 'विश्वाः' सर्वाः प्रजाः! 'ओजसा दिवः पतिम्' स्वबलेन द्युलोकस्य पालकम् इन्द्रम् 'समेत' सम्यक् प्राप्नुत। 'यः' 'एक इत्' एकएव 'जनानां' बहूनां यजमानानां 'अतिथिः' अतिथिस्थानीयः 'भूः' भवति, 'सः' 'एक इत्' एकएव 'पूर्व्यः' पुरातनोपि 'नूतनम् आजिगीषन्तम्' अद्यतनं स्वशत्रून् जेतुमिच्छन्तं यजमानम् 'वर्त्तनि' वर्त्मनि 'अनु वावृते' अनुवर्त्तयति॥ अत्रेन्द्रस्य देशकृतैक्यं कालकृतैक्यञ्च स्तुतिबीजम्॥ ८०॥

হে সমস্ত প্রজাগণ! যিনি স্ববলে দ্যুলোকের অধিপতি হইয়াছেন, সেই ইন্দ্রকে সম্যক্ প্রাপ্ত হও। যিনি একই শতশত যজমানের অতিথিস্বরূপ হএন; তিনি একই অথচ স্বয়ং পুরাতন হইয়াও নূতন শত্রুজয়েচ্ছু যজমানকে সৎ পথে লইয়াথাকেন॥ ৮০॥

ऐन्द्रप्रियम्।

४ ५ १ र र २
समाहाउ। आइत विश्वा ओजसा३।
१ २ १ ३र २
पतिमा३इ। दिवा२३४ः। हाहोइ। य
१ २ १ २ १ २
आइका ई२त्। भूरतिथिः। जना२३ना
३र २ १ ७ १र २ र
३४म्। हा होइ। सपूर्वियार्ः। नूतनमा।
१ २ ३र २ १ २
जिगा२३ इषा३४न्। हा होइ। तं वार्त्ता
१ २र र १ २ २
१नी२ः। अनुवावृते। आये३। कयाउवा३।
२
इषे१॥ ८०॥

चतुर्थी ऋक्।

सव्य आङ्गिरस ऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

२ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वा रभ्य
१ २ २ ३ १ ३ १ २ ३
चरामसि प्रभूवसो। नहि त्वदन्यो गिर्वणो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
गिरः सघत् क्षोणी रिव प्रति तद्धर्य्यं नो
१ २
वचः ॥ ८१॥

'हे 'प्रभूवसो' धनस्वामिन्! 'पुरुष्टुत' बहुभिः स्तुत! 'इन्द्र!' 'ये' 'वयम्' 'त्वा' 'आरभ्य' आश्रयत्वेनावलम्ब्य 'चरामसि' सञ्चरामः, 'ते' 'इमे' वयम् 'ते' तव स्वभूताः। हे 'गिर्वणः!' गीर्भिर्वननीय स्तवनीय! 'गिरः' स्तुतिलक्षणा वाचः अस्मत्कृता इमाः 'त्वदन्यः' कश्चन 'न सघत्' न प्राप्नोति, 'तत्' तस्मात् 'नः' अस्माकं 'प्रति वचः' प्रत्येकं वचनं 'हर्यम्' हरणीयं ग्राह्यं रम्यमितिवा; हर्यत्वे दृष्टान्तः 'क्षोणीरिव' यथा विविधरत्ननिलया इयं पृथ्वी सदा वीरहरणीया दृश्यते तथेत्यर्थः ॥ ८१॥

হে ধনস্বামিন্! বহুস্তুত! ইন্দ্র! যে আমরা তোমাকে অবলম্বন করিয়া বিচরণ করিতেছি, সেই এই আমরা তোমারই। হে স্তবনীয়! অস্মৎকৃত এই স্তুতিবাক্যগুলি ত্বদতিরিক্ত কেহই পাইতেছে না, সেই হেতু (যেরূপ এই বিবিধরত্নজননী পৃথিবী সততই বীর কর্তৃক হরণীয় রহিয়াছে, সেইরূপ) আমাদের প্রত্যেক বচনই তোমার হরণীয় হইয়াছে ॥ ৮১॥

वैश्वरूपम् ॥

५ र २ १र १
इमेत आ। इतेवयं पुरु२। ष्टता२।
१र र र १
ये त्वारभ्यचरामसि प्रभू२ वा सा २ उ।
१ र र १
नहित्वदन्यो गिर्वणो गिरा२ः साघा२त्।
र १र १ ३२
क्षोणीरिव प्रतितद्धर्यं नो२ वाचा२ः। वचा
३ ५ ४
ओ२३४वा। हो५इ। डा ॥ ८१॥

पञ्चमी ऋक्।

विश्वामित्र ऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

३ १२ ३१२ ३ २ २ ३
चर्षणीधृतं मघवान मुक्थ्या३ मिन्द्रं
१ २ ३ २ क२र ३ १ २ ३
गिरो बृहती रभ्यनूषत। वावृधानं पुरुहू-
१ २३ २ ३ १२ ३ १ २ ३१
तं सुवृक्तिभि रमर्त्त्यं जरमाणं दिवे
२
दिवे ॥ ८२॥

'बृहतीः गिरः' प्रभूताः अस्मदीयाः वाचः 'दिवे दिवे' प्रतिदिनम् 'सुवृक्तिभिः' सुन्दर-वर्त्तन-गुणेन 'इन्द्रम्' 'अभ्यनूषत' अभिनुवन्ति सम्यक् स्तुवन्ति। कीदृशं तम्? इत्याह 'चर्षणीधृतम्' चर्षणीनां मनुष्याणां धारकम्, 'मघवानम्' धनवन्तम्, 'उक्थ्यम्' अतिशयं वर्द्धमानम्, 'पुरुहूतम्' बहुभिराहूतम्, 'अमर्त्यम्' मरणधर्म-रहितम्, 'जरमाणम्' स्तूयमानम् ॥ ८२॥

সমস্ত মনুষ্যের পোষক, প্রচুর ধনশালী, উকথ মন্ত্রে স্তবনীয়, অতিশয়-বর্দ্ধনশীল, বহুজনকর্তৃক আহুত, মরণবর্জ্জিত, সততস্তূয়মান ইন্দ্রকে—আমাদের বহুতর বাক্য, প্রতিদিন ভালরূপে স্তব করিতেছে ॥ ৮২॥

वार्हदुक्थम् ॥

५ र २१र२ १
चर्षणी धृतं हाउ। मघवान मुक्था२३
२ १ र र२ १र २
याम्। इन्द्रङ्गिरो बृहतीरभ्यनूषा२३ता।
१ ७ १ ७ १ ३
वावृधाना२म्। पुरुहूता२३म्। सुवाक्ती
५ १ १ २१
२३४भीः। अमा२र्त्तियाम्। जरमाणा
१ ४ २ ५
२३म्। दा२३इवे३। दा३४५इवोई हाइ॥ ८२

षष्ठीऋक्।

कृष्ण आङ्गिरसऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अच्छाव इन्द्र म्मतयः स्वर्युवः सध्रीची
१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३
विश्वा उशती रनूषत। परिष्वंजन्त जनयो
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यथा पतिं मर्य्यन्न शुन्ध्युम् मघवान मूतये॥८३

हे मदीया ऋत्विजः! 'वः' युष्माकं 'स्वर्युवः' स्वर्गेण मिश्रयित्र्यः 'मतयः' धियः 'सध्रीचीः' सहचराः 'विश्वाः' समस्ताः 'उशती' अकल्याणीः वाचः विसृज्य 'इन्द्रम्' 'अच्छ' आभिमुख्येन 'अनूषत' नुवन्ति। किञ्च 'यथा' 'जनयः' जायाः 'पतिम्' भर्त्तारम् 'परिष्वजन्ते' प्रेम्ना आलिङ्गन्ति, तद्वत् 'ऊतये' रक्षणाय 'शुन्ध्युम्' शुद्धम्, दोषशून्यम् 'मघवानम्' इन्द्रम् 'मर्य्यं' मनुष्यमिव। मर्य्यमिवेतिदृष्टान्तेन स्वजातिप्रेमेवेत्युक्तम्, तच्च भयादिरहितमिति दृष्टान्तस्थलम्॥ ८३॥

হে মদীয়ঋত্বিক্‌গণ! তোমাদিগের স্বর্গ প্রাপক মতিসকল, স্ব সহচর অকল্যাণ বাক্য সমস্তকে ত্যাগ করিয়া ভালরূপে ইন্দ্রকে স্তুতি করিতেছে অপিচ যেরূপ জায়া অকৃত্রিম প্রণয়ে পতি আলিঙ্গন করে, দোষশূন্য মঘবাকে মনুষ্যসদৃশ জ্ঞানে ভয়াদিরহিত স্বজাতিপ্রেমে আত্মরক্ষণার্থ সেই রূপে আলিঙ্গন করিতেছে॥ ৮৩॥

त्रासदस्यवम्॥

५ र ५
अच्छाव इन्द्रम्मतयः सुवर्युवा ई ए।
२ १र र र १ १
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनू२षाता२। परि-
र १ १
ष्वजन्त जनयो यथा२पाती२म्। मर्य्यन्ना
२ १ २ १ २ २ ५र र
२३ः शू। ध्युम्म। घवा२। नमू३४औहो-
२ १ १ १ १ १
वा। तया ३ई२३४५॥ ८३॥

सप्तमी ऋक्।

सव्यऋषिः जगतीछन्दः इन्द्रोदेवता।

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अभित्यम्मेषं पुरुहूत मृग्मियमिन्द्रं
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
गीर्भि र्मदता वस्वो अर्णवं। यस्य द्यावो न
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
विचरन्ति मानुषं भूजे मंहिष्ठ मभि विप्र
मर्च्चत॥ ८४॥

हे मदीया ऋत्विजः! 'यस्य' 'मानुषम्' मानुषाणि मनुष्याणां हितानि कर्माणि 'द्यावः न' सूर्यस्य रश्मय इव 'विचरन्ति' 'त्यम्' तम् 'मेषम्' मेषरूपधारिणम् 'पुरुहूतम्' बह्वाहूतम् 'ऋग्मियम्' ऋग्भिर्मीयमानम् शब्द्यमानम् 'वस्वोः अर्णवम्' वसूनां धनानां समुद्रम् 'भुजे मंहिष्ठम्' भोगाय अति प्रवृद्धम् 'विप्रम्' मेधाविनम् 'इन्द्रम्' 'गीर्भिः' स्तुतिवाग्भिः 'अभि मदता' आभिमुख्येन हर्षं प्रापयत किञ्च 'अभिअर्च्चत' आभिमुख्येन पूजयत॥ ८४॥

হে মদীয় ঋত্বিক্‌গণ! যাঁহার মনুষ্যোপকার কর্ম সকল, সূর্য্যের রশ্মির ন্যায় বিচরণ করিতেছে সেই বহুত আহূত, ধনসমুদ্র, ভোগ-প্রবৃদ্ধ, মেধাবী, মেষ-রূপধারী ইন্দ্রকে স্তুতিবাক্য দ্বারা ভালরূপে হৃষ্ট কর এবং উত্তমপ্রকারে অর্চ্চনা কর॥ ৮৪॥

सौमम्।

५ २ ४र ५ ४ ५ २ १
अभित्या३म्मेषं पुरुहू। तमृग्मिया२म्।
र र ३
इन्द्रङ्गीर्भीइः। मदताव स्वा३ आर्णवम्।
२ २र २ र र
ओ३४। हाहोइ। यस्यद्यावोन विचरन्ती
१ ३ २ २र र र
३मानुषम्। ओ३४। हाहोइ। भुजेमं-
१ २ २
हिष्ठमभि विप्रमर्च्चत। इरा२। तिना३४
५ र ५
औ होवा। ऊ२३४पा॥ ८४॥

११८

(मू०) न धर्म्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये। अश्रद्दधानाधर्म्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः॥ ११॥

(टी०) 'न धर्म्मः अस्ति इति' 'मन्वानाः' मन्यमानाः। 'शुचीन्' शुद्धान् धर्म्मिष्ठान् 'ये' 'अवहसन्ति' उपहसन्ति। येऽपि 'धर्म्मस्य' अश्रद्दधानाः' अश्रद्धावन्तः। 'ते नश्यन्ति' न संशयः॥ ११॥

(ता०) धर्मो नास्तीत्येवं मनसि कदापि न कुर्यात्, अपिच धार्मिकान् नोपहसेत्। यदि कदापि धर्मे विश्वासाभावः समुत्पद्येत, तह्यात्मानं प्रकृति-भ्रष्टम् विपत्-सन्निहितञ्च विज्ञाय सावधानो भवेत्। यथास्मिन् जड़-राज्ये प्राकृतिको नियमोऽस्ति सुप्रतिष्ठितः, तथैव धर्म-राज्येऽस्ति धर्म-नियमः प्रतिष्ठितः, नात्र संशयः कश्चन। ईश्वरः खलु यथा प्रकृतेर्नियन्ता तथैवात्मनामपि, नास्त्यस्य क्वाप्यराजकत्वम्। पापी जनोऽवश्यं दण्डमाप्स्यति, सुकृतिश्च भविष्यत्यवश्यं पुरस्कृतः॥११॥

११९

(मू०) सुखं ह्यवमतः शेते सुखञ्च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ १२॥

(टी०) 'सुखं हि' यथा भवति तथा 'अवमतः' अवज्ञातः 'शेते' निद्राति। 'सुखं च' 'प्रतिबुध्यते' जागर्त्ति। 'सुखं चरति लोके अस्मिन्'। 'अवमन्ता' अवज्ञाता तु 'विनश्यति'। तस्मात्तन्न कार्य्यमित्यभिप्रायः॥ १२॥

(ता०) कमपि नावमानयेत्; यो हि अवज्ञातो भवति, वस्तुतो न तस्य कोऽप्यनिष्टो जायते; प्रत्युतयोऽवमाननां करोति, स एव अपराधीत्युच्यते॥ १२॥

१२०

(मू०) पापं कुर्वन् पापकीर्त्तिः पापमेवाश्नुते फलं। पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्त्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते॥ १३॥

(टी०) 'पापं कुर्व्वन्' 'पापकीर्त्तिः' सन् 'पापम् एव' 'फलं' 'अश्नुते' भुंक्ते। 'पुण्यं कुर्व्वन्' 'पुण्यकीर्त्तिः' सन् 'अत्यन्तं' 'पुण्यम्' 'अश्नुते'॥ १३॥

(ता०) पापकर्मणि आचरिते मनुष्याः सन्तोषविधुराः सन्तः पापकारिणामपकीर्त्तिं घोषयन्ति, सर्वसाक्षीश्वरश्च तान् दण्डयति; पुण्ये तु पुनराचरिते तएव मानवाः सन्तुष्टाः सन्त इह पवित्रकीर्त्तिं प्रचारयन्ति, ईश्वरोऽपि तान् पुरस्कुर्वन्ति; अतएवं मनसि मा कृथाः— यत्, पापं कुर्वन् पृथिव्यां सुखं भोक्तुं शक्ष्यसि! एवमपि मनसि मानीथाः—यत्, धर्ममार्गे विचरिते पृथिव्यां कष्टमात्र सुपभोग्यं भवेत्। ईश्वरो ननु अधर्मस्य प्रतिकूलो धर्मस्य चानुकूलः सदा, किञ्च स हि मानवजातिं निसर्गतः पापस्य विपक्षां पुण्यस्य च सपक्षां कृत्वाऽसृजत्। कस्मिन्नपि पापे न्याचरिते ईश्वरस्त्वमन्तरे तिष्ठन् दण्डयति, वहिस्तोमानवा अपि तं दुःखाकुर्व्वन्ति निश्चयम्। एवं कस्मिन्नपि पुण्ये आचरिते ईश्वरस्त्वमन्तरे तिष्ठन् पुरस्करोति, वहिस्तोमनुजा अपि तं तोषयन्ति। मनुष्याणां विचारदोषात् क्वचित् कदाचिदेतद्व्यतिक्रमोऽपि दृश्यते, परं न्याय-स्वरूपेश्वर-कारुण्य-प्रभावात् परस्मिन्नेव क्षणे पुण्यं कर्म द्विगुण-तेजसा दीप्यते, पापं च द्विगुण-घृणया सह पदतले दलितं भवति; कुज्झटिका ननु कियत्क्षणं दिवाकर-करं लुक्कायितं भवेत् समर्था? अतः पापं परित्यज्य पुण्यमनुष्ठाय च उभयस्मिन्नेव लोके दीप्येत सर्वदा॥ १३॥

१२१

(मू०) तस्मात् पापं न कुर्व्वीत पुरुषः

संशितव्रतः। पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ १४ ॥

(टी०) 'तस्मात्' 'पुरुषः' 'संशितव्रतः' कृतप्रतिज्ञः सन् 'पापं न कुर्व्वीत'। किञ्च 'पापं' 'पुनः पुनः' 'क्रियमाणं' सत् 'प्रज्ञां' बुद्धिं 'नाशयति'। बुद्धिनाशात् सचैव प्रणश्यति पापवान्। अतएवोज्झित्वा पापसम्बन्धं धर्म्माचरणेनैव श्रेयोऽर्थिभिः कार्य्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

(ता०) दृढप्रतिज्ञः सन् पापाचरणं विहन्यात्। प्रतिज्ञायाः दृढताभावे पापाज्जयावाप्ति दुर्लभा। पापस्य मोहिनी शक्तिः सहसा मानवं विमोहयति, पाप-त्यागस्य कठोरामपि प्रतिज्ञां शिथिलयति, किञ्च मनुज-हृदयं बलादाकर्षयति। पापानले हृदि प्रज्वलिते बुद्धि-विवेकादिकं समस्तमेव दह्यते। अतः ईश्वरं हृदि संस्थाप्य दृढव्रतो भवेत्, नान्यथा पाप-त्याग-प्रतिज्ञा कथमपि परिपूर्णा भवेत् ॥१४॥

इति।

पञ्चदशोऽध्यायः।

१२२

(मू०) निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते। अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणं ॥ १ ॥

(टी०) योहि 'प्रशस्तानि' स्तुतियोग्यानि शुभानि कर्म्माणि 'निषेवते' करोति 'निन्दितानि' पुनः 'न सेवते'। योऽपि 'अनास्तिकः' नास्तिक्यरहितः 'श्रद्दधानः' श्रद्धावान् तस्य 'एतत्' 'पण्डितलक्षणं' ॥ १ ॥

(ता०) यस्मिन् ज्ञाने शिक्षिते हृदयं प्रशस्तं भवति, सत्कर्मणि स्पृहा, असति च कर्मणि घृणा, धर्मे आस्था, ईश्वरे श्रद्धा भक्तिश्च उत्पद्यते तदेव ज्ञानमुपार्ज्य ज्ञानी भवेत् ॥१॥

१२३

(मू०) एको धर्म्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा। विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ २ ॥

(टी०) 'एकः' 'धर्म्मः' एव 'परं' 'श्रेयः' कल्याणसाधनं तथा 'एका' 'क्षमा' 'उत्तमा' 'शान्तिः'। 'एका' 'विद्या' 'परमा तृप्तिः' उत्तमतृप्तिहेतुः। 'एका' 'अहिंसा' 'सुखावहा' सुखमावहति ॥ २ ॥

(ता०) कल्याण-लाभस्योपायो धर्मादन्यः कश्चन नास्ति; अतो धर्म-परायणो भवेत्। क्षमां सहिष्णुतां चाभ्यस्य शान्तिं लभेत। विद्यायामनुरक्तो भवन् तृप्ति-सुखमुपभुञ्जीत। कस्यापि हिंसनमकृत्वा सुखी स्यात् ॥ २ ॥

१२४

(मू०) शुभाशुभफलं कर्म्म मनोवाग्देहसम्भवं। कर्म्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

(टी०) 'शुभाशुभफलं' सुखदुःखफलकं 'मनोवाग्देहसम्भवं' मनोवाग्देहसम्भूतं 'कर्म्म'। तथाहि 'नृणां' मनुष्याणां 'उत्तमाधममध्यमाः' 'गतयः' 'कर्म्मजाः' कर्म्मजन्याएव भवन्ति ॥ ३ ॥

(ता०) चिन्तादयो मानसिक-व्यापाराः, वाक्योच्चारणम्, शरीर-साधनकानि विविधकर्माणि-एभ्य एव लितयेभ्यः शुभमशुभं वा फलमुत्पद्यते। मनसा भवतु, वाक्येन भवतु, शरीरेण वा भवतु; यत् किञ्चित् कुरुते मनुष्यः, तदीयैकबिन्दुर्विफलो न भविता; एकापि चिन्ता न विफला भवति,

एकमपि वाक्योच्चारणं न विफलं भवति, एकमपि कर्म च न वैफल्येन भाव्यम्; सर्वस्मादेव शुभमशुभं वा किञ्चित् उत्पद्य आत्मनि प्रविशति, आत्मा तदनुसृत्य उत्तमाम् मध्यमामधमां वा गतिं प्राप्नोति। चिन्तया, वाक्येन, कर्मणा वा यावत् परिमितं पुण्यमाचरितं भवति, तावत्परिमितैव पवित्रता आत्मनि सञ्चिता भविष्यति; यावत्परिमितं पापमाचरितं भवति, तावत्परिमितमेव मालिन्यमुत्पत्स्यते। अतः कायमनोवाग्भिः शुभकर्मपरायण एव तिष्ठेत् ॥३॥

१२५

(मू०) परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनं। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म्म मानसं ॥ ४ ॥

(टी०) 'परद्रव्येषु अभिध्यानं' कथं परधनमन्यायेन गृह्णामीत्येवं सङ्कल्पनं। 'मनसा अनिष्टचिन्तनं' लोकानां। 'वितथाभिनिवेशः च' नास्ति परलोको नास्ति जगतोमूलमात्मा एवमसम्मननं 'च' समुच्चयार्थः। एतदुक्तं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं अशुभफलं 'मानसं' मनोभवं 'कर्म्म' ॥ ४ ॥

(ता०) यः कश्चन परद्रव्यमपहर्त्तुं कल्पते, परानिष्टं चिन्तयति, 'ईश्वरो नास्ति' परलोको नास्ति 'धर्मो नास्ति' इत्येवं मन्यते, स मानसिकं किल्बिषं करोति। मनसि पापस्य सङ्कल्पं आलोचनञ्च मानसिकं कुकर्मेति न परिगण्यते; यतस्तत् कार्यतोऽप्रकटितोऽपि आत्मानं कलुषितं करोति। यः पापस्य दण्ड-दाता, स बहिःकृतं कार्यमन्तःकृतञ्च भावं पश्यति ॥ ४ ॥

१२६

(मू०) पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यञ्चापि सर्व्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्व्विधं ॥ ५ ॥

(टी०) 'पारुष्यम्' अप्रियाभिधानम् 'अनृतम्' असत्यभाषणं 'च एव' 'पैशुन्यं च अपि' परोक्षे परदूषणकथनञ्चापि। 'असम्बद्धप्रलापः च' निष्प्रयोजनवाग्विन्यासश्च। 'सर्व्वशः' एतदेतत् सर्व्वं 'चतुर्व्विधं' 'वाङ्मयं' वाचिकं अशुभफलं कर्म्म 'स्यात्' ॥५॥

(ता०) मानसिक-दोषादपि विविधमनिष्टमुत्पद्यते, तच्च मनुष्यात्मन्यपि संक्रामितं भवति ॥५॥

१२७

(मू०) अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतं ॥ ६ ॥

(टी०) 'अदत्तानां उपादानं' अन्यायेन परस्वग्रहणं 'हिंसा च एव' 'अविधानतः' अविधिना। 'परदारोपसेवा च' परपत्नीगमनञ्च। इत्येवं 'त्रिविधं' 'शारीरं' शरीरभवं अशुभफलं कर्म्म 'स्मृतं' भूतं ॥ ६ ॥

(ता०) शारीरिक-कुकर्माणि सर्वतोऽधिकान्यनिष्टान्युत्पादयन्ति। मानसिकं कुकर्म तत्कर्त्तुरेव यन्त्रणा-वीजं भवति शारीरिकन्तु अन्यान्यस्यापि महापकारं जनयति ॥ ६ ॥

१२८

(मू०) त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्व्वभूतेषु मानवः। कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ७ ॥

(टी०) 'एतत्' 'त्रिदण्डं' पूर्व्वोक्तात्मनेतेषां शरीर-

वाङ्मनसां दमनत्रयं 'मानवः' 'सर्व्वभूतेषु' 'निक्षिप्य' कृत्वा आत्मनः 'कामक्रोधौ तु संयम्य'। 'ततः' तदनन्तरं 'सिद्धिं' मोक्षप्राप्तिलक्षणां 'नियच्छति' लभते ॥ ७ ॥

(ता०) मनसो दोषो नोत्पद्येतेति मनोदाम्येत्। यथा चिन्तया, कल्पनया, कामनया मनः-कालुष्य मुपजायते, तस्यामुदितायामेव ईश्वर-चिन्तनं साधु-सङ्गादिकञ्चोपायमवलम्ब्य यत्नेन तदुन्मूलनं कुर्यात्। वाक्य-दोषो नोत्पद्येतेति वाक्संयम मभ्यस्येत, हस्ताद्यङ्गेभ्योऽपि मानसिकम् साधुभाव मनुसत्तुं न दद्यात् ॥ ७ ॥

१२९

(मू०) कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते। नैवं कुर्य्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ ८ ॥

(टी०) पापस्य प्रायश्चित्तमाह। 'पापं हि' 'कृत्वा' अज्ञानवशात् मोहाद्वा पश्चात् 'सन्तप्य' तत्कारणेन हेतुना सन्तापं कृत्वा 'तस्मात् पापात् प्रमुच्यते'। 'न एवं' 'पुनः' अहं 'कुर्य्यां' करिष्यामि 'इति निवृत्त्या' 'तु' 'सः' 'पूयते' पूतो-भवति ॥ ८ ॥

(ता०) मनुष्यः पाप्मनि क्रमेण निमग्नो भवन् विनाशं न प्राप्नुयादिति करुणामयः परमेश्वरः पापेन साकं यन्त्रणां युयुजे। यथा शरीरे रोगे समुत्पन्ने शारीरिक-यन्त्रणा समुपतिष्ठते, तथैव आत्मनि पापे उत्पन्ने आत्मनः आनन्दः शान्तिश्च तिरोभवति किञ्च ग्लानिः शान्त्यभावश्च आत्मानं क्षतविक्षतं करोति-एष एव पापानुष्ठानस्य दण्डः। मनुष्य एवंविधमान्तरिकं दण्ड मुपभुज्य अनुशोचति, पापान्निवृत्तश्च पुण्यमार्गे गन्तु मुत्सुको भवति। पापकारी जनो यथात्मनो विकृतावस्थां जानीयात्, ईश्वरस्तथैव चैतन्यमुदेतुं दण्डमभियच्छति; दण्डाघातेन चैतन्ये समुदिते अनुशोचना उपतिष्ठते; तथाचानुतप्ते तस्मिन् दण्ड-दानस्योद्देश्यः सिद्ध इति पश्यन् परमेश्वरः तत्पूर्वापराधं क्षमते। तदा यदि मनुष्यः पुनः पापं नाचरेत्, सत्पथ मवलम्बेत् तर्हि पुनरपि आत्मनि पवित्रतां शान्तिञ्च वर्षेत्। अनुशोचनातः पापतश्च निवृत्त-भवनं पुण्यमार्गे गमनञ्चैतत् द्वयं प्रायश्चित्ताङ्गरूपम्। अनुशोचना ईश्वर-नियम मनुसृत्य समुपतिष्ठते; अपरमङ्गं मनुष्यस्य यत्न-सम्पाद्यं भवति। सदा स्वं परीक्षेत, पापान्निवृत्तश्च भवेत्; किञ्च पाप्मना आत्मनो यत् किञ्चनानिष्टं जातम्, तत् पुण्येन कर्मणा परिहरेत् ॥ ८ ॥

इति।

षोडशोऽध्यायः।

१३०

(मू०) अधार्म्मिकोनरोयोहि यस्य चाप्यनृतं धनं। हिंसारतश्च योनित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १ ॥

(टी०) 'यः हि' 'नरः' 'अधार्म्मिकः' अधर्मेण व्यवहरतीति 'यस्य च अपि' 'अनृतं' मिथ्याभिधानं 'धनं' धनोपायः। 'यः' 'च' 'नित्यं' 'हिंसारतः' परेषां। 'न' 'असौ' 'इह' लोके 'सुखं एधते' सुखं यथा भवति तथा वर्त्तते। तस्मादेतन्न कर्त्तव्यमिति निन्दया निषेधः कल्प्यते ॥ १ ॥

प्रत्न कम्र नन्दिनी

मासिकपत्रिका।

ब्रह्माण्डकारङ्करणाग्निप्रुङ्कारणयसिन्धुं समशक्तिमन्तम्। बोधाच्चिवेद्यम्मननेन मान्यं वन्देऽहमीशञ्जगदेकवन्धुम् ॥

सत्सटीकसाङ्गवेददर्शनादिकाशिनी साधुबोधवर्द्धिनी ह्यनेकशास्त्रशालिनी।
राजतादसौ सुचित्तचित्प्रफुल्लकारिणी प्रत्न कम्र नन्दिनी चिरन्धराविहारिणी ॥

THE HINDU COMMENTATOR.

३ भागः { प्रेरण-व्ययेन सह अग्रिमं वार्षिकम् १०/ } November, December 1870. { प्रेरण-व्ययेन सह प्रति-संख्यायाः १\ } ३९।४०सङ्ख्या

सूचि:—समालोचना ४पृ०—३३-३६। सामवेदः ३०पृ०—१९७-२२६। इहास्यास्तृतीयो भागः समाप्तः।

वैदिकसमालोचनम्।

(३८ संख्याया अनन्तरम्)

सप्तमं 'सांहितब्राह्मणम्'। पञ्चभि: खण्डै र्विभक्त मेतत्। इह संहिता-विषयकं किञ्चिद् वर्णन मस्ति। तद्‌यथा— 'सर्वा परोक्षा देवसंहिता भवति, सर्वा प्रत्यक्षाऽसुरसंहिता भवति, परोक्षा प्रत्यक्षा ऋषिसंहिता भवति' इत्यादि (१खण्डे)। अस्यार्थ: — 'या ऋक् परोक्षा प्रथमपुरुषयुक्तार्थ-त्वेन परोक्षार्थ-भाषिका 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्' (सा०छ०१-४)-इत्येवमादिका, सासर्वा देवसंहितेति ज्ञातव्या; या ऋक् प्रत्यक्षा मध्यमपुरुषयुक्तत्वेन प्रत्यक्षार्थ-भाषिका 'अग्नआयाहि वीतये' (सा० ६०१-१) - इत्येवमादिका, सा असुर संहितेति ज्ञातव्या; या ऋक् नाम-निर्देशादि-भङ्ग्या प्रत्यक्षार्थ-भाषिका प्रथमपुरुष-निर्देशादिना परोक्षार्थ-भाषिका च 'प्र वोमहे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्' (सा० छ०५-७२) इत्येव-मादिका सा सर्वा ऋषिसंहिता चेति ज्ञातव्या। एवमिह संहिता-विचार-मात्रं श्रूयते; अतएवास्य तथा नाम सम्पन्नम्।

বৈদিকসমালোচনম্।

(৩৮সংখ্যার পর)

৭ম, সাংহিতব্রাহ্মণ। ইহা পঞ্চ খণ্ডে বিভক্ত। ইহাতে সংহিতা-বিষয়ক কিঞ্চিৎবর্ণনা আছে। যথা- 'সর্ব্ব পরোক্ষা দেবসংহিতা ভবতি, সর্ব্ব প্রত্যক্ষাসুর সংহিতা ভবতি, পরোক্ষা প্রত্যক্ষা ঋষিসংহিতা ভবতি' ইত্যাদি (১মখণ্ডে) অর্থ—যে ঋক্‌গুলি প্রথম-পুরুষাদিযুক্ত হইয়া পরোক্ষার্থের বোধক হইবে, যথা—'অগ্নির্বৃত্রাণি জঙ্ঘনৎ' অগ্নি শত্রুবৃন্দকে নাশ করেন—এইসকলকে দেবসংহিতা বলা যায়; যে ঋক্‌গুলি মধ্যমপুরুষাদিযুক্ত হইয়া প্রত্যক্ষার্থ বোধক হয়, যথা—'অগ্নআয়াহিবীতয়ে' হে অগ্নে! তুমি হবিভক্ষণার্থ আগমন কর—এই সকলকে অসুর সংহিতা বলা যায়; যে ঋক্‌গুলি প্রথমপুরুষাদি-যুক্ত অথচ নামাদি নির্দ্দেশদ্বারা প্রত্যক্ষার্থ ভাষক যথা—'প্রবোমহে মতযোযন্তু বিষ্ণবে মরুত্বতে গিরি-জা এবয়ামরুৎ' — এবয়ামরুৎ নামক ঋষি বলিতে-ছেন—হে ঋত্বিক্‌গণ! তোমাদের বাক্য-নিষ্পন্ন স্তুতিসকল মহান্ মরুত্বান্, ইন্দ্রের নিকট উপস্থিত হউক' এই সকলকে ঋষিসংহিতা বলা যায়।

अध्यक्षः काश्यां श्रीसत्यव्रतसामश्रमी। कलिकातायां नूतन संस्कृतयन्त्रे श्रीहरिमोहनमुखोपाध्यायेन मुद्रितम् ॥

अष्टमं 'वंश ब्राह्मणम्'। त्रिभिः खण्डै र्विभक्त मेतत्। एतत् प्रथमखण्डारम्भे 'नमो ब्रह्मणे नमो ब्राह्मणेभ्यो नम आचार्य्येभ्यो नम ऋषिभ्यो नमो देवेभ्यो नमो वेदेभ्यो नमो वायवे च मृत्यवे च विष्णवे च नमो वैश्रवणाय चोपजाय च'—इति नमः-श्रुतिः; एवैष भगवता गोभिलाचार्य्येण तर्पण-मन्त्रत्वेन विधौ नीता, तथाहि— 'नमो ब्रह्मणे-इत्युपजायचेत्येवमन्तेन अग्निस्तृप्यत्विति च देवां स्तर्पयेयुः'-इति मध्याह्न-सन्ध्या-प्रकरण-गतं तत्सूत्रम्। तदनन्तरमिह सर्वदत्तादि-गोभिलान्तः सामगाचार्य-वंशः समाम्नातः। तत एवैतत् तथाख्यया प्रथितमस्ति।

৮ম, বংশব্রাহ্মণ। ইহা খণ্ডত্রয়ে বিভক্ত। ইহার প্রথমখণ্ডের আরম্ভে 'নমোব্রহ্মণ' ইত্যাদি 'উপজায়চ' ইত্যন্ত কতিপয় নমস্কার শ্রুত আছে, তাহাই গোভিলাচার্য্য কর্ত্তৃক তর্পণরূপে বিধিবদ্ধ হইয়াছে*। তদনন্তর এইগ্রন্থে সর্ব্বদত্ত প্রভৃতি গোভিলপর্য্যন্ত সামগাচার্য্য-বংশ আম্নাত রহিয়াছে; সেই জন্য ইহা 'বংশব্রাহ্মণ' নামে কথিত হইয়াথাকে॥

* 'নমোব্রহ্মণে ইত্যুপজায়চেত্যেব মন্তেন অগ্নিস্তৃপ্যত্বিতিচ দেবাংস্তর্পয়েয়ুঃ ইতি গোভিলীয' সন্ধ্যাসূত্রম্॥

सामवेदस्य मन्त्रभाग-ग्रन्थानां द्वादशानां ब्राह्मणभाग-ग्रन्थानाञ्चाष्टानां उपग्रन्थयोश्च द्वयोः समालोचनं संक्षेपेण यथाज्ञानं कृतम्, इदानीम् अङ्ग-ग्रन्थानां षण्णां, तदीयोपग्रन्थानाञ्च कतिपयानां, स्वराणां, तज्ज्ञापक-चिह्नानाञ्चालोचनं शिष्टम्; प्रक्रमोपसंहारश्च लेख्योऽस्ति यथाकालम्। एतर्हि एतत्पत्रिकायाः तृतीय-भाग-समाप्ति-कालः समुपागतः, अपिचास्य भागस्य सम्पादनावसरे यावन्ति ग्रन्थान्युपहार-लब्धानि तेषामेकस्यापीक्षण मद्याप्यत्र न प्रकाशितम्, ततोऽत्र शेष-संख्याद्वये तदेवावश्यं कार्य्यमिति तत्रैव संयते।

अथ तत्र विधवोद्वाहशङ्कासमाध्यादीनि संस्कृतग्रन्थानि, धर्मसमन्वयादीनि वङ्गभाषयोपनिबद्धानि च; तेषां कतिपयानां समालोचनं प्राप्तिस्वीकरणमात्रं वेह्वोपकृतचेतसा कर्त्तव्यम्; तत्रापि संस्कृतानां संस्कृतेनापराणामपरेणागिराक्षरेण चेति विवेक्तव्यम्।

समालोचनम्।

विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः। काशीस्थ-राजकीय-संस्कृत-पाठशालायां धर्मशास्त्राध्यापकेन श्रीमद्राजाराज-शास्त्रिणा वङ्गदेशीय-परमपण्डित श्रीमदीश्वरचन्द्र-विद्यासागर-व्यवस्थापित-विधवा-परिणयस्य खण्डनाय पुरा निर्मितः, पाठशालीय सांख्यशास्त्राध्यापकेन तदन्तेवासिना श्रीमद्-धीरवर बाल-शास्त्रि-निर्मित-दोषाभासनिरास-नामकेन तिलकेनाऽधुना समलङ्कृतः काश्यां मेडिकल्हाल्-यन्त्रालये संस्कृताक्षरै र्मुद्रितः। विधवोद्वाहशङ्का समाधि-खण्डनाय मुम्बई-नगर्य्यां केनचित् विद्वता विधवोद्वाहविवेकाख्यः कश्चन ग्रन्थो निरमायि, तत्खण्डनाय दोषाभासनिरासाख्य-तिलकोत्पादः, तस्य प्रचारायैवाद्यैषमुद्रण-प्रयासः। इह इहत्यानां द्विपञ्चाशतां विद्वतां सम्मतिश्चान्तेऽस्ति नामशः।

विधवाविवाहव्यवस्था। 'अञ्जमन् पञ्जाव'-नामकस्य लाहोरस्थ-सभा-विशेषस्यानुमत्या तत्रैव मित्रविलासाख्ये शिलायन्त्रे संस्कृताक्षरै र्मुद्रितः। इह विद्यासागर-कृत-ग्रन्थात् अन्यतोऽन्यतश्च प्रमाणवचनानि कानिचित् सङ्गृह्य हिन्दिभाषया विधवा-पाणि-पीड़णं व्यवस्थापितम्।

कुसुमाञ्जलिः। श्रीमदुदयनाचार्य-विरचितः पद्य-प्रबन्धः, श्रीहरिदास-भट्टाचार्यकृत-व्याख्या-सहितः, सप्तक्षीरा-निवासिनः प्रसिद्ध-भूम्यधिकारि श्रीयुत-प्राणनाथ-राय-चतुर्धुरीणो महोदयस्यानुमत्या संस्कृतयन्त्रे वङ्गाक्षरै र्मुद्रितः। तस्य हि महतः नैयायिकेभ्यो वितरणार्थ एवैषो यत्नः, स च विपश्चितां प्रशस्यः। अथ चतुर्धुरी महाशयोऽस्य गद्य-प्रबन्धोपि प्रकाशयतु सत्वरमित्यस्माक मनुरोधः, सहि सम्प्रति दुर्लभः, तत्प्रचारणेनासौ भविष्यति बहुधन्यास्पद इत्याशास्महे।

दुर्जनमतमर्द्दनम्। श्रीमन्महाराज-काशीपति-श्रीमदीश्वरीप्रसादनारायण-शर्म-वाहादुराणामाज्ञया राजकीय शिलायन्त्रे संस्कृताक्षरै मुद्रितम्। अत्र काशी-विजयायागत-दयानन्द-कृत-प्रतिमापूजन-खण्डन-प्रस्ताव:, तन्मतमर्द्दनाय अत्रत्यैर्विद्वद्भि: कृत: तात्कालिको विचारश्च स्थित:, विचारे साक्षिभूतानां त्रयस्त्रिंशत्पण्डितानां स्वाक्षरञ्चाङ्कितम्।

काव्यप्रकाश:। अत्र प्रथमं जयमङ्गल-कृतया भरतमल्लिक-कृतया च टीकया समेतं भट्टिकाव्यं कलिकातास्थ-संस्कृत-विद्यालयस्य पुस्तकाध्यक्षेण श्रीजगन्मोहन-तर्कालङ्कारेण यत्नत: परिशोध्य तत्रैव काव्यप्रकाश-यन्त्रे संस्कृताक्षरै: प्रकाशयितुमारब्धम्, तदेतदबाध-समापनं विपश्चितां शर्मदम्। अथ तेन हि तर्कालङ्कारेण सन्धि-विश्लेषादिना कारक-समास-चिह्नादिना च मन्दधियामपि विनोपदेशं सुख-प्रवेशतामापादयितुमिष्यते, परं तत् छात्राणां प्रकृतमहितकरं तदीय-श्रम-गौरवायैवेति त्याज्यमुत्तरत्र।

ब्राह्मधर्म्म:। कलिकातास्थादिब्राह्मसमाजानुज्ञयात्युत्कृष्टकागजै: रक्तनीलादिवर्णोपेतैर्वङ्गाक्षरैर्मुद्रित:। इह खण्डद्वयं वर्त्तते; तत्र प्रथमखण्डं संगृहीत-श्रुतिसमूहम् ज्ञानकाण्डात्मकम्, द्वितीयमाचारकाण्डं स्मृतिग्रन्थेभ्य आहृतम्, द्वयमेव यथायथ टीका समेतम्। तदेतस्यैतत्तृतीय-संस्करणम्; अत्र संस्करणे द्वितीयखण्डस्यापि तात्पर्यं वङ्गभाषया विस्तारितं; ग्रन्थारम्भे ब्राह्मधर्म्मवीजं सानुवादं, ब्राह्म-धर्म-ग्रहणप्रकारश्च सानुवाद:; प्रतिज्ञा-स्मरणार्थ-श्लोका:, प्रात स्मर्त्तव्यं, ब्रह्मोपासना-प्रकारश्च निवेशित:।

भ्रमविनाश:। वर्द्धमानादि-महामहीन्द्र-श्रीलश्रीयुक्त महाराज–महताबचन्द-वाहादुराणामाज्ञया श्रीयुक्तेनाघोरनाथ-तत्त्वनिधिना विद्वता नानाशास्त्रत: सङ्कलित:, अनुवादितश्च; वर्द्धमान-सत्यसन्धायिनि-सभातो वितरणार्थ: सत्यप्रकाश-यन्त्रे वङ्गाक्षरैर्मुद्रित:। अस्योद्बोधनश्लोकोयम्—

'येषां सत्यपि सात्विकीरतिमति: सत्ये परे ब्रह्मणि,
कर्त्तव्या तदुपासनेति धिषणा मग्ना च तर्कार्णवे।
वङ्गोत्तुङ्गधराधरेन्द्रशिखरात् श्रीवर्द्धमानेश्वरात्,
तेषां भ्रान्तितमोविमोचनरविर्ग्रन्थोयमुज्जृम्भते।'

अत्र प्रथमभागे ज्ञानिना एकमात्रस्य परब्रह्मण एवोपासना कर्त्तव्या, ज्ञानोपार्जने च यत्न: कर्त्तव्य:, अहं मूढ: ज्ञानी भवितुमसमर्थइति ब्रुवन् मूढोचितकार्य्यकरणं ज्ञानिकृतस्य ज्ञानी भवितुमुद्यतस्य च निन्दनमन्याय्यमित्यादिकं निरूपितम्; द्वितीये बहूनां देवानां विविधरूपेणोपासना तन्निन्दनञ्च कथमेतद्विरुद्धद्वयं शास्त्रेऽभिहितमिति विचारितम्। एतस्मिन् ग्रन्थेऽस्माकमनेकत्र सम्मति:, अस्मदभिप्रायेणैवायं निर्मितइव प्रतिभाति।

छन्दोमञ्जरी। श्रीगङ्गादास-पण्डित-विरचिता (प्राचीना) तथा वृत्तरत्नाकरम् श्रीकेदार-भट्ट-विरचितम् (प्राचीनम्) कलिकातास्थ-संस्कृतविद्यालयाध्यापक-श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिभट्टाचार्य कृत-विवृति-समेतम्, तेनैव संस्कृत्य तत्रैव वाल्मीकि यन्त्रे संस्कृताक्षरैर्मुद्रितम् (मूल्यम् दश आना:)।

शब्दस्तोममहानिधि:। अस्यादिखण्डं पूर्वं समालोचितं अपरखण्डचतुष्टयञ्च क्रमात् प्राप्तम्।

तारानाथसमाह्वयेन रचितो विप्रेण यत्नादयम्,
खण्डै: पञ्चभिरन्वित: शिवमुखद्वन्द्वात्ममूल्योदय:।
ये शास्त्रेऽकृतबुद्धयो निजधिया व्युत्पित्सवो मानवा:,
नानाकोषनिरीक्षणे श्रमभियस्तेभ्यस्तदीया क्रिया।

ধর্ম্মসমন্বয়। প্রথমভাগ। সাদীপুরনিবাসী শ্রীজয়গোপাল বসুর প্রণীত, ৮ পেজি ফরমার ১৬ফরমা (১২২পৃষ্ঠায়) সমাপিত, শ্রীবিজয়কেশব বসু কর্ত্তৃক প্রকাশিত। আর্য্যাদিসমস্ত ধর্ম্মের সমন্বয় করা এই গ্রন্থের প্রকৃত উদ্দেশ্য–অর্থাৎ সকল ধর্ম্মই সত্য, সকল ধর্ম্মাচারীরাই প্রকৃত-ধর্ম্মাচারী, অতএব কোন ধর্ম্ম-গ্রন্থেরই অবমাননা বা কোন প্রচারকের সহিৎ বিচার করা মূঢ়-কার্য্য; ইহাই গ্রন্থকর্ত্তার প্রকৃত অভিপ্রায়। ইহাই সিদ্ধ করণার্থ পুরাণাদির ও বাইবেল, কোরাণ প্রভৃতির কোন কোন ইতিহাসের

কোন কোন অংশ উদ্ধৃত করিয়া মিলাইয়া দেখাইয়াছেন; সেই সমস্ত সর্ব্বাংশে ঐক্য হইয়াছে কি না, তদ্বিষয়ে কিছুই বক্তব্য নাই, পরং আমাদিগের বিবেচনায় যাঁহারা বিবিধধর্ম্মের একতা প্রতিপাদনে বদ্ধকটি হন, তাঁহারা নিতান্ত দুরাশাগ্রস্ত, তাহাতে সন্দেহ নাই। ইহা একবার বিবেচনা করিয়া দেখা উচিৎ—যে, যখন এক ধর্ম্ম প্রচলিত থাকিতে অপর অভিনব ধর্ম্ম প্রচারে ধর্ম্মপ্রচারকেরা যত্নবান্ হইতেছেন, তখন পূর্ব্ব প্রচলিত ধর্ম্মে অবশ্যই তাঁহাদের দোষদৃষ্টি হইয়াছে। এবং যখন দার্শনিক গণের পরস্পর বিবাদ রহিয়াছে-ধর্ম্মযাজীদিগের পরস্পর বিরোধ চিরজাগ্রত দেখা যাইতেছে, তখন তাহা নিষ্কারণ বা ভ্রমমূলক বলা কিরূপ? যেরূপ কোন স্থলে পরস্পর বিবাদে প্রাণান্ত হইতেছে—কোন দর্শক তদ্দর্শনে পরস্পরের সখ্য নিরূপণ করিতেছেন। ফলে কর্ম্ম, অর্থাৎ আচরণ, তাহাই ধর্ম্ম ও অধর্ম্ম এই উভয় নামে বিভক্ত, একটি আচরণ-যাহা কোন ধর্ম্মগ্রন্থের মতে ধর্ম্ম— তাহাই অন্য ধর্ম্মগ্রন্থের মতে অধর্ম্ম—ঈদৃশাবস্থায় ধর্ম্মসমন্বয় কিরূপে হইতে পারে?।

অকালকুসুম। শ্রীযুক্ত কালীবর ভট্টাচার্য্য কর্ত্তৃক বিরচিত, বহরমপুরস্থ প্রসিদ্ধভূম্যধিকারী শ্রীযুক্ত রামদাস সেন মহাশয়ের যত্নে প্রকাশিত। ইহা অজমের রাজ-তয়না-ঘটিত উপাখ্যানে, শোকে সমাপিত হইয়াছে। ইহার পরিচ্ছেদারম্ভে এক এক খণ্ড সংস্কৃতশ্লোকাদি উদ্ধৃত রহিয়াছে, সে গুলি পাঠকগণের অবশ্য মনোহর হইবে। রচনাও একরূপ ভালই হইয়াছে, কিন্তু ইতিহাস অংশটি ইতিহাস-বেত্তাদিগের মনোনীত হয় নাই।

কবিরহস্য(১) ইহাতে 'বাগ্দেবীর কৃপা' প্রভৃতি ৩৮টি প্রবন্ধ রহিয়াছে, প্রবন্ধগুলি ছোট বড় উভয় প্রকারই আছে, গূঢ়ভাবের টীপ্পনীও মধ্যে মধ্যে নিম্ন ভাগে দেওয়া হইয়াছে।

রামায়ণ মহাকাব্য(২) প্রথম ভাগ, এই ভাগে আদিকাণ্ড সমাপ্ত হইয়াছে। ঢাকা নিবাসী শ্রীযুক্ত হরিশ্চন্দ্রমিত্র মহাশয় (যিনি জানকি বিজয় নাটক প্রভৃতি কতিপয় গ্রন্থের প্রণেতা) এই গ্রন্থদ্বয় তাঁহারই শ্রমোদাহরণ। উভয় গ্রন্থেরই রচনা সর্ব্বগুণান্বিত হইয়াছে; বিশেষত রামায়ণ খানি সমাপ্ত হইলে বঙ্গসমাজের এক খানি উৎকৃষ্ট সাহিত্য হইবে। মিত্র মহাশয় দীর্ঘায়ু হইলে ও দেশহিতৈষীগণের সাহায্য পাইলে বাঙ্গালা ভাষার প্রকৃত মিত্রতা সম্পাদন করিবেন তাহাতে সন্দেহ নাই! ইনি রুগ্নদেহে ঈদৃশ উৎকৃষ্ট রচনা করিতেছেন, নিরাময় হইলে এই হস্তের লেখনী কীদৃশ সুধাবর্ষণ করিবে, তাহা চিন্তাশীল গণের অবোধ্য নহে, কিন্তু মধ্যে মধ্যে যে মাইকেলী ভাষা ব্যবহার করিতেছেন তাহাকে আমরা বাঙ্গলা বলি না। যাহা হউক ইনি আশু আরোগ্য হউন ও পর্য্যাপ্তরূপে সাহায্য লাভ করুন, ইহাই আমাদের প্রার্থনীয়।

মিত্রপ্রকাশ। এখানি বাঙ্গলা সাহিত্যপ্রকাশক মাসিক পত্রিকা। ইহার সম্পাদক—উল্লিখিত কবিবর মিত্র মহাশয়; প্রকাশ স্থান—ঢাকা বাবুর বাজার গিরিশযন্ত্রালয়; আয়তন—৮ফর্ম্মা; মূল্য অগ্রিম বার্ষিক ৫ টাকা; উদ্দেশ্য—বঙ্গভাষার উন্নতিসাধন ও বঙ্গীয় কবিদিগের কীর্ত্তি-বর্ণন। ইহাতে গদ্য, পদ্য, গীত—এই তিন প্রকার প্রবন্ধই প্রকাশিত হইতেছে।

আমরা বৈশাখ মাস হইতে ক্রমে ইহার কয়েক খণ্ড প্রাপ্ত হইলাম। ইহার প্রতিখণ্ডের রচনা, অক্ষর, মুদ্রণাদি সমস্তই উৎকৃষ্ট হইতেছে। এই সাহিত্যবিষয়ক অনুপম পত্রিকা বঙ্গহিতৈষী ধীমদ্গণের অবশ্য জীবনীয়॥ এতদীয় শিরোনাম শ্লোক এই —

"মিত্রপ্রিয়ানন্দবিধানদক্ষো মিত্রাপ্রিয়োল্লাসনিরাসশূরঃ।
নানাগুণৈর্মিত্রগুণপ্রকাশৈর্মিত্রপ্রকাশোঽয়মুদেত্বুদারঃ॥"

কাশী চৌখাম্বানিবাসী সুপ্রসিদ্ধ ধনী শ্রীযুক্ত বাবু হরিশ্চন্দ্র গুপ্ত প্রকাশিত 'দূষণমালিকা' প্রভৃতি আরও কয়েক খানি পুস্তক প্রাপ্ত হইয়াছি এবং তাহা আদরে গৃহীতও হইয়াছে পরং স্থানাভাব প্রযুক্ত তৎ প্রত্যেকের সমালোচনে অকৃতকার্য্য হইলাম॥

२ १ २ २ १ २
क्रतो विचर्षणे। आ वीरं पृतना सहम् ॥ १५ ॥

हे 'शतक्रतो' बहुकर्म्मन्! 'विचर्षणे' विविधद्रष्टः! 'इन्द्र!' 'त्वम्' 'पृतनासहं' शत्रुसेनाः सोढुं समर्थं 'वीरम्' सैनिकम् 'ओजः' बलम् 'नृम्णं' साहसं च 'नः' अस्मान् 'आभर' आहर ॥ १५ ॥

হে বহুকর্ম্মন্, বিবিধদ্রষ্টঃ, ইন্দ্র! শত্রু-সেনা-বল-সহিষ্ণু একজনা বীর সেনাপতি ও বল ও সাহস আমাদিগকে প্রদান কর ॥ ১৫ ॥

आभरम् ॥

४ ५ ४ २ १र २ १ र
त्वन्न ई। द्र आभा ३ रा। ओजो
१ १ २ १ २ १
नृम्णम्। शतक्रता ३ उ। वीचर्षा २३४
५ १ र २ २ १ ^ २
णाइ। आवीरम्पा ३ हा ३। ता २ ना २
५र र २ ५
३४ औहोवा। सा २३४ हाम् ॥ १५ ॥

अष्टमीऋक्।

ऋष्यादिकम् पूर्ववत्।

३क २र २ १२ २ १२
अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम
२ १२ २ १ २ २ २ १ १ २ २ १ २
ईमहे ससृग्महे। उदेव ग्मन्त उदभिः॥१६

हे 'गिर्वणः' गीर्भिः स्तुतिवचनैर्वननीय! 'इन्द्र!' 'अधाहि' सम्प्रति 'उदभिः' उदकैः 'उत ग्मन्तः' उद्गागच्छन्तः 'इव' यथा केचित् समुद्रे पतिताः सन्तः उदकवेगैः इतस्ततो जलोपरि गच्छन्ति, तद्वत् कष्टपतिताः वयम् 'कामे' कामम् अभिलषितम् 'त्वा' त्वाम् 'ससृग्महे' संसृजामः स्मरण-व्यापारेण प्रत्यक्षीकुर्मः ततश्च 'उपईमहे' उपेयामहे त्वत्समीपं गच्छामः। अतोऽस्मानाश्रितान् त्वद्रक्षणीयानेवेति भावः ॥ १६ ॥

হে স্তবনীয়, ইন্দ্র! সম্প্রতি সমুদ্রে পতিত জলবেগে ঘূর্ণিত প্রায়, আমরা, অভিলষিত তোমাকে স্মরণ করত প্রত্যক্ষ করিতেছি এবং তোমার সমীপে গমন করিতেছি। এতাবতা আমরা তোমার আশ্রিত সুতরাং অবশ্য রক্ষণীয় ॥ ১৬ ॥

ऐषिरायाम् ॥

४ ५र ४ २ १ २ १ २र
अधाह्यिया। द्रगिर्वा २३ णाः। उपत्वा
र १र २ १ २
का। मईमा २३ हाइ। ससृग्मा २३ हाइ।
१ १ २ १ २
उदे २। वग्मा २३ न्ताः। उदा२३भाइः।
४ ४
इडा५भीः। हो५इ। डा ॥ १६ ॥

नवमीऋक्।

सौभरिर्ऋषिः ककुप्छन्दः इन्द्रो देवता।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सीदन्त स्ते वयो यथा गोश्रिते मधौ
३ २ ३ १ २ ३ १र २र
मदिरे विवक्षणे। अभि त्वा मिन्द्र नोनुमः ॥ १७ ॥

हे 'इन्द्र!' 'त्वा' त्वाम् 'अभिनोनुमः' आभिमुख्येन पुनः पुनः भृशं वा स्तुमः वयमितियावत्। कीदृशाः वयम्? 'गोश्रिते' गव्यमिश्रिते 'मदिरे' मदकरे 'विवक्षणे' स्वर्ग-प्रापण-शीले 'ते' त्वदीये 'मधौ' सोमे 'सीदन्तः' निवसन्तः। कीदृग्भावेन निवसन्तः? 'वयः यथा' पक्षिण इव सङ्घीभूयेति भावः ॥ १७ ॥

হে ইন্দ্র! গব্যমিশ্রিত, মদকর, স্বর্গ-প্রাপণ-

শীল, সোমরস, তোমার নিমিত্ত প্রস্তুত করিতে, পক্ষিগণের ন্যায় একত্র উপবিষ্ট আমরা তোমাকে বার বার স্তব করি ॥ ১৭ ॥

सौदन्तीयम् ॥

२ ५ र ४ ५र ५ २र
सा ३४इ। दन्तस्ते व। यो आइया। गो
१ २र १ २र १ २ ४ ५
आइतेम। सौमदिराइ। वा ३ इव च।
२ १११ २ १ र २ ४
खा २३४५इ। अभित्वा मा इन्द्रा ३ नो३।
२ २ ११११
नू ३४५। मा २३४५: ॥ १७ ॥

दशमीऋक् ॥
सौभरिर्ऋषिः विराड्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ २ २ १ २ २ २उ २ १
वय मु त्वा मपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भ-
२ २ १ २ १ २ २ १ २
रन्तो वस्यवः। वज्रि ञ्चित्रं हवामहे ॥१८

हे 'वज्रिन् !' 'अपूर्व्य' अभिनव ! इन्द्र ! 'अवस्यवः' अवोरक्षणमिच्छन्तः 'वयम्' 'चित्रम्' विविधगुणोपेतम् 'त्वाम् उ' त्वामेव हवामहे' आह्वयामः। अत्र दृष्टान्तः—'भरन्तः कत् चित् स्थूरं न' यथा धान्यादिभिः गृहादिकंभरन्तः पूरयन्तो जनाः कृतज्ञमानसाः सन्तः कञ्चित् गुणवन्तं स्थूरम् भारवाहम् अत्यादरेणाह्वयन्ति, तद्वदित्यर्थः ॥ १८ ॥

হে অভিনব, বজ্রধারিন্, ইন্দ্র ! যেরূপ ধান্যাদিদ্বারা গৃহ পূরণ করত, গুণবান্ কোন ভারবাহকে কৃতজ্ঞচিত্তে অত্যাদরে আহ্বান করে; সেইরূপ আত্ম-রক্ষা-কাম, আমরা, বিবিধগুণান্বিত তোমাকেই আহ্বান করিতেছি ॥ ১৮ ॥

पाकृथम् ॥

५ २ २र २ ४र ५ २र १
वयमूत्वा मपूर्विया। स्थूरन्नकच्चिद्भरन्त
७ ५ २ २
आव स्यावा २३४:। वजिन्। चित्रा ३ म्।
१ ४ २ ५ ५
ह्वा २३ वा ३। मा ३४५ हो ई हाइ ॥ १८

तृतीयदशत्याम्

प्रथमाऋक्।

गोतमऋषिः पङ्क्तिश्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ २ २ १ १ २ २ २ १ २
स्वादो रित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति
क २र १र २र २ १ २ २ २ २ १ २
गौर्यः। या इन्द्रेण सयावरी वृष्णा मद-
२ २ २ २ २ १ २ २ १ २
न्ति शोभथा वस्वी रनु स्वराज्यम् ॥१९॥

'याः' 'वस्वीः' वसुरूपाः 'गौर्यः' गौरवर्णाः गावः 'स्वराज्यम् अनु शोभथा' स्वकीय-राजत्वमनुलक्ष्य शोभन्ते किञ्च 'वृष्णा' काम-वर्षकेण 'इन्द्रेण' 'सयावरीः' सह गच्छन्त्यः सत्यः 'मदन्ति' हृष्टाः भवन्ति, ताः इमाः 'इत्था' इत्थमनेन प्रकारेण 'विषूवतः' विषुवन्तम् सर्व-याग-व्याप्तम्' 'स्वादोः' स्वादुम् 'मधोः' मधु मदकरं सोमम् पिबन्ति ॥ १९ ॥

যে সমস্ত গৌরবর্ণ গোধন, স্ব-রাজ্য শোভা পায় এবং কাম-বর্ষক ইন্দ্রের সহগামী হওত হৃষ্ট হয়; তাহারা এই প্রকারে সর্ব্ব-যাগ-ব্যাপী স্বাদু, মাদক, সোম, পান করিতেছে ॥ ১৯ ॥

द्वितीयाऋक्।

सौभरि ऋषिः ककुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३१ २ ३१र २र ३ २३
यो न इदमिदंपुरा प्र वस्यआनिनाय
१२ १२३ १ २ ३१ २
तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्र मूतये ॥१०॥

हे 'सखायः!' 'यः' 'पुरा' 'इदमिदम्' दृश्यमानतया विद्यमानं 'वस्यः' वसीयः प्रशस्तं वसु 'नः' अस्मान् 'प्र आनिनाय' प्रकर्षेणानीतवान्, 'वः' युष्माकम् 'ऊतये' रक्षणाय 'तम् उ' तमेव 'इन्द्रम्' 'स्तुषे' स्तौमि अहं सौभरिरिति यावत् ॥ १० ॥

হে বন্ধুগণ! যিনি ইতিপূর্ব্বে এইএই রূপে বিদ্যমান, প্রশস্ত, ধন আমাদিগকে দিয়াছেন; তোমাদের রক্ষার্থ সেই ইন্দ্রকে আমি (সৌভরি ঋষি) স্তব করি ॥ ১০ ॥

शाक्वरम् ॥

४र ५ २१
यानो हाउ। इदाम्। इदम्पुरा २३
२ १ २ १
हाउ। प्रवा। प्रवस्य आ२३हाइ। निना।
र २ १ र
निनायत मुवा२३हाउ। स्तुषाइ। सखाय
२ १र २ १
आ२३हाइ। इन्द्रभूता २३ या ३४३ इ। ओ
२३४५इ। डा ॥ १० ॥

तृतीयाऋक्।

सौभरिर्ऋषिः ककुप्छन्दः मरुतोदेवताः।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो मा
२ ३ १ २
प स्थात समन्यवः। दृढ़ा चिद् यमयिष्णवः
॥ ११॥

हे 'प्रस्थावानः' प्रस्थानस्वभावाः! 'आगन्ता' आगन्त आगच्छन्त, 'दृढाचित्' दृढान्यपि पर्वतादीन्यपि 'यमयिष्णवः' नियमयितारः 'समन्यवः' समानक्रोधाः यूयम् 'मारिषण्यत' माहिंसिषत अस्मानिति शेषः, अपिच 'मा अपस्थात' अस्मत्तोऽन्यत्र मातिष्ठत ॥ ११ ॥

হে প্রস্থানশীল মরুদ্গণ! তোমরা আগমন কর, অস্মদাদিকে ত্যাগ করিয়া অন্যত্র গমন করিও না; তোমরা সুদৃঢ় পর্ব্বতাদিরও নিয়ন্তা, সকলেই তুল্যানুতুল্য কোপযুক্ত, আমাদিগকে নষ্ট করিও না ॥ ১১ ॥

बृहत्कम् ॥

४र ५ ४ २र १ २ १ र
आगन्ता। मारिषण्या २३ ता। प्रास्था
२र र १र २र १ ७ १ २
वानो मापस्थात्। सामन्यावा २ः। दृढ़ाची
२ ४ ५ ४ ५
३द्या३। मयो वा। ण्वा५वोईहाइ ॥ ११ ॥

चतुर्थीऋक्।

सौभरिर्ऋषिः ककुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ २ २उ ३ १ २ ३ १२ ३१ २
आयाह्ययमिन्दवेश्वपते गोपतउर्वरा-
१ २
पते। सोमं सोमपते पिब ॥ १२ ॥

हे 'अश्वपते!' 'गोपते!' 'उर्वरापते!' उर्वरा सर्वसस्याढ्या भूमिः तस्याः स्वामिन्! इन्द्र! 'आयाहि'। 'अयम्' सोमः 'इन्दवे' दीप्तिमते तुभ्यम् अस्ति। हे 'सोमपते!' 'सोमम्' पिब' ॥ १२ ॥

হে অশ্ব-স্বামিন্! গোপতে! উর্ব্বরা ভূমির অধিপতে! ইন্দ্র! আগমন কর, এই সোম তোমার জন্য রহিয়াছে; হে সোমপতে! সোম পান কর ॥ ১২ ॥

सौयवसम्॥

४र ५र ४ २१ र २
आयाही। अयमिन्द्वे। श्वपा २३ ता
१ २ १ २ २र
इ। गोपतऽ। वीरा १ पाता २३४इ। सो-
२ १र १ ^ २ ५र र
मा३म्। सोमा २३। पा २ ता २३४ औहो
२ ५
वा। पी २३४ वा॥ १२॥

पञ्चमीऋक्।

ऋष्यादिकम् पूर्ववत्।

१ २ २ २ २ १र २र २ १ २
त्वया ह स्वि युजा वयं प्रति श्वसतं
२ १र २र २ १ २
वृषभ ब्रवीमहि। सं्स्थे जनस्य गोम-
तः॥ १३॥

हे 'वृषभ !' कामानां वर्षितः ! इन्द्र ! 'त्वया ह स्विद्' त्वयैव 'युजा' युक्ताः 'वयम्' 'गोमतः जनस्य' गवादियुक्तस्य धनिनः कस्यचित् शत्रोः 'संस्थे' स्थाने गता अपि, श्वसन्तम्' क्रोधातिशयेन श्वासकारिणम् मपि शत्रुम् 'प्रति ब्रुवीमहि' प्रतिब्रूमः निराकरिष्यामः॥ १३॥

হে অভিলাষবর্ষিতঃ! ইন্দ্র! আমরা কোন ধনী শত্রুর ভবনে উপস্থিত হইয়াও এক মাত্র তোমার সহায়ে—অতিক্রোধে সুদীর্ঘ শ্বাসকারী শত্রুকেও পরাজয় করিতেছি॥ ১৩॥

धैनवम्।

५ र १ र २ १ ७
त्वया हस्वित्। युजावयम्। प्राति
१ २ १ २
श्वासा २। तं वृषभ। ब्रूवी १ माहा२३४इ।

२ २ १ २ १ ५ २
सं्स्था ३इ। जानस्य गो २३४ वा। मा२
५
३४ताः॥ १३॥

षष्ठीऋक्।

सौभरिर्ऋषिः ककुप्छन्दः मरुतोदेवताः।

१ २ क २र २ २ २
गाव श्चि द्वा समन्यवः सजात्येन मरुतः
१ २ २ १ २ १ २ २ २
सबन्धवः। रिहते ककुभो मिथः॥ १४॥

हे 'समन्यवः' समानतेजस्काः ! 'मरुतः !' युष्मत्-प्रभावात् 'गावः चित्' गावोऽपि 'सजात्येन साजात्येन समानजातिनिवन्धनस्नेहेन 'सवन्धवः' सवन्धुकाः सत्यः 'ककुभः' प्राच्यादिदिग्भागान् प्राप्य 'मिथः' परस्परं 'रिहते' लिहन्ति॥ १४॥

হে সমানতেজস্বী! মরুদ্গণ! তোমাদের প্রভাবে গোজাতিও দিগ্‌বিদিক্ ভ্রমণ কালেও সাজাত্য স্নেহে সৌহৃদ্যসূত্রে বদ্ধহওত পরস্পর জিহ্বা দ্বারা অঙ্গ লেহন করিয়া থাকে॥ ১৪॥

सवेशीयम्।

५र र ५ २ र
गावश्चिद् घासा ई मन्यवाः। साजा-
१र १ २ १ र
त्येन मरुतः सबन्धवा २३ होइ। रिहते
२ २ १ २ ४ ५ ४
काकू ३ भो। मिथा। औ ३होवाहो५इ।
डा॥ १४॥

सप्तमीऋक्।

नृमेधर्ऋषिः ककुप्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ २ १ २ २ १ २ १ २
त्व न्न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं् शत-

यामम्॥

स्वादोरित्था विषु। वता३ः। मा२३४। षोः पिबन्ति गो। रियाः। याइन्द्रेण। स यावा२३री। इष्णामद। ति शोभा२३ था। व स्वाइरा१नू२। स्वाराजियम्। इडा २३भा३४३। ओ२३४५ इ। डा॥१९॥

द्वितीयाऋक्।

ऋष्यादिकम् पूर्व्ववत्।

इत्था हि सोम इन् मदो ब्रह्म चकार वर्द्धनम्। शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहि मर्च्चन्ननु स्वराज्यम्॥२०॥

हे 'शविष्ठ' अतिशयेन बलवन्! 'वज्रिन्' इन्द्र! 'हि' यतः 'सोमः' सोमयाजी 'मद्' स्तोता 'इत्था' अनेनप्रकारेण 'वर्द्धनं ब्रह्म' त्वदीय यशो वृद्धिकरं मन्त्रं 'चकार' अतस्त्वम् 'स्वराज्यम् अनु अर्च्चन्' स्वस्वामित्वं प्रकटयन् 'पृथिव्याः' अस्याः 'अहिम्' शत्रुम् 'ओजसा' बलेन 'निः शशाः' निःशेषेण शासनं कुरु॥२०॥

হে অতি বলবান্, বজ্রধারী, ইন্দ্র! যে হেতু সোমযাজী স্তোতারা, এই প্রকারে তোমার যশোবর্দ্ধন স্তুতি করিল, অতএব তুমি নিজ প্রভুত্ব প্রকাশ করত পৃথিবীর শত্রু দিগকে নিঃশেষে শাসন কর॥২০॥

गार्त्समदम्।

इत्याहि सो। मदन्मा२३दाः। ब्रह्म- चका। रवर्द्धा२३नाम्। शविष्ठव। ज्रिन्नो- जा२३सा। पृथिव्यानिःशशा अहिम्। अ- र्चीना१नू२। स्वरौहो२। जियमो२३४४इ। डा॥२०॥

तृतीया ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्व्ववत्।

इन्द्रो मदाय वा वृधे शवसे वृत्रहा- नृभिः। तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवा महे स वाजिषु प्र नो विषत्॥२१॥

यः 'वृत्रहा' शत्रुहन्ता 'इन्द्रः' 'मदाय' हर्षाय 'शवसे' बलाय च 'नृभिः' 'वावृधे' गुणावर्णनेन वर्द्धितोबभूव। 'महत्सु' 'आजिषु' संग्रामेषु 'अर्भे' अल्पेच संग्रामे 'तम् इत्' तमेव 'ऊतिम्' रक्षकम् 'हवामहे' आह्वयामः। 'सः' आहूतः इन्द्रः 'नः' अस्मान् 'वाजेषु' 'प्र अविषत्' प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु॥२१॥

যে বৃত্রহা ইন্দ্র হর্ষ এবং বলের নিমিত্ত মনুষ্যগণ কর্ত্তৃক বিবিধ গুণকীর্ত্তনদ্বারা বর্দ্ধিত হইতেছেন, মহাসংগ্রামে অথবা অল্প সংগ্রামে আমরা সেই রক্ষককেই আহ্বান করিতেছি; সেই আহুত ইন্দ্র রণক্ষেত্রে আমাদিগকে রক্ষা করুন॥২১॥

आभीकैद्वे।

इन्द्रो मदाय वा३। वाद्धाइ। शवसे वृत्रहा३। नृभीः। तमिन्महत्सुवा ३। जा-

५ २र र ४ ५ ४ ५
इष्। ऊतिलभैंइवा३। माहाइ। सावा।
१ २ १ ५ ४ ५
जाइषु प्रनो२३४ वा। वा५इषोईहाइ ॥२१

चतुर्थी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
इन्द्रतुभ्यमिदद्रिवो नुत्तं वज्रिन्वीर्यं।
२ ३ २ ३ १ २ २ ३उ२ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३
यद्धत्यम्मायिनं मृगं तव त्यन्मायया वधीरर्च्च-
१ २ ३ १ २
न्ननु स्वराज्यम्॥ २२॥

हे 'अद्रिवः' अद्रिवन् वाहनरूपमेघयुक्त! 'वज्रिन्!' 'इन्द्र!' 'तव' 'यत्तु' यद्धि 'वीर्यम्' 'अनुत्तम्' शत्रुभिरतिरस्कृतम्, 'त्यम्' तेन वीर्येण 'मायिनं मृगम्' मायावन्तं मृगरूपधारिणमसुरं 'मायया' मायां प्रकृत्य 'अवधीः' त्वमिति यावत्, 'त्यम्' प्रसिद्धं वीर्यम् तम् 'अर्च्चन्' पूजयन् 'स्वराज्यम्' 'अनु' अनुलक्ष्य स्वकीय-राजत्वं रक्षितुं 'तुभ्यम्' 'इत्' एव नमस्करोमि ॥ २२॥

হে বাহনরূপ মেঘযুক্ত, বজ্রধাধারী, ইন্দ্র! তোমার যে বীর্য্য শত্রুগণ কর্ত্তৃক কখন তিরস্কৃত হয় নাই, তুমি তাহা দ্বারা মায়াবী মৃগরূপধারী অসুরকে মায়া করিয়া বধ করিয়াছ, সেই প্রসিদ্ধ বীর্য্যকে পূজন করত স্বীয়-রাজত্ব লক্ষ্য করত অর্থাৎ তদ্রক্ষণার্থ তোমাকেই নমস্কার করি ॥ ২২ ॥

स्वाराज्यम्।

५ ५ १ २
इन्द्रतुभ्यमिदद्रिवा ई ए। आनुत्त
र १ २ १
वज्रिन्वीरियम्। यद्धात्या १म्मा२। याइनं
२ १ २ १ र२ र १
मृगम्। तवात्या१म्मा२। या यावधीः। अ-
२ १ र २ १ २
र्चाना १नू२। स्वाराजियम्। इडा २३ भा
१
३४३। उ२३४५इ। डा॥ २२॥

पञ्चमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ १ २ ३उ २ ३ २ ३ १ २
प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते।
१ २ ३उ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं
२र ३ १ ३ १ २ ३ १ २
जया अपोर्च्चन्ननु स्वराज्यम्॥ २३॥

हे 'इन्द्र!' 'प्रेहि' प्रागच्छ 'अभीहि' अभ्यागच्छ आगच्छैवेत्यर्थः, 'धृष्णुहि' धर्षय अभिभव शत्रूनिति यावत्। 'ते' तव 'वज्रः' 'न नियंसते' शत्रुभिर्न नियम्यते न निरुध्यते किन्तु 'ते' तव 'शवः' बलं 'नृम्णम्' नृणां नामकम् अभिभावकम् एव, 'हि' यतएवं ततः, 'स्वराज्यम् अनु अर्च्चन्' स्व-स्वामित्वं प्रकटयन् 'वृत्रम्' असुरं 'हनः' जहि 'अपः' तद्रुद्धान्युदकानि 'जयाः' जय; वृत्रं हत्वा तेनावृतमुदकं लभस्वेत्यर्थः ॥ २३॥

হে ইন্দ্র! আইস, আইস, শত্রুদিগকে পরাভব কর; তোমার বজ্র অপ্রতিহতগতিঃ এবং তোমার বল, শত্রুবিজয়োপযোগী; অতএব নিজ প্রভুত্ব প্রকাশ করত বৃত্রাসুরকে বধ কর ও তদাবৃত জল-সমূহ লাভকর ॥ ২৩ ॥

सवेशीयम्।

१ १र २
प्राइहीर। अभीहि धृष्णु हा औ ३
२ १ १ र २
हो। ना ता २ इ। वज्रो नियं सता औ

२ १ १ र
३हो। आ इन्द्रा२। नृम्णꣳहिते शवा
२ २ १ १ र
औ ३ हो। हाना २ः। इत्वं जया अपा
२ २ १ १ १र २
औ ३ हो। आर्चा २ नानू २। स्वाराजिय
१ २ १
म्। इडा २३ भा ३ ४ ३। ओ २३४५ इ।
डा॥ २३॥

षष्ठीऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२३१२ ३ १ २ ३१ २ ३१२
यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनं।
३ १ २३२३ २३उ२ ३ १ २र
युंच्वा मदच्युता हरीकꣳ हनः कं वसौ द-
३ १ २३ १२ १२
धोऽस्माꣳ इन्द्र वसौ दधः॥ २४॥

हे 'इन्द्र!' 'यत्' यदा 'आजयः' आजिः 'उदीरते' उपस्थितो भवति तदा 'धृष्णवे' शत्रुधर्षकाय जयिने 'धनं' 'धीयते' विधीयते अपिच त्वं 'कं' कतरं पक्षं 'हनः' हंसि, 'कं' कतरं पक्षं वसौ दधः' धने दधासि ; इदानीम् 'मदच्युता हरी' मदस्य च्यावयितारौ अश्वौ 'युंक्ष्व' स्वरथे योजय 'अस्मान् वसौ दधः' ॥ २४॥

হে ইন্দ্র! যখন সমর উপস্থিত হয়, তখন বিজয়ীজনের জন্যই ধন বিহিত হইয়া থাকে এবং তুমি কোন পক্ষ নষ্ট কর, কোন পক্ষকে ধনে ধারণ কর; গর্ব্ব দলনকারী অশ্বদ্বয়কে নিজরথে যুক্ত কর (আমাদের এসময়ে সংগ্রাম উপস্থিত) আমাদিগকে ধনে ধারণ কর অর্থাৎ আমাদিগের পক্ষে জয় প্রদান কর॥ ২৪॥

सवैशीयम्।

४ र र ४ २ १ ५र
यदुदीरा ५ त आजयाः। धृष्णावे २

र १ २ १र
धी। यतादू धा१ ना२म्। युंत्वा मद
२ ४ ५ २ १ २
च्युता ३। हा री। कꣳ हनः कंवसा३उ।
४ ५ २ १र २ १र
दाधाः। अस्माꣳ आ२३इन्द्रा। वसौ दा२
२ १
३ धा ३४३ः। ओ२३४५ इ। डा॥ २४॥

सप्तमीऋक्।

ऋष्यादिकम् पूर्ववत्।

२ ३ १ २ ३ १२ ३१ २
अक्षन्नमो मदन्तह्यव प्रिया अधूषत
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ उ२
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्टया मती
३क २र ३ १२
योजान्विन्द्र ते हरी॥ २५॥

हे इन्द्र! 'हि' यतः 'स्वभानवः' स्वयं दीप्ताः 'विप्राः' मेधाविनः 'प्रियाः' त्वदीयाः सखायः मरुतः 'अक्षन्' भुक्तवन्तः सोमलक्षणान्यन्नानीति यावत्, भुक्ता च 'अमीमदन्त' अतिशयेन मत्ताः आसन्, मत्ताश्च 'अधूषत' अकम्पयन् स्वाङ्गानि शत्रुकुलानि वेति शेषः किञ्च 'नविष्ठया' अतिशयेन नूतनया 'मती' मत्या अभिनवजातानुग्रहधिया 'अस्तोषत' अस्तुवन् सोमदातॄनिति शेषः' अतो ब्रूमः त्वमपि इदानीम् 'ते' तव 'हरी' अश्वौ 'नु' चिप्रं 'योज' योजय स्वरथे इति शेषः युक्त्वा च आगच्छेति भावः॥ २५॥

হে ইন্দ্র! স্বয়ংদীপ্ত মেধাবী ত্বদীয় বন্ধু মরুদ্গণ সোম ভক্ষণ করিয়া মত্ত হওত শত্রুকুল কম্পিত করিয়াছেন ও অভিনব জাত অনুগ্রহ বুদ্ধিতে সোমদাতৃগণের প্রশংসা করিয়াছেন; অতএব বলিতেছি, তুমিহ শীঘ্র নিজ-রথে অশ্বদ্বয় যোজনা করত আগমন কর॥ ২৫॥

गानम्।

२ ४ ३ ४र ५ ३ २ १
अत्यन्नमीमद। तहोइ। आ २३४।
५ ४र ५ र ४ ५ १ २र १ २र
वप्रिया अधू। षता। अस्तोषत स्वभानवः।
१र २ १ र २ र १र २
विप्राना २३ वी। छायामती। योजा नू३
२ १ ३ ५र र ३
वा ३ इ। न्द्रा २ ता २३४ औहोवा। हा
५
२३४ री॥ २५॥

अष्टमीऋक्।
ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ १ २ ३ ३ उ२ ३ १ २ ३ १ २
उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मा तथा
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३उ
इव। कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास
२ ३क २र ३ १ २
इद्योजान्विन्द्र ते हरी॥ २६॥

हे 'मघवन्!' 'इन्द्र!' 'गिरः' अस्मदीयाः स्तुतिलक्षणा वाचः 'मा तथा उप उ शृणुही' तेन प्रकारेणोपगम्य नैव श्रवणं कुरु,यथाच 'नः' अस्मान् 'सुनृतावतः' प्रिय-सत्यात्मिकवाग्युक्तान् 'कदा' 'करः' करोषि 'इत्' इति 'अर्थयासे' 'इत्' प्रार्थयसे एव अस्माभिस्त्वमिति यावत्। अतो ब्रूमः 'ते हरी योजनु' स्वरथे युक्ता च आगच्छेति भावः॥ २६॥

হে মঘবন্ ইন্দ্র! আমাদের স্তুতিবাক্য-গুলি সেই রূপে শ্রবণ করিও না, যেরূপে আমাদিগকে প্রিয়-সত্যাত্মক-বাক্য-বাদী কত দিনে করিবা বলিয়া প্রার্থনা করিতেই হয়; অতএব বলিতেছি, নিজ-রথে অশ্বদ্বয় শীঘ্র যোজনা করত আগমন কর॥ ২৬॥

गानम्।

२ ४र ३ ४ ३र ४ ५ २ ३
उपोषु श्रृणु ही गिरः। ए३। औ३
४ १ २ १र २
हो५ वाऽ। माघवन्मा। तथा आ१इवा
३ २ ३ २ १ र २ १
२३४। कदा ३४ नः सू। ना त्तावतः। का
२ १ २ ३र ३
र इद। याया१ सा इ २३४ त्। योजा३
३ २ १ ३ ५र र
४ नुवा ३ इ। द्रा २ ता २३४ औहोवा।
३ र
हा२३४ री॥ २६॥

नवमीऋक्।
त्रितऋषिः पंक्तिच्छन्दः विश्वेदेवा देवताः।

३ १ २ ३ २ १ २र ३ १ २
चन्द्रमा अप्स्वा३न्तरा सुपर्णो धावते
३ २ १ २ ३ १ २
दिवि नवो हिरण्यनेमयः पदं विदन्ति
३ १ २ ३ १ २
विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ २७॥

हे 'हिरण्यनेमयः!' हिरण्यवर्णाः नेमयः शरीरावयविभूताः त्वचः येषां ते 'अप्सु अन्तः' अन्तरिक्ष-मध्ये स्थितः 'सुपर्णः' सुपतनं सुगमनं तच्छीलः 'चन्द्रमाः' 'दिवि' द्युलोके युष्मदीय-वास-स्थाने 'आ धावते' ईषत् चलति; 'विद्युतः' सौदामिन्यस्तु 'वः' युष्माकं 'पदं' स्थानं द्युलोकं 'न विन्दन्ति' न लभन्ते; 'मे' मम 'अस्य' इदं स्तोत्रं 'रोदसी' द्यावापृथिव्यौ 'वित्तम्' जानीतम्॥ २७॥

হে হিরণ্যবর্ণ, দেবগণ! অন্তরীক্ষগামী চন্দ্রমা তোমাদের বাসস্থানে দ্যুলোকে কিছু-মাত্র যাইতে পারেন, কিন্তু বিদ্যুতেরা তোমাদের স্থান লাভ করিতে সমর্থ নহেন। আমার এই স্তোত্র দ্যাবা পৃথিবী অবগত হউন॥ ২৭॥

त्रैतम्।

२ १ र २ १ २
चन्द्रमा आउवा। प्सुवांता राउवा।
१र २ १र र
सुपर्णोधाउवा। वते दिवि। न वोहि
२ १ २ १
राउवा। रयना इमा याउवा। पदंवि
२ १ २
न्दाउवा। तिविद्युतः। वित्तम्मा आउवा।
१र २ १
। ए रोदा २३ सा ३४३ इ। औ २३४५
इ। डा॥ २७॥

द्वयमीऋक्।

अवस्युर्ऋषिः पंक्तिश्छन्दः अश्विनौ देवते।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रति प्रियतमꣳ रथं वृषणं वसुवाहनं।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
स्तोता वा मश्विना वृषिः स्तोमेभि र्भूषति
१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रतिमाध्वी ममश्रुतꣳ हवम्॥ २८॥

हे 'अश्विनौ' देवौ! 'ऋषिः' अवस्यु-नामकः 'स्तोता' भवन् 'वृषणां' कामानां वर्षितारं वसु-वाहनम्' वसूनां वाहकं 'वां' युवयोः प्रियतमं 'रथं' 'स्तोमेभिः' स्तोत्रविशेषैः 'प्रति भूषति' अलङ्करोति। हे 'माध्वी!' मधु-विद्या-वेदितारौ! 'मम' मदीयं श्रुतं' विश्रुतं 'हवम्' आह्वानम् 'प्रति' पालयेति शेषः॥ २८॥

হে অশ্বী, দেবযুগল! অবস্যুঋষি স্তোতা হইয়া কাম-বর্ষিতা, ধন-বাহক, তোমাদের প্রিয়তম রথকে স্তোম মন্ত্রদ্বারা ভূষিত করিতেছেন, হে মধু-বিদ্যা-বিৎ! তোমরা আমার বিশ্রুত আহ্বান প্রতিপালন কর॥ ২৮॥

तौग्रम्।

१ ५ ४ ५ ४ ५
प्रा २३४। ति प्रियतमम्। राथो म्।
१ २ १र २ १र २
वार्षणांव। सु वा हा २३ नाम्। स्तोता वा
२ १ २ ५ १र
३ मा ३। श्विना २ वा २३४ षीः। स्तोमा
२ २ १ २ ३ ५ १र
इ भी ३ भूः३। षा ति प्रौ २३४ तौ। माध्वा
२ २ १ ४ २
इमा ३ मा३। श्रू २३ता३म्। हा ३४५वो
५
ई हा इ॥२८॥

इति तृतीया दशतिः।

चतुर्थदशत्याम्

प्रथमा ऋक्।

वसुश्रुत ऋषिः पंक्तिश्छन्दः अग्निर्देवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
आते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरं।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषꣳ
३ २ ३ १ २
स्तोतृभ्य आभर॥२९॥

हे 'अग्ने!' 'द्युमन्तम्' दीप्तिमन्तम् 'अजरम्' निर्जरसं 'ते' त्वाम् वयं 'आ-इधीमहि' आभिमुख्येन दीपयामः 'यत् ह' यस्मात् खलु 'ते' तव 'पनीयसी' अतिशयेन स्तुत्या 'स्या' सा 'समिद्' दीप्तिः 'द्यवि' द्युलोके 'दीदयति' दीप्यते। हे 'देव!' 'स्तोतृभ्यः' अस्मभ्यम् 'इषम्' अन्नम् 'आभर' आहर॥ २९॥

হে অগ্নে! দীপ্তিমান্, নির্জ্জর, তোমাকেভালরূপে দীপন করি, যে কারণ তোমার অতি-

শয় স্তবনীয় সেই দীপ্তি দ্যুলোকে দীপ্ত রহিয়াছে; হে দেব! স্তোতৃগণকে অন্ন প্রদান কর ॥ ২৯ ॥

सञ्जयम्।

१ र ५ र ४ ५
आ २३४। ते अग्न इधी। मा हा
२ र १ २ ३ २
इ। द्युमन्तं देवा ३। ओ २३। जरमा।
१ २ २ १ ^ ३ ५
यद्धास्या ३ ता ३ इ। पानो २ मा २३४ सो
२ १ ऽर १ २ ३ २ १
। सनिहीर्दय। ता२३इ। द्यविया। इषाउ
२ २ १ ४ २
स्तो३तृ२। भ्या २३ आ ३। मा ३४५ रो ६
५
हाइ ॥ २९ ॥

द्वितीया ऋक्।

विमद ऋषिः पंक्तिच्छन्दः अग्निर्देवता।

१ २र ३ १ २
अग्निं न स्वदृक्तिभिर्होतारन्त्वा वृणीमहे
२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शीरं पावकशोचिषं विवोमदे यज्ञेषु
३ १ २ १ १२
स्तीर्णं बर्हिषं विवक्षसे ॥ ३० ॥

'यज्ञेषु' 'स्तीर्णबर्हिषम्' आसादितबर्हिष्कम् 'पावकशोचिषम्' शोधकदीप्तिम् 'शीरम्' ओषध्यादिषु सर्वत्र शायिनम् 'होतारम्' देवाना माह्वातारम् 'अग्निम्' 'त्वा' त्वाम् 'वः' युष्माकं 'विमदे' विविधमदार्थं 'स्वदृक्तिभिः' स्वयं कृताभिः दोषवर्जिताभिः स्तुतिभिः 'न' सम्प्रति 'आ वृणीमहे' सम्भजामहे। 'विवक्षसे' हे अग्ने! त्वं महान् असि ॥ ३० ॥

যাগমধ্যে আসাদিত-বর্হিঃ, শোধক-দীপ্তি, সর্ব্বত্র-শায়ী, দেবগণের আহ্বাতা, অগ্নি, তোমাকে তোমাদের হর্ষের নিমিত্ত স্ব-কৃত-স্তোত্রে সম্প্রতি বর্ণন করিতেছি; হে অগ্নে! তুমি মহান্ হইতেছ ॥ ৩০ ॥

उत्सेधम्।

२ ^ ५ १र
हाउ। औहो २३४ वा। अग्निन्न
२ ३ १ १ १ १ २ ^ ३
स्वदृक्ति भी २३४५:। हाउ। औहो २३४
५ १र २र र र ३ १ १ १ १ २
वा। होतारं त्वा वृणीमहे २३४५। हाउ।
^ ३ ५ २र १ २र १ २र
औहो २३४ वा। शीरं पावक शोचिषम्।
३ २^ ३ ५ २ ^ ३
विबो मा २३४ दाइ। हाउ औहो २३४
५ २ १ २ र १ २ ३ १ १ १ १
वा। यज्ञाइषु स्तीर्णबर्हिषा २३४५ म्।
२ ^ ३ ५ १ २ ३ १ १ २ १
हाउ। औहो २३४ वा। विवक्षसे २३४५
॥ ३० ॥

तृतीया ऋक्।

सत्यश्रवा ऋषिः पंक्तिच्छन्दः उषोदेवता

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १
महे नो अद्य बोधयो षो राये दिवि-
२ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्मती। यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि
३ १ २र ३ १ २
वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ ३१ ॥

हे 'उषः'! 'दिवित्मती' द्युतिमती त्वम् 'यथाचित्' येन प्रकारेण हि 'नः' अस्मान् 'अबोधयः' अतीतेषु दिनेषु बोधितवती तथैव 'अद्य' 'महे राये' महतो धनस्य लाभाय 'नः' अस्मान् 'बोधय' प्रकाशय। हे 'सुजाते' सुष्ठु प्रादुर्भूते! 'अश्वसूनृते' प्रियसत्यात्मिक-वाग्युते! 'वाय्ये' वयपुत्रे 'सत्यश्रवसि' एतन्नामके मयि अनुग्रहाणेति शेषः ॥ ३१

হে উষঃ! দীপ্তিমতী তুমি যেপ্রকারে পূর্ব্ব পূর্ব্ব দিনে আমাদিগকে প্রকাশ করিয়াছ, অদ্য সেইপ্রকারে প্রকাশ কর, তোমার উদয়ে আমরা যাগাদি-সাধন-পূর্ব্বক ধনলাভ করিতে পারি। হে সুপ্রাদুর্ভূতে! প্রিয়-সত্যাত্মিক-বাগ্‌যুতে! দেবতে! বয়-পুত্র, সত্যশ্রবা নামক আমাকে অনুগ্রহ কর ॥ ৩১ ॥

वाय्यम् ।

२ २ र ५र ४ ५र
महा३४इ । मृहे नो अद्य। बोधा ई
५ १ २र र र १ २ १ २
या। उषो राये । दिवित्मा२३ती । यथार्चो
२ १ २^ २ ५ १ २
३ न्वा ३ः । आबोधा २३४ याः । सत्या श्रा
२ १ ^ २ ५ १ २
३वा३ । सिवा२या २३४ या इ । सुजाता३
२ १ ४ २ ५
आ३ । श्वा२३सु३ । ना ३४५ त्तौ ईहा
इ ॥ ३१ ॥

चतुर्थी ऋक् ।

विमद ऋषिः पंक्तिश्छन्दः सोमोदेवता ।

२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
भद्रन्नो अपि वातयमनोदक्षमुतक्रतुः ।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ ३ ३ २ ३ २
अथा ते सख्ये अन्धसो विवो मदेरणागा
३ १ २र ३ १ २
वो न यवसे विवक्षसे ॥ ३२ ॥

हे 'सोम !' 'नः' अस्माकं 'मनः' 'भद्रं' 'वातय' गमय, 'दक्षम् अपि' दक्षं दक्षम् अन्तरात्मानमपि भद्रं गमय, 'उत क्रतुम्' अपिच क्रतुं कर्म भद्रं गमय । 'अथा' अनन्तरम् 'यवसे' घासे स्थिताः 'रणाः' प्रीतियुक्ताः 'गावः न' गावइव 'ते सख्ये' स्थिताः वयम् 'अन्धसः मदे' अन्न-सम्बन्धि-मोद-लाभाय 'विवः' विद्दणुम. विशेषं वर्णयामः त्वामित्यर्थः । 'विवक्षसे' त्वम् महानसि ॥ ३२ ॥

হে সোম! আমাদিগের মন এবং অন্তরাত্মা ও কর্ম্মকে কল্যাণ পথে প্রাপ্ত কর। তৃণাহারে প্রবৃত্ত, প্রীতিযুক্ত, গোবৃন্দের ন্যায়, তোমার সখ্যে স্থিত, আমরা—অন্ন-সম্বন্ধি-হর্ষ লাভার্থ তোমাকে বিশেষরূপে বর্ণন করিতেছি, তুমি মহান্ ॥ ৩২ ॥

पौषम् ।

२ १ ४ ५र १ २र १
भद्रन्नो २३ अपि वातया । मनो२इ ।
३ ३ ५ १ २र र १
क्षाम् । उतक्रा२३३ तूम् । आथा ते । सा ।
२र २ २ १ ^ ३ २^ २ ५ १
ख्ये अन्धसा२ः । विवो मा २३४ दाइ । र
ऽर १र ऽर १ २ १^ २
णा२गावा २ नय । वसाये ३ । वा२ इवा२३
५र र ३ ५
४ औहोवा । क्षा२३४ से ॥ ३२॥

पञ्चमी ऋक् ।

गोतम ऋषिः पंक्तिश्छन्दः इन्द्रोदेवता ।

१ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
क्रत्वा महाꣳ अनुष्वधम्भीम आवा
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
वृते शवः । श्रियऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री ह
२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
रिवान्दधे हस्तयोर्वज्रमायसं ॥ ३४ ॥

'क्रत्वा' कर्मणा 'महान् भीमः' शत्रूणां सर्वाधिक-भयङ्करः इन्द्रः 'अनुष्वधम्' स्वधा सोमलक्षणमन्न तत्र 'शवः' बलम् 'आवावृते' प्रावर्त्तयत् । 'ऋष्वः' दर्शनीयः 'शिप्री' नासिकावान् 'हरिवान्' अश्वाभ्यामुपेतः सः 'श्रिये' साधुज-

नानां सम्पदर्थम् 'उपाकयोः' समीपवर्त्तिनोः 'हस्तयोः' 'आयसम्' लौहमयं वज्रं 'नि दधे' धृतवान् ॥ ३३ ॥

যুদ্ধাদি-কর্ম্মদ্বারা শত্রুগণের পক্ষে সর্ব্বাধিক-ভয়ঙ্কর, ইন্দ্র, সোমরূপ অন্নে স্বীয়-পরাক্রম প্রবৃত্ত করাইলেন। আত্মীয়গণের পক্ষে সুদৃশ্য, নাসিকাবান্, অশ্বদ্বয়োপেত, তিনিই, সাধুগণের সম্পত্তির জন্য সমীপস্থ হস্তদ্বয়ে লৌহময় বজ্র ধারণ করিলেন ॥ ৩৩ ॥

पौषम्।

५ र र ५ २र
ऋत्वा महाँ३ अनुष्वधा ६ मे। भीम-
र र १ २ १ २
आवा वृ३ता इभा १ वा २। श्रिय ऋष्वा
१ २^ २ ५ २ र
३ः। उपा का २३४ योः। नि शिप्रीह
१ २ १ २ २ २
री३वान्दा१धा२इ। हस्ता यो ३ वी३। ज
१ ५ ४ ५
मो २३४ वा। या ५ सो ६ हाइ ॥ ३३ ॥

षष्ठी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ २
सघा तं वृषणँ३ रथमधितिष्ठाति गो-
१ २ १ २र ३ २ ३ १ २ ३
विदं। यः पात्रँ३ हारियोजनं पूर्णमिंद्रा-
१ २ ३ २ ३क २र ३ १ २
चिकेतति योजान्विद्र ते हरी ॥ ३४ ॥

'सः' 'घ' खलु 'इन्द्र' इन्द्रः 'वृषणं' कामानां वर्षितारं 'गोविदम्' गवां पृथिव्यादि-स्थानानां वेत्तारं 'रथम्' तम् 'अधितिष्ठति' अधितिष्ठतु, 'यः' रथः 'हारियोजनम्' एतन्नामकम् 'पूर्णम्' पात्रं 'चिकेतति' ज्ञापयति। हे 'इन्द्र!' 'ते हरी' 'नु' चिप्रं 'योजा' रथे योजय ॥ ३४ ॥

সেই ইন্দ্র—কাম-বর্ষিতা, পৃথিব্যাদি-স্থানবেত্তা, সেই রথে অধিরূঢ় হউন, যে রথ হারিয়োজন নামক সোম-পূর্ণ-পাত্র জ্ঞাপন করে। হে ইন্দ্র! নিজরথে অশ্বদ্বয় শীঘ্র যোজনা কর ॥ ৩৪ ॥

ऊषसम्।

३ ४र ३ ४ ५ ३ २ ३र ४र ५
सघातं वृषणम्। रथा ३४ औहो वा।
१ २र १ १
आधितिष्ठा। ति गो वा १ इ दा २ म्। यः
१र २ १ ७ ^ ३ ५ २र १
पात्रँ३ हा। री यो २ जा२३४नाम्। पूर्णं
२^ ३ ५ १र २ २
मिद्रा। चीके ता२३४ ती। यो जानू ३ वा३
१ ^ ३ ५र र ३ ५
इ। द्रा २ ता २३४ औहोवा। हा २३४ री
॥ ३४ ॥

सप्तमी ऋक्।

वसुश्रुत ऋषिः पंक्तिच्छन्दः अग्निर्देवता।

३ १ २र ३ २उ ३ २ ३ १ २र
अग्निं तं मन्ये यो वसु रस्तं यं यन्ति
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २र ३ १ २
धेनवः। अस्तमवन्त आशवोऽस्तं नित्या
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सो वाजिन इषँ३ स्तोतृभ्य आभर ॥ ३५ ॥

'तम् अग्निम् मन्ये'। 'यम्' 'अस्तम्' सर्वेषां गृहवदाश्रयभूतं 'धेनवः' 'यन्ति' प्रीणयितुं गच्छन्ति, किञ्च यम् 'अस्तम्' 'आशवः' वेगगामिनः 'अर्वन्तः' अश्वाः यन्ति, अपिच यम् 'अस्तम्' 'नित्यासः' चिरजीविनः 'वाजिनः' हविर्लक्षणान्नवन्तः यजमानाः यन्ति। स त्वमग्निः 'इषम्' अन्नम् 'स्तोतृभ्यः' अस्मभ्यम् 'आभर' आहर ॥ ३५ ॥

আমি সেই অগ্নিকে মানি ; যে সর্ব্বাশ্রয়কে প্রীত করণার্থ ধেনুগণ গমন করে, যে সর্ব্বাশ্রয়কে প্রীতকরণার্থ বেগগামী অশ্বগণ গমন করে, যে সর্ব্বাশ্রয়কে প্রীত করণার্থ চিরজীবি যজমানগণ গমন করে। অগ্নি স্তোতৃদিগকে অন্নপ্রদান করুন ॥ ৩৫ ॥

निषेधः साम।

५ २ ४५र ४र ५ २१
अग्निं ता३म्मन्ये यो वसुः। अस्तं यं
२ १२३ ५ २१ २ १
या३। तोधेना२३४ वाः। अस्तमर्वा३। ता
२ ५ २१ २ १र
आ२ घा २३४ वाः। अस्तन्नित्या३। सो
२ ५ १ २ २
वा२ जा २३४इनाः। इषाꣳ स्तो३तृ३४।
२र ५ १ ४ २
हा हो २३४ हा। भ्या २३ आ ३। भा ३४
५
५ रो ६ हाइ ॥ ३५ ॥

अष्टमी ऋक्।

अंहोमुग्वामदेव्यऋषिः उपरिष्टाद् बृहतीच्छन्दः विश्वेदेवादेवता।

उ२ ३ १ २३१ २र २१
न त मꣳहो न दुरितं देवासो अष्ट म
२ ३१२३ १२३२ ३१ २र ३
र्त्यं। सजोषसो य मर्यमा मित्रो नयति
१२३ २३ १२
वरुणो अति द्विषः ॥ ३६ ॥

'अर्यमा' 'मित्रः' 'वरुणः' एते 'सजोषसः' समानाः प्रीयमाणाः 'देवाः' स एषामन्यतरः 'यम्' 'मर्त्यं' साधुमानवं 'द्विषः' द्वेष्टॄन् शत्रून् 'अति नयति' बधाय प्रापयति, 'तम्' मर्त्यं 'अंहः' पाप 'न अष्ट' न प्राप्नोति 'दुरितं' पाप फलमपि 'न' अष्टेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

অর্য্যমা, মিত্র, বরুণ—ইঁহারা সম-সু-প্রীত দেবতা ; ইঁহাদের কেহ, যে মনুষ্যকে শত্রু-বধে নিযুক্ত করেন, তাহাকে পাপ স্পর্শ করে না, পাপ-ফলও স্পর্শ করে না ॥ ৩৬ ॥

गौराङ्गिरसम्।

४ ५र ४५ ४ ५४ ५
नतमꣳहो नदुरितम्। इय इया हाइ।
१ ३र र १२१ २१र २१
दाइ वा २ सो अष्टमर्त्तियमी। यइया २३
२ १र २र१ २१रर २१ २
हाइ। सजोषसो यमर्यमाइ। यइया २३हा
१ २ १ ३
इ। मा इत्रो नाया ३। तिवा२ रू२३४५
१२१३ ११११
णाई५६ः। अतिद्विषा २३४५ः ॥३६॥

इति चतुर्थदशतिः।

पञ्चमदशत्याम्

प्रथमा ऋक्।

ऋषयसदस्यु वहिताद्दशी द्विपदा पवमानोदेवता।

२३ १२ १२ ३१२
परि प्रधन्वेन्द्राय सोम स्वादु मित्राय
३१ २र
पूष्णे भगाय ॥३७॥

हे 'सोम!' 'स्वादुः' त्वम् 'इन्द्राय' 'मित्राय' 'पूष्णे' 'भगाय' एभ्यो देवेभ्यः 'परि प्रधन्व' पात्रेषु प्रचर ॥ ३७ ॥

হে সোম! তুমি স্বাদু বস্তু ; ইন্দ্র, মিত্র, পূষা এবং ভগ এই কতিপয় দেবতার নিমিত্ত পাত্রে ক্ষরণ হও ॥ ৩৭ ॥

इन्द्रस्य संक्रमम्।

४ ५ ४ ५ ४ १र र २
परिप्रधन्वा। इन्द्राय सोमा स्वा १ दू२
५ २ १र २र १र ५
३४:। हाइ। मित्राया। पूष्णे भा२३४ हा
१ ५ ५
इ। गा २३४योईहाइ॥ ३७॥

द्वितीया ऋक्।

त्रिपदा अनुष्टुप् पिपिलिकमध्याच्छन्दः
ऋषिर्देवते पूर्ववत्।

२ ३ १ २र ३ १ २ ३१ २ ३१ २
पर्यू षु प्रधन्व वाजसातये परि वृत्राणि
३१ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
सक्षणीः। द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे॥३८

हे 'सोम!' 'सु' सुष्ठु 'वाजसातये' अन्नलाभाय 'परिप्रधन्व उ' परिक्षरैव। 'सक्षणिः' सहनशीलस्त्वं 'नः' अस्माकं 'द्विषः वृत्राणि' द्वेष्टृशत्रून् 'तरध्यै' तर्त्तुं तारयितुं प्लावयितुं 'ऋणया' द्रुतगमनः सन् 'परि ईरसे' परिगच्छसि॥ ३८॥

হে সোম! আমাদিগের সুন্দর অন্ন লাভের নিমিত্ত পাত্রে ক্ষরিত হও। সহনশীল, তুমি আমাদের দ্বেষ্টৃ-শত্রুগণকে ভাসাইতে দ্রুতগামী হইয়া গমন কর॥ ৩৮॥

वाक्रम्।

२र र र १ २
पर्युषु प्रधन्वा वाजा ३ सा। ताया इ।
१ २ १ २र १
औ हो। पारी। औ हो। हत्राणि। सक्ष-
३ १ १
णिः। हा इष स्तारा२। धिया २ इ। अ
१र १ २
र्णाया २ः। ना२ः। ईरासा २३ इ। औ ये
२ १
३। रसा ३४३ इ। औ २३४५इ। डा॥३८

तृतीया ऋक्।

द्विपदा, ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

१ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २
पवस्व सोम महान् समुद्रः पिता देवानां
२ ३ १ २र
विश्वाभि धाम॥ ३९॥

हे 'सोम!' 'समुद्रः' समुद्ररूपः 'महान्' 'देवानाम्' 'पिता' पालयितृत्वेन पितृसमः त्वम् 'धाम' मदीयं यज्ञगृहम् 'अभि पवस्व' सर्वथा पुनीहि॥ ३९॥

হে সোম! সমুদ্র স্বরূপ, মহান্, দেবগণের শরীররক্ষণে পিতৃ তুল্য, তুমি এই ধাম সর্ব্বতঃ পবিত্র কর॥ ৩৯॥

धर्म।

४ ५ र ४ १ २र १ २ १र
पवस्व सोमा। माहान् समुद्राः। पिता
३र १र १ २ ५र
देऽवाना२३म्। वा २ इश्वा २३४ औहो
२ १र १ १ १ १
वा। भिधा मा २३४५॥३९॥

चतुर्थी ऋक्।

ऋष्यादिकं सर्वं पूर्ववत्।

१ २ ३ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २
पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो
३ १ २र
वाजी धनाय॥४०॥

हे 'सोम!' 'निक्तः' निर्णिक्तः अपगतमलः शोधितस्त्वम् 'अश्वः न' अश्व इव 'वाजी' वेगवान् सन् 'मंहे' महते 'दक्षाय' बलाय 'धनाय' च 'पवस्व' एतत् स्थानं पवित्रीकुरु स्वाविर्भावेनेति भावः ॥४०

হে সোম! শোধিত তুমি, আমাদিগকে বিপুল বল ও ঐশ্বর্য্য প্রদান করিবার জন্য অশ্বের ন্যায় বেগবান্ হইয়া স্বকীয় আগমন দ্বারা এ স্থান পবিত্র কর ॥ ৪০ ॥

विधर्म।

५र ५ २र २ १र
औ होा ई वा। आ होा ३ वा। औहोा
५ १ २ र १र २र १ २र
ई वा। पवस्व सोम। मंहे दक्षाय। अश्वा
१ २ १ ३र र ३र २ ५र
ननिक्तः। वा२जीधना२या २३४। औहोा
५ २र २ र १ ^ ३
ईवा। औ होा ३वा। औ होा २ वा २३४
५ ५ २ १ २ ३ १ १ १ १
औ होा ईवा। ए३। विधर्मा२३४५ ॥४०॥

पञ्चमी ऋक्।

ऋष्यादिकं सर्वं पूर्ववत्।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कवि-
२र
र्भगाय ॥४१॥

'अपाम् उपस्थे' अन्तरीक्षलोके 'चारुः' सुन्दरः कल्याणरूपः 'कविः' सुप्रज्ञः 'इन्दुः' सोमः चन्द्ररूपः 'भगाय मदाय' अस्माकम् भजनीय मदार्थं 'पविष्ट' पवते प्रतिक्षणं चलतीति ॥ ४१ ॥

অন্তরীক্ষ লোকে সুচারু সুপ্রজ্ঞ, সোমদেব (অর্থাৎ চন্দ্র) আমাদের ভজনীয় মদের হেতুভূত হইয়া অনুক্ষণ চলিতেছেন ॥৪১॥

भागम्।

४ ५ ४ १ २ र १
इन्दुः पविष्टा। चा२३रुः। मदाया।
२ र १ ५ १ ^ ३
अपा मुपा २३ स्था ३ इ। का२वा २३४
५र र २ १ ११ ११
औहोवा। भगा३या २३४५ ॥४१॥

षष्ठी ऋक्।

ऋष्यादिकं सर्वमस्या द्वितीयावत्।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
अनु हि त्वा सुतꣳ सोम मदामसि महे
२ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समर्यराज्ये वाजाꣳ अभि पवमान प्रगा-
हसे ॥ ४२ ॥

हे 'सोम!' 'सुतम्' अभिषुतं 'त्वा' त्वाम् 'अनु मदामसि' अनुमदामः अनुक्रमेण स्तुमः। 'हि' यतः हे 'पवमान' पूयमान! त्वम् 'महे समर्यराज्ये' महति मनुष्यलोकेऽस्मिन् 'वाजान्' अन्नानि 'अभि' लक्ष्य अस्मभ्यमन्नं प्रदातुं 'प्रगाहसे' प्रकर्षेण विलोडयसि शत्रुबलानीति यावत् ॥ ४२ ॥

হে পবিত্রাত্মন্ সোম! যেহেতু তুমি এই বিস্তৃত মনুষ্য রাজ্যে আমাদিগকে অন্ন প্রদান করিবার জন্য শত্রুবল বিলোড়ন করিতেছ; অতএব অভিষুত, তোমাকে আমরা অনুক্রমে স্তব করি ॥ ৪২ ॥

वाजिनां साम।

४ ५ ४ १ २र १ २र १ २र
अनु। अनू। हाइ त्वा सुतꣳ सोममदा
३ र २ १ २ २ २
मसि। मदा मसाये३। महा ३४५इ। सा

५ २ १र २र १र २र १ २र८
३४ मा। यँ रा ज्ये। वाजाऽ३ अभिपवमा
२ २र १ २र १ २ ४
न। पवमाना। प्रागाह सा। औ३ हो
५ ४
वा। हो ५ इ। डा ॥४२॥

सप्तमी ऋक्।

वसिष्ठ ऋषिः द्विपदा मरुतो देवताः।

२ ३क२र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
कईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या
२ ३ १ २
अथा स्वश्वाः ॥४३॥

वसिष्ठो रुद्रसहचरानुपलक्ष्य साश्चर्यमाह— 'व्यक्ताः' कान्तियुक्ताः 'सनीडाः' समानस्थानाः 'नरः' नेतारः 'मर्याः' मर्येभ्यो मनुष्येभ्यो हिताः 'अथा' अपिच 'स्वश्वाः' शोभनवाहाः 'ईम्' एवम्भूताः इमे 'रुद्रस्य' एतत् संज्ञकस्य देवस्य 'के'? ॥ ४३ ॥

বসিষ্ঠ ঋষি রুদ্রের সহচর দেবগণকে দেখিয়া চমৎকৃত হইয়া বলিতেছেন কান্তিযুক্ত, একস্থানবাসী, নেতা, মনুষ্যগণের হিতকারী অপিচ সুন্দর বাহনে আরূঢ়, ইঁহারা রুদ্রনামক দেবতার কে? ॥ ৪৩ ॥

हिकम्।

४ ५र ४ ४ २ १
कईं व्यापूक्ताः। नरःसा३नाइडा २ः।
१ १ २ ५र र
रुद्रस्य मर्या २३ः। आ२था २३४औहोवा।
२ १ ३१११
सुवा ३ श्वा २३४५ः ॥ ४३ ॥

अष्टमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः पदपंक्तिच्छन्दः अग्निर्देवता।

३ २ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ २
अग्ने तमद्याश्व न स्तोमैः क्रतुं न
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भद्रऽ३ हृदिस्पृशं। ऋध्यामा त औहैः ॥४४॥

हे 'अग्ने!' 'अश्वम् न' अश्वमिव वोढारं हविषां 'क्रतुं न' कर्त्तारमिव उपकारिणम् 'भद्रं' कल्याणरूपम् 'हृदिस्पृशम्' हृदयङ्गमम् अतिशयेन प्रियम् 'तम्' प्रसिद्धं त्वाम् 'अद्य' अस्मिन्नहनि 'ते' वयम् 'औहैः'-इत्यादिभिः स्तोमैः स्तोत्रसमूहैः 'ऋध्यामा' समर्द्धयामः ॥ ४४ ॥

হে অগ্নে! তুমি হবিসমস্তের বোঢ়া সুতরাং অশ্ব সদৃশ, উপকারী এবং কর্ত্তৃ তুল্য কল্যাণস্বরূপ ও হৃদ্য, সেই তোমাকে সেই আমরা ঔহৈঃ-প্রভৃতি স্তোম দ্বারা বর্দ্ধন অর্থাৎ স্তব করি ॥ ৪৪ ॥

आश्वम्।

५ र ४ ५ २ १र
अग्नेतमाद्या। अश्वन्न स्तोमाइः।
२ १ १ २ १ २ १
क्रतुन्ना३भाद्रा२म्। हार्दिस्पृशाम्। ऋध्या
^ ३ ५र र २१र ३ १११०१
२ मा२३४ औहो वा। तऔहो २३४५इः
॥ ४४ ॥

नवमी ऋक्।

वामदेव ऋषिः पुरउष्णिक्छन्दो वाजिनोदेवताः।

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १
अवि मर्या आवाजं वाजिनो अग्म देव
२ ३२ ३ २ ३ १ २
स्य सवितुः सवं। स्वर्गाऽ३ अर्व्वं तोजयत
॥ ४५ ॥

'सवितुः' जगत्-प्रसवितुः 'देवस्य' कृतिरूपं 'वाजिनम्' अन्नम् सोमरूपम् 'सवम्' अभिषवं यज्ञं च 'मर्त्याः' मर्त्येभ्यो मर्त्तेभ्यो हिताः 'वाजिनः' वाजिनामकादेवाः 'आविः आ अग्मन्' आविरगमन् प्रकाशितवन्तः । हे यजमानगणाः ! इदानीं 'स्वर्गान्' विष्णुलोकादीन् 'अर्वन्तः' गच्छन्तः यूयं 'जयत' उत्कृष्टेन वर्त्तत ॥ ४५ ॥

মর্ত্ত্যগণের উপকারী, বাজী নামক দেবগণ জগৎপ্রসবিতা দেবের কৃতিরূপ সোম ও যজ্ঞ আবিষ্কার করিয়াছেন। হে যজমানগণ! অধুনা ব্রহ্মলোকাদি গমন করত তোমরা বিজয়ী হও ॥ ৪৫ ॥

वाजिनां साम ।

२र १ ५ १र र र र
आविर्मा२३४र्याः । आवाजं वाजिनो
२र १ २ २ १ १
अग्मान् देवस्य स । वितुः सा२३४ वाम् ।
१ १ १
स्वर्गाᳬ अर्वा २३४५ ताई ४ ई जयता२
१ १ १
३४५ ॥ ४५ ॥

दशमी ऋक् ।

ऐश्वरयोर्धिष्ण्याया ऋषयः द्विपदा पवमानोदेवता ।

१ २ २ १ २ ३ १ २ १
पवस्वा सोम द्युम्नी सुधारो महाᳬ
२र ३ १ २ ३ २
अर्वानामनुपूर्व्यः ॥४६॥

हे 'सोम!' 'अर्वानाम्' लतानाम् 'पूर्व्यः' अग्रः 'द्युम्नी' यशस्वी 'सुधारः' शोभन धारायुक्तः 'महान्' त्वम् 'अनु पवस्व' अनुक्षर ॥ ४६ ॥

হে সোম! সমস্ত লতার অগ্রে উৎপন্ন, যশস্বী, শোভন-ধারা-যুক্ত মহান্, তুমি এই পাত্রে অনুক্ষরণ হও ॥ ৪৬ ॥

आदित्यानां पवित्रम् ।

४ ५ र ४ ३ २ २ ३र ५
पवस्व सोमा । द्युम्नो ३४३ सुधारः ।
१ २र १ र १ २र^ ३ २
माहाᳬ अर्वानाम् । अनुपू । र्वियो ३४५
५
यि । डा ॥ ४६ ॥

इति पञ्चमदशतिः ।

षष्ठदशत्याम्

प्रथमा ऋक् ।

ऋष्यादिकं पूर्ववत् इन्द्रोदेवता ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
विश्वतोदावविश्वतो न आ भरयं । त्वा
१ २ ३ १ २
शविष्ठमीमहे ॥ ४७ ॥

हे 'विश्वतोदावन्' सर्वत दानवन् इन्द्र ! 'शविष्ठम्' अतिशयेन बलवन्तम् 'यम्' अभीष्टम् 'त्वा' त्वाम् 'ईमहे' याचयामः 'विश्वतः' सर्वतः तं 'नः' अस्मभ्यम् 'आभर' आहर ॥ ४७ ॥

হে সর্ব্বত্র দানশীল ইন্দ্র! অতিশয় বলবান্ যে অভীষ্ট তোমার নিকটে আমরা প্রার্থনা করি, তাহা সর্ব্বপ্রকারে আমাদিগকে প্রদান্ কর ॥ ৪৭ ॥

इन्द्रस्याभरम् ।

५ र २र १ २
विश्वतोहाउ । दावन्विश्वतो नाः ।
२ २^ ३ ५ २र र
ओ३ । हा । ओ२३४ हायि । आ । भरा ।
१ २ १ २र १ २ २^
भा २३ रा । यां त्वाशविष्ठमायि । माहा ।
२र ५ २र र २र २
औहो २३४ वा । एहोयैहो ॥ ४७ ॥

द्वितीया ऋक्।

ऋष्यादिकं सर्वं पूर्ववत्।

२ २ ३ ७२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रोनाम श्रुतो
३ २
गृणे ॥ ४८ ॥

'यः' देवः 'ऋत्वियः' क्रतौ प्रथितः 'इन्द्रः नाम श्रुतः' तं देवम् 'एषः' 'ब्रह्मा' ऋत्विग्विशेषः अहम् 'गृणे' स्तौमि ॥ ४८ ॥

যে দেবতা, যাগে প্রসিদ্ধ, ইন্দ্র নামে বিশ্রুত, আমি (ব্রহ্মা) (ঋত্বিক্ বিশেষ) সেই দেবকে স্তব করি ॥ ৪৮ ॥

सुमन्द्रम्।

४ ५ १ र २ २
एषाः। ब्राह्माय आ ३१ उ वा २३। ए
२ ३ २ २ १
३। त्विय आ। आ २३ यिन्द्राः। नाम
२ २ २ ३ २
श्रुता ३१ उ वा २३। ए ३। गृणआ॥४८

तृतीया ऋक्।

त्रसदस्यु ऋषिः द्विपदा इन्द्रोदेवता।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १
ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्द्धयन्न
२ ३ २ ३ १ २
हये हंतवाउ ॥ ४९ ॥

'ब्रह्माणः' यज्ञेषु स्थिताः ऋत्विग्विशेषाः 'अहये' अहिम् अरिम् 'निश्चयं 'हन्तवै' हन्तुम् 'अर्कैः' मन्त्रैः 'इन्द्रम्' 'महयन्तः' अर्चन्तः 'अवर्द्धयन्' वर्द्धयन्ति प्रशंसयन्ति ॥ ४९ ॥

সকল যাগে স্থিত ব্রহ্মারা বৈরিগণের নিশ্চয় নাশ করিতে প্রবৃত্ত হইয়া মন্ত্রদ্বারা ইন্দ্রকে অর্চ্চনা করত বর্দ্ধন করিতেছেন ॥ ৪৯ ॥

स्तोकम्।

५र २ १ १
हाउ स्वरता। ब्रह्माणाऽ२ः। इन्द्रम्।
२ १ ^ ३ ५ १
आ। महया २ तो २३४। कैः। अवा २
१ २ र^ ३ २ ५
र्द्धयान्। अहयेह। तवा ३४५ पि। जई५
२र १ १ १ १ १
ई। स्तोकयता २३४५ ॥४९॥

चतुर्थी ऋक्।

ऋष्यादिकं सर्वं पूर्ववत्।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं
३ १ २
पुरुहूत द्युमन्तं ॥ ५० ॥

हे 'पुरुहूत' बहुभिराहूत, इन्द्र! 'ते' तव 'अश्वाय रथम्' 'द्युमन्तं' दीप्तिमन्तम् 'वज्रं' च 'अनवः' प्राचीनः 'त्वष्टा' शिल्पी विश्वकर्मा 'तक्षुः' ततक्षुः ततक्ष निर्मितवान् ॥ ५० ॥

হে বহুস্তুত, ইন্দ্র! তোমার অশ্বোপযুক্ত রথ ও দীপ্তিমান্ বজ্র, প্রাচীন শিল্পী বিশ্বকর্ম্মা নির্ম্মাণ করিয়াছেন ॥ ৫০ ॥

अनुस्तोकम्।

५र २ १ २
हाउ स्वरता। स्वरत स्वरा २३ ता।
१ २र १ २ र १ २
आनवस्तेरथम। श्वायाता १ क्षू २३४ः।
५र २ १ २ १
हाउ स्वरता। स्वरत स्वरा २३ ता। त्व-
२र १ २ १ २र १ ७ ५र
ष्टा वज्रं पुरुहू। ताद्युमाता२३४म्। हाउ
२ १ २ ३
स्वरता। स्वरत स्व। रा२। ता२३४।
५र र २ १ १ १ १ १
औहोव। स्वरा ३ ता २३४५ ॥५०॥

पञ्चमी ऋक्।

ऋष्यादिकं सर्वं पूर्ववत्।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १
शम्पदम्मघंरयीषिणो न काम मव्रतो
२ ३ १ २ ३ २
हिनोति न स्पृशद्रयिं ॥ ५१ ॥

'रयीषिणः' रयिं धनमिच्छन्तो यजमानाः 'शम्' कल्याणम् 'पदं' स्थानम् 'मघम्' ऐश्वर्यं च लभन्त इति शेषः। 'अव्रतः' यागादि-कर्म-हीनस्तु जनः 'कामम् न हिनोति' यथाकामं न वर्द्धते अपिच 'रयिम्' धनं 'न स्पृशत्' न स्पृशति धनस्पर्शनेऽपि न क्षम इति भावः ॥ ५१ ॥

ধনাভিলাষী যজমানগণ, কল্যাণ ও স্বর্গাদিস্থান এবং ঐশ্বর্য্য লাভ করেন ; যাগাদিকর্ম্মহীনব্যক্তি যথেচ্ছা বৃদ্ধি প্রাপ্ত হয় না, ধনস্পর্শনেও সক্ষম হইতে পারে না ॥ ৫১ ॥

वाचः साम।

२र २८ ३ ४ ५ २ १ २
औहोयि। शं पदाम्। मघंरया३
१ र र
१२३४यि। षिणायि। न काममव्रतोहि
र २ ३ ५
नोति न स्पृशत्। रयिमो२३४५यि। डा ॥५१

षष्ठी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत् विश्वेदेवा देवताः।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा
३ १ २ ३ १ २
देवा अरेपसः ॥ ५२ ॥

'गावः' स्वर्गं गन्तारः स्तोतारः 'सदा' सर्वदैव 'शुचयः' पविताः 'विश्वधायसः' बह्वन्नाः अपिच 'सदा' 'देवाः' दानादियुक्ताः 'अरेपसः' पापशून्याश्च ॥ ५२ ॥

স্তোতৃগণ সর্ব্বদাই শুচি ও বহ্বন্ন এবং সর্ব্বদাই দানাদিসৎকর্ম্মযুক্ত সুতরাং পাপ শূন্য ॥ ৫২ ॥

वाचः साम।

४ ५ १र र २ १र
सादा। गावः शुचयो विश्वधाया२३
२ ३ ५ १ र २ १
साः। सा २२४ दा। दायि वा अरो२३४
५ ३ ५
वा। पा २३४ साः ॥ ५२ ॥

सप्तमी ऋक्।

संपात ऋषिः द्विपात् उषोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ १ २र
आ याहि वनसा सह गावः सचन्त
३ १ २र
वर्त्तनिं यदुधभिः ॥ ५३ ॥

हे उषोदेवते! 'यत्' यस्मात् (त्वदुदयेसति) 'गावः' बह्वक्षीरा धेनवः 'उधभिः' उधोभिः उधोभ्यः प्रच्युतैर्दुग्धैः 'वर्त्तनिं' पन्थानम् 'सचन्त' सिञ्चन्ति (अतस्त्वदुदयमावश्यकमितिबुद्धया) 'वनसा' वननीयेन तेजसा 'सह' 'आयाहि' उदेहि ॥ ५३॥

হে উষা দেবি! যেহেতু তোমার উদয়ে বহুক্ষীর গো সকল স্ব-স্ব আপীন প্রচ্যুত-দুগ্ধধারা দ্বারা পুরমার্গ সিঞ্চন করিয়া থাকে, অতএব তুমি, স্বকীয় প্রশংসনীয় তেজের সহিত উদয় হও ॥ ৫৩ ॥

मारुतम्।

२र २ ४ ५ १ १र
औहो३यि। आयाही। वना२सा स
१ २ १ ६ १
हा। गावः स च। तावर्त्तनी२म्। यात्।
१ २ ३ ५
उऽ२। धभिरो २३४५ यि डा ॥५३॥

अष्टमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्व्ववत्।

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २
उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं
३ १ २
धीमहे तइन्द्र ॥ ५४ ॥

हे 'इन्द्र!' 'ते' त्वदीये 'मधुमति प्रक्षे' माधुर्य्योपेत-न्यग्रोध-चमसे 'रयिं' धनं 'उपक्षियन्तः' प्रक्षिपन्तः 'पुष्येम' सञ्चयाम इति सम्भावना। वयं 'धीमहे' ध्यायामः त्वामिति शेषः ॥ ५४ ॥

হে ইন্দ্র! আমরা তোমাকে ধ্যান করি, আমরা ভরসা করি ত্বদীয় মধু-যুক্ত চমসে ধন নিক্ষেপ করত সঞ্চয় করি ॥ ৫৪ ॥

ऐषम्।

४ ५ ५र ५ ४५
ओवा। उपप्रक्षे मधुमति क्षियन्तः।
४ १ र र र२
ओवा। ओयि। पुष्येमरयिं धी महे त आ
२ १ २ १ २ १ २र
२३ यिन्द्रा। ओ। वा ओवा। ओ। वाहा
३ २ ५
३१ उवा २३। ऊ ३४ पा ॥ ५४ ॥

नवमी ऋक्।

ऋष्यादिकम् पूर्व्ववत्।

१२ ३२३१२ ३ १ २र
अर्चन्त्यर्कम्मरुतः स्वर्का आ स्तोभति
३ उ२ ३ १ २र
श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥ ९ ॥

'स्वर्काः मरुतः' शोभन-मन्त्रोपेता ऋत्विजः 'अर्कम्' अर्चनीममिन्द्रम् 'अर्चन्ति'। 'श्रुतः' विश्रुतः 'युवा' नित्यतरुणः 'सः' 'इन्द्रः' 'आस्तोभति' शत्रुबलानि स्तम्भते ॥ ५५ ॥

সুন্দর-মন্ত্রান্বিত ঋত্বিক্গণ অর্চ্চনীয় ইন্দ্রকে অর্চ্চনা করিতেছেন। বিশ্রুত, যুবা, সেই ইন্দ্র সত্রুবল স্তম্ভন করেন ॥ ৫৫ ॥

धुरः।

४५ ४ १ २ १ २
अर्चन्तियां। कम्मरुतः सुवा ३२ काः।
१ २र २१र र ६
आस्तोभतायि। श्रुतो युवा स आयिन्द्रा ३
२ २८ ५
उवा ३। ऊ ३४ पा ॥ ५५ ॥

दशमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्व्ववत्।

२३ १२ ३१२ ३ १२
प्रव इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय
३ १ २ ३२३१ २
गाथं गायत ३ जजोषते ॥ ५६ ॥

हे 'विप्राः' मेधाविनः! उद्गातारः! 'वृत्रहन्तमाय' अतिशय-शत्रु-हन्त्रे 'इन्द्राय' इन्द्रमनुकूलयितुं 'गाथं' प्रगाथम् ऋग्द्वयसाध्यं स्तोत्र-विशेषं 'प्रगायत'। 'यं' गाथं 'जजोषते' अतिशयं प्रीतयति इन्द्रः-इति शेषः ॥ ५६ ॥

হে মেধাবী উদ্গাতারা! বৃত্রহন্তা ইন্দ্রকে সন্তুষ্ট করণার্থ সেই প্রগাথ (ঋগ্দ্বয়সাধ্য স্তুতিবিশেষ) গান কর, যাহা ইন্দ্র অতিশয় ভালবাসেন ॥ ৫৬ ॥

सौम्यम्।

५ ४ १ र ७
प्रवाः। आयिन्द्रायवृत्र हान्तमा
२ १ र र २
२३ या। वायि प्राय गाथं गा १
३ २ १ २ २ १
याइता। याजु जौवा ३। उप्। षाऽ२तो
२
३५ हायि ॥ १० ॥

इति षष्ठी दशतिः।

सप्तमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

प्रथमऋषिः द्विपाच्छन्दः अग्निर्देवता।

१ १ २ १ २र ३ २उ ३ १ २
अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड्सुमद्रथः॥५७

'सुमद्रथः' सुष्ठु हविर्युक्तो रथो यस्य सः 'हव्यवाट्' हविषां वोढा 'चिकितिः' सुप्रज्ञः 'अग्निः' 'अचेति' चितः होतृभिरिति यावत्॥ ५७॥

যাঁহার রথ সুন্দর হবিযুক্ত, যিনি দেবগণের হবি বহন করেন, সেই সুপ্রজ্ঞ অগ্নি হোতৃগণ কর্ত্তৃক গৃহীত হইয়া থাকেন॥ ৫৭॥

गेयम्।

४ ५र ४ २ १ २
अचेतो। अग्निः। चिका २३ यि ती
१ २ १ ^ २ ५र र
३ः। हा २३ व्या ३। वा २ डा२३४औहो
२ १ २ १ १ १ १
वा। सुमद्रथा २३४५ः॥ ५७॥

द्वितीया ऋक्।

बन्धुऋषिः द्विपाच्छन्दः अग्निर्देवता।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २३ २ ३ १
अग्ने त्वन्नो अन्तम उतत्राताशिवो
२ ० ३उ २र
भुवो वरूथ्यः॥ ५८॥

हे 'अग्ने!' 'भुवः' भलोकस्य 'वरूथ्यः' वरणीयः 'शिवः' कल्याणमयः 'त्वम्' 'नः' अस्माकम् 'अन्तमः' अन्तिकतमः 'उत' अपिच 'त्राता'॥५८॥

হে অগ্নে! ভূলোকের বরণীয়, কল্যাণময়, তুমি আমাদের অতিশয় নিকট ও ত্রাণকর্ত্তা॥৫৮॥

गेयम्।

४ ५ १ २ १
अग्नायि। त्वन्नो २३ आ। न्तमा२
२ ५ २ १ २र १र र १र
३। ता २३४ मः। उतत्राता शिवो भुवः।
२ १र ४ ५ ४
शिवो भुवा २३ः। वरो वा। या ५ यो ६
५
हायि॥ ५८॥

तृतीया ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत्।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ १ २ ३
भगोन चित्रो अग्निर्महोनां दधाति
१ २
रत्नं॥ ५९॥

'महोनां' देवानां मध्ये 'भगः' 'न' सूर्य इव 'चित्रः' पूजनीयः 'अग्निः' 'रत्नं' 'दधाति' ददाति स्तोतृभ्य इति शेषः॥ ५९॥

দেবগণের মধ্যে সূর্য্যেরতুল্য, পূজনীয়, অগ্নি স্তোতৃদিগকে রত্ন দান করেন॥ ৫৯॥

गेयम्।

४ ५र ४ ५ ४ २ १
भगो न चित्राः। अग्निर्महो २३
२ १ ^ २ ५र र २
ना ३म्। दा २ धा २३४ औहोवा। ए
२ १ २ १ १ १ १
३। तिरत्ना २३४५ म्॥ ५९॥

चतुर्थी ऋक्।

बन्धु ऋषिः द्विपाच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन् यदिवेह
३ २
नूनं॥ ६०॥

हे बन्धो! 'सन्' नित्यः स इन्द्रः 'यदि वा' यदि च 'नूनम्' निश्चयम् 'इह' अस्मिन् यागे अस्ति 'वा' तथापि स 'विश्वस्य' सर्वस्य जगतः 'पुरः' पुरोवर्त्ती तम् 'प्रस्तोभ' प्रस्तुहि॥ ६०॥

হে বন্ধো! সনাতন সেই ইন্দ্র, যদিচ এই যাগে আছেন, কিন্তু তিনি সমস্ত জগতের পুরোবর্ত্তী ; তাঁহাকে স্তব কর ॥ ৬০ ॥

प्रजापतेर्धनधर्म्म ।

५ २ १ २ १ २
विश्वस्या । प्रस्तोभा २ । पुरो वासा३

१ २ ५ १ १ ^ २
३न । यद्दिवें २३४ ह्वा । नू २३ । ना २ मा

५ र र २ ५
२३४औहोवा । धा २३४ नाम् ॥ ६० ॥

पञ्चमी ऋक् ।

संवर्त्तऋषिः द्विपाच्छन्दः उषोदेवता ।

२ ३ उ ३ २ ३ २ १ १ २ २
उषा अप स्वसुष्टमः संवर्त्तयति वर्त्त-

१ २ ३ १ २
निंसुजातता ॥ ६१ ॥

इयम् 'उषाः' आत्मनः 'स्वसुः' भगिनिरूपाया-रात्रेः आश्रितं 'तमः' अन्धकारम् 'अप' अपक्राम्य 'वर्त्तनिम्' अध्वानं 'सुजातता' सुजाततां सुप्रकाशतां 'संवर्त्तयति' सम्पादयति ॥ ६१ ॥

এই উষা, স্বীয় ভগিনী স্বরূপ রাত্রির আশ্রিত অন্ধকার দূর করত পথের সুপ্রকাশতা সম্পাদন করিতেছেন ॥ ৬১ ॥

उषसः साम ।

५ र १ २ २ ५ १
उषा अपा । स्वासुष्टा२३४ माः । संवा

२ १ ७ २ ५
वा२ र्त्तया । ति वा २ र्त्ता २३४ नीम् ।

१ ^ २ ५ र र २ २ २ १ १
सु २ जा २३४औहोवा । ए ३ । तता २३

१ १
४५ ॥ ६१ ॥

षष्ठी ऋक् ।

भौवनआप्त्य ऋषिः द्विपाच्छन्दः विश्वे-देवा देवताः ।

१ २ उ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे

३ २
च देवाः ॥ ६२ ॥

'इमा' इमानि 'भुवना' भुवनानि 'इन्द्रः च' 'विश्वे देवाः च' अस्माकम् 'नु' क्षिप्रं 'कम्' सुखं 'सीषधेम' साधयामः साधयन्तु ॥ ६२ ॥

এই ত্রিভুবন, ইন্দ্র এবং অন্যান্য সমস্ত দেবগণ আমাদিগের শীঘ্র সুখ সাধন করুন ॥ ৬২ ॥

भारद्वाजम् ।

५ ४र ५ ४ ४ २र १ ^ २
इमानुकंभू५ वता । सीषधा३यिमाउ

२ २^ ५ २ १ ^ २ २
वा ४ । ई ३४ ह्वा । इन्द्र श्चेवा २ यिश्वाउ

२^ ५ २ २ १ ^ १
वा ३ । ई ३४ह्वा । च दे ३ । वा२या २३४

५ र र २ ५
औहोवा । वो २३४राः ॥ ६२ ॥

सप्तमी ऋक् ।

कवषऐलूष ऋषि द्विपदा इन्द्रोदेवता ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ उ ३ १ २ ३
वि स्रुतयो यथा पथ इन्द्रत्वद् यन्तु रा-

१ २
तयः ॥ ६३ ॥

हे 'इन्द्र' ! 'पथः' राजमार्गात् 'यथा' 'स्रुतयः' क्षुद्र-क्षुद्रतर-मार्गाः तद्वत् 'त्वत्' त्वत्तः 'रातयः' धनानि 'वियन्तु' विविधं गच्छन्ति ॥ ६३ ॥

হে ইন্দ্র! রাজ মার্গ হইতে পুরমার্গ গুলির ন্যায়, ধন সকল তোমা হইতে বিবিধ গমন করিতেছে ॥ ৬৩ ॥

इन्द्रस्यारातिम्।

४ ५ ४ ५ १ १ र
विस्तू विस्तू। ताया २ स्ताया२ः। यथा-
१ १ २ १
पथः। आयिन्द्रा२ त्वाद्या २३। तुरो २३४
५ ४ ५
वा। तायुयोईहायि ॥ ६३ ॥

अष्टमी ऋक्।

भरद्वाज ऋषिः द्विपदा इन्द्रोदेवता।

२ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १
अया वाजं देवहितᳬ सनेम मदेम शत
२ ३ १ २
हिमाः सुवीराः ॥ ६४ ॥

यदि 'अया' अनया ऋचा 'देवहितं' देवानां हितं 'वाजम्' सोमरूपमन्नम् 'सनेम' सम्भजेमः, तथासति 'सुविराः' सुन्दरपुत्रोपेताः सन्तः 'शत-हिमाः' शतं हेमन्तान् 'मदेम' हृष्येम वयमिति यावत् ॥ ६४ ॥

যদি আমরা দেবগণের উপযোগী সোম রূপ অন্নের ভজনা করি তবে সুন্দর পুত্রাদি সমন্বিত হইয়া শত হেমন্ত আমোদ করিতে পারি অর্থাৎ শতায়ু হই ॥ ৬৪ ॥

भारद्वाजम्।

५ र र १ २२ २
अया वाजाम्। दायि वहि। तᳬस-
४ ५ २ र १ ७ २ १
नेमा। मदेमशा ३ ताहिमा२ः। शता२३।
१ ८ १ ५र र २ १
हा२यिमा २ ३ ४ औहोवा। सुवी३रा
१ १ १ १
२३४५ः ॥ ६४ ॥

नवमी ऋक्।

ऋष्यादिकं पूर्ववत् विश्वे देवा देवताः।

३ २ ३ १ २र ३ २ ३ ३ २
ऊर्जो मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीव-
३ १ २ ३ १ २
रीमिषं कृणुहि न इन्द्र ॥ ६५ ॥

हे 'इन्द्र!' 'पीवरीम् इषम्' पीवरीनामक-मन्न विशेषं 'नः' अस्मभ्यम् अस्मदर्थं 'कृणुहि' कुरु, किञ्च 'मित्रः' 'वरुणः' 'इडाः' एतदधिष्ठ देवाश्च तम् यूयम् अस्मात् कृते यागे 'पिन्वत' सेवत ॥ ६५ ॥

হে ইন্দ্র! আমাদের ভোগার্থ পীবরীনামক অন্ন বহু পরিমাণে সৃজন কর এবং মিত্র, বরুণ ও ইড়া-পদাধিষ্ঠাতৃদেবগণ, তোমরা অস্মদাদি-কৃত যজ্ঞে তাহাই সেবন কর অর্থাৎ ভোজন কর ॥ ৬৫ ॥

इषम्।

४ ५ ३ र २ १
ऊर्जा। मित्रो वरुणः पिन्वता २३ यि-
२ १र र र ५
डाः। पीवरीमिषंकृणुहीनः। आयिन्द्रा
२ २८ ५
३उवा ३। ऊ ३४ पा ॥ ६५ ॥

दशमी ऋक्।

वशिष्ठऋषिः एकपदा गायत्रीछन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ १ २
इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ ६६ ॥

'इन्द्रः' 'विश्वस्य' निखिलस्य 'राजति' राजा ॥ ६६ ॥

ইন্দ্র সমস্ত বিশ্বের রাজা ॥ ৬৬॥

वैराजम्।

१ २ ३ ४ ५ र २ २
इन्द्रो ३४। विश्वस्य राज। ति। हो
५
२३४५यि। डा ॥ ६६ ॥

इति सप्तमी दशतिः।

अष्टमदशत्याम्।

प्रथमा ऋक्।

गृत्समदऋषिः अष्टिच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

१ २ ३ १ २र २
त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरन्तुविशु-

२ ३ १ २ ८ ३ १२ ३१ २ ३२

अध त्यम्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशं।

३१ ३ २ ३२३ १ २ ३२ ३१

स ईं ममाद महि कर्म्म कर्त्तवे महामुरुं

२८ ३ २ ३ १ ३१

सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्य-

२८

मिन्द्रम्॥ ६७॥

'महिषः' महान् 'तुविशुष्मः' बहुबलः इन्द्रः 'त्र्यम्' त्र्यहम् 'त्रिकद्रुकेषु' संवत्सर साध्यस्य सत्रस्य ज्योतिरित्याद्यपरपर्यायेषु कद्रुक-नामकेषु त्रिषु अहःसु 'विष्णुना' सह 'यवाशिरं' यवचूर्ण मिश्रितं 'सुतम्' अभिषुतं 'सोमम्' 'यथावशं' यथेष्टं 'अपिबत्'। 'सः' पीतः सोमः 'उरुम्' व्यापम् 'ईम्' एनम् इन्द्रम् 'महि कर्म कर्त्तवे' महत् कर्म पालनकर्म तत्कर्त्तुं 'ममाद' मदयति। 'सः' 'सत्यः' 'देवः' 'इन्दुः' सोमः 'एनम्' 'सत्यम्' 'देवम्' 'इन्द्रम्' 'सश्चत्' व्याप्नोतु॥ ६७॥

মহান্, বহু-বল, ইন্দ্র সংবৎসর সম্পাদ্য-সত্রে কদ্রুক নামক দিনত্রয়ে (বিষ্ণুর সহিত) যবচূর্ণ-মিশ্রিত, অভিষুত, সোমরস তৃপ্তি পূর্ব্বক যথেষ্ট পান করেন। সেই পীত সোমরস, মহৎ কর্ম্ম (পালনাদি) করিবার জন্য এই সর্ব্ব-ব্যাপী ইন্দ্রকে হৃষ্ট করে। সেই সত্য, দেব-রূপী, সোম—এই সত্য, ইন্দ্র দেবকে ব্যাপন করুন॥ ৬৭॥

प्राजापत्यम्।

२र ३५ १ २ १२१

ओयिलिक। त्रुकायि। धू३ महिषो।

२र१ ५ ३२र१५ २र ३ ५

यवाशिरम्। तुविशुष्मः। ओयितृ२३४म्यात्।

१र १ २ १२र १५ ३२र

सोमाम्। अपि बा३द्विष्णुना सुतम्। यथा

१५ २र ३ ५ १ २

वशम्। ओयिषा२३४ ईम्। ममा। दा३

१२१ २र१५र १२र१५ २र ३

महिक। मकर्त्तवे। महा मुरुम्। ओयिषा

५ १ २ १र२र १ ४

२३४ यिनाम्। सश्चात्। देवो देवाम्। सत्य

५

इन्दुः सत्या ५ मिन्द्रा उ। वा॥ ६७॥

द्वितीया ऋक्।

गौराङ्गिरस ऋषि जगतीच्छन्दः सूर्यो देवता।

१२ ३२३ १२ ३१ २३ २

अयं सहस्रमानवो दृशः कवीना-

३ उ२ ३ १ २ ३२ ३१ २३२३

म्मतिर्ज्योतिर्विधर्म। ब्रध्नः समीचीरुषसः

१ २ ३२३ १२ ३ १२ ३१ २

समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्त-

३२

श्चिता गोः॥ ६८॥

'अयम्' 'सहस्रम्' सहस्ररश्मिः 'मानवः' (मनुर्जीवनं तस्यायं सम्बन्धी) जीवकः 'दृशः' दर्शनीयः 'कवीनाम्' 'मतिः' धीस्वरूपः 'ज्योतिः' स्वरूपः 'विधर्म' विधातृरूपः 'ब्रध्नः' सूर्यः 'समीचीः' सम्पूजनीयाः 'उषसः' ब्रह्म 'समैरयत्' समीरयति प्रतिदिनं स्वागमनात् पूर्वं स्वागमन-द्योतनामुषसं प्रेरयति इति भावः। 'अरेपसः' निर्मलस्य 'सचेतसः' सचित्तस्य 'गोः' सूर्यस्य कृते 'स्वसरे' दिवसे 'मन्युमन्तः' प्रकाशवन्तः चन्द्रादयः 'चिताः' अपचिताः तेजःशून्या भवन्ति॥ ६८॥

এই সহস্ররশ্মী, জীবক, দর্শনীয়, কবিগ-ণের মতিস্বরূপ, জ্যোতিরূপী, বিধাতৃপুরুষ, সূর্য্য—সম্পূজনীয়, বহু, উষা প্রেরণ করেন। নির্ম্মল, সচিত্ত, সূর্য্যের প্রভাবে প্রকাশবান্ চন্দ্রাদি, দিবসে তেজঃশূন্য হইয়া পড়েন॥ ৬৮॥

आङ्गिरसम्।

५ ४ ५ ३२५ २

अयं सहो हायि। समाना २३४

५ २१ २र१र र २ १

वाः। दृशाः कवीनाम्मतिर्ज्यो। तिर्विधा

२३४मो। अभ्राः समायिचीरुषसः। समा-
यिरा१या२त्। अरा ३। ह्वोवा३। पा। सः
सचे। तसा३ः। स्वासने। मन्युमा २३ ताः।
चितो। या२३४औहोवा। गो२३४५ः॥६८

तृतीया ऋक्।

पर्च्छेपऋषिः अत्यष्टिश्छन्दः इन्द्रो देवता।

एन्द्रया ह्यूपनः परावतो नायमच्छा वि-
दथानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः।
हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रा सो-
नपितरं वाजसातये मꣳहिष्ठं वाजसातये
॥६८॥

हे 'इन्द्र!' 'सत्पतिः' सतां पालकस्त्वम् 'नः' उप आयाहि' अस्मत्समीपमागच्छ। 'अयम्' इन्द्रस्त्योजनः 'परावतः' दूरदेशात् 'विदथानि' स्वगृहाणि 'अच्छ' व्याप्नुम्-'इव' किञ्च 'सत्पतिः' साधुपालकः 'राजा' 'अस्ता' अस्तं विचारस्थानम् 'इव'। 'मꣳहिष्ठम्' अतिशय-महान्तम् 'त्वा' त्वाम् 'वाजसातये' अन्नलाभाय 'सुतेषु' अभिषवेषु अत्र 'प्रयस्वन्तः' प्रयत्नवन्तोवयम् 'वाजसातये पितरं पुत्रासः न' पुत्रा यथा अन्नलाभाय पितरं तद्वत् 'आह्ववामहे' आह्वयामः ॥ ६८ ॥

হে ইন্দ্র! যেরূপ মর্ত্ত্যগণ দূরদেশ হইতে বাটী আগমন কালে ত্বরাপ্রযুক্ত ব্যগ্র হয়, সাধুপালক রাজা বিচারস্থান গমন করণার্থ যাদৃশ সুচেষ্টিত হন, সাধুপালক তুমি আমাদিগের সমীপে সেইরূপ চেষ্টাও ব্যগ্রতার সহিত আগমন কর, যেরূপ অক্রুবাণ পুত্রেরা অন্ন লাভার্থ পিতাকে আহ্বান করে। এই যজ্ঞে প্রযত্নকারী আমরা অন্নলাভার্থ সেইরূপ নিষ্কপটে আহ্বান করিতেছি ॥ ৬৯ ॥

प्रयस्वत्।

एन्द्रयाह्यूपनाः। पारा२वा२३४ताः।
नायमच्छा। विदथानायि। वासत्या २३४
तीः। अस्तारा ३ जे ३। वासत्या२३४तीः।
हवामहेत्वा प्रयस्वन्ताः। सुतायिषू ३ वा।
पुत्रा सोना। पितरं वा। जासा ता२३४
यायि। मꣳहायिष्ठा ३ꣳवा३। जा२३सा ३।
ता३४५ योई ह्यायि ॥ ६९ ॥

चतुर्थी ऋक्।

रेभाऋषिः अतिजगतीच्छन्दः इन्द्रो देवता।

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रꣳ सत्रा-
दधानमप्रतिष्कुतꣳ श्रवाꣳसि भूरि। मꣳ-
हिष्ठो गीर्भीरा च यज्ञियो ववर्त्त राये नो
विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥७०॥

'तम्' 'मघवानम्' 'उग्रम्' 'अप्रतिष्कुतम्' अनिरुद्धगमनं 'सत्रा' सत्यम् 'भूरि' भूरीणि 'श्रवांसि' बलानि 'दधानम्' 'इन्द्रम्' 'जोहवीमि' पुनः पुनराह्वयामि। 'यज्ञियः' 'मंहिष्ठः' पूज्यतमः सः 'गीर्भिः' अस्मदीयाभिः स्तुतिभिः 'आववर्त्त' आभिमुख्येन वर्त्तते तुष्टोऽस्ति। सः 'वज्री' 'नः' अस्माकं 'राये' धनाय 'विश्वा' सर्वाणि 'सुपथा' सुमार्गाणि 'कृणोतु' करोतु ॥ ७० ॥

সেই মঘবা, উগ্র, অ-নিরুদ্ধ-গতি, ভূরি-(প্রকৃত) বলধারী ইন্দ্রকে পুনঃ পুনঃ আহ্বান করি। যজ্ঞীয়, পূজ্যতম, তিনি স্তুতিবাক্যে তুষ্ট আছেন। সেই বজ্রী আমাদের ধনাগমের সমস্ত সুন্দর পথ আবিষ্কার করুন॥ ৭০॥

अन्वय्यम्।

४ ५ र र ४५र४ २
तमिन्द्रं जोहवीमिमघोवानाम्। ऊ
५ २१र १र ^
२३४ ग्राम्। सत्राहोयि। दधानमप्रता २
२ ५ १ १^
यिष्कू २३४ताम्। श्रवा २३ॐ सा२यि।
२ ५ १ र र ७ ^
भू२३४ रोम्। मॐहिष्ठोगीर्भिरा। चया२
२ ५ २र१ र१र
ज्ञा २३४ याः। वाबात्तीं २ राये होयि।
२र र २ ५ २ २ १^२
नोविश्वासुपा २३४था। ऋणो३। तू २वा
५र र २ ५
२३४ औहोवा। ऊ २३४ पा॥ ७०॥

पञ्चमी ऋक्।

पुरुच्छेपऋषिः अत्यष्टिच्छन्दः विश्वेदेवा देवताः।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३
अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निन्धिया दध
१ २र ३ १ २ ३ १ २
आ नु त्यच्छर्द्धोदिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणी
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
महे। यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दा
३ १ २ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
य नव्यसे। अध प्र नून मुपयन्ति धीतयो
३ ३२ ३ २ ३ १ २
देवाॐ अच्छा न धीतयः॥ ७१॥

'धिया' स्वक्रियया 'अग्निम्' 'पुरः' 'दधे' धारयामि। 'त्यत्' त्यम् तमग्निं 'शर्द्धः' बलरूपं 'दिव्यम्' दिविविदितं 'नु' निश्चयम् 'आ' आभिमुख्येन 'वृणीमहे' वर्णयामः, 'इन्द्रवायू' इन्द्रः-इति वायुः-इति 'वृणीमहे'। 'धीतयः' ऋत्विजामस्माकं क्रियाः समस्ताः 'यत् ह' 'यं' हि 'क्राणा' धनस्वरूपमग्निं 'नव्यसे' नवतराय 'विवस्वते' यजमानाय 'संदाय' समर्प्य 'अथ' अनन्तरं 'नूनम्' निश्चयम् 'प्र उपयन्ति' प्रकर्षेणोपेत्य गच्छन्ति। 'धीतयः' ताः क्रियाः समस्ताः 'देवान्' 'अच्छ' आभिमुखेन तमुपयन्ति 'न' इव। इत्येतत् समस्तं विश्वेषां देवानां 'श्रौषट्' श्रवणम् श्रुतिगोचरम् 'अस्तु'॥ ७१॥

আমি স্বকীয় ক্রিয়া দ্বারা অগ্নিকে অগ্রে ধারণ করি। আমরা তাঁহাকে দিব্য বলরূপী নিশ্চয় জানিয়া ভাল রূপে বর্ণন করি; ইন্দ্র বলিয়া, বায়ু বলিয়া বর্ণন করি। আমাদের (ঋত্বিক্‌গণের) ক্রিয়া সকল, অভিনব যজমানকে ধনস্বরূপ অগ্নি, প্রদান করিয়া অনন্তর নিজেও সেই অগ্নির সমীপগামী হয়, ঐ ক্রিয়া সকল যেন দেবগণকে প্রাপ্ত হইতেই তাঁহাকে প্রাপ্ত হইতেছে। এই কথন গুলি সমস্তদেবের শ্রুতিগোচর হউক॥ ৭১॥

याज्ञतुरम्।

५ र २१र २१र २र
अस्तुश्रौषाट्। पुरो अग्निं धियादधे।
१ २ ५ १र २र १
हा। औ३हो२३४ वा। आनुत्यच्छर्द्धोदि।
७ २^ २ ५ १
व्याम्। वृणा२३हायि। मा२३४हो, इन्द्रा
२ २ १ ^ २ ५ १
वायू ३। वृणी २ मा २३४ हायि। यद्ध-
र र २ २ २ र१र र
क्राणा विवा १ स्वा३तायि। नाभासन्दाय
२ ४ ५ १ र २
ना३। व्यासायि। अधप्रनून मुपया। ति
र१ १ २ ५ १
धीताया २३ः। हा। औ३हो२३४वा। दा
२ १ २
यिवाॐ १ अच्छा २३। हा। औ३हो२३४
५ २ १ ५ ४ ५
वा। नधो२३४ वा। ता५ यो६ हायि॥ ७१

षष्ठी ऋक्।

एवयामरुदृषिः अत्यष्टिश्छन्दः मरुतो देवता।

१२ ३२ ३१२ २ १२ ३१२
प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते
२ १ २३१ २ १ २र३ १ २र
गिरिजा एवयामरुत्। प्र शर्द्धाय प्रयज्यवे
३ १२ ३१२३१ २ ३ १२ ३ १
सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय श-
२
वसे॥ ७२॥

'एवयामरुत्' एतन्नामाहं वदामीतिशेषः। 'वः' युष्माकं (ऋत्विजाम्) 'गिरिजाः' वाचि निष्पन्नाः 'मतयः' मनःप्रेरिताः स्तुतयः 'महे' महते 'विष्णवे' व्यापकाय 'मरुत्वते' मरुतामधिनायकाय इन्द्राय इन्द्रमनुकूलयितुं 'प्रयन्तु'। किञ्च 'शर्द्धाय' मरुते मरुतमनुकूलयितुं 'प्र' यन्तु, कीदृशाय पवमानाय? 'प्रयज्यवे' प्रकर्षेण यष्टव्याय 'सुखादये सुष्ठुः खादिरलङ्कारविशेषो यस्य तस्मै 'तवसे' बलवते 'भन्ददिष्टये' स्तुत्याय 'धुनिव्रताय' मेघानां चालकाय 'शवसे' प्रशस्तगमनाय॥ ७२॥

এবয়ামরুৎ নামক আমি বলিতেছি—তোমাদের (ঋত্বিক্‌গণের) বাক্য-নিষ্পন্ন অভিপ্রায় সকল, মহান্ ও ব্যাপক মরুদ্‌গণের অধিনায়ক, ইন্দ্রকে এবং প্রকৃষ্টরূপে যষ্টব্য, সুন্দর খদি* নামক আভরণ বিশিষ্ট, প্রসিদ্ধ বলী, স্তবনীয় মেঘ-চালক, প্রশস্ত-গতি, দেবকে প্রসন্ন করণার্থ গমন করুক॥ ৭২॥

एवयामारुतम्।

१ र ५ ४र ५ ५र ४ ५ ४
प्रा२३४। वोमहे मतयोयन्तु विष्णवो।
२ १ २ ३र २
हायि। मरुत्वता३यि गिरिजा३४ः। हाहो
र२१ ^ २ ५ १ ७
यि। एवायार। मा२३४ रुत्। प्राशर्द्धाया
१ ७ १ २ २ ५
२। प्रायज्यावा २३ यि। सुखादा २३४या
१ २र १ २र १ २ २
यि। तवसेभन्ददिष्टये। धुनायिव्रा३ता३।
१ ^ २ ५रर २ ५
या२शा२३४ औहोवा। वा २३४से॥७२॥

सप्तमी ऋक्।

पृश्निर्ऋषिः अत्यष्टिश्छन्दः पवमानो देवता।

२ २ ३ १ २र २ ३२ ३ १
अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वे
२ ३ १ २ ३ २ ३२ ३१२
षाꣳसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः।
१ २ ३१२ ३ १ २३ १ २र
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
२ ३ २ ३१२३१ २ र ३१ २ ३
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभि
१ २
रृक्वभिः॥७३॥

'पुनानः' पूयमानः 'अरुषः' आरोचमानः 'हरिः' हरितवर्णः 'यत्' यः सोमः 'ऋक्वभिः' स्तुतिमद्भिः ऋत्विग्भिः 'सप्तास्येभिः' गायत्र्यादि सप्तच्छन्दोरूपवदनैः 'विश्वा' विश्वानि सर्वाणि 'रूपा' रूपाणि 'परियासि' परियाति अभिगच्छति, अपिच यः 'पुनानः' पूयमानः 'सयुग्वभिः' रश्मि-सहायः 'सूरः न' सूर्य इव 'सयुग्वभिः' स्व तेजः-सहायः 'विश्वा' विश्वानि सर्वाणि द्वेषांꣳसि' द्वेष्टॄणि 'तरति' विनाशयति, तस्य 'पृष्ठस्य' सोम-विशेषस्य 'धारा' पतती इयं 'रोचते' दीप्यते॥ ७३॥

পূয়মান, দীপ্যমান, হরিতবর্ণ, যে সোম, ঋত্বিক্‌গণের সহায়ে গায়ত্র্যাদি সপ্তচ্ছন্দরূপ সপ্তবদনে সমস্ত রূপ প্রাপ্ত হন্, অপিচ যেরূপ রশ্মিসহায়ে সূর্য্য তমো নাশ করেন্, সেইরূপ যে সোম, স্বীয় তেজোবলে সমস্ত দ্বেষ্ট-বৃন্দকে,

* বৈদিক কালে 'খদি' একরূপ অলঙ্কার ব্যবহৃত হইত।

বিনাশ করেন, সেই পৃষ্ঠনাশক সোমের এই পতত্তী ধারা প্রকাশ পাইতেছে ॥ ৭৩ ॥

भारद्वाजविषमम्।

४ ५ १ १ २र ३ ४ ५
आया। वचा। हरि। ण्या पुनाना:।
र र र ४ २ ३ ५
विश्वाद्वेषाᳫंसि तरती २३ साइयुग्वभिः।
२र १ २ १ र २ ५र र
सूरो २३ नाइ। सा २ यू २३४ औहोवा।
२ ५
ण्वा२३४भीः ॥ ७३ ॥

अष्टमी ऋक्।

नकुलऋषिः अतिशक्करीच्छन्दः सवितादेवता।

३ उ२ ३ १ २ ३ १ २३ २र ३ १
अभि त्यं देवᳫं सवितारमोण्योः कवि-
२३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
क्रतु मर्च्चामि सत्यसवᳫं रत्नधामभिप्रियम्म
३ २ ३ उ२ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
तिम्। ऊर्द्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवी-
३ १ ३ ३ १ २ ३ १
मनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा
२
स्वः ॥ ७४ ॥

'सवीमनि' वीमनं प्रसवः तस्मिहितवर्त्तमाने सति 'सृष्टावित्यर्थः' 'यस्य' देवस्य 'अमतिः' मतेर्ज्ञानस्या-गोचरा 'ऊर्द्ध्वा' अत्युन्नता 'भाः' दीप्तिः 'अदिद्युतत्' अतिशयेन द्योतते, यश्च सः 'हिरण्यपाणिः' 'सुक्रतुः' सुकर्मा 'कृपा' कृपया अस्मद्भोगाय 'स्वः' स्वर्गं 'अमिमीत' निरमिमीत निर्मितवान्, 'त्यम्' तम् 'कविक्रतुं' क्रान्तप्रज्ञं 'सत्यसवम्' अव्यर्थचेष्टम् 'रत्नधाम्' रत्नानां धातारम् 'अभिप्रियं' सर्वतः प्रियतमम् 'मतिम्' ज्ञानस्वरूपम् 'ओण्योः' द्यावा-पृथिव्योः 'सवितारं' प्रसवकर्त्तारं स्रष्टारं 'देवम्' 'अभि अर्च्चामि' सर्वतः पूजयामि ॥ ७४ ॥

জগৎসৃজনকালে যাঁহার বুদ্ধির অতীত—অত্যুন্নত, দীপ্তি, বহুপ্রকাশ পায়, যে হিরণ্য-হস্ত, সুকর্ম্মা, কৃপা করিয়া অস্মদাদির ভোগার্থ স্বর্গ নির্ম্মাণ করিয়াছেন, সেই পূর্ণ-প্রজ্ঞ অব্যর্থ চেষ্ট, রত্ন-স্রষ্টা, সর্ব্ব-প্রিয়, জ্ঞান-স্বরূপ, দ্যাবা পৃথিবীর প্রসবকারী দেবতাকে সর্ব্ব প্রকারে অর্চ্চনা করি ॥ ৭৪ ॥

सवितुः साम।

५ ४ ५ ४ ५ ४र ५ ५र ४र
अभित्यं देवᳫं सवितारम्। औहोहो
५ १र ५ २ १
वा हायि। ओण्या२३४योः। कविक्रा२३४
५ २र ३ ५ २र ५
तुम्। आर्चामी२३४ सा। त्यासा वा २३४
५ २ १र ५ २ १
रा। त्नधाक्ता २३४ मौ। प्रियक्ता २३४
५ २र १र २र १ ५ २र
तीम्। औहो औहोवा२३४हाउ। ऊर्द्ध्वा
२ ५ २ २ ३ ५ २ १
या २३४स्य। आमाती २३४र्भाः। अदि-
५ २ १र ५ २र १र
द्यू२३४ तात्। सवीमा २३४ नी। औहो
२र १ ५ २ ३ ५
औहोवा२३४ हाउ। हीरण्या २३४पा।
२र ३ ५ २ १ ५
णीरामी २३४ मी। तसुक्रा २३४ तूः।
२र १र २र १ १ १ १ १ ५ २
औहो औहोवा २३४५ हाउ। वा। ए ३।
२ १र १ १ १ १
कृपास्सुवा २३४५: ॥७४॥

नवमी ऋक्।

परुच्छेपऋषिः अत्यष्टिच्छन्दः अग्निर्देवता।

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
अग्निᳫं होतारं मन्ये दास्वंतं वसोः
३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सूनुᳫं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेद-
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सम्। य ऊर्द्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या

२ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष
३ १ ३ ३ १ २
आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ७५ ॥

'वसोः' धनस्य 'दातारं' दानकारिणम् 'सहसः सूनुम्' बलस्य पुत्रं (बलान्निर्मथनेनोत्पन्नत्वात्) 'जातवेदसं' जातप्रज्ञम् 'अग्निम्' 'जातवेदसं विप्रं न' जातविद्यं ब्राह्मणमिव 'होतारम्' होम-निष्पादकम् 'मन्ये'। 'यः' 'स्वध्वरः' शोभनयज्ञः 'देवः' 'ऊर्द्ध्वया' उन्नतया 'देवाच्या' देवाञ्चनक्रियया 'कृपा' कृपया 'शुक्रशोचिषः' शुभ्रदीप्तस्य 'आजुह्वानस्य' समन्तात् हूयमानस्य 'सर्पिषः' सर्पणशीलस्य 'घृतस्य' आज्यस्य 'विभ्राष्टिं' विशेष-दीप्तिम् 'अनु' वष्टि-इति शेषः ॥ ७५ ॥

প্রশস্ত-ধন-দাতা, বলপূর্ব্বক মন্থনে উৎপন্ন, জাতমাত্র প্রজ্ঞাবান, অগ্নিকে জাতবিদ্য ব্রাহ্মণের ন্যায় হোতৃরূপে স্বীকার করি। যে দেব, সুন্দর যজ্ঞে থাকিয়া, দেবগণেরও পূজনীয়-উন্নত, কৃপাবশে শুভ্রদীপ্ত-সম্যক্ হূয়মান, সরণশীল, ঘৃতের-বিশেষ কামনা করেন ॥ ৭৫ ॥

पार्क्ष्यम्।

१ र २ र ५ १ २
अग्निंऽहोता। रं मन्ये२दास्वन्तम्।
२ २ १ २ ३ ५ २ र ५र
ओ३वा३। वासोःसू २३४ नूम्। सहसो जा
१ २ २ २ र २ २
३तावे१ दासा२म्। विप्रन्नजा। ओ३वा३।
१ ८२ ५ २१२ २१
तवे२दा२३४सात्। यजर्ध्वो१ या२। सुवा-
२ रर रर २ २ १
ध्वा१रा२: देवो देवा। ओ३वा३। च्चिया
८ २ ५ ४४ २ १ र ५
२क्रा २३४र्पा। घृतोवा। स्य विभ्रा२ष्टिम्।
२ २ २ १ १र
अनु शुक्रशा। ओ३षा। चिषः। आजुह्वा२
२ २ २ २ १ ८ ३
३ना। स्यसा। ओ३वा३। पा २ यिषा २३४
५र र ३ ५
ओहो वा। ऊ२३४पा ॥ ७५ ॥

दशमी ऋक्।

गृत्समदऋषिः अतिशक्करीच्छन्दः इन्द्रोदेवता।

२ ३ ३ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
तव त्यं नर्यं नृतोप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि
३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
प्रवाच्यं कृतं। यो देवस्य शवसा प्रारिणा
१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २
असुरिणन्नपः। भुवोविश्वमभ्यदेव मोजसा
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
विदे दूर्जंशतक्रतुर्विदे दिषं ॥७६

हे 'नृतः' सर्व्वेषां नर्त्तयितः! 'इन्द्र!' 'तव' 'यः' यत् अनुपदं वक्ष्यमाणं 'प्रथमम्' प्रथिततमम् 'पूर्व्यम्' पूर्व्वकाल भवम् 'नर्य्यम्' नृभ्योहितं 'अपः कृतम्' उदकसम्बन्धि कर्म 'दिवि' द्युलोके 'प्रवाच्यम्' प्रकर्षेणवक्तव्यम् श्लाघनीयम्। तत् किमित्याह 'देवस्य' विजिगीषोः असुराधिपस्य 'असु' असुं प्राणं 'शवसा' बलेन 'रिणन्' हिंसन् 'अपः' उदकानि 'प्रारिणाः' प्रैरयत् असुर-रूद्ध-जलानि उद्गतवानित्यर्थः, किञ्च 'ओजसा' तेजसा 'विश्वम्' 'अदेवम्' समस्तमसुरं तत्सेनागणं 'अभिभुवः' पराभवत्। अथप्रार्थ्यते—'शतक्रतुः' बहुकर्मा जनः 'ऊर्जम्' बलम् 'विदेत्' लभेत लभतु अपिच 'इषम्' अन्नं 'विदेत्' लभेत ततः शम् ॥ ७६ ॥

হে সকলের নর্ত্তক, ইন্দ্র! তোমার প্রথিততম, পূর্ব্বকালে অনুষ্ঠিত, মনুষ্যদিগের হিতসাধন, উদকসম্বন্ধি যে একটি কর্ম্ম জাগ্রত

আছে, তাহা দ্যুলোকেও শ্লাঘনীয়। (যথা) নিজ-বলে অসুরাধিপতির প্রাণ-নাশ করিয়া নিরুদ্ধ জলসমুদয়ের উদ্ধার* করিয়াছ, এবং স্বকীয় তেজে তৎসৈন্যগণকে পরাভব করিয়াছ। অধুনা প্রার্থনা করি— কর্মঠগণ বল লাভ করুন এবং অন্ন লাভ করুন ॥ ৭৬ ॥

ऐन्द्रम्।

१ ४ २ १
ता २३४ वत्येन्ना। रिँयं नृताउ। अग्र

* এই কাব্যটির মহিমা ভূয্যধিকারী মহাশয়েরা ভালরূপে অবগত আছেন।

१ ३ २३ १५ २१र
इन्द्रा२। प्रथमं ह्व२। रिँयं दिवा। प्रवा।
२ २३ २५ २र १र १ ३
चियं कृतम्। योदेवास्या २। यवसा प्राङ्।
१२र २५ २२१५ २ १र
रिणा असु। रिशन्वयः। सुवो विश्वाऽम्।
१ ३ १२र २५र २२र१र५ २
अथ्वहा२यि। वंमोजसा विदेदूर्जम्। शता
२ ५ ४ ५
क्रा२३४ तूः। विदाधूयिदिषा ज। वा ॥७६॥

इति अष्टमीदशतिः।

—*(०)*—

इति श्रीमद्भगवत्-कुथुमर्षि-प्रादुष्कृते सामवेदीये छन्दस्यार्च्चिके

ऐन्द्रं पर्व्व।

श्रीसत्यव्रतसामश्रमि-रचितर्षिच्छन्दोदेवतान्वित-टीकया टीकितं सनामसामपुष्पित

समाप्तम्।

आम्नायाम्बिगतौ यदेकतरणिर्जागर्त्त्यनेकान्तरे,
आर्य्यच्छान्दसमन्द्रमचरणं संस्थाप्यतत् स्वान्तरे।
शास्त्रावर्त्तधियां यदेकशरणं स्वाध्योऽधुना भारते,
कर्म्मन्दीश्वरविश्वरूपदृतियो नीत्वा तदह्निम्मन: ॥ १ ॥
ब्रह्माण्डे भणिदीपिकेवविहिते वाराणसीपत्तने,
शाकेकूलनिधिस्वरेश्वरमिते पौषे प्रपूर्णे विधौ।
आग्नेयाअपिचैन्द्रमन्त्रनिवहाअस्थीनि साम्नामिह,
व्याख्यायैनमनूद्य चासुगमयन् सत्यव्रत: सामग: ॥ २ ॥

Digitized with financial assistance from the
Government of Maharashtra
on 15 June, 2016